GAṄGĀNĀTHA JHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 13]

KĀŚĪKHAṆḌA

[PART TWO]

OF

MAHARṢI VYĀSA

With Two Commentaries

'RĀMĀNANDĪ'

By

ĀCĀRYA ŚRĪ RĀMĀNANDA

HINDĪ 'NĀRĀYAṆĪ'

By

ŚRĪ NĀRĀYAṆAPATI TRIPĀṬHĪ

Edited By

ĀCĀRYA ŚRĪ KARUṆĀPATI TRIPĀṬHĪ
Ex-Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi
&
Ex-President
Uttar Pradesh Sanskrit Academy
Lucknow

VARANASI

1992

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

□

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi—221 002.

□

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi—221 002.

□

First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 200.00

□

Printed by—
Ratna Printing Works
B 21/42A, Kamachha,
Varanasi—221 010.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१३]

महर्षिव्यासप्रणीतः
श्रीस्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

[द्वितीयो भागः]

आचार्यश्रीरामानन्दप्रणीतया
"रामानन्दी" व्याख्यया
अथ च
पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिप्रणीतया
"नारायणी" हिन्दी-व्याख्यया
समलङ्कृतः

सम्पादकः
आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी
कुलपतिचरः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
अध्यक्षचरश्च,
उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादम्याः

वाराणस्याम्

२०४९ तमे वैक्रमाब्दे १९१४ तमे शकाब्दे १९९२ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः—
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणसी ।

□

प्रकाशकः—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२.

□

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२.

□

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् – २००.०० रूप्यकाणि

□

मुद्रकः—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स,
बी २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-२२१ ०१०.

प्ररोचना

'**स्कन्दपुराण**' का '**काशीखण्ड**' सांस्कृतिक दृष्टि से अपूर्व रचना है और उसकी जो हिन्दी-व्याख्या **पण्डित श्रीनारायणपति त्रिपाठी** ने लिखी है, वह अपने आप में शोधात्मक कार्य है, उपलब्धि है; क्योंकि उन्होंने घूम-घूम कर पुराने कागज-पत्र देख-देखकर काशी के प्राचीन स्थानों की पहचान की थी और उनका संकेत दिया था। बहुत पहले छपे हिन्दी-अनुवाद समेत **श्रीरामानन्दाचार्य** की संस्कृत टीका के साथ '**काशीखण्ड**' को फिर से सम्पादित करने का कार्य उनके (हिन्दी-व्याख्याकार के) सुपुत्र और मेरे अग्रज **पण्डित श्रीकरुणापति त्रिपाठी** ने किया है और विस्तृत भूमिका भी लिखी है।

यह ग्रन्थ चार भागों में छपेगा। यह '**दूसरा भाग**' प्रकाशित हो रहा है। हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि लगभग एक सौ वर्ष पहले काशी के बारे में इतना महत्त्वपूर्ण अभिलेख छपा और वह पुनः प्रकाशित हो रहा है।

'**काशीखण्ड**' के पढ़ने से बारहवीं शताब्दी की काशी का एक सजीव चित्र उपस्थित होता है, जिसमें '**आनन्दकानन**,' '**महाश्मशान**', '**तपोभूमि**' और '**बस्ती**' के अलग-अलग विभाग पुनराकलित हो जाते हैं। इसी के साथ-साथ इस ग्रन्थ के माध्यम से धर्म, समाज और कला के बारे में बड़ा ही स्पष्ट चित्र सामने आता है।

मैं इस ग्रन्थ को सम्पादित करने में अथक परिश्रम करने वाले **श्रीकरुणापति त्रिपाठी** जी को प्रणाम अर्पित करता हूँ।

वाराणसी
गंगा-दशहरा,
२०४९ वैक्रमाब्द
(१०-६-१९९२ खैस्ताब्द)

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वन्दनाकुसुमाञ्जलिः

विश्वेशं माधवं ढुण्ढि दण्डपाणिं च भैरवम्।
वन्दे काशीं गुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम्॥

ऋद्धिसिद्धिसहितो विनायको दायकः सकलमङ्गलं भुवि।
प्रत्यवायसमवायपावको मङ्गलानि विदधातु नः सदा॥

लम्बोदरं महाकायं सर्वविघ्नविनाशकम्।
मोदामोदप्रदातारं भजेऽहं मोदकप्रियम्॥

सत्त्वोद्रेकेन भास्वन्तं चक्रपुष्करिणीकरम्।
तपस्यन्तं शम्भुतुष्ट्यै महाविष्णुं नमाम्यहम्॥

कर्पूरगौरं गौरीशं गौरीवामस्थविग्रहम्।
वाराणसीपुरपतिं प्रणमामि सदाशिवम्॥

काशीश्वरं हरं वन्दे भस्माञ्चितकलेवरम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं सर्वदं गिरिजापतिम्॥

सर्वाघनाशिनीं देवीं नमामि मणिकर्णिकाम्।
मोक्षदात्रीं पूततमां श्रेयोरूपां शिवप्रियाम्॥

गङ्गां शिवशिरोमालां विष्णोश्चरणवासिनीम्।
स्मरणाद्दूरतो येनो सदा दहति तत्क्षणात्॥

चक्रपुष्करिणीं वन्दे पापघ्नीं सर्वकामदाम्।
वाराणस्यां स्थितां वापीं शिवयोः प्रेमभागिनीम्॥

भैरवीयातनादाता वेशेनाऽपि च भैरवः।
सदा रक्षतु मां देवो भैरवः कालभैरवः॥

॥ श्रीकाशी-विश्वनाथ-गङ्गाभ्यो नमः ॥

सम्पादकीयं निवेदनम्

लम्बोदरं महाकायं सर्वविघ्नविनाशकम् ।
मोदामोदप्रदातारं वन्देऽहं गिरिजासुतम् ॥

अतीवहर्षमयस्य प्रमोदस्यायमवसरो यत्स्कन्दपुराणान्तर्गतकाशीखण्डस्य षड्विंशाध्यायादिपञ्चाशत्तमाध्यायान्तोऽसौ द्वितीयो भागो वाराणसेयेन सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयेन प्रकाश्यते । अनेकत्रुटिभिः सम्पादनजनिताभिः पूर्णोऽपि प्रथमो भागः, अत्र काशिका-पुण्डरीक-मकरन्दलुब्धैः श्रद्धालुचञ्चरीकैर्यादृशं स्वागतं दृश्यते स्म, तेन ममोत्साहस्तथैव वर्द्धतेतरां यथा पूर्णेन्दुकौमुदीजालस्य स्पर्शेनोदन्वा-नेधतेतराम् ।

अस्य ग्रन्थस्य प्रतिपद्यटीकाकारोऽस्मज्जनकमहाभागोऽप्यवश्यमेवैतेन मम कर्मणा शिवलोकस्थोऽपि प्रसन्नतामेष्यति, शिवसायुज्यप्राप्तोऽशिवगण इवामोदं प्राप्स्यति ।

प्रथमे खलु भागे नारायणीटीकाकर्तुः सन्दर्भे मया संक्षेपेण किञ्चिन्निवेदितम् । एतदपि तत्रैव प्रदर्शितं तेन सम्पादिते द्वेऽपि काशीखण्डस्य संस्करणे प्रायशो दुर्लभेऽ-भूताम्, इतिकृत्वैतस्य प्रकाशनव्यवस्था वाराणसीस्थ-सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयेन विचारिता ।

अतो गङ्गानाथझा-ग्रन्थमालायास्त्रयोदशकुसुमरूपेण प्रथमभागः प्रकाशितः ।

पूर्वस्मिन् भागे सम्पादकेन निवेदितमासीद्यद् द्वितीयादिभागेषु सति सम्भवे केषाञ्चन काशीसम्पृक्तपक्षाणां विषये धार्मिकसूचना, यथा—वाराणस्या धार्मिको महिमा, विद्या-सम्प्रदाय-धर्मानुष्ठानप्रभृतीनामविच्छिन्नकेन्द्रत्वम्, वर्तमानकाले नवीनानां देवमन्दिराणां संक्षिप्तपरिचयः, सनातनधर्मेतरधर्मोपासकानां प्रमुखोपासना-स्थलानामुल्लेखः, एतादृशा अन्ये पक्षाश्च समाकलिता भविष्यन्ति ।

नूनमसौ भागोऽपि पीनविग्रहो जातः । एतस्मात्कारणादन्येभ्यश्चानेककारणेभ्यो नूनं ते पक्षा न समुपस्थापिताः ।

विश्वसिमि, श्रीगणेश-गङ्गा-गौरी-विश्वेश्वर-कालभैरवादयो यदि सम्पादक-मेतादृशशक्तिसम्पन्नं विधास्यन्ति, मन्ये, नूनं तृतीयचतुर्थभागयोः पूर्वोक्तानि सर्वाणि सङ्कलितानि भविष्यन्ति ।

कृतज्ञताप्रकाशनम्

अन्ताराष्ट्रियख्यातिमन्तः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्यास्य कुलपतयः श्रीविद्यानिवासमिश्रमहाभागा नूनं सर्वतः पुरतो धन्यवादार्हाः, येषां निरन्तरप्रेरणया ग्रन्थस्य भागोऽसौ प्रकाश्यते । तदर्थमहं स्वाभारं प्रकटीकरोमि ।

अत्रैव सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा., अहर्निशं विद्यादानपरायणाः, छात्रवृन्दसंसेविता विद्वन्मूर्धन्या आचार्यश्रीरामप्रसादत्रिपाठिमहाभागा भूयोभूयो धन्यवादार्हाः, येषां साहजिकः सहयोगोऽस्य 'काशीखण्डस्य' सम्पादने मया प्राप्तः।

डॉ० श्रीहरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी, मच्छिष्यदेशीयो मुद्रण-प्रकाशनकलाविज्ञः प्रकाशनाधिकारी मम कृतज्ञताशीर्वचनस्योचितोऽधिकारी। तेन खलु भागस्यास्य मुद्रण-प्रकाशनसम्बन्धिन्यः सर्वा व्यवस्था निष्पादिताः। स्वीकरोमि यदस्य साहाय्यं विनाऽहं किञ्चिदपि कर्तुं समर्थो नास्मि।

रत्ना-प्रिंटिंग-वर्क्स-मुद्रणालयस्य स्वत्वाधिकारी श्रीविपुलशङ्करपण्ड्याऽपि भूरिशो धन्यवादार्हो येन महता मनोयोगेनास्य भागस्य मुद्रणं निष्पादितम्।

ये चान्ये प्रकाशनविभागकर्मचारिणोऽस्मिन् बृहत्कार्ये सहायकास्तेऽपि धन्यवादार्हाः।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य काशीस्थस्य तेऽधिकारिणोऽपि, ये प्रत्यक्षतः परोक्षतो वा सम्पृक्तास्तान् प्रत्यहं धन्यवादान् वितरामि।

अत्र यत्किञ्चित्स्खलनं त्रुटिर्न्यूनता वाऽस्ति, तस्य कृतेऽहं विनतशिरो विदुषः क्षमां प्रार्थये। कृपया विद्वांसः सूचयन्तु त्रुटीः, येन यथासमये तासां सम्मार्जनं स्यात्।

वाराणस्याम्,
अचलैकादश्याम्,
वि० सं० २०४९

निवेदकः
करुणापतित्रिपाठी
सम्पादकः

उपोद्घात

[पुरोवाणी]

काशीखण्ड का प्रत्येक अध्याय और आख्यान, परम पावन तथा ज्ञानवर्द्धक है; परन्तु छब्बीसवें अध्याय से लेकर पचासवें अध्याय तक का यह द्वितीय भाग (जो प्रकाशित होने जा रहा है) कुछ पक्षों के कारण विशिष्टतर है। काशी के अविमुक्तेश्वर महादेव की इस भाग में पदे-पदे महिमा वर्णित है। अविमुक्त क्षेत्र का माहात्म्य और मोक्षदातृत्व भी इस भाग में बताया गया है। अनेक महत्त्वपूर्ण काशिकेय तीर्थों, मूर्त्तियों और मन्दिरों का विवरण यहाँ मिलता है। काशी के कोतवाल, जटाजूटधारी, कपाली, भुजंगभूषण, महादेव के ही स्वरूप 'कालभैरव' का अद्भुत आख्यान, उनके स्वरूप का चित्रांकन एवं उनकी विशिष्टताओं आदि का चित्रण भी यहाँ है।

छब्बीसवें अध्याय के आरम्भ से शब्दांकित कतिपय महिमशाली पक्षों, रूपों और कथाओं का उल्लेख आगे की पंक्तियों में किया जा रहा है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि 'स्कन्दपुराणान्तर्गत' 'काशीखण्ड' के प्रमुख वक्ता हैं श्रीगौरी-नन्दन स्कन्द और श्रोता हैं अगस्त्य मुनि। [कुम्भज मुनि देवताओं की याचनाओं को साकार करते हुए, निरन्तर वर्धनशील, विन्ध्याद्रि की उत्तुङ्गता को अवरुद्ध करने के लिए विन्ध्य पर्वतमाला के दक्षिण में जाकर निवास करने लगे थे। स्कन्द से प्रश्न करते थे।]

वही अगस्त्य यहाँ प्रश्नकर्त्ता हैं। उन्होंने कुमार स्कन्द से इस अध्याय के आरम्भ में अनेक प्रश्न किये थे। उनके उत्तर षाण्मातुर ने दिये हैं। वे प्रश्न हैं—

(१) वाराणसी का यह क्षेत्र किस काल से 'अविमुक्त क्षेत्र' के नाम से विख्यात हुआ? (२) किस कारण यह क्षेत्र मोक्षदाता हुआ? (३) काशीस्थ 'मणिकर्णिका' कब से त्रैलोक्यवन्दनीया हुई? [अथवा इस त्रैलोक्यपूज्या तीर्थ का 'मणिकर्णिका' नाम क्यों पड़ा?] (४) वाराणसी में देवनदी गङ्गा जब (महाराज भगीरथ द्वारा लाये जाने के पूर्व) नहीं थीं, तब वहाँ क्या था? (५) इसे (इस क्षेत्र को) 'वाराणसी' क्यों कहा गया? (६) 'काशी' इसका नाम क्यों पड़ा? (७) क्यों इस पावन पुरी को 'रुद्रावास' नाम से अभिहित किया गया? (८) 'आनन्दकानन' या 'आनन्दवन' इसे क्यों नाम दिया गया? (९) 'आनन्दवन' की क्या विशिष्टता है? क्यों वह मुक्तिप्रद है? (१०) 'महाश्मशान' नाम की विशेषता क्या है? और (११) इसे क्यों और कब से 'महाश्मशान' कहा जाता है?[१]

---

१. अविमुक्तमिदं क्षेत्रं कदाऽऽरभ्य भुवस्तले।
परां प्रथितिमापन्नं मोक्षदं चाऽभवत् कथम्॥

इन्हीं सब का उत्तर ही इस अध्याय की विशिष्टता है; क्योंकि आगे के अध्यायों में पदे-पदे इनको चर्चा है, इनके माहात्म्य का कीर्तन किया गया है। ये प्रश्न पूज्य मुनिवर अगस्त्य के हृदय में उमड़-घुमड़ रहे थे।

मयूरवाहन कार्त्तिकेय ने कहा कि "जो प्रश्न तुम्हारे द्वारा पूछे गए, वे अतुलनीय हैं। इनका उत्तर अत्यन्त दुर्घट है। इन सबका उत्तर और ठीक-ठीक रहस्य बताना भी कम कठिन नहीं है।

जगन्माता जगदम्बिका ने एक बार इन्हीं क्षेत्रों आदि के सन्दर्भ में सर्वज्ञ विश्वेश से प्रश्न किया था। उन्होंने जो उत्तर दिए थे, उन्हीं का सहारा लेकर मैं तुम्हारी जिज्ञासाओं का समाधान करने जा रहा हूँ"

यहाँ सम्पादक के यह सब कहने का आशय इतना ही है कि काशी से या अविमुक्त क्षेत्र से सम्पृक्त प्रश्नों का समाधान सारगर्भित, अविस्मरणीय एवं मननीय है। यदि विचार से देखा जाय, तो 'काशीखण्ड' के समस्त प्रकरणों, आख्यानों और विवरणों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से काशी, अविमुक्त क्षेत्र, अविमुक्तेश्वर और मोक्षप्राप्ति का सङ्केत मिलता है।

अविमुक्त क्षेत्र के आविर्भाव का प्रयोजन

जब प्रलय हो गया था, कहीं कुछ नहीं, पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, तारक-मण्डल आदि कहीं कुछ नहीं था, तब निर्गुण, निराकार, निर्लेप ब्रह्म ने 'ईश' के रूप में विहार करने के लिए पञ्चक्रोशात्मक ज्योतिर्मय क्षेत्र का निर्माण किया था। तभी से इस क्षेत्र का नाम अविमुक्त क्षेत्र प्रसिद्ध है। यह क्षेत्र तत्त्वतः शिवा-शिव का पलँगस्वरूप (पर्यङ्करूप) है।

'अविमुक्त' की प्रशंसा में यहाँ तक काशीखण्डकार ने कहा है कि विना महेशान (पिनाकी) की आराधना किए एवं विना काशी-प्राप्ति के वह भी मोक्षप्राप्ति नहीं कर सकता, जो योगाभ्यास के उपायों का विशेषज्ञ है[1]।

आनन्दकानन नाम का हेतु

परम आनन्दरूप मोक्ष का निर्भ्रान्त हेतु होने के कारण, मोक्षानन्दप्रदातृत्व के कारण, इस अविमुक्त क्षेत्र को 'आनन्दकानन' का नाम स्वयं भगवान् भूतेश ने

कथमेषा त्रिलोकीड्या गीयते मणिकर्णिका।
तत्रासीत् किं पुरा स्वामिन् यदा नासीत्त्रिम्नगा॥
वाराणसीति काशीति रुद्रावास इति प्रभो।
अवाप नामधेयानि कथमेतानि सा पुरी॥
(आनन्दकाननं रम्यमविमुक्तमनन्तरम्।)
महाश्मशान इति च कथं ख्यातं शिखिध्वज!।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सन्देहं मेऽपनोदय'॥ (का० ख० २६।२-५)

१. काशीखण्ड, अध्याय २६, श्लो० ३३।

दिया[१]। 'आनन्दकानन' नाम पड़ने के अनन्तर इसे अविमुक्त क्षेत्र कहा गया। मोक्षानन्दरूप कन्द के बीजस्वरूप अनेक शिवलिङ्ग इस क्षेत्र में बिखरे और भरे पड़े हैं। वही इस नाम के मूल कारण हैं; क्योंकि ब्रह्म एवं आत्मा के ऐक्य-ज्ञान के वे शिवलिङ्ग लक्षण हैं[२]।

'मणिकर्णिका' नाम का रहस्य

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि प्रलय काल में एकल महामहेश्वर ही सर्वत्र व्याप्त थे। कहीं भी और कुछ नहीं था। वे उस कालगणनातीत वेला में अपनी अभिन्न आदि शक्ति के साथ आनन्दवन में रमण करते रहे। तभी सदाशिव में इच्छा हुई कि ऐसे किसी अन्य का सर्जन किया जाय, जिसे समस्त महाभार समर्पण कर शिवा-शिव अर्द्धनारीश्वर काशी में शरीर-त्याग करने वालों को स्वच्छन्द रूप से मोक्षानन्द का वितरण कर सकें[३]। वही अन्य सृष्टि-स्थिति-संहार का संचालन कर सके। और तब हम निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक आनन्दकानन में रह सकेंगे[४]।

यही सब विचार कर भगवान् शंकर ने पुरुषोत्तम पुरुष का आविर्भाव किया। उसी को भगवान् धूर्जटि ने कहा—"हे अच्युत ! तुम महाविष्णु हो"।

उसी महाविष्णु को महेश्वर ने विश्व का धर्मपूर्वक संचालन करने के लिये नियुक्त किया। भगवान् विष्णु ने शिवाज्ञा को शिरोधार्य किया। पुण्डरीकाक्ष ने क्षण-मात्र ध्यान करके तपस्या करने का निर्णय लिया।

---

१. वही, श्लो० ३४।

२. काशीखण्ड, अध्याय २६, श्लो० ३५।

३. वही, श्लो० ३९।

४. "चेतः समुद्रयाकुञ्च्य चिन्ताकल्लोलदोलितम्।
सत्त्वरत्नं तमोग्राहं रजोविद्रुमवल्लितम्॥
यस्य प्रसादात्तिष्ठावः सुखमानन्दकानने।
परिक्षिप्तमनोवृत्तौ क्व चिन्तातुरे सुखम्॥
सम्प्रधार्येति च स विभुः सर्वतश्चित्स्वरूपया।
तव सह जगद्धात्र्या जगद्धाताऽथ धूर्जटिः॥
सव्ये व्यापारयाञ्चक्रे दृशमङ्गे सुधामुखम्।
ततः पुमानाविरासीदेकस्त्रैलोक्यसुन्दरः॥
शान्तः सत्त्वगुणोद्रिक्तो गाम्भीर्यजितसागरः।
तथा च क्षमया युक्तो मुनेऽलब्धोपमोऽभवत्॥
इन्द्रनीलद्युतिः श्रीमान् पुण्डरीकोत्तमेक्षणः।
सुवर्णकृतिसुच्छायदुकूलयुगलावृतः॥
लसत्प्रचण्डदोर्दण्डयुगलद्वयराजितः।
उल्लसत्परमामोदनाभीह्रदकुशेशयः॥ इत्यादि।
(वही, श्लोक ४०-४६)

उन्होंने अपने चक्र से खनन करके एक परमरम्य पुष्करिणी का निर्माण किया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह चक्रपुष्करिणी, जिस समय निर्मित हुई, उस समय भागीरथी गङ्गा का प्रादुर्भाव धरातल पर नहीं हुआ था। उसी पुष्करिणी के पुलिन पर भगवान् विष्णु ने पचास हजार वर्षों तक तपस्या की। चन्द्रमौलि ने उस तपस्तेज की प्रशंसा की। उन्होंने अपने मौलि को प्रशंसा में कम्पित करते हुए दो-तीन बार कहा—"अब तपस्या की कोई आवश्यकता नहीं है। हे विष्णो! वरदान माँगो।"

चतुर्भुज पीताम्बरधारी विष्णु ने शिव में अचला भक्ति का वरदान माँगा। भगवान् भूतपति शंकर ने उस वरदान को देकर एक और वरदान किया। अहिभूषण ने कहा कि विष्णु के चक्र से खनित जो कुण्ड पहले 'चक्रपुष्करिणी' कहा जाता था, वही अब 'मणिकर्णिका' नाम से विख्यात होगा; क्योंकि पुण्डरीकाक्ष को वरदान देते समय जब चन्द्रमौलि ने अपने मौलि को आन्दोलित किया था, उस समय शिव का मणिखचित कुण्डल (मणिकर्णिका) गिर पड़ा था। अतः यह तीर्थश्रेष्ठ, यह कुण्ड 'मणिकर्णिका' नाम से अब विख्यात होगा। मुक्तायुक्त शिव-कुण्डलपतन के प्रभाव से मुक्ति-क्षेत्र भी होगा।

काशी

हे मुने! इस पुण्यपुरी का नाम 'काशी' भी अन्वर्थक है। यतः वाङ्मनसातीत ज्योति यहाँ सर्वदा प्रकाशमान रहती है। अतः यह काशी है, अर्थात् वह ज्योति पर-ज्ञानस्वरूपा है। जिस प्रकाश से अज्ञान का अन्धतमस् विध्वस्त हो जाता है, वही ज्ञानमय प्रकाश यहाँ प्रकाशित रहता है और सच्चिदानन्द अनन्त ज्ञानस्वरूप है। इस काशी-क्षेत्र में ज्ञान-प्रकाश से भास्वर ज्योतिर्मय पुरी में वह दीप्ति स्वयं भी प्रभास्वर रहती है और यहाँ चिरनिद्राशायी जन्तु के हृदयाकाश में भी तारक-मन्त्र के प्रभाव से प्रदीप्त हो उठती है।

विष्णु ने यह भी कहा था कि "हे भगवान् शंकर, आपके अनुग्रह से आ ब्रह्म-स्तम्बपर्यन्त जो भी जन्तु नाम से कहे जाते हैं, वे काशी में मरण के पश्चात् मुक्ति-लाभ करें"। इस प्रकार 'मणिकर्णिका' की महिमा का गान किया गया है। यहाँ अनुष्ठित धर्मकृत्यों के अपरिमित फल कीर्तित हैं। और भी वर की विष्णु ने याचना की—"आत्मघात और प्रायोपवेशन (अनशन) को छोड़कर सभी शुभ कर्मानुष्ठान मोक्ष के हेतु होते हैं। विश्व के समस्त तीर्थों की अपेक्षा यह तीर्थ शुभोदय हो"।

"जिस प्रकार 'शम्' के कर्त्ता शंकर से अधिक मंगलमय कोई अन्य नहीं है, उसी प्रकार इस आनन्दकानन की सर्वोच्च प्रतिष्ठा सदा बनी रहे। विना सांख्य, योग प्रभृति के भी यहाँ आत्मसाक्षात्कार हो, आत्मज्ञान प्राप्त हो। शशक, मशक, कीट, पतङ्ग, गाय-घोड़ा, सर्प आदि—जो भी काशी में पञ्चत्व को प्राप्त करें, उनको मुक्ति-मुक्ता का लाभ हो"।

इसी क्रम में 'मणिकर्णिका' और 'काशी' की अपार महिमा और फलदातृत्व का कीर्तन किया गया है। भगवान् विष्णु ने शंकर के सम्मुख अपने ये सब अभिलाष व्यक्त किये। सब को 'तथास्तु' कहकर वाराणसीपुरपति विश्वनाथ ने समर्थित किया। इनके अतिरिक्त भी उन्होंने 'काशी' के सम्बन्ध में अनेक प्रतिज्ञाएँ कीं।

यह भी शंकर ने अपनी वामाङ्गसंस्थिता उमा को बताया—"पञ्चक्रोशी-परिमित यह पुण्यस्थली मेरा प्रिय क्षेत्र है। यहाँ मेरी ही आज्ञा चलती है, अन्य की नहीं"। और भी बहुत कुछ यहाँ 'काशी' के माहात्म्य के अनुकीर्तन में वर्णित है। इसी क्रम में 'आनन्दकानन', 'मणिकर्णिका' और 'काशी' की अपार महिमा को साक्षात् महेश्वर ने उमा को बताया। उसे स्कन्द ने अगस्त्य मुनि को सुनाया।

यह भी यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सूचित किया गया है कि जो पञ्चक्रोश-प्रमाणात्मक महत् अविमुक्त क्षेत्र है, वह एक ही विश्वेश्वरसंज्ञक ज्योतिर्लिङ्ग है। इसे स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए।

काशी में मरने वालों को न पापकर्मों से भय है, न यहाँ यमदेव का ही भय है। न यहाँ मरने पर पुनः गर्भवास का कष्ट उठाना पड़ता है। अतः निश्चित रूप से निःशंक होकर काशी का सहारा लेना चाहिए।

वाराणसी

'वाराणसी' नाम से यह अविमुक्त ज्योतिर्लिङ्गरूपा पुरी कब से और कैसे कही जाने लगी—यह आख्यान 'गङ्गावतरण' के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। महेश्वर ने इस आख्यान का प्रकाशन किया—श्रोता विष्णु की जिज्ञासा-शमन के लिए। 'गङ्गावतरण' की कथा लोकविख्यात है। अनेक पुराणों में यह आख्यान मिलता है। इस कथा को लेकर संस्कृत, हिन्दी तथा अनेक भारतीय भाषाओं में नाना खण्डकाव्य निर्मित हैं। सगर का अश्वमेध यज्ञ, उसके अश्व का चुराया जाना, उसे ढूंढ़ते हुए सागरतटस्थ कपिल के आश्रम में उसकी प्राप्ति, कपिल मुनि के क्रोध से साठ सहस्र सगरपुत्रों का भस्म होना और अन्त में उन भस्मीभूत सगरपुत्रों के उद्धारार्थ घोर तपस्या द्वारा सगरवंशज राजा भगीरथ द्वारा हरिचरणसेविनी, शिवशिरःस्थजटा-जूटविहारिणी गङ्गा को धरती पर लाये जाने की कथा—हिन्दू जनता के मानस में सहस्रों वर्षों से अंकित है।

'काशीखण्ड' में उसी कथासूत्र को लेकर सूत्ररूप से संकेत करते हुए पुराणकार ने 'गङ्गावतरणाख्यान' के बीजसूत्र का एक ही पद्य में संकेत कर दिया है—

> 'निर्दग्धान् सागरान् श्रुत्वा कपिलक्रोधवह्निना।
> अश्वमेधाश्वसंयुक्तान् पूर्वजान् स्वान् भगीरथः' ॥ (का० ख० २७।३)

आगे इसी प्रसंग में कहा गया है कि पूर्वजों के उद्दिधीर्षु भगीरथ की तपस्या द्वारा गङ्गा अवतरित हुईं। जगत्पावनी माता गङ्गा की महिमा का गान भी यहाँ

किया गया है। उनकी महत्ता के कुछ पद्य आगे उद्धृत किये जा रहे हैं (श्रद्धालु पाठक पद्य के संकेताधार पर भाषानुवाद मूल में देखें)—

"ब्रह्मशायाग्निनिर्दग्धान् महादुर्गतिगानपि।
विना त्रिमार्गगां विष्णो ! को जन्तूंस्त्रिदिवं नयेत् ॥
मयैव सा पराभूतिस्तोयरूपा शिवात्मिका।
ब्रह्माण्डानामनेकानामाधारः प्रकृतिः परा ॥
शुद्धविद्यास्वरूपा च त्रिशक्तिः करुणात्मिका।
आनन्दामृतरूपा च शुद्धधर्मस्वरूपिणी" ॥ (वही, २७।६-८)

इसी क्रम में हिमगिरिनिर्गता, त्रिपथा सुरसरिता की अवर्णनीय महिमा गाई गई है। वह गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यफलदा है। कलियुग में तो उनका सर्वोच्च पद है[1]।

यह भी बताया गया है कि गङ्गास्नान न करने वाले पुरुष का जन्म व्यर्थ है। इसी क्रम में सैकड़ों बातें बताई गई हैं, जो प्रायः गङ्गामाहात्म्य से सम्पृक्त हैं। गङ्गास्नान के अनन्तर लिङ्गपूजन (किं वा पार्थिवलिङ्ग-पूजा) का अवर्णनीय महत्त्व है। मानव गङ्गातीर तक पहुँचे या न पहुँचे, उसकी गङ्गास्नान के उद्देश्य से यात्रा भी कम महत्त्वशाली नहीं है। गङ्गा के जल के भीतर अणिमादि सिद्धियाँ, पारसमणि आदि नाना अद्भुत सिद्धियाँ अन्तर्निविष्ट हैं। गङ्गाजल स्पर्शमात्र से पापपुञ्ज जलकर राख हो जाते हैं। गङ्गाजल वस्तुतः स्वर्ग का अक्षय सोपान है। प्रसंगतः श्रद्धा की शक्ति, शिव-विष्णु की अभिन्नता आदि, विविध ज्ञान की बातें यत्र तत्र बताई गई हैं। पुरखे भी पितर आदि लोकों में पड़े तरसते रहते हैं कि कब कोई हमारे वंश में गंगास्नायी और हमारा उद्धारक होगा।

---

१. (क) "तपांसि सर्वे ये धर्माः सर्वे यज्ञाः सदक्षिणाः।
अहं च त्वं च कश्चापि देवतानां गणाश्च ये ॥
पुरुषार्थाश्च सर्वे वै शक्तयो विविधाश्च याः।
गङ्गायां सर्व एवैते सूक्ष्मरूपेण संस्थिताः ॥
स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वक्रतुषु दीक्षितः।
चीर्णसर्वव्रतः सोऽपि यस्तु गङ्गां निषेवते" ॥
(का० ख० २७।११-१३)

और भी कहा गया है—

(ख) 'कृते सर्वत्र तीर्थानि त्रेतायां पुष्करं परम्।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गा हि केवलम् ॥ (वही, २७।१७)

(ग) "ध्यानं कृते मोक्षहेतुस्त्रेतायां तच्च वै तपः।
द्वापरे तद्द्वयं यज्ञाः कलौ गङ्गैव केवलम् ॥ (वही, २७।१९)

(घ) "यज्ञज्ञानतपो योगो जपाः सनियमा यमाः।
गङ्गासेवासहस्रांशं न लभन्ते कलौ हरे ॥
किमष्टाङ्गेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः।
वास एव हि गङ्गायां ब्रह्मज्ञानस्य कारणम् ॥ (वही, २७।२४-२५)

गंगास्नान और गंगा-यात्रा के बड़े-बड़े बाधक होते हैं। अतः देव-दनुजादिकृत बाधाओं को पारकर गंगा के परिवेश में बड़े भाग्यशाली पहुँचते हैं। जीवनपर्यन्त गंगास्नानकर्ता को जीवन्मुक्त ही समझना चाहिए। गंगा की महिमा का श्रवण-मनन-पाठ भी महापुण्यजनक है। गंगा के तीर पर सूर्यार्घ्य का भी बड़ा महत्त्व है। सूर्य का अष्टांग अर्घ है—

"आपः क्षीरं कुशाग्राणि घृतं मधु गवां पयः।
रक्तानि करवीराणि रक्तचन्दनमित्यपि ॥
अष्टाङ्गार्घोऽयमुद्दिष्टस्त्वतीव रवितोषणः।
गाङ्गैर्वार्भिः कोटिगुणो ज्ञेयो विष्णोऽन्यवारितः"।

(का० ख० २७।९८-९९)

गङ्गा के समान, कलियुग-पापपुञ्जहारी न कोई तीर्थ है और अविमुक्त क्षेत्र के समान मोक्षदायी कोई पवित्र तीर्थ भी नहीं है (श्लो० १०८)। गंगा की रम्य पुलिन-भूमि पर यज्ञ, तपस्या, दान, (गोदान, भूमिदान भी) उपासना, अनुष्ठान, श्राद्ध, ब्राह्मणभोजन—सभी अनन्तफलप्रद होते हैं। विधिपूर्वक, श्रद्धासमन्वित गंगा के स्नान के कारण महापातक ब्रह्महत्या से भी मुक्ति मिल जाती है।

गङ्गादशहरा-माहात्म्य

ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि यदि हस्त नक्षत्र से संयुत हो, उसका बड़ा माहात्म्य है। रात्रिजागरण करे, दशविध प्रत्यग्र फूल (ताजे फूल), वैसे फल, धूप, दीप, दशाङ्गधूप, नैवेद्य आदि से दशहरा मंत्र से गङ्गा का पूजन करे (मन्त्र है—"ॐ नमः शिवायै, नारायण्यै, दशहरायै गङ्गायै स्वाहा"। यह गङ्गा का विंशत्यक्षर मन्त्र है और इसी मन्त्र से यथोपचार पूर्वोक्त विधि से भागीरथी की पूजा करनी चाहिए)। यहाँ गङ्गा की प्रतिमा का अनेक पद्यों में विशिष्ट विवरणात्मक रूपांकन है—

'चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च नदीनदनिषेविताम्।
लावण्यामृतनिष्यन्दसंशीलद्गात्रयष्टिकाम् ॥
पूर्णकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम् ॥
ततो ध्यायेत्सुसौम्यां च चन्द्रायुतसमप्रभाम्।
चामरैर्वीज्यमानां च श्वेतच्छत्रोपशोभिताम्।
सुधाप्लावितभूपृष्ठां दिव्यगन्धानुलेपनाम् ॥
त्रैलोक्यपूजितपदां देवर्षिभिरभिष्टुताम्' ॥

(का० ख० २७।१४२-१४५)

इस ध्यान के अनन्तर पूर्वोक्त मन्त्रों के साथ शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, हिमवान् और भगीरथ की अक्षत-चन्दन-निर्मित प्रतिमाओं की भी पूजा करनी चाहिए। [यहाँ 'काशीखण्ड' के सत्ताईसवें अध्याय में श्लोक १४६ से आरम्भ कर १५० श्लोक तक पूजन-विधि है। श्रद्धालु पाठक वहीं से विशेष जानकारी प्राप्त करें।]

इस पूजा के विधि-विधान के साथ निष्पन्न करने से दशविध पापों से निवृत्ति होती है। [दशविध पापों के ज्ञानार्थ इसी अध्याय के श्लोक १५२ से १५४ तक का हिन्दी अनुवाद देखें]

इसके अनन्तर इस पूजन की फलस्तुति है। श्लोक १५७ से लेकर १७२ तक 'गङ्गादशपापहरा' स्तुति है। बाद के दो श्लोकों में स्तोत्र का उपसंहार तथा फलश्रुति और फलसंकीर्तन से अध्याय समाप्त होता है।

अतः यह अध्याय विशेष रूप से गङ्गामहिमा-वर्णनपरक है तथा साथ ही 'गंगादशहरा' का गंगापूजन और 'दशहरास्तोत्र' और उसका माहात्म्य भी यहाँ है, जो अपूर्व और अद्भुत फलदायी है।

वाहीकाख्यान और गंगा की महिमा

गंगा की अपार महिमा है। गंगा की महिमा-कीर्तन की पुष्टि में पौराणिक-रूढ़ि की शैली में यहाँ अट्ठाइसवें अध्याय में भागीरथी की महनीयता का व्याख्यान है। उसका माध्यम है 'वाहीकाख्यान'। इसके पूर्व गंगातट और गंगाजल में श्राद्ध-तर्पण-पिण्डदान का अपरम्पार वैशिष्ट्य बताया गया है। यह भी कहा गया है कि यतः—

'देवाः सपितरो यस्माद् गङ्गायां सर्वदा स्थिताः।
आवाहनं विसर्गं च तेषां तत्र ततो नहि' ॥ (का० ख० २८।९)

अर्थात् यतः देव-पितर भागीरथी-जल में सदा निवास करते हैं, अतः उनके आवाहन और विसर्जन की क्रिया गंगाजल में करणीय नहीं है।

इसके पश्चात् श्लोक १० से २१ तक मार्मिक शब्दों में यहाँ तर्पण-श्राद्ध-पिण्ड-दान का महत्त्व सूचित है। और गङ्गा का तो काशी में अपार माहात्म्य है—

"स्वर्सिन्धुः सर्वतः पुण्या ब्रह्महत्यापहारिणी।
काश्यां विशेषतो विष्णो ! यत्र चोत्तरवाहिनी ॥"
(का० ख० २८। २४)

तदनन्तर बहुत सी माहात्म्य-परक बातें बताने के बाद कहा गया है कि जन्तुओं की अस्थि जितने दिन गङ्गा में पड़ी रहती है, उतने ही सहस्रवर्ष पर्यन्त जन्तुगण स्वर्ग सुखभोगी होते हैं।

इसी प्रसंग में 'वाहीक'(बोझ ढोने का काम करनेवाला) नामक विप्र का आख्यान, भगवान् महेश्वर ने विष्णु को सुनाया। इस आख्यान में यही दिखाया गया है कि किस भाँति विप्रकर्म से सर्वथा हीन, सदा अनाचार में लिप्त 'वाहीक'—जो सभी प्रकार के शास्त्रविपरीत कर्म को करता रहता था—किस भाँति की मृत्यु पाई और कैसे संयोग-वश उसको अस्थि, लड़ते हुए गृद्धों के चोंच से छूटकर गङ्गाजल में जा पड़ी। नरक में जाने पर यम की आज्ञा से समस्त प्रकार की नरक-पीड़ा में पड़ा हुआ—पूर्वोक्त

अज्ञात गङ्गाजलास्थि के पुण्यवश, देवयान पर चढ़कर अमरलोक में जा पहुँचा और स्वर्गसुख भोगने लगा। कारण यह कि—

"करुणामृतपूर्णेन देवदेवेन शम्भुना।
एषा प्रवर्तिता गङ्गा जगदुद्धरणाय वै॥" (का०ख० २८।८५)

एतत्पश्चात् भूरिशः गंगा के माहात्म्य का वर्णन यहाँ तक बताया गया है कि ऋषिजुष्टा गंगा के सेवन से मोक्षरूप ब्रह्मत्व की भी प्राप्ति हो जाती है। गंगा सबको तारनेवाली, सब का उद्धार करने वाली हैं। गंगा ही सब तीर्थ हैं, वही तपोवन हैं, वही सिद्धि-क्षेत्र हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

गङ्गासहस्रनाम-स्तोत्र

'काशीखण्ड' के द्वितीय भाग का यह 'गंगासहस्रनामस्तोत्र' अमूल्य निधि है। जो व्यक्ति गङ्गा में स्नान नहीं कर पाता, जो पुरुष गङ्गाजल का दर्शन या आचमन अथवा स्पर्श भी नहीं कर पाता, उसको भी सभी फल इस 'सहस्रनामस्तोत्र' को भक्तिपूर्वक, अर्थबोधसहित, सविधिपूजनयुक्त पाठ से प्राप्त होते हैं। इस स्तोत्र के बारे में कहा गया है—

"नाम्नां सहस्रं गङ्गायाः स्तवराजेषु शोभनम्।
जप्यानां परमं जप्यं वेदोपनिषदां समम्॥"
(का० ख० २९।१५)

अर्थात् स्तवराजों में परम मङ्गलदायक, जप्य स्तवो में सर्वोत्कृष्ट और वेदोपनिषद् के सदृश यह स्तोत्र ज्ञानप्रद है। मौन धारण कर, पवित्र स्थान पर पवित्र होकर और परिपूतभाव से इसका पाठ करना चाहिए।

इस स्तवराज की अनेकानेक विशिष्टताएँ है। उनमें से कुछ ही यहाँ बताई जा रही हैं। (१) सर्वप्रथम विशेषता है कि इसमें संस्कृत वर्णमाला के अकारादिक्रम के रूप में सहस्रनामों का संकलन है। [अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ए, ओ, औ, अं तथा क, ख, ग से लेकर क्ष तक]।

(१) 'ओंकाररूपिणी' से आरम्भ कर (१०००) 'क्षमा' तक—क्रम से सहस्रनाम हैं। [२९वें अध्याय के १७वें श्लोक से लेकर १६७॥ श्लोक तक]।

(२) द्वितीय विशेषता यह है कि इन सहस्रनामों के प्रत्येक नाम का भाष्यात्मक व्याख्यान किया है, काशीखण्ड के संस्कृतटीकाकार पूज्यपाद रामानन्दाचार्य ने। इस व्याख्यात्मक भाष्य में शास्त्र प्रमाण हैं और शास्त्रीय प्रौढ़ि भी है[1]।

---

१. इसी प्रसंग में मैंने जहाँ तक मुझे उपलब्ध सहस्रनामों का सिंहावलोकन किया, वहाँ तक सहस्रनामों पर महत्त्वपूर्ण भाष्य केवल तीन दिखाई पड़े—(१) महाभारत के श्रीदिव्य-विष्णुसहस्रनामस्तोत्र पर आचार्यपाद जगद्गुरु शंकर का। (२) गंगासहस्रनामस्तोत्र पर आचार्यपाद रामानन्द का और ललितासहस्रनामस्तोत्र पर आचार्य भास्कर राय का।—(संपादक)

(३) तृतीय विशेषता यह है कि विधिपूर्वक इस स्तव-पाठ से महत्पुण्य होता है।

(४) चतुर्थ विशेषता है कि इस स्तोत्र के पाठ-जप को 'गङ्गास्नान' का प्रतिनिधि बताया गया है।

(५) श्लोक संख्या १६८ से २१० श्लोकों तक माहात्म्य, फलश्रुति आदि विस्तार के सहित बड़े अभिनिवेश के साथ पुराणकार ने वर्णित किया है।

धनञ्जय वैश्य का आख्यान और काशीरहस्य

त्रैलोक्य की कल्याणकामना से उस 'आनन्दकानन' में भगीरथ राजा सुरनदी को ले आये, जहाँ शंकर की 'मणिकर्णिका' थी और जहाँ विष्णु की 'चक्रपुष्करिणी' थी। आनन्दकानन पहले से ही अविमुक्त क्षेत्र था। गंगा के वहाँ आ जाने से, 'चक्रपुष्करिणी' 'मणिकर्णिका' और 'गंगा' के योग से—तप्तजाम्बूनद रूप भास्वान् अविमुक्त क्षेत्र हीरकजुष्ट हो गया। और तब अविमुक्त क्षेत्र का मुक्तिप्रदत्व और भी भास्वत्तम हो गया। उस अविमुक्त नगरी में तो—

'तारकस्योपदेशेन काशीसंस्थोऽमृतो भवेत्।
अनेकजन्मसंसिद्धैर्बद्धोऽपि प्राकृतैर्गुणैः॥ (का० ख० ३०।१४)

काशी में मृत को 'तारक' मन्त्रोपदेश के बल से अमृतपद, मोक्षरूपामृत-फल अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

वाराणसी की व्युत्पत्ति—

इसी संसर्ग में वाराणसी के दक्षिणभागस्थ 'असि' नदी ही सर्वपापविनाशार्थं असिस्वरूपा है। यहाँ देहत्याग मात्र से निर्वाणसुख उपलब्ध हो जाता है। 'वरुणा' नदी पाप को दूर फेंक देने वाली है।

"दुष्टप्रवेशं धुन्वानां धुनीं देवा विनिर्ममुः।
वरणां च व्यधुस्तत्र क्षेत्रविघ्ननिवारिणीम्" ॥ (वही, ३०।१९)

अर्थात् देवगणों ने पापबुद्धिनिवारिणी, कलिकलुषजन्यविघ्नविघातिनी खड्ग-स्वरूपा 'असि' नदी का आविर्भाव किया और क्षेत्रविघ्नविदारिणी दुर्जनदुष्प्रवृत्ति को दूर करने वाली 'वरणा' को प्रकट किया। इसी कारण यह पवित्र क्षेत्र 'वाराणसी' समाख्या से विश्वविख्यात है। यहाँ वाराणसी में उन्हीं को प्रवेश मिलता है, जो सदाचारी, धर्मपरायण होते हैं। इस सन्दर्भ में यहाँ 'धनञ्जय' नामक वणिक् का आख्यान उपस्थापित किया गया है।

इस आख्यान में दिखाया गया है कि 'धनञ्जय' का पिता धार्मिक था; पर माता पुंश्चली थी। पिता की मृत्यु के बाद मातृभक्त सरव्य 'धनञ्जय' वैश्य माता का और्ध्वदैहिक कृत्य करने के पश्चात् माता की सद्गति के लिए, बड़े प्रयत्न के साथ काशी की गङ्गा में अस्थिप्रवाहार्थं चला। बड़े प्रयत्न करके (जो मूल कथा में वर्णित

है), अस्थि सहित काशी पहुँच गया; पर पापिष्ठा माता के दुराचारिणी होने के कारण उसे असफलता ही मिली। धनञ्जय की माता का उद्धार न हो सका। अस्थि जल में प्रवाहित न हो सकी।

इस आख्यान में ७१ वें श्लोक से श्लोक ९७ तक वाराणसी की ललित पद्यों में महिमा कीर्तित है। इन श्लोकों में काव्यरस, धर्मरस और आध्यात्मिक ज्ञानरस की त्रिवेणी प्रवाहित है।

इस अध्याय की और भी विशेषताएँ हैं—आनन्दकानन को 'रुद्रावास' कहा गया है। यजुर्वेद-संहिता के रुद्राध्याय के अन्तिम तीन मन्त्रों (६४, ६५ और ६६) में असंख्यात द्युलोकवासी, अन्तरिक्षवासी और भूतलवासी रुद्र बताए गए हैं 'रुद्ररूपी' रुद्रजन्तुओं का वास होने के कारण इस क्षेत्र को '**रुद्रावास**' कहा जाता है।

महाश्मशान समाख्या को पौराणिक व्युत्पत्ति—

इस शब्द में '**श्म**' का अर्थ शव है और '**शान**' का तात्पर्य है शयन—

श्म-शब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते।
निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने ! शब्दार्थकोविदाः॥
महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते।
शेरतेऽत्र शवा भूताः श्मशानं तु ततो महत्॥
(का० ख० ३०।१०३-१०४)

इसकी विस्तृत व्याख्या भी यहाँ दी गई है। यह भी बताया गया है कि दैनन्दिन प्रलय में शिवत्रिशूलकोटि पर स्थित यह पञ्चक्रोशात्मक अविमुक्त क्षेत्र—कलिकाल के प्रभाव से भी वर्जित रहता है।

कालभैरव का प्रादुर्भाव और उनकी इस क्षेत्र को दृष्टि से महिमा

सब से आरम्भ में ३१ वें अध्याय के उपक्रम में महाभैरव से याचना है। यतः वह श्लोक सब कथा का निचोड़ है, अतः उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"पाणिभ्यां परितः प्रपीड्य सुदृढं निश्चोत्य निश्चोत्य च
ब्रह्माण्डं सकलं पचेलिमरसालोच्चैः फलाभं मुहुः।
पायं पायमपायतस्त्रिजगतीमुन्मत्तवत्तै रसैः
नृत्यंस्ताण्डवडम्बरेण विधिना पायान्महाभैरवः॥ (का० ख० ३१।७)

भैरव की उत्पत्ति का आख्यान भी बड़ा रोचक है। इस अध्याय में उसका विस्तृत प्रवचन किया है पार्वतीनन्दन ने।

'कालभैरव' या भैरव के आविर्भाव की कथा है। इसका सारांश इतना ही है कि अपने-अपने को अनाद्यन्त अव्यय तत्त्व कहते हुए, अपने-अपने को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने हेतु चतुर्वेदों के अनादि, अपौरुषेय एवं प्रामाण्य-ख्याति के कारण विष्णु और द्रुहिण ने उनसे समाधान चाहा। चारों वेदों ने एवं प्रणव ने रुद्र-शिव-त्र्यम्बक-शंकर को ही परम, एक, अव्यय, अद्वैत तत्त्व बताया।

इसे सुन द्रुहिण और विष्णु—महादेव की हँसी उड़ाते हुए उनके रूप, वेश आदि की निन्दा करने लगे। 'प्रणव' के बारंबार समझाने पर भी ब्रह्मा और विष्णु शांभवी मायावश अपने-अपने दुराग्रह और अज्ञान को दूर न कर सके। तभी दोनों के मध्य—

"प्रादुरासीत्ततो ज्योतिरुभयोरन्तरे महत्।
पूरयन्निजया भासा द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्॥
ज्योतिर्मण्डलमध्यस्थो ददृशे पुरुषाकृतिः।
प्रजज्वालाऽथ कोपेन ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः॥"
(का० ख० ३१।३५-३६)

वहाँ एक ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ, उसके मध्य पुरुषाकृति दिखाई पड़ी। ब्रह्मा का पंचम मस्तक क्रोधवश जलने लगा और मारे क्रोध के काँपने लगा। वे कहने लगे कि हमारे बीच यह कौन (बाधा डाल रहा) है? इत्यादि। बात बढ़ी। ब्रह्मा ने उसी पुरुष को शीतांशुभूषण के रूप में देखा और कह बैठे—"मैं तुमको पहचानता हूँ। मेरे भालस्थल से तुम्हारा जन्म हुआ है। रोदन करने के कारण आपका नाम रुद्र पड़ा। हे पुत्र, मेरी शरण में आओ मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा"।

गर्वगर्भित पद्मनाभ के वचन सुनकर शिव क्रोधवश हो गए। फलतः उन्होंने भैरवाकृति पुरुष को समुत्पन्न किया। उसे 'कालभैरव' सम्बोधन करते हुए कमलयोनि के प्रति शासन का (अनुशासनात्मक कार्य का) निष्पादन करने की आज्ञा दी। उन्हें 'कालभैरव, कालराज, भैरव, आमर्दक, पापभक्षण' नाम प्रदान करते हुए उनके करणीय कार्यों का भी संकेत किया। यह भी बताया कि समस्त मुक्ति-क्षेत्रों में गरीयसी काशी है, वहाँ महापुरुष 'कालराज' का ही शासन रहेगा। वहाँ के कर्त्ता-धर्त्ता भी काशिकापुराधिनाथ कालभैरव ही रहेंगे।

इन वरों को पाकर वामाङ्गुलि के नखाग्र से भैरव ने ब्रह्मा के पञ्चम शिर का छेदन कर दिया। तब ब्रह्मा और विष्णु ने शिव की स्तुति द्वारा श्रीशंकर को अपने प्रति कृपालु बनाया। [यहाँ यह विशेष जानकारी की बात है कि ब्रह्मा को इस घटना के पूर्व पाँच सिर थे। पंचम सिर के कट जाने से पञ्चमुख ब्रह्मा चतुर्मुख हो गए।]

भैरव को ब्रह्मशिरश्छेद की हत्या लग गई। उससे मुक्त्यर्थ शिव की आज्ञा से भिक्षा मागते हुए कपालव्रत धारण कर भैरव को सदा विचरण करते रहना पड़ता रहा; क्योंकि ब्रह्मा का पंचम शिरच्छेद करने के कारण 'ब्रह्महत्या' रूपी सद्यः उत्पन्न कन्या उनके पीछे लग गई थी। यह भी महादेव ने उन्हें बताया कि भैरव जब काशीपुरी पहुँचेंगे, तभी ब्रह्महत्या से मुक्ति मिलेगी। उस परम-पवित्र पुरी में ब्रह्महत्या प्रवेश ही नहीं कर सकती थी।

सब लोकों में वे विष्णुलोक, ब्रह्मलोक आदि में चक्कर लगाते रहे। विष्णुलोक में पहुँचने पर विष्णु ने भाव-विभोर होकर शंकर की माया, महिमा, मोक्षदायकत्व

आदि का बड़ा बखान किया। विष्णु के कहने पर भी ब्रह्महत्या ने भैरव का पीछा नहीं छोड़ा। श्रीपद्मनाभ को अनेक वरदान भी मिले। इस सन्दर्भ में वाराणसी का माहात्म्य भी वर्णित है।

जो ब्रह्महत्या भैरवरूपी सर्पभूषण का पीछा नहीं छोड़ती थी—वह काशी पहुँचते ही तुरत काशी-सीमा के बाहर ही गिर गई। यहाँ वाराणसी-काशी की बड़ी महिमा गाई गई है। तदनन्तर–

"कपालमोचनं तीर्थं पुरस्कृत्वा तु भैरवः।
तत्रैव तस्थौ भक्तानां भक्षयन्नघसन्ततिम्" ॥ (का० ख० ३१।१३८)

यहाँ कालभैरव, भैरव आदि नामों के अन्वर्थपरक कारण और भैरव-महिमा के साथ-साथ—दर्शन-पूजन-यात्रादि की विधि भी बताई गई है। कालोदक में स्नान और कालराज का दर्शन अत्यन्त पुण्यजनक है। इस पुण्यकथा का पठन-श्रवण भी मनोरथ-साधक है।

दण्डपाणि का प्रादुर्भाव और हरिकेश का आख्यान

गन्धमादन पर्वत पर अपार वैभवशाली यक्षराज, अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी पत्नी कनककुण्डला के साथ निवास करता था। सर्वसाधनसम्पन्न, विश्व की समस्तविध समृद्धि का भोक्ता होकर भी वह सन्ततिहीन रहने के कारण सदा दुःखी रहता था। अपनी साध्वी पत्नी के कहने से नादोपासनाविधि से नादेश्वर शिव की आराधना कर उसने परम सुन्दर पुत्ररत्न पाया। उसका नाम हरिकेश रखा।

पर शिवोपासना से उत्पन्न वह परम सुन्दर यक्षपुत्र—आठ वर्ष के वय से ही परम शिवभक्त होकर दिन-रात शिवोपासना में लीन रहता था। बड़ा होने पर पिता के आदेश और आग्रह से विमुख होकर वह काशी आया और आनन्दकानन में घोर तपस्या करने लगा। एक बार आनन्दवन में विचरण करते हुए भव-भवानी वहाँ पहुँचे। हरिकेश को शिवप्रीत्यर्थ घोरतपस्यारत पाया। शिवा के आग्रहवश शिव ने उस यक्षपुत्र हरिकेश को काशी का नियन्त्रक, 'दण्डपाणि' (दण्डधर) बनाया। इसी प्रसंग में पहले काशी की महिमा का शिवशंकर ने घोषणा करते हुए कहा—

"न व्रतं न तपो नेज्या न जपो न सुरार्चनम्।
दानमेव कलौ मुक्त्यै काशी दानैरवाप्यते ॥
कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी।
कलौ भागीरथी गङ्गा कलौ दानं विशिष्यते ॥
गङ्गोत्तरवहा काश्यां लिङ्गं विश्वेश्वरं मम।
उमे विमुक्तिदे पुंसां प्राप्ये दानबलात्कलौ" ॥
(का० ख० ३२।१२४-१२६)

भगवान् शंकर ने यक्षपुत्र को काशी में 'दण्डपाणि' बनाने के प्रसंग से पूर्व माता पार्वती से एवं उसके बाद भी काशी की महिमा का अनुकीर्तन किया है।

इस आख्यान में यक्ष की वैभव-समृद्धि का, आनन्दकानन को नैसर्गिक सुषमा की रम्यता का और यक्षराज 'हरिकेश' के अधिकार-प्रदान का बड़ा ही काव्यात्मक, रुचिर एवं हृदयावर्जक वर्णन किया है। इस आख्यान की फलश्रुति में उपर्युक्त कथाश्रवण का भी महत्फल बताया गया है।

यहाँ ध्यान देने की बात है—पुराणरूढ़ि का पालन। इसका तात्पर्य होता है—पौराणिक रूढ़ि की शैली में कथनीय का वर्णन करने के लिए 'आख्यान' कथन के संदर्भ में तथ्य-प्रकाशन। वही यहाँ भी अपनाया गया है।

ज्ञानवापी-क्षेत्र की महिमा

(ज्ञानोदक तीर्थ का माहात्म्य)

काशी के तीर्थस्थलों में 'ज्ञानवापी' भी अपना विशेष महत्त्व रखती है। अनेकानेक यात्राएँ यहाँ से प्रारंभ की जाती हैं। पंचक्रोशी की यात्रा का संकल्प भी यहीं होता है। पुराने समय में यहाँ विशाल वापी थी। बनारस के चौक से सीढ़ियाँ उतर कर 'ज्ञानवापी' मस्जिद की ओर जो मार्ग है—वह सब सम्भवतः कभी 'ज्ञानवापी' के अन्तर्गत था। 'मस्जि़द', उसके आगे-पीछे की भूमि सभी कदाचित् विशाल वापी का ही अवशेष है। अब तो उस तड़ाग के स्थान पर मुक्तिमंडप में एक कुँआ मात्र रह गया है।

'आदिविश्वेश्वर' के पास वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर के पूर्व विश्वनाथ मन्दिर था। वह यवनों द्वारा तोड़ा गया। 'काशीखण्ड' के वर्णन के अनुसार तत्कालीन विश्वनाथ मन्दिर के दक्षिणभाग में ज्ञानवापी थी[1]।

ईशान कोण के दिग्पाल "ईशान" तब इस क्षेत्र में पहुँचे, जब सर्वत्र भूमण्डल में प्रायः शून्य था। स्वच्छन्द विचरण करते हुए रुद्रवेशी दिक्पाल ने यहाँ महाश्मशान में आकर उस ज्योतिर्मय महालिङ्ग का आलोकन किया, जो ब्रह्मा और विष्णु को 'महाहमहमिका' ('मैं बड़ा हूँ', मैं बड़ा हूँ) इस प्रतिस्पर्द्धा के उत्तर में प्रकट हुआ था। उस शिव महालिङ्ग का न नीचे पाताल तक आदि था और न अनन्त आकाश में ही अन्त था।

उस लिङ्ग को देखकर 'ईशान' ने ज्योतिर्लिङ्ग के समीपस्थ स्थान में अपने त्रिशूल से खोदकर उसी के जल के द्वारा सहस्रधार कलशों से सहस्र बार शिवलिङ्ग को स्नान कराया।

प्रसन्न होकर विश्वेश्वर शिव ने 'ईशान' को अनेक वर दिए। कहा—

"त्रिलोक्यां यानि तीर्थानि भूर्भुवःस्वःस्थितान्यपि।
तेभ्योऽखिलतीर्थेभ्यः शिवतीर्थमिदं परम्॥

---

१. 'चखान च त्रिशूलेन दक्षिणाशोपकण्ठतः।
कुण्डं प्रचण्डवेगेन रुद्रो रुद्रवपुर्धरः'॥ (का० ख० ३३।१७)

शिवज्ञानमिति ब्रूयुः शिवशब्दार्थचिन्तकाः।
तच्च ज्ञानं द्रवीभूतमिह मे महिमोदयात्" ॥
(का० ख० ३३।३१-३२)

भगवान् खण्डपरशु ने इस क्षेत्र-तीर्थ के सन्दर्भ में आगे विस्तार से बताया है। वहीं फलश्रुति भी है।

इसी प्रसंग में स्कन्द ने ज्ञानवापी-सम्बन्धी ऐतिहासिक आख्यान को श्रोता अगस्त्य ऋषि को सुनाया। वही आख्यान है, काशी-वासी हरिस्वामी और त्रैलोक्य-सुन्दरी 'सुशीला नाम्नी' कन्या का। यह कथा रोचक है। काशीखण्ड के मूल के ३३वें अध्याय में पाठकगण पढ़ें। [किस प्रकार किसी विद्याधर कुमार ने सुशीला का अपहरण किया, कैसे मध्य मार्ग में 'विद्युन्माली' राक्षस टपक पड़ा और कैसे घोर युद्ध में दोनों का महाप्रयाण हो गया। यह भी यहाँ बताया गया है कि लिङ्गमय-शरीरिणी कन्या की सान्निध्यप्राप्ति के कारण राक्षस स्वर्गलोक चला गया।

'हरिस्वामी' की पुत्री के हृदय में विद्याधर के स्पर्श से प्रणय हो गया था। वह भी उसी के वियोग में मर गई। विद्याधर दूसरे जन्म में मलयकेतु का पुत्र 'माल्यकेतु' हुआ और वह कन्या (जिसका नाम कलावती था) कर्णाटेश्वर की पुत्री। दोनों के विवाह हो गए। पुत्रों के जन्म भी हुए।

एक दिन एक चित्रपटीकार ने माल्यकेतु को लाकर एक चित्रपटी दी। वह वाराणसी की ही थी। उसमें काशी के तत्कालीन समग्र तीर्थों, मन्दिरों के चित्र बने थे। मणिकर्णिका भी थी। जिसके विषय में कहा है—

"मङ्गलं मरणं यत्र सफलं यत्र जीवितम्।
स्वर्गस्तृणायते यत्र सैषा श्रीमणिकर्णिका" ॥
(का० ख० ३३।१०३)

इसी प्रसङ्ग में श्री मणिकर्णिका क्षेत्र की महती प्रशंसा की गई है। इसके अतिरिक्त अङ्गुलि-संकेत से कलावती ने 'असि' और 'वरणा' के मध्यवर्ती सभी मन्दिरों, क्षेत्रों आदि के पूर्वजन्मसंस्कार के कारण चित्रपटी में सखियों को दिखाती रही।

अन्त में पुनः दूसरी बार चित्रपटी में 'स्वर्गद्वार' के पुरोभाग में 'मणिकर्णिका' को देखने लगी। पुनः इसी बहाने महत्पुण्यक्षेत्र श्रीमती 'मणिकर्णिका' के विषय में बड़े विस्तार से माहात्म्य कथन हुआ है।

पुनः ज्ञानवापी का चित्र देखते हुए वह कलावती मोहाभिभूत हो गई। बड़े उपचार हुए; पर सब निष्कल रहे। वहाँ कुहराम मच जाने पर एक सखी ने रहस्य का विचार करते हुए चित्रपटी का—जो 'कलावती' के हाथ से छूट गई थी—स्पर्श कराया, सामने पटी को रखकर 'चित्रपटी देखो' ऐसा अनेक बार कहा। उसका मोह-भाव दूर हो गया। मोहजन्य मूर्च्छा चली गई। कलावती ने पूर्वजन्म के समस्त वृत्तान्त को स्मरण किया।

कलावती के अत्याग्रह से माल्यकेतु मंत्रियों और पुत्रादि पर राज्यभार न्यस्त कर वे दोनों वाराणसी आ पहुँचे। वहीं दोनों स्नान, दान, पूजन, दर्शन में वीतराग होकर समय बिताने लगे। एक बार ज्योंही ज्ञानवापी में प्रातःस्नान के पश्चात् वे बाहर निकले, त्यों ही एक जटाधारी द्वारा विभूति प्राप्त कर, उनकी आज्ञानुसार दोनों ने महाशृङ्गार किया और साक्षात् शिवशंकर के तारकोपदेशवश उन्हें परमपद प्राप्त हुआ।

इस भाँति तेंतीसवें और चौंतीसवें अध्यायों में काशीखण्ड में वाराणसी, काशी, ज्ञानवापी और मणिकर्णिका आदि की महिमा गाई गई है। अतः दोनों अध्याय, आंशिक रूप से धार्मिक और अंशतः ऐतिहासिक महत्त्व के होने से पठनीय और मननीय हैं।

सदाचार-निरूपण

'काशीखण्ड' का पैंतीसवाँ अध्याय मुख्यतः सदाचार-वर्णन-परक है। इसमें मानव के लिए सदाचारों, सनातनधर्मानुयायियों के सदाचार का, प्रमुख रूप से वर्णाश्रम-सदाचारों का और सर्वप्रमुख रूप से ब्राह्मणों के सदाचारों का वर्णन है।

प्रस्तावना के रूप में गङ्गा, विश्वनाथ और काशी की महिमा गाई गई है—

"गङ्गा विश्वेश्वरः काशी जागर्त्ति त्रितयं यतः।
तत्र नैःश्रेयसी लक्ष्मीर्लभ्यते चित्रमत्र किम्॥

(का० ख० ३५।१०)

कारण यह है कि धर्मार्थ-काम तो प्रवृत्तिमार्ग के पुरुषार्थ हैं। पर परम और चरम पुरुषार्थ तो निःश्रेयस प्राप्ति ही है; परन्तु काशी, गङ्गा-विश्वनाथ और मुक्ति भी सदाचारलभ्य ही हैं। अतः उनकी महिमा-गीति के पश्चात् सदाचार का वर्णन दो सौ से भी अधिक श्लोकों में वर्णित है।

यहाँ द्विज के सदाचार में पुराणकार ने नित्यकर्म और अन्य कृत्यों के विषय में प्रतीकों को लेकर तत्तन्मन्त्रों का भी निर्देश किया है। इस सन्दर्भ में अनेकत्र रामानन्दी-टीकाकार ने मन्त्रों का उल्लेख एवं अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण भाष्यात्मक व्याख्या की है। मंत्रों के प्रसङ्ग में सूर्य की भी विस्तार से महिमा गाई गई है। सूर्यपूजन का बड़ा महत्त्व है, फल भी है।

तर्पण, पितृयज्ञ आदि भी विधि-विधान के साथ वर्णित हैं। प्रातः सोकर उठने से लेकर रात्रि के शयनकाल तक के सभी नित्यधर्म और अनिवार्यतः आचरणीय सदाचारों पर विशेष ध्यान देने से अन्त में मोक्ष-प्राप्ति भी होती है। प्रत्येक पक्ष मननीय और आचरणीय हैं। अतः जिज्ञासु पाठक काशीखण्ड के इस अध्याय का विशेष अध्ययन-मनन करें और स्वधर्मानुसार उनको अपने आचरण में लायें। यह सब जो यहाँ बताया गया है—वह सूत्रग्रन्थों और स्मृतियों में विस्तार से निर्दिष्ट है। मनुस्मृति में प्रायः सभी पक्ष चर्चित हैं।

ब्रह्मचारी का सदाचार-वर्णन

यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारी, सभ्य समाज की आज जीवन-पद्धति ही परिवर्त्तित हो गई है। ब्राह्मण के जीवन में जिस उपनयन संस्कार का सर्वाधिक महत्त्व था और जिसके बाद ब्रह्मचर्य धर्म और उसके सदाचार के पालन का सूत्रपात होता था तथा विद्याध्ययन समाप्ति के बाद—अविप्लुत ब्रह्मचारी का गृहस्थाश्रम में स्नानानन्तर प्रवेश होता था। वह सब आज पुस्तकों की बात रह गई है। हम लोगों के यहाँ 'यज्ञोपवीत' के बाद प्रायः ३०-४० मिनटों में गृहस्थाश्रम-प्रवेश की रस्म-अदायगी कर दी जाती है। विद्याध्ययन-काल में भी छात्रजीवन में विलासिता बढ़ती जाती है—घर पर भी या छात्रावासों में भी।

अतएव प्राचीनकालिक ब्रह्मचारी का सदाचार-वर्णन शिक्षाप्रद है। जीवनचर्या भिन्न हो जाने पर भी छात्रों में सात्त्विकता, जीवनचर्या की सरलता, अविलासिता, बड़ों के प्रति सम्मान और कठोर अनुशासनपालन आदि मानव जीवन के अभ्युदय में और समाज के निर्माण में अवश्य ही परम सहायक होंगे।

अतएव 'काशीखण्ड' का छत्तीसवाँ अध्याय ब्रह्मचारियों के लिये निर्दिष्ट ब्रह्मचारी की चर्या—धार्मिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और सामान्य सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मचारियों को अन्त में यह भी उपदेश दिया गया है कि ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम-प्रवेश के लिये विवाह के पूर्व, उद्वाह्य कन्या के शुभकर लक्षणों की परीक्षा करके ही विवाह करे। ये लक्षण 'सामुद्रिक' अधिक हैं; पर आचारिक और चारित्रिक भी हैं।

स्त्री-लक्षण

काशीखण्ड के सैंतीसवें अध्याय को पूर्वोक्ताध्याय के अन्तिम उपदेश या निर्देश से जोड़ते हुए इस अध्याय में नारी के लक्षणों को परीक्षा के आधार बताये गये हैं। कहा गया है—

"वपुरावर्त्तगन्धाश्च छाया सत्त्वं स्वरो गतिः।
वर्णश्चेत्यष्टधा प्रोक्ता बुधैर्लक्षणभूमिका ॥" (का० ख०३६।२)

इस अध्याय में पादतल से आरम्भ कर सिर के बाल तक के (पाँव के नख से शिर तक के) आधार पर शुभाशुभ सूचक नारी-अङ्गयष्टि के लक्षण बताये गये हैं। आज भी पूर्व में और पश्चिम में भी 'पामेस्ट्री' एवं हस्तरेखा तथा देह की बनावट के आधार पर मानव के भविष्य, स्वभाव, कर्म, आचरण, भाग्य आदि के विषय में भविष्यवाणी करने का प्रचलन है। यह सब निरीक्षण और परीक्षण-जन्य अनुभव-साक्षिक है। उसी प्रकार प्राचीन युग की परम्परा के अनुसार यहाँ स्त्री-लक्षण दिये गये हैं। हेतु यह है कि गृहस्थाश्रम में प्रविविक्षु, विवाह के पूर्व, यथासम्भव स्त्री के लक्षणों की जानकारी प्राप्त करे। तदनुसार शुभलक्षणाङ्गवती अंगना को अपनी सहधर्मचारिणी बनाये और अशुभलक्षणा से बचने का प्रयास करे।

देहलक्षण की भूमिका के जिन आठ आधारों का पहले निर्देश किया गया है, उन सबके सम्बन्ध में यहाँ चर्चा की गई है। अन्त में गिरिजानन्दन ने बताया है कि जो नारी शुभलक्षणवती होकर दुःशीला हो, उसे कुलक्षणाओं की शिरोमणि समझना चाहिए और जो शुभ लक्षणों से हीन होकर भी 'साध्वी' हो, पतिव्रता हो, वह सभी सुलक्षणों की आधारभूमि होती है—

'सुलक्षाऽपि दुःशीला कुलक्षणशिरोमणिः।
अलक्षणाऽपि सा साध्वी सर्वलक्षणभूस्तु सा॥
(का० ख० ३७।१४३)

किसी-किसी को ही सुलक्षणा, सुचरित्रा, स्ववशवर्तिनी और पतिव्रता स्त्री प्राप्त होती है श्रीविश्वेश्वर के अनुग्रह से। पूर्वजन्म के महान् पुण्य से सुलक्षणा नारी का जन्म होता है। ऐसी नारियों का मोक्ष और अपवर्ग इसी धरती पर रहता है। उसे देवलोक के स्वर्ग और मोक्ष के लिए साधना नहीं करनी पड़ती।

प्रमदाएँ अपने शुभ, साध्वी-अनुरूप आचरण से—स्वल्पायु पति को दीर्घायु कर देती हैं। अतः सुलक्षणा योषा को ही परिणीता बनाना चाहिए—

"सुलक्षणैः सुचरितैरपि मन्दायुषं पतिम्।
दीर्घायुषं प्रकुर्वन्ति प्रमदाः प्रमदास्पदम्॥
अतः सुलक्षणा योषा परिणेया विचक्षणैः"॥
(का० ख० ३७।१४९-१५०)

विवाह एवं गृहस्थाश्रमधर्म

सनातन और वर्णाश्रम मत के अनुयायी के यहाँ आठ प्रकार के विवाह का वर्णन श्रुति-स्मृतियों में मिलता है। मनुस्मृति में भी उनका उल्लेख विस्तार से वर्णित है। 'काशीखण्ड' के अँड़तीसवें अध्याय के आरम्भ में संक्षेप में इनका स्वरूप और फल बताया गया है।

आज के युग में जो हिन्दू-समाज दहेज की कुप्रथा के दानवदंष्ट्रा से ग्रस्त है, वह इनका महत्त्व नहीं समझेगा। समाज के इस प्रश्न पर नित्य ही भारत के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में सुधारार्थ लेख लिखे जा रहे हैं। हम भी आज इनके कुपरिणाम देख रहे हैं। अतः विज्ञ पाठकों को इस संदर्भ में अधिक बताना अनावश्यक है।

'काशीखण्ड' के वर्तमान संस्करण की संस्कृत रामानन्दी-व्याख्या में पृ० ४२३ पर मनु-वचन के रूप में आठ पदों में इनका स्वरूप प्रदर्शित है। 'काशीखण्ड' के इस अध्याय के प्रथम पद्य में ही इनके (आठ प्रकार के विवाहों के) नाम हैं—(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस तथा (८) पैशाच।

इनका स्वरूप-ज्ञान मूल, और टीकाद्वय से भलीभाँति जाना जा सका है। इनमें छठाँ जो गान्धर्व-विवाह है (जो कदाचित् गन्धर्वों में प्रचलित था), उसका

एक उदाहरण महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक में [illegible] है। 'दुष्यन्त' और 'शकुन्तला' ने जिस भाँति पत्नी-पति का वरण किया था—कन्या और वर की आपसी कामभावना से प्रेरित होकर, वह 'गान्धर्व-विवाह' था।

आज के समाज में पश्चिम का जगत् इसी प्रथा को प्रायः मान्यता देता है। भारत में भी इस गान्धर्व विधि के परिणय का प्रचार बढ़ता जा रहा है। 'सिविल-मैरेज', 'कोर्ट' में जाकर वयस्क पुरुष और नारी—सक्षम अधिकारी के समक्ष स्वेच्छा से विवाह कर सकते हैं और उसका पंजीकरण हो जाता है। उस विवाह का 'प्रमाणपत्र' मिलता है। उसे कानून की (विधि की) मान्यता मिल जाती है।

इन विवाहों के सम्बन्ध में 'अध्याय-सारांश' के वर्णन-प्रसंग में कुछ विस्तृत चर्चा है। यह बताया गया है कि इनमें प्रथम चार और सवर्ण-विवाह उत्तम एवं देव-पितृ कार्य के लिए मान्य हैं। अनन्तर के चार क्रमशः हीन-हीनतर-हीनतम हैं। पुराकाल में असवर्ण-विवाह भी होते थे। पर वे हीन दृष्टि से ही देखे जाते थे। विस्तारभय से यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जा रहा है। [विशेष विवरण—मूल काशीखण्ड और टीकाओं में देखें।]

पश्चिमी भी विवाह को सामाजिक पणबन्ध (सोशल कंट्रैक्ट) मानता है; पर उसकी दृष्टि भौतिक है। हाँ, कैथोलिक कट्टर ईसाई इसे पूज्य और महत्त्वपूर्ण संस्कार मानते हैं।

इस प्रकरण में गृहस्थाश्रम-सदाचार का सारांश है—ऋणत्रय का (देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋणों) का संशोधन। इनकी चर्चा सर्वत्र मिलती है।

भक्ष्याभक्ष्य, खान-पानसम्बन्धी छुआछूत का उल्लेख भी यहाँ है, जो, इसी भाग के संस्कृत सारांश में मिल जायगा। अन्त में पुराणकार ने 'काशी-माहात्म्य' की चर्चा करते हुए कहा है—

> "गेहेऽपि ज्ञानमभ्यस्येत् काशीं वा समाश्रयेत्।
> सम्यग् ज्ञानेन वा मुक्तिः किं वा विश्वेशवेश्मनि" ॥
>
> (का० ख० ३८।१०७)

अर्थात् 'गृहस्थाश्रमादि में निवास करते हुए मोक्षार्थ 'ज्ञान' की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए अथवा विश्वनाथ पुरी काशी का आश्रय लेना चाहिए। आगे भी काशी का माहात्म्य वर्णित है। गृहस्थाश्रम धर्म का वर्णन, एक अध्याय के अनन्तर ४०वें अध्याय में विहित-निषिद्ध सदाचार के साथ पुनः वर्णित है।

अविमुक्तेश्वर का माहात्म्य और दिवोदास के आख्यान का उपक्रम

आरम्भ में इस अध्याय में यह बताया गया है कि जो अनन्त, निष्प्रपञ्च, निराकार, निर्विकल्प, निरात्मक, अव्यक्त, कार्यकारणरूप ब्रह्म है—वह समग्र अविमुक्त क्षेत्र में विराजमान है। उसकी महिमा का, बड़े अभिनिवेश से स्कन्दकुमार के वचन-माध्यम से यहाँ पुराणकार ने वर्णन किया है।

पर इस तथ्य के आश्चर्यजनक और काशी के मुक्तिप्रद होने पर भी क्या कारण है कि (मेरे अतिरिक्त) शिव को भी अपनी परमप्रिय पुरी का त्याग करना पड़ा ?

दिवोदासोपाख्यान का अवतरण

काशिराज दिवोदास की चर्चा—ऋग्वेद से लेकर 'काशीखण्ड' तक तथा अन्यत्र भी मिलती है। यह बड़ा प्रतापी, प्रजापालक, धार्मिक 'काशिराज' था। इसका वृत्तान्त ३९वें अध्याय से लेकर काशीखण्ड के बाद के अध्यायों तक प्रसृत है। बीच-बीच में अन्य उपाख्यानादि भी हैं; पर वे भी प्रायः परोक्षरूप से मूलाख्यान से सम्बद्ध हैं। 'काशीखण्ड' के प्रथम भाग में 'दिवोदास' का संक्षेप में परिचय वर्णित है। अतः यहाँ उसकी पुनः 'उद्धरिणी' अनावश्यक है।

यहाँ इतना ही कथ्य है कि इक्ष्वाकुवंशीय राजा रिपुञ्जय के राज्य से स्वयंभू के वचनानुसार सब देव स्वर्ग चले गये, नागगण पाताल और भगवान् त्रिपुरारि भी मन्दराचल चले गये; परन्तु मन्दराचल जाकर काशीपति भगवान् शंकर ने इस क्षेत्र को नहीं छोड़ा और लिङ्गरूप से इस क्षेत्र में बने ही रहे। तभी से यह पुण्यपुरी 'अविमुक्त' क्षेत्र के नाम से विख्यात है।

दिवोदास नाम

राजा रिपुञ्जय को दिवोदास का नाम क्यों मिला ? इसमें कारण है। ब्रह्मा ने ही उस राजा को यह नाम दिया। यथा—

दिवोऽपि देवा दास्यन्ति रत्नानि कुसुमानि च।
प्रजापालनसन्तुष्टा महाराज प्रतिक्षणम्॥
दिवोदास इति ख्यातमतो नाम त्वमवाप्स्यसि।
मत्प्रभावाच्च नृपते ! दिव्यं सामर्थ्यमस्तु ते"॥
(का० ख० ४०।३८-३९)

इस प्रकार राजा रिपुञ्जय को दिवोदास नाम मिला। पर यह पुरी अविमुक्त पुरी बनी रही। सभी पुण्यक्षेत्र, सभी लिङ्ग 'माघकृष्णचतुर्दशी' को (सम्भवतः फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशी-महाशिवरात्रि के दिन) यहाँ आते रहते हैं। इसके पश्चात् अविमुक्तेश्वर की महिमा बताकर यह अध्याय समाप्त होता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है (जैसा मैं निरन्तर कहता आ रहा हूँ) कि काशीखण्ड में सभी प्रसङ्गों के साथ-साथ अविमुक्त पुरी का महत्त्व संलग्न है।

गृहस्थों के कर्त्तव्य और उनके अकर्त्तव्य

अविमुक्तेश्वर की प्राप्ति के उपाय यहाँ बताते हुए गृहस्थ के विधिसंमत नब्बे (९० संख्यक) मार्गप्रदर्शक सदाचारों को बताया गया है। नारियों के छः दोष भी बताये गये हैं। खान-पान सम्बन्धी विधि-निषेध भी निर्दिष्ट हैं। संस्कृत-भाषा के

माध्यम से अध्याय-सारांश में इन सब की चर्चा संक्षेप में की गई है। जिज्ञासु पाठक वहाँ देख लेने की कृपा करें। इस अध्याय के अन्त में बताया गया है—

"इत्थमाचरतां काशीप्राप्तस्तु मोक्षकृत्।
काशीनाथप्रसादेन काशी येन निषेविता॥
स सर्वतीर्थसुस्नातः स सर्वक्रतुदीक्षितः।
स दत्तसर्वदानस्तु काशी येन निषेविता"॥

(का० ख० ४०।१६६-१६७)

वानप्रस्थ और संन्यासियों के सदाचार

(योगाभ्यास का स्वरूप और महत्त्व)

'काशीखण्ड' के ४१ वें अध्याय में 'वानप्रस्थ आश्रम' एवं 'संन्यास आश्रम' के सदाचार, दिनचर्या, भोजन-शयन-निवास और उसके साथ-साथ इनके धर्म भी संक्षेप में व्याख्यात हैं। अन्त में सारतत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'आत्मज्ञान' के हेतु (काशीखण्ड, अध्याय ४१, श्लोक ३९-४० में) बताये गये हैं। आगे कहा गया है—

"स हि (आत्मैव) सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्मैवाश्रमवर्तिभिः।
श्रोतव्यस्त्वथ मन्तव्यो द्रष्टव्यश्च प्रयत्नतः॥
आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगादृते नहि।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति॥"

(का० ख० ४१।४१-४२)

इसके पश्चात् षडङ्ग योग का सूत्र रूप में परन्तु अत्यन्त सारगर्भित विवरण दिया है। समग्र विवरण स्पष्ट और बोधगम्य शब्दों में प्रस्तुत किया है। 'पातञ्जल-योगसूत्र' और 'हठयोगप्रदीपिका' में सभी पक्ष वर्णित हैं।

यहाँ एक बात विशेष द्रष्टव्य है कि इस अध्याय में 'अष्टाङ्ग' योग का व्याख्यान न उपस्थापित कर 'षडङ्गयोग' का अत्यन्त स्पष्ट परिचय प्रस्तुत किया गया है। पूर्व अध्यायों में मुक्ति के उपायों में 'अष्टाङ्ग' योग का उल्लेख अनेकत्र है; पर यहाँ 'यम और नियम' इन दो योगाङ्गों को छोड़कर प्रमुख अवशिष्ट षडङ्गों का संक्षिप्त निरूपण है। कारण यह कि यम और नियम तो वस्तुतः सभी धार्मिकों के लिए धर्माचरणशीलों के लिए अनिवार्य हैं। आसनों के विषय में बताया गया है कि जितनी जन्तुयोनियाँ है, उतने आसन हो सकते हैं; परन्तु उनमें कतिपय प्रमुख आसनों के रूप और महत्त्व यहाँ समझाये गये हैं।

वस्तुतः 'चित्तवृत्तियों' का समग्रता के साथ निरोध ही योग है। 'अध्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि सर्वमुख्य हैं। 'प्राणायाम' का भी विशिष्ट महत्त्व, उसके विभिन्न रूप और प्राणायाम के परिणाम की विस्तृत चर्चा की गई है। सारांश रूप में कहा गया है—

"सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥" (का०ख० ४१।५३)

योगियों की अलौकिक शक्तियों का भी यहाँ उल्लेख है। 'परकायप्रवेश' और सभी जीवजगत् की भाषा समझने की शक्ति तथा अनेक अन्य सिद्धियाँ भी योगियों को स्वतः उपलब्ध होती हैं; परन्तु वे बहुत सी चामत्कारिक सिद्धियाँ—जिनका लोग प्रदर्शन करते हुए अपने को चमत्कारी योगी सिद्ध करते हैं, ब्रह्मसाक्षात्कार के पथ को अवरुद्ध कर देती हैं। ये सभी ब्रह्म के साथ एकात्म भाव के अन्तराय और परम शत्रु हैं।

पुराणकार ने नभोमुद्रा, महामुद्रा, उड्डीयानमुद्रा तथा विविध 'बन्धों' का (जालन्धर आदि का) स्पष्ट विवरण और फल भी बताया है। योगियों की 'अजपा गायत्री' भी वर्णित है।

परन्तु यथार्थयोगसिद्धि—समाधि की सविकल्पक अवस्था और निर्विकल्पकावस्था है। ये अवस्थाएँ अनेक जन्मों की कठिन साधना से भी सुलभ नहीं हैं। वह योग, जिसकी साधना सिद्ध होने पर सर्वद्रष्टा से सायुज्य प्राप्त होता है, वह परम दुर्लभ है।

परन्तु वाराणसी-योग कुछ दूसरा ही है। इसी एकतालीसवें अध्याय के १७१वें पद्य से आरम्भ कर यह योग वर्णित है। इस प्रकार योगाध्याय की पौराणिक परिणति काशीमाहात्म्य के साथ दिखाई गई है।

यहाँ एक पक्ष और भी कथ्य है। संस्कृत की 'रामानन्दी' टीका में यहाँ भाष्यात्मक व्याख्या है। उसमें योगशास्त्रीय ग्रन्थों और विशेषतः 'हठयोगप्रदीपिका' आदि ग्रन्थों के आधार पर सप्रमाण की गई व्याख्या अतीव वैदुष्यपूर्ण एवं सारगर्भित है। वह भी पठनीय है।

कालवञ्चनोपाय, कालचिह्न और काशी-माहात्म्य

यह अध्याय आरम्भ में उन काल-चिह्नों का वर्णन करता है, जिनमें कालानुसारी मृत्युनैकट्य का अनुमान होता है। उन चिह्नों को किसी मानव में देखकर या पाकर मनुष्य की अवशिष्ट आयु का पता लगता है। धार्मिक ख्याति, चिकित्साशास्त्र एवं स्वप्नविज्ञान आदि का आधार लेकर यहाँ वर्णन किया है। आज के स्वप्नशास्त्री और मनोविज्ञानाधृत चिकित्सक आंशिक रूप से इस प्रकार की भविष्यद्वाणी में आस्थावान् होते हैं। परम्परागत अनुभव एवं प्रसिद्धि भी इसमें प्रभावी है।

"कालं निकटतो ज्ञात्वा काशीनाथं समाश्रयेत्" ऐसा पूर्व के अध्याय में कहा गया है। इसी कारण अगस्त्य मुनि की एतद्विषयक जिज्ञासा है और उसके समाधान में स्कन्दकुमार का समाधान है।

यहाँ बयालीसवें अध्याय के तृतीय पद्य से कालचिह्न-वर्णन का प्रकरण प्रारम्भ होकर उनतालीसवें पद्य तक में ये लक्षण बताए गये हैं। इसके पश्चात् काशी-माहात्म्य का प्रसंग आ गया है। बताया गया है—

'न कालवञ्चनोपायं मुनेऽन्यमवयाम्यहम् ।
विना मृत्युञ्जयं काशीनाथं गर्भावरोधकम्' ॥ (का० ख० ४२।४१)

इस कथन से यहाँ यह आशय स्पष्ट होता है कि 'कालवञ्चन' पद का भाव है कालवश मरना, पुनः गर्भवास का दुःख सहना और सर्वरोग, सर्वपीड़ामयी 'जरा' और तदनन्तर मृत्यु––इस क्रम को पुनः पुनः भोगने से बचना। काशी स्थित मृत्युञ्जय काशीनाथ का आश्रय ग्रहण करने के अतिरिक्त और सुलभ अन्य उपाय नहीं है। इसी क्रम में पुराणकार अपनी शैली में काशीनाथ और काशी की महिमा के प्रसंग की अवतारणा करते हैं। पद्य ५९ तक अनेक आयामों और परिवेशों के साथ वह अग्रसर होता है।

अन्त में अगले (४३वें) अध्याय की उपक्रमणिका (अवतरणिका) के रूप में कहा गया है—

"स्थितोऽपि भगवानीशो मन्दरं चारुकन्दरम् ।
काशीं विना रतिं नाऽऽप दिवोदासनृपोषिताम् ॥" (का० ख० ४२।६०)

दिवोदास का प्रताप-वर्णन

(देवों-देवेन्द्र के निर्देश से अग्निदेव का आचरण)

दिवोदास और उसके धर्मपूर्ण सुशासन का आख्यान बड़े ही रागमय और अभिनिवेश के साथ पुराणकार ने किया है। जिस प्रकार बाल्मीकि-रामायण आदि में रामराज्य के सुशासन, वर्णाश्रम-धर्मपालक लोकाचरण, सुख-समृद्धिधर्मादि-सम्पन्न प्रजा का विवरण मिलता है, बहुत कुछ उसी प्रकार की स्थिति का यहाँ भी दिवोदास के राज्य में वर्णन है।

पराजय-भय से एवं स्वर्ग छिन जाने की आशंका से ईर्ष्यालु देवों और देवन्द्र ने अग्निदेव से प्रार्थना करके तैजस्तत्त्व को भूतल से हटवा दिया। पृथिवीमण्डल से योगमाया-बल से अग्निदेव द्वारा अपनी मूर्ति को खींच लेने पर भी दिवोदास ने अपने तपोबल से सब कुछ सामान्य बना दिया। [पुराणकार द्वारा कृत यह रोचक प्रकरण श्रद्धालु जन मूल और टीकाओं में अवश्य पढ़ें।]

विश्वनाथ का काशी-विरहजन्य दुःख

योगिनियों का वाराणसी-गमन

भगवान् भूतभावन शशिशेखर काशी की विरह-पीड़ा से अत्यन्त दुःखी थे। विरह-ज्वाला के शान्त्यर्थ सभी उपचार निरर्थक होते जा रहे थे। उनकी अर्द्धांगिनी भवानी उनके दुःख और उसके कारण को ठीक-ठीक समझ गईं। उनमें उदित सात्त्विक भावों को भी देखा और तब विमुक्तिदा मुक्तिपुरी काशी चलने का प्रस्ताव किया। और इसी क्रम में काशी की महिमा गाने लगीं। चौवालीसवें अध्याय के २९वें पद्य से लेकर ४७वें पद्य तक काशी, मणिकर्णिका आदि तीर्थस्थलों की

लोकोत्तर विभूतिमयी महिमा का काव्यात्मक गान है। भव ने दिवोदास के राज्य में प्रवेश न कर सकने की सारी कथा बताई।

फिर भव और भवानी—दोनों मिलकर दिवोदास के राज्य को काशी से उद्वासित करने का उपाय सोचने लगे। भगवान् शंकर ने ध्यानपूर्वक देखकर स्वर्गीय-शक्तिसमृद्धा चौंसठ योगिनियों का आह्वान किया। सारी स्थिति उन्हें समझाई। अन्त में आदेश दिया कि योगिनियाँ वाराणसी जाँय और माया एवं अन्योपायों द्वारा अभीष्ट कर्त्तव्य की सिद्धि करें। और यह आदेश पाकर नयनाभिराम काशीपुरी के लिए मुदितमन से योगिनियाँ आकाश मार्ग से चल पड़ीं—

"इति मुदितमनाः स योगिनीनां निकुरम्बस्त्वथ मन्दराद्रिकुञ्जात्।
नभसि लघुकृतप्रयाणवेगो नयनातिथिमलम्भयत्पुरीं ताम्॥"
(का० ख० ४४।६८)

योगिनीमण्डल का मायिक नाना रूपों में काशी-प्रवेश

काशी में पहुँचते ही चौसठ-संख्यक योगिनियों ने अपनी मायाशक्ति से अनेक रूप धारण किये। प्रत्येक घर के आँगन में एक वर्ष तक निरन्तर घूमती हुई भी उन्हें ऐसी कोई त्रुटि दिवोदास के राज्य में नहीं दिखाई पड़ी, जिसके आधार पर वे अपने उद्देश्य के लिए कुछ कर पातीं। उनकी वाञ्छा वन्ध्या ही रह गई। आपस में मन्त्रणा कर प्रभु-(शिव-) कार्य के निष्पादन में असफल योगिनियाँ काशी में ही बस गईं।

असफल योगिनियों के लिए शंकर को अपना मुँह दिखाना सम्भव न हुआ। साथ ही काशी के अछेद्य आकर्षण से आकृष्ट होकर वे काशी में रहने लगीं।

यहीं पर काशीस्थ योगिनियों के पूजन-उपासना का फल भी बताया है। श्लोक ३४ से लेकर ४१वें श्लोक तक ६४ संख्यक (चतु:षष्टि) योगिनियों के नाम भी बताये गये हैं। उन नामों के पाठ की फलश्रुति भी है। पूजाविधि भी निर्दिष्ट है।

[काशी में 'चौसट्ठी' देवी के मन्दिर के नाम से योगिनियों का मन्दिर है। होली के दिन दर्शनार्थियों की वहाँ अपार भीड़ होती है। यह वार्षिक यात्रा है। यह बड़ी फलप्रद बताई गई है। मोहल्ला और घाट भी इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।]

शिव का सूर्य को काशी भेजना

(असिसंगम, लोलार्ककुण्ड और 'लोलार्क' का माहात्म्य)

योगिनीवृन्द जब 'काशी' से प्रत्यावर्तित न हुआ, तब 'काशी' जाकर धार्मिक राजा 'दिवोदास' को अपने राज्य से उद्वासन का उपाय रचने के निमित्त सहस्रकिरण को शिव ने आज्ञा दी। 'काशी' जैसी मुक्तिदायिनी रम्यपुरी की दर्शन-लालसा से ललित अर्कदेव का मन अत्यन्त लोल हो उठा। इसी कारण आगे चलकर उनकी

अनेक मूर्त्तियों में यहाँ सर्वप्रथम प्रतिष्ठित मन्दिर-मूर्त्ति का नाम 'लोलार्क' पड़ा और समीपस्थ कुण्ड का नाम 'लोलार्क' कुण्ड पड़ा।

योगिनियों की भाँति ही नाना वेष बना-बनाकर (जिनका उल्लेख ४६वें अध्याय के १५वें पद्य से २२ पद्य तक है) कहीं भी कोई छिद्र उस राजा के राज्य में न पाकर ग्रहेश्वर 'बारह संख्यक' प्रमुख अर्कों के रूप में वाराणसी के विभिन्न स्थलों में क्षेत्र-संन्यास की विधि से प्रतिष्ठित हो गये।

'काशीखण्ड' के इस अध्याय के ३१वें पद्य से लेकर ४३वें पद्य तक अपने प्रतिपाद्य—काशीमहत्त्व-तत्त्व का रागमय वाणी में सूर्य से गान कराया गया है। उन अर्कों के द्वादश नाम हैं—(१) लोलार्क, (२) उत्तरार्क, (३) साम्बादित्य, (४) द्रुपदादित्य, (५) मयूखादित्य, (६) खखोल्कादित्य, (७) अरुणादित्य, (८) वृद्धादित्य, (९) केशवादित्य, (१०) विमलादित्य, (११) गङ्गादित्य और (१२) यमादित्य।

'दिवोदास' का आख्यान, काशीखण्ड के प्रकाश्यमान तृतीय भाग तक फैला है। 'दिवोदासेश्वर' शिवलिङ्ग भी काशी में है। उनके दर्शन-पूजन आदि की महिमा भी निरूपित है।

यहाँ 'लोलार्क' सूर्य के मन्दिर और 'लोलार्क कुण्ड' का उल्लेख मात्र किया जाता है। 'काशीखण्ड' के प्रथम भाग में तथा द्वितीय भाग के 'सारांश' में इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। यह स्थान 'असि-संगम' के समीप है। मुहल्ले का नाम काशी में 'लोलारक' प्रसिद्ध है। 'लोलारक छट्ठ' का वार्षिक मेला भी वहाँ लगता है। स्थान अत्यन्त मान्यताप्राप्त है।

इस प्रकार 'काशीखण्ड' ने काशी के एक प्रमुखतीर्थ और साथ ही असि-संगम एवं वाराणसी के वैभव को पुनः प्रतिष्ठित किया है।

उत्तरार्क एवं बर्करीकुण्ड (बकरियाकुण्ड)

(प्रियव्रत और शुभव्रता की पुत्री सुलक्षणा का आख्यान)

पौराणिक रूढ़ि की शैली में यहाँ एक अद्भुत आख्यान के अवतरण को माध्यम बनाकर 'उत्तरार्क' और जन्तु-जगत् की 'बकरी' का एवं बर्करीकुण्ड का महत्त्व बताया गया है। संस्कृत 'सारांश' में यह संक्षिप्त कथा अङ्कित है। मूल काशीखण्ड के ४७वें अध्याय में इस पूरी कथा का पठन किया जा सकता है।

'लोक-कथाओं' में जैसे गौरा-पार्वती और शिव के अनुग्रह का भागी भक्त होता है, उसी प्रकार अखण्ड-ब्रह्मचारिणी, तपश्चरणनिरता सुलक्षणा के तपःप्रभाव से सब हुआ।

'उत्तरार्क' का मन्दिर, प्रसिद्ध 'बकरियाकुण्ड' के निकट है। इस कुण्ड का 'अर्ककुण्ड' भी नाम है। पूस माह के रविवार को आज भी वहाँ मेला लगता है। 'गाजीमियाँ' के व्याह का उत्सव भी यहाँ जेठ माह के एक अतवार को बड़े धूमधाम से हिन्दू-मुसलमान और अन्त्यज मनाते हैं।

साम्बादित्य की कथा

(काशी की महिमा एवं साम्बादित्य का मन्दिर (सूर्यकुण्ड))

कृष्णपुत्र 'साम्ब' के कुष्ठरोगग्रस्त होने की कथा थोड़े-बहुत अन्तर से अनेक पुराणों में मिलती है। यहाँ यह कथा नारद के षड्यन्त्र से श्रीकृष्ण के 'शाप' द्वारा अवतरित है। कहीं-कहीं शाप देने वाले दुर्वासा का भी उल्लेख है; पर परिणति है—सूर्योपासना से 'श्रीकृष्णपुत्र' साम्ब की कुष्ठरोगमुक्ति।

संस्कृत 'सारांश' में यह कथा कुछ विस्तार से दी गई है। मूल 'काशीखण्ड' पढ़ने से ही इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो सकता है।

रोगनिवृत्ति के हेतु 'सूर्योपासना' का बड़ा महत्त्व है। भविष्यपुराण, उपपुराण-साम्बपुराण-सूर्यपुराण आदि में इसका बड़े विस्तार से निर्देश है। भविष्यपुराण और भविष्योत्तरपुराण में एक बड़े अंश में सूर्य के रोगनिवारकत्व की पुष्टि की गई है। कहा भी गया है—'**आरोग्यं भास्करादिच्छेत्**'।

इस आख्यान में लीलापुरुष द्वारकेश कृष्ण की रम्यपुरी द्वारका का वैभव और श्रीकृष्ण के विलास का भी वर्णन है।

कृष्णशापमोचनार्थ कृष्ण के आदेश से सर्वपापघ्नी काशी पुरी में जाकर साम्ब ने उपासना की।

इस प्रसङ्ग में काशीखण्डकार ने संक्षेप में पर सशक्त शब्दों द्वारा काशी-माहात्म्य के वर्णन को विस्मृत नहीं किया। सर्वव्याधिहर्त्ता आदित्य की उपासना की। वे कुष्ठ रोग से मुक्त हुए। उन्हें पूर्ववत् लोकोत्तर सुन्दर रूपलाभ हुआ।

यह 'साम्बादित्य' मन्दिर सूर्यमन्दिर नाम से प्रसिद्ध है। काशी के 'सूरज-कुण्ड' मुहल्ले में साम्बादित्य का मन्दिर सूर्य-मन्दिर के पास है। कुण्ड भी वहीं है। आज से ५०-६० साल पूर्व चर्मरोग से मुक्ति पाने के लिए वर्षपर्यन्त उक्त कुण्ड में (जिसे 'सूरज-कुण्ड' कहते हैं—) लोग स्नान किया करते थे, महारोग से मुक्ति भी पाते थे।

आज कुण्ड अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त है। नगरपालिका के सीवर का गन्दा पानी उसमें गिरता रहता है। भैंसें उसमें प्रातः से सायंकाल तक नहाती रहती हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वहाँ का पर्यावरण अत्यन्त दूषित है।

काशी के सनातनी श्रद्धालुओं का कर्त्तव्य है कि उस ओर ध्यान दें। तीर्थ का पुनरुद्धार होना चाहिए। मन्दिर भी अच्छी अवस्था में नहीं है।

द्रौपदादित्य और मयूखादित्य का आख्यान

एवं

काशी की 'मङ्गलागौरी' का माहात्म्य

कहा गया है कि पुराकाल में पापहर हर (महादेव) स्वयं पाण्डु के पाँच पुत्रों के रूप में अवतरित हुए। दूसरी ओर जगद्धात्री माता भवानी भी द्रुपदराज

की यज्ञीय वह्निकुण्ड से अत्यन्त सुन्दर रूपवाली द्रौपदी, कृष्णा हुईं। द्रौपदी ने काशी में सूर्य-मूर्ति की स्थापना की और सूर्याराधना की। फलतः कलछुल और ढक्कनदार ऐसी बटलोही मिली, जो अक्षय थी। कितने ही जनों को तब तक उसमें से सभी सुस्वादु भोजन कराये जा सकते थे, जब तक द्रौपदी स्वयं न खा लेतीं। पुनः दूसरी वेला के लिए वह अक्षय बटलोही भरकर अक्षय बन जाती थी।

इसी क्रम में भगवान् सूर्यनारायण ने द्रौपदी को अनेक वरदान दिये। यह भी कहा कि इस मूर्ति की पूजा-उपासना से मानव की क्षुद्बाधा नष्ट हो जाती है।

इसी प्रसंग में काशी-माहात्म्य भी वर्णित है। तत्कालीन विश्वनाथ मन्दिर के दक्षिण की ओर दण्डपाणि-मूर्ति के समीप सम्भवतः वर्तमान हनुमान्-मन्दिर में अक्षयवट के नीचे द्रौपदादित्य की प्रतिमा-दुर्दशाग्रस्त रूप में विद्यमान है।

मयूखादित्य और मङ्गलागौरी

इस प्रकरण में सूर्य की तपस्या का वर्णन है। उनके द्वारा स्थापित 'गभस्तीश्वर' महाशिवलिङ्ग एवं मंगला नाम वाली गौरी (सम्प्रति 'मङ्गलागौरी' नाम से प्रसिद्ध गौरी देवी हैं[1]। श्री सूर्य ने देवताओं की वर्षगणना के अनुसार 'एक लाख' वर्षों तक तपस्या की थी। उस तपस्या से प्रसन्न होकर सोमार्धशेखर शिव प्रकट हुए। उस काल में स्वकीय तेज और तपस्तेज के एकीभूत हो जाने से केवल 'मयूख' ही 'मयूख' दृष्टिगोचर होते थे, आदित्य नहीं।

यहाँ पुराणकार ने अनेक पद्यों द्वारा स्थावर-जंगम विश्व के आत्मरूप ('सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) सूर्य के भव्य रूप और प्रभाव का बड़ा ही मार्मिक चित्र उकेरा है।

सूर्य के तेज से व्याकुलित विश्व की दशा देखकर विश्वत्राता विश्वेश्वर स्वयं वरदानार्थं सूर्य के समीप उपस्थित हुए। उस वेला में निरुद्धेन्द्रियवृत्ति सूर्य, समाधि की अवस्था में अपनी स्मृति भी विस्मृत कर बैठे थे। इसी कारण 'शिव' के दो-तीन बार (वरं ब्रूहि, वरं ब्रूहि) कहने पर भी चैतन्य न हुए, तब शिव के पाणिस्पर्श से सूर्य को चेतना लौटी। दण्डवत्प्रणाम करके वह शिवस्तुति करने लगे। (यह 'शिवस्तुति' काशीखण्ड के ४९वें अध्याय के पद्य ४६ से प्रारम्भ होकर ५३ पद्य तक अष्टक है।)

पुनः रवि ने महादेवी 'मङ्गलागौरी' का भी बड़ी ही ललित-छन्द-वाणी में (५५वें श्लोक से ६२वें श्लोक तक अष्टक) स्तवन किया। पहले अष्टक में शिव के निमित्त

---

१. (क) कुछ लोग इन्हें नवदुर्गाओं में अष्टम 'महागौरी' के रूप में 'मङ्गलागौरी' को ही मान्यता देते हैं।

(ख) नवगौरियों में अष्टम गौरी के रूप में भी इनकी मान्यता है। यह मन्दिर 'बिन्दुतीर्थ—पंचगंगाघाट के प्रसिद्ध 'गभस्तीश्वर' के मन्दिर में है।

[सम्पादक]

चौसठ सम्बोधन पद हैं। अतः उसे 'चतुःषष्टि-अष्टक' और द्वितीय को मंगलाष्टक कहा गया है। दोनों स्तोत्रों के पाठ की विशिष्ट 'फलश्रुति' भी है। 'गभस्तीश्वर' के सविधि पूजन से, शिव-वरदान के प्रभाव के कारण मुक्ति प्राप्त होती है। यह भी वाराणसी-माहात्म्य ही है।

एतदनन्तर सूर्य द्वारा स्थापित 'गभस्तीश्वर' लिङ्ग के पूजन, दर्शन आदि को महिमा वर्णित है। 'मङ्गलाव्रत' भी महाफलद कहा गया है। चैत्रशुक्लतृतीया को मङ्गलागौरी की यात्रा भी फलप्रद है। शिव के वरदानस्वरूप सूर्य का और उस सूर्य मूर्त्ति का नाम (मयूखादित्य) है[1]।

खखोल्कादित्य और गरुडेश्वर को कथा

(गरुड़ के द्वारा अमृतहरण का उपाख्यान)

दक्षप्रजापति की दो पुत्रियाँ—'कद्रू' और 'विनता' हुईं। वे मरीचि ऋषि के पुत्र कश्यप मुनि की पत्नी बनीं। 'कद्रू' सर्पों की माता सर्पिणी, कुटिला, स्वार्थिन तथा छल-कपट-निरता थी और 'विनता' पक्षिणी थी, जो अत्यन्त विनत, सरल, निश्छल और अपनी बहन के छल और प्रवंचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ थी।

यह अत्यन्त प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। अनेक पुराणों में किसी न किसी रूप में मिलती है। संस्कृत 'सारांश' में इसे कुछ विस्तार से बताया गया है। अतः सूत्ररूप से कुछ ही बिन्दु प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

'कद्रू' और 'विनता' ने सूर्याश्वों के वर्ण-परीक्षणार्थ पणबन्ध किया। पणबन्ध के अनुसार पराजित को दास्यभाव स्वीकारना पड़ेगा। विनता ने कहा कि सूर्याश्व श्वेत हैं, 'कद्रू' ने कहा कि चितकवरे हैं। यहाँ कद्रू ने बड़ा भारी छल किया जो मूल में पढ़ें। वर्ण-परीक्षणार्थ 'विनता' पक्षिणी के पृष्ठ पर सवार होकर दोनों बहनें सूर्य के समीप जा रही थी। उस समय सूर्य की असह्य उष्मा की जलन से परितप्त होकर 'कद्रू' रो-रोकर, पणबन्ध भूल जाने, स्वयं दासी-कर्म करने की बारंबार याचना करने लगी थी। उसी समय भयग्रस्त अवस्था में 'कद्रू' के मुख से 'सूर्यदेव' के लिए 'ख-खोल्क' पद निकल पड़ा था। सम्भवतः वह कहना चाहती थी 'ख' की (आकाश की) सूर्यरूपी उल्का। इसी कारण उक्त सर्वप्रद और मुक्तिप्रद 'सूर्य' की प्रतिमा का और द्वादशादित्यों में षष्ठ अर्क का 'खखोल्कादित्य' नाम पड़ा[1]। इन्हीं का नाम 'विनतादित्य' भी है।

इस आख्यान को अनेक विशेषताएँ—

(१) माता विनता के दासीत्व की मुक्ति हेतु गरुड़ द्वारा अमृत-हरण।

(२) अमृतहरणार्थ जाने से पूर्व गरुड़ का निषादों की बस्ती में जाना।

१, 'त्रिलोचन' पर कामेश्वर मन्दिर के घेरे में 'खखोल्कादित्य' अथवा 'विनतादित्य' की मूर्ति है। इसे 'पिलपिलाघाट' भी कहा जाता है। [सम्पादक]

(३) माता द्वारा निषादों की भक्षणवेला में ब्राह्मण के भक्षण का निषेध करना।

(४) पहचान के हेतु ब्राह्मण की वेषभूषा का वर्णन।

(५) अज्ञान से ब्राह्मण को गरुड़ द्वारा चञ्चुपुट से गले तक पहुँचा देने पर, उसकी प्रतिक्रिया देखकर ब्राह्मण को उगल देना।

(६) माता द्वारा गरुड़ को ब्रह्महत्या महापाप बताना।

(७) ब्राह्मण-कर्म से हीन, शूद्रादि कर्मकर्त्ता भी ब्राह्मण के वध से 'ब्रह्महत्या' लगना।

(८) अमृतहरण करके भागे हुए गरुड़ के समीप विष्णु भगवान् का जाना और वरदान मागने के लिए गरुड़ से कहना।

(९) विष्णु की हँसी उड़ाते हुए गरुड़ का 'विष्णु' से ही वर मागने के लिए कहना।

(१०) इसी प्रक्रिया में 'विष्णु' की वर-याचना और कपट उपायों से गरुड़ द्वारा अमृत को देवताओं के लिए लौटा देना और सर्पों का अमृतपान से वंचित रहना।

(११) इसी क्रम में सर्प कैसे 'द्विजिह्व' हुए,—यह भी कहा गया है इसके पश्चात् दास्य से मुक्त विनता काशी आई; क्योंकि—

"तावत् पापानि जृम्भन्ते नानाजन्मार्जितान्यपि।
यावत् काशी न हृत्संस्था पुनर्भवविनाशिनी॥
काशीस्मरणमात्रेण किं चित्रं यदघं व्रजेत्।
गर्भवासोऽपि नश्येत विश्वेशानुग्रहात् परात्॥"
(का० ख० ५०।१२७-१२८)

यहाँ पुराणकार ने अनेक पद्यों में अपने सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य, काशी-माहात्म्य का मर्मभरी वाणी में प्रस्तवन किया है।

माता 'विनता' के साथ ही पक्षिराज वैनतेय भी वाराणसी आये और यहाँ 'खखोल्कादित्य' एवं 'गरुडेश्वर' लिङ्ग की स्थापना की। वहीं शीघ्र ही शिव और सूर्य दोनों ने उनकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर अनेक वर प्रदान किये। यह भी कहा कि गरुड़ को ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। तदनन्तर गरुड़ को उनके हित की यह बात भी बताई कि—"मेरे और विष्णु के मध्य कभी विभेद न करना और दैत्यारि श्रीविष्णु के वाहन बनकर रहना। हे पक्षीन्द्र! तुम भी आज से पूज्य रहोगे"। अनेक अन्य वर भी उन्हें प्राप्त हुए। वे हरि के रथ बन गये। पूजा की घण्टियों में बहुधा गरुड़ का चित्रांश रहता है। अनुष्ठानों के पूर्व उनकी भी पूजा होती है। यह भी बताया गया कि 'खखोल्कादित्य' (या 'विनतादित्य') भी शिव की ही अपर मूर्तियाँ हैं।

इस 'आदित्य' के दर्शन मात्र से चिन्तामुक्ति और रोगमुक्ति होती है। यह आख्यान, पढ़ने-सुनने से सभी पाप दूर होते हैं।

द्वितीय भाग में उपोद्घात (पुरोवाणी) में कुछ विस्तार सकारण हो गया है। आरम्भ में मैंने निवेदन किया है कि 'काशीखण्ड' का प्रतिपाद्य तत्त्व है 'काशी का महिमागान'। उसके भी प्रमुखतम पक्ष हैं, 'अविमुक्तेश्वर' की महिमा के साथ-साथ 'असि-वरणा' संगमों के मध्य स्थित वाराणसी का मरणमात्र से मुक्तिप्रदत्त्व। इसी के साथ-साथ, यहाँ की गङ्गा, उनका वैशिष्ट्य, गङ्गादशहरास्तोत्र, गङ्गासहस्रनाम आदि की महनीयता। ज्ञानवापी, ज्ञानोदक तीर्थ, चक्रपुष्करिणी, मणिकर्णिका कुण्डों एवं काल-भैरव, दण्डपाणि, द्वादशार्कादित्य आदि के काशीमाहात्म्यसंपृक्त आख्यान। सब से प्रमुख है काशीपुराधीश भगवान् शिव का काशी में तारकमन्त्रोपदेश तथा शिवशंकर की केन्द्रीय महत्ता।

इन्हीं तथा इनसे जुड़े हुए अनेक पक्षों को स्वल्प में अपने अल्पज्ञान द्वारा प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास किया गया है। यदि बाबा विश्वनाथ की कृपा से जीवित और कार्यनिष्पादन-समर्थ रहा, तो अगले भागों में काशी-माहात्म्य-गायक प्रमुख पुराणों के सारांश और तीर्थ माहात्म्म संकलित किया जायगा।

मन में महत्त्वाकांक्षा बहुत-कुछ लिखने की है; पर ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ असमर्थ होते जा रहे हैं। बाबा विश्वनाथ की कृपा से रोग और जराग्रस्त कलेवर कितना क्या कर सकेगा—यह भविष्यत् ही बताएगा।

इतना ही निवेदन करके शिव-काशी-भक्त पाठकों को प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ। त्रुटियों के लिए क्षमा चाहता हूँ।

वाराणसी
ज्येष्ठ कृष्ण अचला ११,
गुरुवार
वि० सं० २०४९

विनीत
करुणापति त्रिपाठी
पूर्वकुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मणिकर्णिकाख्यानवर्णनम्	३-१४
चक्रपुष्करिण्युत्पत्तिवर्णनम्	१५-१९
आनन्दकाननमहत्त्ववर्णनम्	२०-२६
मणिकर्ण्यां स्नानादिमहत्त्ववर्णनम्	२७-३१
वाराणसीगमनमाहात्म्यवर्णनम्	३२-३३
गङ्गामहिमवर्णनपूर्वकं दशहरास्तोत्रकथनम्	३४-३७
गङ्गास्मरणफलवर्णनम्	३८-४३
गङ्गामाहात्म्यवर्णनम्	४४-५३
गङ्गातटे गोदानादिमाहात्म्यवर्णनम्	५३-५७
गङ्गापूजनप्रकारवर्णनम्	५७-६७
गौरीगङ्गयोः शिवविष्ण्वोश्चाभेदवर्णनम्	६७-६८
गङ्गामहिमवर्णनम्	६९-७३
गङ्गातटे खण्डस्फुटितसंस्कारमहत्त्ववर्णनम्	७४-७७
चित्रगुप्तेन वाहीकविप्रस्य कर्मवर्णनम्	७७-८६
गङ्गाविषये श्रुत्युक्तिवर्णनम्	८७-९०
गङ्गासहस्रनामस्तोत्रवर्णनम्	९१-१४८
गङ्गासहस्रनामस्तोत्रफलवर्णनम्	१४८-१५५
वाराणसीमहिमवर्णनम्	१५६-१६०
धनञ्जयवैश्याख्यानवर्णनम्	१६१-१७०
विश्वेश्वराज्ञयैव काशीप्राप्तिर्भवतीति वर्णनम्	१७०-१७८
काशीवासमहत्त्ववर्णनम्	१७९-१८८
एतदध्यायफलवर्णनम्	१८९
भैरवप्रादुर्भाववर्णनम्	१९०-१९४
ऋगादि चतुर्वेदानां वाक्यवर्णनम्	१९५-२०३
भैरवेण विष्णुसमीपे गमनवर्णनम्	२०४-२११
विष्णुं प्रति ब्रह्महत्यायाः कथनम्	२११-२१७
कालभैरवमाहात्म्यवर्णनम्	२१८-२२१
दण्डपाणिप्रादुर्भाववर्णनम्	२२२-२३३
हरिकेशकृतशिवाराधनवर्णनम्	२३४-२३९
आनन्दकाननदर्शनवर्णनम्	२४०-२४८

श्रीमन्महर्षिव्यासविरचिते

स्कन्दमहापुराणे

काशीखण्डः

[द्वितीयो भागः]

श्रीमन्महर्षिव्यासविरचिते

स्कन्दमहापुराणे

काशीखण्डः

[द्वितीयो भागः]

अथ षड्विंशोऽध्यायः

अगस्तिरुवाच—

प्रसन्नोऽसि यदि स्कन्द मयि प्रीतिरनुत्तमा ।
तत् समाचक्ष्व भगवंश्चिरं यन्मे हृदि स्थितम् ॥ १ ॥
अविमुक्तमिदं क्षेत्रं कदाऽऽरभ्य भुवस्तले ।
परां प्रथितिमापन्नं मोक्षदं चाऽभवत् कथम् ॥ २ ॥
कथमेषा त्रिलोकीड्या गीयते मणिकर्णिका ।
तत्रासीत् किं पुरा स्वामिन् यदा नाऽमरनिम्नगा ॥ ३ ॥

षड्विंशतितमेऽध्याये काश्याविर्भाव उच्यते ।
आख्यानं मणिकर्ण्याश्च सर्वपापहरं परम् ॥ १ ॥

एवं संक्षेपेण काशीमाहात्म्यं श्रुत्वा विस्तरेण श्रोतुं प्रार्थयते—**प्रसन्नोऽसीति** ॥ १ ॥

अविमुक्तमिति । इदं क्षेत्रं कदाऽऽरभ्य कं कालमारभ्य परां प्रथितिं प्रसिद्धिमापन्नम्, अविमुक्तं नाम च कथमापन्नम्, मोक्षदं च कथमभवदिति प्रश्नत्रयम् ॥ २ ॥

कथमेषेति चतुर्थः । इड्या स्तुत्या तत्रासीदिति पञ्चमः । तत्र क्षेत्रे किं पुराऽऽसीदिति षष्ठः ॥ ३ ॥

काशी का विवरण और मणिकर्णिका-माहात्म्य

अगस्त्य बोले—

हे भगवन् ! स्कन्द ! यदि आप प्रसन्न हैं और यदि मुझ पर आपकी उत्तम प्रीति है, तो जो बात बहुत दिनों से मेरे हृदय में अवस्थित है, उसे कहिये ॥ १ ॥

किस काल से यह अविमुक्त क्षेत्र पृथिवी पर परम प्रसिद्ध हुआ ? और किस प्रकार से यह मोक्षप्रद हुआ ? ॥ २ ॥

किस कारण त्रैलोक्य भर के पूज्य इस तीर्थ का नाम मणिकर्णिका पड़ा ? और हे स्वामिन् ! वहाँ पर जब गंगा नहीं थी तो क्या था ? ॥ ३ ॥

वाराणसीति काशीति रुद्रावास इति प्रभो।
अवाप नामधेयानि कथमेतानि सा पुरी॥
(आनन्दकाननं[1] रम्यमविमुक्तमनन्तरम्) ॥ ४ ।
महाश्मशान इति च कथं ख्यातं शिखिध्वज।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सन्देहं मेऽपनोदय॥ ५ ।

स्कन्द उवाच—

प्रश्नभारोऽयमतुलः त्वया यः समुदाहृतः।
कुम्भयोनेऽमुमेवार्थमप्राक्षीदम्बिका हरम् ॥ ६ ।
यथा च देवदेवेन सर्वज्ञेन निवेदितम्।
जगन्मातुः पुरस्ताच्च तथैव कथयामि ते॥ ७ ।

वाराणसीत्यादि प्रश्नचतुष्टयम् ॥ ४ ।

इति चेति चकारादानन्दकाननमिति च। एवं तावदेकादशप्रश्नाः ॥ ५ ।

यद्यप्येषां प्रश्नानां प्रत्युत्तरं दुर्घटं तथापि जगन्मातुः प्रश्नानन्तरं यथैवेश्वरेण प्रत्युत्तरितम्, तथैवाऽहं कथयामि मातुः क्रोडे स्थित्वोभयोर्मे श्रुतत्वादित्याह— **प्रश्नभारोऽयमिति** ॥ ६-७ ।

इस अविमुक्तक्षेत्र का वाराणसी, काशी, रुद्रावास (आनन्दकानन आदि) नाम क्यों पड़ा? हे प्रभो! ॥ ४ ।

शिखिध्वज! यह क्षेत्र महाश्मशान क्यों कहा जाता है? और इस नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ है? मैं यह सब सुनना चाहता हूँ, आप मेरे सन्देह को दूर कीजिये ॥ ५ ।

स्कन्द बोले—

हे कुम्भयोने! तुमने यह जो अतुलनीय प्रश्न कहे हैं, इसी विषय को अम्बिका ने भी महादेव से पूछा था ॥ ६ ।

जिस रीति से जगन्माता पार्वती से देवदेव सर्वज्ञ भगवान् ने (इस क्षेत्र का) कीर्तन किया था, वह सब मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ७ ।

---

१. इदमर्धं प्रक्षिप्तम् अग्रिमश्लोकटीकायामिति चेति चकाराद्यानन्दकाननमिति चेत्यादि व्याख्यानात्।

महाप्रलयकाले च नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
आसीत्तमोमयं सर्वमनर्कग्रहतारकम् ॥ ८ ॥
अचन्द्रमनहोरात्रमनग्न्यनिलभूतलम् ।
अप्रधानं वियच्छून्यमन्यतेजो विवर्धितम् ॥ ९ ॥
द्रष्टृत्वादिविहीनं च शब्दस्पर्शसमुज्झितम् ।
व्यपेतगन्धरूपं च रसत्यक्तमदिङ्मुखम् ॥ १० ॥
इत्थं सत्यन्धतमसि सूचीभेद्ये निरन्तरे ।
तत् सद्ब्रह्मेति यच्छ्रुत्या सदैकं प्रतिपाद्यते ॥ ११ ॥

प्रथमप्रश्नोत्तरमाह—महाप्रलयेत्यारभ्य स्कन्देत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । महाप्रलयकाले प्राकृतप्रलयसमये सर्वं विश्वं तमोमयमासीदित्यन्वयः । महाप्रलयकालस्वरूपमाह । नष्टे स्थावरजङ्गमे इति । नष्टेऽदर्शनं गते । तमोमयमज्ञानस्वरूपम् । तमःशब्देन गुणैकदेशवाचिना तत्समुदायरूपा प्रकृतिरुक्ता । तमसश्चोक्तिस्तत्काले विश्वस्य मूढात्मकत्वेन तस्य सुप्रतिपादत्वात् । तथा च मनुः—आसीदिदं तमोभूतमिति । यद्वा तमोमयं तमसा आवरणात्मकेन अज्ञानेन व्याप्तमावृतमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—मृत्युनैवेदमावृतमासीदिति । तमोमयमन्धकारमयमिति तु व्याख्यानं न चारुतरम् । नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यदित्यादिविरोधात् । अनर्केत्यादि द्वादशपदानि क्रियाविशेषणानि ॥ ८ ।

अप्रधानं विक्षेपात्मकाज्ञानहीनमस्वतन्त्रं वा । अन्यतेजोविवर्धितं साक्षिचैतन्यभास्यम् । अन्यतेजोविवर्जितमिति च पाठः ॥ ९ ।

द्रष्टृत्वादि—इत्यादिपदेन श्रोतृत्वादयो गृह्यन्ते । द्रष्टृधात्रिति पाठे धातृपदेन धर्तुः पोष्टुर्वा ग्रहणम् । अदिङ्मुखं पूर्वादिदिग्विभागरहितम् ॥ १० ॥

इत्थमिति । इत्थमन्धतमसि गाढान्धकारे आवरणात्मकेऽज्ञाने सति तत्प्रसिद्धं सत्सद्रूपं कालत्रयाबाध्यमित्येतद् ब्रह्मासीदिति पूर्वक्रियाया अनुषङ्गः । पश्चात् सृष्टिसमये तस्यैकलस्यैकस्य द्वितीयेच्छाऽभवत्किलेति सप्तमेनाऽन्वयः । स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय स द्वितीयमैच्छदित्यादिश्रुतिप्रसिद्धिं द्योतयितुं किलेत्युक्तम् । आवरणात्मकस्या-

---

महाप्रलय के समय जब कि स्थावर, जंगम, सभी नष्ट हो गये थे, तब सूर्य, ग्रह, तारागण से शून्य सब (विश्व) तमोमय था ॥ ८ ॥

चन्द्रविहीन, अहोरात्र से रहित, अग्नि, वायु, भूतल-विवर्जित, दूसरे तेजों से हीन, अप्रधान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, यही सब थे । पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिग्विभाग भी तब नहीं था ॥ ९-१० ।

इस प्रकार से सूचीभेदन मात्र अवकाश से रहित (केवल ब्रह्मविद्या द्वारा

अमनोगोचरो वाचां विषयं न कथञ्चन ।
अनामरूपवर्णं च न स्थूलं न च यत्कृशम् ॥ १२ ।
अह्रस्वदीर्घमलघुगुरुत्वपरिवर्जितम् ।
न यत्रोपचयः कश्चित्तथा चापचयोऽपि च ॥ १३ ।
अभिधत्ते सचकितं यदस्तीति श्रुतिः पुनः ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं च यदानन्दं परं महः ॥ १४ ।

ज्ञानस्यान्धतमपदेनोपादानं ब्रह्मविद्यामन्तरेण दुर्भेद्यत्वाऽभिप्रायेण । अत एव सूचीभेद्ये इति विशेषणम् । भेदकत्वसाम्यात् सूचीवत् सूची ब्रह्मविद्या तथा भेद्ये नाश्य इत्यर्थः । निरन्तरे व्यवधानरहिते । किं तद्ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां तद्विशिनष्टि । यच्छ्रुत्येत्यादिना । यच्च सदा सर्वदा कालत्रये एकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम् एकमेवाद्वितीय-मित्यादिश्रुत्या प्रतिपाद्यते ॥ ११ ।

अमनोगोचरः । मनो विषयो न भवतीत्यर्थः । वाचां विषयं विषयः । षंढत्व-मार्षम् । कथञ्चन मुख्यया वृत्त्या फलव्याप्यत्वेन वा नेत्यर्थः । यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति श्रुतेः । अनामरूपवर्णं नामरूपवर्णरहितम् । स्थूलं कृशप्रति-योगि ॥ १२ ।

ह्रस्वं च दीर्घं च ह्रस्वदीर्घं न ह्रस्वदीर्घमह्रस्वदीर्घम् । ह्रस्वमत्र दीर्घप्रति-योगि । अनामगोत्रं तदेतद् गार्ग्यस्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घमित्यादि श्रुतेः । उपचयो वृद्धिः । अपचयोऽपक्षयः । चकाराभ्यां जन्मास्तित्वपरिणामविनाशानां निरासः । न जायते म्रियते वेत्यादि श्रुतेः स्मृतेश्च ॥ १३ ।

ननु श्रुत्या प्रतिपाद्यत्वं वाचामविषयत्वं च यदुक्तं तत्परस्परविरुद्धमित्याशङ्का-यामाह—**अभिधत्त** इति । सचकितं सशङ्कितं यथा स्यात्तथा । पुनः यद्ब्रह्म अस्तित्वेन लक्षणया वृत्त्या वृत्तिव्याप्यत्वेन वा श्रुतिरभिधत्ते कथञ्चिद् बोधयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—अस्तीत्येवोपलब्धव्यमिदमप्रमेयं ध्रुवमित्यादि । तथा महिम्नस्तोत्रे च—अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोरतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपीति । पुनः

भेदनीय आवरणात्मक) घोर अन्धकारमय हो जाने पर "तत् सत् ब्रह्म" इस वेदवाक्य से अद्वितीय एक ही जो प्रतिपादित होता है ॥ ११ ।

वह मन का गोचर नहीं, वाणी का विषय नहीं, नाम, रूप, वर्ण से रहित, वह स्थूल (मोटा) भी नहीं, कृश भी (दुबला-पतला) नहीं ॥ १२ ।

ह्रस्व (छोटा) नहीं, दीर्घ (बड़ा) नहीं, लघु और गुरु (हलका-भारी) भी नहीं है । जिसकी न कभी वृद्धि ही होती है, न क्षय (ह्रास) ही होता है ॥ १३ ।

वेद भी जिसे चकित होकर "अस्ति" (है) इतना भर ही बारम्बार कहता है, जो सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द एवं परंज्योति है ॥ १४ ।

अप्रमेयमनाधारमविकारमनाकृति ।
निर्गुणं योगिगम्यं च सर्वव्याप्येककारणम् ॥ १५ ।
निर्विकल्पं निरारम्भं निर्मायं निरुपद्रवम् ।
यस्येत्थं संविकल्प्यन्ते संज्ञाः संज्ञोदितस्य वै ॥ १६ ।
तस्यैकलस्य चरतो द्वितीयेच्छाऽभवत्किल ।
अमूर्तेन स्वमूर्तिश्च तेनाकल्पि स्वलीलया ॥ १७ ।
सर्वैश्वर्यगुणोपेता सर्वज्ञानमयी शुभा ।
सर्वगा सर्वरूपा च सर्वदृक् सर्वकारिणी ॥ १८ ।

कीदृशं ब्रह्म ? यस्य संज्ञोदितस्य संज्ञया वेदान्तादौ व्यवह्रियमाणस्य । वै प्रसिद्धम् । संज्ञोज्झितस्य वै इति पाठेऽपि संज्ञया वर्जितस्यापि सत्यं ज्ञानमित्याद्याः संज्ञाः संविकल्प्यन्ते परिकल्प्यन्त इति पाठेऽपि कल्पनयोच्यन्ते इति तृतीयेनाऽन्वयः। तत्र सत्यं कालत्रयाबाध्यम् । ज्ञानं जडविरोधि । अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितम् । आनन्दमानन्दः । परमविद्या तत्कार्यरहितम् । महोज्योतिः स्वप्रकाशमिति यावत् । परं मह इति वा ॥ १४ ।

अप्रमेयं प्रमाणाऽविषयम् । अनाधारमन्याधाररहितम् । अविकारं षड्भावविकाररहितम् । अनाकृत्यशरीरम् । निर्गुणं सुखादिगुणानामाश्रयभिन्नम् । योगिगम्यं ज्ञानिप्राप्यम् । सर्वव्यापि सर्वव्यापकम् । एकं कारणं मुख्यं कारणम् । अभिन्ननिमित्तोपादानं वा ॥ १५ ।

निर्विकल्पं निर्भेदम् । निर्गता आरभ्यन्त इत्यारम्भा व्यापारा यस्मिंस्तन्निरारम्भं सृष्ट्यादिव्यापारहीनमित्यर्थः । निर्मायं मायारहितम् । निरुपद्रवं सर्वानर्थशून्यम् ॥ १६ ।

द्वितीयेच्छाभवनानन्तरं किं वृत्तमित्याकाङ्क्षायामाह—**अमूर्तेनेति** । अमूर्तेन तेन ब्रह्मणा स्वलीलया स्वमायया स्वमूर्तिरकल्पि कल्पिता ॥ १७ ।

स्वमूर्तिं विशिनष्टि—**सर्वैश्वर्येति** सार्धेन ॥ १८ ।

जो अप्रमेय, अनाधार, अविकार, आकृतिरहित, निर्गुण, योगिजनप्राप्य, सर्वव्यापक, एक कारणरूप है ॥ १५ ।

जो विकल्परहित, आरम्भहीन, मायाशून्य और उपद्रवविवर्जित हैं, इन सब प्रकार की संज्ञायें जिस संज्ञाविहीन ब्रह्म की विकल्पित की जाती हैं ॥ १६ ।

उसी एक चर (अद्वैत) ब्रह्म को द्वितीय (द्वैत) की इच्छा हुई । (तब) उस निराकार ने निज लीला के द्वारा अपनी कल्पना को साकार कर दिया ॥ १७ ।

तब सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त, समस्त ज्ञान से पूर्ण, शुभरूपा, सर्वगामिनी, सर्वस्वरूपा, सर्वदृष्टि, सर्वकारिणी ॥ १८ ॥

सर्वैकवन्द्या सर्वाद्या सर्वदा सर्वसंकृतिः ।
परिकल्प्येति तां मूर्तिमीश्वरीं शुद्धरूपिणीम् ।। १९ ।
अन्तर्दधे[1] पराख्यं यद् ब्रह्म सर्वगमव्ययम् ।। २० ।
अमूर्तं यत्पराख्यं वै तस्य मूर्तिरहं प्रिये ।
अर्वाचीनपराचीना ईश्वरं मां जगुर्बुधाः ।। २१ ।
ततस्तदेकलेनापि स्वैरं विहरता मया ।
स्वविग्रहात्स्वयं सृष्टा स्वशरीरानपायिनी ।। २२ ।
प्रधानं प्रकृतिं त्वां च मायां गुणवतीं पराम् ।
बुद्धितत्त्वस्य जननीमाहुर्विकृतिवर्जिताम् ।। २३ ।

सर्वस्य सम्यक् कृतिर्यस्याः सा सर्वसंकृतिः । ततः किं कृतवांस्तत्राह । परिकल्प्येति ॥ १९-२० ।

एतावता प्रस्तुते किमायातमित्याशङ्क्यानुवादपूर्वकं तदाह—अमूर्तमिति । यद्वा का सा शुद्धसत्त्वात्ममूर्तिरित्याशङ्क्यानुवादपूर्वकं तामाह—अमूर्तमिति । अर्वाचीनपराचीना इदानीन्तनपूर्वतनाः । द्वितीयान्त पाठे कार्यकारणात्मकमीश्वरं मां बुधा जगुरित्यर्थः ॥ २१ ।

ततः किं वृत्तमित्याशङ्कायामाह—तत इति । ततो ब्रह्मणोऽन्तर्धानानन्तरं स्वेच्छया क्रीडता मया स्वशरीरानपायिनी मच्छरीराव्यभिचारिणी काचिन्मूर्तिः सृष्टा ॥ २२ ।

तामाह—प्रधानमित्येकेन । तां च त्वामाहुरिति सम्बन्धः । कथम्भूतां ताम् ? प्रधानं प्रधीयतेऽस्यंते प्रलयकाले कार्यजातमत्रेति प्रधानम् । नानाविधकार्यकारेणापरिणामित्वं सूचयति । **प्रकृतिमिति** । महदादिरूपेण परिणतामित्यर्थः । तस्याश्च

सबकी एकमात्र वन्दनीया, सब की आदिरूपा, सर्वदात्री, सर्वचेष्टास्वरूपा, शुद्धरूपिणी ईश्वरी मूर्ति की कल्पना कर ॥ १९ ।

वह सर्वव्यापक, अव्यय परंब्रह्म, अन्तर्धान हो गया ॥ २० ।

हे प्रिये ! उसी निराकार परब्रह्म की साकारमूर्ति मैं हूँ, और मुझी को आधुनिक एवं प्राचीन बुधगण ईश्वर कहते हैं ॥ २१ ।

अनन्तर अकेले मैंने स्वच्छन्द विहरण करते हुए निजमूर्ति से स्वशरीर की अव्यभिचारिणी मूर्ति का स्वयं सर्जन किया ॥ २२ ।

प्रधान, प्रकृति, गुणमयी, बुद्धितत्त्व की जननी, विकारविवर्जित उत्कृष्ट मायारूपा वही मूर्ति, तुम हो ॥ २३ ।

---

१. अर्धे अर्धत्रये चाङ्कलेखनं तथा सम्बन्धानुरोधेन बोध्यम् ।

युगपच्च त्वया शक्त्या सा कङ्कालस्वरूपिणा।
मयाऽद्य पुरुषेणैतत्क्षेत्रं चापि विनिर्मितम् ॥ २४ ।

स्कन्द उवाच—

सा शक्तिः प्रकृतिः प्रोक्ता स पुमानीश्वरः परः।
ताभ्यां च रममाणाभ्यां तस्मिन्क्षेत्रे घटोद्भव ॥ २५ ।
परमानन्दरूपाभ्यां परमानन्दरूपिणि।
पञ्चक्रोशपरीमाणे स्वपादतलनिर्मिते ॥ २६ ।
मुने प्रलयकालेऽपि न तत्क्षेत्रं कदाचन।
विमुक्तं हि शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः ॥ २७ ।

प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव न वस्तुतत्त्वमित्याह—**मायामिति**। ननु कथमीश्वरस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य मायया स्वभावविपरीतजन्मादि तत्राह—**गुणवतीमिति**। सिसृक्षितदेहादिवैषम्यार्थमिदं विशेषणमिति द्रष्टव्यम्। ननु कथं तर्हि कैवल्येनावस्थानं तत्राह—**परामिति**। ब्रह्मविद्यामित्यर्थः। अयमभिप्रायः—यावदविद्यात्मनावरणविक्षेपौ करोति, तावन्नोपरमति, यदा तु सैव विद्यारूपेण परिणता तदाऽज्ञानं तत्कार्यं च दग्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमुपरमेदिति। बुद्धितत्त्वस्य हैरण्यगर्भबुद्धेर्बुद्धिबुद्धिमतोरभेदोपचाराद् वा हिरण्यगर्भस्य जननीमुत्पादयित्रीम्। विकृतिवर्जितां विवर्ताधिष्ठानभूतामित्यर्थः ॥ २३ ।

युगपदिति। युगपदेकदैवत्वया शक्त्या प्रकृत्या कालस्वरूपिणा कालेन पुरुषेण च साकमेतत्क्षेत्रं मया विनिर्मितम्। प्रलयकालेऽकिञ्चित्करतया स्थितानां तत्तत्कार्यकारणसामर्थ्योत्पादनमेवैतेषां विनिर्मितत्वम्। तथा च प्रकृत्यादिवदस्य क्षेत्रस्यानादित्वं साधितं भवतीति ॥ २४ ।

अनुवादपूर्वकमविमुक्तं नाम च कथमापन्नमिति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—**सा शक्तिरिति** त्रयेण। तस्मिन् क्षेत्रे रममाणाभ्यां ताभ्यां शिवाभ्यां तत्क्षेत्रं प्रलयकालेऽपि न विमुक्तं यतस्ततोऽविमुक्तं विदुरित्यन्वयः ॥ २५ ।

कथम्भूते क्षेत्रे। स्वपादतलनिर्मिते मायावच्छिन्नैकदेशविनिर्मिते। तथा च श्रुतिः—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति ॥ २६-२७ ।

शक्तिरूपिणी तुम्हारे सहित कालस्वरूपी आदिम पुरुष मैंने एक साथ (युगपत्) इस क्षेत्र का निर्माण किया ॥ २४ ।

स्कन्द बोले—

हे घटोद्भव! वही शक्ति, प्रकृति कही जाती है, और वही परमेश्वर पुरुष हैं। स्वचरणतलविनिर्मित परमानन्दरूप पंचक्रोश परिमाण वह क्षेत्र, हे मुने! विहरणपरायण, परम आनन्दमय उन महादेव-पार्वती के द्वारा प्रलयकाल में भी कभी विमुक्त न होने से अविमुक्त कहा जाता है ॥ २५-२७ ।

न यदा भूमिवलयं न यदाऽपां समुद्भवः ।
तदा विहर्तुमीशेन क्षेत्रमेतद्विनिर्मितम् ।। २८ ।
इदं रहस्यं क्षेत्रस्य वेद कोऽपि न कुम्भज ।
नास्तिकाय न वक्तव्यं कदाचिच्चर्मचक्षुषे ।। २९ ।
श्रद्धालवे विनीताय त्रिकालज्ञानचक्षुषे ।
शिवभक्ताय शान्ताय वक्तव्यं च मुमुक्षवे ।। ३० ।
अविमुक्तं तदारभ्य क्षेत्रमेतदुदीर्यते ।
पर्यङ्कभूतं शिवयोर्निरन्तरसुखास्पदम् ।। ३१ ।
अभावः कल्प्यते मूढैर्यदा च शिवयोस्तयोः ।
क्षेत्रस्याऽस्य तदाभावः कल्प्यो निर्वाणकारिणः ।। ३२ ।

एतत्क्षेत्रं भौतिकं भूतारब्धत्वेन प्रतीयमानत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्याशङ्क्य स्मृतिबाधितत्वेन परिहरति—न यदेति । यद्वा युगपच्चेत्यादिनेदं क्षेत्रं विनिर्मितमित्युक्तं तच्च कदेत्यपेक्षायामाह—न यदेति । भूमिवलयं भूमिमण्डलम् ।। २८ ।

इदमिति । भूतानारब्धत्वं क्रीडार्थमीश्वरेण विनिर्मितत्वं चेदंशब्दार्थः ।। २९ ।

ननु नैयायिकादिभिरनुमानात् कार्यमात्रस्याभावः प्रलये स्वीक्रियते तथाचाऽस्याऽपि कार्यत्वाविशेषात् प्रलयेन किं भाव्यं नेत्याह—अभाव इति । स्मृतिविरोधान्नानुमानमुदेति नरशिरः कपालाऽनुमानवदित्यर्थः । स्मृतिवचनानि तु पूर्वमेव लिखितानि । न च नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिरिति विष्णुपुराणवचनविरोधः । तस्य सामान्यविषयत्वात् । न च तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति श्रुतिविरोधः । एवकाराभावात् । न च सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति श्रुतिवचन एवकारविरोधः । एवकारस्य स्वायोगव्यवच्छेदकत्वात् । अन्यथा प्रकृतेरप्यभावापातः । अथवा पुराणप्रक्रियानुसारेणैतदुच्यत इति सन्तोष्टव्यम् ।। ३२ ।

जब कि न तो भूमिवलय था, न जल की ही उत्पत्ति हुई थी, तभी ईश्वर ने विहार करने के निमित्त इस क्षेत्र को बनाया था ।। २८ ।

हे कुम्भज ! क्षेत्र के इस रहस्य को कोई भी नहीं जानता । चर्मदृष्टि नास्तिक से कभी इसकी चर्चा नहीं करनी चाहिये ।। २९ ।

श्रद्धालु, विनम्र, त्रिकालज्ञानदर्शी, शिवभक्त, शान्तस्वभाव, मुमुक्षु जन से ही कहना उचित है ।। ३० ।

तभी से यह क्षेत्र अविमुक्त नाम से कहा जाता है, यह शिवाशिव का पर्यङ्करूप निरन्तर सुखास्पद है ।। ३१ ।

मूढ़लोग जब शिव और पार्वती के भी अभाव की कल्पना कर लेते हैं, तब मुक्तिप्रद इस क्षेत्र का भी अभाव मान लेवें ।। ३२ ।

अनाराध्य महेशानमनवाप्य च काशिकाम् ।
योगाद्युपायविज्ञोऽपि न निर्वाणमवाप्नुयात् ।। ३३ ।
अस्यानन्दवनं नाम पुराऽकारि पिनाकिना ।
क्षेत्रस्यानन्दहेतुत्वादविमुक्तमनन्तरम् ।। ३४ ।
आनन्दकन्दबीजानामङ्कुराणि यतस्ततः ।
ज्ञेयानि सर्वलिङ्गानि तस्मिन्नानन्दकानने ।। ३५ ।
अविमुक्तमितिख्यातमासीदित्थं घटोद्भव ।
तथा चाख्याम्यथ मुने यथासीन्मणिकर्णिका ।। ३६ ।
प्रागानन्दवने तत्र शिवयो रममाणयोः ।
इच्छेत्यभूत् कलशज सृज्यः कोऽप्यपरः किल ।। ३७ ।

अनाराध्येति । महेशभक्तिमसम्पाद्य काश्याममृत्वा वाऽष्टाङ्गयोगाद्युपाये मोक्षसाधने वा निष्णातोऽपि न निर्वाणमाप्नुयात् विघ्नबाहुल्याद्योगादीनामनेकान्तफलत्वादित्यर्थः ।। ३३ ।

चकाराल्लब्धस्यैकादशप्रश्नस्योत्तरमाह—अस्येति । अस्य क्षेत्रस्येत्यन्वयः । पुरा प्रथमतः । आनन्दहेतुत्वात् परमानन्दावाप्तिमोक्षलक्षणस्य कारणत्वात् ।। ३४ ।

अथवाऽविमुक्तनामानन्तरमानन्दहेतुत्वमेव साधयति—आनन्देति । आनन्दस्य कन्दबीजानां मूलकारणानां ब्रह्मात्मैकात्म्यलक्षणज्ञानानां तस्मिन्नानन्दकानने यतः सर्वाणि लिङ्गानि अङ्कुराणि तज्जनकानि । षंढत्वमार्षम् । तस्मादस्यानन्दकाननं नामेत्यर्थः । एतेन मोक्षदं चाऽभवत् कथमिति तृतीयप्रश्नस्याऽप्युत्तरमुक्तम् ।। ३५ ।

अविमुक्तनामनिर्वचनमुपसंहरति—अविमुक्तमिति । एतत्त्वानन्दवननाम्नोऽप्युपलक्षणम् । कथमेषा त्रिलोकोड्या गीयते मणिकर्णिकेति चतुर्थप्रश्नस्य प्रत्युत्तरं वक्तुं प्रतिजानीते—तथा चेति । अविमुक्तमानन्दकाननं च नामद्वयमस्य क्षेत्रस्य यथासीत्तथाख्यातवानस्मि अथाऽनन्तरं मणिकर्णिकेति यथासीत्तथाऽऽख्यामि कथयामीत्यर्थः।।३६-३७।

(परन्तु) योगादिक उपाय के विज्ञ भी चाहें कि पिता महेश्वर की आराधना और काशीलाभ किये ही मोक्ष पावें, तो यह कदापि नहीं हो सकता ।। ३३ ।

यह क्षेत्र मोक्षस्वरूप आनन्द का कारण है, इसीलिये पूर्वकाल में पिनाकी ने इसका नाम आनन्दकानन रक्खा था, पश्चात् इसका नाम अविमुक्त पड़ा ।। ३४ ।

उस आनन्दवन में जहाँ तहाँ समस्त लिंगों को ही आनन्दकन्द बीजों के अंकुर का रूप समझना चाहिये ।। ३५ ।

हे अगस्त्य मुने ! इस प्रकार से यह क्षेत्र अविमुक्त और आनन्दकानन नाम से प्रसिद्ध हुआ । अब कैसे मणिकर्णिका नाम पड़ा, वह भी वर्णन करता हूँ ।। ३६ ।

हे कलशज ! पूर्वकाल में उसी आनन्दकानन में रमण करते हुए शिव और शिवा को यह इच्छा हुई कि एक किसी अन्य की भी ऐसी सृष्टि करनी चाहिये ।।३७।

यस्मिन्न्यस्ते महाभारे आवां स्वः स्वैरचारिणौ ।
निर्वाणश्राणनं कुर्वः केवलं काशिशायिनाम् ॥ ३८ ॥
स एव सर्वं कुरुते स एव परिपाति च ।
स एव संवृणोत्यन्ते सर्वैश्वर्यनिधिः स च ॥ ३९ ॥
चेतः समुद्रमाकुञ्च्य चिन्ताकल्लोलदोलितम् ।
सत्त्वरत्नं तमोग्राहं रजोविद्रुमवल्लितम् ॥ ४० ॥
यस्य प्रसादात्तिष्ठावः सुखमानन्दकानने ।
परिक्षिप्तमनोवृत्तौ क्व हि चिन्तातुरे सुखम् ॥ ४१ ॥

स्वभावतः स्वैरचारित्वेऽपि मोक्षफलदातृत्वमाह—निर्वाणेति । श्राणनं दानम् । काशिशायिनां काश्यां मृतानाम् ॥ ३८ ॥

सृज्यं विशिनष्टि—**स एव सर्वमिति** । यः सृज्यः स्रष्टव्यः स एवंविधो विधेय इत्यर्थः । संवृणोति संहरति ॥ ३९ ॥

चेत इति । चेत एव समुद्रस्तमाकुञ्च्य स्थिरीकृत्य यस्य प्रसादादावां सुखं तिष्ठाव इति सम्प्रधार्य सव्ये पार्श्वे दृशं व्यापारयाञ्चक्र इति [1]तृतीयेनाऽन्वयः । समुद्रसाम्यार्थानि विशेषणान्याह । चिन्तेति पादत्रयेण । चिन्ता एव कल्लोलास्तरङ्गास्तैर्दोलितमान्दोलितम् । सत्त्वगुण एव रत्नं यस्मिंस्तम् । तमोगुण एव ग्राहो जलचरो यस्मिंस्तम् । रजोगुण एव विद्रुमाः प्रवालास्तैर्वल्लितमुच्छलितम् । [2]वेष्टितमिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ४० ॥

व्यतिरेकमाह—**परिक्षिप्तेति** । परिक्षिप्ता इतस्ततो नीता मनोवृत्तिर्येन तस्मिंश्चिन्तातुरे भोगैकचिन्ताविवशे पुरुषे क्व हि सुखं न कुत्रापि सुखमित्यर्थः । चिन्तान्तर इति पाठे चिन्तान्तरे यस्येति बहुव्रीहिणा पुरुष एवोच्यते ॥ ४१ ॥

जिसमें यह समस्त महाभार उसके ऊपर रखकर हम दोनों स्वच्छन्द होकर केवल काशी में मरनेवालों को मोक्षदान किया करें ॥ ३८ ॥

वही सृष्टवस्तु सर्वैश्वर्यनिधि होकर सर्जन, पालन एवं अन्त में संहार करता रहे ॥ ३९ ॥

चिन्तातरंगों से आन्दोलित (लहराता) सत्त्वरूप रत्नों से पूर्ण, तमोरूप ग्राहादि से संकुल, रजोगुण स्वरूप मूँगा से (मंडित) चित्तसमुद्र को स्थिर करके ॥ ४० ॥

उसी के प्रसाद से आनन्दकानन में सुखपूर्वक रहें; क्योंकि चंचलचित्त चिन्तातुर नर को सुख कहाँ है ? ॥ ४१ ॥

---

१. इमं श्लोकं विहाय तदग्रिमश्लोकत्रयस्थतृतीयेनेत्यर्थः ।
२. वेल्लितमिति पुस्तकान्तरे ।

सम्प्रधार्येति स विभुः सर्वतश्चित्स्वरूपया ।
तया सह जगद्धात्र्या जगद्धाताऽथ धूर्जटिः ॥ ४२ ॥
सव्ये व्यापारयाञ्चक्रे दृशमङ्गे सुधामुचम् ।
ततः पुमानाविरासीदेकस्त्रैलोक्यसुन्दरः ॥ ४३ ॥
शान्तः सत्त्वगुणोद्रिक्तो गाम्भीर्यजितसागरः ।
तथा च क्षमया युक्तो मुनेऽलब्धोपमोऽभवत् ॥ ४४ ॥
इन्द्रनीलद्युतिः श्रीमान् पुण्डरीकोत्तमेक्षणः ।
सुवर्णाकृतिसुच्छायदुकूलयुगलावृतः ॥ ४५ ॥
लसत्प्रचण्डदोर्दण्डयुगलद्वयराजितः ।
उल्लसत्परमामोदनाभीह्लदकुशेशयः ॥ ४६ ॥
एकः सर्वगुणावासस्त्वेकः सर्वकलानिधिः ।
एकः सर्वोत्तमो यस्मात्ततो यः पुरुषोत्तमः ॥ ४७ ॥

चित्स्वरूपया ज्ञानरूपया । तया पूर्वोक्तया । धूर्जटिर्विश्वेश्वरः ॥ ४२ ।

सव्येऽङ्गे इत्यन्वयः। सुधामुचममृतस्राविणीम्। ततो दिग्व्यापारानन्तरं पुमानाविरासीत् । तं विशिनष्टि । एक इत्यादिना । एको मुख्यः ॥ ४३ ।

शान्तः सत्त्वगुणोपेतः । अलब्धोपमः न लब्धा उपमा येन स तथा ॥ ४४ ।

दुकूलं पीतकौशेयम्, कुशेशयं पद्मम् ॥ ४५ ।

तुशब्द एवार्थे काकाक्षिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते। सर्वगुणाश्रय एक एव सर्वकलानिधिरप्येक एवेत्यर्थः। निधिराश्रयः । पुरुषोत्तमनाम निर्वक्ति । एक इत्यर्धेन ।

जगत् के विधाता विभु धूर्जटि ने चित्स्वरूपा जगद्धात्री के साथ इस प्रकार से विचार को स्थिर कर लिया ॥ ४२ ।

तदनन्तर अमृतवर्षिणी दृष्टि को अपने वाम अंग पर फेरा (डाला), तत्पश्चात् एक त्रैलोक्यसुन्दर पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ ४३ ।

हे मुने ! वह पुरुष शान्त, सत्त्वगुणविशिष्ट, गम्भीरता में समुद्रजेता, क्षमाशील, उपमारहित ॥ ४४ ।

इन्द्रनीलद्युति, श्रीयुक्त, पुण्डरीकसम नयन, सुवर्णवर्ण सुन्दर वस्त्रयुगल-धारी ॥ ४५ ।

शोभायमान प्रचण्ड भुजदण्डद्वय से विराजित, नाभिगर्तस्थित कमल के उत्तम सुगन्ध द्वारा व्याप्त ॥ ४६ ।

समस्त सद्गुणों का अकेला स्थान, सकल कलाओं का एक-सा आकर एवं एकमात्र सर्वोत्तम होने से वही "पुरुषोत्तम" (कहा जाता है) ॥ ४७ ।

ततो महान्तं तं वीक्ष्य महामहिमभूषणम् ।
महादेव उवाचेदं महाविष्णुर्भवाऽच्युत ॥ ४८ ।

तव निःश्वसितं वेदास्तेभ्यः सर्वमवैष्यसि ।
वेददृष्टेन मार्गेण कुरु सर्वं यथोचितम् ॥ ४९ ।

इत्युक्त्वा तं महेशानो बुद्धितत्त्वस्वरूपिणम् ।
शिवया सहितो रुद्रो विवेशानन्दकाननम् ॥ ५० ।

ततः स भगवान् विष्णुर्मौलावाज्ञां निधाय च ।
क्षणं ध्यानपरो भूत्वा तपस्येव मनो दधौ ॥ ५१ ।

यस्मादेकोऽनौपचारिको मुख्य इत्यर्थः सर्वोत्तमः सर्वाभ्यां क्षराऽक्षराभ्यामुत्तमः । क्षराऽक्षरेऽतिक्रम्य वर्तत इत्यर्थः । ततस्तस्माद्यः पुरुषोत्तमः स एतादृश आविरासीदिति पूर्वक्रिययैवाऽन्वयः ॥ ४७ ।

महान्तं व्यापकं श्रेष्ठं वा । महान्तो महिमा येषां तानि तथाभूतानि भूषणानि यस्य तम् ॥ ४८ ।

तवेति । निःश्वासवदनायासेनाविर्भूतत्वाद्वेदा निःश्वसितमित्युपचारः । सामानाधिकरण्यं वेदाः प्रमाणमितिवत् । तथा च श्रुतिः—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" इति । अवैष्यसि ज्ञास्यसि ॥ ४९ ।

बुद्धितत्त्वस्वरूपिणं समष्टिबुद्धितत्त्वाधिष्ठातारं हिरण्यगर्भरूपिणं नाभिकमलद्वारा तदुत्पादकमित्यर्थः । ज्ञानतत्त्वस्वरूपिणमिति वा ॥ ५० ।

मौलौ मस्तके । दधौ कृतवान् ॥ ५१ ।

तदनन्तर उस महामहिमभूषण महापुरुष को देखकर, महादेव ने यह कहा—"हे अच्युत ! तुम महाविष्णु हो ॥ ४८ ।

सब वेद तुम्हारे निःश्वास हैं, उन्हीं के द्वारा तुम सब कुछ जान सकोगे, वेददृष्ट मार्ग से समस्त कार्यों का यथोचित रूप से सम्पादन करो" ॥ ४९ ।

महेश्वर ने बुद्धितत्त्वस्वरूप उस पुरुष से यह कहकर शिवा देवी के सहित आनन्दकानन में प्रवेश किया ॥ ५० ।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णु उस आज्ञा को मस्तक पर धारण कर कुछ कालपर्यन्त ध्यान में स्थित हो, तपश्चर्या पर ही मनोयोग दिये रहे ॥ ५१ ।

खनित्वा तत्र चक्रेण रम्यां पुष्करिणीं हरिः ।
निजाङ्गस्वेदसन्दोहसलिलैस्तामपूरयत् ॥ ५२ ।
समाः सहस्रं पञ्चाशत्तप उग्रं चचार सः ।
चक्रपुष्करिणीतीरे तत्र स्थाणुसमाकृतिः ॥ ५३ ।
ततः स भगवानीशो मृडान्या सहितो मृडः ।
दृष्ट्वा ज्वलन्तं तपसा निश्चलं मीलितेक्षणम् ॥ ५४ ।
तमुवाच हृषीकेशं मौलिमान्दोलयन् मुहुः ।
अहो महत्त्वं तपसस्त्वहो धैर्यं च चेतसः ॥ ५५ ।
अहो अनिन्धनो वह्निर्ज्वलत्येष निरन्तरम् ।
अलं तप्त्वा महाविष्णो वरं वरय सत्तम ॥ ५६ ।
मृडस्याम्रेडितमिदं प्रत्यभिज्ञाय भाषितम् ।
उन्मीलितदृगम्भोजः समुत्तस्थौ चतुर्भुजः ॥ ५७ ।

निजाङ्गस्वेदसन्दोहसलिलैः स्वगात्रघर्मपूरजलैः ॥ ५२ ।

स्थाणुसमाकृतिः स्थाणुसमा शाखादिविहीनवृक्षविशेषसमा आकृतिः शरीरं यस्य स तथा ॥ ५३ ।

मीलितेक्षणं मुद्रितेक्षणम् ॥ ५४ ।

अहो अनिन्धन इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५६ ।

आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तम् । इदं पूर्वोक्तम् । आम्रेडितं महोग्रस्येति क्वचित् । भाषितं वचनम् ॥ ५७ ।

हरि ने अपने सुदर्शनचक्र से उसी स्थान पर रमणीय पुष्करिणी (पोखरी) खनकर, निज अंगनिर्गत जल से उसे परिपूर्ण कर दिया ॥ ५२ ।

(फिर) उसी चक्रपुष्करिणी के तीर पर स्थाणुसमान आकार होकर वे पचास सहस्रवर्षपर्यन्त उग्र तपस्या करते रहे ॥ ५३ ।

अनन्तर महादेव पार्वती के सहित उन्हें तपस्या के द्वारा प्रज्वलित, निश्चल, निमीलित नयन देखकर ॥ ५४ ।

बारम्बार मस्तक हिलाते हुए हृषीकेश से कहने लगे—'अहो तपस्या का कैसा महत्त्व है ? चित्त का कैसा धैर्य है ? ॥ ५५ ।

कैसा आश्चर्य है ? यह विना ईन्धन का निरन्तर कैसा जल रहा है ? महाविष्णो ! और तपस्या का कोई प्रयोजन नहीं है। हे सत्तम ! वर की प्रार्थना करो ॥ ५६ ।

चतुर्भुज दो-तीन बार कहे गये इस वचन को महादेव का वाक्य जानकर, कमलनेत्रों को खोल उठ खड़े हो गये ॥ ५७ ।

श्रीविष्णुरुवाच—

यदि प्रसन्नो देवेश देवदेव महेश्वर ।
भवान्या सहितं त्वां तु द्रष्टुमिच्छामि सर्वदा ॥ ५८ ।
सर्वकर्मसु सर्वत्र त्वामेव शशिशेखर ।
पुरश्चरन्तं पश्यामि यथा तन्मे वरस्तथा ॥ ५९ ।
त्वदीयचरणाम्भोजमकरन्दमधूत्सुकः ।
मच्चेतो भ्रमरो भ्रान्ति विहायास्तु सुनिश्चलः ॥ ६० ।

श्रीशिव उवाच—

एवमस्तु हृषीकेश यत्त्वयोक्तं जनार्दन ।
अन्यं वरं प्रयच्छामि तमाकर्णय सुव्रत ॥ ६१ ।
त्वदीयस्यास्य तपसो महोपचयदर्शनात् ।
यन्मयान्दोलितो मौलिरहिश्रवणभूषणः ॥ ६२ ।

यथा पुरश्चरन्तं पश्यामीति यत्तथा तदेव मे वर इत्यर्थः ॥ ५९ ।

त्वदीयेति । त्वदीयचरणाम्भोजयोर्मकरन्दः स एव मधु तदुत्सुकः । मम चेत एव भ्रमरः । पालनादिभ्रान्ति विहायाहमेवेश्वर इति भ्रान्ति विहाय वा सुनिश्चलोऽस्त्वित्यर्थः ॥ ६० ।

हे जनार्दनेत्यनेन सर्वारिजयं तत्र सञ्चारयति ॥ ६१ ।

मणिकर्णिका नाम निर्वक्ति । त्वदीयस्ते पञ्चभिः । महोपचयदर्शनादतिशयवृद्धिदर्शनात् । अही सर्पौ श्रवणयोर्भूषणे यस्य स मौलिस्तथा ॥ ६२ ।

श्रीविष्णु बोले—

हे देवेश ! देवदेव ! महेश्वर ! यदि आप प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये कि भवानी के सहित आप को सर्वदा देख सकूँ ॥ ५८ ।

हे चन्द्रशेखर ! सब स्थान पर समस्त कर्मों में आप को ही आगे भ्रमण करता हुआ देखूँ ॥ ५९ ।

मेरा चित्तरूपी भ्रमर आपके चरणकमल-मकरन्दमधु-पान में समुत्सुक होकर, भ्रान्ति को छोड़ स्थिर हो बैठे ॥ ६० ।

श्रीशिव ने कहा—

हे हृषीकेश ! जनार्दन ! जो तुमने कहा, वैसा ही होवे । और भी दूसरा वर तुमको देता हूँ । हे सुव्रत ! उसे श्रवण करो ॥ ६१ ।

जो मैंने तुम्हारी तपस्या की अतिशय वृद्धि को देख सर्परूप कर्णभूषणयुक्त मस्तक को कँपाया ॥ ६२ ।

तदान्दोलनतः कर्णात्पपात मणिकर्णिका ।
मणिभिः खचिता रम्या ततोऽस्तु मणिकर्णिका ॥ ६३ ।

चक्रपुष्करिणीतीर्थं पुराख्यातमिदं शुभम् ।
त्वया चक्रेण खननाच्छङ्खचक्रगदाधर ॥ ६४ ।

मम कर्णात्पपातेयं यदा च मणिकर्णिका ।
तदाप्रभृति लोकेऽत्र ख्याताऽस्तु मणिकर्णिका ॥ ६५ ।

श्रीविष्णुरुवाच—

मुक्ताकुण्डलपातेन तवाऽद्रितनयाप्रिय ।
तीर्थानां परमं तीर्थं मुक्तिक्षेत्रमिहाऽस्तु वै ॥ ६६ ।

तदान्दोलनतस्तस्य मौलेश्चालनाद् यस्मात् कर्णान्मणिकर्णिका पपात । मणिकर्णिकेत्येतदेव व्युत्पादयति । मणिभिर्मुक्तादिभिः खचिता व्याप्ता रम्या मणिकर्णिकेति पूर्वस्याऽनुषङ्गः । तस्मान्नाम्ना मणिकर्णिकाऽस्त्वित्यर्थः । कर्णिका कर्णाऽलङ्कारविशेषः कुण्डलमिति वा ॥ ६३ ।

तर्हि चक्रपुष्करिणीति लोकैः कथमुच्यते तत्राह—चक्रेति ॥ ६४ ।

अन्यं वरं प्रयच्छामीति यदुक्तं तत्कथयन् कथमेषेति चतुर्थप्रश्नमुपसंहरति—**ममेति** ॥ ६५ ।

त्रिलोकीडयेति यद्विशेषणमुक्तं तदर्थं दर्शयितुमाह—**मुक्ताकुण्डलेति** । इह मुक्ताकुण्डलपातेनेत्यन्वयः । वै प्रसिद्धम् ॥ ६६ ।

उसी आन्दोलन के कारण मेरे कान से मणिकर्णिका गिर पड़ी, अतएव इस (तीर्थ) का नाम मणिकर्णिका हो ॥ ६३ ।

हे शंखचक्रगदाधर ! पूर्वकाल में तुम्हारे चक्र-सुदर्शन के द्वारा खोदे जाने से इस पवित्र तीर्थ का नाम चक्रपुष्करिणी पड़ा था ॥ ६४ ।

(अब) जब से मेरे कान से यह मणिकर्णिका (रत्नकुण्डल) गिरी है, अतएव आज से यहाँ पर लोक में मणिकर्णिका नाम प्रसिद्ध होगा ॥ ६५ ।

श्रीविष्णु बोले—

'गिरिजावल्लभ ! आपके मुक्तामय (मोती के) कुण्डल के गिर जाने से तीर्थों में श्रेष्ठ यह तीर्थ इस लोक में मुक्तिक्षेत्र हो ॥ ६६ ।

काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येयमीश्वरः ।
अतो नामाऽपरं चास्तु काशीति प्रथितं विभो ॥ ६७ ।

अन्यं वरं वरे देव देयः सोऽप्यविचारितम् ।
स तें परोपकारार्थं जगद्रक्षामणे शिव ॥ ६८ ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यत्किञ्चिज्जन्तुसंज्ञितम् ।
चतुर्षु भूतग्रामेषु काश्यां तन्मुक्तिमाप्स्यतु ॥ ६९ ।

अस्मिंस्तीर्थवरे शम्भो मणिश्रवणभूषणे ।
सन्ध्यां स्नानं जपं होमं वेदाध्ययनमुत्तमम् ।
तर्पणं पिण्डदानं च देवतानां च पूजनम् ॥ ७० ।

काशत इति । तत् प्रसिद्धम् । अनाख्येयं वाचामगोचरम् । एतेन काशीति नामधेयं कथमापेति सप्तमप्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६७ ।

अविचारितं यथा स्यात् ॥ ६८ ।

चतुर्षु जरायुजाऽण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु ॥ ६९ ।

मणिश्रवणभूषणं मणियुक्तं श्रवणभूषणं पतितं यत्र तत्तीर्थवरं तथा तस्मिन् । सन्ध्यामित्यादिश्लोकचतुष्टयमेकं वाक्यम् । सन्ध्यादिकर्म योऽत्र करोति तस्य कर्मणो विपाकः फलमक्षया एका विदेहकैवल्यरूपा मुक्तिरस्तु इति सर्वत्र प्रार्थना ॥ ७० ।

हे विभो ! इस स्थान में अकथनीय उस परंज्योति के प्रकाश पाने से इस तीर्थ का और एक नाम काशी[1] पड़े ॥ ६७ ।

हे जगत् के रक्षकप्रवर ! शिव ! मैं और भी एक वर की प्रार्थना करता हूँ, उसे आप परोपकारार्थ विना विचारे ही वितरण कर दीजिये ॥ ६८ ।

सृष्टि के जरायुजादि चारों प्रकार के भूतग्रामों में आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त (समस्त) जों कुछ जन्तुसंज्ञक है, वह सब काशी में मुक्तिलाभ करे ॥ ६९ ।

शम्भो ! जो महाप्राज्ञ आयु को क्षणविनाशी, विपत्ति को विपुल और सम्पत्ति को क्षणभंगुर विचार कर इस तीर्थश्रेष्ठ मणिकर्णिका पर स्नान, सन्ध्या, जप, होम,

---

१. काश्यते काशयति च प्रकाशयति ज्ञानज्योतिरिति काशी ।

गोभूतिलहिरण्याश्वदीपान्नाम्बरभूषणम् ।
कन्यादानं प्रयत्नेन सप्ततन्तूननेकशः ॥ ७१ ।
व्रतोत्सर्गं वृषोत्सर्गं लिङ्गादिस्थापनं तथा ।
करोति यो महाप्राज्ञो ज्ञात्वायुः क्षणगत्वरम् ॥ ७२ ।
विपत्तिं विपुलां चापि सम्पत्तिमतिभङ्गुराम् ।
अक्षया मुक्तिरेकाऽस्तु विपाकस्तस्य कर्मणः ॥ ७३ ।
अन्यच्चापि शुभं कर्म यदत्र श्रद्धया युतम् ।
विनात्मघातमीशान त्यक्त्वा प्रायोपवेशनम् ॥ ७४ ।
नैःश्रेयस्याः श्रियो हेतुस्तदस्तु जगदीश्वर ।
नाऽनुशोचति नाख्याति कृत्वा कालान्तरेऽपि यत् ॥ ७५ ।

गोभूतिलादीनां भूषणान्तानां दानम् । सप्ततन्तून् अग्निष्टोमादीन् । तदुक्तम्—अग्निष्टोमस्तथात्यग्निष्टोम उक्थोथ षोडशी, वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामः संस्था इमे क्रमादिति ॥ ७१ ।

लिङ्गादीत्यादिपदेन प्रतिमादयो गृह्यन्ते । महाप्राज्ञ इति विशेषणस्य तात्पर्यमाह—**ज्ञात्वायुरिति** पादत्रयेण ॥ ७२ ।

अनुक्तं संगृह्णाति—**अन्यच्चेति** । श्रद्धया युतं यद्वृत्तं च तन्नैःश्रेयस्याः श्रियो हेतुरस्त्वित्यग्रिमेणाऽन्वयः । तर्हि आत्मघातस्यापि किं कैवल्यफलं नेत्याह—**विनेति** । तर्हि किं कैवल्यमुद्दिश्य प्रायोपवेशनेनाऽपि नात्मघातो विधेयो नेत्याह—**त्यक्त्वेति** । प्रायोपवेशनं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेण य आत्मघातस्तं विनेत्यर्थः ॥ ७४ ।

नैःश्रेयस्याः कैवल्याख्यायाः ॥ ७५ ।

उत्तम वेदपाठ, तर्पण, पिण्डदान, देवों का पूजन तथा गो, भूमि, तिल, सुवर्ण, अश्व (घोड़ा), अन्न, वस्त्र, भूषण, कन्यादानादिक एवं अनेक अग्निष्टोम प्रभृति यज्ञ व्रतोद्यापन वृषोत्सर्ग और लिंग वा प्रतिमा आदि की स्थापना करे, इस कर्म का फल (उसे) एकमात्र अक्षय मोक्ष होवे ॥ ७०-७३ ।

हे ईशान ! आत्मघात और प्रायोपवेशन (निरशनव्रत) को छोड़कर यहाँ पर अन्य जो कुछ शुभकर्म श्रद्धापूर्वक किया जावे ॥ ७४ ।

हे जगदीश्वर ! वह सब मुक्तिलक्ष्मी का हेतु होवे। जिस कर्म को कर कालान्तर में भी पश्चात्ताप नहीं करना पड़े, (उसे) न किसी से ख्यापन करे ॥ ७५ ।

तदिहाक्षयतामेतु तस्येश त्वदनुग्रहात् ।
तव प्रसादात्तस्येश सर्वमक्षयमस्तु तत् ॥ ७६ ।

यदस्ति यद्भविष्यच्च यद्भूतं च सदाशिव ।
तस्मादेतच्च सर्वस्मात्क्षेत्रमस्तु शुभोदयम् ॥ ७७ ।

यथा सदाशिव त्वत्तो न किञ्चिदधिकं शिवम् ।
तथाऽऽनन्दवनादस्मात् किञ्चिन्मास्त्वधिकं क्वचित् ॥ ७८ ।

विना सांख्येन योगेन विना स्वात्माऽवलोकनम् ।
विना व्रततपोदानैः श्रेयोऽस्तु प्राणिनामिह ॥ ७९ ।

शशका मशकाः कीटाः पतङ्गास्तुरगोरगाः ।
पञ्चक्रोश्यां मृताः काश्यां सन्तु निर्वाणदीक्षिताः ॥ ८० ।

नामाऽपि गृह्णतां काश्याः सदैवास्त्वेनसः क्षयः ॥ ८१ ।

शिवं कल्याणरूपम् ॥ ७८ ।

सांख्येनात्माऽनात्मविवेकेन । योगेनाऽष्टाङ्गेन । आत्मावलोकनं जीवब्रह्मणोरैक्यानुसन्धानम् ॥ ७९ ।

प्राणिनां श्रेयोऽस्त्वित्येतद्विवृणोति—शशका इति । निर्वाणे कैवल्ये दीक्षिताः॥८०।

एनसः पापस्य ॥ ८१ ।

हे ईश ! आपके अनुग्रह से वह अक्षयता को प्राप्त होवे । हे ईश ! उसके सब कर्म आप ही के प्रसाद से अक्षय हो जावें ॥ ७६ ।

सदाशिव ! यावत् तीर्थ वर्तमान हैं वा हो चुके हैं अथवा होगें, उन सबसे यह तीर्थ शुभोदय होवे ॥ ७७ ।

हे सदाशिव ! जैसे आप से अधिक मंगल और कोई नहीं है, वैसे ही इस आनन्दवन से बढ़कर कोई भी क्षेत्र कहीं पर न होवे ॥ ७८ ।

सांख्ययोग, आत्मदर्शन, व्रत, तप, दान आदि के विना ही इस स्थल में प्राणियों का कल्याण होवे ॥ ७९ ।

शशक, मशक, कीट, पतंग, तुरग, उरग इत्यादि भी पंचक्रोशी काशी में जो मरें, वे निर्वाणपद को प्राप्त करें ॥ ८० ।

केवल काशी के नाम लेनेवालों का भी सदैव पापक्षय होवे ॥ ८१ ।

सदा कृतयुगं चाऽस्तु सदा चास्तूत्तरायणम् ।
सदा महोदयश्चाऽस्तु काश्यां निवसतां सताम् ॥ ८२ ।
यानि कानि पवित्राणि श्रुत्युक्तानि सदाशिव ।
तेभ्योऽधिकतरं चाऽस्तु क्षेत्रमेतत्त्रिलोचन ॥ ८३ ।
चतुर्णामपि वेदानां पुण्यमध्ययनाच्च यत् ।
तत्पुण्यं जायतां काश्यां गायत्रीलक्षजाप्यतः ॥ ८४ ।
अष्टाङ्गयोगाभ्यासेन यत्पुण्यमपि जायते ।
तत्पुण्यं साधिकं भूयाच्छ्रद्धाकाशीनिषेवणात् ॥ ८५ ।
कृच्छ्रचान्द्रायणाद्यैश्च यच्छ्रेयः समुपार्ज्यते ।
तदेकेनोपवासेन भवत्वानन्दकानने ॥ ८६ ।
अन्यत्र यत्तपस्तप्त्वा श्रेयः स्याच्छरदां शतम् ।
तदस्तु काश्यां वर्षेण भूमिशय्याव्रतेन हि ॥ ८७ ।

कृतयुगं सत्ययुगम् । सतामिति शत्रन्तं पदम् ॥ ८२ ।

श्रद्धाकाशीनिषेवणात् श्रद्धया काशीवासात् । प्राणायामयुतस्य यदिति पाठे प्राणायामेन ईषद्युतस्य युक्तस्य जनस्य साधकं तत्पुण्यं भूयादित्यर्थः ॥ ८५ ।

काशीवासी सज्जनों के लिये सर्वदैव सत्ययुग होवे, सदा उत्तरायण रहे और नित्य ही महोदय पर्व बना रहे ॥ ८२ ।

हे त्रिलोचन ! सदाशिव ! जितने वेदविहित पवित्र क्षेत्र हैं, उन सबसे यह क्षेत्र अधिकतर पवित्र होवे ॥ ८३ ।

चारों वेदों के अध्ययन करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, काशी में लक्षगायत्री जप मात्र से वह फल मिल जावे ॥ ८४ ।

अष्टाङ्गयोगसाधन से जो पुण्य होता है, वही पुण्य अधिकता के सहित काशी-सेवन से प्राप्त होवे ॥ ८५ ।

कृच्छ्र, चान्द्रायणादिक व्रतों से जो श्रेय उपार्जन किया जाता है, आनन्दवन में केवल एक ही उपवास करने से वह पुण्यलाभ होवे ॥ ८६ ।

अन्य स्थान में एक सौ वर्ष तपस्या करके जो पुण्य होता है, काशी में एक वर्ष मात्र भूमिशय्याव्रत से वह फल मिल जावे ॥ ८७ ।

आजन्ममौनव्रततो यदन्यत्र फलं स्मृतम् ।
तदस्तु काश्यां पक्षाहः सत्यवाक्परिभाषणात् ॥ ८८ ।

अन्यत्र दत्वा सर्वस्वं सुकृतं यत्समीरितम् ।
सहस्रभोजनात्काश्यां तद्भूयादयुताधिकम् ॥ ८९ ।

मुक्तिक्षेत्राणि सर्वाणि यत्संसेव्योदितं फलम् ।
पञ्चरात्रात्तदत्राऽस्तु निषेव्य मणिकर्णिकाम् ॥ ९० ।

प्रयागस्नानपुण्येन यत्पुण्यं स्याच्छिवप्रदम् ।
काशीदर्शनमात्रेण तत्पुण्यं श्रद्धयाऽस्त्विह ॥ ९१ ।

यत्पुण्यमश्वमेधेन यत्पुण्यं राजसूयतः ।
काश्यां तत्पुण्यमाप्नोतु त्रिरात्रशयनाद्यमी ॥ ९२ ।

तुलापुरुषदानेन यत्पुण्यं सम्यगाप्यते ।
काशोदर्शनमात्रेण तत्पुण्यं श्रद्धयाऽस्तु वै ॥ ९३ ।

शिवप्रदं मोक्षप्रदं कल्याणप्रदं वा ॥ ९१ ।

यमी संयमवान् ॥ ९२ ।

अन्यत्र आजन्म मौनव्रत करने का जो फल है, वह काशी में एक पक्ष भर सत्य सम्भाषण करने से प्राप्त होवे ॥ ८८ ।

अन्यत्र सर्वस्व दान कर देने से जो पुण्य कहा गया है, काशी में सहस्र (ब्राह्मण) भोजन करा देने ही से वह दश सहस्र से भी अधिक फलप्रद होवे ॥ ८९ ।

समस्त मुक्ति-क्षेत्रों के सेवन करने से जो फल प्राप्त होता है, काशी में पाँच रात्रि मणिकर्णिका के सेवन से वही फल मिले ॥ ९० ।

प्रयागस्नान से जो पुण्य मंगलप्रद होता है, श्रद्धा से काशी के दर्शन मात्र से वही पुण्य प्राप्त होवे ॥ ९१ ।

अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञों के करने से जो पुण्यलाभ होता है, काशी में संयमपूर्वक त्रिरात्र वास करने से ही वही पुण्य प्राप्त हो जावे ॥ ९२ ।

सम्यक् प्रकार से तुलापुरुष दान करने से जो पुण्य मिलता है, श्रद्धापूर्वक काशी के दर्शन मात्र से वही पुण्य प्राप्त होवे ॥ ९३ ।

इति विष्णोर्वरं श्रुत्वा देवदेवो जगत्पतिः ।
उवाच च प्रसन्नात्मा तथाऽस्तु मधुसूदन ॥ ९४ ।

श्रीमहादेव उवाच—

शृणु विष्णो महाबाहो जगतः प्रभवाप्यय ।
विधेहि सृष्टिं विविधां यथावस्त्वं श्रुतीरिताम् ॥ ९५ ।
पितेव सर्वभूतानां धर्मतः पालको भव ।
विध्वंसनीया विविधा धर्मध्वंसविधायिनः ॥ ९६ ।
धर्मेतरपथस्थानामुपसंहृतये हरे ।
हेतुमात्रं भवाऽन्यस्मात् स्वकर्मनिहता हि ते ॥ ९७ ।
यथा परिणतं सस्यं पतेत्प्रसवबन्धनात् ।
ते परिणतपाप्मानः पतिष्यन्ति तथा स्वयम् ॥ ९८ ।
ये च त्वामवमन्यन्ते दर्पिताः स्वतपोबलैः ।
तेषां चैवोपसंहृत्यै प्रभविष्याम्यहं हरे ॥ ९९ ।
उपपातकिनो ये च महापातकिनश्च ये ।
तेऽपि काशीं समासाद्य भविष्यन्ति गतैनसः ॥ १०० ।

प्रसवबन्धनाद् वृन्तात् । परिणतपाप्मानः फलोन्मुखपापाः ॥ ९८ ।

देवदेव विश्वनाथ ने विष्णु के इन वरदानों की प्रार्थना सुन प्रसन्न हृदय होकर कहा—'हे मधुसूदन ! तथास्तु" ॥ ९४ ।

श्रीमहादेव बोले—

'अये महाबाहो ! जगत्प्रभो ! विष्णो ! तुम वेद के कथनानुसार विविध प्रकार की सृष्टिरचना करो ॥ ९५ ।

पिता के सदृश समस्त भूतों की धर्मपूर्वक रक्षा करो और धर्म के विध्वंस करनेवालों का विविध विधान से तुम विध्वंस करो ॥ ९६ ।

अधर्ममार्गानुसारियों के नाश करने में तुम एक हेतु मात्र होवो; क्योंकि वे सब तो अपने कर्म के ही द्वारा निहत हैं ॥ ९७ ।

जैसे पके हुए अन्नफलादिक आप से आप वृन्त से टूटकर गिर पड़ते हैं, वैसे ही फलोन्मुख पापात्मागण स्वयं पतित होवेंगे ॥ ९८ ।

हरे ! जो लोग अपने तपोबल से दर्पित होकर तुम्हारा अपमान करेंगे, उन सब के संहार करने को मैं उद्यत होऊँगा ॥ ९९ ।

जो लोग उपपातकी अथवा महापातकी हैं, वे सब भी काशी में पहुँचते ही निष्पाप हो जावेंगे ॥ १०० ।

इदं मम प्रियं क्षेत्रं पञ्चक्रोशी परीमितम् ।
ममाज्ञा प्रभवेदत्र नान्याज्ञा प्रभवेदिह ॥ १०१ ।
पुनर्विष्णुर्मया प्रोक्तो मृडानि शुभलोचने ।
अत्युग्रतेजसा तेजो भ्रमंस्त्रैलोक्यविभ्रमः ॥ १०२ ।
पापिनामपि जन्तूनामविमुक्तनिवासिनाम् ।
नान्यः शासयिता विष्णो तेषां शास्ताऽहमेव हि ॥ १०३ ।
योजनानां शतस्थोऽपि योऽविमुक्तं स्मरेद्धृदि ।
बहुपातकपूर्णोऽपि न स पापैः प्रबाध्यते ॥ १०४ ।
मम प्रियस्य क्षेत्रस्य योऽविमुक्तस्य संस्मरेत् ।
प्राणप्रयाणसमये दूरगोऽप्यघवानपि ॥ १०५ ।

इदमिति । यत्त्विदानीमन्याज्ञाऽपि प्रभवतीति प्रतीयते तत्त्वीश्वरेच्छयैवेति भावः । यद्वाऽत्र मूर्तिमतः सतो ममाज्ञैवेह प्रसवे नान्यस्य अन्तर्धाने त्वन्यस्याऽप्याज्ञा प्रभवतीति । अथवा मोक्षप्रदा न रुद्रपिशाचभोगादौ ममाज्ञैव प्रभवेदिह नान्यस्य ब्रह्म-विष्णुधर्मराजहेरिति । एतदेव वदिष्यति पापिनामित्यादिना ॥ १०१ ।

अत्युग्रतेजसा कृत्वा यत्तेजस्तेन भ्रमन्नितस्ततः प्रसरन् । त्रैलोक्यस्य विभ्रम आश्चर्यबुद्धिर्यस्मात् सः । अत्युग्रतपसां तेजो बिभ्रत्त्रैलोक्यविभ्रममिति क्वचित्पाठः । अत्युग्रतेजसामिति चान्यत्र । स च स्पष्ट एव ॥ १०२ ।

पापिनामपीत्यपिशब्दो धार्मिकान् समुच्चिनोति । तत्र धार्मिकाणां शासनं कैवल्यप्रापणमेव पापिनां रुद्रपिशाचभोगप्रापणमिति विवेकः ॥ १०३-१०४ ।

प्रियस्येत्यादि कर्मणि षष्ठीत्रयम् ॥ १०५ ।

यह पाँचकोश परिमित स्थल मेरा परम प्रिय क्षेत्र है । यहाँ पर मेरी ही आज्ञा चलने पावेगी । दूसरे किसी की आज्ञा यहाँ बलवती न हो सकेगी ॥ १०१ ।

हे शुभनेत्रे ! पार्वती ! मैंने फिर विष्णु से कहा, 'त्रिभुवन में विभ्रम करनेवाला मैं ही अतिघोर तप के तेज से भ्रमण करते हुए ॥ १०२ ।

अविमुक्तनिवासी पापी जन्तुओं का शासन करूँगा । हे विष्णो ! उन सबका दूसरा कोई शासक नहीं होने पावेगा ॥ १०३ ।

सौ योजन के दूर पर स्थित भी जो कोई हृदय में 'अविमुक्त' का स्मरण करेगा, वह अनेक पापों से पूर्ण होने पर भी पापों के द्वारा कभी बाधित नहीं होने पावेगा ॥ १०४ ।

दूरदेशस्थित भी जो अघी प्राण प्रयाणकाल में यदि मेरे प्रिय अविमुक्तक्षेत्र का स्मरण करे ॥ १०५ ।

स पापपूगमुत्सृज्य स्वर्गभोगान् समश्नुते ।
काशीस्मरणपुण्येन स्वर्गाद्भ्रष्टो हि जायते ॥ १०६ ।
पृथिव्यामेकराड्भूत्वा भुक्त्वा भोगाननेकशः ।
प्राप्याऽविमुक्तं तत्पुण्यान्निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥ १०७ ।
बहुकालमुषित्वाऽत्र नियतेन्द्रियमानसः ।
यद्यन्यत्र विपद्येत दैवयोगाच्छुचिस्मिते ॥ १०८ ।
सोऽपि स्वर्गसुखं भुक्त्वा भूत्वा क्षितिपतीश्वरः ।
पुनः काशीमवाप्याऽथ विन्देन्नैःश्रेयसीं श्रियम् ॥ १०९ ।
विष्णोऽविमुक्ते संवासः कर्मनिर्मूलनक्षमः ।
द्वित्राणां हि पवित्राणां निर्वाणायेह जायते ॥ ११० ।

तत्पुण्यादन्तकाले काशीस्मरणपुण्यात् ॥ १०७ ।

विष्णो इति । अस्याऽयमर्थः । हे विष्णो अविमुक्ते यः संवासो निवासः । कीदृशः ? कर्मनिर्मूलनक्षमः कर्मवासनोत्पाटनदक्षः । स निर्वाणाय सायुज्याय विश्वेश्वरचतुर्भुजादि-मूर्त्यधिष्ठात्रापरमात्मनैक्याय विदेहकैवल्याय वा जायते । इह काश्यां देहत्यागद्वारेति शेषः । केषामित्यत आह । द्वित्राणां हि पवित्राणामिति । पवित्राणां दौर्लभ्यसूचनार्थं द्वित्राणामित्युक्तम् । पापिनां त्वत्रैव रुद्रपिशाचभोगानन्तरं निर्वाणं शशकमशकादीनां च तारतम्येन सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य-सार्ष्टिलक्षणा मुक्तिरिति हि शब्दार्थः । तत्र सालोक्यमेकस्मिल्लोकेऽवस्थानम् । सामीप्यं समीपेऽवस्थानम् । सारूप्यं तुल्यरूपप्राप्तिः । सार्ष्टिर्जगत्सृष्ट्यादिवर्जं तुल्यप्रभाव इति भेदः । इतोऽन्यथा व्याख्याने पुराणान्तरविरोधः

वह पापपुञ्ज को त्याग कर स्वर्गभोगों को प्राप्त होता है । काशी के स्मरण-जनित पुण्यबल से जब वह स्वर्ग भोगकर भ्रष्ट होता है ॥ १०६ ।

तब भूतल में एक प्रधान राजा हो एवं अनेक भोगों को भोगकर उसी पुण्य के प्रभाव से अविमुक्त में पहुँच अन्त में मोक्ष पद का भागी होगा ॥ १०७ ।

हे शुचिस्मिते ! जो इन्द्रिय के सहित मन का निग्रह कर, बहुत काल तक इस स्थान में रहेगा, यदि दैवयोग से कहीं अन्यत्र जाकर मर जावे तो ॥ १०८ ।

वह भी स्वर्गसुख को भोग, क्षितिपतीश्वर होय (होकर) पुनः काशी प्राप्त कर तदनन्तर मोक्षलक्ष्मी को (अवश्य) पावेगा ॥ १०९ ।

हे विष्णो ! इस अविमुक्त क्षेत्र का निवास सर्वथा कर्मों का निर्मूलन करने में समर्थ है । अतएव दो तीन ही पवित्र लोगों के निर्वाणसिद्ध्यर्थ इस लोक में प्राप्त होता है ॥ ११० ।

विष्णुरुवाच—

देवेश क्षेत्रमाहात्म्यं यो न जानाति तत्त्वतः ।
न श्रद्दधाति म्रियते मृते तस्येह का गतिः ॥ १११ ।

शिव उवाच—

अन्यत्र कृत्वा पापानि बहूनि सुमहान्ति च ।
अश्रद्दधानोऽतत्त्वज्ञो यद्यत्र च विपद्यते ॥ ११२ ।
महिमन्यनभिज्ञोऽपि क्षेत्रस्याऽस्य जनार्दन ।
तस्य या गतिरुद्दिष्टा तां निशामय सुव्रत ॥ ११३ ।

पूर्वापरविरोधश्च । यद्वा द्वित्राणां पवित्राणामविमुक्ते यः संवासः, सम्यग् वसतिः, स संवास एव यत्र कुत्राऽपि मृतानां तेषां द्वित्राणां पवित्राणामिहाऽस्मिन् जन्मन्येव निर्वाणाय भवति । यथा—

'घण्टाकर्णह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा विश्वेश्वरं विभुम् ।
यत्र कुत्र मृतो वाऽपि वाराणस्यां मृतो भवेत्' ॥ तद्वदिति ।

अत्र मरणानन्तरं सर्वेषां मुक्तिः स्थिरैव । अथवाऽविमुक्ते यः संवासः सर्वेषां मरणद्वारा कर्मनिर्मूलनक्षमः स इह जीवदवस्थायां द्वित्राणां पवित्राणां निर्वाणाय जीवन्मुक्तये जायत इत्यर्थः । यद्वा हे विष्णोऽविमुक्ते यः संवासो मरणावधिवासः स द्वित्राणां पवित्राणां हि एव निश्चितं वा निर्वाणाय कैवल्याय इह मरणाऽव्यवधानसमये सत्वरं जायते । पापिनां तु कालभैरवयातनानन्तरं मोक्षाय भवतीत्यर्थः । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् । तथा चोक्तं पाद्मे—

अस्यां निवासो निर्वाणं साधयत्यञ्जसा मुने ।
केवलं धर्मसापेक्षः कर्णे जपति तद्वचः ॥
अधर्मिष्ठस्य तत्क्षेत्रे यातनान्ते दिशोन्मतिम् ।
वाराणस्यां निवसतिरपवर्गफलप्रदा ॥
द्वित्राणां च पवित्राणां कल्प्यते सत्वर बलः इति ॥ ११० ।

महिमनि महत्त्वे ॥ ११३ ।

विष्णु ने पूछा—

'देवेश ! जब कोई इस क्षेत्र के यथार्थ माहात्म्य को नहीं जानता, अथवा विना श्रद्धा के यहाँ मर जाता है, तब मरण के अनन्तर उसकी कौन गति होती है ? ॥ १११ ।

शिव बोले—

'हे सुव्रत ! जनार्दन ! जो अन्य स्थान में बहुत बड़े घोर पापों को कर, श्रद्धा-रहित एवं तत्त्वज्ञान के विना ही यहाँ पर मर जाता है ॥ ११२ ।

अथवा जो इस क्षेत्र की महिमा को नहीं जानता, उसकी जो गति कही गई है, उसे श्रवण करो ॥ ११३ ।

पञ्चक्रोशीं प्रविशतस्तस्य पातकसन्ततिः ।
बहिरेव प्रतिष्ठेत नान्तर्निविशते क्वचित् ॥ ११४ ।

भयाद् बहिः स्थितायां च तस्य पातकसन्ततौ ।
त्रिशूलपाशपाणीनां गणानां सीमचारिणाम् ॥ ११५ ।

प्रवेशमात्रादनघः सर्वैरेनोभिरुज्झितः ।
संस्नाय मणिकर्णिक्यां पुण्यं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ११६ ।

सर्वतीर्थेषु संस्नानाद्यत्पुण्यं समवाप्यते ।
तत्पुण्यमाप्यते सम्यङ् मणिकर्ण्येकमज्जनात् ॥ ११७ ।

विधिना तत्र संस्नाय मृद्गोमयकुशादिभिः ।
स्वशाखावारुणैर्मन्त्रैर्दूर्वाऽपामार्गदर्भकैः ॥ ११८ ।

सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वदानेषु यत्फलम् ।
मणिकर्ण्यां विधिस्नातः श्रद्धया तदवाप्नुयात् ॥ ११९ ।

भयात्त्रासात् । केषामित्यत आह । त्रिशूलेति ॥ ११५ ।

स्वशाखावारुणैः स्वशाखोक्तस्नानसम्बन्धिभिः । अपामार्गः प्रसिद्धः शैखरिकाऽपरपर्यायः । अपामार्गः शैखरिको धामार्गवमयूरकौ । प्रत्यक्पर्णीकोशपर्णीकिणिही खरमञ्जरीत्यमरः ॥ ११८ ।

पंचक्रोशी के भीतर प्रवेश करते ही उसकी पातकावली बाहर रह जाती है, कभी भीतर नहीं पैठ सकती ॥ ११४ ।

काशी के सीमाचारी (सीमा के रखवाले) त्रिशूलपाशपाणि गणों के भय से उसके पातकसमूह के बाहर ही रह जाने पर ॥ ११५ ।

वह प्रवेश करने मात्र से समस्त पापों से निर्मुक्त निष्पाप होकर मणिकर्णिका में स्नान कर सर्वोत्तम पुण्य को प्राप्त करता है ॥ ११६ ।

समस्त तीर्थों में स्नान करने से जो पुण्यलाभ होता है, वही पुण्य सम्यक् प्रकार से मणिकर्णिका में एक बुडकी (डुबकी) लगाने से प्राप्त होता है ॥ ११७ ।

मिट्टी, गोबर, कुश, दूर्वा, चिचिढ़ा और दर्भ इत्यादि के द्वारा निज शाखोक्त वरुण मन्त्रों से श्रद्धापूर्वक यथाविधि स्नान करने से ॥ ११८ ।

सकल तीर्थस्नान, समस्त वस्तुदान के पुण्यफल को मणिकर्णिका में नहाने से वह प्राप्त करता है ॥ ११९ ।

अश्रद्धयाऽपि यः स्नातो मणिकर्ण्यां विधानतः ।
सोऽपि पुण्यमवाप्नोति स्वर्गप्राप्तिकरं परम् ॥ १२० ।
श्रद्धया विधिवत्स्नात्वा कृत्वा देवादितर्पणम् ।
तिलबर्हिर्यवैः सम्यक् सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ १२१ ।
श्रद्दधानो विधिस्नातः कृतसर्वोदकक्रियः ।
जपन् देवान् समभ्यर्च्य सर्वमन्त्रफलं लभेत् ॥ १२२ ।
स्नात्वा मौनेन विश्वेशदर्शनान्नियतेन्द्रियः ।
सर्वव्रतकृतं श्रेयो लभेद्वाचंयमः शिवे ॥ १२३ ।
स्नाने देवार्चने जप्ये मलमूत्रविसर्जने ।
मौनं कुर्यात्प्रयत्नेन दन्तधावनहोमयोः ॥ १२४ ।
विश्वेश्वरं समभ्यर्च्य सूपचारैर्विधानतः ।
यावज्जीवं शिवार्चायाः फलमाप्नोति वै सकृत् ॥ १२५ ।

बर्हींषि कुशाः ॥ १२१ ।

सर्वव्रतकृतमशेषव्रतैः सम्पादितम् । सर्वयज्ञकृतमिति क्वचित् । श्रेयः फलम् । वाचंयमो मौनी । शिवे हे पार्वति । वाचंयमाच्च तानिति क्वचित् । अत्र वाङ्नियमस्य महत्फलान्तरमाह । वाचमिति । वाचंयमान्मौनात्तान् सर्वान् कामान् लभत इत्यर्थः ॥ १२३-१२४ ।

विना श्रद्धा के भी जो विधिपूर्वक मणिकर्णिका-स्नान करता है, वह भी स्वर्ग प्राप्ति कर उत्कृष्ट पुण्य को पा जाता है ॥ १२० ।

श्रद्धापूर्वक विधान से स्नान कर, जो तिल, जव और कुशों से देवादिकों का तर्पण करता है, वह समस्त यज्ञों के फल को प्राप्त करता है ॥ १२१ ।

जो श्रद्धालुजन विधिपूर्वक स्नान के अनन्तर समस्त उदकक्रियाओं को कर जप करता हुआ देवताओं की पूजा करे, वह भी समस्त मन्त्रों के जप का फल-लाभ करे ॥ १२२ ।

हे शिवे ! जो कोई जितेन्द्रिय होकर मौनधारणपूर्वक विश्वेश्वर का दर्शन करे, वह मौनी सकल व्रत करने के पुण्य को प्राप्त होवे ॥ १२३ ।

स्नान, देवपूजन, जप, होम, दन्तधावन और मल-मूत्र के त्यागते समय यत्नपूर्वक मौनावलम्बन करे ॥ १२४ ।

उत्तम उपचारों से विधिपूर्वक एक बार भी विश्वेश्वर का पूजन कर लेने से यावज्जीवन शिवपूजा का फल मिलता है ॥ १२५ ।

दत्वाऽल्पमपि देवेशि न्यायेनोपार्जितं धनम् ।
अविमुक्ते मम क्षेत्रे न दरिद्रो भवेत्क्वचित् ।। १२६ ।
विविधं धनमावर्ज्य योऽविमुक्ते न यच्छति ।
सम्प्राप्य निधनं मूढोऽन्यत्र शोचति सर्वदा ।। १२७ ।
रम्याणि यानि रत्नानि गोगजाश्वाम्बराण्यपि ।
कृतानि तानि श्रेयोऽर्थमविमुक्तनिवासिनाम् ।। १२८ ।
विश्वेशप्रीणनार्थाय धनं निधनमेव वा ।
न्यायेन काश्यां यः कुर्यात् स धन्यः स च धर्मवित्।। १२९ ।
योऽसौ विश्वेश्वरो देवः काशीपुर्यामुमे स्थितः ।
लिङ्गरूपधरः साक्षान्मम श्रेयास्पदं हि तत् ।। १३० ।
अविमुक्तं महत्क्षेत्रं पञ्चक्रोशपरोमितम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं तदेकं हि ज्ञेयं विश्वेश्वराऽभिधम् ।। १३१ ।

रम्याणीति । यानि रम्याणि रत्नादीनि तान्यविमुक्तनिवासिनां श्रेयोऽर्थं कृतानि दानद्वारा विधात्रेतिशेषः ।। १२८ ।

तर्हि किं स्वर्गाद्यर्थमेव तद्धनं नेत्याह । विश्वेशप्रीणतार्थायेति । तत्र दृष्टान्तः । निधनं वा यथेत्यर्थः ।। १२९ ।

हे देवेशि ! मेरे इस अविमुक्त क्षेत्र में न्यायोंपार्जित अल्प भी धन दान कर देने से फिर कभी दरिद्र नहीं होना पड़ता ।। १२६ ।

जो कोई विविध विध के धन रहने पर भी अविमुक्त में दान नहीं करता, वह मूढ़ मनुष्य निधन (मृत्यु) को प्राप्त होकर परलोक में सर्वदेव शोच करता रहता है ।। १२७ ।

जितने ही रमणीय रत्न, गो, गज, अश्व, वस्त्र इत्यादि हैं, उन सबको अविमुक्त-निवासियों के कल्याणनिमित्त ही विधाता ने बना रक्खे हैं ।। १२८ ।

जो कोई विश्वेश्वर के प्रसन्नतार्थ काशी में धन अथवा निधन को (मृत्यु को) न्यायपूर्वक (सम्पादन) करता है, वही धर्मज्ञ और वही परम धन्य है। उसे काशीपुरी में जो विश्वेश्वरदेव लिंगरूप धारण कर साक्षात् बैठे हैं, वही मेरे परमश्रेय के आस्पद हैं ।। १२९-१३० ।

पंचक्रोश परिमाण जो अविमुक्त नामक महाक्षेत्र है, उसे एक ही विश्वेश्वर संज्ञक ज्योतिर्लिंग जानना चाहिये ।। १३१ ।

एकदेशस्थितमपि यथा मार्तण्डमण्डलम् ।
दृश्यते सर्वगं सर्वैः काश्यां विश्वेश्वरस्तथा ॥ १३२ ।
निष्प्रत्यूहेन योगेन नानाजन्मार्जितेन च ।
यत्फलं लभ्यतेऽन्यत्र तत्काश्यां त्यजतस्तनुम् ॥ १३३ ।
तप्त्वा तपांसि सर्वाणि बहुकालं जितेन्द्रियैः ।
यत्फलं लभ्यतेऽन्यत्र तत्काश्यामेकरात्रतः ॥ १३४ ।
अक्षेत्रमहिमज्ञोऽपि श्रद्धाहीनोऽपि कालतः ।
काशीप्रवेशादनघोऽमृतत्वं लभते मृतः ॥ १३५ ।
कृत्वाप्येनांसि चोग्राणि कालात्प्राप्याऽथ काशिकाम् ।
त्यक्त्वा तनुं प्रसादान्मे मामेव प्रतिपद्यते ॥ १३६ ।
विना मम प्रसादं वै कः काशीं प्रतिपद्यते ।
विना ब्रध्नं विशालाक्षि दिनकृत् क इहोच्यते ॥ १३७ ।
अप्राप्य काशीं को देवि निरन्तरसुखं लभेत् ।
ब्रह्माद्याः प्राकृतैः पाशैर्यतो बद्धा निरन्तरम् ॥ १३८ ।

प्राकृतैः प्रकृतिकार्यैः ॥ १३८ ।

जैसे सूर्यदेव एकदेश में स्थित रहने पर भी सब किसी को सर्वव्यापी दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही काशी में विश्वनाथ सर्वत्र ही स्थित हैं ॥ १३२ ।

अन्य स्थानों में अनेक जन्मार्जित निर्विघ्न योग के द्वारा जो फल प्राप्त किया जाता है, काशी में केवल शरीर के त्याग से ही वह फल मिल जाता है ॥ १३३ ।

अन्यत्र बहुकाल जितेन्द्रिय होकर सर्वप्रकार की तपस्या करने से जो फल-लाभ होता है, काशी में एकरात्र मात्र (वास) से वही फल हस्तगत हो जाता है ॥ १३४ ।

जो मनुष्य क्षेत्र की महिमा नहीं जानता एवं श्रद्धाहीन रहने पर भी कालवश काशी में प्रवेश करता है, वह निष्पाप होकर मृत होते ही अमृत पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ १३५ ।

घोरतर पापों को कर कालवश काशी में पहुँच, जो मेरे प्रसाद से शरीर-त्याग करता है, वह मुझको प्राप्त करता है ॥ १३६ ।

विना मेरे प्रसाद के कौन काशी को प्राप्त हो सकता है ? हे विशालाक्षि ! सूर्य से भिन्न दूसरे को किसे दिनकर कहा जावे ? ॥ १३७ ।

हे देवि ! किसी को विना पाये कौन निरन्तर सुखी हो सकता है ? क्योंकि ब्रह्मादिक देवगण भी प्रकृति के पाश में सर्वदा बँधे ही रहते हैं ॥ १३८ ।

चतुर्विंशतिभिः पाशैस्त्रिगुणैः क्रियया दृढैः ।
कण्ठे बद्धा विमुच्यन्ते कथं काशीं विना जनाः ॥ १३९ ।
बहूपसर्गो योगोऽयं कृच्छ्रसाध्यं तपो हि यत् ।
योगाद्भ्रष्टस्तपो भ्रष्टो गर्भक्लेशसहः पुनः ॥ १४० ।
कृत्वाऽपि काश्यां पापानि काश्यामेव म्रियेत चेत्।
भूत्वा रुद्रपिशाचोऽपि पुनर्मुक्तिमवाप्स्यति ॥ १४१ ।
काश्यां मृतानां जन्तूनां दैवात्पापकृतामपि ।
न पातो नरके तेषां तेषां शास्ताऽहमेव यत् ॥ १४२ ।
कायं विज्ञाय सापायं स्मृत्वा गर्भस्य वेदनाम् ।
त्यक्त्वा राज्यमपि प्राज्यं सेव्या काशी निरन्तरम्॥१४३।
अतर्कितं समभ्येत्य यमदूताः सुदारुणाः ।
बद्ध्वा पाशैर्हनिष्यन्ति क्षिप्रं काशीं ततः श्रयेत्॥ १४४ ।

पाशात् कथयन् कैमुत्यन्यायमाह। चतुर्विंशतिभिरिति । चतुर्विंशतिभिः प्रकृतिमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रषोडशविकारैः । त्रिगुणैस्तमोरजःसत्त्वात्मकैः । क्रियया धर्मार्थकामादिलक्षणया । दृढैरच्छेद्यैः ॥ १३९-१४० ।

प्राज्यमुत्कृष्टम् ॥ १४३ ॥

महदादि चौबीस पाश, धर्म, अर्थ, कामादि क्रियाओं से दृढ़, सत्त्व रजस् तमोरूप तीनों गुणों के द्वारा कण्ठ में बँधे हुए लोग विना काशी के कैसे विमुक्त हो सकते हैं ? ॥ १३९ ।

योग तो अनेक विघ्नों से भरा हुआ है और तपस्या बड़ी ही कष्टसाध्य है। अतः योग एवं तपस्या से भ्रष्ट होकर बारम्बार गर्भ का क्लेश सहना पड़ता है ॥ १४० ।

यदि काशी में पाप करके फिर काशी में ही मर जावे, तो रुद्रपिशाच होकर तदनन्तर मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ १४१ ।

पापकर्ता गण भी यदि दैवात् काशी में मृत होवें, तो उन्हें नरक-पतन नहीं होता; क्योंकि उन सब का शासक मैं ही हूँ ॥ १४२ ।

शरीर को अवश्य विनाशी एवं गर्भ की दुःसह पीड़ा को स्मरण कर बहुत बड़ा भी राज्य छोड़कर निरन्तर काशी सेवन करना उचित है ॥ १४३ ।

अत्यन्त दारुण यमदूतगण अतर्कित रूप से आकर पाशों में बाँधकर मारेंगे, यह शोचकर तुरत काशी का आश्रयण करे ॥ १४४ ।

न पापेभ्यो भयं यत्र न भयं यत्र वै यमात् ।
न गर्भवासभीर्यत्र तां काशीं को न संश्रयेत् ॥ १४५ ।
अद्य प्रातः परश्वो वा मरणं प्राप्यमेव च ।
यावत्कालविलम्बोऽस्ति तावत्काशीं समाश्रयेत् ॥ १४६ ।
प्राप्ते तु मरणे पुंसां पुनर्जन्म पुनर्मृतिः ।
अपुनर्भवभूमिं च तस्मात्काशीं श्रयेद् बुधः ॥ १४७ ।
पुत्रक्षेत्रकलत्राख्यां त्यक्त्वा मायां हि वैष्णवीम् ।
भवान्तरे नैकरूपां भवघ्नीं काशिकां श्रयेत् ॥ १४८ ।

न पापेभ्यो भयं यत्रेति । अत्र कृतानां पापानां पञ्चक्रोशयात्रादिना विनाशात् । तथा च पाद्मे—

सञ्चितं यद्बहिः क्षेत्राद्वाराणस्यां तथैव च ।
अन्तर्गृहे कृतं यच्च जन्मान्तरकृतं च यत् ॥

इत्युपक्रम्य—

ब्रह्महत्यादिपापानि प्रदक्षिणं पदे पदे ।
नश्यन्ति सकलान्येव मत्क्षेत्रस्य प्रदक्षिणात् ॥ इति ॥

अन्यत्र जन्मान्तरे वा कृतानां प्रवेशदर्शनादिना क्षयात् । तथा चाऽत्रैवोक्तम् । पञ्चक्रोशीं प्रविशत इति । ब्रह्मवैवर्ते च—

कालाद्भयं नास्ति यत्र यत्र पापभयं न हि ।
जन्मान्तरसहस्रेषु कृतं नश्यति दर्शनात् ॥ इति ।

यत्तु पद्मपुराणे काशीमाहात्म्ये पञ्चाध्याय्यां भृगुणोक्तं काशीकृतमहापातकोपपातकानां भोगादेव क्षय इति, तत्तु पञ्चक्रोश्यादियात्राव्यतिरेकेणेति ज्ञातव्यम् । अन्यथा पञ्चक्रोश्यादियात्राविधायकशास्त्रं पीडयेत् ॥ १४५ ।

प्राप्यं प्राप्तव्यम् । प्राप्तमिति क्वचित् ॥ १४६ ।

जहाँ पर पापों से, यमराज से और गर्भवास से भय नहीं है, उस काशी का ऐसा कौन है, जो नहीं आश्रयण करेगा ॥ १४५ ।

चाहे आज हो अथवा कल या परसों वह मृत तो अवश्य ही होगा । तब जितना ही काल मिले, उसी में काशी-सेवन कर लेना चाहिये ॥ १४६ ।

मर जाने पर फिर जन्म लेना और फिर मरना (यही लगा रहता है) अतएव पंडित को चाहिये कि जिस स्थान पर मरने से फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता, उस काशी को सेवे ॥ १४७ ।

पुत्र, क्षेत्र, कलत्र नामक जन्मान्तर में अनेकरूपी विष्णुमाया को त्याग कर भवनाशिनी काशी का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए ॥ १४८ ।

स्कन्द उवाच—

दूरं मे मरणं युवाऽहमधुना धार्यं न चित्ते त्विति
श्रोतव्यो निभृतं कृतान्तमहिषग्रैवेयघण्टारवः ।
नैकट्यात्प्रकटोत्कटश्रमघटामप्राप्य हित्वा द्रुतं
जीर्णां पर्णकुटीं ततः पटुमतिर्गच्छेत्पुरीं धूर्जटेः ॥१४९।

व्यास उवाच—

अगस्त्यस्य पुरः सूत कथयित्वा कथामिमाम् ।
सर्वपापप्रशमनीं पुनः स्कन्द उवाच ह ॥ १५० ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे मणिकर्णिकाख्यानं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ।

दूरमिति । अहं युवा मरणं मम दूरे इति चित्तेन धार्यं न धारणं कर्त्तव्यम् । तुशब्दादेतादृशं वचनं न श्रोतव्यमित्यर्थः; किन्तु निभृतं निश्चलं गुप्तं वा यथा स्यात्तथा यममहिषग्रीवाभरणघण्टारवो विषयान्तरव्यासङ्गं विहाय श्रोतव्यः। घण्टाग्रीवं महिषमारुह्य यमो मां नेतुमागत इति सदा भावनीयमित्यर्थः। तस्मान्नैकट्याच्छीघ्रमेव वार्धकमप्राप्येति यावत्। प्रकर्षेणोत्कटा अधिका या श्रमघटा श्रमसमूहस्तामप्राप्य जीर्णां पर्णकुटीं हित्वा जीर्णपर्णकुटीसदृशं तुच्छं गृहं हित्वा पटुमतिः सुबुद्धिर्धूर्जटेः पुरीं गच्छेदित्यर्थः। प्रकटोत्कट इति पाठे काशीप्रासावत्युत्कण्ठावानित्यर्थः। प्रकटोत्कटश्रुति-पुटीमिति पाठे काशीविशेषणम्। गुणवर्णनादिश्रवणेच्छया प्रकटोत्कटमतिशयोत्कटं श्रुतिपुटं श्रवणयुगलं यस्यां तामिति ॥ १४९-१५० ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ।

स्कन्द ने कहा—

'मैं अभी युवा हूँ, मेरी मृत्यु दूर है, इस चिन्ता को कभी मन में न लावे। (वरन्) निश्चलरूप से यमराज के वाहन महिष के गलबद्ध घण्टा का शब्द श्रवण करे। अतः वार्धक्य के पूर्व ही प्रकट उत्कट श्रमसमूह के विना पाये ही पुरानी झोपड़ी को छोड़ झटपट बुद्धिमान् जन शिवपुरी में चला जावे ॥ १४९।

व्यास बोले—

"हे सूत ! स्कन्द जी अगस्त्य से इस सर्वपापनाशिनी कथा को कहकर फिर बोले" ॥ १५० ।

विवरन काशी कर कियो, कह्यो नाम के भेद।
पुनि मनिकर्निका की कही, महिमा जो हरु खेद ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां काशी विवरण-मणिकर्णिकामाहात्म्यवर्णनं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ।

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

वाराणसीति प्रथितं यथा चानन्दकाननम् ।
तथा च कथयामीह देवदेवेन भाषितम् ।। १ ।

ईश्वर उवाच—

निशामय महाबाहो विष्णो त्रैलोक्यसुन्दर ।
प्राप्तं वाराणसीत्याख्याममविमुक्तं यथा तथा ।। २ ।

निर्दग्धान् सागरान् श्रुत्वा कपिलक्रोधवह्निना ।
अश्वमेधाश्वसंयुक्तान् पूर्वजान् स्वान् भगीरथः ।। ३ ।

सप्ताधिकतमे विंशेऽध्याये पापप्रणोदनः ।
सुखमोक्षप्रदायाः श्रीगङ्गाया महिमोच्यते ।। १ ।

अतीतेऽध्याये इदं क्षेत्रं यं कालमारभ्य परां प्रथितिमापन्नमानन्दकाननमविमुक्तं काशीति नामत्रितयादिकं च निरूप्याऽत्र प्रथमतो वाराणसीति षष्ठप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं प्रतिजानीते । वाराणसीति ।। १ ।

निर्दग्धानिति । भगीरथः कपिलस्य यः क्रोधस्तेन जातो यस्तेषां स्वदेहजोऽग्निस्तेन । यथाश्रुतव्याख्याने न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता इत्यादिभागवतवचनविरोधात् ।

(श्रीगंगा की महिमा और दशहरा स्तोत्र)

स्कन्द बोले—

'यह आनन्द कानन जिस प्रकार से वाराणसी नाम से प्रसिद्ध हुआ—इसके विषय में महादेव ने जैसा कहा, वही मैं भी कहता हूँ ।। १ ।

ईश्वर बोले—

त्रैलोक्य सुन्दर ! महावाहो ! विष्णो ! यह अविमुक्त क्षेत्र का जिस रीति से वाराणसी नाम प्रसिद्ध हुआ, उसे सुनो ।। २ ।

सूर्य वंश का महातेजस्वी परम धार्मिक राजा भगीरथ अश्वमेघ यज्ञ के घोड़ासहित अपने पूर्वपुरुष सगर के पुत्रों को कपिलदेव के क्रोधानल से भस्म हुआ सुनकर

सूर्यवंशे महातेजा राजा परमधार्मिकः ।
आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसे कृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
हिमवन्तं नगश्रेष्ठममात्यन्यस्तराज्यधूः ।
जगाम यशसां राशिरुद्दिधीर्षुः पितामहान् ॥ ५ ॥
ब्रह्मशापाग्निनिर्दग्धान् महादुर्गतिगानपि ।
विना त्रिमार्गगां विष्णो को जन्तूंस्त्रिदिवं नयेत् ॥ ६ ॥
ममैव सा परामूर्तिस्तोयरूपा शिवात्मिका ।
ब्रह्माण्डानामनेकानामाधारः प्रकृतिः परा ॥ ७ ॥
शुद्धविद्यास्वरूपा च त्रिशक्तिः करुणात्मिका ।
आनन्दामृतरूपा च शुद्धधर्मस्वरूपिणी ॥ ८ ॥

सागरान् सगरस्य पुत्रान् स्वस्य पूर्वजान् पितामहान् निर्दग्धान् श्रुत्वा तपसे कृतनिश्चयः सन् हिमवन्तं जगामेति तृतीयेनाऽन्वयः। अश्वमेधस्याऽङ्गभूतेऽश्वे रक्षणार्थं संयुक्तान् पित्रा नियुक्तान् । संसक्तानिति पाठे संलग्नानित्यर्थः ॥ ३-४ ।

अमात्येषु न्यस्ता निक्षिप्ता राज्यधूः राज्यभारो येन स तथा ॥ ५ ।

ननु पितॄणामुद्धारार्थमन्यदेव किञ्चित्साधनमनुष्ठेयं किं हिमालयं गत्वा गङ्गाराधनेन तत्राह । ब्रह्मशापेति ॥ ६ ।

ननु कथं तस्या जलमय्या एतादृशं सामर्थ्यं तत्राह । ममैवेति ॥ ७ ।

तिस्र इच्छाज्ञानक्रियारूपाः सत्त्वरजस्तमोरूपा वा शक्तयो यस्याः सा त्रिशक्तिः । आनन्दाऽमृतरूपा सुखात्मककैवल्यस्वरूपा । धर्मशुद्धत्वं निर्व्याजत्वम् । अविद्यातत्कार्ययोर्धारणाद्धर्मः । शुद्धश्चासौ धर्मश्चेति शुद्धधर्मः परमात्मा तत्स्वरूपिणी शुद्धधर्मस्वरूपिणी ॥ ८ ।

गंगा की आराधना करने के निमित्त तपस्या करने का निश्चय किया ॥ ३-४ ।

राज्यभार को मन्त्री के ऊपर रख, वह यशोराशि राजा अपने पितामहों के उद्धार करने की इच्छा से पर्वतश्रेष्ठ हिमालय पर चला गया ॥ ५ ।

हे विष्णो ! ब्रह्मशापाग्नि से दग्ध और महादुर्गति को प्राप्त प्राणियों को स्वर्ग ले जाने में गंगा से भिन्न दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ६ ।

वह (गंगा) तो मेरी ही शिवात्मिका जलरूपा दूसरी मूर्ति है । परम प्रकृति गंगा अनेक ब्रह्माण्डों की आधारस्वरूपा है ॥ ७ ।

वह शुद्ध विद्यारूपा, त्रिशक्तिमयी, करुणात्मिका, आनन्दामृतरूपा एवं शुद्ध धर्मस्वरूपिणी है ॥ ८ ।

यामेतां जगतां धात्रीं धारयामि स्वलीलया।
विश्वस्य रक्षणार्थाय परब्रह्मस्वरूपिणोम् ॥ ९ ॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यक्षेत्राणि यानि च।
सर्वत्र सर्वे ये धर्माः सर्वे यज्ञाः सदक्षिणाः ॥ १० ॥
तपांसि विष्णो सर्वाणि श्रुतिः साङ्गा चतुर्विधा।
अहं च त्वं च कश्चापि देवतानां गणाश्च ये ॥ ११ ॥
पुरुषार्थाश्च सर्वे वै शक्तयो विविधाश्च याः।
गङ्गायां सर्व एवैते सूक्ष्मरूपेण संस्थिताः ॥ १२ ॥
सस्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वक्रतुषु दीक्षितः।
चीर्णसर्वव्रतः सोऽपि यस्तु गङ्गां निषेवते ॥ १३ ॥

किमत्र प्रमाणमहमेवेश्वर इत्याह। यामेतामिति। यद्वा का सेत्यपेक्षायामङ्गुल्या निर्दिशति। यामेतामिति। स्वलीलया स्वस्य क्रियया। स्वमौलिनेति क्वचित्। परब्रह्मस्वरूपिणीं परब्रह्मस्वरूपपरिपूर्णाम् ॥ ९ ॥

साङ्गा षडङ्गसहिता। तानि च षडङ्गानि शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दो निरुक्त-ज्योतींषि। चतुर्विधा चतुष्प्रकारा ऋग्यजुःसामाथर्वरूपेत्यर्थः। चतुर्मितेति पाठे चतुर्द्धा मिता परिमिता गङ्गाऽलकनन्दाचक्षुर्भद्रेति परिगणितेति यावत्। कश्चाऽपि ब्रह्माऽपि अयमेव पाठः। गणा मरुदादयः ॥ ११ ॥

पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षाः। मूर्तिमन्तोऽप्येते सूक्ष्मरूपेणादृश्यरूपेण संस्थिता इत्यर्थः ॥ १२ ॥

मैं इस जगद्-धात्री परब्रह्मस्वरूपिणी गंगा को संसार के रक्षणनिमित्त अपनी लीला से धारण करता हूँ ॥ ९ ॥

त्रैलोक्य में जितने तीर्थ हैं, जो-जो पुण्यक्षेत्र हैं, सर्वत्र जो सब धर्म हैं, दक्षिणा के सहित जितने यज्ञ हैं ॥ १० ॥

हे विष्णो ! जो सब तपस्यायें हैं, षडङ्ग शास्त्रों के सहित जो चारों वेद हैं, हम, तुम, ब्रह्मा और जितने देवतागण हैं ॥ ११ ॥

जो सब पुरुषार्थ हैं, एवं जितनी ही विविध प्रकार की शक्तियाँ हैं, वे सब की सब गंगा में सूक्ष्मरूप से विराजमान रहती हैं ॥ १२ ॥

वह जन समस्त तीर्थों में नहा चुका, सर्वयज्ञों में दीक्षित हो गया और सम्पूर्ण व्रतों को पूर्ण कर चुका, जो केवल एक गंगा का सेवन करता है ॥ १३ ॥

तपांसि तेन तप्तानि सर्वदानप्रदः स च।
स प्राप्तयोगनियमो यस्तु गङ्गां निषेवते ॥ १४ ।
सर्ववर्णाश्रमेभ्यश्च वेदविद्भ्यश्च वै तथा।
शास्त्रार्थपारगेभ्यश्च गङ्गास्नायी विशिष्यते ॥ १५ ।
मनोवाक्कायजैर्दोषैर्दुष्टो बहुविधैरपि ।
वीक्ष्य गङ्गां भवेत् पूतः पुरुषो नात्र संशयः ॥ १६ ।
कृते सर्वत्र तीर्थानि त्रेतायां पुष्करं परम् ।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गैव केवलम् ॥ १७ ।
पूर्व[1]जन्मान्तराभ्यासवासनावशतो हरे ।
गङ्गातीरे निवासः स्यान्मदनुग्रहतः परात् ॥ १८ ।
ध्यानं कृते मोक्षहेतुस्त्रेतायां तच्च वै तपः ।
द्वापरे तद्द्वयं यज्ञाः कलौ गङ्गैव केवलम् ॥ १९ ।

सर्वदानप्रदः सर्वदानं प्रकर्षेण ददातीति तथा। सर्वदानव्रत इति पाठे सर्वाणि दानानि व्रतानि च यस्य सः ॥ १४ ।

पूतो मुक्तः। मुक्तिस्त्वद्दर्शनाद्देवीत्युक्तत्वात्। पवित्रो वा। दृष्ट्वा जन्मशतं पापं हन्ति गङ्गेत्युक्तेः ॥ १६ ।

तच्च वै तपः तद्ध्यानं तपश्च मोक्षहेतुरिति सर्वत्राऽन्वेति। कलौ गङ्गैवेति। तथा चोक्तम् ।

जो कोई गंगासेवी है, वह सकल तपस्याओं का आचरण, समस्त प्रकार के दान और योगाभ्यास के नियमों को प्राप्त हो चुका है ॥ १४ ।

जो गंगास्नायी है, वह मनुष्य समस्त वर्ण, आश्रम, वेदाध्यायी और शास्त्रार्थ पारगामी लोगों से विशेष माननीय होता है ॥ १५ ।

मन, वचन और शरीर के बहुविध दोषों से दुष्ट भी पुरुष इस लोक में केवल गंगा के दर्शन से ही पवित्र हो जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १६ ।

सत्ययुग में सर्वत्र ही तीर्थ थे, त्रेता में केवल पुष्कर ही तीर्थ था, द्वापर में कुरुक्षेत्र मात्र तीर्थ था और कलिकाल में एक गंगा ही तीर्थ है ॥ १७ ।

हे हरे ! मनुष्य पूर्वजन्मान्तर के अभ्यासवासनावश और मेरी परमानुकम्पा से गंगातट में निवास पाता है ॥ १८ ।

सत्ययुग में मोक्ष का कारण ध्यान ही था, त्रेता में ध्यान और तप ये दोनों थे, द्वापर में ध्यान, तप, यज्ञ ये तीनों कारण होते थे और कलियुग में केवल गंगा ही मोक्ष का कारण है ॥ १९ ।

---

१. पुस्तकान्तरे त्वयं श्लोको ध्यानं कृते इति श्लोकादुत्तरो दृश्यते ।

यो देहपतनाद्यावद् गङ्गातीरं न मुञ्चति ।
स हि वेदान्तविद्योगी ब्रह्मचर्यव्रती सदा ॥ २० ।
कलौ कलुषचित्तानां परद्रव्यरतात्मनाम् ।
विधिहीनक्रियाणां च गतिर्गङ्गां विना न हि ॥ २१ ।
अलक्ष्मीः कालकर्णी च दुःस्वप्नो दुर्विचिन्तितम् ।
गङ्गा गङ्गेति जपनात्तानि नोपविशन्ति हि ॥ २२ ।
गङ्गा हि सर्वभूतानामिहामुत्र फलप्रदा ।
भावानुरूपतो विष्णो सदा सर्वजगद्धिता ॥ २३ ।
यज्ञदानतपोयोगजपाः सनियमा यमाः ।
गङ्गासेवासहस्रांशं न लभन्ते कलौ हरे ॥ २४ ।
किमष्टाङ्गेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः ।
वास एव हि गङ्गायां ब्रह्मज्ञानस्य कारणम् ॥ २५ ।

अग्निहोत्रादिकर्माणि सापायानि कलौ युगे ।
गङ्गास्नानं हरेर्नाम निरपायमिदं द्वयम् ॥ इति ॥ १९ ।

कालकर्णी काकविष्ठा राक्षसीविशेषो वा । दुःस्वप्नं दुष्टस्वप्नः । षंढत्वमार्षम् । दुःस्वप्न इत्येव वा पाठः ॥ २२ ।

भावानुरूपतो भक्त्यनुसारेण ॥ २३ ।

गङ्गायां तत्तीर इत्यर्थः ॥ २५ ।

जो कोई मरणावधि (देहपतनावधि) गंगातीर का त्याग नहीं करता, वही जन वेदान्तवेत्ता, योगी और सदा ब्रह्मचारी है ॥ २० ।

कलिकाल में पापमय हृदय परद्रव्यपरायण चित्त, विधिहीन क्रियाओं के कर्ता लोगों की विना गंगा के गति नहीं है ॥ २१ ।

"गंगा गंगा" इस प्रकार के जप करने से दरिद्रता कालकर्णी (अलक्ष्मी), दुःस्वप्न और दुश्चिन्ता निकट नहीं आ सकती ॥ २२ ।

विष्णो ! सदा सर्वजगत् की हितकारिणी गंगा, भावानुसार समग्र भूतों को ऐहिक और पारत्रिक फल देती हैं ॥ २३ ।

हे हरे ! कलि में यज्ञ, दान, तपस्या, योग, जप, नियम और यम इत्यादि गंगा-सेवन के सहस्रांश फल को भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २४ ।

अष्टांग योग, तपस्या और यज्ञों से कौन फल है ? केवल गंगातीर का वास ही ब्रह्मज्ञान का कारण होता है ॥ २५ ।

अपि दूरस्थितस्याऽपि गङ्गामाहात्म्यवेदिनः ।
अयोग्यस्याऽपि गोविन्द भक्त्या गङ्गा प्रसीदति ॥ २६ ।

श्रद्धा धर्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं परं तपः ।
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धया सा प्रसीदति ॥ २७ ।

अज्ञानरागलोभाद्यैः पुंसां सम्मूढचेतसाम् ।
श्रद्धा न जायते धर्मे गङ्गायां च विशेषतः ॥ २८ ।

बहिः स्थितं जलं यद्वन्नारिकेलान्तरे स्थितम् ।
तथा ब्रह्माण्डबाह्यस्थं परब्रह्माम्बु जाह्नवी ॥ २९ ।

गङ्गालाभात्परोलाभः क्वचिदन्यो न विद्यते ।
तस्माद् गङ्गामुपासीत गङ्गैव परमः पुमान् ॥ ३० ।

श्रद्धेति । श्रद्धासाध्यत्वाच्छ्रद्धाधर्म इत्युपचारः । एवमग्रेऽपि । तथा चोक्तं गीतायाम्—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानमिति । श्रद्धयाऽग्निः समिध्यत इति श्रुतेश्च ॥ २७ ।

ब्रह्माण्डबाह्यस्थमिति । तथा च भागवते । यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विच्क्रिमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाणुकटाहविवरेणान्तः प्रविष्टा या बाह्यजलधारेति । तथा भगवत्पादीयवचनं च । ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूं निर्भरं भर्त्सयन्ती पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनात्विति ॥ २९-३० ।

गोविन्द ! यदि गंगा से दूर स्थित भी कोई व्यक्ति गंगामाहात्म्य का विज्ञ होवे तो, उस अयोग्य जन पर भी गंगा प्रसन्न होती हैं ॥ २६ ।

श्रद्धा ही परम सूक्ष्म धर्म, श्रद्धा ही ज्ञान, श्रद्धा ही परं तप है एवं श्रद्धा ही स्वर्ग एवं मोक्ष है । अतएव वह (गंगा) श्रद्धा से ही प्रसन्न रहती हैं ॥ २७ ।

अज्ञान, राग, लोभादि के द्वारा विमोहितचित्त मनुष्यों को श्रद्धा धर्म में नहीं होती, विशेषतः गंगा पर और भी नहीं होती ॥ २८ ।

जैसे बाहर का ही जल नारियल-फल के भीतर वर्तमान रहता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के बाह्य स्थित परब्रह्मस्वरूप जल ही जाह्नवी है ॥ २९ ।

गंगा-प्राप्ति के समान दूसरा कोई भी लाभ नहीं है । अतएव गंगा की ही उपासना कर्तव्य है; क्योंकि गंगा ही परमपुरुष (रूपा) है ॥ ३० ।

शक्तस्य पण्डितस्याऽपि गुणिनो दानशीलिनः ।
गङ्गास्नानविहीनस्य हरे जन्म निरर्थकम् ॥ ३१ ।

वृथा कुलं वृथा विद्या वृथा यज्ञा वृथा तपः ।
वृथा दानानि तस्येह कलौ गङ्गां न यो भजेत् ॥ ३२ ।

गुणवत्पात्रपूजायां न स्याद्वै तादृशं फलम् ।
यथा गङ्गाजलस्नानपूजने विधिना फलम् ॥ ३३ ।

मम तेजोऽग्निगर्भेयं मम वीर्यातिसंवृता ।
दाहिका सर्वदोषाणां सर्वपापविनाशिनी ॥ ३४ ।

स्मरणादेव गङ्गायाः पापसंघातपञ्जरम् ।
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥ ३५ ।

गङ्गां गच्छति यस्त्वेको यस्तु भक्त्याऽनुमोदयेत् ।
तयोस्तुल्यं फलं प्राहुर्भक्तिरेवाऽत्र कारणम् ॥ ३६ ।

मम वीर्यातिसंवृता मम प्रभावातिशयेन सम्पन्ना मत्सदृशीत्यर्थः । अभिसंवृतेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ३४ ।

हरे ! पण्डित, गुणी और दानशील होने पर भी शक्ति रहते यदि गंगास्नान न करे, तो उसका जन्म निरर्थक ही है ॥ ३१ ।

जो कोई इस लोक और कलिकाल में गंगा को नहीं भजता, उसका कुल, विद्या, यज्ञ, तप और दानादिक सब वृथा हैं ॥ ३२ ।

गुणवान् पात्र की पूजा में वैसा फल नहीं है, जैसा कि विधिवत् गंगाजल में स्नान एवं पूजन करने से फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ।

यह गंगा—मेरे तजोरूप अग्नि को गर्भ में धारण करती है और मेरे ही वीर्य से सम्पन्न है (अर्थात् मेरे समान ही है) । यह समस्त दोषों को भस्म करने वाली एवं सर्वपापविनाशिनी है ॥ ३४ ।

गंगा के स्मरण मात्र से पापपुंजरूप पंजर (पिंजड़ा) वज्राहत पर्वत के सदृश सैकड़ों टुकड़े होकर उधिरा (बिखर) जाता है ॥ ३५ ।

यदि कोई एक जन गंगा-यात्रा करने जाता हो और दूसरा भक्तिपूर्वक उसका अनुमोदन करे, तो उन दोनों को ही समान फल कहा गया है—इस विषय में भक्ति ही कारण है ॥ ३६ ।

गच्छंस्तिष्ठन् जपन् ध्यायन् भुञ्जन् जाग्रत्[१] स्वपन् वदन् ।
यः स्मरेत्सततं गङ्गां स हि मुच्येत बन्धनात् ।। ३७ ।
पितॄनुद्दिश्य यो भक्त्या पायसं मधुसंयुतम् ।
गुडसर्पिस्तिलैः सार्धं गङ्गाऽम्भसि विनिक्षिपेत् ।। ३८ ।
तृप्ता भवन्ति पितरस्तस्य वर्षशतं हरे ।
यच्छन्ति विविधान् कामान् परितुष्टाः पितामहाः ।। ३९ ।
लिङ्गे सम्पूजिते सर्वमर्चितं स्याज्जगद्यथा ।
गङ्गास्नानेन लभते सर्वतीर्थफलं तथा ।। ४० ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा यो लिङ्गं नित्यमर्चति ।
एकेन जन्मना मुक्तिं परां प्राप्नोति स ध्रुवम् ।। ४१ ।
अग्निहोत्रं च यज्ञाश्च व्रतदानतपांसि च ।
गङ्गायां लिङ्गपूजायाः कोटयंशेनाऽपि नो समाः ।। ४२ ।
गङ्गां गन्तुं विनिश्चित्य कृत्वा श्राद्धादिकं गृहे ।
स्थितस्य सम्यक् सङ्कल्पात् तस्य नन्दन्ति पूर्वजाः ।। ४३ ।

चलते (उठते, बैठते, जपते, ध्यान करते, खाते, जागते, सूतते (सोते), बोलते) हुए जो कोई निरन्तर गंगा को स्मरण करता रहे, वह (अवश्य ही) भवबन्धन से मुक्त हो जाता है ।। ३७।

जो कोई पितरों के उद्देश से भक्तिपूर्वक मधु, घृत, गुड़, तिल सहित पायस (पिंड) गंगा के जल में निक्षेप करे ।। ३८।

उसके पितृगण सौ वर्ष के लिये तृप्त हो जाते हैं और हे हरे ! वे पितामहादिक सन्तुष्ट होकर उस कर्मकर्ता की विविध कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं ।। ३९।

जैसे एक लिंग के ही पूजन करने से समस्त जगत् की पूजा हो जाती है, तैसे (वैसे) ही केवल गंगास्नान से समस्त तीर्थों का फल प्राप्त हो जाता है ।। ४०।

जो नर नित्य गंगास्नान करके लिंग का पूजन करता है, वह एक ही जन्म में परम मोक्ष को निश्चय प्राप्त होता (करता) है ।। ४१।

अग्निहोत्र, यज्ञ, व्रत, दान और तपस्यायें, ये सब गंगातट पर लिंगपूजा के कोटि-अंश में एक भाग के भी समान नहीं हैं ।। ४२ ।

गंगा-यात्रा का निश्चय कर तीर्थगमन-निमित्तक श्राद्ध गृह में सम्पादन करके बैठे हुए जन के दृढ़ संकल्प से उसके पूर्व पुरुषगण परमानन्दित होते हैं ।। ४३।

---

१. श्वसन्निति क्वचित्पाठः ।

पापानि च रुदन्त्याशु हा क्व यास्याम इत्यलम् ।
लोभमोहादिभिः सार्धं मन्त्रयन्ति पुनः पुनः ॥ ४४ ।
यथा न गङ्गां यात्येष तथा विघ्नं प्रकुर्महे ।
गङ्गां गतो यथा चैष न उच्छित्तिं विधास्यति ॥ ४५ ।
गृहाद् गङ्गावगाहार्थं गच्छतस्तु पदे पदे ।
निराशानि व्रजन्त्येव पापान्यस्य शरीरतः ॥ ४६ ।
पूर्वजन्मकृतैः पुण्यैस्त्यक्त्वा लोभादिकं हरे ।
व्युदस्य सर्वविघ्नौघान् गङ्गां प्राप्नोति पुण्यवान् ॥ ४७ ।
अनुषङ्गेन मौल्येन वाणिज्येनाऽपि सेवया ।
कामासक्तोऽपि वा मर्त्यो गङ्गास्नातो दिवं व्रजेत् ॥ ४८ ।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत् ।
अनिच्छयाऽपि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत् ॥ ४९ ।
तावद् भ्रमति संसारे यावद् गङ्गां न सेवते ।
संसेव्य गङ्गां नो जन्तुर्भवक्लेशं प्रपश्यति ॥ ५० ।

उसके पापगण तुरत "हाय कहाँ जावेंगे" यह कहकर रोदन करने एवं लोभ-मोहादिक के सहित बारम्बार यह विचार करने लगते हैं कि ॥ ४४ ।

जैसे हो सके तैसे (वैसे) यह गंगास्नान को न जाने पावे, ऐसा विघ्न हम लोग करें; क्योंकि यदि यह गंगा तक पहुँच गया, तो हम सब लोगों का विनाश ही कर डालेगा ॥ ४५ ।

गंगास्नान के लिये घर से बाहर निकलते ही पद-पद में पापपुंज निराश होकर यात्री के शरीर से निकल जाते हैं ॥ ४६ ।

हरे ! पुण्यवान् जन पूर्व जन्मकृत पुण्यों से ही लोभादिकों को छोड़ विघ्न-समूहों को दूर हटा गंगा में पहुँच सकता है ॥ ४७ ।

कामसक्त नर भी—चाहे किसी के संग वश, अथवा कुछ मूल्य लेकर वा वाणिज्य के कारण तथा सेवा (नौकरी) के वश होकर भी गंगास्नान करने से स्वर्ग को प्राप्त होता है ॥ ४८ ।

इच्छा के विना भी स्पर्श करने से अग्नि जैसे जला देती है, वैसे ही अनिच्छापूर्वक भी स्नान करने से गंगा समस्त पापों को दहन कर देती हैं ॥ ४९ ।

जन्तु जब तक गंगा का सेवन नहीं करता, तभी तक संसार में घूमता रहता है । जब गंगा का सेवन कर चुका, तो फिर संसार के क्लेशों को नहीं देखता ॥ ५० ।

यो गङ्गाम्भसि निस्नातो भक्त्या सन्त्यक्तसंशयः ।
मनुष्यचर्मणा नद्धः स देवो नाऽत्र संशयः ।। ५१ ।

गङ्गास्नानार्थमुद्युक्तो मध्ये मार्गं मृतो यदि ।
गङ्गास्नानफलं सोऽपि तदाप्नोति न संशयः ।। ५२ ।

माहात्म्यं ये च गङ्गायाः शृण्वन्ति च पठन्ति च ।
तेऽप्यशेषैर्महापापैर्मुच्यन्ते नाऽत्र संशयः ।। ५३ ।

दुर्बुद्धयो दुराचारा हैतुका बहुसंशयाः ।
पश्यन्ति मोहिता विष्णो गङ्गामन्यनदीमिव ।। ५४ ।

जन्मान्तरकृतैर्दानैस्तपोभिर्नियमैर्व्रतैः ।
इह जन्मनि गङ्गायां नृणां भक्तिः प्रजायते ।। ५५ ।

गङ्गाभक्तिमतामर्थे महेन्द्रादिपुरेषु च ।
हर्म्याणि रम्यभोगानि निर्मितानि स्वयम्भुवा ।। ५६ ।

हैतुकाः सत्क्रियासुहेतुभिः सन्देहोत्पादकाः। बहुसंशया दृष्टादृष्टकर्मसु नानासंशयवन्तः ।। ५४ ।

जो कोई संशयहीन होकर भक्तिपूर्वक गंगाजल में स्नान करता है, वह मनुष्य चर्म से ढका हुआ देवता ही है, इस विषय में सन्देह नहीं है ।। ५१ ।

जो कोई गंगास्नानार्थ गृह से यात्रा कर यदि मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त होवे, तो वह भी निःसन्देह गंगास्नान के फल को पाता है ।। ५२ ।

जो लोग गंगा का माहात्म्य पढ़ते हैं, अथवा सुनते हैं, वे सब भी समस्त-महापापों से मुक्त हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ।। ५३ ।

विष्णो ! जो लोग दुर्बुद्धि, दुराचार, कुतार्किक एवं संशयात्मक हैं, वे सब मोहवश गंगा को अन्य नदियों के समान देखते हैं ।। ५४ ।

जन्मान्तरकृत दान, तप, नियम, व्रत इत्यादि के प्रभाव से इस जन्म में मनुष्यों की भक्ति गंगा पर हो जाती है ।। ५५ ।

ब्रह्मा ने गंगा के भक्तिमानों के निमित्त इन्द्रादिलोकों में सुरम्य भोगों से युक्त अटारियाँ बना रक्खी हैं ।। ५६ ।

सिद्धयः सिद्धिलिङ्गानि स्पर्शलिङ्गान्यनेकशः ।
प्रासादा रत्नरचिताश्चिन्तामणिगणा अपि ।। ५७ ।
गङ्गाजलान्तस्तिष्ठन्ति कलिकल्मषभीतितः ।
अत एव हि संसेव्या कलौ गङ्गेष्टसिद्धिदा ।। ५८ ।
सूर्योदये तमांसीव वज्रपातभयान्नगाः ।
तार्क्ष्येक्षणाद्यथा सर्पा मेघा वाताहता इव ।। ५९ ।
तत्त्वज्ञानाद्यथा मोहः सिंहं दृष्ट्वा यथा मृगाः ।
तथा सर्वाणि पापानि यान्ति गङ्गेक्षणात्क्षयम् ।। ६० ।
दिव्यौषधैर्यथा रोगा लोभेन च यथा गुणाः ।
यथा ग्रीष्मोष्मसम्पत्तिरगाधह्रदमज्जनात् ।। ६१ ।
तूलशैलः स्फुलिङ्गेन यथा नश्यति तत्क्षणात् ।
तथा दोषाः प्रणश्यन्ति गङ्गाम्भः स्पर्शनाद् ध्रुवम् ।। ६२ ।

सिद्धयोऽणिमाद्याः । सिद्धिलिङ्गानि सिद्धिदानि लिङ्गानि प्रत्यक्षमाहात्म्यभाञ्जीति वा । स्पर्शलिङ्गानि यत्सम्पर्केण लोहादयः सुवर्णानि भवन्ति तादृशपाषाणघटितानि लिङ्गानीत्यर्थः । स्पर्शमात्रेण धर्मार्थकाममोक्षसाधकानि लिङ्गानीति वा । रत्नरचिता रत्नैर्विनिर्मिताः । रत्नखचिता इति पाठे रत्नैर्निबद्धा इत्यर्थः ।। ५७ ।

अत एवेति । यतः सिद्ध्यादयः पापभीतितः तद्बाधापरिहारार्थं गङ्गाजलमध्ये तिष्ठन्त्यतः सर्वोत्कृष्टत्वाद् गङ्गैव संसेव्येत्यर्थः ।। ५८ ।

सम्पत्तिः । सम्पन्नतासम्प्राप्तिर्वा । सन्ततिरिति क्वचित् ।। ६१ ।

अणिमादिक सिद्धियाँ, प्रत्यक्षसिद्धिप्रद लिंग, अनेक स्पर्श-(पारस)लिंग, रत्नरचित शिवालय और चिन्तामणि के समूह ।। ५७ ।

कलिकल्मष के भय से गंगाजल के भीतर रहते हैं, अतएव कलिकाल में इष्टसिद्धिदात्री गंगा ही सेवनीय हैं ।। ५८ ।

सूर्योदय में अन्धकारगण, वज्रपात के भय से पर्वतगण, गरुड़ के दर्शन से सर्पगण, वात से आहत मेघगण ।। ५९ ।

तत्त्वज्ञान से मोह, सिंह को देख मृगसमूह के समान समस्त पापगण गंगा के दर्शनमात्र से क्षय हो जाते हैं ।। ६० ।

जैसे उत्तम औषध के सेवन से रोगसमूह, जैसे लोभ से गुणगण, जैसे ग्रीष्म की उष्णता अगाधजलाशय में स्नान करने से ।। ६१ ।

एवं जैसे रूई का पहाड़ अग्निकण से तुरत विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार से समस्त दोष गंगाजल के स्पर्श करने से ही अवश्यमेव नष्ट हो जाते हैं ।। ६२ ।

क्रोधेन च तपो यद्वत् कामेन च यथा मतिः ।
अनयेन यथा लक्ष्मीर्विद्या मानेन वै यथा ॥ ६३ ।
दम्भकौटिल्यमायाभिर्यथा धर्मो विनश्यति ।
तथा नश्यन्ति पापानि गङ्गाया दर्शनेन तु ॥ ६४ ।
मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ।
गङ्गां यः सेवते सोऽत्र बुद्धेः पारं परं गतः ॥ ६५ ।
विधूतपापा ये मर्त्याः परं ज्योतिःस्वरूपिणीम् ।
सहस्रसूर्यप्रतिमां गङ्गां पश्यन्ति ते भुवि ॥ ६६ ।
साधारणाम्भसा पूर्णां साधारणनदीमिव ।
पश्यन्ति नास्तिका गङ्गां पापोपहतलोचनाः ॥ ६७ ।
संसारमोचकश्चाऽहं जनानामनुकम्पया ।
गङ्गातरङ्गरूपेण सोपानं निर्ममे दिवः ॥ ६८ ।

दम्भो धर्मध्वजित्वम् । कौटिल्यं मत्सरः । मायावञ्चनापरप्रतारणमित्येतत्॥६४।

नास्तिकास्त्यक्तवेदप्रामाण्या बौद्धादिप्रभेदा इत्यर्थः ॥ ६७ ।

दिवः कान्तिमत्याः स्वप्रकाशपरमसुखस्वरूपाया निर्वृत्तेरित्यर्थः । सोपानमारोहमार्गम् ॥ ८६ ।

जैसे क्रोध से तपस्या, काम से बुद्धि, अनीति से सम्पत्ति, अभिमान से विद्या ॥ ६३ ।

और दम्भ, कुटिलता एवं मायादि के द्वारा धर्म का नाश हो जाता है, उसी प्रकार गंगा के दर्शनमात्र से सकल पाप विनष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ।

बिजली के स्फुरणसमान चंचल दुर्लभ मनुष्य के जन्म को पाकर जो गंगा का सेवन करता है, वही इस लोक में बुद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है ॥ ६५ ।

जो मनुष्य पापों से रहित हैं, वे इसी पृथ्वी पर ही गंगा को सहस्र-सूर्यसदृशी परंज्योतिःस्वरूपिणी देखते हैं ॥ ६६ ।

पाप से प्रतिहतनेत्र नास्तिकगण गंगा को साधारण जल से पूर्ण और सामान्य नदी के समान अवलोकन करते हैं ॥ ६७ ।

मैंने दयापूर्वक लोगों को संसारबन्धन से छुड़ाने के लिये तरंगरूप से स्वर्ग को सीढ़ी बनाई है ॥ ६८ ।

सर्वं एव शुभः कालः सर्वो देशस्तथा शुभः।
सर्वो जनो दानपात्रं श्रीमती जाह्नवीतटे ॥ ६९ ।
यथाऽश्वमेधो यज्ञानां नगानां हिमवान् यथा।
व्रतानां च यथा सत्यं दानानामभयं यथा ॥ ७० ।
प्राणायामश्च तपसां मन्त्राणां प्रणवो यथा।
धर्माणामप्यहिंसा च काम्यानां श्रीर्यथा वरा ॥ ७१ ।
यथात्मविद्या विद्यानां स्त्रीणां गौरी यथोत्तमा।
सर्वदेवगणानां च यथा त्वं पुरुषोत्तम ॥ ७२ ।
सर्वेषामेव पात्राणां शिवभक्तो यथा वरः।
तथा सर्वेषु तीर्थेषु गङ्गातीर्थं विशिष्यते ॥ ७३ ।
हरे यश्चावयोर्भेदं न करोति महामतिः।
शिवभक्तः स विज्ञेयो महापाशुपतश्च सः ॥ ७४ ।
पापपांसुमहावात्या पापद्रुमकुठारिका।
पापेन्धनदवाग्निश्च गङ्गेयं पुण्यवाहिनी ॥ ७५ ।

श्रीमती जाह्नवीत्यत्र पुंवद्भावाभाव आर्षः ॥ ६९ ।

शिवभक्तस्य लक्षणमाह । हरे य इति ॥ ७४ ।

वात्या चक्रवातः । पुण्यरूपं तोयं वोढुं शीलं यस्याः सा पुण्यवाहिनी ॥ ७५ ।

श्रीमती जह्नुनन्दिनी के तीर पर समस्त काल अशेष देश मंगलमय है और सभी लोग दानपात्र हैं ॥ ६९ ।

जैसे यज्ञों में अश्वमेध, पर्वतों में हिमवान्, व्रतों में सत्य, दानों में अभय ॥ ७० ।

तपस्याओं में प्राणायाम, मन्त्रों में प्रणव, धर्मों में अहिंसा, काम्यवस्तुओं में उत्तम लक्ष्मी ॥ ७१ ।

विद्याओं में आत्मविद्या, स्त्रियों में पार्वती, हे पुरुषोत्तम ! समस्त देवतागणों में तुम ॥ ७२ ।

समस्तपात्रों में शिवभक्त, जैसे सर्वप्रधान हैं, वैसे ही समस्ततीर्थों में गंगातीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ७३ ।

हरे ! जो कोई महामति हम तुम में (शिव-विष्णु में) भेद नहीं मानता, उसे ही शिवभक्त और महापाशुपत जानना उचित है ॥ ७४ ।

यह पुण्यवाहिनी गंगा पापरूप धूलि को उड़ाने के लिये बड़ी भारी आँधी है एवं पापरूप वृक्ष को काटने की कुल्हाड़ी है और पापरूप काठों के जलाने में वनाग्नि के तुल्य है ॥ ७५ ।

नानारूपाश्च पितरो गाथा गायन्ति सर्वदा ।
अपि कश्चित् कुलेऽस्माकं गङ्गास्नायी भविष्यति ॥ ७६ ।
देवर्षीन् परिसन्तर्प्य दीनानाथांश्च दुःखितान् ।
श्रद्धया विधिना स्नात्वा दास्यते सलिलाञ्जलिम् ॥ ७७ ।
अपि नः स कुले भूयाच्छिवे विष्णौ च साम्यदृक् ।
तदालयकरो भक्त्या तस्य सम्मार्जनादिकृत् ॥ ७८ ।
अकामो वा सकामो वा तिर्यग्योनिगतोऽपि वा ।
गङ्गायां यो मृतो मर्त्यो नरकं स न पश्यति ॥ ७९ ।
तीर्थमन्यत् प्रशंसन्ति गङ्गातीरे स्थिताश्च ये ।
गङ्गां न बहु मन्यन्ते ते स्युर्निरयगामिनः ॥ ८० ।
मां च त्वाञ्चैव यो द्वेष्टि गङ्गां च पुरुषाधमः ।
स्वकीयैः पुरुषैः सार्धं स घोरं नरकं व्रजेत् ॥ ८१ ।

तदालयकरस्तयोः शिवविष्ण्वोः प्रासादकर्ता । तस्य तयोरालयस्य सम्मार्जनादिकृद् रजोवारणादिकृत् । आदिपदेनोक्षणलेपनादीनि गृह्यन्ते ॥ ७८ ।

तिर्यग्योनिगतोऽपि वेत्यपिशब्दाज्जलजन्त्वादीनि गृह्यन्ते । मृत्योर्मरणधर्मा यः कश्चिदपीत्यर्थः ॥ ७९ ।

गङ्गां न बहु मन्यन्ते सर्वतीर्थाधिकां न मन्यन्त इत्यर्थः ॥ ८० ।

नानारूपधारी पितृगण इस गाथा को सर्वदा गाया करते हैं कि "क्या हम लोगों के वंश में भी कोई गंगास्नायी होगा ॥ ७६ ।

जो देवता और ऋषियों को तृप्त कर दीन, अनाथ एवं दुःखितों को श्रद्धापूर्वक विधि से स्नान कर जलाञ्जलि देवेगा ॥ ७७ ।

क्या हम लोगों के वंश में भी शिव-विष्णु पर समान दृष्टि रखनेवाला एवं भक्तिपूर्वक शिव-विष्णु का मन्दिरनिर्माता, अथवा उनके मन्दिरों का झाड़ने-बटोरने वाला कोई होवेगा" ॥ ७८ ।

इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से हो, गंगा में चाहे तिर्यक्-योनि हो वा मनुष्य ही हो, मृत्यु पा जाने पर फिर नरक को नहीं देखता ॥ ७९ ।

जो लोग गंगातीर पर रहकर दूसरे तीर्थों की प्रशंसा करते हैं और गंगा का परम आदर, सम्मान नहीं करते, वे नरकगामी होते हैं ॥ ८० ।

जो पुरुषाधम मुझसे, तुमसे और गंगा से द्वेष रखता है, वह अपने पुरुषों के साथ नरक में पड़ता है ॥ ८१ ।

षष्टिर्गणसहस्राणि गङ्गां रक्षन्ति सर्वदा।
अभक्तानां च पापानां वासे विघ्नं प्रकुर्वते ॥ ८२ ।
कामक्रोधमहामोहलोभादिनिशितैः शरैः।
घ्नन्ति तेषां मनस्तत्र स्थितिं चापनयन्ति च ॥ ८३ ।
गङ्गां समाश्रयेद्यस्तु स मुनिः स च पण्डितः।
कृतकृत्यः स विज्ञेयः पुरुषार्थचतुष्टये ॥ ८४ ।
गङ्गायां च सकृत्स्नातो हयमेधफलं लभेत्।
तर्पयंश्च पितृंस्तत्र तारयेन्नरकार्णवात् ॥ ८५ ।
नैरन्तर्येण गङ्गायां मासं यः स्नाति पुण्यवान्।
शक्रलोके स वसति यावच्छक्रः सपूर्वजः ॥ ८६ ।
अब्दं यः स्नाति गङ्गायां नैरन्तर्येण पुण्यभाक्।
विष्णोर्लोकं समासाद्य स सुखं संवसेन्नरः ॥ ८७ ।

मोहोऽविवेकस्तस्य महत्त्वं नाम तत्त्वज्ञानमन्तरेणापरिच्छेद्यत्वम्। घ्नन्त्युच्चाटयन्ति। तत्र गङ्गातीरे ॥ ८३ ।

साठ-सहस्र गण सर्वदैव गंगा की रक्षा करते रहते हैं, वे सब अभक्त एवं पापियों के निवास में विघ्न करते है ॥ ८२ ।

वे सब काम, क्रोध, महामोह और लोभादिरूप तीक्ष्ण बाणों से लोगों के चित्त को मारते हैं, और गंगावास भी नहीं होने देते ॥ ८३ ।

जो कोई गंगा का समाश्रयण करे, वही मुनि और पंडित है; उसी जन को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में कृतार्थ समझना योग्य है ॥ ८४ ।

एक बार भी यदि गंगा में स्नान कर ले, तो अश्वमेधयज्ञ के फल को पाता है, और गंगा में पितरों का तर्पण करता है, तो उनका नरकार्णव से उद्धार कर देता है ॥ ८५ ।

जो पुण्यवान् एक मासभर निरन्तर गंगास्नान करता है, वह अपने पूर्वजों के सहित जब लों इन्द्रदेव हैं, तब लों इन्द्रलोक में निवास करता है ॥ ८६ ।

जो पुण्यभागी नर एक वर्षपर्यन्त प्रतिदिन गंगा में नहाता है, वह विष्णुलोक में प्राप्त होकर सुख से वास करता है ॥ ८७ ।

गङ्गायां स्नाति यो मर्त्यो यावज्जीवं दिने दिने ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते मुक्त एव सः ॥ ८८ ॥
तिथिनक्षत्रपर्वादि नापेक्ष्यं जाह्नवीजले ।
स्नानमात्रेण गङ्गायां सञ्चिताऽघं विनश्यति ॥ ८९ ॥
पण्डितोऽपि स मूर्खः स्याच्छक्तियुक्तोऽप्यशक्तिकः ।
यस्तु भागीरथीतीरं सुखसेव्यं न संश्रयेत् ॥ ९० ॥
किं वायुषाप्यरोगेण विकासिन्याथ किं श्रिया ।
किं वा बुद्धचा विमलया यदि गङ्गां न सेवते ॥ ९१ ॥
यः कारयेदायतनं गङ्गाप्रतिकृतेर्नरः ।
भुक्त्वा स भोगान् प्रेत्यापि याति गङ्गासलोकताम् ॥ ९२ ॥

तिथिनक्षत्रपर्वादि यत्सङ्कल्पवाक्यं तन्नापेक्ष्यमित्यर्थः । पर्वादीति पाठे आदिपदेन दिनादिकं गृह्यते ॥ ८९ ।

भागीरथीतीरं सिद्धिक्षेत्रम् । तथा चोक्तम्—गङ्गातीरे वसेन्नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः । सिद्धिक्षेत्रं तु तज्ज्ञेयं यावद्धनुशतत्रयमिति ॥ यस्तु भागीरथीं गङ्गां सुखसेव्यां न सेवत इति क्वचित्पाठस्तदा तु गङ्गामित्युक्ते कावेर्यादावतिप्रसंगः स्यात्तदुक्तं भागीरथीमिति । कावेरी तुङ्गभद्रा च कृष्णा वेणी च गौतमी । भागीरथीति विख्याताः पञ्चगङ्गाः प्रकीर्तिता इति तासामपि गङ्गात्वात् । भागीरथीमित्युक्ते भगीरथेनाधिष्ठितां भागीरथीमित्ययोध्यापुर्यादावपि याति तद्व्यवच्छेदार्थमाह । **गङ्गामिति** ॥ ९०-९१ ।

प्रतिकृतेः प्रतिमायाः ॥ ९२ ।

जो कोई प्रतिदिन जन्मभर गंगा में ही स्नान करता है, उसे (जीते जी) जीवन्मुक्त समझना चाहिये और शरीरान्त होने पर तो वह मुक्त हो ही चुका है ॥ ८८ ।

तिथि, नक्षत्र, पर्व इत्यादि की अपेक्षा जाह्नवीजल में नहीं करनी चाहिये; क्योंकि गंगा तो स्नानमात्र से बटोरे हुए पाप को विनाश कर देती हैं ॥ ८९ ।

जो कि सुखपूर्वक सेवनीय भागीरथीतीर का आश्रय नहीं करता, वह पंडित होने पर भी मूर्ख और शक्तिमान् होने पर भी शक्तिहीन ही है ॥ ९० ।

यदि गंगा की सेवा ही न बन पड़ी, तो नीरोग जीवन से क्या फल मिला ? अथवा खिलती हुई सम्पत्ति का ही कौन-सा प्रयोजन है ? किं वा निर्मलबुद्धि ही लेकर क्या होगी ? ॥ ९१ ।

जो नर गंगा की प्रतिमा स्थापन के लिये मन्दिर बनवा दे, वह विविध-भोगों को भोगकर, मरने पर गंगा के लोक में वास पाता है ॥ ९२ ।

शृण्वन्ति महिमानं ये गङ्गाया नित्यमादरात् ।
गङ्गास्नानफलं तेषां वाचकप्रीणनाद्धनैः ॥ ९३ ।
पितॄनुद्दिश्य यो लिङ्गं स्नपयेद् गाङ्गवारिणा ।
तृप्ताः स्युस्तस्य पितरो महानिरयगा अपि ॥ ९४ ।
अष्टकृत्वो मन्त्रजप्तैर्वस्त्रपूतैः सुगन्धिभिः ।
प्रोचुर्गाङ्गजलैः स्नानं घृतस्नानाधिकं बुधाः ॥ ९५ ।
अष्टद्रव्यविमिश्रेण गङ्गातोयेन यः सकृत् ।
मागधप्रस्थमात्रेण ताम्रपात्रस्थितेन च ॥ ९६ ।
भानवेऽर्घं प्रदद्याच्च स्वकीयपितृभिः सह ।
सोऽतितेजोविमानेन सूर्यलोके महीयते ॥ ९७ ।
आपः क्षीरं कुशाग्राणि घृतं मधु गवां दधि ।
रक्तानि करवीराणि रक्तचन्दनमित्यपि ॥ ९८ ।

वाचकप्रीणनाद्धनैर्द्रव्यैर्वाचकस्य सन्तर्पणादित्यर्थः ॥ ९३ ।

मन्त्रजप्तैः 'ओं नमः शिवाय' इत्यनेन वक्ष्यमाणविंशत्यक्षरगङ्गामन्त्रेण वाऽभिमन्त्रितैः । स्नानं लिङ्गादेरिति शेषः ॥ ९५ ।

अष्टद्रव्यविमिश्रेणेति श्लोकद्वयं वाक्यम् । अष्टद्रव्याण्याप इत्यनेन स्वयं व्याकरिष्यति । मागधप्रस्थमात्रेण सार्धद्वादशपलपरिमितेन ॥ ९६ ।

अष्टद्रव्याण्येवाह । आप इति सार्धेन । क्षीरं घृतं दधीति त्रयाणां गवामित्यनेन सम्बन्धः ॥ ९८ ।

जो लोग नित्य गंगा की महिमा सादर सुनकर वाचक को धन के द्वारा संतुष्ट कर देते हैं, उनको गंगास्नान का फल होता है ॥ ९३ ।

जो कोई पितरों के उद्देश से गंगाजल के द्वारा शिवलिंग को स्नान करावे, तो उसके पितृगण महानरक में पड़े रहने पर भी तृप्ति-लाभ करते हैं ॥ ९४ ।

पंडितगण ने आठबार मन्त्र जपकर वस्त्र से छाने हुए सुगन्धयुक्त गंगाजल के स्नान को घृतस्नान से अधिक कहा है ॥ ९५ ।

जो कोई वक्ष्यमाण आठों द्रव्यों के सहित गंगाजल को एक बार भी मागध-प्रस्थ परिमाण (साढ़े बारह पल—पचास रूपये भर) ताम्रपात्र में रखकर ॥ ९६ ।

सूर्यनारायण को अर्घ दे, वह अपने पितरों के साथ अत्यन्त तेजोमय विमान के द्वारा सूर्यलोक में सादर निवास करता है ॥ ९७ ।

जल, दुग्ध, कुशाग्र, घृत, मधु, गोदधि, रक्त-कनईल, एवं रक्त-चन्दन ॥ ९८ ।

अष्टाङ्गाऽर्घोयमुद्दिष्टस्त्वतीवरवितोषणः ।
गाङ्गैर्वाभिः कोटिगुणो ज्ञेयो विष्णोऽन्यवारितः ॥ ९९ ।
गङ्गातीरे स्वशक्त्या यः कुर्याद्देवालयं सुधीः ।
अन्यतीर्थप्रतिष्ठातो भवेत्कोटिगुणं फलम् ॥ १०० ।
अश्वत्थवटचूतादि वृक्षारोपेण यत्फलम् ।
कूपवापीतडागादिप्रपासत्रादिभिस्तथा ॥ १०१ ।
अन्यत्र यद्भवेत्पुण्यं तद् गङ्गादर्शनाद् भवेत् ।
पुष्पवाटयादिभिश्चापि गङ्गास्पर्शं ततोऽधिकम् ॥ १०२ ।

गाङ्गैरित्यर्धं वाक्यम् । कोटिगुणोऽर्घ इति शेषः ॥ ९९ ।

गङ्गातीर इति । अन्यतीर्थप्रतिष्ठातः पुण्यतीर्थेषु प्रतिष्ठापनात् करणादित्येतत् । देवालयस्येति शेषः ॥ १०० ।

अश्वत्थेति सार्धं वाक्यम् । चूतादीत्यादिपदेन पिचुमन्दादयो गृह्यन्ते । तथा चोक्तम्—

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश तिन्तिणीश्च ।
कपित्थबिल्वामलकत्रयं च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत् ॥ इति ।

कूप उदपानः । वापी दीर्घिका । तडागः पद्माकरः । आदिपदेन कासारादयो गृह्यन्ते । प्रपा पानीयशालिका । सत्रं यज्ञः सदान्नदानं वा । आदिपदेन ब्राह्मणतर्पणादीनि गृह्यन्ते ॥ १०१ ।

पुष्पवाट्यादीत्याधिशब्देनाम्रवाप्यादयो गृह्यन्ते ॥ १०२ ।

हे विष्णो ! यही अष्टांग अर्घ कहलाता है, इससे सूर्यदेव अतीव सन्तुष्ट होते हैं। अन्य जलों की अपेक्षा गङ्गाजल के योग से इसका कोटिगुण फल होता है ॥ ९९ ।

जो सुबुद्धिजन गङ्गातीर पर देवालय को अपनी शक्ति के अनुसार बनवा देता है, उसे अन्य तीर्थ से कोटिगुण फल प्राप्त होता है ॥ १०० ।

अन्यत्र पीपर, बड़, आम्र इत्यादि वृक्षों के रोपने तथा कुंआ, बावली, तड़ाग (तालाब) के बनवाने एवं पौसरा और सदावर्त के चलाने ॥ १०१ ।

अथ च पुष्पवाटिकादिक के लगाने से जो पुण्य होता है, वह गङ्गा के केवल दर्शन से ही प्राप्त हो जाता है। गङ्गा के जलस्पर्श में उससे भी अधिक फल मिलता है ॥ १०२ ।

कन्यादानेन यत्पुण्यं यत्पुण्यं गोऽन्नदानतः ।
तत्पुण्यं स्याच्छतगुणं गङ्गागण्डूषपानतः ॥ १०३ ।
चान्द्रायणसहस्रेण यत्पुण्यं स्याज्जनार्दन ।
ततोऽधिकफलं गङ्गाऽमृतपानादवाप्नुयात् ॥ १०४ ।
भक्त्या गङ्गाऽवगाहस्य किमन्यत्फलमुच्यते ।
अक्षयः स्वर्गवासोऽपि निर्वाणमथवा हरे ॥ १०५ ।
गङ्गायाः पादुकायुग्मं नित्यमर्चति यो नरः ।
आयुः पुण्यं धनं पुत्रान् स्वर्गमोक्षौ च विन्दति ॥ १०६ ।
नास्ति गङ्गासमं तीर्थं कलिकल्मषनाशनम् ।
नास्ति मुक्तिप्रदं क्षेत्रमविमुक्तसमं हरे ॥ १०७ ।
गङ्गास्नानरतं मर्त्यं दृष्ट्वैव यमकिङ्कराः ।
दिशो दश पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा मृगाः ॥ १०८ ।

गङ्गागण्डूषपानतः गङ्गाजलस्य चुलुकमात्रपानात् ॥ १०३ ।

अक्षयः चिरकालावस्थायी । अपीति निश्चये ॥ १०५ ।

पादुकायुग्मं स्थण्डिलादौ चन्दनादिनिर्मितम् ॥ १०६ ।

जो पुण्य कन्यादान से होता है और जो पुण्य गोदान एवं अन्नदान से मिलता है, एक चिल्लू गङ्गाजल पीने से उसका सौगुना पुण्यलाभ होता है ॥ १०३ ।

जनार्दन ! सैकड़ों ही चान्द्रायणव्रत करने में जो पुण्य है, गङ्गा अमृतपान करने से तदपेक्षा अधिक फल प्राप्त होता है ॥ १०४ ।

हरे ! भक्तिपूर्वक गङ्गास्नान का दूसरा कौन-सा फल कहा जावे । अक्षय स्वर्गवास अथवा निर्वाण (मोक्ष) यही दोनों फल हैं ॥ १०५ ।

जो नर गङ्गादेवी की दोनों पादुकाओं की पूजा नित्य ही करता है, उसे आयुष्य, पुण्य, धन, बहुपुत्र, स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १०६ ।

हरे ! गङ्गा के समान कलिकल्मषनाशी अन्य कोई भी तीर्थ नहीं है और न ही अविमुक्त के तुल्य मुक्तिप्रद दूसरा क्षेत्र ही है ॥ १०७ ।

यमराज के किंकरगण गङ्गास्नानपरायण मानव को देखते ही सिंह को देख मृगों के समान दशों दिशाओं में भाग जाते हैं ॥ १०८ ।

गङ्गाभजनशीलस्य गङ्गातटनिवासिनः ।
अर्चां कृत्वा यथान्यायमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०९ ॥
गोभूहिरण्यदानेन भक्त्या गङ्गातटे शुभे ।
नरो न जायते भूयः संसारे दुःखसङ्कटे ॥ ११० ॥
दीर्घायुष्यं च वासोभिर्ज्ञानं पुस्तकदानतः ।
अन्नदानेन सम्पत्तिं कीर्तिं कन्याप्रदानतः ॥ १११ ॥
अन्यत्र यत्कृतं कर्म व्रतं दानं जपस्तपः ।
गङ्गातटे तु तत्सर्वं हरे कोटिगुणं भवेत् ॥ ११२ ॥
धेनुं सवत्सां यो दद्याद् गङ्गातीरे विधानतः ।
गोरोमसंख्यया विष्णो युगान् सर्वसमृद्धिमान् ॥ ११३ ॥
गोलोके मम लोके वा कामधेनुप्रदानतः ।
भुञ्जानः सर्वकामांस्तु दिव्यान्नानाविधान् बहून् ॥ ११४ ॥

गङ्गाभजनशीलस्येति श्लोकद्वयं वाक्यम् ॥ १०९॥
दुःखसङ्कटे दुःखसम्बाधे ॥ ११० ।
दीर्घायुष्यमित्यादि द्वितीयान्तेषु चतुर्षु पदेषु प्राप्नोतीति शेषः। लभेदिति पूर्वक्रियया वाऽन्वयः। वासोभिरित्यादि तृतीयान्तेषु चतुर्षु पदेषु च गङ्गातट इत्यनुषज्जते। वासोभिर्दत्तैरिति शेषः ॥ १११-११२ ।

धेनुमिति षड्भिः श्लोकैर्वाक्यम्। सवत्सां वत्ससहिताम्। यो नैचिकीमिति क्वचित्पाठस्तत्र नैचिकीं गोषु मध्ये उत्तमाम्। उत्तमा गोषु नैचिकीत्यमरः। यो द्विमुखीमिति चान्यत्र। तत्र द्विमुखीं प्रसूयमानाम्। पयस्विनीमिति चाऽपरत्र। तत्र पयस्विनीं बहुदुग्धदोग्ध्रीम् ॥ ११३ ।

गङ्गाभजनतत्पर और गङ्गातट-निवासी मनुष्य की यथोचित पूजा करने से अश्वमेधयज्ञ का फल-लाभ होता है ॥ १०९।

भक्तिपूर्वक पवित्र गङ्गातट पर गौ, भूमि और सुवर्ण आदि के दान करने से मनुष्य दुःख, संकट, संसार में पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ ११० ।

वस्त्रदान से दीर्घायु, पुस्तकदान के द्वारा ज्ञान, अन्नदान से सम्पत्ति और कन्यादान के द्वारा यशोवृद्धि प्राप्त होती है ॥ १११ ।

हरे! अन्य स्थान में व्रत, दान, जप, तप आदि के करने की अपेक्षा गङ्गातट पर यह सब कोटिगुण (फलप्रद) हो जाते हैं ॥ ११२ ।

विष्णो! जो कोई गङ्गातट पर सवत्सा धेनु को विधान से दान करे, वह कामधेनु दान के प्रभाव से पितृगण, सुहृद् और बान्धवों के सहित सर्वकामों को भोगता

देवानामप्यलभ्यांश्च भुक्त्वा तु सह बान्धवैः ।
पितृभिश्च सुहृद्भिश्च सर्वरत्नविभूषितः ॥ ११५ ।
जायते सत्कुले पश्चाद्धनधान्यसमाकुले ।
रत्नकाञ्चनसम्पन्ने शीलविद्यासमन्विते ॥ ११६ ।
भुक्त्वा स विपुलान् भोगान् पुत्रपौत्रसमन्वितः ।
पुनर्गङ्गां समासाद्य काश्यामुत्तरवाहिनीम् ॥ ११७ ।
विश्वेश्वरं समाराध्य प्राग्जनुर्वासनावशात् ।
कालाद्देहान्तमासाद्य ब्रह्म सम्पद्यते ततः ॥ ११८ ।
विवर्तनद्वयमपि भूमेर्भागीरथीतटे ।
नरो ददाति यो भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ११९ ।
तद्भूमित्रसरेणूनां संख्यया युगमानया ।
महेन्द्रचन्द्रलोकेषु भुक्त्वा भोगान् मनः प्रियान् ॥ १२० ।

कामधेनुप्रदानतः पूर्वोक्तायाः कामधेनोर्दानात् । कामधेनुव्रजावृत इति क्वचित् । तत्र गोलोके कामधेनुसमूहेन वृतः मम लोके चेन्मदीयैर्गणैर्वृत इति ज्ञेयम् । उभयत्र वा तथा ॥ ११४-११५ ।

शीलं सदाचारः विद्या उपासनादिरूपा ताभ्यां समन्विते ॥ ११६ ।

प्राग्जनुर्वासनावशात् पूर्वजन्मसंस्काराभ्यासात् । ब्रह्म विदेहकैवल्यम् ॥ १८ ।

विवर्तनद्वयमिति पञ्चभिः श्लोकैर्वाक्यम् । विवर्तनद्वयं निवर्तनद्वयमित्यर्थः । अयमेव वा पाठः । षष्टिदण्डप्रमाणमप्यंशमित्यर्थः । तदुक्तम् । चतुर्हस्तो भवेद्दण्डस्त्रिंशद्दण्डा निवर्तनमिति ॥ ११९ ।

हुआ, अशेष रत्नों से विभूषित, समस्त सम्पत्तियों से सम्पन्न होकर, गौ के रोमसंख्यक युगों तक गोलोक अथवा मेरे लोक में देवतागण के भी अलभ्य नानाविध अनेक दिव्य भोगों को भोगकर, फिर धन-धान्य से पूर्ण, रत्न-सुवर्ण आदि से सम्पन्न, शील-विद्या-समन्वित सत्कुल में जन्म ग्रहण करता है ॥ ११३-११६ ।

वहाँ भी पुत्र-पौत्रों के सहित विपुल भोगों का सुख लेकर (भोगकर) पूर्वजन्म के वासनावश पुनः काशीधाम में उत्तरवाहिनो गङ्गा को प्राप्त हो विश्वेश्वर की आराधना कर यथाकाल देहान्त हो जाने से विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है ॥ ११७-११८ ।

जो नर भागीरथी के तट पर दो विवर्तन परिमाण (चार हाथ का दण्ड, तीस दण्ड का एक विवर्तन) भी भूमि दान करता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥ ११९ ।

उस भूमि के जितने ही त्रसरेणु (धूलिकणिका) है, उतने ही युग परिमाण (से) इन्द्र और चन्द्रलोक में मनोवांछित भोगों को भोगकर ॥ १२० ।

सप्तद्वीपपतिर्भूत्वा महाधर्मपरायणः ।
नरकस्थान् पितॄन् सर्वान् प्रापयेत्त्रिदिवं हरे ॥ १२१ ।
स्वर्गस्थांश्च पितॄन् सर्वान् मोचयित्वा महाद्युतिः ।
अन्ते ज्ञानाऽसिना छित्त्वा ह्यविद्यां पाञ्चभौतिकीम्॥ १२२ ।
परं वैराग्यमापन्नो युञ्जानो योगमुत्तमम् ।
प्राप्याऽथवाऽविमुक्तं च परं ब्रह्माऽधिगच्छति ॥ १२३ ।
सुवर्णमात्रमपि यः सुवर्णं सम्प्रयच्छति ।
सुवर्णाय सुवर्णं च हरे भागीरथीतटे ॥ १२४ ।
स हेमरत्नखचिते विमाने सर्वगे शुभे ।
सर्वैश्वर्यसमायुक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥ १२५ ।

मोचयित्वा मोक्षं दापयित्वा पाञ्चभौतिकीं पञ्चभूताकारेण परिणतामविद्यां छित्त्वा देहेऽभिमानं त्यक्त्वेत्यर्थः । पञ्चपर्विकामिति पाठे तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञित इति विष्णुपुराणोक्तामि पञ्चपर्वाणि यस्यास्तामित्यर्थः ॥ १२२ ।

युञ्जानो घटयन् कुर्वन्नित्येतत् । योगं जीवपरमात्मनोरैक्यम् । अष्टाङ्गयागे व्यवच्छेदार्थमुत्तममिति विशेषणम् । अथवाऽविमुक्तं प्राप्य देहावसाने परं कैवल्यं गच्छतीति ॥ १२३ ।

सुवर्णमिति श्लोकचतुष्टयं वाक्यम् । सुवर्णमात्रमपि अशीतिरक्तिकामात्रमपि सुवर्णं स्वर्णं सुवर्णाय शोभनवर्णाय ब्राह्मणायेत्यर्थः । सुवर्णं शोभनवर्णमत्युत्कृष्ट-मित्यर्थः ॥ १२४ ।

खचिते सम्बद्धे ॥ १२५ ।

फिर महाधर्मपरायण सप्तद्वीपाधिपति हो नरकनिवासी समस्त पितरों को स्वर्ग में पहुँचा देता है और हे हरे ! स्वर्गवासी सकल पितृगण को मुक्त कर वह महातेजस्वी स्वयं अन्त में ज्ञानरूपी तलवार से पञ्चभूतमयी अविद्या (अज्ञान-मोह) को काट परम वैराग्य प्राप्त कर, उत्तम योगाभ्यास करता हुआ अविमुक्तक्षेत्र में जाकर परब्रह्मपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ १२१-१२३ ।

हरे ! जो कोई भागीरथी के तट पर सुवर्णमात्र (अस्सी रत्ती-१० मासे अर्थात् एक रूपया भर) सुवर्णं (सुन्दर रंग का—चोखा) सुवर्ण (सोना) सुवर्ण (उत्तम वर्ण—ब्राह्मण) को दान करता है ॥ १२४ ।

हे विष्णो ! वह ब्रह्माण्डमण्डल के अन्तर्गत समस्त लोकों में सर्वपूजित एवं अशेष ऐश्वर्य से युक्त हो, सुवर्ण-रत्न-खचित सर्वत्र गामी शुभ विमान पर चढ़

ब्रह्माण्डान्तरसंस्थेषु भुञ्जन् भोगान् मनोरमान् ।
सर्वैः सम्पूजितो विष्णो यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १२६ ।
एकराट् च ततो भूत्वा जम्बूद्वीपे प्रतापवान् ।
ततोऽविमुक्तमासाद्य पदं निर्वाणमृच्छति ॥ १२७ ।
जन्मर्क्षे तु कृते स्नाने गङ्गायां भक्तिपूर्वकम् ।
जन्मप्रभृतिपापौघात् सञ्चितान्मुच्यते क्षणात् ॥ १२८ ।
वैशाखे कार्तिके माघे गङ्गास्नानं सुदुर्लभम् ।
दर्शे शतगुणं पुण्यं सङ्क्रान्तौ च सहस्रकम् ॥ १२९ ।
चन्द्रसूर्यग्रहे लक्षं व्यतीपाते त्वनन्तकम् ।
अयुतं विषुवे चैव नियुतं त्वयनद्वये ॥ १३० ।

ब्रह्माण्डान्तरसंस्थेषु सर्वलोकेष्विति सम्बन्धः। यावदाभूतसंप्लवं भूतानां प्रलयावधिपर्यन्तमित्यर्थः। यावदाहूतसंप्लवमिति पाठे आहूतपदेनाहुतिकार्यं जगदुच्यते। दीर्घश्छान्दसः। तथा च श्रुतिः—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ इति।

आहुतिकार्यप्रलयपर्यन्तमित्यर्थः ॥ १२६।

एक एवराजत इत्येकराट् चक्रवर्तीत्यर्थः ॥ १२७।

दर्शेऽमावास्यायाम् ॥ १२९।

अमावास्यायुक्तो रविवासरो व्यतीपातो योगविशेषो वा । अयुतं विषुवे चेति। विषुवे मेषसङ्क्रमणे। अक्षयं वैधृतौ चैवेति पाठे वैधृतिरपि योगविशेष एव। नियुतं लक्षम्। एकं शतसहस्रन्तु नियुतं लक्षमुच्यत इति ब्रह्माण्डदर्शनात् ॥ १३०।

महाप्रलयकालपर्यन्त मनोरम भोगों को भोग अनन्तर जम्बूद्वीप में प्रतापशाली एकछत्री राजा होकर पश्चात् अविमुक्त क्षेत्र के लाभ करने पर मोक्षपद को प्राप्त होता है ॥ १२५-१२७।

जन्म नक्षत्र के दिन भक्तिपूर्वक गंगा में स्नान करने से आजन्म सीचित पाप समूह से उसी क्षण छूट जाता है ॥ १२८।

वैशाख, कार्तिक और माघ मास में गंगास्नान अतिदुर्लभ है, अमावास्या में सौ गुना, संक्रान्ति में सहस्रगुणा ॥ १२९।

चन्द्र-सूर्य के ग्रहण में लक्षगुण तथा व्यतीपात योग में अनन्तगुण फल होता है एवं विषुव संक्रान्ति में अयुत गुण और दोनों अयन-संक्रान्तियों में नियुत गुण है ॥ १३०।

सोमग्रहः सोमदिने रविवारे रवेर्ग्रहः ।
तच्च चूडामणिपर्वाख्यं तत्र स्नानमसंख्यकम् ।। १३१ ।
स्नानं दानं जपो होमो यद्यच्चूडामणौ कृतम् ।
तदक्षयं सर्वमिह विष्णो भागीरथीतटे ।। १३२ ।
श्रद्धया भक्तियुक्तस्तु गङ्गां स्नात्वा विधानतः ।
ब्रह्महाऽपि विशुद्ध्येत किं पुनस्त्वन्यपातकी ।। १३३ ।
कृमिकीटपतङ्गाद्या ये मृता जाह्नवीतटे ।
कूलात्पतन्ति ये वृक्षास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। १३४ ।
ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशम्यां हस्तसंयुते ।
गङ्गातीरे तु पुरुषो नारी वा भक्तिभावतः ।। १३५ ।

असंख्यकमसंख्यातफलजनकमित्यर्थः ।। १३१ ।

इह जगति भागीरथीतटे भागीरथ्यां तत्तटे चेत्यर्थः । तत्र तीरं धनुः शतत्रय-परिमितमिति ज्ञातव्यम् । गङ्गातीरे वसेन्नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः । सिद्धिक्षेत्रन्तु तज्ज्ञेयं यावद्धनुशतत्रयमिति वचनादित्युक्तमेव ।। १३२ ।

ज्येष्ठ इति सपादश्लोको वाक्यम् । हस्तसंयुते हस्तनक्षत्रसंयुक्त इति ज्येष्ठमासस्य सितपक्षस्य वा विशेषणम् । हस्तसंयुते हस्तसंयुतायामिति वा । ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी हस्तसंयुतेति भविष्यदर्शनात् ।। १३५ ।

यदि सोमवार को चन्द्रग्रहण तथा रविवार को सूर्यग्रहण होवे, तो वह चूड़ामणि पर्व हो जाता है, उस (चूड़ामणि) योग में गंगास्नान करने से असंख्य गुण फल होता है ।। १३१ ।

विष्णो ! इस भूलोक में भागीरथी के तट पर स्नान, दान, जप, होम, जो-जो चूड़ामणि योग में किया जावे, वह सब अक्षय होता है ।। १३२ ।

श्रद्धा-भक्ति के सहित विधानपूर्वक गंगास्नान करने से ब्रह्मघाती भी शुद्ध हो जाता है, दूसरे पातकियों की कौन बात है ? ।। १३३ ।

जाह्नवीतट पर कृमि, कीट, पतंग आदि जो ही प्राणी मरते हैं, अथवा जो वृक्षादिक कूल (करारे) से गिर पडते हैं, वे सब परम गति को प्राप्त होते हैं ।। १३४ ।

हे हरे ! ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष में हस्तनक्षत्रसंयुक्त दशमी तिथि को सुबुद्धि नर अथवा नारी, गंगातट पर भक्तिभाव से ।। १३५ ।

निशायां जागरं कुर्याद् गङ्गां दशविधैर्हरे ।
पुष्पैः सुगन्धैर्नैवेद्यैः फलैर्दशदशोन्मितैः ॥ १३६ ।
प्रदीपैर्दशभिर्धूपैर्दशाङ्गैर्गरुडध्वज ।
पूजयेच्छ्रद्धया धीमान् दशकृत्वो विधानतः ॥ १३७ ।
साज्यांस्तिलान्क्षिपेत्तोये गङ्गायाः प्रसृतीर्दश ।
गुडसक्तुमयान् पिण्डान् दद्याच्च दशमन्त्रतः ॥ १३८ ।
नमः शिवायै प्रथमं नारायण्यै पदं ततः ।
दशहरायै पदमिति गङ्गायै मन्त्र एष वै ॥ १३९ ।
स्वाहान्तः प्रणवादिश्च भवेद्विंशाक्षरो मनुः ।
पूजा दानं जपो होमोऽनेनैव मनुना स्मृतः ॥ १४० ।

गङ्गामिति पादोनश्लोकद्वयं वाक्यम् । गङ्गां दशविधैर्दशप्रकारैः पुष्पादिभिर्दशकृत्वो दशवारान् पूजयेदित्यन्वयः । कथम्भूतैः पुष्पादिभिः । दशदशोन्मितैः प्रतिवारं दश दश संख्यया परिमितैः ॥ १३६ ।

दशाङ्गधूपानां लक्षणं चैतत्—

षड्भागकुष्ठो द्विगुणो गुडश्च लाक्षात्रयं पञ्च नखस्य भागाः ।
हरीतकी सर्जरसश्च मांसी भागत्रयं चैव तु शैलजस्य ॥
घनस्य चत्वारि पुरस्य चैको दशाङ्गधूपः कथितो मुनीन्द्रैः ॥ इति । १३७ ।

प्रसृतीरत्राञ्जलीन् । मन्त्रतो मन्त्रेण ॥ १३८ ।

मन्त्रं दर्शयन् मन्त्रमुद्धरति । नम इति सार्धेन ॥ १३९ ।

मनुना मन्त्रेण ॥ १४० ।

रात्रि में जागरण करे और दिन में दश प्रकार के पुष्प, सुगन्ध, नैवेद्य, दशविध फल ॥ १३६ ।

दश दीपक, दशांग धूप आदि के द्वारा यथाविधि श्रद्धासहित दश बार गंगा की पूजा करे ॥ १३७ ॥

दश प्रसृति (पसर) सघृत तिल गंगा के जल में डाल देवे और वक्ष्यमाण मन्त्र से गुड़ और सत्तू के बने दश पिण्डे चढ़ा देवे ॥ १३८ ।

पूर्व में "नमः शिवायै" तिस पर "नारायण्यै" पद है, अनन्तर "दशहरायै" और फिर "गंगायै" इन्हीं पदों से यह मन्त्र हो जाता है ॥ १३९ ।

इसके अन्त में "स्वाहा" और आदि में "प्रणव" लगा देने से यह बीस अक्षर का मन्त्र होता है । इसी मन्त्र से पूजा, दान, जप, होम सब कुछ कहा गया है ॥१४०।

हेम्ना रूप्येण वा शक्त्या गङ्गामूर्ति विधाय च ।
वस्त्राच्छादितवक्त्रस्य पूर्णकुम्भस्य चोपरि ॥ १४१ ।
प्रतिष्ठाप्यार्चयेद्देवीं पञ्चामृतविशोधिताम् ।
चतुर्भुजां त्रिनेत्राञ्च नदीनदनिषेविताम् ॥ १४२ ।
लावण्यामृतनिष्पन्दसंशीलद्गात्रयष्टिकाम् ।
पूर्णकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम् ॥ १४३ ।
ततो ध्यायेत् सुसौम्यां च चन्द्रायुतसमप्रभाम् ।
चामरैर्वीज्यमानां च श्वेतच्छत्रोपशोभिताम् ॥ १४४ ।
सुधाप्लावितभूपृष्ठां दिव्यगन्धानुलेपनाम् ।
त्रैलोक्यपूजितपदां देवर्षिभिरभिष्टुताम् ॥ १४५ ।
ध्यात्वा समर्च्य मन्त्रेण धूपदीपोपहारतः ।
मां च त्वां च विधिं ब्रध्नं हिमवन्तं भगीरथम् ॥ १४६ ।

पञ्चामृतेन विशोधितां स्नापिताम् । ध्यानमाह । चतुर्भुजामिति सार्धत्रयेण । ततो ध्यायेदिति द्वितीयश्लोकस्य प्रथमं चरणं प्रथमतो ज्ञातव्यम् ॥ १४२ ।

लावण्यं सौन्दर्यं तदेवाऽमृतं तस्य निष्यन्दः स्रवणम् । निष्यन्देति पाठेऽपि स एवाऽर्थस्तेन संशीलन्ती गात्रमेव यष्टिका यस्यास्ताम् । पूर्णकुम्भसिताम्भोजाभ्यां सहिता वरदाभया भक्तानां भयनिवारकाः सन्तः करा यस्यास्ताम् ॥ १४३ ।

विधिं ब्रह्माणम् । ब्रध्नं सूर्यम् ॥ १४६ ।

सोना, रूपा (चाँदी) यथाशक्ति वस्तु से गंगा की मूर्ति बनाकर फिर वस्त्र से मुख ढंपे जलपूर्ण घट के ऊपर प्रतिष्ठित कर पंचामृत से नहवाय देवी की पूजा करे और तब उनका ध्यान करे। गंगा चतुर्भुजा त्रिनेत्रा नदी-नदनिषेविता हैं ॥१४१-१४२।

उनके शरीर-यष्टि में सौन्दर्य-अमृत का झरना घूम रहा है। उनके उत्तम चारों हाथों में पूर्ण कुम्भ, श्वेत कमल, वर और अभय विराजमान हैं ॥ १४३ ।

वह अत्यन्त सौम्यरूपा, अयुतचन्द्रसमान कान्ति, चामरों से वीजिता एवं श्वेतछत्र से शोभिता हैं ॥ १४४ ।

वह अमृतसिंचन से भूतल को प्लावित करती हैं, दिव्य गन्ध का अनुलेपन किये हैं। त्रैलोक्य भर में उनका चरण पूजित है और देवता एवं ऋषिगण से उनकी स्तुति की जा रही है ॥ १४५ ।

इस प्रकार से ध्यान कर, पूर्वोक्त मन्त्र के द्वारा धूपदीपादि उपहार से पूजन कर, प्रतिमा के आगे चन्दन और अक्षत से निर्मित मेरी, तुम्हारी, ब्रह्मा की, सूर्य

प्रतिमाग्रे समभ्यर्च्य चन्दनाक्षतनिर्मिताम् ।
दश प्रस्थतिलान् दद्याद्दशविप्रेभ्य आदरात् ।। १४७ ।

पलं च कुडवः प्रस्थ आढको द्रोण एव च ।
धान्यमानेन बोद्धव्याः क्रमशोऽमी चतुर्गुणाः ।। १४८ ।

मत्स्यकच्छपमण्डूकमकरादि जलेचरान् ।
हंसकारण्डवबकचक्रटिट्टिभसारसान् ।। १४९ ।

यथाशक्ति स्वर्णरूप्यताम्रपृष्ठविनिर्मिताम् ।
अभ्यर्च्य गन्धकुसुमैर्गङ्गायां प्रक्षिपेद् व्रती ।। १५० ।

प्रस्थस्य मानं दर्शयन् पलादीनां चतुर्णामपि मानमाह। पलञ्चेति। अमी पलादयः। धान्यमानेन मुष्टिपरिमितधान्यप्रमाणेन।

पलद्वयं तु प्रसृतिर्मुष्टिरेकं पलं स्मृतम्।
अष्टमुष्टिर्भवेत्किञ्चित् किञ्चिदष्टौ तु पुष्कलम् ।। इति स्मृतेः ।।

क्रमाच्चतुर्गुणा बोद्धव्या ज्ञातव्या इत्यर्थः। अयमर्थः—मुष्टिपरिमितं धान्यमेकं पलम्। चतुर्भिः पलैरेकः कुडवः। चतुर्भिः कुडवैरेकः प्रस्थः। यद्यपि पलद्वयं तु प्रसृतिरित्युक्तम्, तथापि मतिभेदादयं परिमाणभेद इति ज्ञातव्यम्। चतुर्भिः प्रस्थैरेक आढकः। चतुर्भिराढकैरेको द्रोण इति ।। १४८ ।

कारण्डवः पक्षिविशेषः। चक्रश्चक्रवाकः। टिट्टिभः पक्षिविशेषः। सारसः पुष्करः ।। १४९ ।

स्वर्णरूप्यताम्रपृष्ठविनिर्मितान् स्वर्णादिमयपात्रोपरि चन्दनादिलिखितानित्यर्थः। पिष्टनिर्मितानिति क्वचित् ।। १५० ।

की, हिमालय को और भागीरथ को पूजा करे, पश्चात् दश जन ब्राह्मणों को सादर दश प्रस्थ तिल दान देवे ।। ४६-४७ ।

पल (एक मुट्ठी धान) कुड़व, प्रस्थ, आढक और द्रोण, इन सब को धान्य परिमाणानुसार क्रमशः एक से दूसरे को चतुर्गुण अधिक जानना चाहिये ।। १४८ ।

मत्स्य, कच्छप, मकर (मगर) इत्यादि जलचर जन्तु एवं हंस, कारंडव (कडरुआ), बक, चक्रवाक, टिट्टिभ (टिटिहरी), सारस आदि जलपक्षियों को ।। १४९ ।

'यथाशक्ति सुवर्ण, रूपा, तामा आदि के पत्तल पर चन्दनादि से बना कर गन्धपुष्प से पूजन कर व्रतीजन उन सब को गंगा में डाल देवें ।। १५० ।

एवं कृत्वा विधानेन वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
उपवासी वक्ष्यमाणैर्दशपापैः प्रमुच्यते ॥ १५१ ।
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च कायिकं त्रिविधं स्मृतम् ॥ १५२ ।
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ १५३ ।
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।
वितथाऽभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम् ॥ १५४ ।
एतैर्दशविधैः पापैर्दशजन्मसमुद्भवैः ।
मुच्यते नात्र सन्देहः सत्यं सत्यं गदाधर ॥ १५५ ।
उद्धरेन्नरकात्पूर्वान् दश घोरान् दशावरान् ।
वक्ष्यमाणमिदं स्तोत्रं गङ्गाऽग्रे श्रद्धया जपेत् ॥ १५६ ।

परुषमेव पारुष्यं कठोरवचनमित्यर्थः । असम्बद्धप्रलापो निष्प्रयोजनवाग्व्यवहारः ॥ १५३ । वितथाऽभिवेशो मिथ्याभूतेषु कार्येष्वाग्रहः ॥ १५४ ।

उद्धरेदिति । घोरान्नरकादित्यन्वयः ॥ १५६ ।

वित्तशाठ्य से विवर्जित होकर इस विधान से उपवास करने पर वह जन इन दश प्रकार के पापों से छूट जाता है ॥ १५१ ।

विना दिये हुए किसी के वस्तु को ले लेना १, यज्ञादिविधि के विना हिंसा, २, परस्त्रीसेवन ३, ये तीनों शारीरिक पाप हैं ॥ १५२ ।

कठोर वचन १, असत्य भाषण २, सब प्रकार की पिशुनता (चुगली) ३, निष्प्रयोजन प्रलाप (बकवाद) ४, ये चारों ही वाचिक पाप हैं ॥ १५३ ।

परद्रव्यों पर अभिध्यान १, मन ही मन अनिष्ट-चिन्तन २, और असत्य वस्तुओं में आग्रह ३, ये तीनों मानसिक पाप हैं ॥ १५४ ।

हे गदाधर ! इन दश जन्मार्जित दशविध पापों से निश्चय मुक्त हो जाता है, यह बारम्बार सत्य है ॥ १५५ ।

और इस दशमी के व्रत को करनेवाला, दश पूर्व और दश पर (बाद के) के पुरुषों का घोर नरक से उद्धार करता है । यदि श्रद्धापूर्वक इस वक्ष्यमाण स्तोत्र को गंगा के आगे जपे ॥ १५६ ।

ॐ नमः शिवायै गङ्गायै शिवदायै नमो नमः ।
नमस्ते विष्णुरूपिण्यै ब्रह्ममूर्त्यै नमोऽस्तु ते ॥१॥१५७।
नमस्ते रुद्ररूपिण्यै शाङ्कर्यै ते नमो नमः ।
सर्वदेवस्वरूपिण्यै नमो भेषजमूर्तये ॥२॥१५८।
सर्वस्य सर्वव्याधीनां भिषक्श्रेष्ठ्यै नमोऽस्तु ते ।
स्थास्नुजङ्गमसम्भूतविषहन्त्र्यै नमोऽस्तु ते ॥३॥१५९।
संसारविषनाशिन्यै जीवनायै नमोऽस्तु ते ।
तापत्रितयसंहन्त्र्यै प्राणेश्यै ते नमो नमः ॥४॥१६०।

स्तोत्रमेवाह। ॐनम इति। मङ्गलार्थं ओंकारः। शिवायै निःश्रेयसरूपिण्यै। भगीरथः स्वर्गाद् गामानीतवानिति गङ्गा। तदुक्तं भविष्ये—

यस्माद् भगीरथो देवि स्वर्गाद् गां त्वामिहानयत् ।
अतस्त्वं मुनिभिः सर्वैर्गङ्गेति परिगीयसे ॥ इति ।

शिवायै निःश्रेयसदायै। नमो नम इत्यादरे वीप्सा। विष्णुरूपिण्यै वैष्णव्यै। ब्रह्ममूर्त्यै सावित्र्यै ॥ १ ॥ १५७।

रुद्ररूपिण्यै माहेश्वर्यै। विष्ण्वादित्रितयरूपिण्या इति वाऽर्थः। शङ्करसम्बन्धिन्यै शाङ्कर्यै। सर्वदेवस्वरूपिण्यै सर्वदेवतामय्या इत्यर्थः। भेषजमूर्तये संसाररोगस्येति शेषः। यद्वा रोगमात्रस्यौषधमूर्तये। उक्तञ्च—

शरीरे जर्जरीभूते व्याधिभिः परिपीडिते ।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ॥ इति । २ ॥ १५८।

न केवलं संसाररोगस्य रोगमात्रस्य वा औषधरूपायै; किन्तु सर्वस्य प्राणिमात्रस्य सर्वेषां रोगाणां भिषक्श्रेष्ठ्यै श्रेष्ठवैद्यरूपायै। स्थास्नुभ्यो वृक्षादिभ्यो जङ्गमेभ्यः सर्पादिभ्यश्च सम्भूतं यद्विषं तस्य हन्त्र्यै ॥ ३ ॥ १५९।

संसारे यद्विषं संसार एव वा विषं तस्य नाशिन्यै। जीवनायै जीवयतीति जीवना जलस्वरूपा वा तस्यै जीवनरूपाया इति वा। तापत्रितयसंहन्त्र्यै आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयस्य सम्यक् छेत्र्यै। प्राणेश्यै जीवरूपायै अन्तर्यामिरूपायै इति वा। प्राणस्य प्राण इति श्रुतेः ॥ ४ ॥ १६०।

शिवस्वरूपा, मंगलदात्री, गंगा को बारम्बार नमस्कार है, विष्णुस्वरूपा आप को नमस्कार है। ब्रह्मरूपिणी आपको नमस्कार है ॥ १ ॥ १५७।

रुद्रस्वरूपा, आप को नमस्कार, शंकरी को नमस्कार, सर्वदेवस्वरूपिणी, संसाररोग की औषधिमूर्ति आपको नमस्कार है ॥ २ ॥ १५८।

सब किसी के सकलव्याधिनाशन में उत्तमा वैद्यरूपा आपको नमस्कार, स्थावर, जंगम से उत्पन्न विषविनाशिनी आपको नमस्कार है ॥ ३ ॥ १५९।

संसारविघातिनी जीवनरूपा आपको नमस्कार है। दैहिक, दैविक, भौतिक त्रिविध तापहन्त्री प्राण की ईश्वरी आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ४ ॥ १६०।

शान्तिसन्तानकारिण्यै नमस्ते शुद्धमूर्तये ।
सर्वसंशुद्धिकारिण्यै नमः पापारिमूर्तये ॥५॥१६१॥
भुक्तिमुक्तिप्रदायिन्यै भद्रदायै नमो नमः ।
भोगोपभोगदायिन्यै भोगवत्यै नमोऽस्तु ते ॥६॥१६२॥
मन्दाकिन्यै नमस्तेऽस्तु स्वर्गदायै नमो नमः ।
नमस्त्रैलोक्यभूषायै त्रिपथायै नमो नमः ॥७॥१६३॥
नमस्त्रिशुक्लसंस्थायै क्षमावत्यै नमो नमः ।
त्रिहुताशनसंस्थायै तेजोवत्यै नमो नमः ॥८॥१६४॥

शान्तिरारोग्यम् । सन्तानो वंशः अथवा शान्तेः सन्तानः शान्तिपरम्परा तत्कारिण्यै शान्तिसन्तानकारिण्यै । शुद्धमूर्तये निर्मलमूर्तये ब्रह्ममूर्तय इति वा । शुद्धमपापविद्धमिति श्रुतेः । सर्वस्य प्राणिमात्रस्य संशुद्धिकारिण्यै । पापस्य पापमात्रस्य शत्रुमूर्तये ॥ ५ ॥ १६१ ।

भुक्तिमुक्तिप्रदायिन्यै सुखमोक्षप्रदायिन्यै । भद्रदायै कल्याणदायै । भुज्यतेऽनेनेति भोगः साधनम्, उपभोगः सुखं फलमित्येतद् वैपरीत्यं वा । यद्वा भोग ऐहिकं उपभोगः पारलौकिकस्तद्दायिन्यै । रातेर्दातुः परायणमिति श्रुतेः । भोगवत्यै पातालान्तर्गतसरिद्रूपिण्यै । भोगवतीति चाध इति भागवतदर्शनात् ॥ ६ ॥ १६२ ।

मन्दाकिन्यै वियद्गङ्गायै । स्वर्गदायै आनन्ददात्र्यै । त्रैलोक्यभूषायै त्रैलोक्यस्यालङ्करणरूपायै । त्रिपथायै त्रिलोकेषु पन्था मार्गो यस्याः सा तथा, त्रयाणां धर्मार्थकाममोक्षाणां पन्था मार्गभूता इति वा तद्रूपायै ॥ ७ ॥ १६३ ।

त्रिषु शुक्लेषु शुद्धेषु गङ्गाद्वारप्रयागसागरसङ्गमेषु सम्यक्स्था संस्था स्थितिर्यस्यास्तस्यै । तदुक्तं वाराहे—

सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा ।
गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ॥ इति ।

शान्तिसन्तानकारिणी, शुद्धमूर्ति आपको नमस्कार है, प्राणिमात्र सब किसी की शुद्धिविधायिनी पापों की शत्रुस्वरूपा आपको नमस्कार है ॥ ५ ॥ १६१ ।

भुक्ति, मुक्ति प्रदायिनी कल्याणकर्त्री को नमस्कार है, ऐहिक और पारलौकिक भोग एवं उपभोगों की दात्री भोगवती नाम्नी पातालगंगारूपा आपको नमस्कार है ॥ ६ ॥ १६२ ।

मन्दाकिनीरूपा स्वर्गंगा को नमस्कार है। स्वर्गदात्री आपको नमस्कार है । त्रैलोक्यभूषणमूर्ति आपको नमस्कार है । त्रिमार्गगामिनी (आप) को बारम्बार नमस्कार है ॥ ७ ॥ १६३ ।

गंगाद्वार, प्रयाग और सागरसंगम इन तीनों उज्ज्वल स्थानों में विशेष स्थितिशालिनी आपको नमस्कार है । क्षमावती को नमस्कार है । गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय नामक तीनों अग्नियों को वासभूमि तेजस्वती को नमस्कार है ॥८॥ १६४ ।

नन्दायै लिङ्गधारिण्यै सुधाधारात्मने नमः ।
नमस्ते विश्वमुख्यायै रेवत्यै ते नमो नमः ॥९॥१६५।
बृहत्यै ते नमस्तेऽस्तु लोकधात्र्यै नमोऽस्तु ते ।
नमस्ते विश्वमित्रायै नन्दिन्यै नमो नमः ॥१०॥१६६।
पृथ्व्यै शिवामृतायै च सुवृषायै ते नमो नमः ।
परापरशताढ्यायै तारायै ते नमो नमः ॥११॥१६७।

यद्वा त्रिषु कालेषु शुक्लेन शुद्धेन ब्रह्मरूपेणेति यावत् । सम्यक स्थितिर्यस्यास्तस्यै। तदुक्तम्—

योऽसौ निरञ्जनो देवश्चित्स्वरूपी जनार्दनः ।
स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नाऽत्र संशयः ॥ इति ।

यद्वा महेश्वरचन्द्रमण्डलहिमालयेषु कैलासेषु वा त्रिशुक्लेषु संस्थायै । यद्वा त्रिशुक्लवच्छङ्खकुन्देन्दुवत् संस्था आकृतिर्यस्यास्तस्यै । तथा च श्रूयते गङ्गास्तोत्रे। शङ्खकुन्देन्दुधवला महापातकनाशिनीति । क्षमावत्यै क्षमाकर्त्र्यै । त्रिहुताशनसंस्थायै दक्षिणाग्निर्गार्हपत्याहवनीयौ त्रयोऽग्नयस्तेषु संस्थायै । तेजोवत्यै दीप्तिमत्यै ॥८। १६४।

नन्दायै अलकनन्दायै । भामा सत्यभामेतिवत् । लिङ्गधारिण्यै शिवलिङ्गधारिण्यै । सिद्धयः सिद्धलिङ्गानि स्पर्शलिङ्गान्यनेकशः गङ्गाजलान्तस्तिष्ठन्तीत्यत्रैवोक्तेः। सुधाधारात्मने अमृतस्रोतोरूपायै । विश्वमुख्यायै ब्रह्माण्डश्रेष्ठायै । रेवत्यै नक्षत्ररूपायै । रेवतराज पुत्र्यै इति वा ॥ ९ ॥ १६५ ।

बृहत्यै परिपूर्णायै । लोकधात्र्यै प्राणिमात्रजनन्यै पुष्टिकारिण्या इति वा । विश्वमित्रायै प्राणिमात्रस्य हितायै । नन्दिन्यै समृद्धिकारिण्यै वसिष्ठकामधेनुरूपायै इति वा ॥ १० ॥ १६६ ।

पृथ्व्यै भूमिरूपायै । शिवामृतायै निर्मलजलायै । सुवृषायै शोभनधर्मरूपायै । परे ब्रह्मादयः अपरेऽस्मदादयस्तेषां शतैराढ्या व्याप्ताऽपरिमितसमष्टिव्यष्टिजीवाधारेत्यर्थः । यद्वा परे ब्रह्माणो अपरे अनुत्कृष्टायेभ्यस्तादृशानां परमहंसानां ब्रह्मविदां शतैराढ्या व्याप्ता सेवितेति यावत्तस्यै । तारायै तारयतीति तारा प्रणवो वा तारस्तद्रूपायै । ते तुभ्यम् ॥ ११ ॥ १६७ ।

अलकनन्दा, शिवलिंगधारिणी, अमृतस्रोतःस्वरूपा को नमस्कार है । ब्रह्माण्डश्रेष्ठा को नमस्कार है, रेवतीनक्षत्ररूपा को नमस्कार है ॥ ९ ॥ १६५ ।

परिपूर्ण (बृहती) को नमस्कार है । लोकधात्री को नमस्कार है । संसारमात्र को मित्ररूपा आपको नमस्कार है । नन्दिनी को बारम्बार नमस्कार है ॥ १० ॥ १६६ ।

पृथिवीस्वरूपा, निर्मलजला, उत्तम धर्ममूर्ति आपको नमस्कार है । सैकड़ों ही ब्रह्मादि देवगण पर एवं अस्मदादि अपरगण से सेविता, तारिणी आपको अनेक नमस्कार है ॥ ११ ॥ १६७ ।

पाशजालनिकृन्तिन्यै अभिन्नायै नमोऽस्तु ते ।
शान्तायै च वरिष्ठायै वरदायै नमो नमः ॥१२॥१६८॥
उग्रायै सुखजग्ध्यै च सञ्जीविन्यै नमोऽस्तु ते ।
ब्रह्मिष्ठायै ब्रह्मदायै दुरितघ्न्यै नमो नमः ॥१३॥१६९॥
प्रणतार्तिप्रभञ्जिन्यै जगन्मात्रे नमोऽस्तु ते ।
सर्वापत्प्रतिपक्षायै मङ्गलायै नमो नमः ॥१४॥१७०॥
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१५॥१७१॥

पाशश्चतुर्विंशतितत्त्वान्येव जालमानायोबन्धनहेतुत्वात्तन्निकृन्तिन्यै । अभिन्नायै भेदरहितायै निरुपद्रवायै । ऋष्यशृङ्गभार्यारूपायै वा । वरिष्ठायै सर्वश्रेष्ठायै । वरदायै भक्तेभ्योऽभीष्टदात्र्यै ॥ १२ ॥ १६८ ।

उग्रायै प्रलयकाले सर्वसंहर्त्र्यै कालरात्र्यै इत्यर्थः । उस्रायै इति पाठे तेजोरूपायै इत्यर्थः । सुखजग्ध्यै सुखभोक्त्र्यै । सुखजग्ध्र्यै इति पाठेऽपि स एवार्थः । सञ्जीविन्यै सम्यग्जीवितुं जीवयितुं वा शीलं यस्यास्तस्यै । पाठान्तरे सम्यग् जीवयतीति सञ्जीविनी तस्यै इति । ब्रह्मिष्ठायै ब्रह्मण्यायै ब्राह्मणभक्तायै इति यावत् । ब्रह्मनिष्ठायै इति वा । ब्रह्मदायै वेददात्र्यै कैवल्यदायै इति वा । दुरितघ्न्यै अज्ञाननाशिन्यै पापमात्रनाशिन्यै इति वा ॥ १३ ॥ १६९ ।

प्रणतार्तिप्रभञ्जिन्यै भक्तपीडोपशमयित्र्यै । जगन्मात्रे प्रपञ्चजनयित्र्यै जगद्धितैषिण्यै इति वा । सर्वापत्प्रतिपक्षायै भक्तानां सर्वापन्निराकर्त्र्यै । मङ्गलायै कल्याणरूपिण्यै मंगलागौरीरूपायै इति वा ॥ १४ ॥ १७० ।

शरणागताश्च दीनाश्च आर्ताश्च तेषां परित्राणं संरक्षणं तत्र परायणे दक्षे । दर्शनादिना सर्वस्य प्राणिमात्रस्यार्तिहरे । नारायणि जलायने नारायणशक्तिरूपे वा ॥ १५ ॥ १७१ ।

(संसार के) पाशजाल को काटने वाली, भेदों से हीन, आपको नमस्कार है । परम शान्ता, सर्वश्रेष्ठा, वरदायिनी आपको नमस्कार है ॥ १२ ॥ १६८ ।

उग्रस्वरूपा, सुखभोगकारिणी, संजीवनीरूपा आपको नमस्कार है । आप ब्रह्मिष्ठा मुक्तिदायिनी एवं दुरितविनाशिनी हैं । आपको बारम्बार नमस्कार है ॥१३॥ १६९ ।

प्रणतजन को दुःखहारिणी, जगत् की माता आपको नमस्कार है । समस्त आपत्तियों की शत्रु, मंगलमूर्ति आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १४ ॥ १७० ।

हे नारायणि ! देवि ! शरण में प्राप्त दीन-दुःखियों के रक्षा करने में तत्पर हो, आप सब किसी के दुःखों को हरण करती हैं, आपको नमस्कार है ॥ १५ ॥ १७१ ।

निर्लेपायै दुर्गहन्त्र्यै दक्षायै ते नमो नमः ।
परापरपरायै च गङ्गे निर्वाणदायिनि ॥१६॥१७२।
गङ्गे ममाऽग्रतो भूया गङ्गे मे तिष्ठ पृष्ठतः ।
गङ्गे मे पार्श्वयोरेधि गङ्गे त्वय्यस्तु मे स्थितिः ॥१७॥१७३।
आदौ त्वमन्ते मध्ये च सर्वं त्वं गाङ्गते शिवे ।
त्वमेव मूलप्रकृतिस्त्वं पुमान् पर एव हि ॥
गङ्गे त्वं परमात्मा च शिवस्तुभ्यं नमः शिवे ॥१८॥१७४।
य इदं पठते स्तोत्रं शृणुयाच्छ्रद्धयाऽपि यः ।
दशधा मुच्यते पापैः कायवाक्चित्तसम्भवैः ॥१९॥१७५।

निर्लेपायै अविद्यातत्कार्यरहितायै । दुर्गहन्त्र्यै दुर्गनाम्नोऽसुरस्य नाशिन्यै । दक्षायै अघटितघटनापटीयस्यै । परापरपरायै क्षराक्षराभ्यामतीतायै सर्वोत्तमायै इत्यर्थः । हे गङ्गे ! निर्वाणदायिनि कैवल्यदे ॥ १६ ॥ १७२ ।

हे गङ्गे ! ममाग्रतः सम्मुखे भूया भव । हे गङ्गे ! मे पृष्ठतः पश्चाद्भागे तिष्ठ । हे गङ्गे ! मे पार्श्वयोः दक्षिणवामभागयोरेधि भव । हे गङ्गे ! त्वयि मे स्थितिः स्थैर्यमस्तु । गङ्गापदस्यावृत्तिर्नामसु प्राधान्यख्यापनाय ॥ १७ ॥ १७३ ।

किं बहुना । आदाविति । आदौ त्वं कारणत्वेन अन्ते त्वमवधित्वेन मध्ये च किञ्चित् सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्सर्वं त्वमेवेत्यर्थः । गाङ्गते हे गङ्गे इत्यर्थः । शिवे परमसुखस्वरूपे । किञ्च त्वमिति । मूलप्रकृतिरविद्यात्वम् । पुमान् पुरुषः । पर ईश्वरः । हे गङ्गे शिवः सुखस्वरूपः परमात्मा च त्वमित्यर्थः । शिवे हे शिवशक्ते । हीति तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादि प्रामाण्यं सूचयति ॥ १८ ॥ १७४ ॥

लेप-(अविद्या) रहिते, दुर्गविनाशिनि, परमदक्षे ! सर्वोत्तमोत्तमे, मुक्तिप्रदे ! गंगे ! आप को बारंबार नमस्कार है ॥ १६ ॥ १७२ ।

गंगे ! आप मेरे सन्मुख रहें । गंगे ! आप मेरे पीछे स्थिति करें । गंगे ! आप मेरे दोनों ओर बनी रहें । गंगे ! मेरा निवास आप ही में होवे ॥ १७ ॥ १७३ ।

हे भूतलवासिनि ! शिवे ! आदि, अन्त और मध्य में सब कुछ आप ही हो । आप ही मूलप्रकृति और आप ही परमपुरुष हैं । गंगे ! आप ही परमात्मा शिव हैं, शिवे ! आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥ १७४ ।

जो कोई श्रद्धापूर्वक इस स्तोत्र को पढ़ता है अथवा सुनता है, वह कायिक, वाचिक और मानसिक (उक्त) दशविध पापों से उन्मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥ १७५ ।

रोगस्थो रोगतो मुच्येद् विपद्भ्यश्च विपद्युतः ।
मुच्यते बन्धनाद् बद्धो भीतो भीतेः प्रमुच्यते ॥२०॥१७६।
सर्वान्कामानवाप्नोति प्रेत्य च त्रिदिवं व्रजेत् ।
दिव्यं विमानमारुह्य दिव्यस्त्रीपरिवीजितः ॥२१॥१७७।
गृहेऽपि लिखितं यस्य सदा तिष्ठति धारितम् ।
नाग्निचौरभयं तस्य न सर्पादिभयं क्वचित् ॥२२॥१७८।
ज्येष्ठमासे सिते पक्षे दशमीहस्तसंयुता ।
संहरेत्त्रिविधं पापं बुधवारेण संयुता ॥२३॥१७९।
तस्यां दशम्यामेतच्च स्तोत्रं गङ्गाजले स्थितः ।
यः पठेद्दशकृत्वस्तु दरिद्रो वाऽपि चाक्षमः ॥२४॥१८०।
सोऽपि तत्फलमाप्नोति गङ्गां सम्पूज्य यत्नतः ।
पूर्वोक्तेन विधानेन यत्फलं सम्प्रकीर्तितम् ॥२५॥१८१।
यथा गौरी तथा गङ्गा तस्माद्गौर्यास्तु पूजने ।
यो विधिर्विहितः सम्यक् सोऽपि गङ्गाप्रपूजने ॥२६॥१८२।

तस्यां प्रसिद्धायां ज्येष्ठे मासि शुक्लपक्षे जातायामित्यर्थः ॥ २४ ॥ १८० ।

तर्हि मत्तोऽपि सा श्रेष्ठेति देव्या आशयमालक्ष्याह भगवान् । यथागौरीति । यत एवमतस्तस्माद् गौर्यास्त्विति ॥ २६ ॥ १८२ ।

(इस स्तोत्र को पढ़ने या सुनने से) रोगी का रोग जाता रहे, विपन्न की विपत्ति हट जावे, बद्ध (बँधुआ) का बन्धन छूटे और डरे हुए का भय दूर होवे ॥ २० ॥ १७६ ।

(इसको पढ़ने से) समस्त कामनाओं को प्राप्त करे और मरकर स्वर्गगामी होवे । दिव्य विमान पर चढ़ाकर अप्सराएँ उसे चमर ढरावें ॥ २१ ॥ १७७ ।

यह लिखित स्तोत्र जिसके गृह में सदा रहे, वहाँ पर अग्नि, चोर एवं सर्पादि का भय कभी न होवे ॥ २२ ॥ १७८ ।

ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की बुधवार और हस्तनक्षत्रयुक्त दशमी तिथि त्रिविध पाप का हरण करती है ॥ २३ ॥ १७९ ।

उसी दशमी तिथि पर इस स्तोत्र को गंगाजल में खड़ा होकर पूर्वोक्त विधानानुसार गंगा की पूजा कर प्रयत्नपूर्वक दश बार पढ़े, तो चाहे दरिद्र हो अथवा असमर्थ हो; पर पूर्वकथित फल को वह भी पा जाता है ॥ २४-२५ ॥ १८०-१८१ ।

जैसी गौरी हैं, वैसी ही गंगा हैं, अतएव गौरीपूजन में जो विधि विहित है, गंगापूजन में भी उसे ज्यों का त्यों समझना चाहिये ॥ २६ ॥ १८२ ।

यथाऽहं त्वं तथा विष्णो यथा त्वं तु तथा ह्युमा ।
उमा यथा तथा गङ्गा चतूरूपं न भिद्यते ॥२७॥१८३।
विष्णुरुद्रान्तरं चैव श्रीगौर्योरन्तरं तथा ।
गङ्गागौर्यन्तरं चैव यो ब्रूते मूढधीस्तु सः ॥२८॥१८४।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गङ्गामहिमवर्णनपूर्वकं दशहरास्तोत्रकथनं नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७।

तर्ह्यहमेव सर्वनिकृष्ट इति विष्णोराशयमालक्ष्य ब्रूते विश्वेश्वरः । यथाऽहं त्वमिति ॥ २७ ॥ १८३ ।

एतदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति । विष्णुरुद्रेति । अन्तरं भेदम् । तथा च भागवतं वाक्यम्—"न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते" इति ।

यथामति यथाशक्ति रामानन्दो मुनिर्महान् ।
व्याकरोद्भगवत्पद्याः स्तोत्रं दशहराभिधम् ॥ २८ ॥ १८४ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ।

हे विष्णो ! जैसा मैं हूँ, वैसे ही तुम हो एवं जैसे तुम हो, वैसी ही गौरी हैं और जैसी गौरी हैं, वैसी ही गंगा हैं—इन चारों ही रूपों में कोई भेद नहीं है ॥ २७ ॥ १८३ ।

जो कोई विष्णु और रुद्र में अथवा लक्ष्मी और पार्वती में तथा गंगा और गौरी में भेद कहता है, वह मूढ़बुद्धि है ॥ २८ ॥ १८४ ॥

कायिक वाचिक मानसिक, दश विध पातक होत ।
हरत दशहरा स्नान ते, गंगा तेहि निज सोत ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां गंगामहिमा-दशहरास्तोत्र-वर्णनं नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

उमोवाच—

किञ्चित्प्रष्टुमना नाथ स्वसन्देहापनुत्तये ।
वद खेदो यदि न ते त्रिकालज्ञानकोविद ।। १ ।
तदा भगीरथो राजा क्व क्व भागीरथी तदा ।
यदा विष्णुस्तपस्तेपे चक्रपुष्करिणीतटे ।। २ ।

शिव उवाच—

सन्देहोऽत्र न कर्तव्यो विशालाक्षि सदाऽमले ।
श्रुतौ स्मृतौ पुराणेषु कालत्रयमुदीर्यते ।। ३ ।

अष्टाधिकतमे विंशे वाहीकाख्यानपूर्वकम् ।
गङ्गाया भूरि माहात्म्यं वर्ण्यते शम्भुना हरिम् ।। १ ।

अतीताऽध्यायादिभागे विष्णुं सम्बोध्य निर्दग्धान् सागरान् श्रुत्वा गङ्गामारिराधयिषुर्भगीरथो हिमवन्तं जगामेत्याद्युक्तमीश्वरेण तत्र प्राकृतानां सन्देहापनुत्तये सन्दिहानेव भवानी विश्वेशं परिपृच्छति । किञ्चिदिति द्वयेन ।। १ ।

भाविनिभूतवदुपचार इति न्यायेन भाव्यपि भूतवन्निर्दिश्यत इत्यभिप्रायेण प्रत्युत्तरयति । सन्देहोऽत्रेति सार्धेन ।। ३ ।

(वाहीकाख्यानसहित गंगा की महिमा)

पार्वती बोलीं—

'नाथ ! मैं अपना सन्देह हटाने के अर्थ कुछ पूछना चाहती हूँ । हे त्रिकालज्ञानकोविद ! यदि आपको कष्ट न हो तो कहिये ।। १ ।

जब कि चक्रपुष्करिणी के तोर पर विष्णु तपस्या कर रहे थे, तब राजा भगीरथ कहाँ थे और भागीरथी कहाँ थीं ? ।। २ ।

महादेव ने कहा—

'सदाशुद्धे ! विशालाक्षि ! इस विषय में सन्देह न करना चाहिये; (क्योंकि) श्रुति-स्मृति और पुराणों में भूत, भविष्य एवं वर्तमान—ये तीनों ही काल सर्वदा समानरूप से कहे जाते हैं, (भविष्य में भूत के समान और वर्तमान में भी भूत के तुल्य

भूतं भावि भवच्चापि संशयं मा वृथा कृथाः ।
इत्युक्त्वा पुनराहेशो गङ्गामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ४ ।

अगस्त्य उवाच—

पार्वतीनन्दन पुनर्धुनद्याः परितो वद ।
महिमोक्तोहरौ यद्वद्देवदेवेन वै तदा ॥ ५ ।

स्कन्द उवाच—

मुनेऽत्र मैत्रावरुणे यथा देवेन भाषितम् ।
शृणु त्रिपथगामिन्या माहात्म्यं पातकापहम् ॥ ६ ।
त्रिस्रोतसं समासाद्य सकृत् पिण्डान् ददाति यः ।
उद्धृताः पितरस्तेन भवाम्भोधेस्तिलोदकैः ॥ ७ ।
यावन्तश्च तिला मर्त्यैर्गृहीताः पितृकर्मणि ।
तावद् वर्षसहस्राणि पितरः स्वर्गवासिनः ॥ ८ ।
देवाः सपितरो यस्माद् गङ्गायां सर्वदा स्थिताः ।
आवाहनं विसर्गं च तेषां तत्र ततो न हि ॥ ९ ।

कृथाः कुरु ॥ ४ ।　　यद्वद्यथा ॥ ५ ।
त्रिषु लोकेषु स्रोतो यस्याः सा त्रिस्रोतास्तां त्रिस्रोतसम् ॥ ७ ।
पितृकर्मणि तर्पणादौ ॥ ८ ।

व्यवहार—कल्पभेदादिकारणों से हो सकता है) अतः व्यर्थ का संशय मत करो। यह कहने के पश्चात् फिर शिव, गंगा की महिमा कीर्तन करने लगे ॥ ३-४ ।

अगस्त्य ने कहा—

पार्वतीनन्दन ! फिर महेश्वर देव ने विष्णु से गंगा की महिमा जिस प्रकार से वर्णन की, उसे आप कहें ॥ ५ ।

स्कन्द ने कहा—

'हे अगस्त्य मुने ! देवदेव ने पापघ्न गंगा-माहात्म्य जैसे भाषण किया था, इस घड़ी उसी को सुनो' ॥ ६ ।

'जो कोई त्रिपथगा गंगा में एक बार पिण्ड दान करता है, वह तिल-जल के द्वारा अपने पितरों का भवसागर से उद्धार कर देता है ॥ ७ ।

गंगा तट पर मनुष्य लोग पितृकार्यार्थ जितने तिल को ग्रहण करते हैं, उतने ही सहस्र-वर्ष पितृगण स्वर्गवास करते हैं ॥ ८ ।

देवगण एवं पितृगण गंगा में सर्वदा निवास करते हैं। अतएव वहाँ पर उन सब का आवाहन वा विसर्जन नहीं होता ॥ ९ ।

पितृवंशे मृता ये च मातृवंशे तथैव च।
गुरुश्वशुरबन्धूनां ये चान्ये बान्धवा मृताः॥ १०।
अजातदन्ता ये केचिद्ये च गर्भे प्रपीडिताः।
अग्निविद्युच्चोरहता व्याघ्रदंष्ट्रिभिरेव च॥ ११।
उद्बन्धनमृता ये च पतिता आत्मघातकाः।
आत्मविक्रयिणश्चोरा ये तथाऽयाज्ययाजकाः॥ १२।
रसविक्रयिणो ये च ये चान्ये पापरोगिणः।
अग्निदा गरदाश्चैव गोघ्नाश्चैव स्ववंशजाः॥ १३।
असिपत्रवने ये च कुम्भीपाके च ये गताः।
रौरवेऽप्यन्धतामिस्रे कालसूत्रे च ये गताः॥ १४।
जात्यन्तरसहस्रेषु भ्राम्यन्ते ये स्वकर्मभिः।
ये तु पक्षिमृगादीनां कीटवृक्षादिवीरुधाम्॥ १५।
योनिं गतास्त्वसंख्याताः संख्यातानामशोभनाः।
प्रापिता यमलोकं तु सुघोरैर्यमकिङ्करैः॥ १६।

पितृवंशे मृता ये चेत्यादीनामेतान् मन्त्रान् समुच्चार्येत्यग्रिमेणाऽन्वयः॥ १०।

पापरोगिणः कुष्ठरोगवन्तः पापनिमित्तरोगिण इति वा॥ १३।

असिपत्राद्याः पञ्चनरकविशेषाः॥ १४।

संख्यातानामशोभनाः संख्यातानामपि पक्ष्यादीनां मध्ये येऽशोभना निकृष्टा इत्यर्थः। स्वकर्मभिरशोभना इति पाठे स्पष्ट एवार्थः॥ १६।

"जो लोग पितृवंश में मरे हैं, अथवा मातृकुल में मरे हैं, तथा गुरु, श्वशुर, बन्धु के वंश में मरे हैं, एवं अन्य मृत बान्धव, जो विना दांत निकले ही मरे हैं, वा जो गर्भ में ही पीड़ा से मर गये हैं, जो आग लग जाने, बिजली के गिरने, वा चोरों से मारे गये हैं, अथवा जिन्हें बाघ या दूसरे ही दंष्ट्री जन्तु खा गये हैं, जो फाँसी लगा कर मर गये, पतित हो गये, आत्मघाती हुए, आत्मविक्रयी हुए, चोर और जो अयाज्य याचक हुए, जो रसविक्रयी हुए, और भी दूसरे पाप, रोगी लोग, अथवा आग लगा देने वाले, विष खिला देने वाले, गो-हत्यारे, इन सब प्रकार के निजपूर्वज, एवं जो असिपत्रवननरक में पड़े हैं, कुंभी पाक में पक रहे हैं, रौरव, तामिस्र और कालसूत्र नरकों में जो प्राप्त हो चुके हैं, जो लोग अपने कर्मानुसार सहस्रों जातियों में घूम रहे हैं, अथवा जो पक्षी, मृग, कीट, वृक्ष, लता आदि के असंख्य नामों से अगणित योनियों में प्राप्त हुए हैं, एवं जिन लोगों को अतिघोर यमकिंकरों ने यमपुरी में पहुँचा दिया

ये बान्धवा अबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
येऽपि चाज्ञातनामानो ये चाऽपुत्राः स्वगोत्रजाः ॥ १७ ।
विषेण च मृता वै ये ये वै शृङ्गिभिराहताः ।
कृतघ्नाश्च गुरुघ्नाश्च ये च मित्रद्रुहस्तथा ॥ १८ ।
स्त्रीबालघातका ये च ये च विश्वासघातकाः ।
असत्यहिंसानिरताः सदा पापरताश्च ये ॥ १९ ।
अश्वविक्रयिणो ये च परद्रव्यहराश्च ये ।
अनाथाः कृपणा दीना मानुष्यं प्राप्तुमक्षमाः ॥ २० ।
तर्पिता जाह्नवीतोयैर्नरेण विधिना सकृत् ।
प्रयान्ति स्वर्गतिं तेऽपि स्वर्गिणो मुक्तिमाप्नुयुः ॥ २१ ।
एतान्मन्त्रान् समुच्चार्य यः कुर्यात्पितृतर्पणम् ।
श्राद्धं पिण्डप्रदानं च सविधिज्ञ इहोच्यते ॥ २२ ।
कामप्रदानि तीर्थानि त्रैलोक्ये यानि कानिचित् ।
तानि सर्वाणि सेवन्ते काश्यामुत्तरवाहिनीम् ॥ २३ ।

ये अबान्धवा इति च्छेदः ॥ १७ ।

एतानिति । एतान् पितृवंशे इत्यारभ्य मुक्तिमाप्नुयुरित्यन्तान् ॥ २२ ।

है, जो कि बान्धव नहीं हैं, वा जो बान्धव हैं, एवं जो अन्य जन्म में बान्धव रहे हैं, जिन लोगों का नाम नहीं ज्ञात है, वा जो अपुत्रक निज गोत्रज गण हैं, जो विष के द्वारा मरे हैं, वा जिन्हे सिंघैले पशुओं ने मार डाला है, अथवा जो कृतघ्न, गुरुघाती, और मित्रद्रोही रहे हैं, जो स्त्रियों एवं बालकों के घातक हैं, वा जो विश्वासघाती हैं, जो असत्यतत्पर, हिंसापरायण, सदा पापनिरत हैं, जो अश्वविक्रयी हैं, जो परद्रव्य के अपहर्ता हैं, जो अनाथ, कृपण, दीन, मनुष्य जन्म पाने में असमर्थ हैं, यह सब एक बार भी विधिपूर्वक मनुष्य के तर्पण करने से तृप्त होकर स्वर्ग में प्राप्त होते हैं एवं स्वर्गगामी-गण मोक्ष-लाभ करते हैं।" १०-२१ ।

इन मन्त्रों का उच्चारण कर जो कोई पितृ-तर्पण, श्राद्ध वा पिण्डदान करे, इस जगत् में वही विधिज्ञ कहलाता है ॥ २२ ।

त्रैलोक्य में जितने ही कामप्रद तीर्थ हैं, वे सब काशी में उत्तरवाहिनी गंगा का सेवन करते हैं ॥ २३ ।

स्वः सिन्धुः सर्वतः पुण्या ब्रह्महत्यापहारिणी ।
काश्यां विशेषतो विष्णो यत्र चोत्तरवाहिनी ॥ २४ ।
गायन्ति गाथामेतां वै देवर्षिपितरो गणाः ।
अपि दृग्गोचरा नः स्यात्काश्यामुत्तरवाहिनी ॥ २५ ।
यत्रत्यामृतसन्तृप्तास्तापत्रितयवर्जिताः ।
स्याम त्वमृतमेवाद्धा विश्वनाथप्रसादतः ॥ २६ ।
गङ्गैव केवला मुक्त्यै निर्णीता परितो हरे ।
अविमुक्ते विशेषेण ममाऽधिष्ठानगौरवात् ॥ २७ ।
ज्ञात्वा कलियुगं घोरं गङ्गाभक्तिः सुगोपिता ।
न विन्दन्ति जना गङ्गां मुक्तिमार्गैकदायिकाम् ॥ २८ ।
अनेकजन्मनियुतं भ्राम्यमाणस्तु योनिषु ।
निर्वृतिं प्राप्नुयात्कोऽत्र जाह्नवीभजनं[1] विना ॥ २९ ।
नराणामल्पबुद्धीनामेनोविक्षिप्तचेतसाम् ।
गङ्गैव परमं विष्णो भेषजं भवरोगिणाम् ॥ ३० ।

यत्रत्यामृतसन्तृप्ताः काश्युत्तरवहा भवजलेन संहृष्टाः । स्याम त्वमृतमिति । स्याम भवेम । तु निश्चितम् । अमृतं कैवल्यम् ॥ २६ ।

विष्णो ! यद्यपि गंगा सर्वत्र ही पावनी और ब्रह्महत्यादि पातकहारिणी हैं, तथापि काशी में जहाँ पर उत्तरवाहिनी हुई हैं, वहाँ की विशेष महिमा है ॥ २४ ।

देवगण, ऋषिगण और पितृगण यही गाया करते हैं कि "काशी में उत्तर-वाहिनी हम लोगों की दृष्टिगोचरा होवें ॥ २५ ।

जहाँ के जल से सन्तुष्ट हो, त्रिविधताप को छोड़, विश्वनाथ के प्रसाद से मुक्ति पद ही को प्राप्त करें" ॥ २६ ।

हरे ! सब प्रकार से मुक्ति के लिये केवल गंगा ही निर्णीत हुई हैं, (उसमें भी) मेरे अधिष्ठान (निवास) के गौरव से अविमुक्त क्षेत्र में बड़ी विशेषता है ॥ २७ ।

कलियुग को घोर समझ कर गंगा की भक्ति छिपा दी गई है, अतएव सब लोग एकमात्र मुक्तिमार्ग को देनेवाली गंगा को नहीं जानते ॥ २८ ।

अनेक जन्म-नियुत समस्त योनियों में भ्रमण करता हुआ कौन जन इस लोक में गंगा के भजन विना निवृत्ति को प्राप्त कर सकता है ? ॥ २९ ।

विष्णो ! पाप से विक्षिप्त चित्त, अल्पबुद्धि, भवरोगी, मनुष्यगण के लिये गंगा ही परम ओषधि हैं ॥ ३० ।

---

१. मज्जनमिति क्वचित्पाठः ।

खण्डस्फुटितसंस्कारं गङ्गातीरे करोति यः।
मम लोके चिरं कालं तस्याऽक्षयसुखं हरे॥ ३१।
गन्तुमुद्दिश्य यो गङ्गां परार्थं स्वार्थमेव वा।
न गच्छति परं मोहात् स पतेत् पितृभिः सह॥ ३२।
सर्वाणि येषां गाङ्गेयैस्तोयैः कृत्यानि देहिनाम्।
भूमिस्था अपि ते मर्त्या अमर्त्या एव वै हरे॥ ३३।
चरमेऽपि वयो भागे स्वः सिन्धुं यो निषेवते।
कृत्वाऽप्येनांसि बहुशः सोऽपि यायाच्छुभां गतिम्॥ ३४।
यावदस्थि मनुष्याणां गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावदब्दसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥ ३५।

श्रीविष्णुरुवाच—

देवदेव जगन्नाथ जगतां हितकृत्प्रभो।
कीकसञ्चेत्पतेद्दैवाद्दुर्वृत्तस्य दुरात्मनः॥ ३६।

खण्डस्फुटितसंस्कारं देवालयादीनामिति शेषः। तत्र खण्डं भग्नं स्फुटितं विदीर्णं तयोः संस्कारः सन्धानमित्यर्थः॥ ३१।

लोकानुजिघृक्षयाऽजानन्निव भगवान् परिपृच्छति। देवदेवेति। कीकसम् अस्थि॥ ३६।

हरे! जो कोई गंगा के तीर पर (घाट वा शिवाला आदि) टूटे-फूटे का संस्कार (मरणमत-मरम्मत) कर देता है, मेरे लोक में बहुत काल तक उसे अक्षय सुख प्राप्त होता है॥ ३१।

जो जन परार्थ क्या स्वार्थ गंगायात्रा का उद्देश्य कर फिर मोहवश यात्रा पर नहीं जाता, वह पितृगण के सहित पतित होता है॥ ३२।

हरे! जिन प्राणियों का समस्त कार्य गंगाजल से ही होता है, वे भूतलस्थित मर्त्य होने पर भी देवता ही हैं॥ ३३।

जो कोई बहुत से पापों को कर चरम (वृद्ध) अवस्था में भी गंगा का सेवन करता है, उसे भी शुभगति प्राप्त होती है॥ ३४।

मनुष्य आदि की अस्थि (हड्डी) जितने दिन तक गंगाजल में पड़ी रह जाती है, तितने सहस्र वर्ष तक स्वर्गलोक में सादर निवास करता है॥ ३५।

विष्णु ने पूछा—

'त्रैलोक्यहितकर! देवदेव! प्रभो! जगन्नाथ! निर्मल गंगाजल में यदि

जले ह्युनद्या निष्पापे कथं तस्य परागतिः ।
अपमृत्युविपन्नस्य तदीश विनिवेद्यताम् ॥ ३७ ।

महेश्वर उवाच—

अत्रार्थे कथयिष्यामि पुरावृत्तमधोक्षज ।
शृणुष्वैकमना विष्णो वाहीकस्य द्विजन्मनः ॥ ३८ ।
पुरा कलिङ्गविषये द्विजो लवणविक्रयी ।
सन्ध्यास्नानविहीनश्च वेदाक्षरविवर्जितः ॥ ३९ ।
वाहीको नामतो यज्ञसूत्रमात्रपरिग्रहः ।
परिग्रहश्च तस्यासीत् कौविन्दी विधवा नवा ॥ ४० ।
दुर्भिक्षपीडितेनाऽथ वृषलीपतिना विना ।
प्राणाधारं तदा तेन देशाद्देशान्तरं ययौ ॥ ४१ ।

लोकविश्रम्भणायाख्यायिकयोत्तरमाह । अत्रार्थं इति । वाहीकस्य नाम्नेति शेषः ॥ ३८ ।

कलिङ्गविषये उत्कलाद्दक्षिणस्यां दिशि ॥ ३९ ।

परिग्रहो भार्या । कौविन्दी तन्तुवायपत्नी । विधवा विगतभर्तृका । नवा नूतनवयस्का । गृहे इति क्वचित् ॥ ४० ।

दुर्भिक्षेति । वृषली सा कुविन्दी प्राणाधारं प्राणजीवनोपायं विना दुर्भिक्षपीडितेन पतिना वाहीकेन सह देशाद्देशान्तरं गतवतीत्यर्थः । यद्वा तेन प्रसिद्धेनाऽन्येन केनचिद् वृषलीपतिना सार्धं स वाहीको ययावित्यन्वयः ॥ ४१ ।

अकालमृत, दुराचारी, दुरात्मा की अस्थि गिर पड़े, तो उसकी कैसे परम गति होवे (होगी) ? हे ईश ! इसे बताइए ॥ ३६-३७ ।

महेश्वर ने उत्तर दिया—

'हे अधोक्षज ! विष्णो ! इस विषय में पुरातन, वाहीक नामक द्विज का इतिहास वर्णन करता हूँ । एकाग्रचित्त होकर (उसे) श्रवण कीजिए ॥ ३८ ।

पूर्वकाल में कलिंग देश के मध्य 'वाहीक' नामक केवल यज्ञोपवीतधारी, लवणविक्रयी एक ब्राह्मण था । वह संध्या-स्नान से रहित और वेदाक्षरज्ञान से हीन था, अथ च उसने एक नवीन वयस्का विधवा कौविन्दो (तन्तुवायपत्नी-कोरिन्-जोलहिन) को अपनी भार्या बनाया था ॥ ३९-४० ।

अनन्तर दुर्भिक्ष से पीड़ित उस वृषलीपति (शूद्रास्वामी) ने प्राण धारण के उपाय को न पाय (पाकर) उस देश से दूसरे देश की यात्रा की ॥ ४१ ।

मध्येऽथ दण्डकारण्यं क्षुत्क्षामः सङ्गवर्जितः ।
व्याघ्रेण घातितस्तत्र नरमांसप्रियेण सः ॥ ४२ ।
तस्य वामपदं गृध्रो गृहीत्वोदपतत्ततः ।
मांसाशिनाऽन्यगृध्रेण तस्य युद्धमभूद्दिवि ॥ ४३ ।
गृध्रयोरामिषं गृध्न्वोः परस्परजयैषिणोः ।
अवापतत्पादगुल्फं कङ्कचञ्चुपुटात्तदा ॥ ४४ ।
तस्य वाहीकविप्रस्य व्याघ्रव्यापादितस्य ह ।
मध्येगङ्गं दैवयोगादपतद्द्वन्द्वकारिणोः ॥ ४५ ।
यदैव हतवान् द्वीपी तं वाहीकमरण्यगम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे बद्धः स पाशैः क्रूरकिङ्करैः ॥ ४६ ।

अथ सङ्गवर्जितः सन् तत्र मध्ये दण्डकारण्यं दण्डकारण्यस्य मध्ये व्याघ्रेण घातितः स इत्यन्वयः । गृध्रो दाक्षायणः । तस्य वाहीकस्य ॥ ४२ ।

गृध्रयोरिति श्लोकद्वयं वाक्यम् । आमिषं गृध्न्वोराकाङ्क्षतोः । पादगुल्फं चरण-ग्रन्थिः । षंढत्वमार्षम् । कङ्कोऽत्र गृध्र एव ॥ ४४ ।

मध्येगङ्गं गङ्गाया मध्येऽपतदित्यन्वयः । द्वन्द्वकारिणोर्युद्धकारिणोः सतोः ॥ ४५ ।

द्वीपी व्याघ्रः ॥ ४६ ।

क्षुधा से कातर हो निःसहाय वह वाहीक, मार्ग में दण्डकारण्य के बीच मनुष्य मांसलोलुप व्याघ्र के द्वारा वहाँ पर मारा गया ॥ ४२ ।

एक गिद्ध उसका वामपद लेकर वहाँ से उड़ा । मांसाशी दूसरे गिद्ध से आकाश ही में उसका युद्ध हुआ ॥ ४३ ।

आमिषाभिलाषी उन दोनों गिद्धों के परस्पर जय में तत्पर होने पर वह पैर की घुट्टी (ठेहुनी = घुटना) उस प्रथम गिद्ध के चंचुपुट से गिर पड़ी ॥ ४४ ।

युद्ध करते हुए उन दोनों ही गिद्धों से छूटकर बाघ से मारे गये उस वाहीक ब्राह्मण का पादगुल्फ दैवयोग से गंगा के मध्य में गिर पड़ा ॥ ४५ ।

(इधर) ज्यों ही व्याघ्र ने अरण्य में स्थित वाहीक को मारा, त्यों ही पाशपाणि यम के क्रूर किंकरों ने आकर उसे बाँध लिया ॥ ४६ ।

कशाभिर्घातितोऽत्यन्तमाराभिः परितोदितः ।
वमन् रुधिरमास्येन नीतस्तैः स यमाग्रतः ॥ ४७ ।
आपृच्छि धर्मराजेन चित्रगुप्तोऽथ मापते ।
धर्माऽधर्मं विचार्याऽस्य कथयाऽऽशु द्विजन्मनः ॥ ४८ ।
वैवस्वतेन पृष्टोऽथ चित्रगुप्तो विचित्रधीः ।
सर्वदा सर्वजन्तूनां वेदिता सर्वकर्मणाम् ॥ ४९ ।
जगाद यमुनाबन्धुं वाहीकस्य द्विजन्मनः ।
जन्मकर्मदिनारभ्य दुर्वृत्तस्य शुभेतरम् ॥ ५० ।

चित्रगुप्त उवाच—

गर्भाधानादिकं कर्म प्राक्कृतं नाऽस्य केनचित् ।
जातकर्मकृतं नाऽस्य पित्राऽज्ञानवता हरे ॥ ५१ ।

कशाभिरश्वप्रणोदिनीभिः । आराभिर्मर्मभेदिकाभिः । परितोदितः समन्ततो भेदितः सर्वाङ्गे व्यथित इति वा ॥ ४७ ।

आपृच्छि पृष्टः । मापते लक्ष्मीपते । किं पृष्टं तदाह । धर्मेति । धर्मश्चाऽधर्मश्च धर्माऽधर्मम् । समाहारत्वादेकवचनम् । लेखक इति पाठे पापपुण्यलेखनकर्तेत्यर्थः ॥ ४८ ।

यमुनाया बन्धुं भ्रातरं यमम् । जन्मकर्मदिनारभ्य जन्मैव कर्म जन्मकर्म तद्दिनमारभ्येत्यर्थः । कर्मजन्मदिनारभ्येति पाठः सुगमः शुभेतरमशुभं पापमित्येतत् ॥ ५० ।

अज्ञानवताऽज्ञेन ॥ ५१ ।

और उसे कशाओं (चाबुकों) से बहुत मारा । आरा से चहुं ओर चीर डाला । वह मुख से रुधिर वमन करता हुआ, यमराज के सन्मुख उपस्थित किया गया ॥ ४७ ।

हे माधव ! इस के अनन्तर धर्मराज ने चित्रगुप्त से पूछा कि "इस ब्राह्मण का धर्माधर्म विचार कर शीघ्रता से कहो" ॥ ४८ ।

समस्त प्राणियों के सर्वकर्मों के सर्वदा जानने वाले विचित्रबुद्धि चित्रगुप्त वैवस्वत के पूछने पर यमुना के भ्राता से दुराचारी (दुष्ट) द्विज वाहीक के आजन्म का अशुभ वृत्तान्त यों निवेदन करने लगे ॥ ४९-५० ।

चित्रगुप्त ने कहा—

'हरे ! पूर्व में किसी ने इस का गर्भाधान आदि कर्म (संस्कार) नहीं किया, न इसके अज्ञ पिता ने गर्भजनित पापनाशन के कारण और समस्त आयुष्य सुखप्रद जातकर्म ही किया । न इग्यारहवें दिन विधिपूर्वक इसका नामकरण ही किया गया ॥ ५१ ।

गर्भैनः शमने हेतुं समस्तायुः सुखप्रदम् ।
एकादशेऽह्नि नामाऽस्य न कृतं विधिपूर्वकम् ।। ५२ ।
ख्यातः स्याद्येन विधिना सर्वत्र विधिपावनम् ।
नाऽकार्षीन्निगमं चाऽस्य चतुर्थे मासि मन्दधीः ।। ५३ ।
जनकः शुभतिथ्यादौ विदेशगमनापहम् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि न कृतं विधिपूर्वकम् ।। ५४ ।
सर्वदा मिष्टमश्नाति कर्मणा येन भास्करे ।
न चूडाकरणं चाऽस्य कृतमब्दे यथाकुलम् ।। ५५ ।
कर्मणा येन केशाः स्युः स्निग्धाः कुसुमवर्षिणः ।
नाऽकारि कर्णवेधोऽस्य जनित्रा समये शुभे ।। ५६ ।
सुवर्णग्राहिणौ येन कर्णौ स्यातां च सुश्रुतौ ।
मौञ्जीबन्धोऽप्यभूदस्य व्यतीतेऽब्देऽष्टमे हरे ।
ब्रह्मचर्याऽभिवृद्ध्यै यो ब्रह्मग्रहणहेतुकः ।। ५७ ।

येन नामकरणेन ।। ५३ ।

येनाऽन्नप्राशनकर्मणा ।। ५५ ।

येन चूडाकरणेन ।। ५६ ।

येन कर्णवेधेन । सुश्रुतौ शोभना श्रुतिः श्रवणं ययोस्तौ कर्णौ तथा । यो मौञ्जीबन्धः ।। ५७ ।

इस विधान के करने से बालक सर्वत्र विख्यात एवं सर्वविधि में पावन होता है । इसके मन्दबुद्धि पिता ने, विदेशगमननिवारक गृहनिर्गमन-संस्कार चौथे मास की शुभ तिथि आदि में नहीं किया । न छठवें मास में इसका विधिपूर्वक अन्नप्राशन ही किया ।। ५२-५४ ।

इस कर्म के (अन्नप्राशन के) द्वारा सूर्य के उदय होते ही प्रतिदिन मिष्ठान्न खाने को मिलता है । फिर कुलाचारानुसार नियमित वर्ष में इसका चूडाकरण (मुंडन) भी नहीं हुआ ।। ५५ ।

इस कर्म के संपादन करने से केशावली सुस्निग्ध एवं पुष्पवर्षिणी होती है । फिर इस के पिता ने शुभ समय में इस का कर्णवेध भी (तुंडन) नहीं किया ।। ५६ ।

इसके द्वारा कर्णयुगल सुश्रवण संपादक और सुवर्णग्राही होते हैं । हे हरे ! ब्रह्मचर्य के वृद्ध्यर्थ एवं वेदग्रहण का हेतुभूत मौंजीबन्धन (यज्ञोपवीत-जनेव) संस्कार भी इस के अष्टम वर्ष व्यतीत होने पर नहीं हुआ ।। ५७ ।

मौञ्जीमोक्षणवार्ताऽपि कृता नाऽस्य जनुःकृता ।
गार्हस्थ्यं प्राप्यते यस्मात्कर्मणोऽनन्तरं वरम् ॥ ५८ ।
यथाकथञ्चिदूढाऽथ पत्नी त्यक्तकुलाध्वगा ।
वृषलीपतिना तेन परदारापहारिणा ॥ ५९ ।
आरभ्य पञ्चमाद्वर्षात् परस्वस्यापहारकः ।
अभूदेष दुराचारो दुरोदरपरायणः ॥ ६० ।
रुमायां वसताऽनेन हता गौरेकवार्षिकी ।
एकदा दृढदण्डेन लिहन्ती लवणं मृता ॥ ६१ ।
जननीं पादघातेन बहुशोऽसावताडयत् ।
कदाचिदपि नो वाक्यं पितुः कृतमनेन वै ॥ ६२ ।

जनुःकृता जन्मकर्त्रा पित्रेत्यर्थः । रमापत इति क्वचित् । यस्मान् मौञ्जी-मोक्षणात् ॥ ५८ ।

ऊढा विवाहिता । त्यक्तकुलाध्वगा परित्यक्तकुलाचारा त्यक्तकुलाध्वानं शीघ्रं वा गच्छतीति तथा व्यभिचारिणीत्यर्थः । त्यक्तकुलाऽध्वगेति पदद्वयं वा । त्यक्ता इति पाठे यथाकथञ्चिदूढा कुलाध्वगा साध्व्यपि वृषलीपतिना तेन त्यक्तेत्यर्थः ॥ ५९ ।

दुरोदरपरायणो द्यूतैकरतः ॥ ६० ।

रुमायामिति । रुमायां लवणाकरे भूप्रदेशे । हता ताडिता सती गौ मृतेत्यन्वयः ॥ ६१ ।

फिर इसके जनक ने समावर्तन कर्म की बात भी नहीं की, जिस कृत्य के हो जाने पर श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम प्राप्त होता है ॥ ५८ ।

अनन्तर ज्यों-त्यों करके इस परदारापहारी वृषली (शूद्रा) पति ने एक कुलटा कुमार्गगामिनी पत्नी से विवाह कर भी डाला ॥ ५९ ।

पांच ही वर्ष की अवस्था से यह दुराचारी परस्वतस्कर (चौर) एवं द्यूततत्पर (जुआड़ी) हो गया था ॥ ६० ।

इस द्विज ने लवण के खानि (खान) से समीप (सिन्धुदेश) में रहते समय एक बार मोटे दंड से नोन को चाटती हुई एक वर्ष की बछिया को ऐसा मारा कि वह मर गई ॥ ६१ ।

इसने अनेक बार माता को पैरों के चोट से मारा है, और कभी भी पिता के वचन का पालन नहीं किया ॥ ६२ ।

विषं भक्षितवानेष बहुशः कलहप्रियः ।
जनोपतापशीलोऽसौ कृतोदरविदारण ॥ ६३ ।
धत्तूरकरवीरादि बहुधोपविषाणि च ।
क्रीडाकलहमात्रेण भक्षयच्चैष दुर्मतिः ॥ ६४ ।
दग्धोऽसावग्निना सौरे श्वभिश्च कवलीकृतः ।
शृङ्गिभिः परितः प्रोतो विषाणाग्रैरसौ बहु ॥ ६५ ।
दन्दशूकैर्भृशं दष्टो दुष्टः शिष्टैर्विगर्हितः ।
काष्ठेष्टलोष्टैः पापिष्ठः कृताऽनिष्टः सदात्मनः ॥ ६६ ।
आस्फालितं शिरोऽनेनाऽसकृच्चाऽपि दुरात्मना ।
यदर्च्यते सदा सद्भिरुत्तमां गमनेकधा ॥ ६७ ।

भक्ष यदभक्षयत् । अयमेव वा पाठः ॥ ६४ ।

सौरे हे सूर्यज ! । कवलीकृतो ग्रासीकृतो भक्षित इति यावत् । प्रोतो विद्धः ॥६५।

दन्दशूकैः सर्पैः । शुकैरिति पाठे शुकैर्वृश्चिकैरित्यर्थः । सदा कृतमनिष्टं येन स सदा कृतानिष्टः । अवश्यसापेक्षत्वात्समासाभावाभावः । कस्येत्याकाङ्क्षायामाह । आत्मन इति ॥ ६६ ।

आस्फालितं ताडितं कुट्टितमित्येतत् । कराभ्यामिति शेषः । काष्ठेष्टलोष्टैरिति वाऽनुषञ्जनीयम् ॥ ६७ ।

इस झगड़ालू ने बहुत बार आत्मघात की इच्छा से विष खाया, और दूसरे को राजद्वार में फसाने के अभिप्राय से स्वयं अपना पेट चीर डाला है ॥ ६३ ।

और केवल खिलवाड़ के झगड़ा पड़ने पर भी इस दुर्बुद्धि ने बहुधा धत्तर, कनईल इत्यादि उपविषों को खा डाला है ॥ ६४ ।

हे सूर्यनन्दन ! इस शिष्टनिन्दित दुष्ट पापिष्ठ ने अपने को आग में जला दिया, कुत्तों से चोंथवा दिया, शृंगी-पशुओं के शृंगाग्रभाग से चहुँ ओर अनेक बार गोदवा लिया, सर्प आदि से पर्याप्त कटवा लिया और लकड़ी, ईंटा एवं चक्का इत्यादि से सर्वदैव अपने को पिटवा लिया है ॥ ६५-६६ ।

इस दुरात्मा ने बारंबार अपना शिर पीटा, जिस उत्तमांगशिर को सज्जन-गण सदा अनेक प्रकार से पूजते (संवारते) रहते हैं ॥ ६७ ।

असौ हि ब्राह्मणो मन्दो गायत्रीमपि वेद न।
कामतो मत्स्यमांसानि जग्धान्येकेन दुर्धिया ॥ ६८ ।
आत्मार्थं पायसमसौ पर्यपाक्षीदनेकधा।
लाक्षालवणमांसानां सपयोदधिसर्पिषाम् ॥ ६९ ।
विषलोहायुधानां च दासीगोवाजिनामपि।
विक्रेताऽसौ सदा मूढस्तथा वै केशचर्मणाम् ॥ ७० ।
शूद्रान्नपरिपुष्टाङ्गः पर्वण्यहनि मैथुनी।
पराङ्मुखो दैवपित्र्यकर्मण्येष दुरात्मवान् ॥ ७१ ।
पक्षिणो घातिताऽनेन मृगाश्चाऽपि परःशतम्।
अकारणद्रुमच्छेदी सदा निर्दयमानसः ॥ ७२ ।
उद्वेगजनको नित्यं निजबन्धुजनेष्वपि।
असत्यवादी सततं सदा हिंसापरायणः ॥ ७३ ।

कामतो जग्धानि भक्षितानि। अनेनाऽकामतो भक्षणे न दोष इति ध्वनितम्। तथा चाह मनुः—देवान् पितृन् समभ्यर्च्य खादन् मांसं न दुष्यतीत्यादि ॥ ६८ ।

पायसं परमान्नम्। पर्यपाक्षीत् पक्ववान्। लाक्षेति। लाक्षा-लवणादीनां विक्रेतेत्यग्रिमेणाऽन्वयः ॥ ६९ ।

केशाश्चामराणि ॥ ७० ।

अहनि दिवसे च ॥ ७१ ।

शतात्परे परःशतमसंख्याता इत्यर्थः ॥ ७२ ।

यह मन्द ब्राह्मण गायत्री भी नहीं जानता और इस दुर्मति ने अकेले ही मनमाना मांस-मछली खाया है ॥ ६८ ।

इसने अनेक बार अपने ही लिये पायस (खोर-खोआ) का पाक बनाया है। इस मूढ़ ने सर्वदा लाह, नोन, मांस, दूध, दही, घी, विष, लोहा, शस्त्र, दासी, गौ, घोड़ा, रोआ और चमड़ा इत्यादि वस्तुओं को बेंचा है ॥ ६९-७० ।

इस दुरात्मा का शरीर शूद्र के ही अन्न से पला है। यह दिन में और पर्वों पर भी मैथुन करता था। यह देवकर्म और पित्र्यकर्म से सदा पराङ्मुख ही रहा है ॥ ७१ ।

इसने सैकड़ों से अधिक पशु-पक्षियों को मारा। अकारण ही पेड़ों को काट डाला। इसका चित्त सर्वदा निर्दय रहा है ॥ ७२ ।

यह अपने बन्धुजन को भी नित्य ही उद्वेग उत्पन्न करने वाला, सदा असत्यवादी और निरन्तर हिंसापरायण रहा ॥ ७३ ।

अदत्तदानः पिशुनः शिश्नोदरपरायणः ।
किं बहूक्तेन रविज साक्षात्पातकमूर्तिमान् ॥ ७४ ।
रौरवेऽप्यन्धतामिस्रे कुम्भीपाकेऽतिरौरवे ।
कालसूत्रे कृमिभुजि पूयशोणितकर्दमे ॥ ७५ ।
असिपत्रभवने घोरे यन्त्रपीडे सुदंष्ट्रके ।
अधोमुखे पूतिगन्धे विष्ठागर्त्तेश्वभोजने ॥ ७६ ।
सूचीभेद्येऽथ सन्दंशे लालापेक्षुरधारके ।
प्रत्येकं नरके त्वेष पात्यतां कल्पसंख्यया ॥ ७७ ।
धर्मराजः समाकर्ण्य चित्रगुप्तमुखादिति ।
निर्भर्त्स्य तं दुराचारं किङ्करानादिदेश ह ॥ ७८ ।
भ्रूसंज्ञया हृतैर्नीतः स बद्ध्वा निरयालयम् ।
आक्रन्दरावो यत्रोच्चैः पापिनां रोमहर्षणः ॥ ७९ ।

उपसंहरन् शास्ति दर्शयति । किं बहूक्तेनेति ॥ ७४ ।

रौरवाद्या नरकविशेषाः ॥ ७५ ।

कल्पसंख्यया ब्रह्मणो दिनगणनया ॥ ७७ ।

आदिदेश आज्ञप्तवान् ॥ ७८ ।

आदेशप्रकारमाह । भ्रूसंज्ञयाहृतैः भ्रूचालनेनोक्तैरित्यर्थः । भ्रूसंज्ञयाऽथतैरिति क्वचित्पाठः । तद् भ्रूसंज्ञयाऽऽदिदेशेत्यन्वयः ॥ ७९ ।

इसने कभी दान नहीं किया। पिशुनता इसका धर्म है, यह शिश्न और उदर की ही सेवा में तत्पर रहा । हे सूर्यतनय ! मैं बहुत कहाँ तक कहूँ—यह व्यक्ति साक्षात् पातकमूर्ति है ॥ ७४ ।

रौरव १, अन्धतामिस्र २, कुम्भीपाक ३, अतिरौरव ४, कालसूत्र ५, कृमि-भोजन ६, पूयशोणितकर्दम ७, असिपत्रवन ८, घोर यन्त्रपीड ९, सुदंष्ट्रक १०, अधो-मुख ११, पूतिगन्ध १२, विष्ठागर्त १३, श्वभोजन १४, सूचीभेद्य १५, संदंश १६, लालापान १७, और क्षुरधार १८, इन प्रत्येक नरकों में इसे एक-एक कल्प की संख्या-नुसार पातित करना चाहिए" ॥ ७५-७७ ।

धर्मराज ने चित्रगुप्त के मुख से यह सब सुनकर दुराचारी को बहुत ही धिक्कारा और भ्रूभंगी के द्वारा अपने किंकरों को आज्ञा दी ॥ ७८ ।

तदनन्तर जहाँ पर पापियों का रोमहर्षण, उच्च आर्तनाद की चिल्लाहट मची थी, यमदूतों ने वाहीक को बाँधकर उसी नरकालय में पहुँचा दिया ॥ ७९ ।

ईश्वर उवाच—

यातनास्वतितीव्रासु वाहीके संस्थिते तदा ।
तत्कालपुण्यफलदे गाङ्गेयाम्भसि निर्मले ॥ ८० ।
पतितं तद्धि गृध्रास्याद्वाहीकस्य द्विजन्मनः ।
हरे विमानं तत्कालमापन्नं सुरसद्मतः ॥ ८१ ।
घण्टाऽवलम्बितं दिव्यं दिव्यस्त्रीशतसंकुलम् ।
आरुह्य देवयानं स दिव्यवेषधरो द्विजः ॥ ८२ ।
वीज्यमानोऽप्सरोवृन्दैर्दिव्यगन्धानुलेपनः ।
जगाम स्वर्गभुवनं गङ्गाऽस्थिपतनाद्धरे ॥ ८३ ।

स्कन्द उवाच—

वस्तुशक्तिविचारोऽयमद्भुतः कोऽपि कुम्भज ।
द्रवरूपेण काऽप्येषा शक्तिः सादाशिवी परा ॥ ८४ ।
करुणामृतपूर्णेन देवदेवेन शम्भुना ।
एषा प्रवर्तिता गङ्गा जगदुद्धरणाय वै ॥ ८५ ।

तत् पादगुल्फ ॥ ८१ ।

मूकाऽप्येषा निरञ्जनचित्स्वरूपा । "योऽसौ निरञ्जनो देवः चित्स्वरूपी जनार्दनः । स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नाऽत्र संशयः" इति । सदाशिवस्येयं सादाशिवी ॥ ८४ ।

निरञ्जनस्य कथं द्रवरूपेण प्रवृत्तिरित्याशङ्कायामाह । करुणेति ॥ ८५ ।

ईश्वर ने कहा—

'तब वाहीक के अतितीव्र यातना में पड़ने पर, तत्क्षण पुण्यफल के दायक निर्मल गंगा के जल में गिद्ध के मुख से उस वाहीक द्विज का अस्थिखण्ड गिर पड़ा'। हे हरे ! उसी क्षण घण्टा-विलम्बित दिव्य सैकड़ों स्त्रियों से संकुल दिव्य विमान देवलोक से आ पहुँचा । हरे ! गंगा में अस्थिपतन के कारण से वह वाहीक द्विज दिव्य वेष धारण और दिव्यगन्धानुलेपन कर तुरत विमान पर चढ़ अप्सरागण के व्यजनवायु का सुख-भोग करता हुआ स्वर्गलोक को चला गया ॥ ८०-८३ ।

स्कन्द बोले—

'हे कुम्भसंभव ? इस वस्तुशक्ति का विचार कुछ अद्भुत ही है । यह गंगा सदाशिव की द्रवरूपा अकथनीय परमा शक्ति है ॥ ८४ ।

करुणामृतपूर्ण भगवान् महादेव ने जगत् के उद्धार निमित्त ही इस गंगा को प्रवर्तित किया है ॥ ८५ ।

यथाऽन्याः सरितो लोके वारिपूर्णाः सहस्रशः ।
तथैषा नाऽनुमन्तव्या सद्भिस्त्रिपथगामिनी ॥ ८६ ।
श्रुत्यक्षराणि निश्चोत्य कारुण्याच्छम्भुना मुने ।
निर्मिता तद्द्रवैरेषा गङ्गा गङ्गाधरेण वै ॥ ८७ ।
योगोपनिषदामेतं सारमाकृष्य शङ्करः ।
कृपया सर्वजन्तूनां चकार सरितां वराम् ॥ ८८ ।
अकलानिधयो रात्र्यो विपुष्पाश्चैव पादपाः ।
यथा तथैव ते देशा यत्र नास्त्यमरापगा ॥ ८९ ।
अनयाः सम्पदो यद्वन् मखा यद्वददक्षिणाः ।
तद्वद्देशादिशः सर्वा हीना गङ्गाम्भसा हरे ॥ ९० ।

अत एव एषा नाऽन्यसरित्समेत्याह । यथाऽन्या इति ॥ ८६ ।

श्रुत्यक्षराणीति । हे मुने ! श्रुत्यक्षराणि उपनिषदक्षराणि निश्चोत्य निष्पीड्य उपनिषदर्थान्निश्चित्येत्येतत् । तद्द्रवैस्तेषामुपनिषदक्षराणां द्रवै रसैस्तत्प्रतिपाद्यैर्ब्रह्मानन्दैरित्यर्थः । "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" (तै० उ०) इति श्रुतेः । कारुण्याच्छम्भुना सर्वेषामानन्दकारणेन गङ्गाधरेण एषा गङ्गा विनिर्मितेत्यर्थः ॥ ८७ ।

एतदेव विवृणोति । योगोपनिषदामिति । योगो ब्रह्मात्मनोरैक्यं तत्प्रतिपादकोपनिषदां वेदानामित्यर्थः । एतं ब्रह्मानन्दम् ॥ ८८ ।

अकलानिधयः चन्द्ररहिताः ॥ ८९ ।

अनया नीतिरहिताः ॥ ९० ।

संसार में जैसे दूसरी सहस्रशः नदियाँ जल से पूर्ण वर्तमान हैं, वैसे ही त्रिपथगामिनी गंगा को सज्जनगण न समझें ॥ ८६ ।

मुने ! गंगाधर शम्भु ने दयादृष्टि से वेदाक्षरों को निचोड़ कर उसी के द्रवों (रसों) से इस गंगा का निर्माण किया है ॥ ८७ ।

शंकर ने सब जन्तुओं पर कृपा कर योग और उपनिषदों के सार को लेकर उसी से इस सरिद्वरा को बनाया है ॥ ८८ ।

जिन (जिन) देशों में यह सुरधुनी नहीं हैं, वे सब देश चन्द्र से हीन रात्रि और पुष्प रहित वृक्षों के तुल्य हैं ॥ ८९ ।

विष्णो ! गंगा की जलधारा से विहीन समस्त देश और दिशायें न्यायरहित संपत्ति और दक्षिणा से हीन यज्ञ के समान हैं ॥ ९० ।

व्योमाङ्गणमनर्कं च नक्तेऽदीपं यथा गृहम् ।
अवेदा ब्राह्मणा यद्वद् गङ्गाहीनास्तथा दिशः ॥ ९१ ।

चान्द्रायणसहस्रं तु यः कुर्याद्देहशोधनम् ।
गङ्गाऽमृतं पिबेद्यस्तु तयोर्गङ्गाम्बुपोऽधिकः ॥ ९२ ।

पादेनैकेन यस्तिष्ठेत् सहस्रं शरदां शतम् ।
अब्दं गङ्गाम्बुपो यस्तु तयोर्गङ्गाम्बुपोऽधिकः ॥ ९३ ।

अवाक्शिराः प्रलम्बेद्यः शतसंवत्सरान्नरः ।
भीष्मसूवालुकातल्पशयस्तस्माद्वरो हरे ॥ ९४ ।

पापतापाभितप्तानां भूतानामिह जाह्नवी ।
पापतापहरा यद्वद् गङ्गा नान्यत्तथा कलौ ॥ ९५ ।

तार्क्ष्यवीक्षणमात्रेण फणिनो निर्विषा यथा ।
निष्प्रभाणि तथैनांसि भागीरथ्यवलोकनात् ॥ ९६ ।

भीष्मसूवालुकातल्पशयः भीष्मं सूत इति भीष्मसूर्गङ्गा तस्या वालुका एव तल्पं शय्या तत्र शेत इति तथा ॥ ९४ ।

सूर्य से रहित जैसे आकाशांगण हो, रात्रि में जैसे विना दीपक का गृह हो, एवं जैसे वेदवर्जित ब्राह्मण हो, उसी प्रकार से गंगाहीन दिशाएँ भी (व्यर्थ ही) हैं ॥ ९१ ।

यदि कोई देह-शोधन के लिये सहस्रचान्द्रायणव्रत करे, और कोई गंगा का जल ही पीये, तो उन दोनों में गंगाजल पीने वाला ही श्रेष्ठ (समझा जाता) है ॥ ९२ ।

जो कोई शतसहस्रवर्षतक एक पाद से खड़ा रहकर तपस्या करे, और दूसरा कोई एक वर्ष मात्र गंगाजल पीये, तो उन दोनों में भी गंगाजल पान-कर्ता ही अधिक है ॥ ९३ ।

हरे ! जो मनुष्य सैकड़ों वत्सर अधःशिरा होकर लटकता रहे, उसकी अपेक्षा गंगा की वालुका रूप शय्या पर शयन करने वाला (सर्वथा) श्रेष्ठ है ॥ ९४ ।

इस लोक और कलिकाल में पातक एवं संतापों से दग्ध जीवों का पापतापहरण जैसा जाह्नवी गंगा करती है, वैसा अन्य कोई भी नहीं कर सकता ॥ ९५ ।

जैसे गरुड़ के दर्शनमात्र से सर्पगण विषरहित हो जाते हैं, तद्रूप केवल गंगा का दर्शन होते ही पापपुंज निष्प्रभ हो जाते हैं ॥ ९६ ।

गङ्गातटोद्भवां मृत्स्नां यो मौलौ बिभृयान्नरः ।
बिभर्ति सोऽर्कबिम्बं वै तमोनाशाय निश्चितम् ।। ९७ ।
व्यसनैरभिभूतस्य धनहीनस्य पापिनः ।
गङ्गैव केवलं तस्य गतिरुक्ता न चान्यथा ।। ९८ ।
श्रुताभिलाषिता दृष्टा स्पृष्टा पीताऽवगाहिता ।
पुंसां वंशद्वयं गङ्गा तारयेन्नाऽत्र संशयः ।। ९९ ।
कीर्तनाद्दर्शनात्स्पर्शाद् गङ्गा पानाऽवगाहनात् ।
दशोत्तरगुणा ज्ञेया पुण्या पुण्यर्धिनाशयोः ।। १०० ।
न सुतैर्न च वा वित्तैर्नान्येनाऽपि सुकर्मणा ।
तत्फलं प्राप्यते मर्त्यो गङ्गामाप्य यदाप्यते ।। १०१ ।

गङ्गातटोद्भवां गङ्गातीरे जाताम् । गङ्गातटोत्तरामिति पाठे गङ्गातीरादुत्तर उत्तरणम् उद्धारो यस्याः सा तथा तामित्यर्थः । तमोनाशाय पापनाशाय परम्परयाऽज्ञाननाशायेति वा ।। ९७ ।

वंशद्वयं मातृवंशं पितृवंशं चेत्यर्थः ।। ९९ ।

कीर्तनादिति । कीर्तनाद् गङ्गेत्यादिनामकीर्तनाद्दर्शनात् स्पर्शात् पानाऽवगाहनाच्च पुण्यापुण्यर्धिनाशयोर्धर्मोपचयादधर्मनाशयोर्गङ्गा दशोत्तरगुणा ज्ञेया इत्यन्वयः । अयमर्थः—गङ्गायाः कीर्तनात् पुण्योपचयो भवत्यपुण्यनाशश्च, तावतोऽपि दशगुणो दर्शनात्, एवं तावतोऽपि दशगुणः स्पर्शात्, एवं तावतोऽपि दशगुणः पानात्, एवं तावतोऽपि दशगुणोऽवगाहनादिति ।। १०० ।

जो नर गंगातटोद्भूत मृत्तिका को मस्तक पर धारण करता है, वह निश्चय करके तमोनाशन के लिये सूर्य-बिम्ब ही को धारण किये रहता है ।। ९७ ।

व्यसनों से अभिभूत एवं धनहीन और पापी जन की एक मात्र गंगा ही गति हैं । अन्य विध की कोई दूसरी गति नहीं कही गई है ।। ९८ ।

माहात्म्यादि श्रवण, स्नानादि की अभिलाषा, दर्शन, स्पर्शन, पान और अवगाहन करने से गंगा पुरुष के उभयवंश को तार देती हैं, इसमें सन्देह नहीं है ।।९९।

गंगा के कीर्तन, दर्शन, स्पर्श, जलपान और स्नान करने से पुण्यसंचय और पातकक्षय यथाक्रम दशगुण अधिक (प्राप्त) होता है ।। १०० ।

गंगा की प्राप्ति होने से जो पुण्यलाभ होता है, वह मनुष्य को पुत्र, धन और दूसरे अनेक सत्कर्मों के द्वारा कभी नहीं मिल सकता ।। १०१ ।

जात्यन्धाः पङ्गवस्ते वै जीवन्तोऽप्यथ ते मृताः ।
समर्था अपि ये गङ्गां न स्नायुर्मोक्षगर्भिणीम् ॥ १०२ ।

श्रुतिं निशामय हरे गङ्गामाहात्म्यभाषिणीम् ।
विनिश्चितार्थां यां श्रुत्वा श्रयेद्गङ्गां न नरोत्तमः ॥ १०३ ।

इरावतीं मधुवतीं पयस्विनीममृतरूपामूर्जस्वतीम् ।
त्रिदिवप्रसूतां गङ्गां श्रितासस्त्रिदिवं व्रजन्ति ॥ १०४ ।

ऋषिजुष्टां विष्णुपदीं पुराणां सुपुण्यधारां मनसा हि लोके ।
सर्वात्मना जाह्नवीं ये प्रपन्नास्ते ब्रह्मणः सदनं सम्प्रयान्ति ॥१०५।

लोकानिमान्नयति या जननीव पुत्रान् स्वर्गं सदा सर्वगुणोपपन्ना ।
स्थानमिष्टं ब्राह्ममभीप्समानैर्गङ्गा सदैवात्मवशैरुपास्या ॥१०६।

श्रुतिम् इरावतीमित्यादिकाम् । विनिश्चितार्थामसन्देहार्थाम् ॥ १०३ ।

श्रुतिमेव दर्शयति । इरावतीमित्यादिना विशुद्धिकाम इत्यन्तेन । गङ्गां श्रितासः श्रिता आश्रिता इत्यर्थः । मृतास इति पाठे गङ्गायां मृताः सन्तस्त्रिदिवं सुखात्मकं कैवल्यं व्रजन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—गङ्गायां च जले मोक्ष इति । इरावत्यादयः । पञ्चनदीप्रभेदास्तदात्मिकाम् । अर्थान्तरत्वे स्पष्ट एवार्थः ॥ १०४ ।

ब्रह्मणः सदनं वैकुण्ठम् ॥ १०५ ।

जो लोग शक्ति रहते मुक्तिगर्भिणी गंगा में स्नान नहीं करते, वे सब जन्मान्ध, पंगु और जीवन्मृतक हैं ॥ १०२ ।

हरे ! गंगामाहात्म्यवादिनी निश्चितार्था श्रुति को सुनना चाहिए, जिसे सुनकर उत्तम नर गंगा का आश्रयण करें ॥ १०३ ।

ऐरावती, मधुमती, पयस्विनी, अमृतरूपा, ऊर्जस्वती, इन पाँचों नदियों की भेदात्मिका स्वर्गसंभूता गंगा का जो आश्रयण करते हैं, वे त्रिदिव (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥ १०४ ।

जो लोग ऋषियों से सेवित, अतिपुण्यधारा, पुरातनी विष्णुपदी जाह्नवी को इस लोक में सर्वात्मना मन से प्राप्त होते हैं, वे सब ब्रह्मलोक में चले जाते हैं ॥ १०५ ।

माता जैसे पुत्रादिकों को सुख से रखती है, वैसे ही सर्वगुणशालिनी वही गंगा समस्त लोगों को ऐहिक और स्वर्गसुख का भागी बनाती हैं। अतः इष्ट ब्रह्मपद के अभिलाषी जितेन्द्रिय गण को उसी गंगा की उपासना सदा करने योग्य है ॥ १०६ ।

उस्रैर्जुष्टामिषतीं विश्वरूपामिरावतीं जनयित्रीं गुहस्य शिष्टैः।
सेव्याममृतां ब्रह्मकान्तां गङ्गां श्रयेदात्मविशुद्धिकामः ॥१०७।

गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः।
विधूतपापो भवति वाजपेयं च विन्दति ॥ १०८।

अशुभैः कर्मभिर्ग्रस्तान्मज्जमानान्महार्णवे।
पततो निरये गङ्गा संश्रितानुद्धरेत्सदा ॥ १०९।

ब्रह्मलोकस्तु लोकानां सर्वेषामुत्तमो यथा।
सरितां सरसां वाऽपि वरिष्ठा जाह्नवी तथा ॥ ११०।

अन्यत्र सम्यक् सङ्कल्प्य तपः कृत्वा समा त्रयम्।
यत्फलं तद्भक्त्या गङ्गायां घटिकाऽर्धतः ॥ १११।

स्वर्गस्थस्य न सा प्रीतिर्भुञ्जतः सुखमक्षयम्।
यास्याद्गङ्गातटे पुंसां रात्रौ चन्द्रोदये सति ॥ ११२।

उस्रैर्देवैः तेजोमयत्वात्। इषतीमिच्छतीमिच्छां कुर्वंतीमित्यर्थः। इरावतीं इरा भूवागाधा तद्वतीम्। ब्रह्मकान्तां ब्राह्मणानां कमनीयामभिलषितां सावित्रीरूपां वा ॥ १०७।

आत्मविशुद्धि-कामना वाला मनुष्य, देवगणसेविता, स्कन्द की जनयित्री, इरावती (सजला), शिष्टों से सेवनीया, अमृतमयी, विश्वरूपा, ब्रह्मकान्ता गंगा का आश्रय ले ॥ १०७।

मनुष्य ब्रह्मचारी और एकाग्रचित्त होकर गंगा में स्नान करने से पापरहित होता है, एवं वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥ १०८।

अशुभकर्मों से ग्रस्त, महासमुद्र में डूबते हुए और नरक में गिरते हुए लोगों का भी आश्रित हो जाने पर गंगा ही सर्वदा उद्धार कर देती हैं ॥ १०९।

जैसे समस्त लोकों में ब्रह्मलोक उत्तम है, वैसे सकल नदी और सरोवरों में गंगा ही श्रेष्ठ हैं ॥ ११०।

अन्य किसी स्थान में सम्यक् प्रकार से संकल्प कर तीन वर्ष तपस्या करने से जो फल होता है, भक्तिपूर्वक आधी घटिका में वही फल गंगातट पर प्राप्त हो जाता है ॥ १११।

मनुष्यों को रात्रि में चन्द्रोदय होने पर गंगा के तीर में जो आनन्द आता है, अक्षय सुख को भोगते हुए स्वर्गवासी को भी वह प्रीति नहीं होती ॥ ११२।

जरारोगाभिपन्नं कुणपं जाह्नवीजले।
धैर्येण तृणवत्त्यक्त्वा प्रविशेदमरावतीम् ॥ ११३ ।
सततं यस्याः प्लाव्यते शशिमण्डलम् ।
भूयोऽधिकतरां शोभां बिभर्ति तदहः क्षये ॥ ११४ ।
आप्लुतस्य जले यस्याः सद्यो नश्यति पातकम् ।
महतः श्रेयसः प्राप्तिः तत्क्षणादेव जायते ॥ ११५ ।
पितृभ्यः श्रद्धया यत्र दत्तास्त्वापः स्ववंशजैः ।
प्रयच्छन्ति परां तृप्तिं शरदां त्रयमच्युत ॥ ११६ ।
तारयेत् क्षिति यान्मर्त्यानधस्थांश्च सरोसृपान् ।
स्वर्गे स्वर्गसद्गो विष्णो गङ्गा त्रिपथगा ततः ॥ ११७ ।
तीर्थानामुत्तमं तीर्थं सरितामुत्तमा सरित् ।
स्वर्गदा सर्वजन्तूनां महापातकिनामपि ॥ ११८ ।

यस्या वार्योघैः शशिमण्डलं प्लाव्यते इत्यादीनां सा तीर्थानां परमं तीर्थमित्यग्रेणाऽन्वयः । तच्छशिमण्डलम् । अहः क्षये रात्रौ ॥ ११४ ।

क्षितौ यान्ति गच्छन्तीति क्षितियास्तान् । क्षितिजानिति वा पाठः । त्रिपथगा नाम निर्वक्ति । तारयेदिति । त्रीन् पथः त्रयश्च ते पन्थानश्च तान् वा गच्छतीति तथा ॥ ११७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ।

जरा और रोगों से पूर्ण अपने मृतक शरीर को गंगा के जल में धीरता से तृण के समान फेंक देने से मनुष्य अमरावती में प्रवेश करता है ॥ ११३ ।

इस गंगा की जलराशि से चन्द्रमंडल निरन्तर प्लावित होकर दिन बीतने पर फिर अत्यधिक शोभा को धारण कर लेता है ॥ ११४ ।

गंगा के जल में स्नान करने से सद्यः पातक विनष्ट होते हैं और तत्क्षण बड़े कल्याण को प्राप्ति हो जाती है ॥ ११५ ।

हे अच्युत ! इसके जल में स्ववंशज पुरुषों के द्वारा श्रद्धापूर्वक पितरों को दिये हुए उदक तीन वर्ष के लिये पूरी तृप्ति कर देते हैं ॥ ११६ ।

विष्णो ! जो पृथिवी पर के मनुष्यों को और पातालादि अधःस्थित सर्पादिकों को एवं स्वर्ग में स्वर्गवासियों को तार देती हैं, इसी कारण से उस गंगा का नाम त्रिपथगा (प्रसिद्ध) है ॥ ११७ ।

वह समस्त तीर्थों में उत्तम तीर्थ है और सम्पूर्ण नदियों में उत्तम नहीं हैं, अथ च वह गंगा समग्र जन्तुओं को यहाँ तक कि महापातकी को भी स्वर्ग में पहुँचा देती हैं ॥ ११८ ।

अध्युष्टाः कोटयो विष्णो सन्ति तीर्थानि सर्वतः ।
दिवि भूम्यन्तरिक्षे च जाह्नव्यां तानि कृत्स्नशः ॥ ११९ ।
ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च गङ्गायां यः पञ्चत्वमवाप्नुयात् ।
अनात्मघाती स्वर्गीयान्नरकान् स न पश्यति ॥ १२० ।
गङ्गैव सर्वतीर्थानि गङ्गैव च तपोवनम् ।
गङ्गैव सिद्धिक्षेत्रं हि नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ १२१ ।
यत्र कामफला वृक्षा मही यत्र हिरण्मयी ।
जाह्नवीस्नायिनस्तत्र निवसन्ति घटोद्भव ॥ १२२ ।
धेनुं भागीरथीतीरे सुशीलां च पयस्विनीम् ।
वासो रत्नैरलङ्कृत्वा ब्राह्मणाय ददाति यः ॥ १२३ ।
यावन्ति तस्या लोमानि मुने तत्सन्ततेरपि ।
तावद्वर्षसहस्राणि स स्वर्गसुखभुग्भवेत् ॥ १२४ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गङ्गामहिमानामाऽष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ।

विष्णो ! स्वर्ग, भूतल एवं आकाश में जो करोड़ों तीर्थ वर्तमान हैं, वे सब के सब गंगा में अवस्थित हैं ॥ ११९ ।

जो कोई विना आत्मघात के, ज्ञानपूर्वक हो (अथवा अज्ञान ही से क्यों न हो) यदि गंगा में पंचत्व को प्राप्त हो तो वह स्वर्गवासी होता है और नरकों को नहीं देखता ॥ १२० ।

गंगा ही समस्त तीर्थ हैं, गंगा ही तपोवन हैं और गंगा ही सिद्धिक्षेत्र हैं। इस विषय में विचार नहीं करना चाहिए ॥ १२१ ।

घटोद्भव ! जहाँ पर वृक्षगण कामफलदाता हैं, और जहाँ की भूमि सुवर्णमयी है, गंगा के स्नान करने वाले लोग वहाँ पर ही निवास करते हैं ॥ १२२ ।

जो कोई सुशीला पयस्विनी सवत्सा धेनु वस्त्र-रत्नादि से भूषित कर गंगातीर पर ब्राह्मण को दान करता है—हे मुने ! उस धेनु के अथवा उसके सन्तति के शरीर में जितने रोम हैं, उतने सहस्र वर्ष वह जन स्वर्ग का सुखभोगी होता है ॥ १२३-१२४।

को जग में वाहीक सम, होइहै पापी आन ? ।
गंगा ताहू तारि कै, राखेनि अपनो बान ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां वाहीकाख्यानसहित-गंगामहिमवर्णनं नाम अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ।

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

विना स्नानेन गङ्गायां नृणां जन्मनिरर्थकम् ।
उपायान्तरमस्त्यन्यद्येन स्नानफलं लभेत् ॥ १ ।
अशक्तानां च पङ्गूनामालस्योपहतात्मनाम् ।
दूरदेशान्तरस्थानां गङ्गास्नानं कथं भवेत् ॥ २ ।
दानं वाऽथ व्रतं वाऽथ मन्त्रः स्तोत्रं जपोऽथवा ।
तीर्थान्तराऽभिषेको वा देवतोपासनं तु वा ॥ ३ ।
यद्यस्ति किञ्चित् षड्वक्त्र गङ्गास्नानफलप्रदम् ।
विधानान्तरमात्रेण तद्वद प्रणताय मे ॥ ४ ।

नमो भगवते तस्मै ब्रह्मविष्णुशिवात्मने ।
परब्रह्मस्वरूपिण्यै गङ्गायै च नमो नमः ॥ १ ।
एकोनत्रिंशदध्याये गङ्गानामसहस्रकम् ।
वर्ण्यते भूरि माहात्म्यं सर्वाऽघौघविदारणम् ॥ २ ।

पूर्वोक्तापरिमितगुणगणाया गङ्गायाः स्नानमन्तरेण नृणां जन्म व्यर्थं स्यादतोऽशक्तदूरदेशस्थितानां येनोपायान्तरेण तद्भवति तत्किमस्तीति सर्वलोकोपकाराय पृच्छति। विनेति द्वाभ्याम् ॥ १-२ ।

उपायान्तरमेव विकल्प्याऽनुपृच्छति । दानं वेति द्वयेन । मन्त्रस्तोत्रमिति पाठे एकवद्भावः ॥ ३ ।

विधानान्तरमात्रेण केवलाऽनुष्ठानान्तरेण । विधानान्तरमन्त्रेशेति क्वचित् ॥४।

(गंगासहस्रनामस्तोत्र)

अगस्त्य ने पूछा—

'विना गंगास्नान के मनुष्य का जन्म निरर्थक है, तब क्या कोई दूसरा उपाय भी है, जिसके द्वारा स्नान का फल मिल सके ? ॥ १ ।

अशक्त, पंगु, आलस्यग्रस्त और दूरदेशस्थ लोगों को गंगास्नान का फल किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है ? ॥ २ ।

हे षण्मुख ! जिसमें गंगास्नान का फल होवे, ऐसा दान, व्रत, मन्त्र, स्तोत्र, जप, अन्यतीर्थाभिषेक अथवा देवता की उपासना इत्यादि यदि कोई भी अन्य कर्म हो, तो मुझ प्रणत से कीर्तन कीजिये ॥ ३-४ ।

त्वत्तो वेद स्कन्दाऽन्यो गङ्गागर्भसमुद्भव ।
परं स्वर्गतरङ्गिण्या महिमानं महामते ॥ ५ ।

स्कन्द उवाच—

सन्ति पुण्यजलानीह सरांसि सरितो मुने ।
स्थाने स्थाने च तीर्थानि जितात्माऽध्युषितानि च ॥ ६ ।
दृष्टप्रत्ययकारीणि महामहिमभाञ्ज्यपि ।
परं स्वर्गतरङ्गिण्याः कोट्यंशोऽपि न तत्र वै ॥ ७ ।
अनेनैवाऽनुमानेन बुद्धस्व कलशोद्भव ।
दध्रे गङ्गोत्तमाङ्गेन देवदेवेन शम्भुना ॥ ८ ।
स्नानकालेऽन्यतीर्थेषु जप्यते जाह्नवी जनैः ।
विना विष्णुपदीं क्वाऽन्यत् समर्थमघमोचने[1] ॥ ९ ।

अन्य एव कश्चित्प्रष्टव्य इति न वाच्यमित्याह। त्वत्त इति। यतस्त्वं गङ्गागर्भसमुद्भवोऽतस्त्वत्तः परो गङ्गामाहात्म्यं न जानातीत्यर्थः ॥ ५ ।

यद्यपि पृथिव्यां मध्ये मध्ये प्रत्यक्षफलजनकानि मुनिभिरध्युषितानि महामहिमयुक्तान्यपि तीर्थानि सन्ति, तथापि गङ्गायाः कोट्यंशस्यांशोऽपि तेषु नास्त्यतो गङ्गास्नानजं फलं गङ्गायामेव लभ्यते, नाऽन्यत्रेति सदृष्टान्तमुत्तरमाह। सन्ति पुण्यजलानीति पञ्चभिः ॥ ६ ।

प्रतीयत इति प्रत्ययः फलम् ॥ ७ ।

हे महाबुद्धे ! स्कन्द ! आप गंगा के गर्भ से उत्पन्न हैं, अतः स्वर्गतरङ्गिणी की महिमा आप से अधिक दूसरा कोई नहीं जान सकता है ॥ ५ ।

स्कन्द ने उत्तर दिया—

मुने ! इस संसार में पुण्यजलसंपन्न अनेक सरोवर और नदियाँ हैं, स्थान-स्थान पर जितात्मा लोगों से अधिष्ठित कितने ही तीर्थ भी हैं ॥ ६ ।

जो प्रत्यक्ष फलजनक एवं बड़े ही महिमावाले होने पर भी गंगा के कोट्यंश समान नहीं हैं ॥ ७ ।

हे कलशोद्भव ! मैं अधिक क्या कहूँ, इसी से अनुमान के द्वारा समझ लीजिए कि स्वयं देवदेव शंभु ने गंगा को अपने मस्तक पर धारण किया है ॥ ८ ।

(देखिए) लोग दूसरे तीर्थों में भी स्नान करने के समय गंगा को हो जपते हैं, (भला) इस विष्णुपदी गंगा से भिन्न और पापमोचन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ९ ।

---

१. शोधने इत्यपि क्वचित्पाठः ।

गङ्गास्नानफलं ब्रह्मन् गङ्गायामेव लभ्यते ।
यथा द्राक्षाफलस्वादो द्राक्षायामेव नान्यतः ॥ १० ॥
अस्त्युपाय इह त्वेकः स्याद्येनाऽविकलं फलम् ।
स्नानस्य देवसरितो महागुह्यतमो मुने ॥ ११ ॥
शिवभक्ताय शान्ताय विष्णुभक्तिपराय च ।
श्रद्धालवे त्वास्तिकाय गर्भवासमुमुक्षवे ॥ १२ ॥
कथनीयं चाऽन्यस्य कस्यचित्केनचित्क्वचित् ।
इदं रहस्यं परमं महापातकनाशनम् ॥ १३ ॥
महाश्रेयस्करं पुण्यं मनोरथकरं परम् ।
द्युनदीप्रीतिजनकं शिवसन्तोषसन्ततिः ॥ १४ ॥
नाम्नां सहस्रं गङ्गायाः स्तवराजेषु शोभनम् ।
जप्यानां परमं जप्यं वेदोपनिषदा समम् ॥ १५ ॥

द्राक्षा गोस्तनी ॥ १० ।

तर्ह्यन्धपङ्ग्वादीनां कथं निस्तार इत्यत आह । अस्त्युपाय इति ॥ ११ ।

इदं नाम्नां सहस्रमित्यन्वयः ॥ १३ ।

शिवसन्तोषसन्ततिः शिवसन्तोषस्य सन्ततिः परम्परा यत्र तत्तथा । सन्तोषकृदिति क्वचित् ॥ १४ ।

स्तवेषु मध्ये राजन्त इति स्तवराजास्तेषु शोभनं शोभायमानं चारुतरमित्यर्थः । वेदोपनिषदा वेदान्तेन तज्जन्यविद्यया वा ॥ १५ ।

ब्रह्मन् ! गंगा के स्नान का फल केवल गंगा ही में पाया जा सकता है, जैसे द्राक्षा (दाख-अंगूर) के फल का स्वाद द्राक्षा ही में मिल सकता है, दूसरी वस्तु में तो नहीं प्राप्त होता ॥ १० ।

परन्तु हे मुने ! केवल एक ही उपाय है, जिसके द्वारा अविकल (ज्यों का त्यों) गंगास्नान का फल प्राप्त हो सकता है; किन्तु वह अत्यन्त ही गोपनीय है ॥ ११ ।

जो शिवभक्त, शान्त, विष्णुभक्तितत्पर, श्रद्धालु, आस्तिक एवं गर्भवास से मुमुक्षु होवे, उसी से इस महापातकनाशन, परमरहस्यविषय को कहना चाहिए, कभी अन्य किसी से कहीं भी इसे प्रकाशित न करना ही उचित है ॥ १२-१३ ।

यह महाकल्याणकर, पुण्यमय, परम-मनोरथपूरक, गंगा का प्रीतिवर्द्धक एवं शिव का अतिसन्तोषकारक, स्तवराजों में शोभन गंगा का सहस्रनाम है, जपनीयों में

जपनीयं प्रयत्नेन मौनिना वाचकं विना।
शुचिस्थानेषु शुचिना सुस्पष्टाक्षरमेव च ॥ १६ ॥

प्रथमतो गङ्गानामसहस्रं वक्ष्यन् मङ्गलमाचरति। ॐ नमो गङ्गा देव्या इति। नन्वत्राऽकाराद्यादिक्षकाराद्यन्तानि नामानि क्रमेण दृश्यन्ते, तत्किमिति मध्ये ऋ ॠ ऌ ॡ अः ङ ञ ठ ण थादीनि नामानि नोपलभ्यन्त इति। न च पतितानीति वाच्यम्, बहुपुस्तकेष्वदृष्टेः। गणनायां कृतायां किञ्चिदधिकानि नवशतान्येव लभ्यन्त इति। अत्रोच्यते—सम्पूर्णसहस्रनाम्नां कीर्तनादिना सद्य एव सशरीराणां प्राणिमात्राणां वैकुण्ठशिवलोकादिप्राप्तेरकाण्ड एव सृष्ट्याद्युच्छेदादृकारादि नववर्णानां कियतां नाम्नां सङ्गोपनं गङ्गयैव कृतमिति। यथा दर्शनमात्रेण सर्वजन्तूनां सशरीराणां सद्यो वैकुण्ठलोकप्राप्तिवारणाय पुरुषोत्तमाख्ये क्षेत्रेऽङ्गवैकल्यं श्रीपुरुषोत्तमस्य यथा वा बदरिकाश्रमे श्रीनारायणस्येति। न च तर्हि साङ्गाऽभावात्फलाभावः। अग्निहोत्रादि-कर्माणि सापायानि कलौ युगे, गङ्गास्नानं हरेर्नाम निरपायमिदं द्वयम्, नेहाऽभि-क्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादित्यादि स्मृतेर्यथाकथञ्चित् कृतस्यापि गङ्गास्नानस्य हरिहरगङ्गादिनामोच्चारणस्य च फलाऽ-वश्यंभावात्। अस्तु वा यथा तथा किमस्माकं वराकाणां तच्चिन्तया। यथास्थिति-नाम्नां सहस्रस्य समावेशो यथा भवति तथा व्याख्यायत इति। अत्रोंकाररूपिणी-त्यादिशब्दानां पुनरुक्तानामपि वृत्तिभेदान्न पौनरुक्त्यम्। गणनाथाऽम्बिकाढुण्ढिविघ्नेश-जननीत्यादीनां वृत्त्येकत्वेऽपि शब्दभेदान्न पौनरुक्त्यम्। अर्थैक्यपौनरुक्त्यं न दोषाय। योऽसौ निरञ्जनो देवश्चित्स्वरूपी जनार्दनः, स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नाऽत्र संशय इति स्मृतेर्गङ्गायाः परब्रह्मरूपत्वात् सैवाऽत्र विशिष्यते। तत्रापि स्त्रीलिङ्गशब्दा गङ्गाया नपुंसकशब्दा गङ्गाम्भसः पुंल्लिङ्गशब्दा जनार्दनस्य विशेषणमिति द्रष्टव्यम्। तत्रोंकारस्याकारोकारमकारात्मकत्वादोंकाररूपिणीत्यस्याकारादित्वं बोद्धव्यम्। यद्वा ओंकारस्य सर्ववर्णात्मकत्वान्माङ्गलिकत्वाच्चादावुपादानं युक्तमिति तदादित्वम्। तदुक्तम्—

ॐकारप्रभवा वेदा ॐकारप्रभवाः सुराः।
ॐकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥
ॐकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं परस्माच्च विशीर्यते ॥ इत्यादि।

परम जप्य और वेद के उपनिषदों के समान इस सहस्रनाम को प्रयत्नपूर्वक मौन धारण कर, पवित्र स्थानों पर अत्यन्त स्पष्ट अक्षरों से वाचक के विना (अर्थात् स्वयं) पवित्र भाव से जप करने योग्य है ॥ १४-१६ ॥

स्कन्द उवाच—

ॐकाररूपिण्यजराऽतुलाऽनन्ताऽमृतस्रवा ।
अत्युदाराऽभयाऽशोकाऽलकनन्दाऽमृता१०ऽमला ॥ १७ ।

ॐकाररूपिणीति यद्यपि ब्रह्मादिशब्दाः परदेवताया वाचकास्तथापि श्रुतिप्रामाण्यात्परदेवताया **नेदिष्ठमभिधानयोंकारः**। अत एव परदेवताप्रतिपत्ताविदं परं साधनम्। तच्च द्विप्रकारेण प्रतीकत्वेनाभिधानत्वेन च। तथा विष्ण्वादिप्रतिमाभेदेन। एवमोंकाररूपिणी परादेवता प्रतिपत्तव्या। तथा ह्योंकारलम्बनस्य परादेवता प्रसीदति।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ इति श्रुतेः।

तथा चायमर्थः—**ॐकाररूपिणी** ॐकारप्रतीका ॐकारवाचका सर्वात्मकत्वात् प्रणवस्वरूपा चेत्यर्थः। न विद्यते जराऽपक्षयलक्षणा पञ्चमीविकृतिर्यस्याः साऽजरा। न विद्यते तुला परिमाणं यस्याः साऽतुला। न विद्यते देशतः कालतो वस्तुतोऽन्तः परिच्छेदः षष्ठो विकारो विनाशो वा यस्याः साऽनन्ता। अमृतं धर्मद्रवात्मकं तोयं स्रवति वहति मोहिनीरूपेण देवेभ्यो वाऽमृतं सुधां ददातीत्यमृतस्रवा। अतिशयेनोदारा दात्री महतीत्यतिक्रान्ता उदारा दातारो महान्तो वा यया सा अत्युदारा। न विद्यते भयं यस्याः सकाशादिति वा साऽभया अद्वितीयत्वात्। '**द्वितीयाद्वै भयं भवति**' इति श्रुतेः। न विद्यते शोको यस्याः यस्याः, सकाशादिति वा साऽशोका। '**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**' इति श्रुतेः। अलकनन्दा भारतवर्षगा गङ्गा। सा च सप्तधा तदुक्तं वैष्णवे—

समन्ताद्ब्रह्मणः पुर्यां गङ्गा पतति वै दिवः।
सा तत्र पतिता दिक्षु चतुर्धा प्रतिपद्यते॥
सीता चाऽलकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च वै क्रमात्॥ इत्यादि।

अमृता सुधास्वरूपा। न विद्यतेऽमृतं मरणं यस्याः, यस्याः सकाशादिति वा साऽमृतेति वा न जायते म्रियते वा विपश्चिदित्यादिश्रुतेः १०, अमला निर्मला शुद्धसत्त्वेत्यर्थः। न विद्यते संसारलक्षणं मलं यस्याः, यस्याः सकाशादीति वा साऽमला इति वा॥ १७।

स्कन्द ने कहा—

श्री गंगा देवी को नमस्कार है। ओंकाररूपिणी, अजरा, अतुला, अनन्ता, अमृतस्रवा, अत्युदारा, अभया अशोका, अलकनंदा, अमृता (१०) अमला॥ १७।

अनाथवत्सलाऽमोघाऽपांयोनिरमृतप्रदा ।
अव्यक्तलक्षणाऽक्षोभ्याऽनवच्छिन्नाऽपराऽजिता ॥ १८ ॥
अनाथनाथाऽभीष्टार्थसिद्धिदाऽनङ्गवर्धिनी ।
अणिमादिगुणाऽधाराग्रगण्याऽलीकहारिणी ॥ १९ ॥

अः विष्णुर्नाथो येषां तेऽनाथा विष्णुभक्तास्तेषु संसाराङ्गारपापच्यमानेषु वत्सला स्निग्धाऽनाथवत्सला। अमोघानामतः शान्तनोर्भार्याऽवस्थायाम्। ब्रह्मपुत्र महाभाग शान्तनोः कुलनन्दन। अमोघागर्भसम्भूत गृहाणाऽर्घ्यं नमोऽस्तुते इति॥ स्मृतेः। न विद्यन्ते मोघा व्यर्था धर्मार्थकाममोक्षा यस्याः, यस्याः सकाशादिति वा साऽमोघाऽव्यर्था परमार्थेति यावदिति वा। सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिश्रुतेः। अपामपञ्चीकृतानां जलानां योनिः कारणम्। ता आप ऐक्षतेति श्रुतेः। अत एव ससर्जादाविति स्मृतेश्च। समुद्रात्मकत्वाद्वाऽपां योनिः कारणम्। यथा सर्वासामपां समुद्र एका योनिरिति श्रुतेः। अमृतं मोक्षं भक्तेभ्यः प्रददात्यभक्तेभ्यो वा प्रकर्षेण खण्डयतीत्यमृतप्रदा। न केनाऽपि प्रमाणेन व्यज्यत इत्यव्यक्तं ब्रह्म। ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासत इति स्मृतेः। प्रकृतिर्वाऽव्यक्तम्, नारायणः परोऽव्यक्तादिति स्मृतेः। तल्लक्षणा तत्स्वरूपाऽव्यक्तलक्षणा। न केनापि क्षोभ्यत इत्यक्षोभ्या कूटस्थेत्यर्थः। न केनाऽप्यऽवच्छिद्यत इत्यनवच्छिन्ना त्रिविधपरिच्छेदशून्येत्यर्थः। एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः। न विद्यते पर उत्कृष्टो यस्याः साऽपरा। अवतारादिषु कदापि केनचिन्न जितेत्यजिता। अपराजितेत्यत्र यद्यप्येकनाम प्रतिभाति, तथापि सहस्रसंख्यापरिपूर्त्यर्थमेवं व्याख्यायत इत्येवमेतादृशे स्थले अग्रेऽपि बोद्धव्यम् २० ॥ १८ ।

अः विष्णुर्नाथो येषां तैरनाथैर्वैष्णवैः संसाराङ्गारदन्दह्यमानैर्वा नाथ्यते प्रार्थ्यते इत्यनाथनाथा। भक्तानां येऽभीष्टाऽर्थास्तेषां सिद्धिदा तत्प्रापिका अभक्तानां सिद्धिखण्डिका वेत्यभीष्टार्थसिद्धिदेत्यर्थः। अनङ्गवर्धिनी कामवर्धिनी कामच्छेत्री वा। वृधु छेदने इति धातुः। न छिद्यते अङ्गं यस्याऽसावनङ्गः परमात्मा तं वर्धयितुं शीलं यस्याः साऽनङ्गवर्धिनीति वा। अणिमा आदिर्येषां ते अणिमादयः, आदिपदेन महिमा गरिमा लघिमेशित्ववशित्वप्राप्तिप्राकाम्या निगृह्यन्ते। ते गुणा यस्याः साऽणिमादिगुणा। अः विष्णुराधारो यस्याः सा आधारा तदेकाश्रयेत्यर्थः, तत्पादपद्मनिःसृतत्वात्। अग्रे प्रथमतो गण्यते इत्यग्रगण्या सर्वेषां मध्ये श्रेष्ठेत्यर्थः। एष सर्वेश्वर इत्यादिश्रुतेः। अलीकं मिथ्याभूतमनिर्वचनीयमज्ञानं तत्कार्यं हर्तुं शीलं यस्याः साऽलीकहारिणी। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येदित्यादिश्रुतेः ॥ १९ ।

अनाथवत्सला, अमोघा, अपांयोनि, अमृतप्रदा, अव्यक्तलक्षणा, अक्षोभ्या, अनवच्छिन्ना, अपरा, अजिता (२०) ॥ १८ ।

अनाथनाथा, अभीष्टार्थसिद्धिदा, अनंगवर्धिनी, अणिमादिगुणा, आधारा, (अधारा) अग्रगण्या, अलीकहारिणी ॥ १९ ।

अचिन्त्यशक्तिरनघाऽद्भुतरूपा ३०ऽघहारिणी ।
अद्रिराजसुताऽष्टाङ्गयोगसिद्धिप्रदाऽच्युता ॥ २० ॥

अक्षुण्णशक्तिरसुदाऽनन्ततीर्थाऽमृतोदका ।
अनन्तमहिमाऽपारा४०ऽनन्तसौख्यप्रदाऽन्नदा ॥ २१ ॥

अचिन्त्या शक्तिर्मायाख्या यस्या अचिन्त्या दुरधिगम्या च सा शक्तिश्चिच्छक्तिश्चेति वा साऽचिन्त्यशक्तिः। मम माया दुरत्ययेति स्मृतेः। न विद्यतेऽघमज्ञानं तत्कार्यलक्षणं पापलक्षणं वा यस्या यस्याः सकाशादिति वा साऽनघा। निरवद्यं निरञ्जनमिति श्रुतेः। गङ्गा तारयते पुंसामुभौ वंशौ भवार्णवादिति स्मृतेश्च। अद्भुतमाश्चर्यं रूपं यस्याः साऽद्भुतरूपा। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य मन्ता आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमित्यादि श्रुतिस्मृतिभ्याम् ३० अघं हर्तुं शीलं यस्याः साऽघहारिणी। तदुक्तम्—

दृष्टा जन्मशतं स्पृष्टा जन्मशतानि च।
स्नानाज्जन्म सहस्राणि हन्ति गङ्गा कलौ युगे॥ इति।

अद्रिराजस्य हिमवतः सुता कन्याऽद्रिराजसुता। तथा च बालकाण्डे रामायणे—

शैलेन्द्रो हिमवान्नाम रत्नानामाकरो महान्।
तस्य कन्या द्वयं नामरूपेणाप्रतिमं भुवि॥ इत्यादि।

अष्टौ यमनियमासनप्राणसंरोधप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षणान्यङ्गानि साधनत्वेन यस्मिन् स चासौ जीवात्मनोरैक्यीं च तनयोगश्च तस्य सिद्धिप्रदा मुक्तिप्रदेत्यर्थः। स्वस्वरूपान्न च्यवत इत्यच्युता॥ २०।

अक्षुण्णा अखण्डिता चासौ शक्तिश्च अक्षुण्णाऽकुण्ठिता शक्तिर्यस्या वा साऽक्षुण्णशक्तिः। असून्प्राणान् ददाति प्रवर्तयति खण्डयतीति वा असुदा। प्राणस्य प्राणमिति श्रुतेः। अनन्तानि तीर्थानि यस्यां साऽनन्ततीर्था। सर्वतीर्थमयी गङ्गेति स्मृतेः। अमृतममृतवत् स्वादु अमृतनिमित्तं वा उदकं यस्याः सा अमृतोदका। अनन्तोऽपरिच्छिन्नो महिमा महत्त्वं यस्याः साऽनन्तमहिमा। न विद्यते पारोऽवधिर्यस्याः साऽपारा ४०। सुखमेव सौख्यम्, अनन्तं सौख्यं ब्रह्मसुखं प्रददातीत्यनन्तसौख्यप्रदा। अन्नं ददातीत्यन्नदा भुक्तिप्रदेत्यर्थः॥ २१॥

अचिन्त्यशक्ति, अनघा, अद्भुतरूपा (३०) अघहारिणी, अद्रिराजसुता, अष्टांगयोगसिद्धिप्रदा, अच्युता॥ २०।

अक्षुण्णशक्ति, असुदा, अनन्ततीर्था, अमृतोदका, अनन्तमहिमा, अपारा (४०) अनन्तसौख्यप्रदा, अन्नदा॥ २१।

अशेषदेवतामूर्तिरघोराऽमृतरूपिणी ।
अविद्याजालशमनी ह्यप्रतर्क्यगतिप्रदा ॥ २२ ।
अशेषविघ्नसंहर्त्री त्वशेषगुणगुम्फिता ।
अज्ञानतिमिरज्योतिर्५०रनुग्रहपरायणा ॥ २३ ।
अभिरामाऽनवद्याङ्ग्यनन्तसाराऽकलङ्किनी ।
आरोग्यदाऽऽनन्दवल्ली त्वापन्नार्तिविनाशिनी ॥ २४ ।

अशेषा: समग्रा देवता मूर्तौ यस्याः सा अशेषदेवतामूर्तिः । सर्वदेवमयो हरिरिति स्मृतेः । न घोरा अघोरा शान्तस्वभावेत्यर्थः । सरस्वती रजोरूपा तमोरूपा कलिन्दजा सत्त्वरूपा च गङ्गाऽत्र नयन्ति ब्रह्मनिर्गुणमित्युक्तेः । अमृतरूपिणी कैवल्यरूपा । तदेतद्-ब्रह्मामृतमभयमिति श्रुतेः । अमृतवर्षिणीति क्वचित्पाठः । अविद्यैव जालमावरकत्वा-त्तस्याः शमनी नाशकर्त्री अविद्याजालशमनी । अप्रतर्क्यां वाङ्मनसयोरगम्यां गतिं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यरूपां प्रददातीति अप्रतर्क्यगतिप्रदा । हि निश्चये । एवमग्रेऽपि ॥ २२ ।

अशेषाणां विघ्नानाममङ्गलानामाधिदैविकाऽधिभौतिकाऽध्यात्मिकानां संहर्त्री अशेषविघ्नसंहर्त्री । एवार्थे तुशब्दः । एवमग्रेऽपि । अशेषैर्गुणैः सर्वज्ञत्वादिलक्षणैर्गुम्फिता ग्रथिता व्याप्ता अशेषगुणगुम्फिता । अज्ञानमेव तिमिरं तमस्तस्य ज्योतिर्नाशकम् । आश्रयत्वविषयत्वयोः प्रदानेन तत्प्रकाशकमिति वा ५०, भक्तानामनुग्रहाय परायणा व्यग्रा अनुग्रहपरायणा ॥ २३ ।

अभिरमन्त्यस्यां योगिन **इत्यभिरामा** ।

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माऽभिधीयते ॥ इति स्मृतेः ।

न वद्यं दुष्टमङ्गं स्वरूपं यस्याः सा **अनवद्याङ्गी** । निर्दोषं हि समं ब्रह्मेति स्मृतेः । अनन्तः सारः स्थिरोंऽशो यस्याः साऽनन्तसारा अनन्ते प्रपञ्चे सारभूता इति वा । न विद्यते कलङ्को यस्याः **साऽकलङ्किनी** । आरोग्यं ददातीत्यारोग्यदा रोग एव रोग्यं आ समन्ताद्रोग्यं द्यति खण्डयतीति वा **आरोग्यदा** । **आनन्दवल्ली** सुखलतिका । स एष परमानन्द इति श्रुतेः । **आपन्नार्तिविनाशिनी** भक्तपीडो-पशमनी ॥ २४ ।

अशेषदेवतामूर्ति, अघोरा, अमृतरूपिणी, अविद्याजालशमनी, अप्रतर्क्य-गतिप्रदा ॥ २२ ।

अशेषविघ्नसंहर्त्री, अशेषगुणगुंफिता, अज्ञानतिमिरज्योति (५०) अनुग्रह-परायणा ॥ २३ ।

अभिरामा, अनवद्यांगी, अनन्तसारा, अकलंकिनी, आरोग्यदा, आनन्दवल्ली, आपन्नार्तिविनाशिनी ॥ २४ ।

आश्चर्यमूर्तिरायुष्या६०ह्याढ्याऽऽद्याऽऽप्राऽऽर्यसेविता ।
आप्यायिन्याप्तविद्याऽऽख्या त्वानन्दाऽऽश्वासदायिनी॥ २५ ।
आलस्यघ्न्या७०पदां हन्त्री ह्यानन्दामृतवर्षिणी ।
इरावतीष्टदात्रीष्टा त्विष्टापूर्तफलप्रदा ॥ २६ ।

आश्चर्या मूर्तिः स्वरूपं यस्याः सा **आश्चर्यमूर्तिः** । आश्चर्यरूपिणीति क्वचित्पाठः । आयुर्भ्यो हिता **आयुष्या ६०** **आढ्या** परिपूर्णेत्यर्थः । आदौ भवा **आद्या** सर्वकारणमित्यर्थः । आ समन्तात् प्राति पूरयतीत्याप्रा । प्रा पूरण इति धातुः । तदुक्तं वैष्णवे—

समन्ताद् ब्रह्मणः पुर्यां गङ्गा पतति वै दिवः ।
सा तत्र पतिता दिक्षु चतुर्धा प्रतिपद्यते ॥ इत्यादि ।

पृथोर्भयाद् गोरूपा सती आ समन्ताच्चतुःसमुद्रान् व्याप्नोतीति वा **आप्रा** । सर्वात्मकत्वाद्गङ्गायाः । तदुक्तं कालिदासेन—"**पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्**" इति । आप्तेति क्वचित्पाठः । आर्यैः पूज्यैर्विश्वेश्वरादिभिः सेविता उपासिता **आर्यसेविता** । आप्यायितुं तृप्तिं जनयितुं शीलं यस्याः सा **आप्यायनी** । आप्ता चासौ विद्या चेति **आप्तविद्या** स्वतोऽपरोक्षब्रह्मात्मैकत्वविद्येत्यर्थः । आप्ता प्राप्ता विद्या ययेति वा । आ समन्तात् ख्या प्रकथनं यस्याः सा **आख्या** प्रसिद्धेत्यर्थः । प्रसिद्धत्वं चास्याः सिताऽसिते सरिते यत्र सङ्गते इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति इत्याद्यया श्रुत्या बोद्धव्यम् । **आनन्दा** सुखस्वरूपा । विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेः । आश्वासं निर्भयं दातुं शीलं यस्याः सा **आश्वासदायिनी** ॥ २५ ।

अलसस्य भाव आलस्यं तद्धन्तुं शीलं यस्याः सा **आलस्यघ्नी** । **आलस्यमूलकामक्रोधादिसर्वदोषहन्त्रीत्यर्थः** ७०, **आपदां हन्त्री** आपदामाध्यात्मिकाऽधिदैविकाऽधिभौतिकानां दुःखानां हन्त्री नाशयित्री । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति श्रुतेः । आनन्दं ब्रह्मसुखममृतं सुधा तद्द्वयं भक्तेभ्यो वर्षितुं शीलं यस्याः सा **आनन्दामृतवर्षिणी** । आनन्दामृतवाहिनीति पाठे आनन्दात्मकं यदमृतं जलं तद्वोढुं शीलं यस्याः, सा तथा । योऽसौ निरञ्जनो देव इत्यादिस्मृतेः । **इरावती** नदीप्रभेदस्तद्रूपेरावती । इरा इन्दिरा लक्ष्मीस्तद्वतीति वा । तथा चात्रैवोक्तम्—'इरावतीं मधुमतीम्' इत्यादि । इष्टान् ददातीतीष्टदात्री । इष्टाऽभिप्रेता परमप्रेमास्पदेत्यर्थः । इष्टा पूज्येति वा । तु इष्टं हुतं पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणं तयोः फलं प्रददातीति इष्टापूर्तफलप्रदा ॥ २६ ।

आश्चर्यमूर्ति, आयुष्या (६०), आढ्या, आद्या, आप्रा, आर्यसेविता, आप्यायिनी आप्तविद्या, आख्या, आनन्दा, आश्वासदायिनी ॥ २५ ।

आलस्यघ्नी (७०) आपदांहन्त्री, आनन्दामृतवर्षिणी, इरावती, इष्टदात्री, इष्टा, इष्टापूर्तफलप्रदा ॥ २६ ।

इतिहासश्रुतीड्यार्था त्विहाऽमुत्र शुभप्रदा ।
इज्या शीलसमिज्ज्येष्ठा त्विन्द्रादिपरिवन्दिता ८०॥ २७ ।
इलाऽलङ्कारमालेद्धा त्विन्दिरारम्यमन्दिरा ।
इदिन्दिरादिसंसेव्या त्वीश्वरीश्वरवल्लभा ॥ २८ ।
ईतिभीतिहरेड्या च त्वीडनीयचरित्रभृत् ९० ।
उत्कृष्टशक्तिरुत्कृष्टोडुपमण्डलचारिणी ॥ २९ ।

इतिहासः पुरावृत्तं श्रुतिर्वेदस्ताभ्यां ईड्यः स्तुत्योऽर्थः प्रयोजनं पुरुषार्थो वा यस्याः सा इतिहासश्रुतीड्यार्था । तु इहाऽस्मिंल्लोकेऽमुत्र च परलोके शुभं सुखं मोक्षं च प्रददातीति इहामुत्रशुभप्रदा । सुखदा मोक्षदा गङ्गा गङ्गैव परमा गतिरिति स्मृतेः । इज्यायां शीलं स्वभावो येषां ते इज्याशीलाः समं ब्रह्म । निर्दोषं हि समं ब्रह्मेति स्मृतेः । तद्वर्तते येषां ते समिनस्तेषु ज्येष्ठा कर्मिणां ज्ञानिनां चोभयेषां मध्ये वा पूज्येत्यर्थः । समी इति पाठे दैर्घ्यं छान्दसम् । तु इन्द्रादिपरिवन्दिता देवेन्द्रादिभिर्नुता स्तुता चेत्यर्थः ८० ॥ २७ ।

इला पृथ्वी तस्या अलङ्करणरूपा माला । तथा चोक्तम्—वसुधाशृङ्गारहारावलीति । इद्धा दीप्ता स्वप्रकाशेत्यर्थः । अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः । आत्मा स्वप्रकाशः सच्चिद्रूपत्वात् प्रभाकराऽभिमतसंविद्वदित्यनुमानाच्च । तु इन्दिरा लक्ष्मीः सा रम्यं मन्दिरमाश्रयो यस्याः सा इन्दिरारम्यमन्दिरा । इन्दिराया वा रम्यमन्दिररूपा । अयनम् इत् । सम्पदादित्वाद् भावे क्विप् । इत् ज्ञानस्वरूपेत्यर्थः । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति न्यायात् । **इन्दिरादिसंसेव्या** लक्ष्म्यादिभिः सेवनीया । आदिपदेन भवानीप्रमुखा गृह्यन्ते । माहेश्वरीरूपेण मौलिधृतत्वादिप्रतीतेः । तु ईश्वरी ईशनशीला सर्वनियन्त्री परा देवतेति यावत् । एष सर्वेश्वर इत्यादिश्रुतेः । **ईश्वरवल्लभा** ईश्वरस्य विश्वेश्वरस्य वल्लभा कान्ता । मातः शैलसुता सपत्निवसुधेत्यादि स्मृतेः । **वल्लभा** इष्टाऽभिप्रेता वेत्यर्थः ॥ २८ ।

ईतीनामतिवृष्ट्यनावृष्टिशलभमूषकशुकप्रत्यर्थिनृपाणां भीतिस्तां हरतीति तथा । ईड्या स्तुत्या । तु ईडनीयानि चरित्राणि तानि बिभर्तीति ईडनीयचरित्रभृत् ९० । उत्कृष्टा शक्तिर्यस्या उत्कृष्टस्य विष्णोः शक्तिर्वा **उत्कृष्टशक्तिः** । उत्कृष्टा उत्तमा । उडुपश्चन्द्रस्तस्य मण्डलं लोकं चर्तुं शीलं यस्याः सा **उडुपमण्डलचारिणी** । प्लावयित्वेन्दुमण्डलमित्युक्तेः ॥ २९ ।

इतिहासश्रुतीड्यार्था, इहामुत्र शुभप्रदा, इज्याशीलसमिज्ज्येष्ठा, इन्द्रादिपरिवन्दिता (८०) ॥ २७ ।

इलालंकारमाला, इद्धा, इन्दिरारम्यमंदिरा, इत्, इन्दिरादिसंसेव्या, ईश्वरी, ईश्वरवल्लभा ॥ २८ ।

ईतिभीतिहरा, ईड्या, ईडनीयचरित्रभृत् (९०), उत्कृष्टशक्ति, उत्कृष्टा, उडुपमंडलचारिणी ॥ २९ ।

उदिताम्बरमार्गोस्रोरगलोकविहारिणी ।
उक्षोर्वरोत्पलोत्कुम्भा १०० उपेन्द्रचरणद्रवा ।। ३० ।
उदन्वत्पूर्तिहेतुश्चोदारोत्साहप्रवर्धिनी ।
उद्वेगघ्न्युष्णशमनी उष्णरश्मिसुताप्रिया ।। ३१ ।

उदित उदयं प्रापितोऽम्बरमार्गो यया सा **उदिताम्बरमार्गा**। **उस्रा**देवी द्योतनात्मिकेति यावत्। तेजोरूपत्वात्। उरगलोके विहर्तुं शीलं यस्याः सा **उरगलोकविहारिणी**। **भोगावती** च पाताल इत्युक्तेः। उक्षति फलसेकं करोतीति **उक्षा**। उर्वरा फलसस्याढ्या भूस्तत्स्वरूपा। यद्वा उरुर्महांश्चासौ अः विष्णुश्चेति उर्वो महाविष्णुस्तं राति प्रापयतीति **उर्वरा**। उत्पला उत्पलस्वरूपा। सर्वात्मकत्वाद् गङ्गायाः। यद्वा उत्कृष्टं पातीत्युत्पो नारायणस्तं लाति प्रापयतीत्युत्पला। उत् उत्कृष्टाः कुम्भा यस्याः सा उत्कुम्भा। यत् सम्बन्धादपवित्रा अपि कुम्भाः पवित्रा भवन्ति। तदुक्तम्—

अपि चाण्डालभाण्डस्थं यज्जलं पावनं महत्।
सेयं गङ्गा कुरुश्रेष्ठ यथेष्टमवगाह्यताम् ॥

उच्छब्देन गर्गरोषु पूर्यमाणासु जायमाना ध्वनय उच्यन्ते। उत् एवंविधैर्ध्वनिभिर्युक्ताः कुम्भा यस्यां सा तथेति वा। उद्दम्भेति पाठे उद्गतो दम्भो यस्याः सा उद्दम्भेत्यर्थः ॥ १०० ।

गंगानामसहस्रेऽस्मिन् विवृते प्रथमे शते।
यददुष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ १०१ ।

उपेन्द्रचरणद्रवा वामनपादावनेजनजला ॥ ३० ।

उदन्वत्पूर्तिहेतुः उदन्वतः समुद्रस्य पूर्तेः पूरणस्य हेतुः कारणम्। चः समुच्चये। एवमग्रेऽपि। उदारा दात्री महतीति वा। **उत्साहप्रवर्धिनी** म्रियमाणानां दर्शनादिना हर्षकारिणी। उद्वेगं दौस्थ्यं हन्तीत्युद्वेगघ्नी। **उष्णशमनी** तापनाशिनी तृप्तिदायिनीति यावत्। तदुक्तं वासिष्ठे—

गङ्गाजलाऽभिषेकेण यथा तृप्तिर्भवेन्मम।
तथा त्वद्दर्शनात्प्रीतिरन्तःशीतयतीव माम् ॥ इति।

उष्णरश्मिसुतायाः सूर्यकन्याया यमुनायाः प्रिया अभीष्टा उष्णरश्मिसुताप्रिया ॥ ३१ ।

उदिताम्बरमार्गा, उस्रा, उरगलोकविहारिणी, उक्षा, उर्वरा, उत्पला, उत्कुंभा (१००) उपेन्द्रचरणद्रवा ॥ ३० ।

उदन्वत्पूर्तिहेतु, उदारा, उत्साहप्रवर्द्धिनी, उद्वेगघ्नी, उष्णशमनी, उष्णरश्मिसुताप्रिया ॥ ३१ ।

उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिण्युपरिचारिणी ।
ऊर्जंवह्१ १०त्यूर्जधरोर्जावती चोर्मिमालिनी ॥ ३२ ।
ऊर्ध्वरेतःप्रियोर्ध्वाध्वा ह्यूर्मिलोर्ध्वगतिप्रदा ।
ऋषिवृन्दस्तुतर्द्धिश्च ऋणत्रयविनाशिनी १२० ॥ ३३ ।
ऋतम्भरर्द्धिदात्री च ऋक्स्वरूपा ऋजुप्रिया ।
ऋक्षमार्गवहर्क्षार्चिर्ऋजुमार्गप्रदर्शिनी ॥ ३४ ।

उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणीत्यर्थः। उपरि पृथिव्याः स्वर्गलोकस्य ब्रह्माण्डस्य वा उपरि चर्तुं शीलं यस्याः सा **उपरिचारिणी**। **ऊर्जंवहन्ती** ऊर्जंवहन्तीरमृतं घृतमित्यादिमन्त्ररूपा ११०। ऊर्जं बलं प्राणं वा धरतीत्यूर्जधरा। ऊर्जा बलधारणा प्राणधारणा वा तद्वती **ऊर्जावती** च। ऊर्मयस्तरङ्गास्तेषां माला वर्तते यस्याः सा **ऊर्मिमालिनी** ॥ ३२ ।

ऊर्ध्वरेतसां भिक्षुकाणां प्रियाऽभीष्टा ऊर्ध्वरेतःप्रिया। तथा चोक्तम्—

गङ्गातीरे वसेन्नित्यं भिक्षुर्मोक्षपरायणः।
सिद्धिक्षेत्रं तु तज्ज्ञेयं यावद्धनुशतत्रयम् ॥ इति ।

ऊर्ध्वमध्वा मार्गो यस्याः सा **ऊर्ध्वाध्वा**। त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुष इति श्रुतेः। ऊर्मीस्तरङ्गान् शोकमोहजरामृत्युक्षुत्पिपासादीन् वा देहाध्यासं वा लाति गृह्णातीत्यू-**र्मिला**। ऊर्ध्वगतिप्रदा स्वर्गमोक्षादिगतिप्रदेत्यर्थः। ऋषिसमूहैः स्तुता **ऋषिवृन्दस्तुता**। **ऋद्धिः** समृद्धिरूपा कौवेरीशक्तिरूपा वा। देवर्षिपितॄणां ऋणत्रयं विनाशयितुं शीलं यस्याः सा **ऋणत्रयविनाशिनी**। च ऋणेति विसन्धिरार्ष एव। एवमुत्तर-त्राऽपि १२० ॥ ३३ ।

ऋतं सत्यं ब्रह्म बिभर्तीति **ऋतम्भरा**। **ऋद्धिदात्री** समृद्धिदात्री च। **ऋक्स्वरूपा** ऋग्वेदात्मिका। **ऋजुप्रिया** अकुटिलाप्रिया। ऋक्षाणां चन्द्रादिनक्षत्राणां मार्गं वहतीति **ऋक्षमार्गवहा**। ऋक्षाणां चन्द्रादीनामिवार्चिर्दीप्तिर्यस्यास्तेषां वाऽर्चिर्दीप्तिर्यस्याः सकाशात् सा **ऋक्षार्चिः**। शङ्खकुन्देन्दुधवलेति वाराहोक्तेः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतेश्च। **ऋजुमार्गप्रदर्शिनी** मोक्षमार्गप्रकाशिनी ॥ ३४ ।

उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी, उपरि चारिणी, ऊर्जं वहन्ती (११०) ऊर्जधरा, ऊर्जावती, ऊर्मिमालिनी ॥ ३२ ।

ऊर्ध्वरेतः प्रिया, ऊर्ध्वाध्वा, ऊर्मिला, ऊर्ध्वगतिप्रदा, ऋषिवृन्दस्तुता, ऋद्धि, ऋणत्रयविनाशिनी (१२०) ॥ ३३ ।

ऋतंभरा, ऋद्धिदात्री, ऋक्स्वरूपा, ऋजुप्रिया, ऋक्षमार्गवहा, ऋक्षार्चि, ऋजुमार्गप्रदर्शिनी ॥ ३४ ।

एधिताऽखिलधर्मार्था त्वेकैकामृतदायिनी १३० ।
एधनीयस्वभावैज्या त्वेजिताशेषपातका ॥ ३५ ॥
ऐश्वर्यदैश्वर्यरूपा ह्यैतिह्यं ह्यैन्दवीद्युतिः ।
ओजस्विन्योषधीक्षेत्रमोजोदौ१४०दनदायिनी ॥ ३६ ॥
ओष्ठामृतौन्नत्यदात्री त्वौषधं भवरोगिणाम् ।
औदार्यचञ्चुरौपेन्द्री त्वौग्री ह्यौमेयरूपिणी ॥ ३७ ॥

एधितौ वर्धितावखिलौ समग्रौ धर्मार्थौ यया सा **एधिताऽखिलधर्मार्था**। तु एका मुख्याऽनुपमेति यावत्। अद्वितीयेति वा। एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः। **एकामृत-दायिनी** एकमद्वितीयं यद् ब्रह्मामृतं तद्दायिनी १३०। **एधनीयस्वभावा** एधनीयो वर्धनीयः स्वभावो यस्याः सा एधनीयस्वभावा। पापानि एजन्ति कम्पन्ते येभ्यस्ते एजास्तेषु साध्वी **एज्या** पूज्या। एजितानि कम्पितानि अशेषपातकानि यया सा **एजिताशेष-पातका** ॥ ३५ ॥

ऐश्वर्यं ददातीत्यैश्वर्यदा। ऐश्वर्यरूपा ईश्वरधर्मस्वभावा। हि ऐतिह्यं प्रमाण-विशेषरूपा। हि ऐन्दवीद्युतिश्चान्द्रमसीकान्तिः। कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता, चन्द्रा-ग्न्यर्कर्क्षविद्युतामिति भागवतोक्तेः। ओज इन्द्रियसामर्थ्यं तद्वती **ओजस्विनी**। ओषधीनां फलपाकान्तानां क्षेत्रं भूरूपम् ओज इन्द्रियसामर्थ्यं ददातीत्योजोदा। ओजदेति पाठे सकाराभाव आर्षः ॥ १४० । **ओदनदायिनी** अन्नदात्री अन्नपूर्णेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ओष्ठेऽमृतं यस्याः सा **ओष्ठामृता**ऽमृतवदना मधुरभाषिणीति यावत्। उन्नतेर्भाव औन्नत्यं तद्दात्री औन्नत्यदात्री। तु औषधं भवरोगिणां संसाररोगवतामगदस्वरूपं संसाररोगनिवर्तकमित्यर्थः। उदारस्य भाव औदार्यं तत्र चञ्चुरा दक्षा। उपेन्द्रो वामनस्तस्येयं पत्नी **औपेन्द्री** लक्ष्मीरूपेत्यर्थः। यदाह पराशरः—पुनश्च पद्मादुद्भूता यदादित्योऽभवद्धरिरिति। उपेन्द्रचरणावनेजनीरूपा वा। तु उग्रस्येयमौग्री संहार-कारिणीशक्तिरित्यर्थः। हि औमेयो गणेशः कार्तिकेयो वा तद्रूपिणी। यद्वा उमाया इदम् औमेयं तच्च तद्रूपं चेत्यौमेयरूपं तद्वर्तते यस्या इत्यौमेयरूपिणी। उमा यथा तथा गङ्गेति वचनात् ॥ ३७ ॥

एधिताखिलधर्मार्था, एका, एकामृतदायिनी (१३०), एधनीयस्वभावा, एज्या, एजिताशेषपातका ॥ ३५ ॥

ऐश्वर्यदा, ऐश्वर्यरूपा, ऐतिह्य, ऐन्दवी द्युति, ओजस्विनी, ओषधीक्षेत्र, ओजोदा, (१४०) ओदनदायिनी ॥ ३६ ॥

ओष्ठामृता, औन्नत्यदात्री, औषधं भवरोगिणाम्, औदार्यचंचुरा, औपेन्द्री, औग्री, औमेयरूपिणी ॥ ३७ ॥

अम्बराध्ववहांबष्ठां१५०बरमालाम्बुजेक्षणा ।
अम्बिकांबुमहायोनिरंधोदांधकहारिणी ॥ ३८ ।
अंशुमाला ह्यंशुमती त्वङ्गीकृतषडानना ।
अंधतामिस्रहन्त्र्यं१६०धुरंजना ह्यंजनावती ॥ ३९ ।
कल्याणकारिणी काम्या कमलोत्पलगन्धिनी ।
कुमुद्वती कमलिनी कान्तिः कल्पितदायिनी१७० ॥ ४० ।

अम्बराध्ववहा आकाशमार्गगा । अं विष्णुं वान्ति गच्छन्ति अम्बा वैष्णवाः । विभक्तेरलोप आर्षः । तेषु भक्तेषु तिष्ठतीत्यम्बष्ठा । वैश्यायां भार्यायां ब्राह्मणोत्पन्न-जातिविशेषा वा ।

विप्रान् मूर्द्धाभिषिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा ॥

इति याज्ञवल्क्योक्तेः १५० । अम्बरस्य अम्बरमा आकाशशोभा तां लाति करोतीत्यम्बरमाला अम्बरस्य माले वा अम्बरमाला । अम्बुजान्येव ईक्षणानि अम्बुजे इव वा ईक्षणे यस्याः सा **अम्बुजेक्षणा** । **अम्बिका** दुर्गा मातृस्वरूपा वा । अम्बु महा-योनिरपांमूलकारणम् । अप एव ससर्जादाविति स्मृतेः । तदपोऽसृजत इति श्रुतेश्च । अन्धोऽन्नं ददातीत्यन्धदा । अन्धकहारिणी अन्धकनामानं दैत्यं हर्तुं शीलं यस्याः सा **अन्धकहारिणी** । अन्धयतीत्यन्धकमज्ञानं तद्धारिणीति वा । त्वन्धहारिणीति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः ॥ ३८ ।

अंशूनां तेजसां माला समूहो यस्यां सा **अंशुमाला** । हि **अंशुमती** तेजोवती । तु अङ्गीकृतः पुत्रत्वेन षडाननो यया सा **अङ्गीकृतषडानना** । अङ्कीकृतेति वा पाठः । स्वाहेयगाङ्गेयेत्याद्यत्रैवोक्तेः । अन्धतामिस्रं नरकविशेषस्तद्धन्त्री १६० । अन्धुर्धर्मकूपस्तत्स्वरूपा कूपमात्ररूपा वा । अञ्जतीत्यञ्जनाऽविद्या तत्स्वरूपा । हनुमज्जनयित्रीरूपा वा । हि **अञ्जनावती** अविद्यावती ॥ ३९ ।

कल्याणकारिणी शुभकारिणी । काम्यत इति काम्या । कमलानामुत्पलानां च गन्धो वर्तते यस्याः सा **कमलोत्पलगन्धिनी** । कुमुदानि वर्तन्ते यस्यां सा कुमुद्वती । [1]कुमुदशब्दस्याकारलोपश्छान्दसः । कमलानि वर्तन्ते यस्यां सा **कमलिनी** । **कान्तिश्च**न्द्रतेजोरूपा । शीतभानौ प्रसाद इत्यत्रैवोक्तेः । **कल्पितदायिनी** अभीष्टदायिनी १७० ॥४०।

अंबराध्ववहा, अंबष्ठा (१५०), अंबरमाला, अंबुजेक्षणा, अंबिका, अंबुमहायोनि, अंधोदा, अंधकहारिणी ॥ ३८ ।

अंशुमाला, अंशुमती, अंगीकृतषडानना, अंधतामिस्रहंत्री, (१६०) अंधु, अंजना, अंजनावती ॥ ३९ ।

कल्याणकारिणी, काम्या, कमलोत्पलगन्धिनी, कुमुद्वती, कमलिनी, कान्ति, कल्पितदायिनी (१७०) ॥ ४० ।

---

१. कुमुदनडवेतसेभ्य इति डमनुपा सिद्धे छान्दसत्वकल्पनं विचारणीयम् ।

काञ्चनाक्षी कामधेनुः कीर्तिकृत्क्लेशनाशिनी ।
क्रतुश्रेष्ठा क्रतुफला कर्मबन्धविभेदिनी ॥ ४१ ।
कमलाक्षी क्लमहरा कृशानुतपनद्युतिः १८० ।
करुणार्द्रा च कल्याणी कलिकल्मषनाशिनी ॥ ४२ ।
कामरूपा क्रियाशक्तिः कमलोत्पलमालिनी ।
कूटस्था करुणा कान्ता कूर्मयाना १९० कलावती ॥ ४३ ।

काञ्चने इवाक्षिणी यस्याः सा **काञ्चनाक्षी** । **कामधेनुः** कामधुक् सुरभिरिति यावत् । धेनूनामस्मि कामधुगिति भगवद्वचनात् । **कीर्तिकृद्** यशःकर्त्री । अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः तन्नाशिनी । क्रतुभ्यः श्रेष्ठा **क्रतुश्रेष्ठा** । अश्वमेधादियागाधिकफलप्रदेत्यर्थः ।

कुतोऽवीचिर्वीचिस्तव यदि गता लोचनपथं
त्वमापीतापीताम्बरपुरनिवासं वितरसि ।
त्वदुत्सङ्गे गङ्गे यदि पतति कायस्तनुभृतां
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥ इत्याद्युक्तेः ।

क्रतूनां फलं यस्यां सा **क्रतुफला** । कर्मैव बन्धः कर्मबन्धस्तद्विभेदिनी भेत्री ॥ ४१।

कमले इवाक्षिणी यस्याः सा **कमलाक्षी** । **क्लमहरा** श्रान्तिहरा । कृशानुर्वह्निः । तपनः सूर्यस्तयोरिव द्युतिर्यस्याः सा **कृशानुतपनद्युतिः** । सूर्यकोटिप्रतीकाश इत्यादिस्मृतेः १८० । **करुणार्द्रा** करुणयाऽऽर्द्रास्निग्धा व्याप्तेति यावत् । च कल्याणं वर्तते यस्याः सा **कल्याणी** । **कलिकल्मषनाशिनी** कलिकालोत्पन्नानां पापानां नाशिनी । कलौ गङ्गैव केवलमिति स्मृतेः ॥ ४२ ।

काममिच्छैव रूपं यस्याः कामेन स्वेच्छया वा रूपं यस्याः सा **कामरूपा** । क्रियायां शक्तिर्यस्याः सा **क्रियाशक्तिः** सूत्रात्मकस्वरूपेत्यर्थः । क्रियाशक्तिरूपा वा कमलोत्पलानां माला वर्तते यस्याः सः **कमलोत्पलमालिनी** । कूटयति च्छलति आत्मानमानन्दत्वादिकमावृत्य संसारे पातयतीति कूटोऽज्ञानं तत्र तिष्ठति तदध्यक्षतया । यद्वा कूटस्याऽज्ञानस्य स्था स्थितिर्यस्यां सा । यद्वा कूटो गिरिश्रृङ्गं तद्वन्निष्क्रियतया तिष्ठति । यद्वा कालत्रयव्यापकतया एकरूपा षड्भावविकाररहिता **कूटस्था** । **करुणा** दयास्वरूपा । **कान्ता** कमनीया । कूर्मो यानं कूर्मवत् कूर्मेण लक्षणविशेषेण वा यानं गमनं यस्याः सा **कूर्मयाना** १९० । कला चतुःषष्टिकला वर्तन्ते यस्याः सा **कलावती** ॥ ४३ ।

कांचनाक्षी, कामधेनु, कीर्तिकृत्, क्लेशनाशिनी, क्रतुश्रेष्ठा, क्रतुफला, कर्मबन्धविभेदिनी ॥ ४१ ।

कमलाक्षी, क्लमहरा, कृशानुतपनद्युति, (१८०)करुणार्द्रा, कल्याणी, कलिकल्मषनाशिनी ॥ ४२ ।

कामरूपा, क्रियाशक्ति, कमलोत्पलमालिनी, कूटस्था, करुणा, कान्ता, कूर्मयाना (१९०), कलावती ॥ ४३ ।

कमला कल्पलतिका काली कलुषवैरिणी ।
कमनीयजला कम्रा कपर्दिसुकपर्दगा ॥ ४४ ।
कालकूटप्रशमनी कदम्बकुसुमप्रिया २०० ।
कालिन्दी केलिललिता कलकल्लोलमालिका ॥ ४५ ।
क्रान्तलोकत्रया कण्डूः कण्डूतनयवत्सला ।
खड्गिनी खड्गधाराभा खगा खण्डेन्दुधारिणी२१० ॥ ४६ ।

कमला लक्ष्मीरूपा । कल्पलतिका कल्पलतात्मिका सर्वकामपूरणीत्यर्थः । **काली** कालिकारूपा । **कलुषवैरिणी** पातकनाशिनी । **कमनीयजला** निर्मलपानीया । जह्नु[1] प्रतीपं शान्तनुं कामितवतीति **कम्रा कामुकेत्यर्थः** । तथा चाऽऽदिपर्वहरिवंशयोः—

पतिलोभेन यं गङ्गा पतित्वेऽभिससार ह ।
त्वामहं कामये राजन् कुरुश्रेष्ठ भजस्व माम् ॥
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशाऽनुगा ॥ इति ।

कपर्दिसुकपर्दगा शिवस्य शोभनजटाजूटगा ॥ ४४ ।

कालकूटं समुद्रमथनोत्पन्नं विषं तस्य कालाऽज्ञानयोर्वा नाशिनी **कालकूटप्रशमनी** । कदम्बकुसुमानि प्रियाणि यस्याः सा **कदम्बकुसुमप्रिया** २०० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् द्वितीये विवृते शते ।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ २ ।

कलिन्दः पर्वतः, तद्भवा **कालिन्दी** यमुना तद्रूपा । केलिः क्रीडा तया तस्यां वा मनोहरा **केलिललिता** । कला मधुरा ये कल्लोलास्तद्ध्वनयः मनोहरास्तरङ्गा वा तेषां माला वर्तन्ते यस्यां सा **कलकल्लोलमालिका** ॥ ४५ ।

क्रान्तं व्याप्तमतिक्रान्तं वा लोकत्रयं यया सा **क्रान्तलोकत्रया** । स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमिति श्रुतेः । कण्डति कुट्टत्यविद्यां तत्कार्यमिति कण्डूः कण्डूतिरूपा वा । कण्डूः मृकण्डूः । भीमो भीमसेन इतिवत् । तस्य तनयस्य मार्कण्डेयस्य वत्सला स्निग्धा । खड्गोऽस्याऽस्तीति **खड्गिनी** । खड्गधारा इवाऽऽभादीप्तिर्यस्याः सा **खड्गधाराभा** । पापकाननच्छेत्रीत्वान्निर्मलत्वसादृश्याद्वा । खे आकाशे गच्छतीति **खगा** । **खण्डेन्दुधारिणी** शकलचन्द्रधारिणी । चन्द्रकलावतंसेत्यर्थः २१० ॥ ४६ ।

कमला, कल्पलतिका, काली, कलुषवैरिणी, कमनीयजला, कम्रा, कपर्दिसुकपर्दगा ॥ ४४ ।

कालकूटप्रशमनी, कदंबकुसुमप्रिया, (२००) कालिन्दी, केलिललिता, कलकल्लोलमालिका, क्रान्तलोकत्रया, कण्डू, कण्डूतनयवत्सला, खड्गिनी, खड्गधाराभा, खगा, खंडेन्दुधारिणी (२१०) ॥ ४५-४६ ।

---

१. जह्नुं पितृत्वेन प्रतीपं श्वशुरत्वेन शान्तनुं पतित्वेनेत्यर्थः ।

खे खेलगामिनी खस्था खण्डेन्दुतिलकप्रिया।
खेचरी खेचरीवन्द्या ख्यातिः ख्यातिप्रदायिनी ॥ ४७ ।
खण्डितप्रणताघौघा खलबुद्धिविनाशिनी।
खातैनः कन्दसन्दोहा २२० खड्गखट्वाङ्गखेटिनी ॥ ४८ ।
खरसन्तापशमनी खनिः पीयूषपाथसाम्।
गङ्गा गन्धवती गौरी गन्धर्वनगरप्रिया ॥ ४९ ।

खे आकाशे खेलने लीलया गच्छतीति खे खेलगामिनी। खे आकाशे ब्रह्मणि वा। कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति श्रुतेः। खे तिष्ठतीति खस्था। खण्डेन्दुतिलकप्रिया विश्वेश्वरकान्ता। खे आकाशे चरतीति खेचरी। खेचरीणां सिद्धाङ्गनानां वन्द्या खेचरीवन्द्या। ख्यातिः प्रख्यातिः प्रतिष्ठेति यावत्। 'आख्यात्यन्यथाख्यात्यसत्ख्यात्यात्मख्यात्यनिर्वचनीय-ख्यात्येतत् पञ्चकख्यातिर्वा तद्रूपा'। ख्यातिप्रदायिनी प्रतिष्ठाकारिणी ॥ ४७ ।

खण्डितो दूरीकृतः प्रणतानां भक्तानामघौघो यया सा खण्डितप्रणताघौघा। खलानां बुद्धिः खलरूपा वा बुद्धिस्तस्या विनाशिनी। खाता उत्खाता उत्पाटिता इति यावत्। एनसां पापानां कन्दसन्दोहा मूलकारणनिकरा यया सा खातैनःकन्दसन्दोहा २२०। खड्गश्च खट्वाङ्गश्च लोहादिनिर्मितद्वादशाङ्गं खट्वायाः खुराऽऽकारो वाऽस्त्रविशेषः खेटं चायुधविशेषश्चर्म वा एतानि वर्तन्ते यस्याः, सा खड्गखट्वाङ्ग-खेटिनी। खड्गखट्वाङ्गाभ्यां खेटितुं क्रीडितुं शीलं यस्याः सा इति वा। अस्मिन्पक्षे डकारस्य टकार आर्षः ॥ ४८ ।

खरसन्तापशमनी तीक्ष्णसन्तापनाशिनी। दुष्टजन्यसन्तापशमनीति वा। खनिः पीयूषपाथसाममृततुल्योदकानाममृतोदकयोर्वा खनिः आकरस्थानम्। गङ्गा निरञ्जनचित्स्वरूपा।

योऽसौ निरञ्जनो देवश्चित्स्वरूपो जनार्दनः।
स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नाऽत्र संशयः ॥ इति स्मृतेः।

स्वर्गाद् गङ्गां भगीरथः पृथ्वीमानीतवानिति वा गङ्गा। तदुक्तं भविष्ये—

यस्माद् भगीरथो देवि स्वर्गाद् गां त्वामिहाऽनयत्।
अतस्त्वं मुनिभिः सर्वैर्गङ्गेति परकीर्त्यसे ॥ इति।

खे खेलगामिनी, खस्था, खंडेन्दुतिलकप्रिया, खेचरी, खेचरीवंद्या, ख्याति, ख्यातिप्रदायिनी ॥ ४७ ।

खंडितप्रणताघौघा, खलबुद्धिविनाशिनी, खातैनः कंदसंदोहा, (२२०) खड्ग-खट्वांगखेटिनी ॥ ४८ ।

खरसंतापशमनी, खनिः पीयूषपाथसाम्, गंगा, गन्धवती, गौरी, गन्धर्वनगर-प्रिया ॥ ४९ ।

गम्भीराङ्गी गुणमयी गतातङ्का २३० गतिप्रिया ।
गणनाथाम्बिका गीता गद्यपद्यपरिष्टुता ॥ ५० ॥
गान्धारी गर्भशमनी गतिभ्रष्टगतिप्रदा ।
गोमती गुह्यविद्या गौ२४०र्गोप्त्री गगनगामिनी ॥ ५१ ॥

गन्धवती पृथ्वीरूपा। गौरी पार्वती नदीप्रभेदो वा जलेशमहिषी वा। नदीभेदेऽपि गौरी स्याज्जलेशस्याऽपि योषितीति वचनात्। गन्धर्वनगरे तत्तुल्ये प्रपञ्चे प्रियाऽभीष्टा सारभूतेत्यर्थः। तदुक्तम्—

असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शिवपूजनम्॥ इति।

गन्धर्वाणां यानि नगराणि तत्स्थानां जनानां वा प्रिया गन्धर्वनगरप्रिया॥ ४९।

गम्भीरमनवगाह्यमङ्गं स्वरूपं यस्याः सा **गम्भीराङ्गी**। गुणमयी त्रिगुणात्मिका माया सर्वज्ञत्वादिगुणा वा। गत आतङ्कः सन्त्रासो यस्याः, यस्याः सकाशादिति वा सा **गतातङ्का** २३०। गतेर्ज्ञानात्मनो विश्वनाथस्य प्रिया **गतिप्रिया**। गतिर्ज्ञानं प्रियं यस्याः सा गतिप्रियेति वा। चतुर्विधा भजन्ते मामित्युपक्रम्य ज्ञानी त्वात्मैव मे मत-मिति भगवदुक्तेः। गम्यत इति गतिः फलं सा चासौ प्रिया परमप्रेमास्पदा चेति **गतिप्रिया** इति वा। गतिप्रदेति क्वचित्। गणनाथो गणेशः, तस्याऽम्बिका माता **गणनाथाम्बिका**। गीयत इति **गीता**।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चाऽन्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥ इति स्मृतेः।

भगवद्गीतारूपा वा। गद्यपद्यैश्च परिष्टुता **गद्यपद्यपरिष्टुता**॥ ५०।

गां धारयतीति **गान्धारी**। विभक्तेरलोप आर्षः। वाराही शक्तिरित्यर्थः। धृत-राष्ट्रपत्नीरूपा वा। **गर्भशमनी** जन्मशातनी। गतिभ्रष्टानां पतितानामपि **गतिप्रदा**। तदुक्तं भविष्ये—

माताऽपि संत्यजेत्पुत्रं ब्रह्महत्यादिकारणम्।
त्वं पुनर्गर्हितं मग्नं पुनीषे दीनवत्सला॥ इति।

गतिभ्रष्टा गतिप्रदेति पाठे सविशेषणमेकं नाम। गतेर्देवत्वगतेर्भ्रष्टा मानुषत्वं प्राप्तेत्यर्थः। तथा चोक्तम्—**ब्रह्महस्तात्परिभ्रष्टेति**। हरिवंशे च—

इयमप्यायतापाङ्गी गङ्गा सर्वाङ्गशोभना।
रूपिणी वै सरिच्छ्रेष्ठा तत्र त्वामुपयास्यति॥ इति।

गंभीरांगी, गुणमयी, गतातंका (२३०) गतिप्रिया, गणनाथांबिका, गीता, गद्य-पद्यपरिष्टुता॥ ५०।

गांधारी, गर्भशमनी, गतिभ्रष्टगतिप्रदा, गोमती, गुह्यविद्या, गो, (२४०) गोप्त्री, गगनगामिनी॥ ५१।

गोत्रप्रवर्धिनी गुण्या गुणातीता गुणाग्रणीः ।
गुहाम्बिका गिरिसुता गोविन्दांघ्रिसमुद्भवा ॥ ५२ ॥
गुणनीयचरित्रा २५० च गायत्री गिरिशप्रिया ।
गूढरूपा गुणवती गुर्वी गौरववर्धिनी ॥ ५३ ॥
ग्रहपीडाहरा गुन्द्रा गरघ्नी गानवत्सला २६० ।
घर्महन्त्री घृतवती घृततुष्टिप्रदायिनी ॥ ५४ ॥

स्वयं गतिभ्रष्टाऽन्येषां गतिप्रदेति विरुद्धाऽलङ्कारोऽयम् । द्वारकास्था नैमिषारण्यस्था वा नदी गोमती तद्रूपा । गुह्यविद्या ब्रह्मविद्या । गौः पृथ्वीरूपा गोरूपा वेदरूपा वाणीरूपा वा स्वर्गरूपा वा २४० । **गोप्त्री** पालयित्री । गगने गन्तुं शीलं यस्याः सा **गगनगामिनी** आकाशगामिनी इत्यर्थः ॥ ५१ ।

गां त्रायत इति गोत्रो भगीरथः पर्वतवृन्दं वा तेन प्रवर्धितुं शीलं यस्याः सा **गोत्रप्रवर्धिनी** । भक्तानां गोत्रप्रवर्तयित्रीति वा । गुणेभ्यो हिता **गुण्या** । गुणानतीता गुणातीता निर्गुणेत्यर्थः । **गुणाग्रणीः** गुणानां नियन्त्री । गुहाम्बिका कार्तिकेयजननी । गिरिसुता गिरेर्हिमवतः प्रसूता पार्वतीरूपा वा । गोविन्दस्यांघ्रेः समुद्भवो यस्याः सा गोविन्दांघ्रिसमुद्भवा ॥ ५२ ।

गुणनीयानि गणनयोग्यानि चरित्राणि यस्याः सा **गुणनीयचरित्रा** च २५० । गातारं त्रायते इति **गायत्री** । गिरिशस्येश्वरस्य प्रिया **गिरिशप्रिया** । गूढं प्रच्छन्नं रूपं यस्याः सा **गूढरूपा** । गुणाः शान्त्यादयः तद्वती **गुणवती** । **गुर्वी** महती । गौरवं महत्त्वं वर्धयितुं गौरवेण वा वर्धितुं शीलं यस्याः सा **गौरववर्धिनी** ॥ ५३ ।

ग्रहपीडां हरतीति **ग्रहपीडाहरा** । **गुन्द्रा** मुस्ता तदात्मिका, सर्वात्मकत्वात् । गूहति स्वरूपमिति गुरविद्या तां द्राति कुत्सते नाशयतीत्येतत्, गुन्द्रा इति वा । विभक्तेः श्रवणमार्षम् । **गरघ्नी** विषघ्नी । **गानवत्सला** गीतप्रियेत्यर्थः २६० । **घर्महन्त्री** सन्तापहन्त्री । घृतं घृततुल्यमुदकमस्ति यस्याः सा घृतवती । घृतेन या तुष्टिस्तां प्रदातुं शीलं यस्याः सा घृततुष्टिप्रदायिनी ॥ ५४ ।

गोत्रप्रवर्धिनी, गुण्या, गुणातीता, गुणाग्रणी, गुहांबिका, गिरिसुता, गोविन्दाङ्घ्रिसमुद्भवा ॥ ५२ ।

गुणनीयचरित्रा, (२५०) गायत्री, गिरिशप्रिया, गूढ़रूपा, गुणवती, गुर्वी, गौरववर्धिनी ॥ ५३ ।

ग्रहपीडाहरा, गुन्द्रा, गरघ्नी, गानवत्सला, (२६०) घर्महंत्री, घृतवती, घृततुष्टिप्रदायिनी ॥ ५४ ।

घण्टारवप्रिया घोराऽघौघविध्वंसकारिणी ।
घ्राणतुष्टिकरी घोषा घनानन्दा घनप्रिया ॥ ५५ ।
घातुका २७० घूर्णितजला घृष्टपातकसन्ततिः ।
घटकोटिप्रपीतापा घटिताशेषमङ्गला ॥ ५६ ।
घृणावती घृणनिधिर्घस्मरा घूकनादिनी ।
घुसृणा पिञ्जरतनुर्घर्घरा २८० घर्घरस्वना ॥ ५७ ।

घण्टारवः प्रियो यस्याः सा **घण्टारवप्रिया** । घोरो योऽघौघस्तद्विध्वंसकारिणी **घोराघौघविध्वंसकारिणी** । घ्राणेन्द्रियस्य घ्राणमात्रेण वा तुष्टिकरी **घ्राणतुष्टिकरी** । **घोषा** नितम्बपादभूषणकाञ्च्यः किङ्किण्यश्च ता वर्तन्ते, यस्याः सा घोषा । अर्श-आदित्वादच् । तरङ्गस्रोतोभ्यां घोषयतीति आभीर पल्लीरूपा वेति घोषा । घन एकरसो य आनन्दस्तत्स्वरूपा । स्त्रीत्वं छान्दसं बहुव्रीहिर्वा । राहोः शिर इतिवद् भेदोपचारात् । **'स एष परमानन्दः'** इति श्रुतेः । अत एव **घनप्रिया** निबिडप्रिया । परमप्रेमास्पदत्वात् । घनानां मेघानां वा प्रिया घनप्रिया । आकाशगङ्गारूपेण तेषां प्लावनात् ॥ ५५ ।

सर्वेषां पापानामज्ञानं तत्कार्यस्य वा **घातुका** नाशिका २७० । घूर्णितानि जलानि यस्याः सा घूर्णितजला । घृष्टा घूर्णिता पातकसन्ततिर्यया सा घृष्टपातकसन्ततिः । घटकोटिभिः प्रपीता आपो यस्याः सा **घटकोटिप्रपीतापा** । घटितं सम्पादितमशेषमङ्गलं यया सा घटिताशेषमङ्गला ॥ ५६ ।

घृणावती दयावती । घृणनिधिर्दयासमुद्रः । ह्रस्व आर्षः । **घस्मरा** सर्वभक्षणशीला । **स कालकाल** इति श्रुतेः, कालमूषिकभक्षक इति स्मृतेश्च । घूकानां बकानां नादो विद्यते यस्याः सा **घूकनादिनी** । घुसृणेन देवाङ्गनानामङ्गरागेणापिञ्जरा ईषत्पीतवर्णा तनुर्यस्याः सा **घुसृणा** पिञ्जरतनुः । घर्घरनामा ह्रदविशेषस्तत्स्वरूपिणी २८० । घर्घर इति ध्वनिर्यस्याः घर्घरनाम्ना ह्रदेन तत्सङ्गमनिमित्तेन स्वनो यस्या इति वा सा **घर्घरस्वना** ॥ ५७ ।

घंटारवप्रिया, घोराघौघविध्वंसकारिणी, घ्राणतुष्टिकरी, घोषा, घनानन्दा, घनप्रिया ॥ ५५ ।

घातुका (२७०), घूर्णितजला, घृष्टपातकसंतति, घटकोटिप्रपीतापा, घटिताशेषमंगला ॥ ५६ ।

घृणावती, घृणनिधि, घस्मरा, घूकनादिनी, घुसृणापिंजरतनु, घर्घरा (२८०), घर्घरस्वना ॥ ५७ ।

चन्द्रिका चन्द्रकान्ताम्बुश्चञ्चदापा चलद्युतिः ।
चिन्मयी चितिरूपा च चन्द्रायुतशतानना ॥ ५८ ।
चाम्पेयलोचना चारु २९०श्चार्वङ्गी चारुगामिनी ।
चार्या चारित्रनिलया चित्रकृच्चित्ररूपिणी ॥ ५९ ।
चम्पूश्चन्दनशुच्यम्बुश्चर्चनीयचिरस्थिरा ३०० ।
चारुचम्पकमालाढ्या चमितोशेषदुष्कृता ॥ ६० ।

चन्द्रिका ज्योत्स्नारूपा । चन्द्रकान्तमणिरिवाम्बु यस्याः सा चन्द्रकान्ताम्बुः । चञ्चत्यः स्फुरन्त्यः आपो यस्याः सा **चञ्चदापा** । चञ्चलापेति क्वचित्पाठः । तत्रापि स एवाऽर्थः । चलन्ती स्फुरन्ती द्युतिर्यस्याः सा **चलद्युतिः** । **चिन्मयी** ज्ञानस्वरूपा । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेः । चितिरूपा ज्ञानस्वभावा । चन्द्राणामयुतशतमिवाऽऽननं यस्याः सा **चन्द्रायुतशतानना** । चन्द्रायुतसिताननेति क्वचित्पाठस्तत्र सितत्वं शुभ्रत्वम् ॥ ५८ ।

चाम्पेयपुष्पे इव लोचने यस्याः सा **चाम्पेयलोचना** । **चारुर्मनोहरा** ॥ २९० । चारूण्यङ्गानि यस्याः सा **चार्वङ्गी** । चारु यथा स्यात्तथा गन्तुं शीलं यस्याः सा चारुगामिनी । चरणं चारो ज्ञानं तदर्हति चार्यते ज्ञायते वा चार्या । उपनिषत्प्रतिपाद्येत्यर्थः । चरित्राण्येव चारित्राणि तेषां निलया सच्चरित्राश्रयेत्यर्थः । चित्रं विचित्रं जगत्करोति चित्रकृत् । तदुक्तं वसिष्ठे—कश्च व्योमनि चित्रकृदिति । चित्रं विचित्रं रूपमस्या अस्तीति **चित्ररूपिणी** ॥ ५९ ।

चम्पूश्चम्पकवृक्षस्तत्पुष्पं वा तद्रूपा । गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयत इति वचनात्तद्रूपा वा चम्पूः । चन्दनमिव शुचि सुगन्धि निर्मलं चाम्बु यस्याः, सा चन्दनशुच्यम्बुः । चर्चनीया विचारणीया चिन्तनीयेति यावत् । चिरकालं व्याप्य स्थिरा चिरस्थिरा । अनादिरित्यर्थः ३०० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् तृतीये विवृते शते ।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ १ ।

चारुचम्पकपुष्पाणां या मालास्ताभिराढ्या व्याप्ता **चारुचम्पकमालाढ्या** । चमितानि सन्त्रासं प्रापितानि भक्षितानीत्येतदशेषदुष्कृतानि यया सा **चमिताशेषदुष्कृता** । चमु अदने इति धातुः ॥ ६० ।

चन्द्रिका, चन्द्रकान्ताम्बु, चंचदापा, चलद्युति, चिन्मयी, चितिरूपा, चन्द्रायुतशतानना ॥ ५८ ।

चांपेयलोचना, चारु (२९०), चार्वंगी, चारुगामिनी, चार्या, चारित्रनिलया, चित्रकृत्, चित्ररूपिणी ॥ ५९ ।

चंपू, चन्दनशुच्यम्बु, चर्चनीया, चिरस्थिरा (३००), चारुचम्पकमालाढ्या, चमिताशेषदुष्कृता ॥ ६० ।

चिदाकाशवहा चिन्त्या चञ्चच्चामरवीजिता ।
चोरिताशेषवृजिना चरिताशेषमण्डला ॥ ६१ ।
छेदिताखिलपापौघा छद्मघ्नी ३१० छलहारिणी ।
छन्नत्रिविष्टपतला छोटिताशेषबन्धना ॥ ६२ ।
छुरितामृतधारौघा छिन्नैनाश्छन्दगामिनी ।
छत्रीकृतमरालौघा छटीकृतनिजामृता ॥ ६३ ।

चिदेवाकाशश्चिदाकाशस्तं वहति प्रापयतीति **चिदाकाशवहा** । **चिन्त्या** ध्येया ।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥ इति स्मृतेः ।

चञ्चत्स्फुरत्स्वप्रकाशमित्यर्थः । अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः । **चामरवीजिता** वालव्यजनैः सेवितेत्यर्थः । चोरितान्यशेषवृजिनानि यया सा **चोरिताशेषवृजिना** । चरितान्यशेषमण्डलानि ब्रह्मलोकादिस्थानानि यया सा **चरिताशेषमण्डला** ॥ ६१ ।

छेदिताखिलपापौघा छेदिताः छिन्ना अखिलाः पापौघा यया सा **छेदिताखिलपापौघा** । छद्मघ्नी छद्म कपटमज्ञानं रोगविशेषं वा हन्तीति **छद्मघ्नी** ३१० । छलं कपटं छलयतीति छलमज्ञानं वा तद्धारिणी । छन्नं व्याप्तं त्रिविष्टपतलं स्वर्गभुवनं यया सा, छन्नत्रिविष्टपतला । छोटितानि दूरीकृतानि अशेषबन्धनानि यया सा छोटिताशेषबन्धना । छेदितेति क्वचित्पाठः ॥ ६२ ।

छुरितः क्षरितोऽमृतधाराणां जलप्रवाहाणामोघो यया सा **छुरितामृतधारौघा** । छिन्नानि च्छेदितानि एनांसि वृजिनानि यया सा **छिन्नैनाः** । छातैना इति क्वचित्पाठः । **छन्दगामिनी** स्वच्छन्दचारिणी स्वतन्त्रेत्यर्थः । छत्रीकृतो मरालौघो हंससमूहो यया सा **छत्रीकृतमरालौघा** । छटीकृतानि छटां प्रापितानि प्रकटीकृतान्येतद् निजामृतानि स्वरूपभूतानि जलानि यया सा **छटीकृतनिजामृता** ॥ ६३ ।

चिदाकाशवहा, चिन्त्या, चंचच्चामरवीजिता, चोरिताशेषवृजिना, चरिताशेषमंडला ॥ ६१ ।

छेदिताखिलपापौघा, छद्मघ्नी (३१०), छलहारिणी, छन्नत्रिविष्टपतला, छोटिताशेषबन्धना ॥ ६२ ।

छुरितामृतधारौघा, छिन्नैना, छन्दगामिनी, छत्रीकृतमरालौघा, छटीकृतनिजामृता ॥ ६३ ।

जाह्नवी ज्या ३२० जगन्माता जप्या जङ्घालवीचिका ।
जया जनार्दनप्रीता जुषणीया जगद्धिता ।। ६४ ।

जीवनं जीवनप्राणा जग३३० ज्ज्येष्ठा जगन्मयी ।
जीवजीवातुलतिका जन्मिजन्मनिर्बर्हिणी ।। ६५ ।

जह्नोरपत्यं जाह्नवी । तथा च हरिवंशे—

राजर्षिणा ततः पीतां गङ्गां दृष्ट्वा महर्षयः ।
उपनिन्युर्महाभागां दुहितृत्वेन जाह्नवीम् ।। इति ।

ज्या धनुर्गुण इव प्रतीयमाना । तदुक्तम्—

लोलार्ककेशवौ कोटी गङ्गा ज्या नगरं धनुः ।
कलिर्लक्ष्यः शरो विष्णुः शिवो धन्वी पुनातु माम् ।। इति ३२० ।

जगतां माता **जगन्माता** विश्वयोनिरित्यर्थः । **जप्या** जपविषया । जंघाला दीर्घा वीच्यस्तरङ्गा यस्याः सा **जंघालवीचिका** । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति **जया** पार्वती सखिरूपा वा । तथा चात्रैव देवीवाक्यम्—सुलक्षणा शुभाचारा सखी मेऽस्तु शुभोदया, यथा जया च विजयेत्यादि । जनार्दनस्य प्रीता जनार्दनो वा प्रीतो यस्याः सा **जनार्दनप्रीता** । **जुषणीया** श्रीरुद्रादिभिः सेवनीया । तथा च भागवते—यत्पादनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूदिति । जगतां हिता **जगद्धिता** ।। ६४ ।

जीवनं जीवनहेतुः । जीवनेन जलेन प्राणिनां प्राणा यस्याः सा जीवनेन प्राणयति चेष्टयतीति वा **जीवनप्राणा** ब्रह्मस्वरूपा । को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति श्रुतेः । **जगदिति** । परस्मात्पुरुषान्न भिन्नमिदं जगदित्यभिधीयते ब्रह्म । ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं पुरुष एवेदं विश्वमित्यादि श्रुतेः । विश्वं विष्णुरिति स्मृतेश्च । यद्वा गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति जगत् । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरिति स्मृतेः।३३०। **ज्येष्ठा** आद्या मूलकारणत्वात् । **जगन्मयी** जगत्स्वरूपा स्वाध्यस्तविश्वेत्यर्थः । **जीवजीवातुलतिका** जीवानां प्राणिनां जीवनौषधरूपा । यदाहाऽमरः—जीवातुर्जीवनौषधमिति । **जन्मिजन्मनिर्बर्हिणी** जन्मिनामुत्पत्तिमतामुत्पत्तिनिराकर्त्री ।। ६५ ।

जाह्नवी, ज्या (३२०), जगन्माता, जप्या, जंघालवीचिका, जया, जनार्दनप्रीता, जुषणीया, जगद्धिता ।। ६४ ।

जीवन, जीवनप्राणा, जगत् (३३०), ज्येष्ठा, जगन्मयी, जीवजीवातुलतिका, जन्मिजन्मनिर्बर्हिणी ।। ६५ ।

जाड्यविध्वंसनकरी जगद्योनिर्जलाविला ।
जगदानन्दजननी जलजा जलजेक्षणा ३४० ॥ ६६ ।
जनलोचनपीयूषा जटातटविहारिणी ।
जयन्ती जञ्जपूकघ्नी जनितज्ञानविग्रहा ॥ ६७ ।
झल्लरीवाद्यकुशला झलज्झालजलावृता ।
झिण्टीशवन्द्या झाङ्कारकारिणी झर्झरावती३५० ॥ ६८ ।

जाड्यस्याऽज्ञानस्य सन्तापस्य वा विध्वंसनं कर्तुं शीलं यस्याः सा **जाड्यविध्वंसनकरी** । जगद्योनिर्जगतां कारणम् । जलानां जडानामज्ञानामित्येतत्, आविलेव कलुषितेव आवृतेवेति वा जलाविला । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव इति भगवदुक्तेः । जलैर्घर्मद्रवरूपैराविला व्याप्ता इति वा । जगदानन्दजननीदर्शनादिना जनमात्रस्य सुखकर्त्री । जलमिव जलं विष्णुः । सलिल एको द्रष्टेति श्रुतेः । तस्माज्जाता जलजा । जलजेक्षणा पयोजेक्षणा ३४० ॥ ६६ ।

जनलोचनपीयूषा प्राणिमात्रनेत्रामृता । जटातटविहारिणी ईश्वरस्य जटाप्रदेशविहारिणी । गङ्गाजलप्लावितकेशदेशेति स्मृतेः । **जयन्ती** जयनशीला । **शक्रात्मजा** ऋषभकान्तारूपा वा । अथाह भगवान् ऋषभदेव इत्यारभ्य जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामिति भागवतोक्तेः । जञ्जपूकानि पापानि हन्तीति **जञ्जपूकघ्नी** । जन्तुपापघ्नीति क्वचित्पाठः । उत्पादितं ज्ञानशरीरं यया सा **जनितज्ञानविग्रहा** ॥ ६७ ।

झल्लरीवाद्यकुशला झल्लर्या वाद्ये अभिज्ञा । झलज्झालशब्दो जलशब्दानुकरणे झाङ्कारझर्झराशब्दावपि । झलज्झालशब्दायमानेन जलेनावृता । झिण्टीशेन महादेवस्य मूर्तिविशेषेण श्रीकण्ठादिन्यासप्रसिद्धेन वन्द्या झिण्टीशवन्द्या । तथा चोक्तं शारदातिलके—

श्रीकण्ठानन्तसूक्ष्माश्च त्रिमूर्तिरमरेश्वरः ।
अर्धीशो भारभूतिश्चातिथीशः स्थाणुको हरः ॥
झिण्टीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः ।
अक्रूरश्च महासेनः षोडशेश्वरमूर्तयः ॥ इति ।

झाङ्कारशब्दं कर्तुं शीलं यस्याः सा **झाङ्कारकारिणी** । झर्झरा इति जलशब्दो वर्तते यस्याः सा **झर्झरावती** ३५० ॥ ६८ ।

जाड्यविध्वंसनकरी, जगद्योनि, जलाविला, जगदानन्दजननी, जलजा, जलजेक्षणा (३४०) ॥ ६६ ।

जनलोचनपीयूषा, जटातटविहारिणी, जयन्ती, जंजपूकघ्नी, जनितज्ञानविग्रहा ॥ ६७ ।

झल्लरीवाद्यकुशला, झलज्झालजलावृता, झिण्टीशवन्द्या, झाङ्कारकारिणी, झर्झरावती (३५०) ॥ ६८ ।

टीकिताशेषपाताला — टङ्किकैनोद्रिपाटने ।
टङ्कारनृत्यत्कल्लोला टीकनीयमहातटा ॥ ६९ ॥

डम्बरप्रवहा डीनराजहंसकुलाकुला ।
डमड्डमरुहस्ता च डामरोक्तमहाण्डका ॥ ७० ॥

ढौकिताशेषनिर्वाणा ढक्कानादचलज्जला ३६० ।
ढुण्ढिविघ्नेशजननी ढणड्ढुणितपातका ॥ ७१ ॥

टीकितं सेवितमशेषं पातालं भोगवतीरूपेण यया सा **टीकिताशेषपाताला** । एनांस्येवाऽद्रयस्तेषां पाटने विदारणे टङ्किका पाषाणविदारणशस्त्रविशेषरूपिणी । टङ्कारशब्दो यथा स्यात्, टङ्कारशब्देन वा नृत्यन्तः कल्लोला यस्यां सा **टङ्कारनृत्यत्कल्लोला** । टीकनीयः स्वतरङ्गैः सेवनीयो महांस्तटो यस्याः सा **टीकनीयमहातटा** ॥ ६९ ॥

डम्बरमाडम्बरं वेगवत्तरमित्येतद् यथा स्यात्तथा प्रवहतीति **डम्बरप्रवहा** । डीनान्युड्डीयमानानि यानि राजहंसानां कुलानि तैराकुला व्याप्ता **डीनराजहंसकुलाकुला** । डमदिति शब्दायमानो डमरुर्हस्ते यस्याः सा **डमड्डमरुहस्ता च** । डामरो डामरकल्पो नवाक्षरदेवीमन्त्रस्य प्रतिपादको ग्रन्थो महाराष्ट्रेषु प्रसिद्धस्तत्रोक्तं प्रतिपादितं महाण्डकं मन्त्रमयं महच्छरीरं यस्याः सा **डामरोक्तमहाण्डका** । गङ्गागौर्योरभेदात् ॥ ७० ॥

ढौकितं भक्तेभ्यः सेवितं प्रापितमिति यावत् । अशेषनिर्वाणं सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सार्ष्टि-सायुज्यलक्षणं पञ्चविधं कैवल्यं यया सा **ढौकिताशेषनिर्वाणा** । ढक्का वाद्यविशेषस्तस्या नादवन्नादवन्ति चलन्ति जलानि यस्याः सा **ढक्कानादचलज्जला** ३६० । ढुण्ढिश्चासौ विघ्नेशश्चेति तथा तस्य जननी **ढुण्ढिविघ्नेशजननी** ढणदिति शब्दानुकरणे । ढणशब्दो यथा स्यात्तथा ढुणितानि दूरीकृतानि पातकानि यया सा **ढणड्ढुणितपातका** ॥ ७१ ॥

टीकिताशेषपाताला, टङ्किकैनोद्रिपाटने, टङ्कारनृत्यत्कल्लोला, टीकनीयमहातटा ॥ ६९ ॥

डम्बरप्रवहा, डीनराजहंसकुलाकुला, डमड्डमरुहस्ता, डामरोक्तमहाण्डका ॥७० ॥

ढौकिताशेषनिर्वाणा, ढक्कानादचलज्जला (३६०) ढुण्ढिविघ्नेशजननी, ढणड्ढुणितपातका ॥ ७१ ॥

तर्पणी तीर्थतीर्था च त्रिपथा त्रिदशेश्वरी ।
त्रिलोकगोप्त्री तोयेशी त्रैलोक्यपरिवन्दिता ।। ७२ ।

तापत्रितयसंहर्त्री ३७० तेजोबलविवर्धिनी ।
त्रिलक्षा तारणी तारा तारापतिकरार्चिता ।। ७३ ।

त्रैलोक्यपावनी पुण्या तुष्टिदा तुष्टिरूपिणी ।
तृष्णाच्छेत्री तीर्थमाता ३८० त्रिविक्रमपदोद्भवा ।। ७४ ।

सर्वांस्तर्पयतीति तृप्यन्त्यस्यामनयेति वा सर्वे इति **तर्पणी** । **तीर्थानां निपानागमर्षिजुष्टजलगुरूणां तीर्थं तीर्थत्वं यया सा तीर्थतीर्था** । यदाहाऽमरः—"**निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टे जले गुराविति** ।" त्रिपथा त्रिषु लोकेषु पन्था मार्गो यस्याः सा **त्रिपथा** । त्रिदशानां देवानामीश्वरी **त्रिदशेश्वरी** । त्रिदिवेश्वरीति क्वचित्पाठः । त्रिलोकं गोपायतीति **त्रिलोकगोप्त्री** । तोयेशी जलानां तदधिष्ठातॄणामीश्वरी । त्रिलोकस्थैः जनैः परितः अभिवादिता स्तुता वेति **त्रैलोक्यपरिवन्दिता** ।। ७२ ।

अध्यात्मिकाऽधिदैविकाऽधिभौतिकतापत्रयं संहरतीति **तापत्रितयसंहर्त्री** ३७० । तेजोबले विवर्धयितुं शीलं यस्याः सा **तेजोबलविवर्धिनी** । त्रिषु लोकेषु लक्ष्यते रूपं यस्या इति **त्रिलक्षा** । तारयति सर्वांस्तरन्त्यनयाऽस्यामिति वा सर्वे इति तारणी । **तारयति भक्तानिति तारा प्रणवरूपा नक्षत्ररूपा वा** । अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरीतथेत्यत्रोक्ततारारूपा वा । **तारापतिकरार्चिता** चन्द्ररश्मिभिः पूजिता । अथवा तारापतये चन्द्राय शिरोधारणेन कं सुखं रातीति तारापतिकरो रुद्रस्तेनाऽर्चिता ।। ७३ ।

त्रैलोक्यपावनीपुण्या त्रैलोक्यं पावयन्तीति त्रैलोक्यपावन्यो गौतमीप्रमुखा नद्यस्तासां मध्ये पुण्या पुण्यातिशयहेतुः । **तुष्टिदा** सुखदा । तुष्टिरूपिणी तुष्टिस्वरूपा । तृष्णा इच्छा तस्याश्छेत्री **तृष्णाच्छेत्री** । तीर्थमात्राणां सप्तानां वा ब्रह्मपुत्राणां माता तीर्थमाता ३८० । **त्रिविक्रमपदोद्भवा** त्रिविक्रमो वामनस्तस्य पादावनेजनाज्जाता ।। ७४ ।

तर्पणी, तीर्थतीर्था, त्रिपथा, त्रिदशेश्वरी, त्रिलोकगोप्त्री, तोयेशी, त्रैलोक्यपरिवन्दिता ।। ७२ ।

तापत्त्रितयसंहर्त्री (३७०), तेजोबलविवर्धिनी, त्रिलक्षा, तारणी, तारा, तारापतिकरार्चिता ।। ७३ ।

त्रैलोक्यपावनी, पुण्या, तुष्टिदा, तुष्टिरूपिणी, तृष्णाच्छेत्री, तीर्थमाता (३८०), त्रिविक्रमपदोद्भवा ।। ७४ ।

तपोमयी तपोरूपा तपस्तोमफलप्रदा ।
त्रैलोक्यव्यापिनी तृप्तिस्तृप्तिकृत्तत्त्वरूपिणी ॥ ७५ ॥
त्रैलोक्यसुन्दरी तुर्या ३९० तुर्यातीतपदप्रदा ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीस्त्रिपदी तथ्या तिमिरचन्द्रिका ॥ ७६ ॥
तेजोगर्भा तपःसारा त्रिपुरारिशिरोगृहा ।
त्रयीस्वरूपिणी तन्वी ४०० तपनाङ्गजभीतिनुत् ॥ ७७ ॥

तप इन्द्रियमनसामैकाग्रयम् । मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्रयं परमं तप इत्युक्तेस्तन्मयी **तपोमयी** आलोचनमयीत्यर्थः । तपोरूपा कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपा । **तपस्तोमफलप्रदा** तपोनिकरफलदात्री । त्रैलोक्यं व्याप्तुं शीलं यस्याः सा **त्रैलोक्यव्यापिनी** । सर्वव्यापिकेत्यर्थः । तृप्तिस्तृप्तिस्वरूपा । तृप्तिं सुखं करोतीति तृप्तिकृत् । तत्त्वरूपिणी **चतुर्विंशतितत्त्वरूपिणी** परमार्थरूपिणीति वा ॥ ७५ ॥

त्रैलोक्ये सुन्दरं सौन्दर्यं यस्या सा **त्रैलोक्यसुन्दरी** । त्रैलोक्ये मनोहरेति वा । तुर्याऽवस्थात्रयातीता । तदुक्तम्—

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तूर्यमुच्यते ॥ इति ३९० ।

तुर्यस्यापि प्रतियोग्यधीनरूप्यत्वेन कल्पितत्वात्तदतीतमतिक्रान्तं यत्पदं परंब्रह्म तत्प्रदातीति **तुर्यातीतपदप्रदा** । **त्रैलोक्यलक्ष्मी** स्त्रैलोक्यसम्पत् । त्रैलोक्यस्य लक्ष्मीर्यस्याः सकाशादिति वा । त्रीणि पदान्यस्या इति **त्रिपदी** । त्रीणिपदा विचक्रम इति श्रुतेः । त्रिषु लोकेषु पदं स्थानमस्या इति वा । तथ्या कालत्रयाबाध्या । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेः । तीर्थेषु साध्वी तीर्थ्या इति वा पाठः । तिमिरमन्धकारं तत्र चन्द्रिका कौमुदीवोज्ज्वला, तिमिरमज्ञानं तस्य चन्द्रिका नाशिकेत्यर्थ इति वा ॥ ७६ ॥

ईश्वरस्य तेजो वीर्यमग्निना त्यक्तं गर्भे यस्याः सा **तेजोगर्भा** । तपसां सारो बलं यस्याः सा **तपःसारा** । तपसां सारभूतेति वा । त्रिपुरारेः शिरो गृहं यस्याः सा **त्रिपुरारिशिरोगृहा** । **त्रयीस्वरूपिणी** वेदत्रयरूपा । तनोति प्रपञ्चजातमिति **तन्वी** । उकारश्छान्दसः सुन्दरीति वा ४०० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिश्चतुर्थे विवृते शते ।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ ४ ।

तपनाङ्गजस्य यमस्य भीतिमपनुदतीति **तपनाङ्गजभीतिनुत्** ॥ ७७ ।

तपोमयी, तपोरूपा, तपस्तोमफलप्रदा, त्रैलोक्यव्यापिनी, तृप्ति, तृप्तिकृत्, तत्त्वरूपिणी ॥ ७५ ।

त्रैलोक्यसुन्दरी, तुर्या (३९०), तुर्यातीतफलप्रदा, त्रैलोक्यलक्ष्मी, त्रिपदी, तथ्या, तिमिरचंद्रिका ॥ ७६ ।

तेजोगर्भा, तपःसारा, त्रिपुरारिशिरोगृहा, त्रयीस्वरूपिणी, तन्वी (४००), तपनाङ्गजभीतिनुत ॥ ७७ ।

तरिस्तरणिजामित्रं तर्पिताशेषपूर्वजा ।
तुलाविरहिता तीव्रपापतूलतनूनपात् ॥ ७८ ॥
दारिद्र्यदमनी दक्षा दुष्प्रेक्षा दिव्यमण्डना ४१० ।
दीक्षावती दुरावाप्या द्राक्षामधुरवारिभृत् ॥ ७९ ॥
दर्शितानेककुतुका दुष्टदुर्जयदुःखहृत् ।
दैन्यहृद्दुरितघ्नी च दानवारिपदाब्जजा ॥ ८० ॥

तरत्यज्ञानं तत्कार्यमिति **तरिः**, भक्तानां संसारार्णवनौस्वरूपेति वा । तरणिजो यमस्तस्याऽमित्रं तदधिकारखण्डनात् । तरणिजाया यमुनाया मित्रमिति वा । तर्पितास्तृप्तिं प्रापिता अशेषा भगीरथस्य पूर्वजाः प्रपितामहा अशेषाणां जनानां पूर्वजाः पितृपितामहाद्यायेति वा सा **तर्पिताशेषपूर्वजा** । **तुलाविरहिता** परिमाणमतीतेत्यर्थः । तीव्रपापान्येव तूलानि तेषु **तनूनपाद्** वह्निस्तद्दाहिकेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

दारिद्र्यदमनी दौर्गत्यच्छेत्री । **दक्षा** भुक्तिमुक्तिप्रदाने चतुरा । **दक्षभार्या** प्रसूतिरूपा वा । 'प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः' इति भागवतोक्तेः । दीक्षेति क्वचित् । **दुष्प्रेक्षा** भक्तिमन्तरेण द्रष्टुमशक्या । दिव्यमलौकिकं मण्डनं भूषणं यस्याः सा **दिव्यमण्डना** ४१० । वैदिकी तान्त्रिकी च दीक्षा वर्तते यस्याः सा **दीक्षावती** । **दुरावाप्या** ज्ञानमन्तरेण प्राप्तुमशक्या । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुतेः । द्राक्षा मृद्वीका तद्वन्मधुरं वारि बिभर्ति इति **द्राक्षामधुरवारिभृत्** ॥ ७९ ॥

दर्शितं प्रकाशितं मायाविनवे गन्धर्वनगरादिकमनेकं नानाविधं कुतुकं कौतुकं जगल्लक्षणमाश्चर्यं यया सा **दर्शितानेककुतुका** । दुष्टानि यानि दुर्जयदुःखानि तानि हरतीति तथा । दुष्टदुर्जयदुःखकृदिति पाठे दुष्टानां दुर्जयदुःखकृदित्यर्थः । दैन्यं कार्पण्यं हरतीति **दैन्यहृत्** । दैत्यहृदिति पाठे दैत्यान् हरति नाशयतीत्यर्थः । दुरितानि हन्तीति **दुरितघ्नी** च । दनोरपत्यानि दानवास्तेषामरेर्विष्णोः पदाब्जात्पादपद्माज्जाता **दानवारिपदाब्जजा** । विष्णुपादार्घ्यसम्भूतेति स्मृतेः ॥ ८० ॥

तरि, तरणिजामित्र, तर्पिताशेषपूर्वजा, तुलाविरहिता, तीव्रपापतूलतनूनपात् ॥ ७८ ।

दारिद्र्यदमनी, दक्षा, दुष्प्रेक्षा, दिव्यमण्डना (४१०), दीक्षावती, दुरावाप्या, द्राक्षामधुरवारिभृत् ॥ ७९ ।

दर्शितानेककुतुका, दुष्टदुर्जयदुःखहृत्, दैन्यहृत्, दुरितघ्नी, दानवारिपदाब्जजा ॥ ८० ।

दन्दशूकविषघ्नी च दारिताघौघसन्ततिः ४२० ।
द्रुता देवद्रुमच्छन्ना दुर्वाराघविघातिनी ॥ ८१ ।
दमग्राह्या देवमाता देवलोकप्रदर्शिनी ।
देवदेवप्रिया देवी दिक्पालपददायिनी ॥ ८२ ।
दीर्घायुःकारिणी ४३० दीर्घा दोग्ध्री दूषणवर्जिता ।
दुग्धाम्बुवाहिनी दोह्या दिव्या दिव्यगतिप्रदा ॥ ८३ ।

दन्दशूकाः सर्पास्तेषां विषं हन्तीति **दन्दशूकविषघ्नी च** । दारिता विदारिताऽघौघसन्ततिः पापपरम्परा यया सा **दारिताघौघसन्ततिः ४२०** । द्रवतीति **द्रुता** वेगगामिनीति यावत् । मन्दारपारिजातसन्तानकल्पवृक्षहरिचन्दनैर्व्याप्ता **देवद्रुमच्छन्ना** । दुर्वाराणि प्रायश्चित्तादिभिश्छेतुमशक्यान्यघानि पापानि विघातयितुं शीलं यस्याः सा **दुर्वाराघविघातिनी** । उक्तं च—

प्रायश्चित्तं यदि स्यात्तव जलकणिका ब्रह्महत्यादिपापे ।
कस्त्वां स्तोतुं समर्थस्त्रिजगदघहरे देवि गङ्गे नमस्ते ॥ इति ॥८१ ।

दमग्राह्या दमादिसाधनचतुष्टयैः प्राप्या । तथा च श्रुतिः—"शान्तोदान्त-उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति । **देवमाता** अदितिस्वरूपा । **देवलोकप्रदर्शिनी** ब्रह्मलोकादिप्रापयित्री । देवः स्वप्रकाशः स एव लोक्यते इति लोकस्तत्प्रदर्शिनीति वा । **देवदेवप्रिया** विश्वेश्वरवल्लभा । **देवी** द्योतमाना स्वप्रकाशेत्यर्थः । **दिक्पालपददायिनी** इन्द्रादिपदप्रापयित्रीत्यर्थः ॥ ८२ ।

दीर्घमायुः कर्तुं शीलं यस्या सा **दीर्घायुःकारिणी** । **दीर्घा**ऽनवच्छिन्ना । **दोग्ध्री** धर्मार्थकाममोक्षप्रसवा । **दूषणवर्जिता** अविद्या तत्कार्यरहितेत्यर्थः । दुग्धमेवाऽम्बु वहितुं शीलं यस्याः सा तथा । **गोरूपधरा** पृथ्वीस्वरूपेत्यर्थः । सा हि दुग्धाम्बुना चतुःसमुद्रं पूरितवती । अत एव कालिदासोऽपि कथयति स्म—"**पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्**" (र० वं० २।३) इति ।

धर्मार्थकाममोक्षान् दुह्यतीति **दोह्या** । धर्मार्थकाममोक्षा यस्या प्राप्यन्त इत्यर्थः । दिवि भवा **दिव्या**ऽलौकिकीत्यर्थः । **दिव्यगतिप्रदा**ऽलौकिकपदप्रदेत्यर्थः ॥ ८३ ।

दन्दशूकविषघ्नी, दारिताघौघसन्तति (४२०), द्रुता, देवद्रुमच्छन्ना, दुर्वाराघविघातिनी ॥ ८१ ।

दमग्राह्या, देवमाता, देवलोकप्रदर्शनी, देवदेवप्रिया, देवी, दिक्पालपददायिनी ॥ ८२ ।

दीर्घायुःकारिणी (४३०) दीर्घा, दोग्ध्री, दूषणवर्जिता, दुग्धाम्बुवाहिनी, दोह्या, दिव्या, दिव्यगतिप्रदा ॥ ८३ ।

द्युनदी दीनशरणं देहिदेहनिवारिणी ४४० ।
द्राघीयसी दाघहन्त्री दितपातकसन्ततिः ॥ ८४ ।
दूरदेशान्तरचरी दुर्गमा देववल्लभा ।
दुर्वृत्तघ्नी दुर्विगाह्या दयाधारा दयावती ४५० ॥ ८५ ।
दुरासदा दानशीला द्राविणी द्रुहिणस्तुता ।
दैत्यदानवसंशुद्धिकर्त्री दुर्बुद्धिहारिणी ॥ ८६ ।

दिवो नदी द्युनदी स्वर्गङ्गेत्यर्थः । दीनशरणं दीनानां महापातकिनामपि शरणं रक्षित्री । तदुक्तम्—माताऽपि सन्त्यजेत्पुत्रं ब्रह्महत्यादिकारणम् । त्वं पुनर्गर्हितं मग्नं पुनीषे दीनवत्सले ॥ इति । देहिदेहनिवारिणी अविद्यानिरासेन जीवोपाधिभूतदेहद्वया-विनाशिनीत्यर्थः ४४० । द्राघीयसी दीर्घा महत्तरेति यावदित्यर्थः । महान्तं विभुमात्मानं महतो महीयानित्यादिश्रुतेः । दाघहन्त्री सन्तापच्छेत्री । दिता खण्डिता पातकसन्ततिः पापपरम्परा यया सा दितपातकसन्ततिः ॥ ८४ ।

दूरदेशान्तरे चर्तुं शीलं यस्याः सा दूरदेशान्तरचरी । दूरदेशस्थिताऽपि स्वस्मर्तॄणां सर्वपापनाशिनीत्यर्थः । श्रद्धाभक्तिध्यानयमाद्यैर्विना न गम्यत इति दुर्गमा । तदुक्तम्—"श्रद्धाभक्तिध्यानयमाद्यैर्यतमानैर्ज्ञातुं शक्यो देव इहैवाशु य ईशः दुर्विज्ञेयो जन्मशतैश्चापि विना तैस्तं संसारध्वान्तं विनाशं हरिमीडे" इति । देवाना-मभीष्टा देववल्लभा । देवः श्रीविष्णुः श्रीरुद्रो वा वल्लभो यस्याः सा तथेति वा । दुर्वृत्तान् दुष्टान् पाप्मनो वा हन्तीति दुर्वृत्तघ्नी । दुर्विगाह्याऽनुग्रहमन्तरेण प्राप्तुम-शक्या । दुर्विगाहेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । दयाधारा कृपाधिकरणम् । दयावती कृपायुक्ता ४५० ॥ ८५ ।

दुर्दुःखेनासदनमासादनं ज्ञानं प्राप्तिर्वा यस्याः सा । दाने पुरुषार्थचतुष्टयप्रदाने शीलं स्वभावो यस्याः सा दानशीला । द्रवितुं निरन्तरं गन्तुं पापसंघान् वा द्रावयितुं शीलं स्वभावं यस्याः सा द्राविणी । द्रुहिणेन ब्रह्मणा स्तुता द्रुहिणस्तुता । दैत्यदानवयोः संशुद्धिं कर्तुं शीलं यस्याः सा दैत्यदानवसंशुद्धिकर्त्री । दुष्टां बुद्धिं हर्तुं शीलं यस्याः सा दुर्बुद्धिहारिणी ॥ ८६ ।

द्युनदी, दीनशरण, देहिदेहनिवारिणी (४४०), द्राघीयसी, दाघहंत्री, दितपातक-सन्तति ॥ ८४ ।

दूरदेशान्तरचरी, दुर्गमा, देववल्लभा, दुर्वृत्तघ्नी, दुर्विगाह्या, दयाधारा, दया-वती (४५०) ॥ ८५ ।

दुरासदा, दानशीला, द्राविणी, द्रुहिणस्तुता, दैत्यदानवसंशुद्धिकर्त्री, दुर्बुद्धि-हारिणी ॥ ८६ ।

दानसारा दयासारा द्यावाभूमिविगाहिनी ।
दृष्टादृष्टफलप्राप्ति४६०र्देवतावृन्दवन्दिता ॥ ८७ ॥
दीर्घव्रता दीर्घदृष्टिर्दीप्ततोया दुरालभा ।
दण्डयित्री दण्डनीतिर्दुष्टदण्डधरार्चिता ॥ ८८ ॥
दुरोदरघ्नी दावार्चि४७०र्द्रवद्द्रव्यैकशेवधिः ।
दीनसन्तापशमनी दात्री दवथुवैरिणी ॥ ८९ ॥

सारणं सारः दानेन सारो ज्ञानं यस्याः सा दानसारा "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः दयया सारो ज्ञानं यस्याः सा दयासारा ।

द्यां दिवं भूमिं च विगाहितुं शीलं यस्याः सा द्यावाभूमिविगाहिनी । दृष्टं फलमैहिकसुखादि अदृष्टं फलं पारलौकिकं स्वर्गमोक्षादि तयोः प्राप्तिर्यस्याः सा दृष्टादृष्टफलप्राप्तिः ४६० । देवसमूहैरभिवन्दिता स्तुत्या वा देवतावृन्दवन्दिता । सर्वदेवैर्नमस्कृता इति वाराहोक्तेः ॥ ८७ ।

दीर्घं महद् व्रतं संकल्पः सृष्ट्यादिलक्षणं यस्याः सा दीर्घव्रता । दीर्घा दृष्टिर्ज्ञानं यस्याः सा दीर्घदृष्टिरपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपा वा । दीप्तं शंखकुन्देन्दुवदुज्ज्वलं तोयं यस्याः सा दीप्ततोया । तदुक्तं वाराहे—"शंखकुन्देन्दुधवलेति" । दुःखेनालभनं प्राप्तिर्यस्याः सा दुरालभा । दुर्लभेत्यर्थः । दण्डयित्री दण्डकर्त्री कारयित्रीति वा । दण्डनीतिरर्थशास्त्ररूपा । दुष्टेषु पापेषु दण्डं धारयन्ति ये ते दुष्टदण्डधरा राजादयस्तैरर्चिता ॥ ८८ ।

दुरोदरं द्यूतादिदुर्वृत्तं तद्धन्तुं शीलं यस्याः सा दुरोदरघ्नी । दावो वनाग्निस्तद्वदर्चिर्दीप्तिर्यस्याः सा दावार्चिः ४७० । द्रवतीति द्रवत् स्वकार्यं व्याप्नुवत् परिपूर्णमित्यर्थः । द्रव्याणां सर्वपदार्थानामेकः शेवधिर्मुख्यनिधिर्मुख्य आश्रय इत्यर्थः । द्रव्यैकशेवधिः । दीनानां संसाराङ्गारे पापच्यमानानां सन्तापानाध्यात्मिकादितापान् शमयितुं शीलं यस्याः सा दीनसन्तापशमनी । दीनसन्तापशमनेति पाठेऽपि स एवार्थः । दात्री पुरुषार्थचतुष्टयदानकर्त्री । दवथुवैरिणी संसारभयजन्यकम्पनाशिनी ॥ ८९ ।

दानसारा, दयासारा, द्यावाभूमिविगाहिनी, दृष्टादृष्टफलप्राप्ति, (४६०) देवतावृन्दवन्दिता ॥ ८७ ।

दीर्घव्रता, दीर्घदृष्टि, दीप्ततोया, दुरालभा, दण्डयित्री, दंडनीति, दुष्टदण्डधरार्चिता ॥ ८८ ।

दुरोदरघ्नी, दावार्चि (४७०), द्रवद्रव्यैकशेवधि, दीनसंतापशमनी, दात्री, दवथुवैरिणी ॥ ८९ ।

दरीविदारणपरा दान्ता दान्तजनप्रिया ।
दारिताद्रितटा दुर्गा ४८० दुर्गारण्यप्रचारिणी ॥ ९० ॥
धर्मद्रवा धर्मधुरा धेनुर्धीरा धृतिर्ध्रुवा ।
धेनुदानफलस्पर्शा धर्मकामार्थमोक्षदा ॥ ९१ ॥
धर्मोर्मिवाहिनी ४९० धुर्या धात्री धात्रीविभूषणम् ।
धर्मिणी धर्मशीला च धन्विकोटिकृतावना ॥ ९२ ॥

दरी विदारणं परं तात्पर्यं यस्याः सा **दरीविदारणपरा**। तदुक्तं वाराहे—"विन्ध्यपाषाणभेदिनीति"। **दान्ता** वशीकृतेन्द्रिया। दान्तजनानां प्रिया दान्तजना वा प्रिया यस्याः सा दान्तजनप्रिया। दारितमद्रितटं यया सा **दारिताद्रितटा**। दुर्गनामानं दैत्यं हतवतीति **दुर्गा** गौरी। तथा चात्रैव देवीवाक्यम्—"**अद्यप्रभृति मे नाम दुर्गेति ख्यातिमेष्यति**"। दुर्गदैत्यस्य समरे घातनादतिदुर्गमादिति। तद्रूपा। "**गङ्गागौर्यन्तरं यच्च यो ब्रूते मूढधीस्तु सः**" इति भविष्ये दर्शनात् ४८०। दुर्गारण्ये दुर्गमे वने दुर्गासुर एव वाऽरण्यं उभयत्र प्रचर्तुं प्रहर्तुं च शीलं यस्याः सा **दुर्गारण्यप्रचारिणी** ॥ ९० ॥

धर्मरूपो द्रवो यस्या धर्मात्मकद्रवस्वरूपा वा सा **धर्मद्रवा**। तथा च वाराहे—"**धर्मस्तु द्रवरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा, तद्वै गङ्गेति विख्याता**" इति। **धर्मधुरा** धर्मश्रेष्ठा सर्वोत्कृष्टधर्मरूपेत्यर्थः। अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमिति याज्ञवल्क्योक्तेः। **धेनुः** कामधेनुस्वरूपा। **धेनूनामस्मि कामधुगिति** भगवद्वचनात्। **धीरा** विदुषी। यद्वा धियमद्वैतबुद्धि राति ददातीति **धीरा** ॥ उक्तं च "**ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासनेति**"। **धृतिर्धारिका**। स सेतुर्विधृतिर्लोकानामसंभेदायेति श्रुतेः। **ध्रुवा** नित्या निश्चला वा। एतदप्रमेयं ध्रुवमिति श्रुतेः। कूटस्थमचलं ध्रुवमिति स्मृतेश्च। धेनुदानस्य फलं यस्मात्तादृशः स्पर्शो धेनुदानस्य यत्फलं तेन वा स्पर्शो यस्याः सा **धेनुदानफलस्पर्शा**। धेनुदानध्रुवस्पर्शेति क्वचित् पाठः। **धर्मकामार्थमोक्षदा** पुरुषार्थचतुष्टयदात्री ॥ ९१ ॥

धर्मरूपा एवोर्मयस्तद्वाहिनी **धर्मोर्मिवाहिनी** ॥ ४९०। **धुर्या** श्रेष्ठा। **धात्री** जनयित्री पोष्ट्री पृथ्वीति वा। धात्री विभूषणं पृथ्व्या अलङ्करणम्। धात्रीविभूषणेति क्वचित्पाठः। धर्मिणी जगदुत्पत्त्यादिधर्मवती पुण्यवतीति वा। धर्मे धर्म एव वा शीलं स्वभावो यस्याः सा **धर्मशीला**। धन्विनां कोटिभिः कृतमवनं यस्यास्तत्कोटीनां वा कृतमवनं यया सा **धन्विकोटिकृतावना**। तथा चोक्तम्—

दरीविदारणपरा, दान्ता, दान्तजनप्रिया, दारिताद्रितटा, दुर्गा (४८०) दुर्गारण्यप्रचारिणी ॥ ९० ॥

धर्मद्रवा, धर्मधुरा, धेनु, धीरा, धृति, ध्रुवा, धेनुदानफलस्पर्शा, धर्मकामार्थमोक्षदा ॥ ९१ ॥

धर्मोर्मिवाहिनी, (४९०) धुर्या, धात्री, धात्रीविभूषणा, धर्मिणी, धर्मशीला, धन्विकोटिकृतावना ॥ ९२ ॥

ध्यातृपापहरा ध्येया धावनी धूतकल्मषा ५०० ।
धर्मधारा धर्मसारा धनदा धनवर्धिनी ॥ ९३ ॥
धर्माधर्मगुणच्छेत्री धत्तूरकुसुमप्रिया ।
धर्मेशी धर्मशास्त्रज्ञा धनधान्यसमृद्धिकृत् ॥ ९४ ॥
धर्मलभ्या ५१० धर्मजला धर्मप्रसवधर्मिणी ।
ध्यानगम्यस्वरूपा च धरणी धातृपूजिता ॥ ९५ ॥

धनुषां कोटिभिर्ब्रह्म तदर्धं जाह्नवीजलम् ।
तदर्धं च हरेर्नाम तदर्धं स्नानदानयोः । इति ॥ ९२ ।

ध्यातुः पुरुषस्य पापहरा **ध्यातृपापहरा** । धातृ[1]पापहरेति क्वचित्पाठः । **ध्येया** बुभुक्षुभिर्मुमुक्षुभिश्च चिन्त्या । **धावनी** पवित्रकारिणी गमनशीला वा । धूतं विधूतं नाशितमित्येतत् कल्मषं यया सा **धूतकल्मषा** ॥ ५०० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् पञ्चमे विवृते शते ।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ ५ ।

धर्मरूपाधारा । धर्मं ध्रियत इति वा **धर्मधारा** । धर्माणां मध्ये सारा श्रेष्ठा **धर्मसारा** । धनं ददातीति **धनदा** । **धनवर्धिनी** धनवृद्धिकर्त्री । धृतिवर्धिनीति क्वचित्पाठः ॥ ९३ ।

धर्माधर्मलक्षणौ यौ गुणौ तयोश्छेत्री भेत्री **धर्माधर्मगुणच्छेत्री** । धत्तूरकुसुमानि प्रियाणि यस्याः सा **धत्तूरकुसुमप्रिया** । **धर्मेशी** तन्नियन्त्री । धर्मशास्त्रं जानातीति धर्मशास्त्राद्वा ज्ञानं बोधनं यस्याः सा **धर्मशास्त्रज्ञा** । धनं च धान्यं च धनधान्ये तयोर्वृद्धिकर्त्री **धनधान्यसमृद्धिकृत्** ॥ ९४ ।

धर्मलभ्या योगैकप्राप्या ५१० । धर्मरूपं जलं यस्याः सा **धर्मजला** । धर्मस्य प्रसवो यस्याः सा **धर्मप्रसवा** । धर्मो देयत्वेन वर्तते यस्याः सा **धर्मिणी** । सा च सा चेति सविशेषणं नामैकम् । धर्मस्य प्रसवलक्षणो धर्मो वर्तते यस्याः सा **धर्मप्रसवधर्मिणीति वा** ।

ध्यातृपापहरा, ध्येया, धावनी, धूतकल्मषा (५००) धर्मधारा, धर्मसारा, धनदा, धनवर्धिनी ॥ ९३ ।

धर्माधर्मगुणच्छेत्री, धत्तूरकुसुमप्रिया, धर्मेशी, धर्मशास्त्रज्ञा, धनधान्यसमृद्धिकृत् ॥ ९४ ।

धर्मलभ्या (५१०), धर्मजला, धर्मप्रसवधर्मिणी, ध्यानगम्यस्वरूपा, धरणी धातृपूजिता ॥ ९५ ।

---

१. ध्यातपापहरेति पुस्तकान्तरे ।

धूर्धूर्जटिजटासंस्था धन्या धीर्धारणावती ५२० ।
नन्दा निर्वाणजननी नन्दिनी नुन्नपातका ॥ ९६ ॥
निषिद्धविघ्ननिचया निजानन्दप्रकाशिनी ।
नभोऽङ्गणचरी नूतिर्नम्या नारायणी ५३० नुता ॥ ९७ ॥
निर्मला निर्मलाख्याना नाशिनी तापसम्पदाम् ।
नियता नित्यसुखदा नानाश्चर्यमहानिधिः ॥ ९८ ॥

ध्यानेन गम्यं स्वरूपं यस्या सा ध्यानगम्यस्वरूपा च । धरणी पृथ्वीरूपा । धातृपूजिता ब्रह्मार्चिता ॥ ९५ ।

धूनयति पापानि—इति धूः । धूर्जटेरीश्वरस्य जटायां संस्था संस्थितिर्यस्याः सा धूर्जटिजटासंस्था । धन्या कृतार्था धनाय हिता धन्येति वा । धीः सामान्यात्मिका बुद्धिः । धारणावती तद्विशेषरूपा ५२० नन्दा तन्नाम्नी । तदुक्तम्—'नन्दा चालकनन्दा चेति' । निर्वाणजननी कैवल्यसम्पादयित्री । नन्दयितुं शीलं यस्याः सा नन्दिनी । वसिष्ठधेनुरूपा वा । नुन्नानि दूरीकृतानि पातकानि यया सा नुन्नपातका ॥ ९६ ।

निषिद्धा उत्सादिता विघ्ननिचया यया सा निषिद्धविघ्ननिचया । निजानन्दो ब्रह्मानन्दस्तं प्रकाशयितुं शीलं यस्याः सा निजानन्दप्रकाशिनी । नभोऽङ्गणचरी आकाशमार्गवहा । नूतिः स्तुतिस्वरूपा । दीर्घत्वमार्षम् । नम्या वन्द्या । नारायणी नारायणशक्तिः ५३० । नुता ब्रह्मेन्द्रादिभिः स्तुता ॥ ९७ ।

निर्गतः संसाररूपो मलो यस्याः सा निर्मला । निर्मलं संसारनाशकमाख्यानं कथनं यस्याः सा निर्मलाख्याना । नाशिनी तापसम्पदां तापपरम्पराणां विघातिनी । नियता एकरूपा । नितरां यता संयता इति वा । नित्यसुखं ब्रह्मसुखं ददातीति नित्यसुखदा । नानाश्चर्यमहानिधिः नानाश्चर्यं जगत्तस्य महानिधिः परममधिष्ठान-मित्यर्थः ॥ ९८ ।

धूः, धूर्जटिजटासंस्था, धन्या, धी, धारणावती (५२०), नंदा, निर्वाणजननी, नन्दिनी, नुन्नपातका ॥ ९६ ।

निषिद्धविघ्ननिचया, निजानन्दप्रकाशिनी, नभोंऽगणचरी, नूति, नम्या, नारायणी (५३०), नुता ॥ ९७ ।

निर्मला, निर्मलाख्याना, नाशिनी तापसंपदाम्, नियता, नित्यसुखदा, नानाश्चर्य-महानिधि ॥ ९८ ।

नदीनदसरो माता नायिका ५४० नाकदीर्घिका ।
नष्टोद्धरणधीरा च नन्दनानन्ददायिनी ॥ ९९ ॥

निर्णिक्ताशेषभुवना निःसङ्गा निरुपद्रवा ।
निरालम्बा निष्प्रपञ्चा निर्णाशितमहामला ५५० ॥ १०० ॥

निर्मलज्ञानजननी निःशेषप्राणितापहृत् ।
नित्योत्सवा नित्यतृप्ता नमस्कार्या निरञ्जना ॥ १०१ ॥

नदी सरिद्रूपा । **नदसरो माता** नदानां सरसां च जनयित्री । **नायिका** श्रेष्ठा सर्वनियन्त्रीत्यर्थः । नृत्यकर्त्रीस्वरूपा वेत्यर्थः ५४० । **नाकदीर्घिका** स्वर्गवापीस्वरूपा । नष्टानां संसारे पतितानामुद्धरणे मोचने धीरा दक्षा **नष्टोद्धरणधीरा** च । नन्दयति समृद्धान् करोतीति **नन्दना** । नन्दमानन्दं समृद्धिं वा दातुं शीलं यस्याः सा **नन्द-दायिनी** ॥ ९९ ।

निर्णिक्तं पवित्रीकृतमशेषं भुवनं यया सा **निर्णिक्ताशेषभुवना** । निर्गतः सङ्गः सम्बन्धो यस्याः सा **निसङ्गा** । "**असङ्गो न हि सज्जत**" इति श्रुतेः । निर्गत उपद्रव आध्यात्मिकादिलक्षणो यस्याः सा **निरुपद्रवा** । निर्गत आलम्ब आश्रयो यस्याः सा **निरालम्बा** । स्वमहिमप्रतिष्ठितेत्यर्थः । स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः "**स्वे महिम्नीति**" श्रुतेः । निष्प्रपञ्चा प्रपञ्चाऽतीता । एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः । निःशेषेण नाशितं महामलमज्ञानं यया सा **निर्णाशितमहामला** ५५० ॥ १०० ।

निर्मलज्ञानजननी ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानोत्पादिनी । निःशेषा ये प्राणितापा आध्यात्मिकादिलक्षणास्तान् हरतीति **निःशेषप्राणितापहृत्** । नित्य उत्सवो यस्याः सा **नित्योत्सवा** । नित्येन सुखेन स्वरूपानन्देन नित्यं सर्वदा वा तृप्ता **नित्यतृप्ता** । नमस्कार्या नमस्कारविषया । अञ्जनमज्ञानं तद्रहिता **निरञ्जना** ॥ १०१ ।

नदीनदसरोमाता, नायिका, (५४०) नाकदीर्घिका, नष्टोद्धरणधीरा, नन्दनानन्द-दायिनी ॥ ९९ ।

निर्णिक्ताशेषभुवना, निःसंगा, निरुपद्रवा, निरालम्बा, निष्प्रपञ्चा, निर्णाशित-महामला (५०) ॥ १०० ।

निर्मलज्ञानजननी, निःशेषप्राणितापहृत्, नित्योत्सवा, नित्यतृप्ता, नमस्कार्या, निरंजना ॥ १०१ ।

निष्ठावती निरातङ्का निर्लेपा निश्चलात्मिका५६० ।
निरवद्या निरीहा च नीललोहितमूर्धगा ॥ १०२ ।

नन्दिभृङ्गिगणस्तुत्या नागानन्दा नगात्मजा ।
निष्प्रत्यूहा नाकनदी निरयार्णवदीर्घनौः ५७० ॥ १०३ ।

पुण्यप्रदा पुण्यगर्भा पुण्या पुण्यतरङ्गिणी ।
पृथुः पृथुफला पूर्णा प्रणतार्तिप्रभञ्जिनी ॥ १०४ ।

निष्ठा काष्ठा नियम इति यावत् तद्वतीति **निष्ठावती**। निर्निर्गत आतङ्क आशङ्का यस्याः सा **निरातङ्का**। "तत्र को मोहः कः शोकः" इति श्रुतेः। निर्निर्गतः पापलेपो यस्याः सा **निर्लेपा**। शुद्धमपापविद्धमिति श्रुतेः। निश्चलः कूटस्थ आत्मा यस्याः सा **निश्चलात्मिका** ५६०। निर्गतमवद्यं दूषणं यस्याः सा **निरवद्या**। निरवद्यं निरञ्जनमिति श्रुतेः। **निरीहा** चेष्टारहिता। कूटस्थमचलं ध्रुवमिति स्मृतेः। च **नीललोहितमूर्धगा** विश्वेश्वरमस्तकगा ॥ १०२ ।

नन्दिभृङ्गिगणस्तुत्या नन्दी च भृङ्गी च गणाश्च नन्दिभृङ्गिगणास्तैस्तावेव वा गणौ ताभ्यां स्तुत्या स्तुत्यर्हा। **नागा** नागस्वरूपा। नन्दयतीति **नन्दा** समृद्धिदेत्यर्थः। **नगात्मजा** हिमवतो दुहिता। हिमाचलकृताश्रयेति स्मृतेः। **निष्प्रत्यूहा** विघ्नरहिता निर्गतः प्रत्यूहो यस्या इति वा। **नाकनदी** स्वर्गनदी। **निरयार्णवस्य** पापसमुद्रस्य **दीर्घा नौः** पारप्रापिका महती नौकेत्यर्थः ५७० ॥ १०३ ।

पुण्यं प्रददातीति **पुण्यप्रदा**। पुण्यं गर्भे यस्याः सा **पुण्यगर्भा**। **पुण्या** पुण्यस्वरूपा। तद्धेतुत्वात्। पुण्यरूपास्तरङ्गा विद्यन्ते यस्याः सा पुण्यनदीति वा **पुण्यतरङ्गिणी**। **पृथुर्महती** परिपूर्णेत्यर्थः। पृथ्ववताररूपा वा। पृथूनि महान्ति फलानि यस्याः सा **पृथुफला**। **पूर्णा** सर्वव्यापिका। अनवच्छिन्नप्रवाहरूपा वा। प्रणतानामार्ति प्रभञ्जितुं शीलं यस्याः सा **प्रणतार्तिप्रभञ्जिनी** ॥ १०४ ।

निष्ठावती, निरातङ्का, निर्लेपा, निश्चलात्मिका (५६०), निरवद्या, निरीहा, नीललोहितमूर्धगा ॥ १०२ ।

नन्दिभृङ्गिगणस्तुत्या, नागा, नन्दा, नगात्मजा, निष्प्रत्यूहा, नाकनदी, निरयार्णवदीर्घनौः (५७०) ॥ १०३ ।

पुण्यप्रदा, पुण्यगर्भा, पुण्या, पुण्यतरङ्गिणी, पृथुः, पृथुफला, पूर्णा, प्रणतार्तिप्रभञ्जनी ॥ १०४ ।

प्राणदा प्राणिजननी ५८० प्राणेशी प्राणरूपिणी ।
पद्मालया पराशक्तिः पुरजित्परमप्रिया ।। १०५ ।
परापरफलप्राप्तिः पावनी च पयस्विनी ।
परानन्दा ५९० प्रकृष्टार्था प्रतिष्ठा पालनी परा ।। १०६ ।
पुराणपठिता प्रीता प्रणवाक्षररूपिणी ।
पार्वती प्रेमसम्पन्ना पशुपाशविमोचनी ६०० ।। १०७ ।

प्राणान् ददाति भक्तानामभक्तानां खण्डयतीति वा प्राणदा। **प्राणिजननी** जन्तूत्पादिनी ५८०। **प्राणेशी** प्राणानां नियन्त्री। प्राणो हिरण्यगर्भः समष्टिरूपस्तद्रूपं वर्तते यस्याः सा **प्राणरूपिणी**। **"हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे"** (शु० य० २३।८२) इत्यादि श्रुतेः। पद्ममालयं यस्याः सा **पद्मालया** लक्ष्मीस्वरूपेत्यर्थः। **पराशक्तिः** मायाख्या तद्रूपा। **"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते"** इति श्रुतेः। पुराजितः त्रिपुरारेः परमा चासौ प्रिया चेति **पुरजित्परमप्रिया** ॥ १०५।

परा सर्वोत्कृष्टा। न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यत इति श्रुतेः। परफलस्य कैवल्यस्य प्राप्तिर्यस्याः सा **परफलप्राप्तिः**। त्वमापीता पीताम्बरपुरनिवासं वितरसी-त्युक्तेः। **पावनी** सर्वपापशोधनी। **"प्रायश्चित्तं यदि स्यात्तव जलकणिका ब्रह्महत्यादि-पापे"** इत्युक्तेः। च **पयस्विनी** प्रशस्तजलवती पुण्यतोयेत्यर्थः। पर आनन्दो यया परानन्दस्वरूपा वा सा **परानन्दा**। स्त्रीत्वमार्षम् ५९०। प्रकृष्टोऽर्थो यस्याः सा **प्रकृष्टार्था** प्रतितिष्ठत्यस्यां सर्वमिति **प्रतिष्ठा**। **पालनी** पालनकर्त्री। परापरस्वरूपा पूरयतीति वा परा ॥ १०६।

पुराणेषु पठिता **पुराणपठिता** तत्प्रतिपाद्या। अथवा **पुराणः परमात्मा** तद्रूपत्वेन पठिता कथितेत्यर्थः। **प्रीता** सर्वेषां प्रियतमा। सर्वान् प्रीणातीति वा। **'प्रणवाक्षरं ॐकारस्तद्रूपिणी'**। **पार्वती** भवानीरूपा। **प्रेमसम्पन्ना** प्रीतिसंयुक्ता परप्रेमास्पदेत्यर्थः। पशूनां जीवानां पाशाश्चतुर्विंशतितत्त्वानि तेषां विमोचनी **पशुपाशविमोचनी**। विनाशिनीति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ६००।

प्राणदा, प्राणिजननी (५८०), प्राणेशी, प्राणरूपिणी, पद्मालया, पराशक्ति, पुरजित्परमप्रिया ॥ १०५।

परापरफलप्राप्ति, पावनी, पयस्विनी, परानन्दा (५९०), प्रकृष्टार्था, प्रतिष्ठा, पालनी, परा ॥ १०६।

पुराणपठिता, प्रीता, प्रणवाक्षररूपिणी, पार्वती, प्रेमसम्पन्ना, पशुपाशविमोचनी (६००) ॥ १०७।

परमात्मस्वरूपा च परब्रह्मप्रकाशिनी ।
परमानन्दनिष्पन्दा प्रायश्चित्तस्वरूपिणी ॥ १०८ ।

पानीयरूपनिर्वाणा परित्राणपरायणा ।
पापेन्धनदवज्वाला पापारिः पापनामनुत् ॥ १०९ ।

परमैश्वर्यजननी ६१० प्रज्ञा प्राज्ञा परापरा ।
प्रत्यक्षलक्ष्मी पद्माक्षी परव्योमामृतस्रवा ॥ ११० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् विवृते द्विस्त्रिके शते ।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ १०७ ।

परमात्मस्वरूपा च परब्रह्मैकलक्षणा च । **परब्रह्मप्रकाशिनी** परब्रह्मप्रकाशकारिणी । परमानन्दस्य नितरां स्पन्दश्चलनं तद्वत्त्यभिव्यक्तिर्यस्याः पुण्यकर्महेतुत्वात् सा **परमानन्दनिष्पन्दा** । **प्रायश्चित्तस्वरूपिणी** सर्वपापैकप्रायश्चित्तरूपा । प्रायश्चित्तन्तु तत्रैव यत्र गङ्गा न विद्यत इति स्मृतेः ॥ १०८ ।

पानीयरूपनिर्वाणा जलस्वरूपकैवल्यमेव जलस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । **परित्राणपरायणा** भक्तरक्षणे पराश्रयरूपा । पापान्येवेन्धनानि तेषु **दवज्वाला** वनाग्निशिखा । **पापारिः** पापानां शत्रुः । पापानि नाम्ना नुदतीति **पापनामनुत्** ॥ १०९ ।

परमैश्वर्यजननी अणिमाद्यैश्वर्यदात्री ६१० । प्रकृष्टा ज्ञा प्रज्ञा स्वप्रकाशज्ञानैकस्वभावा । प्राज्ञा न विद्यते ज्ञो यस्याः साऽज्ञा प्रकृष्टाऽज्ञा प्राज्ञा विदुषीति वा । **परापरा** कार्यकारणरूपा । परावरा इति पाठे परे हिरण्यगर्भादयः अवरा निकृष्टा यस्याः सा तथा । प्रत्यक्षा लक्ष्मीरपरोक्षा निर्वाणश्रीर्यस्याः सा **प्रत्यक्षलक्ष्मीः** साक्षाल्लक्ष्मीस्वरूपेति वा । पद्मे पद्मपत्रे इवाऽक्षणी यस्याः सा **पद्माक्षी** । परव्योम परमाकाशरूपममृतं मरणरहितं स्वरूपं भक्तेभ्यः स्रवति प्रयच्छतीति **परव्योमामृतस्रवा** । आकाशस्तल्लिङ्गादिति न्यायात् ॥ ११० ।

परमात्मस्वरूपा, परब्रह्मप्रकाशिनी, परमानन्दनिष्पन्दा, प्रायश्चित्तस्वरूपिणी ॥ १०८ ।

पानीयरूपनिर्वाणा, परित्राणपरायणा, पापेन्धनदवज्वाला, पापारि, पापनामनुत् ॥ १०९ ।

परमैश्वर्यजननी (६१०), प्रज्ञा, प्राज्ञा, परापरा, प्रत्यक्षलक्ष्मी, पद्माक्षी, परव्योमामृतस्रवा ॥ ११० ।

प्रसन्नरूपा प्रणिधिः पूता प्रत्यक्षदेवता ६२० ।
पिनाकिपरमप्रीता परमेष्ठिकमण्डलुः ॥ १११ ॥

पद्मनाभपदार्घ्येण प्रसूता पद्ममालिनी ।
परर्धिदा पुष्टिकरी पथ्या पूर्तिः प्रभावती ॥ ११२ ॥

पुनाना ६३० पीतगर्भघ्नी पापपर्वतनाशिनी ।
फलिनी फलहस्ता च फुल्लाम्बुजविलोचना ॥ ११३ ॥

प्रसन्नमज्ञा न तत्कार्यरूपमलेन न संस्पृष्टं रूपं स्वरूपं यस्याः सा **प्रसन्नरूपा**। प्रकर्षेण निधीयते कार्यजातं प्रलयकालेऽस्यामिति **प्रणिधिः**। पुनातीति **पूता** परमपवित्रस्वरूपा पवित्राणां पवित्रं य इति स्मृतेः। **प्रत्यक्षदेवता**ऽपरोक्षप्रत्यक् चैतन्यरूपा। यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति श्रुतेः ६२०। **पिनाकिपरमप्रीता** विश्वेश्वरस्यात्यन्तवल्लभा। परमेष्ठिनो ब्रह्मणः कमण्डलुराश्रयत्वेन यस्याः सा **परमेष्ठिकमण्डलुः**। आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रे जलमित्युक्तेः ॥ १११ ॥

पद्मनाभपदार्घ्येण प्रसूता विष्णुपादार्घ्येण सम्भूता। पश्चात् पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्। विष्णुपादार्घ्यसम्भूतेत्याद्युक्तेः। पद्मनाभपदाघातप्रसूतेति वा पाठः। पद्मानां माला वर्तते यस्याः सा **पद्ममालिनी**। परामृद्धिं ददातीति **परर्धिदा**। पुष्टिं करोतीति **पुष्टिकरी**। **पथ्या** संसाररोगस्य पथ्यस्वरूपा। **पूर्तिः** परिपूर्णरूपा उदरादिभरणरूपा वा। **प्रभावती** प्रकाशवती ॥ ११२ ॥

पुनातीति **पुनाना** ६३०। पीनानां पानकर्तॄणां पीता सतीति वा गर्भान् हन्तीति **पीतगर्भघ्नी**। पापान्येव पर्वतास्तान्नाशितुं शीलं यस्याः सा **पापपर्वतनाशिनी**। फलं देयत्वेन वर्तते यस्याः सा **फलिनी**। भक्तेभ्यो दातुं हस्ते इव यस्याः सा **फलहस्ता**। फलं मातुलिङ्गादिफलं हस्ते यस्या इति वा। च फुल्लाम्बुजानीव विकसितानि लोचनानि यस्याः सा **फुल्लाम्बुजविलोचना** ॥ ११३ ॥

प्रसन्नरूपा, प्रणिधि, पूता, प्रत्यक्षदेवता (६२०), पिनाकिपरमप्रीता, परमेष्ठिकमंडलु ॥ १११ ॥

पद्मनाभपदार्घ्येण प्रसूता, पद्ममालिनी, परर्धिदा, पुष्टिकरी, पथ्यापूर्ति, प्रभावती ॥ ११२ ॥

पुनाना (६३०), पीतगर्भघ्नी, पापपर्वतनाशिनी, फलिनी, फलहस्ता, फुल्लाम्बुजविलोचना ॥ ११३ ॥

फालितैनोमहाक्षेत्रा फणिलोकविभूषणम् ।
फेनच्छलप्रणुन्नैनाः फुल्लकैरवगन्धिनी ॥ ११४ ॥

फेनिलाच्छाम्बुधाराभा ६४०फुडुच्चाटितपातका ।
फाणितस्वादुसलिला फाण्टपथ्यजलाविला ॥ ११५ ॥

विश्वमाता च विश्वेशी विश्वा विश्वेश्वरप्रिया ।
ब्रह्मण्या ब्रह्मकृद् ब्राह्मी६५०ब्रह्मिष्ठा विमलोदका ॥ ११६ ॥

फालितं खण्डितमेनसां पापानां महाक्षेत्रं यया सा **फालितैनोमहाक्षेत्रा**। भोगवतीरूपेण **सर्पलोकभूषणरूपा** फणिलोकविभूषणम् । फेनच्छलेन प्रणुन्नानि दूरीकृतानि एनांसि पापानि यया सा **फेनच्छलप्रणुन्नैनाः** । फुल्लं विकसितं यत्कैरवं कुमुदं तद्गन्ध इव गन्धः, तद्गन्धो वा वर्तते यस्याः सा **फुल्लकैरवगन्धिनी** ॥ ११४ ।

फेनिलं फेनयुक्तं यदच्छमम्बु तस्य या धारा प्रवाहस्तेनाभा दीप्तिर्यस्यास्तत्स्वरूपा वा सा **फेनिलाच्छाम्बुधाराभा** ६४० । **फुडिति शब्दानुकरणम्** । फुडितिशब्देनोच्चाटितं पातकं यया सा **फुडुच्चाटितपातका** । फणितं पक्वान्नविशेषमिव स्वादु सलिलं यस्याः सा **फाणितस्वादुसलिला** । फाण्टं तक्रं तद्वत् पथ्यं यज्जलं तेनाविला सा **फाण्टपथ्यजलाविला** ॥ ११५ ।

विश्वेषां माता **विश्वमाता** च । **विश्वेशी** सर्वेश्वरीत्यर्थः । **विश्वा** सर्वस्वरूपा । विश्वेश्वरस्य प्रिया विश्वेश्वरो वा प्रियो यस्याः सा **विश्वेश्वरप्रिया** । ब्रह्मणे परमात्मने हिरण्यगर्भाय वेदाय ब्राह्मणाय वा हिता **ब्रह्मण्या** । हिरण्यगर्भादीन् करोतीति ब्रह्मकृत् । ब्रह्मणः शक्तिर्ब्राह्मी । ब्रह्मणि भवा नैष्कर्म्यलक्षणस्थितिरूपा वा ६५० । **ब्रह्मिष्ठा** स्वमहिमस्थेत्यर्थः । ब्राह्मणभक्ता वा । विगतं मलं पापं यस्मात्तथाभूतमुदकं यस्याः सा **विमलोदका** ॥ ११६ ।

फालितैनोमहाक्षेत्रा, फणिलोकविभूषणा, फेनच्छलप्रणुन्नैना, फुल्लकैरवगन्धिनी ॥ ११४ ।

फेनिलाच्छाम्बुधाराभा (६४०), फुडुच्चाटितपातका, फाणितस्वादुसलिला, फाण्टपथ्यजलाविला ॥ ११५ ।

विश्वमाता, विश्वेशी, विश्वा, विश्वेश्वरप्रिया, ब्रह्मण्या, ब्रह्मकृद्, ब्राह्मी (६५०), ब्रह्मिष्ठा, विमलोदका ॥ ११६ ।

विभावरी च विरजा विक्रान्तानेकविष्टपा ।
विश्वमित्रं विष्णुपदो वैष्णवी वैष्णवप्रिया ॥ ११७ ।
विरूपाक्षप्रियकरी ६६० विभूतिर्विश्वतोमुखी ।
विपाशा वैबुधी वेद्या वेदाक्षररसस्रवा ॥ ११८ ।
विद्या वेगवती वन्द्या बृंहणी ६७० ब्रह्मवादिनी ।
वरदा विप्रकृष्टा च वरिष्ठा च विशोधिनी ॥ ११९ ।

विभावरी रात्रिरूपा भूरिद्युम्नभार्यारूपा वा । तथा च पाद्मे—

भूरिद्युम्नो महाराजः क्षमामण्डलपालकः ।
तस्यासन् शतसाहस्राः प्रमदाः कमलेक्षणाः ॥
तासां **विभावरी** श्रेष्ठा बभूव तनुमध्यमा । इति ॥

विगतं रजो यस्याः सा **विरजाः** । शुद्धसत्त्वेत्यर्थः । विक्रान्तं व्याप्तम्-अनेकं विष्टपं भुवनं यया सा **विक्रान्तानेकविष्टपा** । **विश्वमित्रं** जगद्धितैषिणी । विष्णुपदादुद्भूता **विष्णुपदी** । विष्णोरियं **वैष्णवी** । वैष्णवानां विष्णुभक्तानां प्रिया **वैष्णवप्रिया** ॥ ११७ ।

विरूपाक्षे त्रिनेत्रे प्रियं करोतीति **विरूपाक्षप्रियकरी** ६६० । **विभूतिरणिमा**द्यष्टैश्वर्यरूपा । विश्वतः सर्वतोमुखानि यस्याः सा **विश्वतोमुखी** । सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमिति स्मृतेः । विगतः पाशो बन्धनं संसाररूपं यस्याः, सा **विपाशा** नदीविशेषरूपा वा । तथा च भीष्मपर्वणि—"**दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलबालुकाम्**" इति । विबुधस्य विष्णोरियं **वैबुधी** देवलोकभवा वा । **वेद्या** वेत्तुं योग्या । वेद्येति चाऽन्यत्र । वेदाक्षरेभ्यो वेदान्तेभ्यो ब्रह्मानन्दरसं स्रवति ब्रह्मानन्दरसस्य वा स्रवो यस्याः सा **ब्रह्मानन्दरसस्रवा** ॥११८ ।

विद्या ब्रह्मविद्यारूपा । **वेगवती** स्रोतोगामिनी । **वन्द्या** अभिवन्द्या स्तुत्या वा । **बृंहणी** देहेन्द्रियादीनां परिणामयित्री ६७० । ब्रह्म वदितुं शीलं यस्याः सा **ब्रह्मवादिनी** । वरं ददातीति **वरदा** । विशेषेण प्रकृष्टा **विप्रकृष्टा** सर्वोत्तमेत्यर्थः । **वरिष्ठा** श्रेष्ठा । च वौ पक्षिणि हंसे शेत इति विशो ब्रह्म उः शङ्करः दधाति धारयति पोषयतीति वा धो विष्णुस्तान् ब्रह्मरुद्रविष्णून् नयति प्रापयतीति **विशोधनी** विशेषेण शोधयति पवित्रयतीति वा ॥ ११९ ।

विभावरी, विरजा, विक्रान्तानेकविष्टपा, विश्वमित्रा, विष्णुपदी, वैष्णवी, वैष्णवप्रिया ॥ ११७ ।

विरूपाक्षप्रियकरी(६६०),विभूति, विश्वतोमुखी, विपाशा, वैबुधी, वेद्या, वेदाक्षररसस्रवा ॥ ११८ ।

विद्या, वेगवती, वन्द्या, (६७०) ब्रह्मवादिनी, वरदा, विप्रकृष्टा, वरिष्ठा, विशोधिनी ॥ ११९ ।

विद्याधरी विशोका च वयोवृन्दनिषेविता ।
बहूदका बलवती ६८० व्योमस्था विबुधप्रिया ॥ १२० ॥
वाणी वेदवती वित्ता ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी ।
ब्रह्माण्डकोटिव्याप्ताम्बुर्ब्रह्महत्यापहारिणी ॥ १२१ ॥
ब्रह्मेशविष्णुरूपा च बुद्धि६९० र्विभववर्धिनी ।
विलासिसुखदा वैश्या व्यापिनी च वृषारणिः ॥ १२२ ॥

विद्यां धरतीति **विद्याधरी** । विद्याधरस्त्रीरूपिणीति वा । स्त्री नाम्नि कमलोद्भवेति वैष्णवोक्तेः । विगतः शोको यस्याः सा **विशोका** । वयोवृन्दैः पक्षिसमूहैः नितरां सेविता **वयोवृन्दनिषेविता** । बहून्युदकानि यस्याः सा **बहूदका** । बलं विद्यते यस्याः सा **बलवती** ६८० । **व्योमस्था** भूताकाशस्था । परमे व्योम्नि तिष्ठतीति वा **व्योमस्था** । परमे व्योमन्नित्यादिश्रुतेः । विबुधानां देवानां विश्वेश्वरस्य वा प्रिया **विबुधप्रिया** ॥ १२० ॥

वाणी वचनरूपा सरस्वतीस्वरूपा वा । वेदः प्रतिपादकत्वेन वर्तते यस्याः सा **वेदवती** कुशध्वजदुहितृरूपा वा । वेदवतीहरणे उत्तरकाण्डे प्रसिद्धा रामायणे ।

कृते युगे **वेदवती** त्रेतायां **जनकात्मजा** ।
द्वापरे **द्रौपदी** ज्ञेया तेन कृष्णा त्रिहायनी ॥ इति वचनाच्च ।

वित्ता ज्ञानस्वरूपा । ब्रह्मविद्यारूपस्तरङ्गो वर्तते यस्याः सा **ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी** । ब्रह्मविद्या नदीस्वरूपा वा । ब्रह्माण्डकोटिपरिमितब्रह्माण्डानि व्याप्तमम्बु यस्याः सा **ब्रह्माण्डकोटिव्याप्ताम्बुः** । **ब्रह्महत्यापहारिणी** ब्राह्मणवधापहरणशीला ॥ १२१ ॥

ब्रह्मेशविष्णुरूपा हिरण्यगर्भविश्वनाथनारायणरूपा च । **बुद्धिः** अन्तःकरणभेदस्तद्रूपा । बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मीति भगवद्वचनात्, ज्ञानस्वरूपा वा ६९० । विभवमैश्वर्यं विगतो भवो यस्मिंस्तं मोक्षं वा वर्धयितुं शीलं यस्याः सा **विभववर्धिनी** । विशेषेण लसितुं शीलं यस्य तादृशं सुखं विलासिनां वा सुखं ददातीति **विलासिसुखदा** । **वैश्या** वैश्यजातिरूपा तत्स्त्रीरूपा वा । वश्या इति पाठे ईश्वराधीनेत्यर्थः । तथा च भागवते—"**स्रवन्ति सरितो भीता**" इति । विश्वा इति पाठे विश्वबाहुका काशीस्था देवताविशेषरूपेत्यर्थः । **व्यापिनी** व्यापनशीला च । **वृषारणि**र्धर्मोत्पत्तेः कारणम् ॥ १२२ ॥

विद्याधरी, विशोका, वयोवृन्दनिषेविता, बहूदका, बलवती (६८०) व्योमस्था, विबुधप्रिया ॥ १२० ।

वाणी, वेदवती, वित्ता, ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी, ब्रह्माण्डकोटिव्याप्ताम्बु, ब्रह्महत्यापहारिणी ॥ १२१ ।

ब्रह्मेशविष्णुरूपा, बुद्धि (६९०), विभववर्धिनी, विलासिसुखदा, वैश्या, व्यापिनी, वृषारणि ॥ १२२ ।

वृषाङ्कमौलिनिलया विपन्नार्तिप्रभञ्जिनी ।
विनीता विनता ब्रध्नतनया ७०० विनयान्विता ॥ १२३ ।
विपञ्ची वाद्यकुशला वेणुश्रुतिविचक्षणा ।
वर्चस्करी बलकरी बलोन्मूलितकल्मषा ॥ १२४ ।
विपाप्मा विगतातंका विकल्पपरिवर्जिता ७१० ।
वृष्टिकर्त्री वृष्टिजला विधिर्विच्छिन्नबन्धना ॥ १२५ ।

वृषाङ्कस्य वृषभध्वजस्य मौलिर्मस्तकं निलय आश्रयो यस्याः सा वृषाङ्कमौलिनिलया । विपन्नानां विपद्ग्रस्तानां स्वजले मृतानां वा आर्ति पीडां प्रभञ्जितुं शीलं यस्याः सा विपन्नार्तिप्रभञ्जिनी । विभिः पक्षिभिर्नीता प्राप्ता व्याप्तेति यावत् । विनययुक्ता इति वा । विनता विशेषेण नता नम्रेत्यर्थः । गरुडमातृरूपा वा ब्रध्नतनया गोरूपा । सूर्यसुता हि गाव इति श्रुतेः । यमुनारूपा वा ७०० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् विवृते सप्तमे शते ।
यद्दृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ ७ ।

विनयेन युक्ता विनयान्विता । वीनां पक्षिणां नयेन समुदायेन वाऽन्विता ॥१२३।

विपञ्ची वीणा तद्रूपा । वीणावेणुमृदङ्गादिवाद्यरूपाय ते नम इत्यत्रैवोक्तेः । वाद्यकुशला वादनमात्रे दक्षा । वेणोः श्रुतौ श्रवणे रागविशेषविज्ञाने विचक्षणा निपुणा । वर्चस्करी तेजस्करी बलकरी सामर्थ्यकरी । बलेन ज्ञानेन सामर्थ्येन वा उन्मूलितानि कल्मषाणि यया सा बलोन्मूलितकल्मषा ॥ १२४ ।

विगतः पाप्मा यस्याः सा विपाप्मा । विशेषेण गत आतङ्को भयं यस्याः सा विगतातङ्का । विकल्पपरिवर्जिता अशेषभेदरहिता ७१० । वृष्टिकर्त्री सवितृस्वरूपा । आदित्याज्जायते वृष्टिरिति स्मृतेः । वृष्टिजला वृष्टेः कारणभूतं जलं यस्याः सा । इन्द्रकरिणो हि शुण्डाभिर्गङ्गाजलमुद्धृत्य मेघे संचारयति तदेव वृष्टिरूपं जायत इति लोकप्रसिद्धिः । विदधातीति विधिर्हिरण्यगर्भरूपेत्यर्थः । विशेषेण च्छिन्नं भक्तानां बन्धनं यया सा विच्छिन्नबन्धना ॥ १२५ ।

वृषाङ्कमौलिनिलया, विपन्नार्तिप्रभञ्जिनी, विनीता, विनता, ब्रध्नतनया, (७००) विनयान्विता ॥ १२३ ।

विपञ्ची, वाद्यकुशला, वेणुश्रुतिविचक्षणा, वर्चस्करी, बलकरी, बलोन्मूलितकल्मषा ॥ १२४ ।

विपाप्मा, विगतातङ्का, विकल्पपरिवर्जिता (७१०), वृष्टिकर्त्री, वृष्टिजला, विधि, विच्छिन्नबंधना ॥ १२५ ।

व्रतरूपा वित्तरूपा बहुविघ्नविनाशकृत् ।
वसुधारा वसुमती विचित्राङ्गी ७२० विभावसुः ।। १२६ ।
विजया विश्वबीजं च वामदेवी वरप्रदा ।
वृषाश्रिता विषघ्नी च विज्ञानोर्म्यंशुमालिनी ।। १२७ ।
भव्या भोगवती ७३० भद्रा भवानी भूतभाविनी ।
भूतधात्री भयहरा भक्तदारिद्र्यघातिनी ।। १२८ ।

भक्तानां व्रतस्य संकल्पस्यानुसारेण रूपं यस्याः सा **व्रतरूपा**। एकादश्यादि-व्रतरूपा वा। **वित्तरूपा** धनस्वरूपा बहूनां विघ्नानां विनाशं करोतीति **बहुविघ्नविनाश-कृत्**। बहुविघ्नविनाशहृदिति क्वचित्। **वसुधारा** वसोर्धारारूपा। वसून् भीष्मादीन् मातृरूपेण धरतीति वा। **वसुमती** स्वर्णादिमती पृथ्वीरूपा वा। विचित्राण्यङ्गानि यस्याः सा **विचित्राङ्गी** ७२०। **विभावसुः** सूर्यरूपा वह्निरूपा वा ।। १२६।

विशेषेण जयतीति **विजया**। भवान्याः सखिरूपा वा। **विश्वबीजं** जगदुत्पादन-निमित्तम्। वामा मनोहरा च सा देवी चेति **वामदेवी**। वामदेवस्य पत्नीति वा। वरान् प्रददातीति **वरप्रदा**। वृषो धर्म आश्रितो यया सा **वृषाश्रिता** धर्मेणाश्रितेति वा। विषं संसारदुःखं हन्तीति **विषघ्नी**। तथा चोक्तम्—'संसारविषनाशिन्या' इति। च विज्ञानान्येवोर्मयोंऽशवश्च तेषां माला वर्तते यस्याः सा **विज्ञानोर्म्यंशुमालिनी** विज्ञानो-र्मिश्चासावंशुमालिनी चेति वा ।। १२७।

भवायोद्भवाय हिता **भव्या** समीचीनेति वा। भोगो वर्तते यस्याः सा **भोगवती**। भागवतीति पाठे भगवत्सम्बन्धिनी विष्णुपदीत्यर्थः ७३०। **भद्रा** मङ्गलरूपा। **भवानी** भवपत्नी। भूतानि भावयत्युत्पादयति पालयतीति वा **भूत-भाविनी**। भूतानां चतुर्विधानां पोष्ट्री पालयित्रीति वा **भूतधात्री**। भयं संसारभयं हरतीति **भयहरा**। भक्तानां दारिद्र्यं हन्तुं शीलं यस्याः सा **भक्तदारिद्र्य-घातिनी** ।। १२८।

व्रतरूपा, वित्तरूपा, बहुविघ्नविनाशकृत्, वसुधारा, वसुमती, विचित्राङ्गी, (७२०) विभावसु ।। १२६।

विजया, विश्वबीजा, वामदेवी, वरप्रदा, वृषाश्रिता, विषघ्नी, विज्ञानोर्म्यं-शुमालिनी ।। १२७।

भव्या, भोगवती, (७३०) भद्रा, भवानी, भूतभाविनी, भूतधात्री, भयहरा, भक्तदारिद्र्यघातिनी ।। १२८।

भुक्तिमुक्तिप्रदा भेशी भक्तस्वर्गापवर्गदा ।
भागीरथी ७४० भानुमती भाग्यं भोगवती भृतिः ॥ १२९ ।
भवप्रिया भवद्वेष्ट्री भूतिदा भूतिभूषणा ।
भाललोचनभावज्ञा भूतभव्यभवत्प्रभुः ७५० ॥ १३० ।
भ्रान्तिज्ञानप्रशमनी भिन्नब्रह्माण्डमण्डपा ।
भूरिदा भक्तिसुलभा भाग्यवद्दृष्टिगोचरी ॥ १३१ ।

भुक्तिमुक्तिप्रदा भोगमोक्षप्रदा । सुखदा मोक्षदा गङ्गा, गङ्गैव परमा गतिरिति स्मृतेः । **भेशी** नक्षत्राणां नियन्त्री । चान्द्रमसीशक्तिरित्यर्थः । **भा चासौ ईशी चेति** वा । भक्तानां स्वर्गापवर्गौ ददातीति **भक्तस्वर्गापवर्गदा** । भगीरथेनानीतेति **भागीरथी** ७४० । भातीति भानुः, श्रीकृष्ण उत्पादकतया वर्तते यस्याः सा **भानुमती** तेजस्विनीति वा । भानुमतीहरणे हरिवंशे प्रसिद्धा सहदेवपत्नी यादवस्य भानोः कन्यारूपा वा । तथा च हरिवंशे—

कन्यां भानुमतीं नाम भानोर्दुहितरं नृप ।
एवं भानुमती वोरसहदेवाय दोयताम् ॥ इति ।

भाग्यं नियतिरूपम् । **भोगवती** पातालगा सरित् । भोगवतीति चाध इति स्मृतेः । बिभर्तीति भृतिः भरणस्वरूपा वा ॥ १२९ ।

भवप्रिया रुद्रकान्ता भव एव प्रियो यस्या भवस्याभीष्टेति वा सा तथा । **भवद्वेष्ट्री** संसारनाशिनी । तथा च श्रूयते–'त्वां भवः शिरसि सादरं दधे त्वं पुनर्भवकथां विलुम्पसि वैपरीत्यमिह ते सुरापगे ये मृतास्तदमरत्वमीहसे' इति । **भूतिदा** ऐश्वर्यदा । भूतिर्भूषणं यस्याः सा भूतिमैश्वर्यं वा भूषयतीति **भूतिभूषणा** । भूतिदक्षिणेति पाठे भक्तेभ्य ऐश्वर्यदाने समर्थेत्यर्थः । भवभूषणेति क्वचित् । त्रिलोचनस्याभिप्रायं जानातीति **भाललोचनभावज्ञा** । भूतं च भव्यं च भवच्च भूतभव्यभवन्ति तेषां **प्रभुः** ७५० ॥ १३० ।

भ्रान्तिज्ञानप्रशमनी मूलाज्ञाननाशनेन भ्रान्तिज्ञानच्छेत्री । भिन्नो विदारितो ब्रह्माण्डमण्डपो यया सा **भिन्नब्रह्माण्डमण्डपा** । भूरि ददातीति **भूरिदा** । भक्त्या सुखेन लभ्यत इति **भक्तिसुलभा** । **भाग्यवद्दृष्टिगोचरी** शुभादृष्टवतां नेत्रविषयः टाबन्तत्वं क्वचित् ॥ १३१ ।

भुक्तिमुक्तिप्रदा, भेशी, भक्तस्वर्गापवर्गदा, भागीरथी (७४०) भानुमती, भाग्य, भोगवती, भृति ॥ १२९ ।

भवप्रिया, भवद्वेष्ट्री, भूतिदा, भूतिभूषणा, भाललोचनभावज्ञा, भूतभव्यभवत्प्रभु (७५०) ॥ १३० ।

भ्रान्तिज्ञानप्रशमनी, भिन्नब्रह्माण्डमण्डपा, भूरिदा- भक्तिसुलभा, भाग्यवद्-दृष्टिगोचरी ॥ १३१ ।

भञ्जितोपप्लवकुला भक्ष्यभोज्यसुखप्रदा ।
भिक्षणीया भिक्षुमाता भावा७६०भावस्वरूपिणी ॥ १३२ ।
मन्दाकिनी महानन्दा माता मुक्तितरङ्गिणी ।
महोदया मधुमती महापुण्या मुदाकरी ॥ १३३ ।
मुनिस्तुता ७७० मोहहन्त्री महातीर्था मधुस्रवा ।
माधवी मानिनी मान्या मनोरथपथातिगा ॥ १३४ ।

भञ्जितं नाशितं भक्तोपप्लवानामुपद्रवाणां कुलं समूहो यया सा **भञ्जितोपप्लवकुला** । भक्ष्यं पक्वान्नं भोज्यं सिद्धान्नं ताभ्यां सुखं प्रददातीति **भक्ष्यभोज्यसुखप्रदा** । **भिक्षणीया** बुभुक्षुभिर्मुमुक्षुभिश्च याचनीया । भिक्षूणां परमहंसानां माता मोक्षस्तनदात्री । भावयत्युत्पादयतीति **भावा** । ७६० **भावस्वरूपिणी** पदार्थस्वरूपिणी । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, इदं सर्वं यदयमात्मेति'** (मा० उ० २) श्रुतेः ॥ १३२ ।

मन्दाकिनी स्वर्गङ्गा । महानानन्दो यस्याः सा **महानन्दा** महांश्चासावानन्दश्चेति वा । अस्मिन्पक्षे स्त्रीत्वमार्षम् । **माता** प्रमाता सर्वहितैषिणीति वा । पापानां मुक्त्यै तरङ्गो यस्या अस्ति सा **मुक्तितरङ्गिणी** । कुतो वीचिर्वीचिस्तव यदि गता लोचनपथमित्युक्तेः । मुक्तिरूपास्तरङ्गा वा यस्याः सा तथा । महानुदयो यस्याः सा **महोदया** महोदयस्वरूपा वा । मधु मधुरं जलं यस्या अस्ति सा **मधुमती** नदीविशेषरूपा वा । **इरावती** मधुमतीत्यत्रैवोक्तेः । महत्पुण्यं यया सा **महापुण्या** महापुण्यस्वरूपा वा । **मुदाकरी** मुदो हर्षस्याकरी आश्रयभूता । टाबन्तत्वं क्वचित् ॥ १३३ ।

मुनिभिः स्तुता **मुनिस्तुता** । मुनिभिः पूजिता सर्वैरिति स्मृतेः ७७० । **मोहहन्त्री** अनाद्यज्ञानच्छेत्री । महान्ति तीर्थानि यस्यां सा **महातीर्था** । सर्वतीर्थमयी गङ्गेत्युक्तेः । महातीर्थरूपा वा । मधु मधुरमुदकं स्रवतीति **मधुस्रवा** । मा माया लक्ष्मीर्वा तयोर्नियन्त्री धवरूपा वा **माधवी** । तथा च हरिवंशे—

मायाऽविद्या हरे प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान् ।
तस्मान्माधवनामाऽसि धवः स्वामीति शब्दितः ॥ इति ।

माधवस्येयं माधवी मधुवंशोद्भवा सुभद्रारूपा मधुविद्यावबोध्यत्वाद्वा । **'मननाद्ध्यानयोगाच्च विद्धि भारत माधवम्'** इति व्यासवचनात् । मानः पूजा

भञ्जितोपप्लवकुला, भक्ष्यभोज्यसुखप्रदा, भिक्षणीया, भिक्षुमाता, भावा (७६०), भावस्वरूपिणी ॥ १३२ ।

मन्दाकिनी, महानन्दा, माता, मुक्तितरङ्गिणी, महोदया, मधुमती, महापुण्या, मुदाकरी ॥ १३३।

मुनिस्तुता (७७०), मोहहंत्री, महातीर्था, मधुस्रवा, माधवी, मानिनी, मान्या, मनोरथपथातिगा ॥ १३४ ।

मोक्षदा मतिदा मुख्या ७८० महाभाग्यजनाश्रिता ।
महावेगवती मेध्या महामहिमभूषणा ॥ १३५ ।
महाप्रभावा महती मीनचञ्चललोचना ।
महाकारुण्यसम्पूर्णा महर्द्धिश्च ७९० महोत्पला ॥ १३६ ।
मूर्तिमन्मुक्तिरमणी मणिमाणिक्यभूषणा ।
मुक्ताकलापनेपथ्या मनोनयननन्दिनी ॥ १३७ ।

वर्तते यस्याः सा **मानिनी** । प्रेमसंरम्भो वा मानः शान्तनुभार्यावस्थायां स वर्तते यस्या इति वा । **मान्या** पूज्या । मनोरथपथमतिक्रम्य गच्छतीति **मनोरथपथातिगा** सर्वव्यापिकेत्यर्थः ॥ १३४ ।

मोक्षं ददातीति भक्तेभ्योऽभक्तेभ्यः खण्डयतीति वा **मोक्षदा** । **मतिदा** ज्ञानदा । **मुख्या** श्रेष्ठा ७८० । महद्भाग्यं येषां तैर्जनैः सेविता **महाभाग्यजनाश्रिता** । महान् वेगो वर्तते यस्याः सा **महावेगवती** । **मेध्या** पवित्रा । पवित्राणां पवित्रं य इति स्मृतेः । **महा** उत्सवरूपा । 'मह उद्धव उत्सवः' इति वचनात् । महिमानो भूषणानि यस्याः सा महिम्नो वा भूषयतीति **महिमभूषणा** । महिमभिर्वा भूष्यत इति तथा ॥ १३५ ।

महान् प्रभावो यस्याः सा **महाप्रभावा** । **महती** अपरिच्छिन्ना । मीना इव मीना एव वा चञ्चलानि लोचनानि यस्याः सा **मीनचञ्चललोचना** । महता कारुण्येन करुणया सम्पूर्णा व्याप्ता **महाकारुण्यसम्पूर्णा** । महती ऋद्धिर्यस्याः सा **महर्द्धिः** ७९० । च महान्त्युत्पलानि यस्यां सा **महोत्पला** ॥ १३६ ।

मूर्तिमत् प्रत्यक्षशरीरवत् । पश्यध्वन्तदिमां गङ्गां प्रत्यक्षां पुरतः स्थितामित्युक्तेः । **मुक्तिरमणी** मुक्तिरूपा रमणी सुन्दरी स्त्री । मणयो माणिक्यानि च भूषणानि यस्यास्तेषां वा भूषणरूपा सा **मणिमाणिक्यभूषणा** । मुक्ता समूहैर्मुक्ता समूहा वा नेपथ्यमलङ्करणं यस्याः सा **मुक्ताकलापनेपथ्या** । मनांसि नयनानि च नन्दयितुं शीलं यस्याः सा **मनोनयननन्दिनी** ॥ १३७ ।

मोक्षदा, मतिदा, मुख्या (७८०), महाभाग्यजनाश्रिता, महावेगवती, मेध्या, महामहिमभूषणा ॥ १३५ ।

महाप्रभावा, महती, मीनचञ्चललोचना, महाकारुण्यसंपूर्णा, महर्द्धि (७९०), महोत्पला ॥ १३६ ।

मूर्तिमत्, मुक्तिरमणी, मणिमाणिक्यभूषणा, मुक्ताकलापनेपथ्या, मनोनयननन्दिनी ॥ १३७ ।

महापातकराशिघ्नी महादेवार्धहारिणी ।
महोर्मिमालिनी मुक्ता ८०० महादेवी मनोन्मनी ॥ १३८ ॥
महापुण्योदयप्राप्या मायातिमिरचन्द्रिका ।
महाविद्या महामाया महामेधा महौषधम् ॥ १३९ ॥
मालाधरी महोपाया ८१० महोरगविभूषणा ।
महामोहप्रशमनी महामङ्गलमङ्गलम् ॥ १४० ॥

महापातकराशिघ्नी महापातकसमूहानां छेत्री । महादेवस्यार्धं शरीरं हर्तुं शीलं यस्याः सा **महादेवार्धहारिणी** । गौरीरूपेत्यर्थः । महती ऊर्मिमाला वर्तते यस्याः सा **महोर्मिमालिनी** । **मुक्ता** मुक्तस्वरूपा ८०० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् अष्टमे विवृते शते ।
यददुष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ ८ ॥

महती चासौ देवी चेति **महादेवी** । मनांसि उन्मन्यते उत्कृष्टज्ञानयुक्तानि करोतीति **मनोन्मनी** । सत्त्वशुद्धिकारिणीत्यर्थः । सन्धिरार्षः ॥ १३८ ।

महतां पुण्यानामुदयेन फलेन प्राप्या गम्या **महापुण्योदयप्राप्या** । मायैव तिमिरमन्धकारस्तस्य चन्द्रिका नाशिका **मायातिमिरचन्द्रिका** । महती चासौ विद्या चेति **महाविद्या** ब्रह्मविद्यास्वरूपेत्यर्थः । महती चासौ माया चेति **महामाया** । स्वकार्यव्यापकत्वं महत्त्वम् । महती मेधा यस्याः सा **महामेधा** ब्रह्माकारबुद्धिरूपा वा । महच्च तदौषधं च **महौषधम्** । महामोहमहौषधमिति पाठे द्वन्द्वः । महान् मोहो यस्याः सा **महामोहा** । अत्रापि महत्त्वं स्वकार्यव्यापकत्वमेव । सा च महौषधं चेति तथा । अत्र महत्त्वं संसाररोगनिवर्तकत्वम् । अस्मिन् पक्षे नामद्वयमिदम् ॥ १३९ ।

मालां वैजयन्तीरूपां धरतीति **मालाधरी** मालाकारपत्नीरूपा वा । महानुपायः प्राप्तिसाधनश्रवणादिलक्षणो यस्याः सा **महोपाया** । पुरुषार्थचतुष्टये महोपायस्वरूपा वा ८१० । महान्त उरगा वासुकिप्रभृतयो विभूषणानि यस्याः सा **महोरगविभूषणा** । महामोहं प्रशमयतीति **महामोहप्रशमनी** । महामङ्गलानामपि मङ्गलं **महामङ्गलमङ्गलम्** । मङ्गलानां च मङ्गलमिति स्मृतेः ॥ १४० ।

महापातकराशिघ्नी, महादेवार्धहारिणी, महोर्मिमालिनी, मुक्ता (८००), महादेवी, महोन्मनी ॥ १३८ ।

महापुण्योदयप्राप्या, मायातिमिरचन्द्रिका, महाविद्या, महामाया, महामेधा, महौषधा ॥ १३९ ।

मालाधरी, महोपाया (८१०), महोरगविभूषणा, महामोहप्रशमनी, महामङ्गलमङ्गला ॥ १४० ।

मार्तण्डमण्डलचरी महालक्ष्मीर्मदोज्झिता ।
यशस्विनी यशोदा च योग्या युक्तात्मसेविता८२० ॥ १४१ ।
योगसिद्धिप्रदा याज्या यज्ञेशपरिपूरिता ।
यज्ञेशी यज्ञफलदा यजनीया यशस्करी ॥ १४२ ।
यमिसेव्या योगयोनिर्योगिनी ८३० युक्तबुद्धिदा ।
योगज्ञानप्रदा युक्ता यमाद्यष्टाङ्गयोगयुक् ॥ १४३ ।

सूर्यमण्डले चरतीति **मार्तण्डमण्डलचरी**। आकाशगङ्गारूपेण सूर्यमण्डले चरतीति वा। महती चासौ लक्ष्मीश्चेति **महालक्ष्मीः**। महत्त्वं निरतिशयसाम्यत्वम्। मद उज्झितो यया मदेन वा उज्झिता **मदोज्झिता**। यशो ब्रह्महत्या विदारिणीति वर्तते यस्याः सा **यशस्विनी**। यशो ददातीति **यशोदा** नन्दपत्नीरूपा वा। च **योग्या** योगाय हिता योगगम्येति वा। युक्त आत्मा येषां तैः सेविता **युक्तात्मसेविता** ८२० ॥१४१।

योगानां षडङ्गादीनां सिद्धिप्रदा **योगसिद्धिप्रदा**। **याज्या** पूज्या यजमानस्वरूपा वा। यज्ञेशेन परिपूरिता व्यासाऽधिष्ठितेति यावत्। यज्ञेशपरिपूजितेति क्वचित्पाठः। तत्र यज्ञेशः परिपूजितो यया सा **यज्ञेशपरिपूजिता**। यद्वा यज्ञेशः श्रीकृष्णः तेन परिपूजितेति व्याख्येयम्। तथा च हरिवंशे पारिजातहरणे—

अथाययौ विष्णुपदी स्मृता कृष्णेन भारत।
सम्पूज्य तां ततः कृष्णः कृत्वा स्नानमधोक्षजः ॥ इति।

यज्ञेशी यज्ञाधिष्ठात्री देवता। स्मृता यज्ञफलं ददातीति **यज्ञफलदा**। अभक्तानां खण्डयतीति वा। **यजनीया** पूजनीया। **यशस्करी** भक्तानां कीर्तिकरी ॥ १४२।

यमिसेव्या जितेन्द्रियैः सेवनीया। योगेन मायासम्बन्धेन योनिः कारणं **योगयोनिः**। योगस्य षडङ्गादेर्हेतुरिति वा। योगो जीवात्मनोरैक्यचिन्तनं वर्तते यस्याः सा **योगिनी** योगिनीगणरूपा वा ८३०। युक्ता बुद्धिर्ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानं तद्ददातीति **युक्तबुद्धिदा**। युक्तेभ्यो जितेन्द्रियेभ्यो वा बुद्धिता। युक्तसिद्धिदेति पाठे जीवन्मुक्तिरूपसिद्धिदेत्यर्थः। योगश्च ज्ञानं च योगेन वा ज्ञानं तत्प्रददातीति **योगज्ञानप्रदा**। **युक्ता** संयता जितेन्द्रियेति यावत्।

पुंश्चल्यापहृतं चेतः को निवारयितुं क्षमः।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥ इति वचनात्।

यमाद्यष्टाङ्गयोगं युनक्तीति **यमाद्यष्टाङ्गयोगयुक्** ॥ १४३।

मार्तण्डमण्डलचरी, महालक्ष्मी, मदोज्झिता, यशस्विनी, यशोदा, योग्या, युक्तात्मसेविता (८२०) ॥ १४१।

योगसिद्धिप्रदा, याज्या, यज्ञेशपरिपूरिता, यज्ञेशी, यज्ञफलदा, यजनीया, यशस्करी ॥ १४२।

यमिसेव्या, योगयोनि, योगिनी (८३०) युक्तबुद्धिदा, योगज्ञानप्रदा, युक्ता, यमाद्यष्टाङ्गयोगयुक् ॥ १४३।

यन्त्रिताघौघसञ्चारा यमलोकनिवारिणी ।
यातायातप्रशमनी यातनानामकृन्तनी ॥ १४४ ।
यामिनीशहिमाच्छोदा युगधर्मविवर्जिता ८४० ।
रेवतीरतिकृद्रम्या रत्नगर्भा रमा रतिः ॥ १४५ ।
रत्नाकरप्रेमपात्रं रसज्ञा रसरूपिणी ।
रत्नप्रासादगर्भा ८५० च रमणीयतरङ्गिणी ॥ १४६ ।

यन्त्रितो निराकृतोऽघौघानां पापसमूहानां सञ्चारो यया सा **यन्त्रिताघौघसञ्चारा** यमलोकं निवारयितुं शीलं यस्याः सा **यमलोकनिवारिणी** । यातायाते मरणजन्मनी प्रशमयतीति **यातायातप्रशमनी** । यातनानां नाममात्रं कृन्ततीति **यातनानाम-कृन्तनी** ।

यातनामूलकृन्तनीति पाठे यातनानां मूलं पापम् । यातनानां निकृन्तनीति क्वचित् ॥ १४४ ।

यामिनीशहिमाच्छोदा चन्द्ररश्मिवन्निर्मलोदका । युगधर्मैर्हिंसाऽनृतादिभिर्वि-वर्जिता **युगधर्मविवर्जिता** ८४० । **रेवती** ग्रहविशेषो बलदेवकान्ता वा नक्षत्रविशेषो वा तद्रूपा रेवती । रतिं रमणं तत्कर्त्री **रतिकृत्** । **रम्या** रमणीया । रत्नानि गर्भे यस्याः सा **रत्नगर्भा** समुद्ररूपा वा । **रमा** लक्ष्मीरूपा । रतिः रमणं कामाङ्गना वा ॥ १४५ ।

रत्नाकरप्रेमपात्रं समुद्रस्य स्नेहाश्रयः कान्तेत्यर्थः । रसं ब्रह्म रसं जानातीति **रसज्ञा** । 'रसो वै सः' इति श्रुतेः, षड्रसज्ञा वा । **रसरूपिणी** ब्रह्मस्वरूपिणी षड्रसरूपा वा । रत्ननिर्मिता देवालया गर्भे यस्याः सा **रत्नप्रासादगर्भा** । प्रासादरत्नखचिताश्चिन्ता-मणिगणा अपि । गङ्गाजलान्तस्तिष्ठन्ति कलिकल्मषभीतित इत्यत्रैवोक्तेः । रत्नप्रसाद-गर्भेति पाठे उत्कृष्टप्रसादगर्भेत्यर्थः ८५० । च रमणीयास्तरङ्गा वर्तन्ते यस्याः सा **रमणीयतरङ्गिणी** ॥ १४६ ।

यन्त्रिताघौघसंचारा, यमलोकनिवारिणी, यातायातप्रशमनी, यातनानाम-कृन्तनी ॥ १४४ ।

यामिनीशहिमाच्छोदा, युगधर्मविवर्जिता (८४०), रेवती, रतिकृत्, रम्या, रत्नगर्भा, रमा, रति ॥ १४५ ।

रत्नाकरप्रेमपात्र, रसज्ञा, रसरूपिणी, रत्नप्रासादगर्भा (८५०) रमणीय-तरङ्गिणी ॥ १४६ ।

रत्नार्ची रुद्ररमणी रागद्वेषविनाशिनी।
रमा रामा रम्यरूपा रोगिजीवातुरूपिणी ॥ १४७ ।
रुचिकृद्रोचनी ८६० रम्या रुचिरा रोगहारिणी।
राजहंसा रत्नवती राजत्कल्लोलराजिका ॥ १४८ ।

रत्नानामिवार्चिर्दीप्तिर्यस्याः सा **रत्नार्चिः**। रुद्रं रमयतीति **रुद्ररमणी**। **रागद्वेषविनाशिनी** रागद्वेषयोर्हन्त्री। रमयति नयनमनांसीति **रमा**। **रामा** उत्तमास्त्रीस्वरूपा। **साम्बपत्नी कुम्भाण्डदुहिता** वा। तथा च वाणासुरयुद्धे हरिवंशे—'**साम्बाय दीयतां रामा कुम्भाण्डदुहिता शुभेति**'। रमन्तेऽस्यां योगिन इति वा **रामा**। तदुक्तम्—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥ इति ।

रम्यं मनोहरं रूपं यस्याः सा **रम्यरूपा**। **रोगिजीवातुरूपिणी** संसाररोगग्रस्तानां जीवनौषधिरूपिणी ॥ १४७ ।

रुचिं करोतीति **रुचिकृत्**। रोचयतीति **रोचनी** ८६०। रमा लक्ष्मीस्तस्यैहिता **रम्या**। रुचिं रातीति **रुचिरा** मनोहरा वा। रोगं संसाररोगमात्रं वा हर्तुं शीलं यस्याः सा **रोगहारिणी**। राजन्ते हंसा यस्यां सा **राजहंसा**। **रत्नवती** अनेकरत्नसंयुक्ता। **रववतीति** पाठे सरय्वाः संगमेन यो रवो ध्वनिः, स वर्तते यस्याः सा **रववतीति** व्याख्येयम्। तथा च बालकाण्डे—

ततार सरितं पुण्यां सरयूं सागरंगमाम्।
राघवस्तु सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥
वारीणां भिद्यमानानां किमेष विमलो ध्वनिः।
राघवस्य तु तच्छ्रुत्वा जातकौतूहलः स च ॥
कथयामास धर्मात्मा तस्य शब्दस्य निश्चयम्।
कैलासे पर्वते राम मनसा निर्मितं सरः ॥
ब्रह्मणा रघुशार्दूल मानसं नाम तेन तत्।
तस्मात् प्रसूता सरयूः साऽयोध्यामभ्यभावयत् ॥
सरः प्रसूता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।
शब्दोऽयं विपुलस्तस्या जाह्नव्यामभिवर्तते ॥
वारिसंघर्षजो राम प्रणामं प्रयतः कुरु ॥ इति ।

राजतां राजमानानां कल्लोलानां राजिर्यस्याः सा **राजत्कल्लोलराजिका**। राजकल्लोलेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १४८ ।

रत्नार्ची, रुद्ररमणी, रागद्वेषविनाशिनी, रमा, रामा, रम्यरूपा, रोगिजीवातुरूपिणी ॥ १४७ ।

रुचिकृत्, रोचनी (८६०), रम्या, रुचिरा, रोगहारिणी, राजहंसा, रत्नवती, राजत्कल्लोलराजिका ॥ १४८ ।

रामणीयकरेखा च रुजारी रोगरोषिणी ।
राका ८७० रङ्कार्तिशमनी रम्या रोलम्बराविणी ॥ १४९ ॥
रागिणी रञ्जितशिवा रूपलावण्यशेवधिः ।
लोकप्रसूर्लोकवन्द्या लोलत्कल्लोलमालिनी ॥ १५० ॥
लीलावती ८८० लोकभूमिर्लोकलोचनचन्द्रिका ।
लेखस्रवन्ती लटभा लघुवेगा लघुत्वहृत् ॥ १५१ ॥

रमणीया एव रामणीयका रेखा जलधाराः सामुद्रोक्ता वा करचरणयोर्यस्याः सा **रामणीयकरेखा** । रामणोयकवेशा चेति क्वचित्पाठः । तत्र वेशः शोभा । च रुजां रोगाणां अरी **रुजारिः** । रोगे रोषो वर्तते यस्याः सा **रोगरोषिणी** । रोगशोषणीति क्वचित्पाठः । रोषशोषिणीति चान्यत्र । **राका** पूर्णचन्द्रा पौर्णमासीति तत्स्वरूपा ८७० । रङ्कानां दरिद्राणामार्ति पीडां शमयतीति **रङ्कार्तिशमनी** । **रम्या** रमणीया । रम्यः रमणीयः । अः विष्णुः आश्रयत्वेन वर्तते यस्याः सेति वा । रोलम्बानां भ्रमराणां रावो वर्तते यस्याः सा **रोलम्बराविणी** ॥ १४९ ।

सृष्टिस्थितिसंहारेच्छारूपो रागोऽस्या अस्तीति **रागिणी** । रागमात्राश्रया वा । रञ्जितमभिव्यक्तीकृतं शिवं कैवल्यं रञ्जितोऽनुरञ्जितः शिव ईश्वरो वा यया सा **रञ्जितशिवा** । रूपलावण्ययोः सौन्दर्याङ्गसौष्ठवयोः शेवधिर्निधिराश्रय इत्यर्थः । **लोकप्रसूर्लो**कानां जनयित्री । **लोकवन्द्या** जनैः स्तव्याऽभिवाद्या वा । लोलतां लोलन्ती वा कल्लोलानां माला वर्तते यस्याः सा **लोलत्कल्लोलमालिनी** ॥ १५० ।

लीला सृष्टिस्थितिसंहाररूपा वर्तते यस्याः सा **लीलावती** । दिवोदासमहिषी वा । एकदाऽवसरं प्राप्य दिवोदासस्य भूभुजः । राज्ञी लीलावती नाम राज्ञे तं विन्यवेदय-दित्यत्रैवोक्तेः ८८० । **लोकभूमि**र्भुवनानामधिष्ठानम् । **लोकलोचनचन्द्रिका** जनमात्रनेत्राणामाह्लादयित्री । लेखं शास्त्रं स्रवन्ती उत्पादयन्ती **लेखस्रवन्ती** । तथा च पारमार्षं सूत्रम् । 'शास्त्रयोनित्वात्, इति । देवनदीति वा । लटस्य लम्पटस्य जनस्येव भा दीप्तिः प्रतीतिर्जह्नुब्रह्मसभाप्रतीपस्थानादौ यस्याः सा **लटभा** । लटभी-रिति पाठे लम्पटानां भीर्भयं यस्या इति व्याख्येयम् । सर्वनियन्तृत्वात् । लघुर्मन्थरो वेगो यस्याः सा **लघुवेगा** । लघुत्वहृत् भक्तानां लघुत्वहारिणी ॥ १५१ ।

रामणीयकरेखा, रुजारी, रोगरोषिणी, राका (८७०), रङ्कार्तिशमनी, रम्या, रोलम्बराविणी ॥ १४९ ।

रागिणी, रञ्जितशिवा, रूपलावण्यशेवधि, लोकप्रसू, लोकवन्द्या, लोलत्कल्लोल-मालिनी ॥ १५० ।

लीलावती, (८८०) लोकभूमि, लोकलोचनचन्द्रिका, लेखस्रवन्ती, लटभा, लघु-वेगा, लघुत्वहृत् ॥ १५१ ।

लास्यत्तरङ्गहस्ता च ललिता लयभङ्गिगा ।
लोकबन्धु८९०र्लोकधात्री लोकोत्तरगुणोर्जिता ॥ १५२ ।
लोकत्रयहिता लोका लक्ष्मीर्लक्षणलक्षिता ।
लीला लक्षितनिर्वाणा लावण्यामृतवर्षिणी ॥ १५३ ।
वैश्वानरी ९०० वासवेड्या वन्ध्यत्वपरिहारिणी ।
वासुदेवाङ्घ्रिरेणुघ्नी वज्रिवज्रनिवारिणी ॥ १५४ ।

लास्यन्तो नृत्यन्तस्तरङ्गा एव हस्ता यस्याः सा **लास्यत्तरङ्गहस्ता**। **च ललिता** मनोहरा ललिताख्या काशीस्था देवी वा। **लयभङ्ग्या** गमनपरिपाट्या गच्छतीति **लयभङ्गिगा**। **लोकबन्धुर्लोक**मात्रहितैषिणी ८९०। **लोकधात्री** जनमात्रस्य पोष्ट्री। **लोकोत्तरगुणोर्जिता** लोकातिक्रान्तगुणैरुद्रिक्ता ॥ १५२।

लोकत्रयाणां हितं यया सा **लोकत्रयहिता**। लोक्यते आलोच्यते मुमुक्षुभिरिति **लोका** लोकस्वरूपा वा। **लक्ष्मीर्लक्ष्मी**स्वरूपा। लक्षणैः सत्यज्ञानानन्दादिस्वरूपलक्षणैर्जगज्जन्मादितटस्थलक्षणैः करुणत्वादिगुणैः समीचीनैः सामुद्रिकोक्तस्त्रीलक्षणैर्वा लक्षिताऽन्विता **लक्षणलक्षिता**। **लीला** भगवत्क्रीडास्वरूपा पद्मराजमहिषीरूपा वा। तथा च वासिष्ठे—

आसीदस्मिन्महापीठे कुलपद्मो विकासवान् ।
तस्यासीत्सुभगा भार्या लीलानामविलासिनी ॥ इति ।

लक्षितं दर्शितं निर्वाणं यया सा **लक्षितनिर्वाणा**। लावण्यमेवामृतं तद्वर्षिणी **लावण्यामृतवर्षिणी**। यद्वा लवणार्णवस्य इदं लावण्यं रत्नादिसम्पदमृतं कैवल्यं ते वर्षितुं शीलं यस्याः सा तथा ॥ १५३।

वैश्वानरी आग्नेयी शक्तिः स्वाहा दाहिका वा तद्रूपा ॥ ९००।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् विवृते नवमे शते।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ ९।

वासवेड्या इन्द्रस्य स्तुत्या। वन्ध्यत्वं परिहर्तुं शीलं यस्याः सा **वन्ध्यत्वपरिहारिणी**। वासुदेवस्यांघ्र्योः रेणून् हन्तुं हर्तुं शीलं यस्याः सा **वासुदेवांघ्रिरेणुघ्नी**। इन्द्रस्य कुलिशं निवारयितुं शीलं यस्याः सा **वज्रिवज्रनिवारिणी** च्यवनादिरूपेण ॥ १५४।

लास्यत्तरङ्गहस्ता, ललिता, लयभङ्गिगा, लोकबन्धु (८९०), लोकधात्री, लोकोत्तरगुणोर्जिता ॥ १५२।

लोकत्रयहिता, लोका, लक्ष्मी, लक्षणलक्षिता, लीला, लक्षितनिर्वाणा, लावण्यामृतवर्षिणी ॥ १५३।

वैश्वानरी (९००), वासवेड्या, वन्ध्यत्वपरिहारिणी, वासुदेवांघ्रिरेणुघ्नी, वज्रिवज्रनिवारिणी ॥ १५४।

शुभावती शुभफला शान्तिः शान्तनुवल्लभा ।
शूलिनी शैशववयाः ९१० शीतलाऽमृतवाहिनी ॥ १५५ ।

शोभावती शीलवती शोषिताशेषकिल्बिषा ।
शरण्या शिवदा शिष्टा शरजन्मप्रसूः शिवा ॥ १५६ ।

शक्तिः ९२० शशाङ्कविमला शमनस्वसृसम्मता ।
शमा शमनमार्गघ्नी शितिकण्ठमहाप्रिया ॥ १५७ ।

शुभानि आ समन्ताद्वर्तन्ते यस्याः सा **शुभावती**। शुभं फलं यस्याः शुभं वा फलतीति **शुभफला**। **शान्ति**र्नैष्कर्म्यस्वरूपा शमरूपा वा शान्तिकर्मरूपा वा। शान्तनोः समुद्रांशस्य वल्लभा भार्या **शान्तनुवल्लभा**। शन्तनुरिति पाश्चात्यादाक्षिणात्याश्च पठन्ति। शूलमस्त्रमस्या अस्तीति **शूलिनी**। शैशवं शिशुसम्बन्धिवयो यस्याः सा **शैशववयाः** ९१०। शीतलं यदमृतं जलं तद्वोढुं शीलं यस्याः सा **शीतलामृतवाहिनी** ॥ १५५ ।

शोभा वर्तते यस्याः सा **शोभावती**। शीलं वर्तते यस्याः सा **शीलवती**। शोषितमशेषं किल्बिषं यया सा **शोषिताशेषकिल्बिषा**। **शरण्या** आश्रययोग्या। **शिवदा** शिवं कल्याणं मोक्षं वा ददातीति शिवदा। **शिष्टा** सदाचारा। **शिष्टा**वशिष्टाऽवधिभूता वा। **शरजन्मप्रसूः** कार्तिकेयजननी। **शिवा** कल्याणरूपा मोक्षरूपा ईश्वरीरूपा वा ॥ १५६ ।

शक्तिर्मायाऽऽह्लादिनीवा ९२०। **शशाङ्कविमला** चन्द्रवदाह्लादकारिणी चन्द्रवन्निर्मलेति वा। शमनस्वसुर्यमुनायाः संमताऽभिमता **शमनस्वसृसंमता**। शमयति नाशयत्यज्ञानं तत्कार्यं चेति शमा। **शमनमार्गघ्नी** यममार्गनिवारिणी। **शितिकण्ठमहाप्रिया** रुद्रस्यात्यन्तवल्लभा ॥ १५७ ।

शुभावती, शुभफला, शान्ति, शान्तनुवल्लभा, शूलिनी, शैशववया (९१०), शीतलामृतवाहिनी ॥ १५५ ।

शोभावती, शीलवती, शोषिताशेषकिल्बिषा, शरण्या, शिवदा, शिष्टा, शरजन्मप्रसू, शिवा ॥ १५६ ।

शक्ति, (९२०) शशांकविमला, शमनस्वसृसंमता, शमा, शमनमार्गघ्नी, शितिकण्ठमहाप्रिया ॥ १५७ ।

शुचिः शुचिकरी शेषा शेषशायिपदोद्भवा ।
श्रीनिवासश्रुतिः ९३० श्रद्धा श्रीमती श्रीः शुभव्रता ॥ १५८ ।
शुद्धविद्या शुभावर्ता श्रुतानन्दा श्रुतिस्तुतिः ।
शिवेतरघ्नी शबरी ९४० शाम्बरीरूपधारिणी ॥ १५९ ।
श्मशानशोधनी शान्ता शश्वच्छतधृतिष्टुता ।
शालिनी शालिशोभाढ्या शिखिवाहनगर्भभृत् ॥ १६० ।

शुचिः पवित्रा । **शुचिकरी** पवित्रकरी । **शेषा** अवधिभूता अनन्तशक्तिर्मंदिरा रेवतीति भावः । शुग्घ्नीति पाठे शोकनाशिनीत्यर्थः । **शेषशायिपदोद्भवा** अनन्तशायि-चरणोत्पन्ना । श्रीनिवासो विष्णुस्तद्रूपेण श्रूयत इति **श्रीनिवासश्रुतिः** ९३० । **श्रद्धा** आस्तिक्यबुद्धिरूपा । श्रीर्वर्तते यस्याः सा **श्रीमती** । श्रयन्त्येतां योगिन इति **श्रीर्ब्रह्मविद्या** लक्ष्मी रूपा वा । शुभानि व्रतानि यस्याः सा **शुभव्रता** ॥ १५८ ।

शुद्धा चासौ विद्या चेति **शुद्धविद्या** । शुभविद्येति क्वचित् । शुभ आवर्तोऽम्भसां भ्रमो यस्याः सा **शुभावर्ता** । श्रुतो ज्ञात आनन्दो यया सा **श्रुतानन्दा** । श्रुतिभिर्वेदैः स्तुतिर्यस्याः सा **श्रुतिस्तुतिः** । तथा च भागवते—'**जय जय जह्यजामित्यादि**' । शिवेतरं पापं तन्नाशिनी **शिवेतरघ्नी** । **शबरी** शबराङ्गना किरातरूपधारिणी महेश्वरस्य पत्नीत्वेन ९४० । शंबरो मृगस्तत्पत्नी **शाम्बरी** । ब्रह्मणा कामितायाः सरस्वत्या मृगीरूपत्वेन तस्या रूपं धर्तुं शीलं यस्याः सा **शाम्बरीरूपधारिणी** ॥ १५९ ।

श्मशानं शोधयतीति **श्मशानशोधनी** । यस्यां मृतानां पुनः श्मशानसम्बन्धो न भवतीत्यर्थः । श्मशानं महाश्मशानं काशी, तच्छोधनीति वा । तथा चात्रैवोक्तम्—'**गङ्गासङ्गस्ततोऽधिकेति**' । **शान्ता** शान्तस्वभावा । दशरथात्मजाया ऋष्यशृङ्गपत्नी तद्रूपा वा । तथा च हरिवंशे--

अथ चित्ररथस्यापि पुत्रो दशरथोऽभवत् ।
लोमपाद इति ख्यातो यस्य शान्ता सुताऽभवत् ॥ इति ।

शश्वन्नित्या । **शतधृतिस्तुता** ब्रह्मणाऽभिवन्दिता । शालते शोभत इति **शालिनी** । शालिर्धान्याऽवान्तररूपं तेन या शोभा तयाऽऽढ्या व्याप्ता **शालि-शोभाढ्या** । शिखिवाहनः कार्तिकेयस्तद्रूपं गर्भं बिभर्तीति **शिखिवाहनगर्भभृत्** ॥ १६० ।

शुचि, शुचिकरी, शेषा, शेषशायिपदोद्भवा, श्रीनिवासश्रुति, (९३०) श्रद्धा, श्रीमती, श्री, शुभव्रता ॥ १५८ ।

शुद्धविद्या, शुभावर्ता, श्रुतानन्दा, श्रुतिस्तुति, शिवेतरघ्नी, शबरी (९४०), शाम्बरीरूपधारिणी ॥ १५९ ।

श्मशानशोधनी, शान्ता, शश्वत्, शतधृतिस्तुता, शालिनी, शालिशोभाढ्या, शिखिवाहनगर्भभृत् ॥ १६० ।

शंसनीयचरित्रा च शातिताशेषपातका ९५० ।
षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ना षडङ्गश्रुतिरूपिणी ॥ १६१ ॥
षण्ढताहारिसलिला स्त्यायन्नदनदीशता ।
सरिद्वरा च सुरसा सुप्रभा सुरदीर्घिका ॥ १६२ ॥
स्वः सिन्धुः सर्वदुःखघ्नी ९६० सर्वव्याधिमहौषधम् ।
सेव्या सिद्धिः सती सूक्तिः स्कन्दसूश्च सरस्वती ॥ १६३ ॥
सम्पत्तरङ्गिणी स्तुत्या स्थाणुमौलिकृतालया ९७० ।
स्थैर्यदा सुभगा सौख्या स्त्रीषु सौभाग्यदायिनी ॥ १६४ ॥

शंसनीयानि स्तुत्यर्हाणि चरित्राणि यस्याः सा **शंसनीयचरित्रा** । च शातितानि नाशितान्यशेषपातकानि यया सा **शातिताशेषपातका** ९५० । **षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ना** ऐश्वर्यादिगुणषट्कान्विता । षडङ्गानि शिक्षादीनि च श्रुतिश्च तदुभयरूपिणी ॥ १६१ ॥

षण्ढताऽवीर्यता तद्धारि सलिलं यस्याः सा **षण्ढताहारिसलिला** । **स्त्यायन्नदनदीशता** स्त्यायत्संघातं प्राप्नुवन्नदनदीनां शतं यस्यां सा तथा । स्त्यै स्त्यै शब्दसंघातयोरिति धातुः । **सरिद्वरा** नदीनां मध्ये श्रेष्ठा । **सुरसा** नागमातृरूपा ॥ यद्वा शोभनो रसो यस्याः सा शोभनब्रह्मरसरूपेत्यर्थः । शोभना प्रभा यस्याः सा **सुप्रभा** । **सुरदीर्घिका** देववापी ॥ १६२ ॥

स्वः सिन्धुः स्वर्नदी । सर्वदुःखघ्नी तापत्रयोन्मूलिनी ९६० । **सर्वव्याधिमहौषधं** सर्वरोगाणां निवर्तकम् । **सेव्या** सेवनीया । **सिद्धिः** कैवल्याऽणिमादिसिद्धिस्वरूपा । **सती** पतिव्रता भवपत्नी दाक्षायणीति वा । **सूक्तिः** शोभनोक्तिस्वरूपा पुरुषसूक्तादिरूपा वा । **स्कन्दसूः** कार्तिकेयजननी । च **सरस्वती** वाणी तदधिष्ठात्री देवता वा ॥ १६३ ॥

सुभगा शोभनकीर्तिमती प्रेयसीति वा । **सौख्या** सुखाय हिता । स्त्रीषु सौभाग्यं दातुं शीलं यस्याः सा स्त्रीषु **सौभाग्यदायिनी** ॥ १६४ ॥

शंसनीयचरित्रा, शातिताशेषपातका, (९५०) षड्गुणैश्वर्यसंपन्ना, षडङ्गश्रुतिरूपिणी ॥ १६१ ॥

षण्डिताहारिसलिला, स्त्यायन्नदनदीशता, सरिद्वरा, सुरसा, सुप्रभा, सुरदीर्घिका ॥ १६२ ॥

स्वः सिन्धु, सर्वदुःखघ्नी, (९६०) सर्वव्याधिमहौषधा, सेव्या, सिद्धि, सती, सूक्ती, स्कन्दसू, सरस्वती ॥ १६३ ॥

सम्पत्तरङ्गिणी, स्तुत्या, स्थाणुमौलिकृतालया, (९७०) स्थैर्यदा, सुभगा, सौख्या, स्त्रीषु सोभाग्यदायिनी ॥ १६४ ॥

स्वर्गनिःश्रेणिका सूक्ष्मा स्वधा स्वाहा सुधाजला ।
समुद्ररूपिणी ९८० स्वर्ग्या सर्वपातकवैरिणी ॥ १६५ ।

स्मृताघहारिणी सीता संसाराब्धितरण्डिका ।
सौभाग्यसुन्दरी सन्ध्या सर्वसारसमन्विता ॥ १६६ ।

हरप्रिया हृषीकेशी ९९० हंसरूपा हिरण्मयी ।
हृताघसंघा हितकृद् हेलाहेलाघगर्वहृत् ॥ १६७ ।

स्वर्गनिःश्रेणिका स्वर्गैकसोपाना । तदुक्तं काशीसारे—'या ह्येषा सर्वजन्तूनां या स्वर्गसरणिर्नृणाम्' इति । **सूक्ष्मा** इन्द्रियाद्यगोचरा । **स्वधा** पितृपत्नी मन्त्ररूपा वा । **स्वाहा**ऽग्निभार्या मन्त्ररूपा वा । सुधाऽमृतं तत्तुल्यं जलं यस्याः सा **सुधाजला**। **समुद्ररूपिणी** समुद्रपत्नी तद्रूपा वा । समुद्रपूरणीति क्वचित्पाठः । ९८० । **स्वर्ग्या** स्वर्गाय हिता । **सर्वपातकवैरिणी** ब्रह्महत्यादिनाशिनी ॥ १६५ ।

स्मृता सती स्मृतानां वाऽघहारिणी **स्मृताघहारिणी** । **सीता** लाङ्गलपद्धतिः गङ्गाप्रभेदो विष्णोर्माया जानकीति वा । **संसाराब्धितरण्डिका** भवसमुद्रे तरण्डिका । तरण्डकमिति क्वचित् । सौभाग्यरूपा चासौ सुन्दरी च सौभाग्येन वा सुन्दरी **सौभाग्यसुन्दरी** । सम्यग् ध्या **सन्ध्या** ब्रह्मज्ञानस्वरूपा सन्ध्यारूपा वा । **सर्वसारसमन्विता** सर्वशक्तियुक्तेत्यर्थः ॥ १६६ ।

हरप्रिया शिवकान्ता । **हृषीकेशी** इन्द्रियाणां नियन्त्री हृषीकेशपत्नीति वा ९९० । **हंसरूपा** शुद्धस्वरूपा हंसरूपधारिणीति वा । 'तस्याऽहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदेति' भागवतोक्तेः । **हिरण्मयी** ज्ञानस्वरूपा स्वर्णमयीति वा । **हृताघसंघा** क्षपितपापसमूहा । **हितकृद्धितैषिणी** । **हेला** शृङ्गारभावरूपा । ह ईश्वर इला भूमिराश्रयो यस्याः सेति वा । हेलाघ गर्वहृत् लीलया पापमदनाशिनी । अघं च गर्वश्चाघगर्वौ हेलया तौ हरतीति वा ॥ १६७ ।

स्वर्गनिःश्रेणिका, सूक्ष्मा, स्वधा, स्वाहा, सुधाजला, समुद्ररूपिणी, (९८०) स्वर्ग्या, सर्वपातकवैरिणी ॥ १६५ ।

स्मृताघहारिणी, सीता, संसाराब्धितरंडिका, सौभाग्यसुन्दरी, सन्ध्या, सर्वसारसमन्विता ॥ १६६ ।

हरप्रिया, हृषीकेशी, (९९०) हंसरूपा, हिरण्मयी, हृताघसंघा, हितकृत्, हेला, हेलाघगर्वहृत् ॥ १६७ ।

क्षेमदा क्षालिताघौघा क्षुद्रविद्राविणी क्षमा१००० ।
इति नामसहस्रं हि गङ्गायाः कलशोद्भव ।
कीर्तयित्वा नरः सम्यग्गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ १६८ ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वविघ्नविनाशनम् ।
सर्वस्तोत्रजपाच्छ्रेष्ठं सर्वपावनपावनम् ॥ १६९ ।
श्रद्धयाऽभीष्टफलदं चतुर्वर्गसमृद्धिकृत् ।
सकृज्जपादवाप्नोति ह्येकक्रतुफलं मुने ॥ १७० ।
सर्वतीर्थेषु यः स्नातः सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
तस्य यत्फलमुद्दिष्टं त्रिकालपठनाच्च तत् ॥ १७१ ।
सर्वव्रतेषु यत्पुण्यं सम्यक् चीर्णेषु वाडव ।
तत्फलं समवाप्नोति त्रिसन्ध्यं नियतः पठन् ॥ १७२ ।

क्षेमदा कल्याणदा । क्षालिताघौघा नाशितपापसञ्चया । क्षुद्रविद्राविणी दुष्टानां विघातिनी । क्षमा पृथ्वीरूपा सहनस्वभावा वा १००० ।

गङ्गानामसहस्रेऽस्मिन् विवृते दशमे शते ।
यददृष्टमभूदत्र तद्विश्वेशे समर्पितम् ॥ १० ॥ १६८ ।

श्रद्धया पठितं सदिति शेषः ॥ १७० ।

वाडव ब्राह्मण हे तत्त्वज्ञेत्यर्थः । स ब्राह्मणः केन स्यादिति श्रुतेः ॥ १७२ ।

क्षेमदा, क्षालिताघौघा, क्षुद्रविद्राविणी, क्षमा (१०००)[1] ।

हे कलशोद्भव ! गंगा के इस सहस्रनाम का कीर्तन करने से नर गंगास्नान के सम्यक् फल को प्राप्त कर लेता है ॥ १६८ ।

यह सहस्रनाम सर्वपापविनाशक, समस्त विघ्ननिवारक, समग्र स्तोत्रपाठ से श्रेष्ठ एवं अशेष पवित्रों का भी पावन है ॥ १६९ ।

श्रद्धापूर्वक पाठ करने से यह अभीष्टफल का दायक और चतुर्वर्ग के समृद्धि का कारक है । हे मुने ! इसका एक बार पाठ करने से एक यज्ञफल प्राप्त होता है ॥ १७० ।

जो सब तीर्थों में स्नात हो और सब यज्ञों में दीक्षित हो, उसके लिये जो फल निर्दिष्ट है, वही फल इस स्तोत्र के त्रिकाल पढ़ने से प्राप्त होता है ॥ १७१ ।

ब्रह्मन् ! समस्त व्रतों के पूर्णरूप से आचरण करने में जो फल होता है, नियम-पूर्वक इस स्तोत्र के त्रिसन्ध्य पठन से भी वही फल मिल जाता है ॥ १७२ ।

---

१. इस गङ्गासहस्रनाम-स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसमें (सहस्रनाम में) प्रायः वर्णमाला के वर्ण क्रमानुसार हैं ।

स्नानकाले पठेद्यस्तु यत्र कुत्र जलाशये ।
तत्र सन्निहिता नूनं गङ्गा त्रिपथगा मुने ॥ १७३ ।
श्रेयोऽर्थी लभते श्रेयो धनार्थी लभते धनम् ।
कामी कामानवाप्नोति मोक्षार्थी मोक्षमाप्नुयात् ॥ १७४ ।
वर्षं त्रिकालपठनाच्छ्रद्धया शुचिमानसः ।
ऋतुकालाभिगमनादपुत्रः पुत्रवान् भवेत् ॥ १७५ ।
नाऽकालमरणं तस्य नाऽग्निचोराहिसाध्वसम् ।
नाम्नां सहस्रं गङ्गाया यो जपेच्छ्रद्धया मुने ॥ १७६ ।
गङ्गानामसहस्रन्तु जप्त्वा ग्रामान्तरं व्रजेत् ।
कार्यसिद्धिमवाप्नोति निर्विघ्नो गेहमाविशेत् ॥ १७७ ।
तिथिवारर्क्षयोगानां न दोषः प्रभवेत्तदा ।
यदा जप्त्वा व्रजेदेतत्स्तोत्रं ग्रामान्तरं नरः ॥ १७८ ।
आयुरारोग्यजननं सर्वोपद्रवनाशनम् ।
सर्वसिद्धिकरं पुंसां गङ्गानामसहस्रकम् ॥ १७९ ।
जन्मान्तरसहस्रेषु यत्पापं सम्यगर्जितम् ।
गङ्गानामसहस्रस्य जपनात्तत्क्षयं व्रजेत् ॥ १८० ।

मुने ! कहीं किसी भी जलाशय में स्नान करने के समय यदि कोई इसे पढ़े, तो त्रिपथगा गंगा वहाँ पर अवश्य ही प्राप्त हो जाती हैं ॥ १७३ ।

इस स्तोत्र के पाठ से कल्याणेच्छु जन को कल्याण, धनार्थी को धन, कामनावाले को मनोरथ और मुमुक्षु को मोक्ष का लाभ होता ॥ १७४ ।

पवित्रचित्त होकर श्रद्धापूर्वक एक वर्ष त्रिकाल पाठ से अपुत्र जन भी ऋतुकाल में संगम करने से पुत्रवान् हो जाता है ॥ १७५ ।

ऋषे ! जो कोई श्रद्धा से इस गंगासहस्रनाम का जप करे, उसे न अकाल मृत्यु होवे, न अग्नि-चोर और सर्पादि का भय प्राप्त होवे ॥ १७६ ।

गंगा के सहस्रनाम का जप करके ग्रामान्तर में यात्रा करने से वहाँ पर यात्री को कार्यसिद्धि होती है और निर्विघ्नतापूर्वक अपने घर को लौट आता है ॥ १७७ ।

जब मनुष्य इस स्तोत्र का पाठ करके किसी दूसरे स्थान को जावे तो तिथि, वार, नक्षत्र और योग कोई दोष कुछ भी हानि नहीं कर सकता ॥ १७८ ।

यह गंगा का सहस्रनाम, पुरुषों का आयुष्यवर्द्धक, आरोग्यजनक, सर्वोपद्रवनाशक एवं समस्त सिद्धिकारक है ॥ १७९ ।

सहस्रजन्मान्तरों के उपार्जित पाप, गंगा के सहस्रनाम जपने से ही क्षय हो जाते हैं ॥ १८० ।

ब्रह्मघ्नो मद्यपः स्वर्णस्तेयी च गुरुतल्पगः ।
तत्संयोगो भ्रूणहन्ता मातृहा पितृहा मुने ॥ १८१ ।
विश्वासघाती गरदः कृतघ्नो मित्रघातकः ।
अग्निदो गोवधकरो गुरुद्रव्यापहारकः ॥ १८२ ।
महापातकयुक्तोऽपि संयुक्तोऽप्युपपातकैः ।
मुच्यते श्रद्धया जप्त्वा गङ्गानामसहस्रकम् ॥ १८३ ।

उपपातकैर्गोवधादिभिः इत्यादि बहुवचनान्ताः शब्दा गणस्य संसूचका भवन्तीति न्यायाद् बहुवचनेन जातिभ्रंशकरणसंकलीकरणापात्रीकरणमलिनीकरणानि गृह्यन्ते । तानि च मनुनोक्तानि—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चाऽपि तैः सह ॥
गोवधोऽयाज्यसंयाज्यं पारदार्यात्मविक्रयौ ।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥
परिवित्तिताऽनुजेन परिवेदनमेव च ।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुषित्वं व्रताच्च्युतिः ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥
व्रात्यताबान्धवत्यागो भृतकाध्यापनं तथा ।
भृतादध्ययनं दानमपत्यानां च विक्रयः ॥
सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्रीजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥
इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥
अनाहिताग्नितास्तैन्यमृणानामनपक्रिया ।
धान्यकुप्यपशुस्तेयमपत्यस्त्रीनिषेवणम् ॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ।
ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ॥

मुने ! ब्रह्मघाती, मद्यप, सुवर्णचोर, गुरुदाराभिगामी, इन चारों पापियों का संसर्गी, भ्रूण (बाल) हंता, मातृघाती, पितृहा, विश्वासघाती, विषदाता, कृतघ्न, मित्रघाती, आग लगाने वाला, गोवधकर्ता, गुरुद्रव्यतस्कर, कोई भी सब महापातकों से युक्त अथवा उपपातकों से परिपूर्ण क्यों न हो; परन्तु श्रद्धापूर्वक इस गंगासहस्रनाम के पाठ करने से उन सब से मुक्त हो जाता है ॥ १८१-१८३ ।

आधिव्याधिपरिक्षिप्तो घोरतापपरिप्लुतः ।
मुच्यते सर्वदुःखेभ्यः स्तवस्याऽस्याऽनुकीर्तनात् ॥ १८४ ।
संवत्सरेण युक्तात्मा पठन् भक्तिपरायणः ।
अभीप्सितां लभेत्सिद्धिं सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ १८५ ।
संशयाविष्टचित्तस्य धर्मविद्वेषिणोऽपि च ।
दाम्भिकस्याऽपि हिंस्रस्य चेतो धर्मपरं भवेत् ॥ १८६ ।
वर्णाश्रमपथीनस्तु कामक्रोधविवर्जितः ।
यत्फलं लभते ज्ञानी तदाप्नोत्यस्य कीर्तनात् ॥ १८७ ।
गायत्र्ययुतजप्येन यत्फलं समुपार्जितम् ।
सकृत्पठनतः सम्यक् तदशेषमवाप्नुयात् ॥ १८८ ।
गां दत्वा वेदविदुषे यत्फलं लभते कृती ।
तत्पुण्यं सम्यगाख्यातं स्तवराजसकृज्जपात् ॥ १८९ ।

जैह्म्यं पुंसि च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ।
खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ॥
संकलीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ।
निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥
कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ इति ॥ १८३ ।

आधि-व्याधियों से प्रपीड़ित, घोर ताप से ग्रस्त भी मनुष्य इस स्तव के कीर्तन करने से समग्र दुःखों से छूट जाता है ॥ १८४ ।

एकाग्रचित्त और भक्तितत्पर होकर वर्षमात्र इस स्तोत्र के पाठ करने से अभीष्ट सिद्धि को पाता है और समस्त पापों से भी छूट जाता है ॥ १८५ ।

(इस सहस्रनामस्तोत्र के पाठ से) सन्देहग्रस्तचित्त, धर्मविद्वेषी, दांभिक और हिंसक जन का भी अन्तःकरण से धर्मपरायण हो जाता है ॥ १८६ ।

वर्णाश्रमपथाचारी और काम-क्रोध से रहित ज्ञानी नर जो फललाभ करता है, इस स्तोत्र के कीर्तन करने से भी वही फल प्राप्त होता है ॥ १८७ ।

दशसहस्र गायत्री जप करने में जो फल मिलता है, इस स्तोत्र के सम्यक् प्रकार से एक बार पढ़ने ही में वह सब फल प्राप्त हो जाता है ॥ १८८ ।

सुकृती जन वेदवेत्ता को गोदान करके जो पुण्य प्राप्त करते हैं, वह समस्त पुण्य इस स्तवराज के एक बार मात्र जप करने से प्राप्त होता है, ऐसा (शास्त्रों में) कहा गया है ॥ १८९ ।

गुरुशुश्रूषणं कुर्वन् यावज्जीवं नरोत्तमः ।
यत्पुण्यमर्जयेत्तद्भाग्वर्षं त्रिषवणं जपन् ॥ १९० ।
वेदपारायणात्पुण्यं यदत्र परिपठ्यते ।
तत् षण्मासेन लभते त्रिसन्ध्यं परिकीर्तनात् ॥ १९१ ।
गङ्गायाः स्तवराजस्य प्रत्यहं परिशीलनात् ।
शिवभक्तिमवाप्नोति विष्णुभक्तोऽथवा भवेत् ॥ १९२ ।
यः कीर्तयेदनुदिनं गङ्गानामसहस्रकम् ।
तत्समीपे सहचरी गङ्गादेवी सदा भवेत् ॥ १९३ ।
सर्वत्र पूज्यो भवति सर्वत्र विजयी भवेत् ।
सर्वत्र सुखमाप्नोति जाह्नवीस्तोत्रपाठतः ॥ १९४ ।
सदाचारी स विज्ञेयः स शुचिस्तु सदैव हि ।
कृतसर्वसुरार्चः स कीर्तयेद्य इमां स्तुतिम् ॥ १९५ ।
तस्मिंस्तृप्ते भवेत्तृप्ता जाह्नवी नात्र संशयः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गङ्गाभक्तं समर्चयेत् ॥ १९६ ।

वेदपारायणाद् उपवासपूर्वकं समग्रायाः स्वशाखायाः पाठात् । अत्र जगति ॥ १९१ ।

सहचरी सखी । तन्निकटे कृतवासेत्यर्थः ॥ १९३ ।

पुरुषश्रेष्ठ, यावज्जीवन गुरु की शुश्रूषा करके जो पुण्य उपार्जन करता है, वर्ष भर त्रिकाल इस स्तोत्र के जप से भी उसी पुण्य का भागी होता है ॥ १९० ।

वेदपारायण करने का जो पुण्य शास्त्रों में कहा जाता है, वही पुण्य छः मास-पर्यन्त त्रिसन्ध्य इस स्तोत्र के परिकीर्तन से प्राप्त होता है ॥ १९१ ।

प्रतिदिन इस गंगास्तवराज के अनुशीलन करने से शिव की भक्ति मिलती है अथवा विष्णु का भक्त हो जाता है ॥ १९२ ।

जो कोई प्रत्यह गंगा के सहस्रनाम का पाठ करता है, तो गंगादेवी सर्वदा उसके समीप में सहचरी होकर रहती हैं ॥ १९३ ।

इस जाह्नवीस्तोत्र के पाठ करने से (मनुष्य) सर्वत्र पूज्य, सर्वत्र विजयी और सर्वत्र सुखभोगी होता है ॥ १९४ ।

जो व्यक्ति इस स्तुति का कीर्तन करे, उसे सदाचारी, सर्वदा पवित्र और समस्त देवताओं का पूजक समझना चाहिए ॥ १९५ ।

उस जन की तृप्ति कर देने से जाह्नवी स्वयं तृप्त हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं है, अतएव सब प्रकार से गंगा के भक्त का समर्चन करना चाहिए ॥ १९६ ।

स्तवराजमिमं गाङ्गं शृणुयाद्यश्च वै पठेत् ।
श्रावयेदथ तद्भक्तान् दम्भलोभविवर्जितः ॥ १९७ ।
मुच्यते त्रिविधैः पापैर्मनोवाक्कायसम्भवैः ।
क्षणान्निष्पापतामेति पितृणां च प्रियो भवेत् ॥ १९८ ।
सर्वदेवप्रियश्चापि सर्वर्षिगणसम्मतः ।
अन्ते विमानमारुह्य दिव्यस्त्रीशतसंवृतः ॥ १९९ ।
दिव्याभरणसम्पन्नो दिव्यभोगसमन्वितः ।
नन्दनादिवने स्वैरं देववत् स प्रमोदते ॥ २०० ।
भुज्यमानेषु विप्रेषु श्राद्धकाले विशेषतः ।
जपन्निदं महास्तोत्रं पितृणां तृप्तिकारकम् ॥ २०१ ।
यावन्ति तत्र सिक्थानि यावन्तोऽम्बुकणाः स्थिताः ।
तावन्त्येव हि वर्षाणि मोदन्ते स्वः पितामहाः ॥ २०२ ।

स्वैरं स्वेच्छया ॥ २०० ।

भुज्यमानेष्विति । इदं सहस्रनाम यो जपन् भवति तस्य पितृणामिदं स्तोत्रं तृप्तिकारकं भवतीत्यर्थः ॥ २०१ ।

सिक्थानि अन्नलेशाः कणा इति यावत् ॥ २०२ ।

जो कोई इस गंगास्तवराज को श्रवण करे, किं वा पाठ करे, अथवा दंभ-लोभ से रहित होकर गंगा के सेवकों को सुनावे, वह कायिक, वाचिक, मानसिक इन त्रिविध पापों से छूटकर तुरन्त निष्पाप हो जाता है और पितृगण का प्रेमपात्र होता है ॥ १९७-१९८ ।

और भी समस्त देवताओं का प्रिय होता है, एवं सब ऋषिगण उसे मानने लगते हैं। अन्त में वह विमान पर चढ़ स्वर्गीय शतशः स्त्रियों से परिवृत्त होकर दिव्य भूषणों को पहन एवं दिव्य भोगों से सम्पन्न होकर नन्दन प्रभृति वनों में स्वेच्छानुसार देवताओं के समान प्रमुदित होता है ॥ १९९-२०० ।

विशेषतः श्राद्ध के समय जब पात्रीय ब्राह्मण भोजन करने लगें, तब पितरों के तृप्तिकारक इस महास्तोत्र के जप करते रहने से पात्र में जितने ही अन्नकण एवं जलकण स्थित रहते हैं, उतने वर्षपर्यन्त स्वर्गलोक में पितर लोग आनन्द करते हैं। ॥ २०१-२०२ ।

यथा प्रीणन्ति पितरो गङ्गायां पिण्डदानतः ।
तथैव तृप्नुयुः श्राद्धे स्तवस्याऽस्याऽनुसंश्रवात् ॥ २०३ ।
एतत्स्तोत्रं गृहे यस्य लिखितं परिपूज्यते ।
तत्र पापभयं नास्ति शुचि तद्भवनं सदा ॥ २०४ ।
अगस्ते ! किं बहूक्तेन शृणु मे निश्चितं वचः ।
संशयो नाऽत्र कर्तव्यः सन्देग्धरि फलं न हि ॥ २०५ ।
यावन्ति मर्त्ये स्तोत्राणि मन्त्रजालान्यनेकशः ।
तावन्ति स्तवराजस्य गाङ्गेयस्य समानि न ॥ २०६ ।
यावज्जन्म जपेद्यस्तु नाम्नामेतत्सहस्रकम् ।
स कीकटेष्वपि मृतो न पुनर्गर्भमाविशेत् ॥ २०७ ।
नित्यं नियमवानेतद्यो जपेत्स्तोत्रमुत्तमम् ।
अन्यत्राऽपि विपन्नः स गङ्गातीरे मृतो भवेत् ॥ २०८ ।

कीकटेषु गयाप्रदेशेषु ॥ २०७ ।

गंगा में पिण्डदान करने से पितृगण जैसे तृप्त होते हैं, श्राद्ध में इस स्तोत्र के श्रवण से भी वैसे ही तृप्ति-लाभ करते हैं ॥ २०३ ।

जिसके गृह में यह स्तोत्र लिखित होकर पूजा जाता है, वहाँ पर पाप का भय नहीं रहता और वह भवन सर्वदैव पवित्र रहता है ॥ २०४ ।

अगस्त्य जी ! बहुत कहाँ तक कहें, मेरा यह निश्चित वचन सुनो, इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि सन्देहयुक्त मनुष्य को फल नहीं मिलता ॥ २०५ ।

पृथिवी में जो सब नाना प्रकार के स्तोत्र और मन्त्रजाल हैं, वे सभी इस गंगास्तवराज के समान (कदापि) नहीं हैं ॥ २०६ ।

जो कोई जन्म भर इस गंगासहस्रनाम का पाठ करे, तो वह मगधदेश में भी मरने पर फिर गर्भ में प्रवेश नहीं करे ॥ २०७ ।

जो व्यक्ति नित्य नियमपूर्वक इस उत्तम स्तोत्र का पाठ करता है, वह अन्यत्र कहीं भी मृत्यु पाने पर गंगातीर में मृत्युगत (प्राणी) के समान होता है ॥ २०८ ।

एतत्स्तोत्रवरं रम्यं पुरा प्रोक्तं पिनाकिना ।
विष्णवे निजभक्ताय मुक्तिबीजाक्षरास्पदम् ॥ २०९ ॥

गङ्गास्नानप्रतिनिधिः स्तोत्रमेतन्मयेरितम् ।
सिस्नासुर्जाह्नवीं तस्मादेतत्स्तोत्रं जपेत्सुधीः ॥ २१० ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गङ्गासहस्रनामकथनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

मुक्तीति । मुक्तेः कैवल्यस्य बीजभूतानि यान्यक्षराणि तेषामास्पदमाश्रयः, मोक्षकारणभूतब्रह्मास्पदं वा मुक्तिबीजं च तदक्षरस्य ब्रह्मणा आस्पदं चेति वा ॥ २०९ ॥

प्रतिनिधिस्तुल्यम् । सिस्नासुर्गङ्गायां मज्जनस्नानमन्तरेणाऽपि गङ्गास्नानेच्छुः ।

मातापि सन्त्यजेत्पुत्रमिति शास्त्रप्रमाणतः ।
त्राहि मां त्रिजगन्मातर्गङ्गे विष्णुपदोद्भवे ॥ २१० ॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २९ ॥

पूर्व काल में भगवान् शिव ने निज-भक्त विष्णु से मुक्ति के बीजरूप अक्षरों के आश्रय इस रमणीय स्तोत्रराज को कहा था । (भगवती भागीरथी) गंगा के स्नान का प्रतिनिधि वही स्तोत्र मैंने (आज तुमसे) कहा, अतएव जो बुद्धिमान् जन गंगास्नान की अभिलाषा रखता हो, वह इसी स्तोत्र का पाठ करे ॥ २०९-२१० ।

चौ०—अति पवित्र गंगा के नामा । हैं सहस्र जे पूरक कामा ॥
अकारादि क्रमते ते वरने । कहत सुनत सब पातक हरने ॥ १ ॥

दोहा—सहस नाम नहिं लखि पड़े, कतहुँ पुरानन माहिं ।
गंगा के हैं जो कहे, जेहि सुनि पाप पराहिं ॥ २ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां गंगासहस्रनामस्तोत्रवर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशत्तमोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

शृण्वगस्त्य महाभाग स च राजा भगीरथः।
आराध्य श्रीमहादेवमुद्दिधीर्षुः पितामहान् ॥ १ ।
ब्रह्मशापविनिर्दग्धान् सर्वान् राजर्षिसत्तमः।
महता तपसा भूमिमानिनाय त्रिवर्त्मगाम् ॥ २ ।
त्रयाणामपि लोकानां हिताय महते नृपः।
समानैषीत्ततो गङ्गां यत्रासीन्मणिकर्णिका ॥ ३ ।
आनन्दकाननं शम्भोश्चक्रपुष्करिणी हरेः।
परब्रह्मैकसुक्षेत्रं लीलामोक्षसमर्पकम् ॥ ४ ।

अथ त्रिंशत्तमेऽध्याये रहस्यश्रुतिसंमितम्।
धनञ्जयकथागर्भं वर्ण्यते काशिजं महत् ॥ १ ॥

मणिकर्ण्यां गङ्गायाः समागमात् क्षेत्रस्याधिक्यं वक्तुं गङ्गागमनप्रकारं श्रावयति। शृण्विति। स प्रसिद्धो भगीरथो गङ्गां भूमिमानिनायेति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ १-२।

तर्हि ऋजुमार्गेण पितामहा यत्र मृतास्तत्र नेतव्या किं वक्रगत्या मणिकर्ण्यामानयनेन तत्राह। त्रयाणामिति ॥ ३।

एतदेव स्पष्टयति। आनन्दकाननमिति। आनन्दकाननं प्रति हरेः सम्बन्धिनी चक्रपुष्करिणी। दैलीपिर्दिलीपस्यापत्यं भगीरथो गङ्गां समानैषीत्प्रापयामासेत्यग्रिमेणाऽन्वयः। आनन्दकाननं प्राप्य या हरेश्चक्रपुष्करिणी तामिति वा। गां पयो दोग्धीतिवद् द्विकर्मकता वा। आनन्दकानने गङ्गां प्रापयामासेत्यर्थः। आनन्दकाननं विशिनष्टि। परब्रह्मैकसुक्षेत्रमित्यर्धेन। परब्रह्मैवेति क्वचित् ॥ ४।

(धनञ्जय कथासहित काशीरहस्य)

स्वामिकार्तिक बोले—

हे महाभाग ! अगस्त्य ! श्रवण कीजिए—राजर्षिप्रवर वह राजा भगीरथ, ब्रह्मशापानल में दग्ध अपने पितरों के उद्धार की इच्छा से श्रीमहादेव की आराधना कर घोर तपस्या के द्वारा इस भूमि पर त्रिपथगा को ले आये ॥ १-२।

तत्पश्चात् तीनों ही लोकों की हितकामना से उस नरपति ने जहाँ मणिकर्णिका थी, वहाँ पर गंगा का आनयन किया ॥ ३।

वह लीलामात्र से मोक्ष का दाता, शम्भु भगवान् का आनन्दकानन, विष्णुदेव की चक्रपुष्करिणी और परब्रह्म स्वरूप का एकमात्र प्रधान क्षेत्र है ॥ ४।

प्रापयामास तां गङ्गां दैलिपिः पुरतश्चरन् ।
निर्वाणकाशनाद्यत्र काशीति प्रथिता पुरी ॥ ५ ।
अविमुक्तं महाक्षेत्रं न मुक्तं शम्भुना क्वचित् ।
प्रागेव हि मुनेऽनर्घ्यं जात्यं जाम्बूनदं स्वयम् ॥ ६ ।
पुनर्वारितरेणाऽपि हीरेण यदि सङ्गतम् ।
चक्रपुष्करिणीतीर्थं प्रागेव श्रेयसां पदम् ॥ ७ ।
ततः श्रेष्ठतरं शम्भोर्मणिश्रवणभूषणात् ।
आनन्दकानने तस्मिन्नविमुक्ते शिवालये ॥ ८ ।
प्रागेव मुक्तिः संसिद्धा गङ्गासङ्गात्ततोऽधिका ।
यदा प्रभृति सा गङ्गा मणिकर्ण्यां समागता ॥ ९ ।

पुनरपि तदेव विशेषयन् पूर्वोक्तनामद्वयनिर्वचनमनुवदति । निर्वाणकाशनादित्येकेन[1] । यत्र आनन्दवने । यद्वा गङ्गां विशिनष्टि । निर्वाणेति । यत्र यस्यां गङ्गायां काश्यामुत्तरवाहिन्यां निमित्तभूतायां निर्वाणकाशनात् कैवल्यस्य प्रकाशनात्काशीति-पुरीति प्रथिता तां गङ्गां समानैषीदिति पूर्वेणैवान्वयः ॥ ५ ।

अविमुक्तं च प्रथितमिति विपरिणमय्याऽन्वयः । तत्र हेतुर्न मुक्तमिति । तदुक्तं मात्स्ये—

विमुक्तं न मया यस्मान्मोक्ष्यते न कदाचन ।
महत्क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम् ॥ इति ।

यदर्थमनूदितं तद्दृष्टान्तपुरःसरमाह । प्रागेवेत्यारभ्य कृत्वा कर्माणीत्यतः प्राक्तनेन । हे मुनेऽगस्त्य जाम्बूनदं सुवर्णं जात्यं सुजात्यं स्वयमनर्घ्यं पुनर्वारितरेण हीरकेण सङ्गतं सद्यथाऽनर्घ्यं भवतीत्यर्थः । तथा गङ्गासङ्गाच्चक्रपुष्करिणीति योज्यम् ॥ ६-९ ।

एवं निर्वाणपद के प्रकाशन करने से जो काशी नाम से प्रसिद्ध नगरी है, दिलीपनन्दन भगीरथ ने अग्रसर होकर उस गंगा को वहाँ पर पहुँचा दिया ॥ ५ ।

मुने ! महादेव के त्याग करने के पूर्व से ही वह अविमुक्त क्षेत्र अमूल्य था, फिर गंगा के आ जाने पर तो मानो उत्तम (चोखे) सुवर्ण में वारितर (आबूदार) हीरा का संगम हो गया है । (तब क्या पूछना है ?), (उसमें भी) चक्रपुष्करिणी तीर्थ पूर्व ही से कल्याणों का स्थान था ॥ ६-७ ।

अनन्तर शिव के मणिमय कर्णभूषण से और भी अधिक श्रेष्ठ हो गया, अतएव उस शिवसदन आनन्दकानन अविमुक्त क्षेत्र में सर्वदैव से मुक्ति की सिद्धि रहने पर भी गंगा के संगम से और भी अधिक हो गयी, जब से गंगा (जी) मणिकर्णिका में समागत हुईं ॥ ८-९ ।

---

[1]. अर्द्धद्वयेनेत्यर्थः ।

तदा प्रभृति तत्क्षेत्रं दुष्प्रापं त्रिदशैरपि ।
कृत्वा कर्माण्यनेकानि कल्याणानीतराणि वा ॥ १० ॥
तानि क्षणात् समुत्क्षिप्य काशीसंस्थोऽमृतो भवेत् ।
तस्यां वेदान्तवेद्यस्य निदिध्यासनतो विना ॥ ११ ॥
विना सांख्येन योगेन काश्यां संस्थोऽमृतो भवेत् ।
कर्मनिर्मूलनवता विना ज्ञानेन कुम्भज ॥ १२ ॥
शशिमौलिप्रसादेन काशीसंस्थोऽमृतो भवेत् ।
यत्नतोऽयत्नतो वाऽपि कालात्त्यक्त्वा कलेवरम् ॥ १३ ॥
तारकस्योपदेशेन काशीसंस्थोऽमृतो भवेत् ।
अनेकजन्मसंसिद्धैर्बद्धोऽपि प्राकृतैर्गुणैः ॥ १४ ॥

इतराणि पापानि ॥ १० ॥

संस्थो मृतः । तदुक्तं लैङ्गे—

नाविमुक्ते नरः कश्चिन्नरकं याति किल्बिषी ।
ईश्वराऽनुग्रहादेव सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥ इति ।

काशीकृतानां पापानां पञ्चक्रोशयात्रादिना क्षयादिति भावः । निदिध्यासनतो निदिध्यासनमित्यर्थः । निदिध्यासनतामिति क्वचित् ॥ ११ ॥

सांख्येनात्मानात्मविवेकेन । योगेनाऽष्टाङ्गेन । काश्यां संस्था संस्थितिर्मृतिः सम्यङ्मरणपर्यन्तावस्थितिर्यस्य स तथा । कण्ठेकाल इत्यादिवदलुक्समासः । विना ज्ञानेन देहत्यागाव्यवहितसमयात्प्राक् साक्षात्कारं विनेत्यर्थः । ज्ञानादेव तु कैवल्य-मिति श्रुतेः ॥ १२ ॥

एतदेव स्फुटयति । यत्नतोऽयत्नतो वा शमादेरनुष्ठानादननुष्ठानाद्वेत्यर्थः ॥ १३ ॥

प्राकृतैर्गुणैः प्रकृतिगुणकार्यैः संसारपाशैः ॥ १४ ॥

तब से ही वह क्षेत्र, देवताओं को भी दुर्लभ हो गया है । जीव अनेक प्रकार के शुभ और अशुभ कर्मों को कर, काशी में देह-त्याग करने से क्षणमात्र में कर्मबन्धन को काट मोक्ष-पद को प्राप्त हो जाता है । वहाँ पर वेदान्तवेद्य ब्रह्म के निदिध्यासन के विना और विना ही सांख्ययोग के काशी में मरण मात्र से मुक्तिलाभ होता है । कुंभज ! वहाँ तो कर्मबन्धन के उच्छेदक (तत्त्व) ज्ञान का भी कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १०-१२ ।

क्योंकि भगवान् चन्द्रशेखर के प्रसाद से काशी में मृत होते ही अमृतपद प्राप्त हो जाता है । चाहे प्रयत्नपूर्वक हो, अथवा अनायास ही क्यों न हो, कालधर्मानुसार शरीर-त्याग करके तारक मन्त्र के उपदेश से काशी में मरा कि मुक्त हुआ । अनेक जन्मों के संसिद्ध प्रकृतिजनित गुणरूपी बन्धन में फँसा हुआ भी (जीव) असि (अस्सी

असिसम्भेदयोगेन काशीसंस्थोऽमृतो भवेत् ।
देहत्यागोऽत्र वै दानं देहत्यागोऽत्र वै तपः ॥ १५ ॥
देहत्यागोऽत्र वै योगः काश्यां निर्वाणसौख्यकृत् ।
प्राप्योत्तरवहां काश्यामतिदुष्कृतवानपि ॥ १६ ॥
यायात् स्वं हेलया त्यक्त्वा तद्विष्णोः परमं पदम् ।
यमेन्द्राग्निमुखा देवा दृष्ट्वा मुक्तिपथोन्मुखान् ॥ १७ ॥
सर्वान् सर्वे समालोक्य रक्षां चक्रुः पुरा पुरः ।
असिं महासिरूपां च प्राप्य सन्मतिखण्डनीम् ॥ १८ ॥
दुष्टप्रवेशं धुन्वानां धुनीं देवा विनिर्ममुः ।
वरणां च व्यधुस्तत्र क्षेत्रविघ्ननिवारिणीम् ॥ १९ ॥

असिसंभेदयोगेन अस्याऽसिसंज्ञया नद्या संभेदः संभेदनं छेदनमिति यावत् । अर्थात् पाशानां स एव योग उपायस्तेन । असि धारयेत्युक्तेः । यद्वा अस्या सह संभेदो यस्य तदसिसंभेदं गङ्गाम्भस्तत्सम्बन्धेनेत्यर्थः । गङ्गासङ्गात्ततोऽधिकेत्युक्तेः । प्राकृतं व्याख्यानमसिसंभेदस्य प्राशस्त्यमात्रविवक्षया । असिसंभेदसंयोगे इति क्वचित् ॥ १५ ।

स्वं देहम् ॥ १७ ।

पुरः काश्याः । रक्षामेवाह । असिमिति त्रयेण[1] । पापिनामसन्मतिमस्यति खण्डयतीत्यसिशब्दार्थं निर्वक्ति । पाणीति ॥ १८ ।

असिं विशिनष्टि । धुनीमिति । दुष्टानां प्रवेशनं धुनोति निवारयतीति धुनी-शब्दार्थमाह । दुष्टेति । व्यधुश्चक्रुः । सर्वान् क्षेत्रविघ्नान् वारयतीति वरणाशब्दार्थं निर्वक्ति । क्षेत्रेति ॥ १९ ।

नदी-तलवार) संगम के योग प्राप्त होने ही से काशी में मर कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । इस काशी में देहत्याग ही दान, देहत्याग ही तपस्या और देहत्याग ही योग है; (क्योंकि) यहाँ पर इसी से मोक्षलाभ होता है । काशी में बहुत बड़ा भी पातकी उत्तरवाहिनी गंगा को पाकर खेलवाड़ से भी अपने शरीर को त्यागते ही विष्णु के परमपद को प्राप्त हो जाता है । पूर्वकाल में यम, इन्द्र और अग्नि प्रभृति देवताओं ने सभी लोगों को मुक्तिमार्ग की ओर उन्मुख देखकर काशीपुरी का इस प्रकार से रक्षण-विधान किया (कि) उन देवगण ने असद्बुद्धिविनाशिनी, दुष्टप्रवेशनिवारिणी, महातलवाररूपिणी असिनदी को बनाया और क्षेत्रविघ्नविदारिणी एवं दुर्वृत्तजन को

---

१. अर्धत्रयेणेत्यर्थः ।

दुर्वृत्तसुप्रवृत्तेश्च निवृत्तिकरणीं सुराः ।
दक्षिणोत्तरदिग्भागे कृत्वाऽसिं वरणां सुराः ॥ २० ।
क्षेत्रस्य मोक्षनिक्षेपरक्षां निर्वृत्तिमाप्नुयुः ।
क्षेत्रस्य पश्चाद्दिग्भागे तं देहलिविनायकम् ॥ २१ ।
स्वयं व्यापारयामास रक्षार्थं शशिशेखरः ।
अनुज्ञातप्रवेशानां विश्वेशेन कृपावता ॥ २२ ।
ते प्रवेशं प्रयच्छन्ति नान्येषां हि कदाचन ।
इत्यर्थे कथयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
आश्चर्यकारि परमं काशीभक्तिप्रवर्धनम् ॥ २३ ।

निर्वचनान्तरमाह । दुर्वृत्तसुवृत्तश्चेति । दुर्वृत्तस्य सुप्रवृत्तेरिति क्वचित् । पाठद्वयेऽप्येक एवाऽर्थः । दक्षिणेति । दक्षिणदिग्भावेऽसिमुत्तरदिग्भागे वरणामित्यर्थः ॥ २० ।

ते विशिनष्टि । क्षेत्रस्य मोक्षेति । क्षेत्रस्य कैवल्यदानसम्पादयित्रीमित्यर्थः । निर्वाण[1]स्थाप्यरक्षाकर्त्रीमिति वा । तं प्रसिद्धम् ॥ २१ ।

व्यापारयामास स्थापयामास । फलितमाह । अनुज्ञातेति ॥ २२ ।

तेऽस्यादयः । विश्वेशेनानुज्ञातानां धर्मानुषङ्गात् काशीं प्राप्यापि बहिर्निर्गम इत्यस्मिन्नर्थे इतिहासमाह । इत्यर्थं इति ॥ २३ ।

बड़ी प्रवृत्ति को रोकने वाली वरणा नदी का निर्माण करके क्षेत्र के दक्षिण और उत्तर-भाग में स्थापन कर दिया ॥ १३-२० ।

इस रीति से क्षेत्र के मुक्तिदान की रक्षा करके देवगण परम प्रसन्न हुए । अनन्तर भगवान् शशिशेखर ने स्वयं काशीक्षेत्र के पश्चात् (पश्चिम) भाग की रक्षा करने के लिये देहलीविनायक को आज्ञा दी । ये लोग (असि, वरणा और देहली-विनायक) जिन्हें स्वयं कृपाशील विश्वेश्वर प्रवेश की आज्ञा दे देते हैं, उन्हीं को काशी में आने देते हैं, दूसरों को कभी घुसने ही नहीं देते । इस विषय पर काशी के ऊपर भक्तिवर्द्धक परम आश्चर्यकर, एक पुराना इतिहास मैं कहता हूँ (उसे श्रवण कीजिए) ॥ २१-२३ ।

---

१. निर्वाणरूपं यत्स्थाप्यं स्थापयितुं योग्यं तद्रक्षाकर्त्रीम् ।

स्कन्द उवाच—

दक्षिणाब्धितटे कश्चित् सेतुबन्धसमीपतः ।
वणिग्धनञ्जयो नाम मातृभक्तिसमन्वितः ॥ २४ ।
पुण्यमार्गार्जितधनो धनतोषितमार्गणः ।
मार्गणस्फारितयशा यशोदातनयार्चकः ॥ २५ ।
समुन्नतोऽपि सम्पत्त्या विनयावनतकन्धरः ।
आकरोऽपि गुणानां हि गुणिष्वाकारगोपकः ॥ २६ ।
रूपसम्पदुदारोऽपि परदारपराङ्मुखः ।
स सम्पूर्णकलोऽप्यासीन्निष्कलङ्कोदयः सदा ॥ २७ ।

दक्षिणार्णवतीरे रामसेतुनिकटे धनञ्जयो नाम वणिग् बभूवेति शेषः । तं विशिनष्टि । मातृभक्तीति पादाधिकपञ्चभिः ॥ २४ ।

मार्गणा याचकाः ॥ २५ ।

सम्पत्तिः धनादिसमृद्धिः । आकारगोपकः स्वगुणाप्रख्यापकः ॥ २६ ।

सम्पूर्णाश्चतुःषष्टिसंख्याकाः कला विद्या यस्य स सम्पूर्णकलः । निर्गतः कलङ्को यस्मात् स उदयो यस्य स निष्कलङ्कोदयः । सम्पूर्णकलोऽपि चन्द्रो मृगलांछनाद् गुरुदाराभिमर्शाद्वा सकलङ्कोदय एवेति तस्मादस्याधिक्यं ध्वनितम् ॥ २७ ।

स्कन्द ने कहा—

(अगस्त्य जी !) दक्षिण समुद्र के तट पर सेतुबन्ध के समीप में ही माता की भक्ति से पूर्ण एक धनंजय नामक वणिक् रहता था ॥ २४ ।

वह कृष्ण का परम सेवक, पुण्यमार्गानुसार धन उपार्जन करता हुआ धन के द्वारा अर्थिगण का सन्तोष साधन करता था । याचक लोग अपने अभीष्टलाभ से सन्तुष्ट होकर उसकी यशोराशि को फैलाते रहे ॥ २५ ।

धनंजय, बड़ी सम्पत्ति से समुन्नत होने पर भी विनय से अवनतकन्धर और समस्त गुणग्रामों का आकर होकर भी गुणिगण में अपना आकार छिपाये रखता था ॥ २६ ।

रूप और सम्पत्ति के द्वारा उदार होने पर भी वह परदारा से पराङ्मुख था एवं समस्त कलाओं से परिपूर्ण रहने पर भी उसमें सदैव किञ्चिन्मात्र कलंक नहीं था ॥ २७ ।

स सत्यानृतवृत्तिश्च प्रायः सत्यप्रियो मुने ।
वर्णेतरोऽप्यभूल्लोके सुवर्णकृतवर्णनः ॥ २८ ।
सदाचरणगोऽप्येष सुखयानचरः कृती ।
अदरिद्रोऽपि मेधावी सोऽभूत्पापदरिद्रधीः ॥ २९ ।
तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित्कालपर्ययात् ।
जननी निधनं प्राप्ता व्याधिताऽतिजरातुरा ॥ ३० ।
तया च यौवनं प्राप्य मेघच्छायातिचञ्चलम् ।
प्रावृण्नदीपूरसमं स्वपतिः परिवञ्चितः ॥ ३१ ।
दिनत्रिचतुरस्थायि या नारी प्राप्य यौवनम् ।
भर्तारं वञ्चयेन्मोहात्साऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ ३२ ।

सत्यानृतं वाणिज्यम् । वर्णेतरोऽपि चतुर्वर्णेभ्योऽन्योऽपि सुवर्णेन शोभनब्राह्मणादिना वर्णेन कृता वर्णना स्तुतिर्यस्य सः । हीनवर्णोऽपि ब्राह्मणवत् सदाचार इत्यर्थः। पक्षान्तरे सुवर्णस्य कृतेन करणेन घटनेनेति यावत् । वर्णनं कथनं यस्य स तथा स्वर्णकार इत्यर्थः ॥ २८ ।

सुखयानचरो नौकायानचारी । नीरैः पानं पानं नौभिर्यानं यानम् । शिशुभिर्लीला लीला अन्यदपानमयानमलीलेति दर्शनात् ॥ २९-३० ।

प्रावृण्नदीपूरसमं वर्षातरङ्गिण्योघसमम् ॥ ३१ ।

यद्यपि उसकी सच-झूठ मिली हुई वाणिज्यवृत्ति थी, पर वह प्रायः सत्य को ही प्यार करता था। स्वयं हीनवर्ण होकर भी वह संसार में उत्तमवर्णों के द्वारा वर्णन किया जाता था ॥ २८ ।

सुकृती धनंजय सदाचरणगामी होने पर भी सुखयान पर ही विचरण करता था। यद्यपि वह मेधावी स्वयं (धन से) दरिद्र नहीं था; परन्तु उसकी बुद्धि पाप में दरिद्र ही थी ॥ २९ ।

ऐसे गुणसम्पन्न धनंजय की अत्यन्त वृद्धा माता व्याधियों से पीड़ित हो, कदाचित् काल पाकर मृत्यु को प्राप्त हुई ॥ ३० ।

उसकी माता ने (शरद् ऋतु के) मेघच्छाया के समान अतिचंचल एवं वर्षाकालीन नदी के ओघ (प्रबल प्रवाह) सदृश अस्थिर यौवन अवस्था पाकर अपने पति को वंचित किया था ॥ ३१ ।

जो नारी दो चार दिन रहने वाले यौवन मद में मत्त होकर मोहवश भर्ता को वंचित करती है, वह अक्षय नरक में पड़ती है ॥ ३२ ।

शीलभङ्गेन नारीणां भर्ता धर्मपरोऽपि हि ।
पतेद्दुःखार्जितात्स्वर्गाच्छीलं रक्ष्यं ततः स्त्रिया ॥ ३३ ।
विष्ठागर्ते च निरये स्वयं पतति दुर्मतिः ।
आभूतसंप्लवं यावत्ततः स्याद् ग्रामसूकरी ॥ ३४ ।
स्वविष्ठापायिनी चाऽथ वल्गुली वृक्षलम्बिनी ।
उलूकी वा दिवान्धा स्याद् वृक्षकोटरवासिनी ॥ ३५ ।
रक्षणीयं महायत्नादिदं सुकृतभाजनम् ।
वपुः परस्य दुःस्पर्शात्सुखाभासात्मकात्स्त्रिया ॥ ३६ ।
अनेनैव शरीरेण भर्तृसाद्विहितेन हि ।
किं सती न च तस्तम्भ भानुमुद्यन्तमाज्ञया ॥ ३७ ।

अधोमुखस्योर्ध्वपादस्य वृक्षेऽवलम्बमानस्य गेदुरा इति प्रसिद्धस्य पक्षिविशेषस्य पत्नी वल्गुली । उलूकी पेचिका ॥ ३५ ।

दुःस्पर्शाद् दुष्टसंश्लेषाद् दुःखात्मकात् स्पर्शादित्यर्थः । ननु दुःस्पर्शे कुतः प्रवृत्ति-स्तत्राह । सुखाभासात्मकात् सुखमिव भासत इति सुखभासस्तदात्मकादित्यर्थः ॥ ३६ ।

पातिव्रत्यभङ्गे दोषमुक्त्वा तद्रक्षणे गुणमाह । **अनेनैव शरीरेणेति** । अनेनैव शरीरेण रक्तमांसतया प्रतीतेनेत्यर्थः । सती पतिव्रता उद्यन्तमुद्गच्छन्तं भानुं किं न तस्तम्भ स्तम्भितं किं न चकार; अपि तु स्तम्भितवत्येवेत्यर्थः । कथम्भूतेन शरीरेण ? भर्तृसाद्विहितेन भर्त्रधीनसम्पादितेनेत्यर्थः । तथा च श्रूयते मार्कण्डेयपुराणे— "कदाचिच्चोराननुधावन्तो राजभटा माण्डव्यस्य ऋषेस्तपश्चरतो मौनव्रतधारिण आश्रममेतान् सम्प्राप्य तेन सार्धं बद्ध्वानीय राज्ञे निवेद्य तदाज्ञया सर्वाञ्छूलेष्वारोप-

---

स्त्रियों के शीलभंग होने से धर्मात्मा भी उसका स्वामी बड़े दुःख से उपार्जित स्वर्ग से पतित हो जाता है । अतएव स्त्रियों को चारित्र्यदोष से अपनी रक्षा करनी उचित है ॥ ३३ ।

(नहीं तो) वह दुर्बुद्धिमती स्त्री विष्ठागर्त नामक नरक में गिरती है । तदनन्तर प्रलयपर्यन्त ग्रामसूकरी होती है ॥ ३४ ।

अथवा वृक्ष में अधोमुख लटकने वाली, चमगेदुरी होकर अपनी ही विष्ठा खाती है । किं वा पेड़ के खोंढड़े में रहनेवाली दिन में अन्धी उलूकी होती है ॥ ३५ ।

इसलिये स्त्री को बड़े ही प्रयत्नपूर्वक सुख के आभास मात्र परपुरुष के दुःस्पर्श से पुण्यभाजन अपने इस शरीर की सर्वथा रक्षा करना ही विधेय है ॥ ३६ ।

क्या पतिव्रता नारी ने भर्ता के अधीन किये हुए अपने इसी (भौतिक) शरीर से आज्ञा देकर उदय होते हुए सूर्यनारायण को नहीं रोक दिया था ? ॥ ३७ ।

अत्रिपत्न्यनुसूया किं भर्तृभक्तिप्रभावतः ।
दधार न त्रयीं गर्भे पतिव्रतपरायणा ॥ ३८ ।

इह कीर्तिश्च विपुला स्वर्गे वासस्तथाऽक्षयः ।
पातिव्रत्यात् स्त्रिया लभ्यं सखित्वं च श्रिया सह ॥ ३९ ।

सा दुर्वृत्त्या परित्यज्य पतिधर्मं सनातनम् ।
स्वच्छन्दचारिणी भूत्वा मृता निरयमुद्ययौ ॥ ४० ।

यामासुः । तदैवान्धकारभूतायां रजन्यां वेश्याभिलाषुकं भर्तारं स्कन्धमारोप्य तद्गृहं नयन्ती पतिव्रता शूलस्थमाण्डव्यमज्ञानात् संघट्टयामास । ततो दुःखाक्रान्तेन तेनोक्तं यस्य प्रियं चिकीर्षन्त्या त्वयैवं कृतं स तु सूर्योदयो म्रियताम्, तच्छ्रुत्वाऽतिदुःखितया तयोक्तं यद्यहं पतिव्रता स्यां तदा सूर्यो नोदेतु । तदा तदाज्ञया सूर्यो नोदयं चकारेति" ॥ ३७ ।

त्रयीं वेदत्रयात्मिकां ब्रह्मविष्णुशिवांशसोमदत्तात्रेयदुर्वासोऽभिधामित्यर्थः । एवं हि श्रूयते तत्रैव—"पतिव्रताया वाक्यात् सूर्याऽनुदये सृष्टिलोपमाकलय्य सेन्द्रैर्देवैः सहिता ब्रह्मविष्णुरुद्रा अत्रिपत्नीमनसूयामूचुः । पतिव्रतायाः शापभयात् सूर्यो नोदेति तदभावाच्च जगन्नश्यत्यतः पतिव्रताशिरोमण्या भवत्या प्रसादनीया यथा सूर्योद्गमाय सा स्वाच्छंन्द्यं ददाति । तदा तयोक्तं तदैवं मया सम्पाद्यते यदि भवन्तो मम पुत्रा भवेयुः । तथैव तैः स्वीकृते तया च तथा साधिते सोमदत्तदुर्वाससो ब्रह्मविष्णुरुद्रांशास्त्रयः पुत्राः संबभूवुः" इति ॥ ३८ ।

न केवलं पातिव्रत्यरक्षणं गुणमानं परमसुखलाभश्चेत्याह । इह कीर्तिश्चेति ॥ ३९ ।

प्रस्तुतमाह । सा दुर्वृत्त्येति । सा धनञ्जयमाता दुर्वृत्त्या पतिधर्मं परित्यज्येति सम्बन्धः । सा दुर्वृत्तेति क्वचित् ॥ ४० ।

अत्रि मुनि की पत्नी परम पतिव्रता अनसूया ने भर्ता के ही भक्ति-प्रभाव से क्या वेदत्रितयस्वरूप सोम, दत्तात्रेय एवं दुर्वासा को अपने गर्भ में नहीं धारण किया ? ॥ ३८ ।

स्त्री सतीत्व बल से इस लोक में विपुलकीर्ति तथा स्वर्ग में अक्षयवास एवं लक्ष्मी देवी के साथ सखीभाव को प्राप्त करती है ॥ ३९ ।

सो वह धनंजय की जननी दुर्वृत्ति से सनातन पतिव्रता धर्म को तिलांजलि देकर स्वैरचारिणी होने से मरने पर नरकगामिनी हुई ॥ ४० ।

धनञ्जयोऽपि च मुने केनचिच्छिवयोगिना ।
साधं तपोदयादित्थं सोऽभवद्धर्मतत्परः ॥ ४१ ।
धनञ्जयोऽपि धर्मात्मा मातृभक्तिपरायणः ।
आदायाऽस्थीन्यथो मातुर्गङ्गामार्गस्थितोऽभवत् ॥ ४२ ।
पञ्चगव्येन संस्नाप्य ततः पञ्चामृतेन वै ।
यक्षकर्दमलेपेन लिप्त्वा पुष्पैः प्रपूज्य च ॥ ४३ ।
आवेष्टय नेत्रवस्त्रेण ततः पट्टाम्बरेण वै ।
ततः सुरसवस्त्रेण ततो मञ्जिष्ठवाससा ॥ ४४ ।

ननु निकृष्टजातो जातस्य धनञ्जयस्य कथं पूर्वोक्तगुणत्वं तत्राह । धनञ्जयोऽपि-चेति । अपि चेति समुच्चये । शिवयोगिना सार्धं तपोदयात् शिवयोगिनः सङ्गमात् तपस उदयादित्यर्थः । विसर्गलोपेऽपि सन्धिरार्षः । तपश्च दया च तपोदयं तस्मादिति वा । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण इत्थं केनापि भाग्योदयेनेति वा ॥ ४१ ।

इत्थं प्रसक्तानुप्रसक्तमुक्त्वा प्रस्तुतमाह । धनञ्जयोऽपीति । गङ्गामार्गस्थितोऽ-भवत्, गङ्गामार्गेण गङ्गाद्वारमार्गेण सेतुबन्धाद्येन मार्गेण हरिद्वारं गम्यते तेन मार्गेण प्रस्थानं कृतवानित्यर्थः । यद्वा गङ्गाः कावेर्याद्याः पञ्च । तदुक्तम्—

कावेरी तुङ्गभद्रा च कृष्णा वेण्या च गौतमी ।
भागीरथीति विख्याताः पञ्चगङ्गाः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

तासां मार्गे वर्त्मनि स्थितः प्रस्थितोऽभूत् । श्रीरंगानन्तशायिराजमहेन्द्रसिंहाद्रि-कूर्मपुरुषोत्तमभागीरथीसंगमपथा प्रस्थानं कृतवानित्यर्थः । त्रिस्थलीकर्तुमिति शेषः ॥ ४२ ।

पञ्चगव्येनेत्यादि पञ्चभिर्वाक्यम्[1] । अहो कष्टे हर्षे वा । वणिग्धनञ्जयो मातुरङ्गान्यस्थीनि ताम्रसम्पुटे कृत्वाऽऽनयन्मध्येमार्गं मार्गस्य मध्ये ज्वरितो ज्वरेण व्याप्तोऽपिशब्दात्सार्थहीनश्चासीदित्यन्वयः । अथो वणिगिति पाठे आनयन् सन् अथोऽनन्तरं ज्वरित आसीदित्यर्थः । पुनः किं कृत्वा ? यक्षकर्दमलेपेन कर्पूरागुरुकस्तूरी-

---

मुनिवर ! धनंजय (ऐसी दुश्चरित्रा का पुत्र होने पर भी भाग्यवश) किसी शिवयोगी की संगति पाकर तपोबल से वैसा धर्मतत्पर हो गया था ॥ ४१ ।

अनन्तर माता की मृत्यु हो जाने पर जननी-भक्तिपरायण धर्मात्मा धनंजय अपनी माता की हड्डियों को लेकर पहले तो उसे पंचगव्य से धोकर पंचामृत से नहलाया, फिर यक्षकर्दम का लेपन कर उत्तम पुष्पों से पूजन किया ॥ ४२-४३ ।

अनन्तर नैनू में लपेट पट्टवस्त्र से बांधा । फिर कपास के कपड़े से वेष्टित कर मजीठ के रंगे हुए वस्त्र का वेष्टन लगाया ॥ ४४ ।

---

१. अत एव पञ्चश्लोकस्थपदानां मिश्रणेनैकमेव व्याख्यानम् ।

नेपालकम्बलेनाऽथ मृदा चाऽथ विशुद्धया ।
ताम्रसम्पुटके कृत्वा मातुरङ्गान्यहो वणिक् ॥ ४५ ।
अस्पृष्टहीनजातिः स शुचिष्मान् स्थण्डिलेशयः ।
आनयन् ज्वरितोऽप्यासीन्मध्येमार्गं धनञ्जयः ॥ ४६ ।
भारवाहः कृतस्तेन कश्चिद्दत्वोचितां भृतिम् ।
किं बहूक्तेन घटज काशी प्राप्ताऽथ तेन वै ॥ ४७ ।
धृत्वा संभृतिरक्षार्थं भारवाहं धनञ्जयः ।
जगामापणमानेतुं किञ्चिद्वस्त्वशनादिकम् ॥ ४८ ।
भारवाह्यन्तरं प्राप्य तस्य संभृतिमध्यतः ।
ताम्रसम्पुटमादाय धनं ज्ञात्वा गृहं ययौ ॥ ४९ ।

कंकोलपिष्टलेपेन । यद्वा, लिप्यतेऽनेनेति लेपो यक्षकर्दमरूपो लेपस्तेन लिप्त्वा । अथाऽनन्तरं विशुद्धया मृदा गोपीचन्दनप्रमुखया च लिप्त्वा । पुनः किं कृत्वा ? नेत्रवस्त्रेण गौडे नैनू इति प्रसिद्धेन वस्त्रेण वेष्टयित्वा । अस्याऽग्रेऽपि चतुर्षु पदेषु सम्बन्धः । सुरसवस्त्रेण चिक्कणकार्पासवस्त्रेण । माञ्जिष्ठवाससा मञ्जिष्ठेन रक्तवाससा । नेपालकम्बलेन नेपालदेशोद्भवेन कम्बलेन । शुचिष्मान् पावित्र्यवान् । स्थण्डिलेशयो भूमिशायी । भृतिः कर्ममूल्यम् ॥ ४३-४६ ।

संभृतिरक्षार्थं सामग्रीरक्षार्थम् । आपणं पण्यवीथिकाम् । अश्यते भुज्यते इत्यशनं तदादिकं वस्तु । आदिपदेन स्नानश्राद्धविश्वेश्वरादिदेवपूजाद्रव्यं गृह्यते ॥ ४८ ।

अन्तरं छिद्रमवसरं वा ॥ ४९ ।

उसके ऊपर से नेपाली कम्बल से ढाँपकर शुद्ध मृत्तिका से लिप्तकर उस बनिया ने माता की हड्डियों को एक ताँबे के संपुट (डब्बा) में रखकर गंगा में प्रक्षेप करने के लिये सेतुबन्ध से उत्तर दिशा के मार्ग द्वारा प्रस्थान किया ॥ ४५ ।

वह मार्ग में नीच-जातियों का छूआछूत बँचाता हुआ पवित्रतापूर्वक, रात्रि में भूमिशयन इत्यादि करता रहा । इससे धनंजय को ज्वर आ गया ॥ ४६ ।

तब तो उन सब सामग्रियों को लेकर अकेले मार्ग का चलना कठिन समझ उचित वेतन देकर एक भारवाही (मजूर) को संग ले लिया । हे कुंभज ! बहुत कहाँ तक कहें, बड़े कष्ट से वह काशी में पहुँचा ॥ ४७ ।

अनन्तर धनंजय वहाँ पहुँच जाने पर अपनी वस्तुवों के रक्षार्थ उसी भारवाही को नियुक्त कर आपण (हाट बाजार) में कुछ भोजन इत्यादि की सामग्री लेने के लिये चला गया ॥ ४८ ।

इसी अवसर में वह भारवाही निर्जन (निराला) देखकर उसको गठरी में से वही तामे का डब्बा लेकर उसे (बहुमूल्य) धन समझ भाग गया ॥ ४९ ।

वासस्थानमथागत्य तमदृष्ट्वा धनञ्जयः ।
त्वरावान् संभृतिं वीक्ष्य ताम्रसम्पुटवर्जिताम् ॥ ५० ।
हा हेत्याताड्य हृदयं चक्रन्द बहुशो भृशम् ।
इतस्ततस्तमालोक्य गतस्तदनुसारतः ॥ ५१ ।
अकृत्वा जाह्नवीस्नानमनवेक्ष्य जगत्पतिम् ।
तस्य संवसथं प्राप्तो भारवोढुर्धनञ्जयः ॥ ५२ ।
भारवाडप्यरण्यान्यां ताम्रसम्पुटमध्यतः ।
दृष्ट्वाऽस्थीनि विनिःश्वस्य तानि त्यक्त्वा गृहं ययौ ॥ ५३ ।
वणिक् च तद्गृहं प्राप्य शुष्ककण्ठोष्ठतालुकः ।
दृष्ट्वाऽथ चैलशकलं तृणकुटचन्तरे तदा ॥ ५४ ।

संभृतिं सामग्रीम् । ताम्रसम्पुटवर्जितां ताम्रसमुद्गकरहिताम् ॥ ५० ।

चक्रन्द अरोदीत् । तदनुसारतस्तस्य भारवाहकस्याऽनुसारतोऽनुसारायाऽन्वेषणायेत्यर्थः ॥ ५१ ।

संवसथं गृहम् ॥ ५२ ।

भारं वहतीति भारवाट् । अरण्यान्यां महारण्ये । तानि अस्थीनि ॥ ५३ ।

चैलशकलं येन वस्त्रखण्डेन संछाद्याऽस्थीन्यानीतानि तच्चैलशकलमित्यर्थः । अन्तरे मध्ये उपरीति वा ॥ ५४ ।

पश्चात् वह वणिक धनंजय वासस्थान (डेरा) पर आकर उस भारवाही को न देख झटपट जब अपनी गठरी देखने लगा, तब उसे तामे के डब्बे से शून्य पाया ॥ ५० ।

तब तो वह हाय ! हाय ! करता हुआ छाती पीटकर कातर भाव से बहुत ही रोदन करने लगा । अन्ततोगत्वा भारवाही (कुली) को इधर उधर अच्छी रीति से ढूँढ-ढाँढ कर फिर उसके घर की ओर लौट पड़ा ॥ ५१ ।

धनंजय गंगा का स्नान और विश्वनाथ का दर्शन बिना किये ही उस बोझिया के घर जा पहुँचा ॥ ५२ ।

इधर बोझिया भी काशी से चलकर गहन बन में जाय, उस डब्बे को खोलकर उसमें हड्डी के टुकड़ों को देख मनमुआ होकर उन सब को फेंक अपने घर की ओर चला गया ॥ ५३ ।

प्यास के मारे कण्ठ, ओठ, तालु को सुखाता हुआ बनिया भी उसके घर पर पहुँच, वहाँ झोपड़े के ऊपर डब्बे के वेष्टन का एक टुकड़ा कपड़ा देखकर, आशाबद्ध

आशया किञ्चिदाश्वस्य तत्पत्नीं परिपृष्टवान् ।
सत्यं ब्रूहि न भेतव्यं दास्याम्यन्यदपि ध्रुवम् ।। ५५ ।
वसु क्व ते गतो भर्ता मातुरस्थीनि मेऽर्पय ।
वयं कार्पटिका भद्रे भवामो न च दुःखदाः ।। ५६ ।
अज्ञात्वा लोभवशतस्तेन नीतोऽस्थिसम्पुटः ।
तस्यैष दोषो नो भद्रे मातुर्मे कर्म तादृशम् ।। ५७ ।
अथवा न प्रसूदोषो मन्दभाग्योऽस्मि तत्सुतः ।
सुतेन कृत्यं यत्कृत्यं तत्प्राप्तिर्नास्ति भिल्लि मे ।। ५८ ।
उद्यमं कृतवानस्मि न सिद्धयेन्मन्दभाग्यतः ।
आयातु सत्यवाक्यान्मे मा बिभेतु वनेचरः ।। ५९ ।

आशयाऽस्थीनि प्रासव्यानीति वाञ्छया। आश्वस्य विश्रम्य विश्वासं कृत्वेति वा। आश्वास्येति पाठे तत्पत्नीं विश्वासं संजनयित्वा पृष्टवानित्यर्थः ।। ५५ ।

आश्वासमेवाह। इत्युक्तेत्यतः प्राक्तनेन। वसु धनम् ।। ५६ ।

अस्थ्नामाधारः सम्पुटोऽस्थिसम्पुटः। अथ सम्पुट इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ।। ५७ ।

भो भिल्लि हे शबरि ।। ५८ ।

हो, बोझिया की स्त्री से पूछने लगा, अरे ! सच कह, तुझे कोई डर नहीं है। हम निश्चय तुझे और भी धन देंगे ।। ५४-५५ ।

तेरा भर्ता कहाँ गया है ? हमारी माता की हड्डियाँ दे दे, हे भिल्लिन् ! हम लोग कार्पटिक हैं, किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते ।। ५६ ।

तेरा स्वामी अज्ञानवश लोभ में पड़कर हाड़ का संपुट उठा लाया। शबरी ! इसमें उसका कुछ दोष नहीं है। मेरी माता ही का वैसा कर्म था (जिससे ऐसी घटना हो गयी) ।। ५७ ।

अथवा माता का भी कोई दोष नहीं, यह सब मेरे ही मन्दभाग्य का फल है। हे भीलिन् ! माता के लिये पुत्र को जो कर्म करना चाहिए, वह मेरे भाग्य में ही नहीं है ।। ५८ ।

मैंने तो यथासाध्य बड़ा उद्यम किया, पर अदृष्टवश वह नहीं सिद्ध हुआ, (तो क्या करें ?) अस्तु, मैं सच कहता हूँ, वनेचर चला आवे, कोई भी डर न करे ।।५९ ।

अस्थीनि दर्शयत्वाशु धनं दास्येऽधिकं ततः ।
इत्युक्ता तेन सा भिल्ली व्याजहार निजं पतिम् ॥ ६० ।
लज्जानम्रशिराः सोऽथ वृत्तान्तं विनिवेद्य च ।
निनाय तामरण्यानीं शबरस्तं धनञ्जयम् ॥ ६१ ।
वनेचरोऽथ तत्स्थानं दैवाद्विस्मृतवान् मुने ।
दिग्भ्रान्ति समवाप्याऽथ परिबभ्राम कानने ॥ ६२ ।
इतोऽरण्यात्ततो याति ततोऽरण्यादितो व्रजेत् ।
वनाद्वनान्तरं भ्रान्त्वा खिन्नः सोऽपि वनेचरः ॥ ६३ ।
विहाय मध्येऽरण्यानि तं ययौ च स्वपक्कणम् ।
द्वित्राण्यहानि संभ्रम्य स कार्पटिकसत्तमः ॥ ६४ ।
क्षुत्क्षामः शुष्ककण्ठोष्ठो हा हेति परिदेवयन् ।
पुनः काशीं पुरीं प्राप्तः परिम्लानमुखो वणिक् ॥ ६५ ।

अधिकं बहु ॥ ६० ।

अरण्यानी महारण्यम् । शबरो भिल्लः ॥ ६१ ।

वनादिति । विहाय मध्येऽरण्यानि सर्वेष्वरण्येषु मध्ये येष्वस्थीनि प्रक्षिप्तानि तान्यरण्यानि विहाय वनाद्वनान्तरं भ्रान्त्वा खिन्नः सन् तं प्रसिद्धं स्वपक्कणं स्वीयं शबरालयं ययावित्यन्वयः ॥ ६३ ।

द्वे च त्रीणि च द्वित्राणि अहानि पञ्चदिनानीत्यर्थः ॥ ६४ ।

परिदेवयन् परितापं कुर्वन् ॥ ६५ ।

उन हड्डियों को मुझे शीघ्र ही दिखला देवे, मैं उसे और भी बहुत रूपया दूँगा, उसके इस प्रकार से समझा देने पर भिल्ली ने अपने पति से कहा ॥ ६० ।

अनन्तर वह बोझिया भी लज्जा के मारे शिर झुकाये हुए आकर धनंजय से सब वृत्तान्त कह गया । अन्ततः उस बड़े वन में उसे लिवा ले गया ॥ ६१ ।

मुने ! देववश वनेचर उस स्थान को भूल गया, वह दिशाभ्रम हो जाने से वन में इधर उधर घूमकर चक्कर देने लगा ॥ ६२ ।

भ्रान्तचित्त वह भिल्ल एक वन से दूसरे वन में बारंबार घूमता हुआ जब थक कर शिथिल हो गया, तब धनंजय को उसी घोर वन में छोड़ अपने पुरवा में भाग गया । अनन्तर वह वणिक्सत्तम दो तीन दिन तक उसी वन में परिभ्रमण करके अन्त में क्षुधा से कातर और तृषा से शुष्क कण्ठोष्ठ हो जाने पर हाहाकार ध्वनि से सन्ताप करता हुआ अत्यन्त म्लानमुख होकर फिर काशीपुरी में लौट आया ॥ ६३-६५ ।

तन्मन्दभाग्यतां श्रुत्वा लोकात्कार्पटिको मुने।
कृत्वा गयां प्रयागं च ततः स्वविषयं ययौ ॥ ६६ ।
काश्यां प्रवेशं प्राप्याऽपि तदस्थीनि घटोद्भव।
विना वैश्वेश्वरीमाज्ञां बहिर्यातानि तत्क्षणात् ॥ ६७ ।
एवं काश्यां प्रविश्याऽपि पापी धर्मानुषङ्गतः।
न क्षेत्रफलमाप्नोति बहिर्भवति तत्क्षणात् ॥ ६८ ।
तस्माद्विश्वेश्वराज्ञैव काशीवासेऽत्र कारणम्।
असिश्च वरणा यत्र क्षेत्ररक्षाकृतौ कृते ॥ ६९ ।
वाराणसीति विख्याता तदारभ्य महामुने।
असेश्च वरणायाश्च सङ्गमं प्राप्य काशिका ॥ ७० ।

तन्मन्दभाग्यतां तस्या मातुः परपुरुषगामिताम्। कर्पटेन रक्तवासादिना व्यवहरतीति कार्पटिकः। स्वविषयं स्वीयं देशम् ॥ ६६ ।

दृष्टान्तं विनिगमय्य दार्ष्टान्तिके विनिगमयति काश्यामिति द्वयेन ॥ ६७ ।

धर्माऽनुषङ्गतः प्राक्तनपुण्यवशादित्यर्थः। क्षेत्रफलं कैवल्यम्। तत्र हेतुर्बहिर्भवतीति ॥ ६८ ।

परमप्रकृतमुपसंहरति। तस्मादिति। वाराणसी नाम निर्वक्ति। असिश्चेति सार्धेन। यत्र यस्मिन् कानने असिर्वरणा च द्वे नद्यो क्षेत्ररक्षाकृतौ कृते क्षेत्ररक्षां कुरुत इति क्षेत्ररक्षाकृतौ। क्षेत्ररक्षाकरणे निमित्त इति वा। कृते देवैः सम्पादिते ॥ ६९ ।

तदारभ्य तं कालमारभ्य हे महामुनेऽगस्त्य असेश्च वरणायाश्च संगमं प्राप्य काशिका वाराणसीति विख्याता प्रख्यातेत्यर्थः ॥ ७० ।

फिर वहाँ पर लोगों के मुख से पाप के ही कारण माता को मन्दभाग्यता सुनकर गया और प्रयाग में तीर्थकार्य करके अपने देश को चला गया ॥ ६६ ।

अगस्त्यमुने ! (देखो, उस व्यभिचारिणी) धनंजय की माता की हड्डियां काशी में आ जाने पर भी विश्वेश्वर की आज्ञा न होने से उसी क्षण बाहर निकाल दी गईं ॥ ६७ ।

इसी प्रकार से पापीजन प्राक्कृत पुण्यवश काशीक्षेत्र में प्रवेश करने पर भी क्षेत्र के फल को कदापि नहीं पा सकता है, वरन् तुरन्त ही वहाँ से बाहर निकाल दिया जाता है ॥ ६८ ।

इन्हीं सब कारणों से यह निश्चय होता है कि काशी में निवास करने के लिये भगवान् विश्वेश्वर की आज्ञा ही प्रधान मूल है; क्योंकि यहाँ पर असि और वरणा ये दोनों ही नदियाँ रक्षा करने के हेतु ही बनाई गई हैं ॥ ६९ ।

हे महामुने ! असि और वरणा के संगम पाने से ही यह काशीपुरी "वाराणसी" नाम से विख्यात हुई है ॥ ७० ।

वाराणसीह करुणामयदिव्यमूर्तिरुत्सृज्य
यत्र तु तनुं तनुभृत्सुखेन ।
विश्वेशदृङ्महसि यत्सहसा प्रविश्य
रूपेण तां वितनुतां पदवीं दधाति ॥ ७१ ।

जातो मृतो बहुषु तीर्थवरेषु रे त्वं
जन्तो न जातु तव शान्तिरभून्निमज्ज्य ।
वारणसी निगदतीह मृतोऽमृतत्वं
प्राप्याऽधुना मम बलात्स्मरशासनः स्याः ॥ ७२ ।

अतिहर्षेण पुनरपि काशीं वर्णयति। वाराणसीहेत्यारभ्यारुद्ररुद्राक्षेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। इह जगति या वाराणसी, सा करुणामयदिव्यमूर्तिः करुणामयी चासौ दिव्याऽलौकिकीमूर्तिश्च करुणामयी दिव्यामूर्तिर्यस्याः सा तथेति वा। उभयत्र हेतुमाह। उत्सृज्य यत्रेति । यत्र यस्यां वाराणस्यां तनुभृत् प्राणिमात्रं सुखेन तु सुखेनैव तनुमुत्सृज्य यद्यस्माद्विश्वेशदृङ्महसि विश्वस्येशो विश्वेशो विश्वश्चासावीशश्चेति वा स चासौ दृङ् ज्ञानं च तच्च तन्महः स्वप्रकाशं च तस्मिन् विश्वेशदृङ्महसि लक्ष्ये तत्पदार्थ इत्यर्थः। सहसा तत्क्षणाद्देहत्यागाव्यवहितसमय इत्यर्थः। रूपेणाऽखण्डसच्चिदात्मकेन लक्ष्येण त्वं पदार्थेन प्रविश्य प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यमनुभूयेत्येतत्। तां प्रसिद्धां वितनुतां पदवीं विगतदेहभावां कैवल्याख्यां मुक्तिं दधाति धारयति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७१ ।

जात इति। वाराणसीति निगदतीत्यन्वयः। किं निगदति। रे हे जन्तो बहुषु तीर्थवरेषु निमज्ज्य स्नानादिकं विधाय त्वं जातो मृतश्च षड्भावविकारादीन् प्राप्तवानसीत्यर्थः। जातु कदाचिदपि तव शान्तिर्नाऽभूत्। अतोऽधुना इह अस्यां मयि मृतः सन्नमृतत्वं प्राप्य सायुज्यं लब्ध्वा स्मरशासनः स्याः विश्वेश्वरो भूयाः। तत्र हेतुर्मम बलादिति। स्मरशासनस्येति पाठे मम स्मरशासनस्य च बलादमृतत्वं प्राप्य तव शान्तिर्भवितेति शेष इत्यर्थः। अथवैवमन्वयः। बहुषु तीर्थवरेषु निमज्ज्य मृतः अन्तर्जले त्यक्तप्राणोऽपि त्वं जात इत्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥ ७२ ।

इस संसार में वाराणसी साक्षात् करुणामयी अलौकिक मूर्ति है; क्योंकि जहाँ पर प्राणिमात्र सुखपूर्वक देह त्याग कर उसी समय विश्वेश्वर की ज्ञानरूप ज्योति में प्रवेश करके तद्रूप कैवल्य पद को धारण कर लेता है ॥ ७१ ।

वाराणसी यह कहा करती है कि—"रे प्राणियों ! तुम संसार में अनेक बार उत्पन्न हुए और बहुत से तीर्थों में नहाकर मृत्यु के वशंगत हुए; परन्तु कभी भी तुमको शान्ति-सुख नहीं मिला, (अस्तु) यदि अब तुम मेरे बल से मृत हो सको तो अमृतत्व लाभ करके महादेव हो जाओ ॥ ७२ ।

अन्यत्र तीर्थसलिले पतितो द्विजन्मा
देवादिभावमयते न तथा तु काश्याम् ।
चित्रं यदत्र पतितः पुनरुत्थिर्तिं न
प्राप्नोति पुल्कसजनोऽपि किमग्रजन्मा ॥ ७३ ।

सैषा पुरी संसृतिरूपपारावारस्य
पारं पुरहा पुरारिः ।
यस्यां परं पौरुषमर्थमिच्छन्
सिद्धिं नयेत्पौरपरम्परां सः ॥ ७४ ।

एतद्विवृणोति । अन्यत्रेति । अन्यत्राऽयोध्यादौ तीर्थसलिले पतितो मृतः सन् द्विजन्मा देवादिभावं वैकुण्ठादि सालोक्यभावमयते प्राप्नोति काश्यां तु तथा नेत्यर्थः । तुशब्दोक्तं विशेषं दर्शयति । चित्रमिति । अहो एतच्चित्रम् । किं तत् ? अत्र कुत्राऽपि पुल्कसजनोऽपि पतितः सन् पुनरुत्थिर्तिं पुनर्देहसम्बन्धं न प्राप्नोति । अग्रजन्मा ब्राह्मणो न प्राप्नोतीति किं वक्तव्यमिति यत् । यद्वा, तुशब्दोक्तविशेषमेव हेतुमाह । चित्रमिति । यद्यस्मात् । शेषं पूर्ववत् ॥ ७३ ।

सैषेति । सा एषा काशीपुरी सा केत्याकाङ्क्षायामाह । यस्यां काश्यां स प्रसिद्धः पुरारिस्त्रिपुारिः, परं पौरुषमर्थमिच्छन् पुरुषकारप्राप्यं परमर्थं कैवल्यं दातुं वाञ्छन्नित्यर्थः । पौरपरम्परां पुरसम्बन्धि प्राणिसमुदायं संसृतिरूपपारावारस्य संसाररूपसमुद्रस्य पारमवधिमधिष्ठानं समाप्तिं वा यथा स्यात्तथा सिद्धिं तारकोपदेशरूपां ब्रह्मविद्यामित्यर्थः । नयेत् प्रापयेत् । अर्थ सिद्धिं नित्यमिति पाठे परं पौरुषमिति क्रियाविशेषणम् । नित्यं पारं नयेदित्येवं सम्बन्धः । कथम्भूतः ? पुरहा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तः सन् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिलक्षणं पुरं हन्तीति तथा । प्राक्तनं व्याख्यानं स्पष्टम् । [1]पुरुष इति पाठे पूर्ण इत्यर्थः ॥ ७४ ।

अन्यत्र तीर्थजल में शरीर-त्याग करने से केवल द्विज ही देवादि पदत्व को प्राप्त कर सकता है; परन्तु काशी में वैसा नहीं है, यहाँ तो यह बड़ी विचित्रता है कि ब्राह्मण क्या यदि चाण्डाल मनुष्य भी मर जावे, तो जन्म की पुनरावृत्ति से रहित मुक्त ही हो जाता है ॥ ७३ ।

काशीपुरी (अपार) संसाररूपी पारावार (समुद्र) को पारस्वरूपा है; (क्योंकि) जहाँ पर पुरान्तक भगवान् त्रिपुरारी, पुरवासी जन की परम्परा को इच्छानुसार परमपुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त करा देते हैं ॥ ७४ ।

---

१. पुरहेत्यत्र ।

तीर्थान्तराणि मनुजः परितोऽवगाह्य
हित्वा तनुं कलुषितां दिवि दैवतं स्यात् ।
वाराणसीपरिसरे तु विसृज्य देहं
सन्देहभाग्भवति देहदशाप्तयेऽपि ॥ ७५ ॥

वाराणसी समरसीकरणादृतेऽपि
योगादयोगिजनतां जनतापहन्त्री ।
तत्तारकं श्रवणगोचरतां नयन्तो
तद् ब्रह्म दर्शयति येन पुनर्भवो न ॥ ७६ ॥

तीर्थान्तराणीति । कलुषितां पापसम्बन्धां तनुं वाराणसीपरिसरे वाराणस्याः पर्यन्तभुवि यत्र कुत्राऽपि प्रदेश इत्यर्थः । हित्वा त्यक्त्वा देहदशाप्तयेऽपि सायुज्यादि-मुक्तिप्राप्तयेऽपि सन्देहभाग्भवति किमुत सामान्यदेवतान्तरप्राप्त्यै । विदेहकैवल्यमेव प्रायेण प्राप्नोतीति भावः । तथा चोक्तम्—

काश्यामवश्यं त्यजतां शरीरं शरीरिणां नास्ति पुनः शरीरम् ।
यद्यस्ति कण्ठे गरलं ललाटे त्रिलोचनं चन्द्रकला च मौलौ ॥ इति ।

अत एव सन्देहभाग्भवतीत्युक्तम् ॥ ७५ ॥

वाराणसीति । या वाराणसी सा योगादष्टाङ्गरूपाज्जीवब्रह्मणोरैक्यचिन्तन-रूपात् समरसीकरणादृतेऽपि समं ब्रह्म तत्र रसो रागस्तत्करणादृतेऽपि ब्रह्माभ्यासं विनाऽपीत्यर्थः । अयोगिजनतां जनतापहन्त्री योगरहितजनसमुदायस्य अज्यतेऽनेनेत्यञ्जन-मुपाधिरज्ञानमित्येतत् । अजनेति पाठे अजामेकामित्यादिश्रुतेरजनमज्ञानमेव जननं जनो जन्मेति वा । अस्मिन् पक्षे जन्मान्तरभावित्वादाध्यात्मिकादितापत्रयस्य तत्कृतत्वमिति ज्ञातव्यम् । तत्कृताध्यात्मिकादितापत्रयच्छेत्रीत्यर्थः । अयोगिजनतामज्ञजनसमूहं तद्-ब्रह्म दर्शयतीति वाऽन्वयः । तर्हि तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयना-येत्यादिश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्याह । तत्प्रसिद्धं तारकं प्रणवं षडक्षररामममन्त्रराजं वा

मनुष्य दूसरे तीर्थों में बारंबार स्नान करने से कलुषित शरीर को छोड़कर स्वर्ग में देवशरीर धारण करता है; परन्तु इस वाराणसी की प्रान्तभूमि में कहीं पर देहत्याग करने से फिर देह धारण करने में सन्देहभागी हो जाता है (अर्थात् प्रायः विदेह कैवल्य ही प्राप्त होता है । सारूप्यादि तो थोड़ा ही मिलता है, टीका का भाव है) ॥ ७५ ॥

सभी जनों की त्रितापहंत्री यह वाराणसी, योगाभ्यासरहित लोगों को (मृत्यु के समय) जीवात्मा और परमात्मा (जोव-ब्रह्म) के एक समान करने वाले तत्त्वज्ञान

वाराणसीपरिसरे तनुमिष्टदात्रीं
धर्मार्थकामनिलयामहहा विसृज्य ।
इष्टं पदं किमपि हृष्टतरोऽभिलष्य
लाभोऽस्तु मूलमपि नो यदवाप शून्यम् ॥ ७७ ।
आः काशिवासिजनता ननु वञ्चिताऽभूद्
भाले विलोचनवता वनिताऽर्धभाजा ।
आदाय यत्सुकृतभाजनमिष्टदेहं
निर्वाणमात्रमपवर्जयता पुनर्भु ॥ ७८ ।

श्रवणगोचरतां प्रापयन्ती तद् ब्रह्म दर्शयति कीदृशं ब्रह्म ? येन ब्रह्मदर्शनेन ज्ञानात्मकेन ब्रह्मणा पुनर्भवो न भवति तादृशमित्यर्थः। यद्यपि विश्वेश एव तारकोपदेष्टा, तथापि काश्यां मृतानामेवोपदिशतीति सैव दर्शयतीत्युच्यत इति ॥ ७६ ।

वाराणसीति। अहहेति खेदे। यो जनः किमपि वाङ्मनसयोरगोचरमिष्टं पदं स्थानमभिलष्य वाराणसीपरिसरे इष्टदात्रीं तनुम्। इष्टदातृत्वे हेतुर्धर्मार्थकामनिलयाम्। चतुर्णां निलयत्वेऽपि मोक्षस्य सिद्धत्वादेवमुक्तम्। आविसृज्य सवासनं कारणं त्यक्त्वेत्यर्थः। हृष्टतरो हर्षवत्तरो भवति। तस्य जनस्य लाभोऽस्तु लाभस्तावत्तिष्ठतु मूलमपि नो स्वयमपि न तिष्ठतीत्यर्थः। यद्यतः शून्यं शून्यसदृशम्। तथा च भागवते—

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थाननिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधते ॥ इति।

अवाप प्राप्तवान्। विरोधाऽलङ्कारोऽयम् ॥ ७७ ।

एतद्विवृणोति। आ इति। आः कोपे पीडायां वा। भाले ललाटे विलोचनवता विशिष्टनेत्रवता वनिताऽर्धभाजा वनिताया भवान्या अर्धं देहं भजत इति वनिताऽर्धभाजा तेन विश्वेश्वरेण काशिवासिजनता ननु निश्चितं वञ्चिताऽभूत्। कुत इत्याशङ्क्य हेतु-

---

के विना ही प्रसिद्ध तारक मन्त्र को श्रवणगोचर कराती हुई उस परब्रह्म का साक्षात्कार करा देती है, जिसके द्वारा पुनर्जन्म ही नहीं होता ॥ ७६ ।

अभीष्टपद (मोक्ष) की आशा से जो कोई धर्मार्थ-कामों के निलय अपने शरीर को वाराणसी के प्रान्तस्थान में त्याग न करके अत्यन्त हर्षित होता है, उसके ऊपर बड़ा ही खेद है; क्योंकि उसका इष्टलाभ तो दूर ही रहे, मूलशरीर भी न रह गया और वह कुछ भी न हुआ ॥ ७७ ।

आः ! काशीवासी मनुष्यों का समूह भगवान् भालनेत्र अर्धनारीश्वर विश्वनाथ के द्वारा सुकृतों के पात्र इष्टशरीर को लेकर (उसके बदले में) पुनर्जन्म से रहित एकमात्र निर्वाण दान करके निश्चय वंचित कर दिया गया है ॥ ७८ ।

वाराणसी स्फुरदसीमगुणैकभूमि-
यंत्र स्थितास्तनुभृतः शशिभृत्प्रभावात् ।
सर्वे गले गरलिनोऽक्षियुजो ललाटे
वामार्धवामतनवोऽतनवस्ततोऽन्ते ॥ ७९ ।
आनन्दकाननमिदं सुखदं पुरैव
तत्रापि चक्रसरसी मणिकर्णिकाऽथ ।
स्वःसिन्धुसङ्गतिरथो परमास्पदं च
विश्वेशितुः किमिह तन्न विमुक्तये यत् ॥ ८० ।

पूर्वकं तं विशिनष्टि । यद्यस्मात् सुकृतस्य भाजनं पात्रमभिलषितदेहमादाय गृहीत्वा निर्वाणमात्रमपवर्जयता प्रयच्छता । कथम्भूतं निर्वाणमात्रम् । अपुनर्भु न विद्यते पुनर्भूर्जन्म यस्मिंस्तत् ॥ ७८ ।

वाराणसीति । या वाराणसी सा स्फुरदसीमगुणैकभूमिः स्फुरन्तश्च ते येऽसीमगुणा ये निरवधिका गुणाः करुणामयत्वमोक्षदातृत्वाद्यास्तेषामेकभूमिर्मुख्यमधिष्ठानम् । तत्र हेतुर्यत्र स्थिता इत्यादि । यत्र यस्यां वाराणस्यां स्थिता मरणपर्यन्तं कृतवसतयः त्यक्तदेहा इत्यर्थः । यद्वा स्थिताः संस्थिता मृता इत्येतत् । वामार्धवामतनवः स्त्र्यर्धोत्तरदेहास्ततस्तदनन्तरमन्तेसारूप्यमुक्तिभोगावसानेऽतनवः कैवल्यभाजो भवन्तीत्यर्थः । यद्वा, स्थिताः कृतवसतयो ये जीवन्त एवेत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

काश्यां तिष्ठन्ति ये केचित्तान् पश्यन्ति सुरोत्तमाः ।
चतुर्भुजांस्त्रिनयनान् गङ्गोद्भासितमूर्धजान् ॥ इति ।

अस्मिन् पक्षेऽन्ते देहावसाने ॥ ७९ ।

आनन्दकाननमिति । चक्रसरसी चक्रनिर्मितं सर इति मणिकर्णिकाविशेषणम् । स्वः सिन्धुसङ्गतिर्गङ्गामेलनम् । परमास्पदं मुख्य आश्रयः । इहाऽऽनन्दकानने विमुक्तये यन्न तत्किं न किञ्चिदपि तु सर्वं विमुक्तय इत्यर्थः ॥ ८० ।

वाराणसी, असीम गुणों की अकेली जाज्वल्यमान भूमि है; क्योंकि जहाँ पर स्थित देहधारी मात्र भगवान् चन्द्रशेखर के प्रभाव से सभी गले में गरल, भाल में लोचन और वामार्ध शरीर में वामांगी से भूषित होकर अन्त में विदेह (मुक्त) हो जाते हैं ॥ ७९ ।

(काशीक्षेत्र तो) पूर्व ही से सुखप्रद आनन्दवन था । उसमें भी चक्रपुष्करिणी, मणिकर्णिका, तिस पर स्वर्गसिन्धु गंगा का संगम, सबसे अधिक भगवान् विश्वेश्वर का प्रधान आश्रयस्थान, तो यहाँ पर वह क्या है, जो विमुक्ति के लिये समर्थ न होवे ? ॥ ८० ।

वाराणसीह वरणाऽसिसरिद्वरिष्ठा
संभेदखेदजननी द्युनदीलसच्छ्रीः।
विश्रामभूमिरचलाऽमलमोक्षलक्ष्म्या
हैनां विहाय किमु सीदति मूढजन्तुः॥ ८१।

किं विस्मृतं त्वहह गर्भजमामनस्यं
कार्तान्तिदूतकृतबन्धनताडनं च।
शम्भोरनुग्रहपरिग्रहलभ्यकाशीं
मूढो विहाय किमु याति करस्थमुक्तिम्॥ ८२।

वाराणसी हेति। इह संसारे या वाराणस्यस्ति ह स्फुटन्तामिमां विहाय मूढजन्तुः उ वितर्के किं सीदति किमर्थं गच्छति अवसीदतीति वा। विहायागमने हेतुगर्भाणि विशेषणान्याह। वरणाऽसिसरिद्भ्यां दक्षिणोत्तरतः सीमरूपाभ्यां वरिष्ठा श्रेष्ठा। तथा चोक्तम्—

असीवरणयोर्मध्ये पञ्चक्रोशं महत्तरम्।
देवा मरणमिच्छन्ति का कथा इतरे जनाः॥ इति।

सम्यग्भेदः संभेदस्तत् खेदस्य तन्नाशस्य जननी कर्त्रीत्यर्थः। दमनीति वा पाठः। ऐकपद्यपाठे वरिष्ठो दृढो यः संभेदस्येत्यादि पूर्ववत्। यद्वा, वरिष्ठो यः संभेदः सङ्गमस्तेन खेदजननी पापस्य संसारस्य वेत्यर्थादिति। द्युनद्या गङ्गया लसन्ती श्रीर्यस्याः सा तथा। अमलाया मोक्षलक्ष्म्या विश्रामभूर्विश्रमणस्थानम्। मोक्षलक्ष्म्या अमलत्वं नाम स्वप्रकाशत्वम्। अचला प्रलयेऽपि नाशरहिता॥ ८१।

किमिति। अहह खेदे। भवता गर्भजमामनस्यं दुःखं कृतान्तो यमस्तदीयाः कार्तान्ता ये दूतास्तत्कृतबन्धनं ताडनं च किं विस्मृतमेव। विस्मरणे हेतुमाह। शम्भोरनुग्रहस्य दयायाः परिग्रहेण प्राप्त्या लभ्या चासौ काशी चेति तां विहाय भवान् किमु याति किमर्थं याति। विस्मरणाभावे एतन्न घटत इति भावः। कथम्भूताम्? करस्थमुक्तिमिति। साधने साध्योपचारः। करस्था मुक्तिर्यस्यामिति बहुव्रीहिर्वा। अतो भवान् मूढो इति॥ ८२।

इस जगत् में असि और वरणा, इन दोनों ही नदियों के संगम से अतिश्रेष्ठा एवं समस्त भेदों के खेद की जननी सुरनदी से अत्यन्त शोभायमान वाराणसी ही विशुद्ध मोक्षलक्ष्मी का स्थिर विश्रामस्थान है। हाय! मूढ़बुद्धि जन्तुगण! ऐसी भूमि को त्याग कर अन्यत्र क्यों वृथा कष्ट उठा रहे हैं?॥ ८१।

अहह! मूढ़ जीव को अवश्य ही गर्भ की यन्त्रणा और कृतान्तदूतों का बन्धन, ताड़न आदि दुःख विस्मृत हो गया है। नहीं तो महादेव के अनुग्रह प्राप्त होने से ही लभ्य, करस्थित मुक्तिस्वरूपा काशी को छोड़कर अन्यत्र क्यों जाता?॥ ८२।

तीर्थान्तराणि कलुषाणि हरन्ति सद्यः
श्रेयो ददत्यपि बहु त्रिदिवं नयन्ति ।
पानावगाहनविधानतनुप्रहाणै-
र्वाराणसी तु कुरुते बत मूलनाशम् ॥ ८३ ॥

काशीपुरीपरिसरे मणिकर्णिकायां
त्यक्त्वा तनुं तनुभृतस्तनुमाप्नुवन्ति ।
भाले विलोचनवतीं गलनीललक्ष्मीं
वामार्धबन्धुरवधूं विधुरावरोधाः ॥ ८४ ॥

ज्ञात्वा प्रभावमतुलं मणिकर्णिकायां
यः पुद्गलं त्यजति चाशुचिपूयगन्धि ।
स्वात्मावरोधमहसा सहसा मिलित्वा
कल्पान्तरेष्वपि स नैव पृथक्त्वमेति ॥ ८५ ॥

ननु तीर्थान्तरकरणेनापि मुक्तिर्भविष्यत्यतस्तदर्थं यातीत्याशंक्याह। तीर्थान्तराणीति। श्रेयः पुत्रपशुधनादि। बतेति खेदे हर्षे वा। भवमूलनाशमिति वा पाठः ॥ ८३ ॥

अधिकारिभेदमतमादायाह। काशीपुरीति। अन्यथा सायुज्यमुक्तिर्मणिकर्णिकायामित्यनेन विरोधापत्तेः। लक्ष्मीं शोभाम्। वामार्धे बन्धुरा सुन्दरी वधूर्भवानी यस्यास्ताम्। विधुरावरोधागतावरोधागतावरणाज्ञाना इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

क्षेत्रप्रभावज्ञानामधिकारिणां विशेषमाह। ज्ञात्वेति। प्रभावं माहात्म्यं क्षेत्रस्य मणिकर्णिकायां वेत्यर्थात्। मणिकर्णिकायां पुद्गलं शरीरं यस्त्यजति। कथम्भूतम्? पूयगन्धि पूयं पक्वशोणितम्। विशेषेण पूयगन्धो वर्तते यत्र तत्तथा। स्वात्माव-

---

पान, स्नान, पूजन विधान और शरीरत्यागादि करने से अपरापर समस्त तीर्थ सद्यः पापहरण करते हैं। बहुतेरे कल्याणों को भी देते हैं। वे स्वर्गपर्यन्त पहुँचा देने में समर्थ होते हैं; किन्तु यह वाराणसी तो जन्मग्रहण का मूलच्छेदन ही कर देती है ॥ ८३ ॥

काशीपुरी के परिसर (प्रान्तभूमि) में मणिकर्णिका पर देहधारीगण देह को त्याग, अज्ञानरहित होकर ललाट में नेत्र, गले में नीलशोभा एवं वामांग में सुन्दर वधू से शोभित देह को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

जो कोई अतुलनीय प्रभाव को जानकर मणिकर्णिका पर अपवित्र (मलमय) रक्तादिगन्ध से परिपूर्ण शरीर को त्याग देता है, वह जीव उसी क्षण उत्तम आत्मज्ञान-

रागादिदोषपरिपूरमनो हृषीकाः
काशीपुरीमतुलदिव्यमहाप्रभावाम् ।
ये कल्पयन्त्यपरतीर्थसमां समन्तात्
ते पापिनो न सह तैः परिभाषणीयम् ॥ ८६ ।

बोधमहसा स्वरूपभूतप्रकाशचैतन्येन सहसा तत्क्षणादेव मिलित्वा एकभावं प्राप्य पृथक्त्वं पृथग्भावं नैवेति नैव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८५ ।

ननु—

काशीवासयुगान्यष्टौदिनैकं पुरुषोत्तमे ।
तदेवाष्टगुणं पुण्यं विरजामुखदर्शने ॥
या गतिर्योगयुक्तस्य वाराणस्यां मृतस्य च ।
सा गतिर्घटिकार्धेन पुरुषोत्तमदक्षिणे ॥
सिंहाचलसमक्षेत्रं समन्ताद्योजनत्रयम् ।
गयाप्रयागकाशीभ्यः सत्यं शतगुणाधिकम् ॥

इत्यादिवचनात्काशीतोऽपि महत्तरं तीर्थान्तरं श्रूयते तत्किमर्थमतिस्तुतिः क्रियत इत्याशङ्क्याह । रागादीति । काशीपुरीमपरतीर्थसमामन्यत्तीर्थसमां न्यूनामित्यर्थः । ये कल्पयन्ति समन्तात् सर्वतः सर्वत्रेत्यर्थः । तैः सह न सम्भाषणीयमित्यन्वयः । कथम्भूताः ? रागादिदोषैः परिपूराणि पूरितानि मनोहृषीकाणि अन्तरिन्द्रियबहिरिन्द्रियाणि येषां ते तथा । पाठान्तरे[1] परिभूतान्यवशीकृतानि मनोहृषीकाणि येषां त इत्यर्थः । समस्ता[2] इति पाठे ये सर्वे इत्यर्थः । कुतस्तैः सह न परिभाषणीयमित्यत आह । ते पापिन इति । शतमप्यन्धानां न पश्यतीति न्यायादिति भावः । कथम्भूतास् ? अतुलः परिमाणरहितो दिव्योऽलौकिको महाप्रभावोऽतिशयसामर्थ्यं यस्यास्ताम् । विषयाऽभिमुखानां रागिणां तैस्तैर्वचनैस्तत्तत्तीर्थकरणे तु व्युत्पादनमात्रं क्रियते, न तु काश्यादिभ्योऽधिकत्वमन्येषां तीर्थानां विधीयते, अन्यथा तत्र तत्र विरोधप्रसङ्गात् ॥ ८६ ।

रूप तेज के साथ मिलकर ऐसा हो जाता है कि कल्पान्तरों में भी उस तेज से पृथक् नहीं होता ॥ ८५ ।

राग (द्वेष) आदि दोषों से परिपूर्ण चित्तेन्द्रिय पापियों को ही अनुपम दिव्य महाप्रभावा काशीपुरी दूसरे तीर्थों के समान समझ पड़ती है, ऐसे लोगों के साथ बातचीत भी करना उचित नहीं है ॥ ८६ ।

---

१. परिभूतमनोहृषीका इत्येवंरूपे ।
२. समन्तादित्यत्र ।

वाराणसीं स्मरहरप्रियराजधानीं
त्यक्त्वा कुतो व्रजसि मूढ दिगन्तरेषु ।
प्राप्याप्यजाद्यसुलभां स्थिरमोक्षलक्ष्मीं
लक्ष्मीं स्वभावचपलां किमु कामयेथाः ॥ ८७ ।

विद्या धनानि सदनानि गजाश्वभृत्याः
स्रक्चन्दनानि वनिताश्च नितान्तरम्याः ।
स्वर्गोऽप्यगम्य इह नोद्यमभाजि पुंसि
वाराणसी त्वसुलभा शलभादिमुक्तिः ॥ ८८ ।

धात्रा धृतानि तुलया तुलनामवैतुं
वैकुण्ठमुख्यभुवनानि च काशिका च ।
तान्युद्ययुर्लघुतया न्यगियं गुरुत्वात्
तस्थौ पुरोह पुरुषार्थचतुष्टयस्य ॥ ८९ ।

वाराणसीमिति । प्रायेण स्पष्टम् । कुतः कस्मान्निमित्तात् । राज्यादिलक्ष्मीप्राप्त्यर्थमिति चेत्तत्राह । प्राप्येति । अजो ब्रह्मा । आदिपदेनेन्द्रादयो गृह्यन्ते । तैरप्यसुलभामित्यपिशब्दस्योभयत्र सम्बन्धः । स्थिरमोक्षलक्ष्मीं स्वरूपावस्थानकैवल्यश्रियः साधनभूतामिति साधने साध्योपचार इत्यर्थः । स्थिरमोक्षलक्ष्मीस्वरूपां वाराणसीमिति वा । किमु कामयेथाः किमर्थं वाञ्छेथाः । केनापि भाग्योदयेन स्थिरमोक्षलक्ष्मीं वाराणसीं साक्षादनायासेन लब्ध्वा चञ्चलाया राज्यादिलक्ष्म्याः प्राप्त्यर्थमन्यत्र गमनमनुचितमिति भावः ॥ ८७ ।

अजाद्यसुलभामित्येतद्विवृणोति । विद्येति । अगम्यः अप्राप्यः । पूर्वार्धेऽपि यथायोग्यं विपरिणमय्यानयैव क्रियया सम्बन्धः । तुशब्दः पूर्वोक्तवैलक्षण्यार्थः । तदेव वैलक्षण्यमाह । शलभादिमुक्तिः शलभादीनामपि मुक्तिस्वरूपा शलभादीनां मुक्तिर्यस्यां सेति वा ॥ ८८ ।

अन्यानि क्षेत्राणि काशीसमानि न भवन्तीति कैमुत्यनयेनाह । धात्रेति । तुलया तुलनपात्रेण । तुलनां परिमाणम् । वैकुण्ठं मुख्यमादिर्येषां सत्यादीनां भुवनानां

रे मूढ़ ! (नर) भगवान् स्मरहर की प्रियतमा राजधानी वाराणसी को छोड़कर किन दिग्दिगन्तरों में घूम रहा है ? ब्रह्मादि देवतों से भी दुर्लभ स्थिर मोक्षलक्ष्मी को पाकर भी चपलस्वभावा लक्ष्मी की कामना क्यों वृथा ही करता है ? ॥ ८७ ।

इस संसार में उद्यमशील मनुष्य को विद्या, धन, (जन) भवन, गज, अश्व, सेवक, माल्य, चन्दन, नितान्तरमणीय रमणियाँ एवं स्वर्ग भी अलभ्य नहीं है; परन्तु कीटपतंगों को भी मुक्ति देने वाली केवल वाराणसी ही (एकमात्र) दुर्लभ है ॥ ८८ ।

(एक बार) विधाता ने तौल करके परीक्षा लेने के लिये वैकुण्ठ आदि लोकों को एक ओर और काशी को दूसरी ओर पलड़ा पर रखा । वे सब लोक तो लघुता

काशीपुरीमधिवसन् हि नरोऽनरोऽपि
ह्यारोप्यमाण इह मान्य इवैकरुद्रः।
नानोपसर्गजनिसर्गजदुःखभारैः
कर्मापनुद्य स विशेत्परमेशधाम्नि ॥ ९० ।
स्थिरापायं कायं जननमरणक्लेशनिलयं
विहायाऽस्यां काश्यामहह परिगृह्णीत न कुतः ।
वपुस्तेजोरूपं स्थिरतरपरानन्दसदनं
विमूढोऽसौ जन्तुः स्फुटितमिव कांस्यं विनिमयन् ॥ ९१ ।

तानि तथा उद्ययुरूर्ध्वं ययुः। लघुतयाऽल्पत्वेन। इयं काशी न्यक् अधस्तस्थावित्यन्वयः ॥ ८९ ।

काशीस्थो यः कश्चिदपि विश्वेश्वर इव माननीय इत्याह। काशीपुरीमिति। इह काश्यामारोप्यमाणः स्थाप्यमानोऽर्थादीश्वरेण काशीपुरीमधिवसन् काश्यां तिष्ठन्नरः अनरो वा पशुस्थावरादिर्यो भवति स एकरुद्रः केवलविश्वेश्वर इव मान्यो माननीयः। तत्र हेतुमाह। नानोपसर्गैर्जनिरुत्पत्तिर्येषां सर्गजदुःखभाराणां तैः। यद्वा नानोपसर्गा आध्यात्मिकादितापाश्च निसर्गः स्वभावश्च वासनेति यावत्। तज्जनितैर्दुःखभारैः क्लेशनिवहैः कर्म पापकर्मापनुद्या ज्ञानद्वारा परमात्मज्योतिषि प्रविशेदिति। ज्ञानमुत्पद्यते पुंसा क्षयात्पापस्य कर्मण इति श्रुतेः। साधारण्येन वा पुण्यपापलक्षणकर्मापनुद्य ॥ ९० ।

स्थिरापद्ग्रस्तेन देहेन स्वप्रकाशं परानन्दवपुरयं जनः कथं न गृह्णाति—इत्यनुक्रोशन्निवाह। स्थिरापायमिति। स्थिरापायं निश्चलापदम्। तत्र हेतुर्जननेति। बुद्धिस्थत्वादस्यामिति निर्देशः। काशीस्थस्य विश्वेश्वरस्य देव्या अग्रे कथनानुवादरूपत्वाद्वा। अहहेत्यनुतापेऽप्रहर्षे आक्रोशे वा। काश्यां कायं विहाय स्वप्रकाशमत्यन्तनिश्चलं स्वात्मानन्दरूपं पदं वपुः स्वरूपं ब्रह्म असौ विमूढो लोकः कथं कुतो न परिगृह्णीत। निकृष्टस्य त्यागे उत्कृष्टस्य च प्राप्तौ दृष्टान्तमाह। स्फुटितं भग्नं

(हलुकाई) के कारण ऊपर को उठ गये; परन्तु काशीपुरी चारों पुरुषार्थों के बोझ से भारी (गुरु) हो जाने पर यहाँ नीचे ही पड़ी रह गई ॥ ८९ ।

विश्वेश्वर की दया से काशीपुरी में रह जाने वाला क्या मनुष्य, क्या अन्य जन्तु, सभी कोई केवल रुद्रदेव के समान माननीय हो जाता है; (क्योंकि) वह अनेक उपसर्गजनित एवं स्वाभाविक दुःखभारों से आक्रान्त होने पर भी कर्मबन्धन को काटकर परमात्मज्योति में प्रवेश करता है ॥ ९० ।

अहह ! यह परम मूढ़ जन्तु अवश्य विनश्वर, जननमरणादि क्लेशों के भवन इस शरीर को काशी में त्याग कर उसके विनिमय (बदले) में परमानन्द का सदन

अहो लोकः शोकं किमिह सहते हन्त हतधी-
विपद्भारैः सारैर्नियतनिधनैर्ध्वंसितधनैः ।
क्षितौ सत्यां काश्यां कथयति शिवो यत्र निधने
श्रुतौ किञ्चिद्भूयः प्रविशति न येनोदरदरीम् ।। ९२ ।

काशिवासिनि जने वनेचरे
द्वित्रिभुज्यपि समीरभोजने ।
स्वैरचारिणि जितेन्द्रियेऽप्यहो
काशिवासिनि जने विशिष्टता ।। ९३ ।

कांस्यपात्रादिकं विनिमयन् परिवर्तयन् यथा दृढतरं समुज्ज्वलं पात्रादिकं गृह्णाति तद्वत् । काश्यां विनिमयन्निति पाठे काश्यामित्यस्य दृष्टान्तेन सम्बन्धान्न पौनरुक्त्यम् ।। ९१ ।

पुनरप्याक्रोशन्निवाह । अहो इति । विपद्भारैर्विपत्तिसमूहैः । सारैर्दृढैः । ध्वंसितधनैः विनाशितार्थैः । क्षिताविति प्रतीत्यभिप्रायेण । कथम्भूतायाम् ? यत्र काश्यां शिवो निधने मरणाऽवसरे श्रुतौ दक्षिणकर्णे किञ्चिद् वाङ्मनसातीतं वस्तु कथयति । ततः किमत आह । प्रविशति न येनेति । उदरदरीमुदररूपां कन्दराम् ।। ९२ ।

नन्वन्यत्र गत्वा वनवाससमीरभक्षणादिना कैवल्यं साधनीयं किं काशी न त्याज्येत्याग्रहेण तत्राह । काशिवासिनीति । काशिवासिवनेचरयोर्यथासख्यं द्वित्रीत्यादि-विशेषणानि । वनेचरो वानप्रस्थादिः । अहो इत्याश्चर्ये । तयोर्मध्ये पूर्वोक्तविशेषण-विशिष्टे काशीवासिनि जने विशिष्टता श्रेष्ठत्वम् । वनवासादेः कैवल्यासाधकत्वात् काशीवासस्य दुष्कृतिनोऽपि कैवल्यहेतुत्वात् काशी न त्याज्येति भावः । अविशिष्टतेति पाठे काशीवासिनि तन्नगरवासिनि जने वनेचरे काशीस्थवनचरे इत्यादीति बोद्धव्यम् ।। ९३ ।

तेजोमय रूप क्यों नहीं ग्रहण कर लेता ? जैसे फुटहा (फूटा हुआ) काँसे का बर्तन परिवर्तित (बदल) कर लिया जाता है ।। ९१ ।

अहो ! बड़ा ही आश्चर्य है कि जहाँ पर मरणकाल में स्वयं भगवान् शिव कान में कुछ ऐसा कह देते हैं, जिसके द्वारा फिर माता के उदररूपा दरी में वास करने का दुःख दूर ही हो जाता है । उस काशीपुरी के इस भूतल पर वर्तमान रहते ही लोग क्यों हतबुद्धि होकर नियत मृत्यु, दृढ़तर धननाश आदि विपत्ति समूहों से अभिभूत बन शोक सह रहे हैं ? हन्त ! ।। ९२ ।

यदि कोई काशीवासी होकर दिन में दो तीन बार भोजन करे और स्वेच्छा-चारी हो रहे, तो भी वह वायुभोजी और जितेन्द्रिय वानप्रस्थ से बहुत ही विशिष्ट है ।। ९३ ।

नास्तीह दुष्कृतकृतां सुकृतात्मनां वा
काचिद्विशेषगतिरन्तकृतां हि काश्याम् ।
बीजानि कर्मजनितानि यदूषरायां
नाङ्कूरयन्ति हरदृग्ज्वलितानि तेषाम् ॥ ९४ ॥

शशका मशका बकाः शुकाः
कलविङ्काश्च वृकाः सजम्बुकाः ।
तुरगोरगवानरा नरा गिरिजे
काशिमृताः परामृतम् ॥ ९५ ॥

विशिष्टतायां हेतुमाह । नास्तीति । अन्तं मरणं कुर्वन्ति तेऽन्तकृतस्तेषां प्राप्तमरणानामित्यर्थः । विशेषगत्यभावे हेतुमाह । यद्यस्मादूषरायामूषरवत्यां काश्यां पुण्यपापकर्ममात्रजनितानि बीजान्यदृष्टानि तेषां नाऽङ्कूरयन्ति नाऽऽरोहन्त्युद्भवन्तीत्यर्थः । ऊषरायां हेतुं वदन् बीजानि विशिनष्टि । हरदृग्ज्वलितानि हरचक्षुर्दग्धानि हरोपदिष्टज्ञानज्वलितानीति वा । नन्वेतत्काश्यां कृतपापानां कालभैरवयातनाश्रवणेन विरुध्यते न पापे प्रवृत्तिर्मा भवत्वित्यभिप्रायेण विभीषिकामात्रं तत् । तथा चोक्तम्—

"ऊषरा पुण्यपानानां धन्या वाराणसी पुरी" । इति ।

पाद्मे च—

उपपातकिनश्चैव महापातकिनश्च ये ।
तेषां तत्क्षेत्रसामर्थ्यादघानि क्षयमाययुः ॥

लैङ्गेऽपि—

नाविमुक्ते नरः कश्चिन्नरकं याति किल्बिषी ।
ईश्वरानुगृहीता हि सर्वे यान्ति पराङ्गतिम् ॥ इति ।

काश्यनधिकरणपापकृद्विषयत्वाद्वैतस्य । रुद्रयातनाप्रापककर्मातिरिक्तपुण्यपापकर्मदाहेन मुक्त्यभिप्रायेण वै तद्वचनम् । तथा च काशीकृतेभ्योऽकृतप्रायश्चित्तेभ्यः पापकर्मभ्योऽतिरिक्तकर्ममात्राणि कर्मजनितानीत्यत्र कर्मशब्देन विवक्षितानि । क्षीयन्ते चास्य कर्माणीत्यत्र प्रारब्धातिरिक्तानि कर्माणि तत्त्वज्ञानेन नश्यन्तीतिवत् ॥ ९४ ॥

अधिकारिविशेषाणामेवात्र कैवल्यं न पश्वादीनामिति मतं निराकुर्वन्नाह । शशका इति । कलविङ्काश्चटकाः । चटकः कलविङ्कः स्यादित्यमरः । परामृतं परब्रह्म-

---

इस काशी में मरने पर पुण्यात्मा और पापात्मा के गति-भेद में कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि इस ऊषर क्षेत्र भूमि पर उन सबके कर्मों से उत्पन्न समस्त बीज, हर की नेत्र-ज्वाला से दग्ध होकर, अंकुरित नहीं होने पाते ॥ ९४ ॥

हे गिरिजे ! खरहा, मसा, बकुला, सुग्गा, गौरेया, हुंडार, सियार, घोड़ा, साँप, बन्दर और मनुष्य चाहे कोई भी काशी में मरे, उसे मुक्ति मिल ही जाती है ॥ ९५ ॥

अरुद्ररुद्राक्षफणीन्द्रभूषणा-
स्त्रिपुण्ड्रचन्द्रार्धधराधराङ्गताः ।
निरन्तरं काशिनिवासिनो जना
गिरीन्द्रजे पारिषदा मता मम ॥ ९६ ।

स्वरूपा भवन्तीत्यर्थः । अत्र यद्यपि मरणस्य सर्वेषामविशेषेण परममुक्तिः फलत्वेन श्रूयन्ते, तथापि शुचीनां परमात्मभक्तानां तदर्पितकर्मणां परममुक्तिस्तदपकृष्टानामग्निप्रवेशादीनां सामीप्यं तिर्यक्प्रभृतीनामत्यन्तपापीयसां च सारूप्यं ततोऽप्यधमानां पतितानां सालोक्यमिति केचित् । चतुर्विधपरिमाणायां काश्यां यथा यथा योगपीठादिप्रकर्षस्तथा मरणफलापकर्ष इति चान्ये । तथा च पाद्मे—

परिमाणं च वक्ष्यामि तन्निबोधत सत्तमाः ।
मध्यमेश्वरमारभ्य यावद्देहलिविघ्नपम् ॥
सूत्रं संस्थाप्य तद्दिक्षु भ्रामयेन्मण्डलाकृति ।
तत्र या जायते रेखा तन्मध्ये क्षेत्रमुत्तमम् ॥
काशीति यद्विदुर्वेदास्तत्र मुक्तिः प्रतिष्ठिता ।
काश्यन्तः परमं क्षेत्रं विशेषफलसाधनम् ॥
वाराणसीति यत्ख्यातं तन्मानं निगदामि वः ।
दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणाऽसिश्च पूर्वतः ॥
जाह्नवी पश्चिमे वापि पाशपाणिर्गणेश्वरः ।
तस्यामन्तस्थितं दिव्यं विशेषफलसाधनम् ॥
अविमुक्तमिति ख्यातं तन्मानं च ब्रवीमि वः ।
विश्वेश्वराच्चतुर्दिक्षु धनुः शतयुगोन्मितम् ॥
अविमुक्ताभिधं क्षेत्रं मुक्तिस्तत्र न संशयः ॥
गोकर्णेशः पश्चिमे पूर्वतश्च गङ्गामुत्तरे भारभूतः ।
ब्रह्मेशानी दक्षिणे संप्रदिष्टस्तत्तु प्रोक्तं भवनं विश्वभर्तुः ॥ इति ।

अस्तु वा यथा तथा तथापि परम्परया कैवल्योपपत्तेः । तथा च सति, काश्यामवश्यं त्यजतां शरीरं शरीरिणां नास्ति पुनः शरीरम् । यद्यस्ति कण्ठे गरलं ललाटे त्रिलोचनं चन्द्रकला च मौलावित्यादिवचनं च समञ्जसं भवति ॥ ९५ ।

एवं काश्यां मृतानां कैवल्यमुक्त्वा जीवतां रुद्रसारूप्यमाह । अरुद्रेति द्वाभ्याम् । अथवा रुद्रावास इति नाम निर्वक्तुं प्रथमं तावत् काशीस्थानां जन्तुमात्राणां रुद्ररूपतामाह । अरुद्रेति । हे गिरीन्द्रजे ! निरन्तरं सर्वदा काशिनिवासिनो जना मम

हे नगेन्द्रनन्दिनी ! जो लोग सर्वदा काशी में वास करते हैं, शोभन रुद्राक्ष की मालारूप सर्पभूषण से भूषित और त्रिपुंड्ररूप अर्धचन्द्रधारी भूतलस्थित मेरे पारिषदों में वे परिगणित हो जाते हैं ॥ ९६ ।

यावन्त एव निवसन्ति च जन्तवोऽत्र
काश्यां जलस्थचरा झषजम्बुकाद्याः ।
तावन्त एव मदनुग्रहरुद्रदेहा
देहावसानमधिगम्य मयि प्रविष्टाः ।। ९७ ।

ये तु वर्षेषवो रुद्रा दिवि देवि प्रकीर्तिताः ।
वातेषवोऽन्तरिक्षे ये ये भुव्यन्नेषवः प्रिये ।। ९८ ।
रुद्रा दश दश प्राच्यवाचीप्रत्यगुदक्स्थिताः ।
ऊर्ध्वदिक्स्थाश्च ये रुद्राः पठ्यन्ते वेदवादिभिः ।। ९९ ।

परिषदा गणा मताः संमता इत्यन्वयः । ननु त्वत्पार्षदा अन्तरिक्षे लोके तिष्ठन्तीति प्रसिद्धं तत्राह । धरां गताः कर्मभूमिं प्राप्ताः, ततोऽप्येतेऽधिका इत्यर्थः । प्रसिद्धपारिषद-सारूप्यमाह । अरुद्रा अभयङ्कराः शोभना इति यावत् । रुद्राक्षा एव फणीन्द्राः शेषादयो भूषणानि येषां ते तथा । यद्वा, प्रसिद्धा रुद्रा न भवन्तीत्यरुद्रास्ते च ते रुद्राक्ष-फणीन्द्रभूषणाश्च । त्रिपुण्ड्रं नामाङ्गुलित्रयेण ललाटे दीयमाना विभूतिस्तदेव चन्द्रार्धं धरन्तीति तथा । अथवा रूपकमन्तरेण यथाश्रुत एवार्थः । तथा च पाद्मे—"काश्यां वसन्ति ये जीवास्तान् पश्यन्ति सुरोत्तमाः । चतुर्भुजांस्त्रिनयनान् गङ्गोद्भासित-मूर्धजान्" इति ।। ९६ ।

तर्हि किं जना मनुष्या एवात्र रुद्रशरीरा मत्स्यसृगालाद्या नेत्यत आह । यावन्त इति । जलस्थलयोश्चरन्तीति तथा । एतस्यैव विवरणं झषजम्बुकाद्या इति । मत्स्यसृगालादय इत्यर्थः । सर्वेषामविशेषेण कैवल्यावधिमाह । देहावसानमिति । मयि परमात्मनि ईश्वरशरीरे वा ।। ९७ ।

एवं काशीमाहात्म्यं निर्वर्ण्य रुद्रावासं नाम निर्वक्ति । ये त्विति सार्धत्रयेण । अथवैवं श्लोकद्वयेन भूमिकामारचय्य रुद्रावासं नाम निर्वक्ति । ये त्विति सार्धत्रयेण । वर्षेषवो वर्षाण्येवेषवो बाणा येषां ते तथा । वातेषवो वाता एव इषवो येषां ते तथा । अन्नेषवोऽन्नमेवेषवो बाणा येषां ते तथा ।। ९८ ।

रुद्रा इत्यस्यावृत्तिः सर्वत्राऽन्वयार्था । दश दशेत्युपलक्षणं ये केचनेत्यर्थः । चकारादधोदिक्स्था विदिक्स्थाश्च गृह्यन्ते । वेदवेदिभिः श्रुत्यभिज्ञैः । तथा च वेदवचनम्—"अथ त्रीणि यजूंष्युच्यन्ते नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये दिवि

इस काशीपुरी में जितने जलचर, स्थलचर, मत्स्य और शृगाल प्रभृति जीव वास करते हैं, वे सब मेरी कृपा से रुद्ररूप धारण कर देहान्त होने पर मुझ में लीन हो जाते हैं ।। ९७ ।

अयि प्रिये ! देवि ! जो कि स्वर्ग में वर्षेषु नामक, अन्तरिक्ष में वातेषु नामक एवं पृथिवी में अन्नेषु नामक रुद्रगण अवस्थित हैं और जो पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओं में दश दश संख्यक रुद्र विराजमान रहते हैं, एवं ऊर्ध्वस्थित जिन रुद्रों का

असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूतले ।
तत्सर्वेभ्योऽधिकाः काश्यां जन्तवो रुद्ररूपिणः ॥ १०० ।

येषामन्नं वातो वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमस्ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तं वो जंभे दधामीति" । अस्याः श्रुतेरयमर्थः । अथ पृथिव्यादिलोकत्रयभेदेनोद्दिष्टलोकभेदाच्च यजुस्त्रयं द्रष्टव्यम् । तदा एवं पाठः सम्पद्यते । नमो रुद्रेभ्य इत्युपक्रम्य ये पृथिव्यां येषामन्नमिषव इत्याद्यो मन्त्रः । येऽन्तरिक्षे येषां वात इषव इति द्वितीयो मन्त्रः । ये दिवि येषां वर्षमिषव इति तृतीयो मन्त्रः । तेभ्यो दश प्राचीरित्यादि सर्वत्र समानम् । ये रुद्राः पृथिव्यां वर्तन्ते तेष्वपि रुद्रेषु येषां रुद्रविशेषाणामन्नमेवेषवो बाणा अपथ्यान्नभक्षणे प्रवर्त्य वा अन्नार्थं चौर्यं कारयित्वा वा यान् हिंसन्ति तान् प्रतिहिंसकानां रुद्राणामन्नमेवेषवस्तेभ्यः पृथिव्यां स्थितेभ्योऽन्नबाणकेभ्यश्च रुद्रेभ्यो नमः । तथा ये रुद्रा अन्तरिक्षे वर्तन्ते तेषां मध्येऽपि येषां वात एवेषव तीव्रवायुना रोगानुत्पाद्य हिंसन्ति तेभ्योऽन्तरिक्षवर्तिभ्यो वातेषुभ्यश्च रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु । तथा ये रुद्रा दिवि वर्तन्ते तेष्वपि येषां रुद्रविशेषाणां वर्षमेवेषवो बाणाऽतिवृष्ट्यानावृष्टिभ्यां प्राणिनो हिंसन्ति तेभ्यो दिविस्थितेभ्यो वर्षेषुभ्यश्च रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु । दश प्राचीः दशेत्युपलक्षणम्, ये केचन रुद्राः पूर्वोक्तेष्वेव प्राचीः प्रतीचीदिग्जाः । विभक्तिव्यत्ययेनोपचारात् । तेभ्यो नमोऽस्त्वित्यग्रिमेण नमः पदेन सम्बन्धः । एवं दश दक्षिणादिषु दशोर्ध्वाऽन्तेषु योज्यम् । दशोर्ध्वा इत्यधोदिक्स्थानां विदिक्स्थानां चोपलक्षणम् । यत्र कुत्रचित् स्थितेभ्यो रुद्रेभ्यो नम इति वाक्यार्थः । अत्र केचित्—"कीदृशो नमस्कार इति स एव विशिष्यते । दश प्राचीः प्राङ्मुखत्वेनाञ्जलिकरणे दशाङ्गुलयः प्रागग्रा भवन्ति । एवं दक्षिणादिषूर्ध्वान्तेषु योज्यम् । ईदृशैरञ्जलिविशेषैस्तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु । यद्वा तेभ्यो रुद्रेभ्यो दश प्राचीरङ्गुलीः करोमि नमस्कारार्थमिति सर्वत्र सम्बद्ध्यते । दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दश उदीचीर्दश ऊर्ध्वास्तेभ्यस्तेभ्यो नमोऽस्त्विति व्याचक्षते । तेषां मते रुद्रा दशदशप्राच्यवाचीप्रत्यगुदक्स्थिताः, ऊर्ध्वदिक्स्थाश्च ये रुद्राः पठ्यन्ते ते वेदवादिभिरिति स्कान्दवचनं विरुद्ध्यते । अतो विचार्य यद्युक्तं तदेव विद्वद्भिर्ग्राह्यमिति । ते च रुद्रा नोऽस्मान् मृडयन्तु सुखयन्तु ते वयं नमस्कृतरुद्राः सन्तो यं वैरिणं तूष्णीमवस्थितमपि द्विष्मः, यश्च वैरी नोऽस्मांस्तूष्णीमवस्थितानपि द्वेष्टि तदुभयविधं वैरिणं हे रुद्रा वो युष्माकं जम्भे विदारितास्ये दधामि स्थापयामि" इति ॥ ९९ ।

पूर्वोक्तान् रुद्राननूद्य नामनिर्वचनमाह । असंख्याता इति । अधिभूतल इत्यन्तरिक्षादीनामुपलक्षणम् । ते च ते सर्वे च तेभ्यः ॥ १०० ।

वर्णन वेदपाठी लोग करते हैं और असंख्य सहस्र रुद्रगण पाताल में रहते हैं, उन सब की अपेक्षा काशी में वास करने वाले रुद्ररूपी जन्तुगण अधिक श्रेष्ठ हैं ॥ ९८-१०० ।

रुद्रावासस्ततः प्रोक्तमविमुक्तं घटोद्भव ।
तस्मात्समर्च्य काशिस्थान् वर्णान् वर्णेतराश्रमान् ॥ १०१ ।
श्रद्धयेश्वरबुद्धया च रुद्रार्चाफलभाङ्नरः ॥ १०२ ।
श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते ।
निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः ॥ १०३ ।
महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते ।
शेरतेऽत्र शवा भूत्वा श्मशानं तु ततो महत् ॥ १०४ ।
अप्सु भूरिह लये लयं व्रजेदाप औवंवदनोग्रकन्दरे ।
मातरिश्वनि महातनूनपाद् व्योम्नि संक्षयति वै सदागतिः ॥१०५।

नामनिर्वचनप्रयोजनमाह। तस्मादिति। वर्णान् ब्राह्मणादीन्। वर्णेतरांश्च रजकादयः। आश्रमानिति। आ समन्ताच्छ्रमं कुर्वन्तीत्याश्रमाश्च पशुपक्षिरूपादयः। यद्वा आश्रमाश्च ब्रह्मचर्याद्याश्रमवन्तः। यद्वा वर्णेभ्य इतरे ये आश्रमा आश्रमवन्तः तान्। वर्णत्वेनाश्रमित्वेन च समर्च्येत्यर्थः ॥ १०१ ।

नरो मनुष्यमात्रो रुद्रार्चाफलभाग्भवेदित्यर्थः ॥ १०२ ।

महाश्मशाननाम निर्वक्ति। श्मशब्देनेति द्वाभ्याम्। श्मशानार्थं श्मशानशब्दयोरर्थम् ॥ १०३ ।

एवं श्मशानशब्दयोरर्थं प्रदर्श्य निर्वचनमाह। महान्त्यपीति। अपिशब्देनाहङ्कारादयो गृह्यन्ते। शवा मृताः। शेरते लीयन्ते। अत्र काश्यां शवीभूय ॥ १०४ ।

शयनमेव 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१।१) इत्यादि श्रुत्युक्तसृष्टिप्रातिलोम्येन दर्शयति। अप्सु भूरिति चतुर्भिः। इहाविमुक्ते। औवंशब्देनात्र तेजो गृह्यते। तस्य वदनोग्रकन्दरे मुखवर्तिमहादर्यां तेजसीत्यर्थः। मातरिश्वनि वायौ महातनूनपात् महाभूतलक्षणं तेज इत्यर्थः। वैशब्दः श्रुतिप्रसिद्धिद्योतनार्थः। संक्षयति लीयते। सदागतिः वायुः ॥ १०५ ।

हे घटोद्भव ! इसी कारण से अविमुक्त काशी-क्षेत्र "रुद्रावास' कहलाता है। अतएव काशी स्थित समस्त वर्ण अथवा इतर जाति गण किंवा अखिल आश्रमियों का श्रद्धापूर्वक ईश्वरबुद्धि से पूजन करके मनुष्य रुद्रपूजा का फलभागी होता है॥१०१-१०२।

मुने ! शब्दों के अर्थवेत्ता लोग 'श्म' शब्द का अर्थ शव (मुर्दा) और 'शान' शब्द का अर्थ शयन कहकर 'श्मशान' शब्द का अर्थ शवों का शयन-स्थान कहते हैं ॥ १०३ ॥

प्रलयकाल प्राप्त होने पर महाभूतगण भी यहाँ पर शव होकर शयन करते हैं। इसीलिये काशी को 'महाश्मशान" भी कहते हैं ॥ १०४ ॥

प्रलयकाल के उपस्थित होने पर इसो काशी क्षेत्र में भूमि जल में, जल तेजोराशि के मुखरूपी उग्रकन्दरा में, महातेज वायु में और वायु आकाश में विलीन हो जाता है ॥ १०५ ।

व्योम चापि लयमेत्यहङ्कृतौ सापि षोडशविकारसंयुता ।
लीयते महति बुद्धिसंज्ञके हा महान् प्रकृतिमध्यगो भवेत् ॥ १०६ ।
सा गुणत्रयमयी च निर्गुणं तं पुमांसमवगुह्य तिष्ठति ।
पञ्चविंशतितमः परः पुमान् देहगेहपतिरेष जीवकः ॥ १०७ ।
प्राकृतः प्रलय एष उच्यते हंसयानहरिरुद्रवर्जितः ।
कालमूर्तिरथ तं च पुरुषं हेलया कलयतीश्वरः परः ॥ १०८ ।

एति प्राप्नोति । अहङ्कृतौ अहङ्कारे । सा अहङ्कृतिः । अधिष्ठातृदेवैः सहेन्द्रियाणामभेदविवक्षया विकाराणां षोडशत्वम् । ते चैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतरूपास्तत्संयुता हैरण्यगर्भीसमष्टिबुद्धिर्महत्तत्त्वमिति वेदान्तिमतं गृहीत्वा महान्तं विशिनष्टि । बुद्धिसंज्ञक इति । अधिदैवाध्यात्मभेदेन वा पदद्वयम् । हा कष्टे । प्रकृतिमध्यगः प्रकृतौ लीन इत्यर्थः ॥ १०६ ।

तं प्रसिद्धं प्रकृत्यधिष्ठातारमिति यावत् । तमेव पुमांसं विशिनष्टि । **पञ्चविंशतितम इति** । पञ्चविंशतेः पूरणः परः पुमान् प्रकृतेः परः पुरुष इत्यर्थः । देह एव गेहं तस्य देहदैहिकयोर्वा पतिः । देहेन्द्रियादीन् जीवयतीति जीवकः ॥ १०७ ।

प्राकृतः प्रकृतिकार्यमात्रसम्बन्धी । कीदृशः ? हंसयानहरिरुद्राणां वर्जितं वर्जनं यस्मिन् स तथा । **हंसयानो** ब्रह्मा । तथा चोक्तम्—"विष्णोः सामान्यलक्षणे परेऽहमेवासम्" इत्यस्मिन् श्लोके कैवल्यदीपिकाकारेण । न च सगुणेषु चतुर्ष्वव्याप्तिस्तेषामपि स्वरूपातिरोधानात् । यत्तु ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे परस्यान्ते कृतात्मान आविशन्ति परं पदमिति तत्वश्वमेधादिना हिरण्यगर्भत्वप्राप्तपरमिति ज्ञातव्यम् । कल्पभेदाऽभिप्रायेण वैतद्वचनम् । यद्वा, हंसैः परमहंसैः यानं ज्ञानं प्राप्तिर्वा यस्य । यद्वा हन्ति विपक्षमिति हंसो गरुडः, स यानं यस्य स तथा । हंसयानश्चासौ हरिश्चेति व्याख्येयम् । अथवा हंसयानहरिरुद्रैरपि वर्जितो रहित इत्यर्थः । तथा च वासिष्ठे—"परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् हीयते हरिरप्यजः । भवोऽप्यभावमायाति केवास्था मादृशे जने" इति । प्रकृत्यधिष्ठातुरपि पुरुषस्य परमात्मनिलयमाह । कालमूर्ति-

---

आकाश भी अहङ्कार तत्त्व में और (पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, मन एवं पञ्चभूत) षोडश विकारों के सहित, अहंकार (तत्त्व) भी बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व भी प्रकृति के मध्य में लय हो जाता है ॥ १०६ !

तदनन्तर वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी निर्गुण पुरुष में लीन हो बैठती है और यही परमपुरुष में पचीसवाँ (महत्) तत्त्व एवं देहरूप गेह का एकमात्र अधिपति जीव है ॥ १०७ ।

इसी को प्राकृत प्रलय कहते हैं । इसमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कोई भी विद्यमान नहीं रहते । पश्चात् महाकालमूर्ति परमेश्वर उस जीव को अपने (रूप) में अन्तर्हित कर लेते हैं ॥ १०८ ।

स वै महाविष्णुरितीर्यते बुधै-
स्तं वै महादेवमुदाहरन्ति ।
सोऽन्तादिमध्यैः परिवर्जितः शिवः
स श्रीपतिः सोऽपि हि पार्वतीपतिः ॥ १०९ ।
दैनन्दिनेऽथ प्रलये त्रिशूलकोटौ
समुत्क्षिप्य पुरीं हरः स्वाम् ।
बिभर्ति संवर्तमहास्थिभूषणस्ततो
हि काशी कलिकालवर्जिता ॥ ११० ।

रित्यर्धेन । कालमूर्तिः सर्वसंहारकः । कलयति संहरत्यात्मसात्करोतीत्यर्थः । पर ईश्वरः परमात्मेत्यर्थः । तथा च श्रुतिरीश्वरोऽग्र इति ॥ १०८ ।

ईश्वरस्वरूपं दर्शयन् माधवोमाधवयोरैक्यमाह । स वै इति । वैशब्दः प्रसिद्धावद्योती । वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः । जीवकालाकाशादिव्यावृत्त्यर्थं महेति विशेषणम् । यद्वा, विशति व्याप्नोतीति विष्णुः । विशतेर्व्याप्नोतेर्वेति यास्कवचनात् । यद्वा महाविर्महापक्षी जीवात्मा । परमात्मन इव आत्मनोऽपि द्वासुपर्णेत्यादिश्रुत्योपचारवृत्त्या पक्षित्वस्याभिधानात् । महावेर्जीवात्मनो जटायोर्वाः करुणामृतं स्नुतं येन स महाविष्णुः । तथा च हनुमद्वाक्यम्—

यो महान् पूजितो व्यापी महावेः करुणामृतम् ।
स्नुतं येन जटायोश्च महाविष्णुं नमाम्यहम् ॥ इति ।

देवनं देवः स्वप्रकाशस्तस्य महत्त्वं नाम ब्रह्मादिनियन्तृत्वम् । शिव आनन्दरूपः ॥ १०९ ।

एवमर्थात् प्राकृतलये विश्वेश्वरस्य क्रीडाधिष्ठानत्वेन काश्याः स्थितिमभिधाय दैनन्दिनेऽपि स्थितिप्रकारमाह । दैनन्दिन इति । अथवा ननु प्राकृतप्रलये काश्या अपि किं लयेन भाव्यं नेत्याह । दैनन्दिन इति । अथोऽपि दैनन्दिनप्रलये तावत् बिभर्त्येवं प्राकृतलयेऽपि बिभर्तीत्यर्थः । संवर्तमहास्थिभूषणः प्रलयकालीनब्रह्मस्थ्यलङ्करणः । कलिश्च कालश्च मृत्युस्ताभ्यां वर्जिता रहिता अथवा ताभ्यां मुक्तिप्रतिबन्धहीनेत्यर्थः ॥ ११० ।

पण्डितगण उसी महाकालमूर्ति परमेश्वर को महाविष्णु कहते हैं, उसी को महादेव भी कहते हैं, वही आदि, अन्त और मध्य से रहित शिव हैं, एवं वही लक्ष्मीपति (माधव) और पार्वतीपति (उमाधव) हैं ॥ १०९ ।

दैनन्दिन-प्रलय में उस समय को अस्थिमाला से विभूषित भगवान् शिव अपनी काशीपुरी को त्रिशूल के अग्रभाग पर उठाकर रक्षित करते हैं, इसी से वहाँ पर (काशी में) कलि और काल का वश नहीं चलता ॥ ११० ।

स्कन्द उवाच—

वाराणसीति काशीति रुद्रावास इति द्विज ।
महाश्मशानमित्येवं प्रोक्तमानन्दकाननम् ॥ १११ ।
इति देवीपुरः प्रोक्तं देवदेवेन शम्भुना ।
यथा विष्णोः पुरा ख्यातं तथैव च मया श्रुतम् ।
तच्च त्वदग्रे कथितं रहस्यं काशिजं महत् ॥ ११२ ।
जप्त्वाऽध्यायमिमं पुण्यं महापातकनाशनम् ।
श्रावयित्वा द्विजान् सम्यक् शिवलोके महीयते ॥ ११३ ।
अतः परं कलशज किं शुश्रूषसि तद्वद ।
काशीकथा कथ्यमाना ममाऽपि परितोषकृत् ॥ ११४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वाराणसीमहिमवर्णनं
नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ।

वाराणस्यादिनामनिर्वचनमुपसंहरति । वाराणसीति ॥ १११ ।

काशीरहस्यकथनमुपसंहरति । इति देवीपुर इति । पुरोऽग्रतः । यथा विष्णोः पुराख्यातं कथितं देव्याः पुरः प्रोक्तम्, तथैव च तादृशमेव मातुरुत्सङ्गस्थितेन मया श्रुतमित्यर्थः ॥ ११२ ।

अध्यायपाठादेः फलमाह । जप्त्वेति । पठित्वेत्यर्थः ॥ ११३ ।

अत्यौत्सुक्येन प्रश्नकरणे स्वच्छन्दयति । अतः परमिति ॥ ११४ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ।

स्कन्द ने कहा—

'द्विजवर ! देवदेव शंकर ने पूर्वकाल में पार्वती देवी और विष्णु के सन्मुख अविमुक्त क्षेत्र को वाराणसी, काशी, रुद्रावास एवं आनन्दकानन नाम से इसी प्रकार कहा था, और मैंने (ऐसा ही) श्रवण किया था, सो सब काशी का परमरहस्य तुम्हारे आगे कह दिया ॥ १११-११२ ।

इस पवित्र अध्याय के पाठ करने से महापातकों का विनाश हो जाता है और द्विजातियों को यथाविधि सुनाने से शिवलोक में आदर प्राप्त होता है ॥ ११३ ।

हे कुंभज ! इसके उपरान्त (काशी के विषय में) और क्या सुनने की इच्छा है, उसे कहो; क्योंकि मुझे भी काशी का वृत्तान्त कहने में बड़ा आनन्द आ रहा है ॥ ११४ ।

दोहा—कथा धनंजय की कही, काशीतत्त्व समेत ।
यह रहस्य अतिगूढ़ है, जानत बिरल सचेत ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां धनञ्जयकथासहित-
काशीरहस्यवर्णनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ।

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

सर्वज्ञ हृदयानन्द स्कन्द स्कन्दिततारक।
न तृप्तिमधिगच्छामि शृण्वन् वाराणसीकथाम् ॥ १।
अनुग्रहो यदि मयि योग्योऽस्मि श्रवणे यदि।
तदा कथय मे नाथ काश्यां भैरवसंकथाम् ॥ २।
कोऽसौ भैरवनामाऽत्र काशीपुर्यां व्यवस्थितः।
किं रूपमस्य किं कर्म कानि नामानि चाऽस्य वै ॥ ३।
कथमाराधितश्चैव सिद्धिदः साधकस्य वै।
आराधितः कुत्र काले क्षिप्रं सिध्यति भैरवः ॥ ४।

एकत्रिंशत्तमेऽध्याये महापुण्यप्रदं नृणाम्।
वर्ण्यते कालराजस्य माहात्म्यं जन्मना सह ॥ १ ॥

एतादृक् तपःप्रभाववानप्यहं श्रीकालराजेन काश्या निष्काशित इति मनसि निधाय परमसम्भ्रमेण श्रीकालभैरवकथां प्रष्टुमुक्तानुवादपूर्वकं पूर्वोक्तां कथामात्मनस्तृप्त्यभावावेदनेनाभिनन्दति। सर्वज्ञेति। स्कन्दितः शोषितो मारितस्तारकनामाऽसुरो येन तत्सम्बोधनं तथा ॥ १।

भैरवसंकथनमेव विस्तरेण पृच्छति। कोऽसाविति। कोऽसावित्यर्धेनैकः प्रश्नः। अत्र अस्याम्। किंरूपमित्यर्धेन प्रश्नत्रयम् ॥ ३।

कथमाराधित इत्यर्धेनैकः। आराधित इत्यर्द्धेनैक इति षट् प्रश्नाः ॥ ४।

(कालभैरव का प्रादुर्भाव और माहात्म्य)

अगस्त्य ने कहा—

'हे सर्वज्ञ के हृदयनन्दन! तारकासुरसूदन! स्कन्द! वाराणसी की कथा सुनते हुए मुझे तो सन्तोष ही नहीं होता ॥ १।

अतएव यदि मुझ पर आप की कृपा है, और यदि मैं श्रवण करने के योग्य हूं, तो हे नाथ! काशी में भैरव की कथा वर्णन कीजिए ॥ २।

इस काशीनगरी में यह 'भैरव' नाम से कौन अवस्थित हैं? उनका रूप किस प्रकार का है? कर्म क्या है? एवं उनके कौन-कौन से नाम हैं ॥ ३।

वह आराधना करने पर किस प्रकार से साधकों को सिद्धि देते हैं? और वह भैरव किस समय पर आराधित होने से झटपट इष्ट को सिद्धि करते हैं? ॥ ४ ॥

स्कन्द उवाच—

वाराणस्यां महाभाग यथा ते प्रेम वर्तते ।
तथा न कस्यचिन्मन्ये ततो वक्ष्याम्यशेषतः ॥ ५ ।
प्रादुर्भावं भैरवस्य महापातकनाशनम् ।
यच्छ्रुत्वा काशिवासस्य फलं निर्विघ्नमाप्नुयात् ॥ ६ ।
पाणिभ्यां परितः प्रपीड्य सुदृढं निश्चोत्य च
ब्रह्माण्डं सकलं पचेलिमरसालोच्चैः फलाभं मुहुः ।
पायं पायमपायतस्त्रिजगतीमुन्मत्तवत्तैरसैः
नृत्यंस्ताण्डवडम्बरेण विधिना पायान्महाभैरवः ॥ ७ ।

भैरवकथां कथयिष्यन् प्रथमं प्रष्टारं स्तौति । **वाराणस्यामिति** । प्रेम भक्तिः । वर्तते जायते । यथा प्रेम प्रवर्तेत इति क्वचित् । तवेति शेषः । कस्यचिदित्यत्रान्येति च । यथा ते प्रेम वर्धते इति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ५ ।

श्रोतॄन् प्रोत्साहयति । **प्रादुर्भावमिति** ॥ ६ ।

श्रीभैरवाऽऽविर्भावं वक्तुं जगद्रक्षां प्रार्थयानो मङ्गलार्थं पूजयति । **पाणिभ्यामिति** । महाभैरवोऽपायतोऽज्ञानतत्कार्यलक्षणात्त्रिजगतीं त्रिजगतीस्थं लोकं ब्रह्माण्डान्तर्वर्ति यत्किञ्चित्प्राणिजातमित्येतत् । पायाद्रक्षतु मोचयत्वित्यन्वयः । किं कुर्वन् ? ताण्डवडम्बरेण विधिना नृत्याटोपप्रकारेण नृत्यन् नृत्यं कुर्वन् । सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यम् । क इव ? उन्मत्तवदुन्मत्त इव । तत्र हेतुः । तै रसैर्ब्रह्माण्डान्तर्वर्ति तत्तद्भूतास्वादनरसैरित्यर्थः । किं कृत्वेत्यपेक्षायां रसाधिकरणमाह । सुदृढं यथा स्यात्तथा सकलं सम्पूर्णम् । यद्वा, कला माया तत्सहितम् । पाणिभ्यां परितः सर्वतः प्रपीड्याऽतिशयेन निष्पीड्य निश्चोत्य निश्चोत्य च संचुष्य संचुष्य । चकारः समुच्चये । न केवलं प्रपीड्य निश्चोत्य निश्चोत्येत्यर्थः । पायं पायं पीत्वा पीत्वा । मुहुर्वारं वारमतिशयेनेत्यर्थः । कीदृशम् ? पचेलिमं पक्वशीलम् । यद्रसालोच्चैः फलं महदाम्रफलं तदाभं तत्तुल्यम् । यद्वा, पाणिभ्यां करवन्निर्भयाभ्यामनुभवनित्यबोधाभ्यां मायासहितं ब्रह्माण्डं प्रपीड्य संकुच्य । तथा चोक्तम्—

स्कन्द ने कहा—

'महाभाग ! वाराणसी के प्रति जैसा तुम्हारा प्रेम वर्तमान है, वैसा तो मैं दूसरे किसी का भी नहीं समझता, अतएव महापातकनाशन भैरव का प्रादुर्भाव कीर्तन करता हूँ, जिसके श्रवण करने से काशीवास का फल निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है ॥ ५-६।

जो परिपक्व बड़े आम्रफल के समान इस समस्त ब्रह्माण्डमण्डल को दोनों हाथों से दृढ़तापूर्वक चहुँओर से घुलघुला (दबा दबा) कर बारम्बार दूर पर फेंकते हुए उसका रस पीते रहते हैं और उसी रसपान करने से उन्मत्त (पागल) की तरह उद्धत नाच करते रहते हैं, वही महाभैरव अपाय (नाश) से त्रैलोक्य की रक्षा करें ॥ ७ ।

कुम्भयोने न वेत्त्येव महिमानं महेशितुः ।
चतुर्भुजोऽपि वैकुण्ठश्चतुर्वक्त्रोऽपि विश्वकृत् ॥ ८ ॥
न चित्रमत्र भूदेव भवमाया दुरत्यया ।
तया संमोहिताः सर्वे नावयन्त्यपि तं परम् ॥ ९ ॥
वेदयेद्यदि चात्मानं स एव परमेश्वरः ।
तदा विन्दन्ति ब्रह्माद्याः स्वेच्छयैव न तं विदुः ॥ १० ॥
स सर्वगोऽपि नेक्ष्येत स्वात्मारामो महेश्वरः ।
देववद् बुद्ध्यते मूढैरतीतो यो मनो गिराम् ॥ ११ ॥

नित्यबोधपरिपीडितं जगद्विभ्रमं तुदति वाक्यजा मतिः ।
वासुदेवनिहतं धनञ्जयो हन्ति कौरवकुलं यथा पुनः ॥ इति ।

निश्चोत्य निश्चोत्य च मनननिदिध्यासनाभ्यां क्षरणतामापाद्य च पीत्वा पीत्वा अत्यन्तं नाशं नीत्वा सर्वसंहरणात् कालः कुयोगिनां भयङ्करत्वाद् भैरवः परमात्मा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तस्तै रसैः प्रसिद्धैर्ब्रह्मानन्दानुभवैर्नृत्यंस्त्रिजगतीस्थं लोकं पायादित्यन्यत्समानम् । यो वारं वारं सकलं ब्रह्माण्डं पायं पायं वर्तते स इदानीं त्रिजगतीं पायादित्यध्याहृत्य योजनेति तु प्राकृतं व्याख्यानम् ॥ ७ ।

महादेवस्वरूपाऽज्ञानाद् गर्वं कुर्वतो हिरण्यगर्भस्य शिरश्छेत्तुं कालभैरवमुत्पादितवानीश्वर इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं ब्रह्मादीनां तदज्ञानमाह । **कुम्भयोने** इति ॥ ८ ।

तयोरप्यवेदने हेतुमाह । **न चित्रमिति** ॥ ९ ।

तर्ह्यनिर्मोक्षो दुर्ज्ञेयत्वादित्याशंक्याह । **वेदयेदिति** ॥ १० ।

ननु सर्गत्वात्सर्वैर्दृश्यतामित्यत आह । **स सर्वग इति** । ननु देवत्वेन सर्वैर्ज्ञायत एवेत्यत आह । देववद्दृश्यते मूढैरिति । देववत्साधारणदेवतावत् ॥ ११ ।

कुंभयोने ! विष्णु चतुर्भुज और विधाता चतुर्मुख होने पर भी महादेव की महिमा को नहीं जानते ॥ ८ ।

हे भूदेव ! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, कारण यह कि शिव की माया सर्वथा दुर्लङ्घ्य ही है, उसी माया से मोहित होकर सब लोग उस परमतत्त्व को नहीं जान सकते ॥ ९ ।

यदि वे ही परमेश्वर स्वयमेव अपने को जना देवें, तभी ब्रह्मादिक देवगण उन्हें जान सकते हैं । नहीं तो अपनी इच्छानुसार (कभी) नहीं जान पाते ॥ १० ।

उस स्वात्माराम महेश्वर को सर्वव्यापी होने पर भी कोई नहीं देख सकता, मूढ़गण उस वाङ्मनोतीत महेश्वर को सामान्य देवताओं के समान समझते हैं ॥ ११ ।

पुरा पितामहं विप्र मेरुशृङ्गे महर्षयः ।
प्रोचुः प्रणम्य लोकेशं किमेकं तत्त्वमव्ययम् ॥ १२ ।
स मायया महेशस्य मोहितो लोकसम्भवः ।
अविज्ञाय परं भावमात्मानं प्राह वर्षिणम् ॥ १३ ।
जगद्योनिरहं धाता स्वयम्भूरेक ईश्वरः ।
अनादिमदहं ब्रह्म मामनर्च्य न मुच्यते ॥ १४ ।
प्रवर्तको हि जगतामहमेको निवर्तकः ।
नान्यो मदधिकः सत्यं कश्चित्कोऽपि सुरोत्तमाः ॥ १५ ।
तस्यैवं ब्रुवतो धातुः क्रतुर्नारायणांशजः ।
प्रोवाच प्रहसन् वाक्यं रोषताम्रविलोचनः ॥ १६ ।
अविज्ञाय परं तत्त्वं किमेतत् प्रतिपाद्यते ।
अज्ञानं योगयुक्तस्य न चैतदुचितं तव ॥ १७ ।

एतदेव दर्शयितुमितिहासमाह । पुरेति । तत्त्वं वस्तु ॥ १२ ।
वर्षिणं श्रेष्ठम् ॥ १३ ।
श्रेष्ठत्वमेवाह । जगद्योनिरिति द्वयेन । अनर्च्यापूज्याज्ञात्वेति वा ॥ १४-१५ ।
क्रतुर्यज्ञो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरिति यावत् । यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः ॥ १६ ।

हे विप्रवर ! पूर्वकाल में सुमेरु पर्वत के शृंग पर महर्षियों ने लोकेश्वर ब्रह्मा को प्रणाम करके यह पूछा कि एकमात्र कौन सा तत्त्व अव्यय (नाशरहित) है ? ॥ १२ ।

इस पर लोकस्रष्टा पितामह शांभवी माया से मोहित होकर परमतत्त्व को विना समझे अपने आप ही को श्रेष्ठ कह कर इस रूप से उत्तर देने लगे ॥ १३ ।

"मैं ही जगद्योनि, विधाता, स्वयंभू, अकेला ईश्वर, और अनादिब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरी पूजा नहीं करने से (कभी कोई भी) मुक्त नहीं हो सकता ॥ १४ ।

त्रैलोक्य भर का प्रवर्तक (उत्पादक) एवं निवर्तक (संहारक) मैं ही हूँ । सत्य ही मुझसे अधिक कोई भी नहीं है, मैं ही समस्त देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हूँ" ॥ १५ ।

ब्रह्मा की इन बातों को सुनकर नारायण के अंश से उत्पन्न यज्ञ ने हास्य करते हुए रोषवश रक्तनेत्र होकर कहा ॥ १६ ।

"तुम परमतत्त्व को विना जाने ही यह क्या कहने लगे ? तुम्हारे ऐसे योगी को इस प्रकार का अज्ञान उचित नहीं है ॥ १७ ।

अहं कर्ता हि लोकानां यज्ञो नारायणः परः ।
न मामनादृत्य विधे जीवनं जगतामज ॥ १८ ॥
अहमेव परं ज्योतिरहमेव परा गतिः ।
मत्प्रेरितेन भवता सृष्टिरेषा विधीयते ॥ १९ ॥
एवं विप्रकृतौ मोहात्परस्परजयैषिणौ ।
पप्रच्छतुः प्रमाणज्ञानागमांश्चतुरोऽपि तौ ॥ २० ॥

विधिक्रतू ऊचतुः—

वेदाः प्रमाणं सर्वत्र प्रतिष्ठां परमामिताः ।
यूयमेव न सन्देहः किं तत्त्वं प्रतितिष्ठत ॥ २१ ॥

श्रुतय ऊचुः—

यदि मान्या वयं देवौ सृष्टिस्थितिकरौ विभू ।
तदा प्रमाणं वक्ष्यामो भवत्सन्देहभेदकम् ॥ २२ ॥

एवमिति स्कन्दोक्तिः । विप्रकृतौ विरुद्धौ । आगमान् मूर्तिधरान् वेदान् । चतुरश्चतुःसंख्याकान् ॥ २० ।

तयोः प्रश्नमेव दर्शयति । वेदाः प्रमाणमिति । तर्हि किं प्रत्यक्षादीनामिव प्रामाण्यमस्माकं नेत्याह । परमां प्रतिष्ठां यूयमेवेताः प्राप्ता इति । अपौरुषेयत्वात्तर्काप्रतिष्ठानादिति न्यायोपबृंहितव्याससूत्राच्चेति भावः । प्रतितिष्ठत प्रतिजानीत आश्रयतेति वा । प्रतितिष्ठथेति पाठेऽपि स एवार्थः । प्रतितिष्ठतीति च क्वचित्पाठः ॥ २१ ।

श्रुतीनां प्रतिवचनमाह । यदीति । हे देवौ । प्रमाणं यथार्थम् ॥ २२ ।

समस्त लोकों का कर्ता मैं यज्ञ और परात्पर नारायण हूँ । हे विधे ! अज ! मेरा अनादर करके समग्र जगत् का जीवित रहना असम्भव ही है ॥ १८ ।

मैं ही परमज्योति एवं परमगति हूँ, मेरे ही नियुक्त कर देने से तुम इस सृष्टि-कार्य का सम्पादन करते हो" ॥ १९ ।

इसी रीति से मोहवश परस्पर विजय की इच्छा से विद्वेषी होकर ब्रह्मा और यज्ञ प्रमाण में विज्ञ चतुर्वेद से पूछने लगे ॥ २० ।

ब्रह्मा और क्रतु ने कहा—

"वेदगण ! आप लोगों की सर्वत्र ही प्रमाणरूप से बड़ी प्रतिष्ठा है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । अतएव कहिये, किसे परमतत्त्व जानते हैं" ? ॥ २१ ।

श्रुतिगण ने उत्तर दिया—

"हे सृष्टि-स्थितिकारक व्यापक दोनों देव ! यदि हमी लोगों को मानने के योग्य समझते हो, तो आप लोगों के सन्देहभेदक प्रमाण को कहते हैं" ॥ २२ ।

श्रुत्युक्तमिदमाकर्ण्य प्रोचतुस्तौ श्रुतीः प्रति ।
युष्मदुक्तं प्रमाणं नौ किं तत्त्वं सम्यगुच्यताम् ॥ २३ ।

ऋगुवाच—

यदन्तस्थानि भूतानि यतः सर्वं प्रवर्तते ।
यदाहुस्तत्परं तत्त्वं स रुद्रस्त्वेक एव हि ॥ २४ ।

यजुरुवाच—

यो यज्ञैरखिलैरीशो योगेन च समिज्यते ।
येन प्रमाणं हि वयं स एकः सर्वदृक् शिवः ॥ २५ ।

सामोवाच—

येनेदं भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्यो विचिन्त्यते ।
यद्भासा भासते विश्वं स एकस्त्र्यम्बकः परः ॥ २६ ।

श्रुत्युक्तमिति । श्रुतीः प्रति वेदान्प्रति । किमूचतुस्तदाह । युष्मदुक्तं प्रमाणं नाविति । अयं भावः—वेदवचनमेव तावन्निर्दुष्टत्वात्स्वतःप्रमाणं किं पुनर्वक्तव्यं तदधिष्ठातॄणां मूर्तिमतां भवतामिति ॥ २३ ॥

चतुर्णां वेदानां चत्वारि वचनानि क्रमेण दर्शयति । यदिति । यदन्तःस्थानि प्रलयकाले । यतः सर्वं प्रवर्तते सृष्टिसमये ॥ २४ ।

योगेन चाष्टाङ्गेन ज्ञानयोगेन वा ॥ २५ ।

भासते स्फुरति । तथा च श्रुतिः—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा

श्रुतिगण की यह बात सुनकर ब्रह्मा और यज्ञ ने कहा, आप ही लोगों का कथन प्रमाण है, इसलिये परमतत्त्व क्या है ? इसे भलीभाँति कहिये ॥ २३ ।

प्रथम ऋग्वेद ने कहा—

"जिसके भीतर समस्त भूतगण अवस्थित हैं, जिससे यह सब प्रवर्तित होता है, जिसे पंडितगण "तत्" शब्द के द्वारा कहते हैं, वही एकमात्र रुद्र परमतत्त्व हैं" ॥ २४ ।

यजुर्वेद बोला—

"जो समस्त याग एवं योगों के द्वारा आराधित होते रहते हैं, और जिनके बल से हम लोग प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं, वही समदर्शी शिव परं तत्त्व हैं" ॥ २५ ।

सामवेद कहने लगा—

"जो इस विश्व मण्डल को भ्रमण कराते रहते हैं, जिन्हें योगिगण चिन्तन करते रहते हैं, एवं जिनकी ज्योति से संसार प्रकाशमान् रहता है, केवल वे ही त्र्यम्बक परमतत्त्व हैं" ॥ २६ ।

अथर्वोवाच—

यं प्रपश्यन्ति देवेशं भक्त्यानुग्रहिणो जनाः ।
तमाहुरेकं कैवल्यं शङ्करं दुःखतस्करम् ॥ २७ ।
श्रुतीरितं निशम्येत्थं तावतीव विमोहितौ ।
स्मित्वाहतुः क्रतुविधी मोहान्ध्येनांकितौ मुने ॥ २८ ।
कथं प्रमथनाथोऽसौ रममाणो निरन्तरम् ।
दिगम्बरः पितृवने शिवया धूलिधूसरः ॥ २९ ।
विटङ्कवेशो जटिलो वृषगोव्यालभूषणः ।
परं ब्रह्मत्वमापन्नः क्व च तत्सङ्गवर्जितम् ॥ ३० ।

विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं यस्या भासा सर्वमिदं विभाति" । इति ॥ २६-२७ ।

स्मित्वा ईषद्धासं कृत्वा । **क्रतुविधी** यज्ञब्रह्माणौ । **मोहान्ध्येनाङ्कितौ** मोहेनाऽज्ञानेन जातं यदान्ध्यमज्ञत्वं तेनाङ्कितौ चिह्नितौ युक्ताविति यावत् ॥ २८ ।

कथमिति । कथमसौ परं ब्रह्मत्वमापन्नः प्राप्त इति द्वितीयेनाऽन्वयः । विटङ्कवेशः कुत्सिताऽलङ्कारः कुत्सिताकार इति वा । तदेवाह । प्रमथनाथ इत्यादिना । पितृवने श्मशाने शिवया तादृग्रूपया रमया इति सम्बन्धः । तद्ब्रह्म क्व कीदृशम् ? सङ्गवर्जितमसङ्गम् । **"असङ्गो न हि सज्जते"** इति श्रुतेः । सङ्गवर्जिनामिति पाठे सङ्गवर्जिनां परमहंसानां प्राप्यं तद्ब्रह्म क्व क्व चैतादृक् सङ्गवानयम् इति शेषोऽतः तत्परं ब्रह्म कथमयं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २९-३० ।

अनन्तर अथर्ववेद ने यों कहा—

"जिस देवाधिदेव को अनुग्रही जन भक्तिसाधन के द्वारा देख सकते हैं, वे ही दुःखदूरकारक कैवल्यस्वरूप, केवल शंकर ही परमतत्त्व कहे गये हैं" ॥ २७ ।

मुनिवर ! इस प्रकार से वेदों के वचनों को सुनकर माया से अत्यन्त विमोहित होने के कारण मोहान्धता को प्राप्त वे दोनों ही यज्ञ और ब्रह्मा कुछ हँसकर कहने लगे ॥ २८ ।

"कहाँ तो यह धूलि से धूसर, प्रमथों का नाथ, श्मशान पर दिगंबर होकर सर्वदा शिवा के संग विहारक्रीड़ा में आसक्त, जटाजूट लपेटे, बैल पर चढ़ा, सर्पों का भूषण बनाये, विकट वेश धरे, रहता है, (भला) वह संगरहित (अद्वितीय) उस परं ब्रह्मपद को क्यों कर पा सकता है ?" ॥ २९-३० ।

तदुदीरितमाकर्ण्य प्रणवात्मा सनातनः ।
अमूर्तो मूर्तिमान् भूत्वा हसमान उवाच तौ ॥ ३१ ॥

प्रणव उवाच—

न ह्येष भगवान् शक्त्या स्वात्मनो व्यतिरिक्तया ।
कदाचिद्रमते रुद्रो लीलारूपधरो हरः ॥ ३२ ॥
असौ हि भगवानीशः स्वयंज्योतिः सनातनः ।
आनन्दरूपा तस्यैषा शक्तिर्नागन्तुकी शिवा ॥ ३३ ॥
इत्येवमुक्तेऽपि तदा मखमूर्तेरजस्य हि ।
नाज्ञानमगमन्नाशं श्रीकण्ठस्यैव मायया ॥ ३४ ॥

तदुदीरितमिति । प्रणवात्मा प्रणवो नामेश्वरादुत्पन्नो भगवतो बोधको वेदोत्पत्तिहेतुस्तदात्मा तत्स्वरूपः । तदुक्तं भागवते—

ततोऽभूत्त्रिवृदोंकारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ इति ।

गीतासारे च—

ओंकारप्रभवा वेदा ओंकारप्रभवाः स्वराः ।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ इति ।

ब्रह्मनारायणयोरपि मोह इति । हसमानो हसन् । असहमान इति क्वचित् ॥३१॥

प्रणववचनमाह । न ह्येष इति । स्वात्मनो व्यतिरिक्तया भिन्नया शक्त्या एष कदाचिदपि रमत इति नहि किन्त्वभिन्नयैवेत्यर्थः ॥ ३२ ।

तर्हि कीदृगस्य स्वरूपं शक्तेर्वेति पृच्छायां तदाह । असौ हीति । नागन्तुकी नित्येत्यर्थः ॥ ३३ ।

इत्येवमिति । अजस्य हि अजस्य च ॥ ३४ ।

तदनन्तर उन दोनों के ही (अज्ञानमय) इस वचन को सुन सदातन प्रणवस्वरूप (परब्रह्मरूप शिव) मूर्तिरहित होने पर भी मूर्तिमान् होकर हास्यपूर्वक उन दोनों से कहने लगे ॥ ३१ ।

प्रणव बोले—

"लीला-रूपधारी रुद्रमूर्ति ये भगवान् हर अपनी आत्मा से भिन्न दूसरी शक्ति के साथ कभी भी क्रीड़ा नहीं करते ॥ ३२ ।

यह भगवान् ईश्वर स्वयं सनातन ज्योतिःस्वरूप हैं, और यह शिवा भी उन्हीं की आनन्दरूपा शक्ति हैं, जो कभी उनसे भिन्न नहीं होती" ॥ ३३ ।

उस घड़ी प्रणव के इस प्रकार कहने पर भी श्रीकण्ठ की ही मायावश ब्रह्मा और यज्ञपुरुष का अज्ञान दूर नहीं हुआ ॥ ३४ ।

प्रादुरासीत्ततो ज्योतिरुभयोरन्तरे महत् ।
पूरयन्निजया भासा द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।। ३५ ।
ज्योतिर्मण्डलमध्यस्थो ददृशे पुरुषाकृतिः ।
प्रजज्वालाऽथ कोपेन ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः ।। ३६ ।
आवयोरन्तरं कोऽसौ बिभृयात् पुरुषाकृतिम् ।
विधिः सम्भावयेद्यावत्तावत् स हि विलोकितः ।। ३७ ।
स्रष्ट्रा क्षणेन च महान् पुरुषो नीललोहितः ।
त्रिशूलपाणिर्भालाक्षो नागोडुपविभूषणः ।। ३८ ।
हिरण्यगर्भस्तं प्राह जाने त्वां चन्द्रशेखरम् ।
भालस्थलान्मम पुरा रुद्रः प्रादुरभूद् भवान् ।। ३९ ।
रोदनाद्रुद्रनाम्नाऽपि योजितोऽसि मया पुरा ।
मामेव शरणं याहि पुत्र रक्षां करोमि ते ।। ४० ।

ज्योतिरिति । ददृशे दृष्टो विधिक्रतुभ्यामिति शेषः ।। ३६ ।

संभावयेद् वितर्कयेत् ।। ३७ ।

भालाक्षो ललाटनेत्रः । नागोडुपविभूषणः सर्पांगद्चन्द्रावतंसः ।। ३८ ।

तब उन दोनों के ही बीच में अपनी प्रभा से आकाश और भूमि के मध्यभाग को परिपूर्ण करती हुई एक बड़ी भारी ज्योति प्रकट हुई ।। ३५ ।

उस ज्योतिर्मण्डल के मध्य में एक पुरुष का आकार दिखलाई पड़ा, उसे देखते ही ब्रह्मा का पंचम मस्तक मारे क्रोध के विचलित हो गया ।। ३६ ।

तदनंतर ब्रह्मा ज्यों ही "हम लोगों के बीच में पुरुषाकृतिधारी यह कौन है ?" यह तर्क मन ही मन करने लगे, त्यों ही त्रिशूलपाणि, भालनयन, सर्प और चन्द्र से विभूषित, नीललोहित महापुरुष को देखे ।। ३७-३८।

पश्चात् हिरण्यगर्भ ने उस पुरुष से कहा, "चन्द्रशेखर ! मैं तुमको (भली-भाँति) जानता हूँ। पूर्वकाल में तुम्हीं तो मेरे भालस्थल से रुद्ररूप उत्पन्न हुए थे ।। ३९ ।

(बहुत) रोने के कारण (से) मैंने तुम्हारा रुद्र नाम रक्खा था, (अस्तु) बेटा ! अब तुम मेरे शरणागत हो जाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा ।। ४० ।

अथेश्वरः पद्मयोनेः श्रुत्वा गर्ववतीं गिरम् ।
स कोपतः समुत्पाद्य पुरुषं भैरवाकृतिम् ॥ ४१ ।
प्राह पङ्कजजन्माऽसौ शास्यस्ते कालभैरव ।
कालवद्राजसे साक्षात्कालराजस्ततो भवान् ॥ ४२ ।
विश्वं भर्तुं समर्थोऽसि भरणाद् भैरवः स्मृतः ।
त्वत्तो भेष्यति कालोऽपि ततस्त्वं कालभैरवः ॥ ४३ ।
आमर्दयिष्यति भवांस्तुष्टो दुष्टात्मनो यतः ।
आमर्दक इति ख्यातिं ततः सर्वत्र यास्यति ॥ ४४ ।
यतः पापानि भक्तानां भक्षयिष्यति तत्क्षणात् ।
पापभक्षण इत्येव तव नाम भविष्यति ॥ ४५ ।

अथेति । अथाऽनन्तरं स ईश्वरः पद्मयोनेः गिरं श्रुत्वा कोपतः पुरुषमुत्पाद्य तं प्राहेति द्वितोयेनाऽन्वयः । स्वकोपत इति क्वचित्पाठः । किं रूपमिति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह । भैरवाकृतिमिति ॥ ४१ ।

कानि नामानीति चतुर्थस्य प्रश्नस्योत्तरमाह । कालेति ॥ ४२ ।

कालराजनाम सान्वयमुक्त्वा कालभैरवनाम निर्वक्ति । विश्वमिति ॥ ४३ ।

पुनरपि नामद्वयं निर्वक्ति । आमर्दयिष्यतीति द्वयेन । आमर्दयिष्यति पीठयिष्यति । तुष्टः प्रायश्चित्तरूपत्वात्पीडायाः । रुष्ट इति वा पाठः ॥ ४४-४५ ।

इसके अनन्तर ईश्वर ने पद्मयोनि की इस गर्व भरी वाणी को सुनकर क्रोध से ही एक भैरवाकृति पुरुष को उत्पन्न कर उससे कहा—"हे कालभैरव ! तुम इस पंकजजन्मा (ब्रह्मा) का शासन करो, साक्षात् काल के समान विराजमान होने से तुम "कालराज" (नामक) होगे ॥ ४१-४२ ।

तुम विश्व का भरण करने में सर्वथा समर्थ हो, अतः तुम्हारा नाम "भैरव" होगा। तुम से काल भी डरेगा, इसलिये तुम्हारा नाम "कालभैरव" भी प्रसिद्ध होगा ॥ ४३ ।

तुम सन्तुष्ट होकर दुष्टात्माओं का मर्दन करोगे, इसी कारण से तुम सर्वत्र "आमर्दक" नाम से विख्यात होगे ॥ ४४ ।

और भक्तगण के पापों को तत्क्षणात् भक्षण कर लोगे, इसी से तुम्हारा नाम "पापभक्षण" भी पड़ेगा ॥ ४५ ।

या मे मुक्तिपुरी काशी सर्वाभ्योऽपि गरीयसी ।
आधिपत्यं च तस्यास्ते कालराज सदैव हि ॥ ४६ ।
तत्र पापकर्तारस्तेषां शास्ता त्वमेव हि ।
शुभाऽशुभं न तत्कर्म चित्रगुप्तो लिखिष्यति ॥ ४७ ।
एतान्वरान्प्रगृह्याऽथ तत्क्षणात्कालभैरवः ।
वामाङ्गुलिनखाग्रेण चकर्त च शिरो विधेः ॥ ४८ ।
यदङ्गमपराध्नोति कार्यं तस्यैव शासनम् ।
अतो येन कृता निन्दा तच्छिन्नं पञ्चमं शिरः ॥ ४९ ।
यज्ञमूर्तिधरो विष्णुस्ततस्तुष्टाव शङ्करम् ।
भीतो हिरण्यगर्भोऽपि जजाप शतरुद्रियम् ॥ ५० ।

कालभैरवाय वरान् ददाति । या मे इति द्वाभ्याम् । अनेन किं कर्माऽस्येति तृतीयप्रश्नस्योत्तरमुक्तम् । आधिपत्यं पालकत्वम् । अत एवोक्तं कालभैरवाष्टकेऽस्माभिः । ईश्वरदत्तनिजस्थलपालं कुङ्कुमचन्दनमण्डितभालम् । भूतपिशाचपुरस्कृततालं नौमि सदाशिव भैरवदेवमिति ॥ ४६-४७ ।

एतानिति । वामाङ्गुलिनखाग्रेण वामकनिष्ठिकाङ्गुलिनखाग्रेणेत्यर्थः ॥ ४८ ।

ननु ब्रह्मणः पञ्चशिरस्कत्वात् किमित्येकमेव शिरोऽच्छिनत्तत्राह । यदङ्गमिति ॥ ४९ ।

तुष्टाव शतरुद्रियेणेत्यग्रिमस्य विपरिणमय्याऽनुषङ्गः । शतरुद्रियं 'नमस्ते रुद्र मन्यव' इत्यादिस्तोत्रम् ॥ ५० ।

हे कालराज ! मेरी सबसे बड़ी मुक्तिपुरी जो काशी है, उसमें सर्वदा तुम्हारा ही आधिपत्य रहेगा ॥ ४६ ।

वहाँ के पापियों का शासन-भार तुम्हीं को करना पड़ेगा; क्योंकि चित्रगुप्त काशीवासियों के शुभाशुभ कर्मों को न लिखेंगे" ॥ ४७ ।

इसके अनन्तर महादेव से इन सब वरदानों को पाकर कालभैरव ने तुरत अपने बायें हाथ की अंगुलि के नखाग्रभाग से ब्रह्मा का शिर काट लिया ॥ ४८ ।

जो अंग अपराध करे, उसी का शासन करना उचित है, इसलिये ब्रह्मा ने जिस अंग से निन्दा की, वही पंचम शिर काट लिया गया ॥ ४९ ।

यह देखते ही यज्ञमूर्तिधारी विष्णु ने शंकर की स्तुति करनी आरम्भ कर दी और हिरण्यगर्भ भी भयभीत होकर "शतरुद्रिय" का जप करने लगे ॥ ५० ।

आश्वास्य तौ महादेवः प्रीतः प्रणतवत्सलः ।
प्राह स्वां मूर्तिमपरां भैरवं तं कपर्दिनम् ॥ ५१ ।
मान्योऽध्वरोऽसौ भवता तथा शतधृतिस्त्वयम् ।
कपालं वैधसं चापि नीललोहित धारय ॥ ५२ ।
ब्रह्महत्याऽपनोदाय व्रतं लोकाय दर्शयन् ।
चर त्वं सततं भिक्षां कापालव्रतमास्थितः ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो देवस्तेजोरूपस्तदा शिवः ॥ ५३ ।
उत्पाद्य कन्यामेकान्तु ब्रह्महत्येति विश्रुताम् ।
रक्ताम्बरधरां रक्तां रक्तस्रग्गन्धलेपनाम् ॥ ५४ ।

स्वां स्वीयाम् । अत एव नीललोहितेत्यादिभेदेन निर्देशः । तामेवापरां मूर्ति दर्शयति । भैरवमिति । वैधसं वेधसः सम्बन्धि ॥ ५१-५२ ।

व्रतं च भिक्षाटनादिरूपं धारय । धृतिं लोकाय दर्शयन्निति क्वचित् । तत्र धृति धैर्यम् । एतदेव दर्शयति । चर त्वमिति । कपालव्रतं कपालधारणरूपं व्रतं संकल्पम् । संकल्पपूर्वकं कपालधारणं कृत्वेत्यर्थः । तथा च स्मृतिः । शिरः कपालध्वजवान् भिक्षाशी कर्म वेदयन्नित्यादि । अन्तर्हितो भैरवस्येति शेषः ॥ ५३ ।

सर्वात्मनामन्तर्धानमाह । उत्पाद्येति पञ्चभिः । एकां कन्यामुत्पाद्य कालं कालभैरवमनुगच्छेति तां नियोज्य ततोऽन्तर्धानं गत इति पञ्चमेनाऽन्वयः । कन्यां स्त्रियम् । तां विशिनष्टि । रक्ताम्बरधरामिति सार्धद्वयेन । रक्तस्रग् रक्तसमूहः, सैव गन्धः स एव लेपनं यस्यास्ताम् ॥ ५४ ।

तब तो प्रणतवत्सल महादेव ने प्रसन्न होकर ब्रह्मा और विष्णु को आश्वासन देते हुए, अपनी दूसरी मूर्ति कपर्दीभैरव से कहा ॥ ५१ ।

"हे नीललोहित ! यह यज्ञपुरुष और ब्रह्मा (दोनों ही) तुम्हारे माननीय हैं, तुम ब्रह्मा का यह कपाल धारण करो ॥ ५२ ।

और ब्रह्महत्या को दूर करने का कापालिक व्रत ग्रहण कर लोगों को शिक्षा देने के लिये अपना व्रत दिखलाते हुए सर्वदा भिक्षा माँगते हुए घूमो" । यह कहकर वह तेजोरूपी सनातन भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये ॥ ५३ ।

अनन्तर शिव भी रक्तवर्ण, रक्तांबरधारिणी, रक्तमाला पहिने, रक्तचन्दन लेपन किये, दंष्ट्राओं से करालमुखी लपलपाती हुई जीभ से बड़ी ही भयंकर, आकाश

दंष्ट्राकरालवदनां ललज्जिह्वातिभीषणाम् ।
अन्तरिक्षैकपादाग्रां पिबन्तीं रुधिरं बहु ॥ ५५ ।
कर्त्री कर्परहस्ताग्रां स्फुरत्पिङ्गोग्रतारकाम् ।
गर्जयन्तीं महावेगां भैरवस्यापि भीषणाम् ॥ ५६ ।
यावद्वाराणसीं दिव्यां पुरीमेष गमिष्यति ।
तावत्त्वं भीषणे कालमनुगच्छोग्ररूपिणि ॥ ५७ ।
सर्वत्र ते प्रवेशोऽस्ति त्यक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ।
नियोज्य तामिति शिवोऽप्यन्तर्धानं गतस्ततः ॥ ५८ ।
तत्सान्निध्याद्भैरवोऽपि कालोऽभूत्कालकालतः ।
स देवदेववाक्येन बिभ्रत्कापालिकं व्रतम् ॥ ५९ ।

ललन्त्या बहिर्निःसरन्त्या जिह्वयाऽतिशयभीषणामतिशयेन भयङ्कराम् ॥ ५५ ।

कर्त्री करकविशेषस्तस्याः कर्परं खण्डं हस्ताग्रे यस्यास्तां हस्ताग्रकृतभग्नकरकामित्यर्थः । यद्वा कर्त्री दात्रविशेषः कर्परं रक्तपात्रं दात्रेण च्छित्त्वा रुधिरं ग्रहीतुं तदुभयहस्ताग्रामित्यर्थः । स्फुरन्त्यौ पिङ्गे उग्रे तारके कनीनिके यस्यास्ताम् । गर्जयन्तीं भर्त्सयन्तीम् । महान् वेगो यस्यास्ताम् । भैरवस्यापि भीषणां भीतिहेतुं जनयन्तीम् । महोद्वेगं भैरवस्यापि भीषणमिति क्वचित्पाठः ॥ ५६ ।

यावदिति । यावदेष कालभैरवो वाराणसीं प्रवेक्ष्यति, तावदनुगच्छेत्यर्थः ॥ ५७ ।

तत्र हेतुमाह । सर्वत्रेति ॥ ५८ ।

तत्सान्निध्यादिति । तस्या ब्रह्महत्यायाः सान्निध्यात् तयाऽभिभूतत्वादित्यर्थः । भैरवोऽपि कालस्य भयजनकोऽपि । एतदेवाह । कालकालतः । प्रथमान्तात्तसिल् । कालकालोऽपीत्यर्थः । कालकालन इति वा पाठः । कालः कृष्णवर्णोऽभूदित्यर्थः । अत एवोक्तं कालभैरवाऽष्टकेऽस्माभिः । कज्जलसुन्दरदेहमनाथं मृत्युयमान्तकभीषणकायम् । नामविघूर्णितपापकदम्बं नौमि सदाशिवभैरवदेवमिति । अथवा अन्यं ब्रह्महन्तारमिव

में ही एक पाद के अग्रभाग को उठाये, बहुत रुधिर पान करती हुई, हंसुआ और खप्पर को हाथों में लिये, चमकती हुई पीली तारकाओं से ताकती महावेगवती, गर्जती हुई भैरव को भी भयभीत करने वाली ब्रह्महत्या-नाम्नी एक कन्या को बनाकर— "हे उग्ररूपिणि ! भीषणे ! जब लों (तक) यह कालभैरव दिव्य वाराणसी पुरी से (न) जावेगा, तब तक तू इसके पीछे पीछे घूमा कर। तेरी गति वाराणसी पुरी को छोड़कर और सब स्थानों में होगी।" इस प्रकार से उसे आदेश देकर स्वयं अन्तर्हित हो गये ॥ ५४-५८ ।

उस ब्रह्महत्या के सान्निध्य से काल के भी काल भैरव काले पड़ गये, महादेव की आज्ञानुसार कापालिक व्रत धारण कर विश्वमात्र के आत्मा होने पर भी हाथ में

कपालपाणिर्विश्वात्मा चचार भुवनत्रयम् ।
नात्याक्षीच्चापि तं देवं ब्रह्महत्या सुदारुणा ॥ ६० ।
सत्यलोकेऽपि वैकुण्ठे महेन्द्रादिपुरीष्वपि ।
त्रिजगत्पतिरुग्रोऽपि व्रती त्रिजगतीश्वरः ॥ ६१ ।
प्रतितीर्थं भ्रमन्नापि विमुक्तो ब्रह्महत्यया ॥ ६२ ।
अनेनैवाऽनुमानेन महिमा त्ववगम्यताम् ।
ब्रह्महत्याऽपनोदिन्याः काश्याः कलशसम्भव ॥ ६३ ।
सन्ति तीर्थान्यनेकानि बहून्यायतनानि च ।
अधित्रिलोकिनो काश्याः कलामर्हन्ति षोडशीम् ॥ ६४ ।

किमिति तं नाक्रमेत्तत्राह। तत्सान्निध्याद्विश्वेश्वरसान्निध्याद् भैरवोऽपि कालकालतः कालस्यापि भक्षकः कालः कलयति जनयति प्रकाशयतीति वा कालः परब्रह्मस्वरूपोऽभूदित्यर्थः। अनुगमनं तु लोकसंग्रहार्थं काश्या महत्त्वख्यापनार्थं चेति भावः। एतदेवाह। स देवदेववाक्येनेति ॥ ५९।

विश्वस्यात्मा कारणभूतः प्रकाशक इत्यर्थः। सत्यलोकादिभ्यः सर्वतीर्थेभ्यश्च काश्याः श्रेष्ठतामाह। नात्याक्षीदिति पञ्चभिः। सुदारुणाऽतिभयङ्करा। अतिदारुणेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ६०।

वैकुण्ठेऽपि। त्रिजगत्पतिस्त्रिजगतां पालकः। त्रिजगतीश्वरस्त्रिजगत्या नियन्ता ॥ ६१।

भ्रमन्नाऽपीत्यपिशब्दो भिन्नक्रमे। प्रतितीर्थं भ्रमन्नपि ब्रह्महत्यया न विमुक्त इत्यर्थः ॥ ६२।

आयतनानि क्षेत्राणि। चकारात्सत्यलोकादयः संगृह्यन्ते। अधित्रिलोकि त्रिलोकीमध्य इत्यर्थः। नो निषेधे ॥ ६४।

कपाल लेकर त्रिभुवन में विचरण करने लगे; परन्तु उस दारुण ब्रह्महत्या ने उनको नहीं छोड़ा ॥ ५९-६०।

त्रिभुवनपालक त्रैलोक्यनायक व्रतधारी उग्ररूप भैरव भी सत्यलोक, बैकुण्ठ एवं इन्द्रादि देवताओं की नगरियों में और प्रत्येक तीर्थों में परिभ्रमण करते रहने पर भी उस ब्रह्महत्या से विमुक्त नहीं हो सके ॥ ६१-६२।

हे कुंभज ! इसी से अनुमान कर ब्रह्महत्या को हटाने वाली काशी की महिमा समझ लो ॥ ६३।

यद्यपि अनेक तीर्थ, बहुत से क्षेत्र त्रैलोक्य में पड़े ही हैं; परन्तु वे सब काशी की षोडशी कला के भी समान नहीं हैं ॥ ६४।

तावद् गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यादिकान्यलम् ।
यावन्नाम न शृण्वन्ति काश्याः पापाचलाशनेः ॥ ६५ ॥
प्रमथैः सेव्यमानोऽयं त्रिलोकीं विचरन् हरः ।
कापालिको ययौ देवो नारायणनिकेतनम् ॥ ६६ ॥
अथायान्तं महाकालं त्रिनेत्रं सर्पकुण्डलम् ।
महादेवांशसम्भूतं भैरवं भीषणाकृतिम् ॥ ६७ ॥
पपात दण्डवद् भूमौ दृष्ट्वा तं गरुडध्वजः ।
देवाश्च मुनयश्चैव देवनार्यः समन्ततः ॥ ६८ ॥
निपेतुः प्रणिपत्यैनं प्रणतः कमलापतिः ।
शिरस्यञ्जलिमारोप्य स्तुत्वा बहुविधैः स्तवैः ॥ ६९ ॥

पापाचलाशनेः पापपर्वतवज्रस्य तन्नाशकस्येत्यर्थः ॥ ६५ ।

वैकुण्ठेऽपि नात्याक्षीदिति यदुक्तं तद्दर्शयति । निकेतनं वैकुण्ठम् । यद्वा नारायणनिकेतनं श्वेतद्वीपं महाकालपुरं वा ॥ ६६ ।

अथायान्तमिति रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिव इति हरिवंशोक्तभूतं रुद्रमेव कालभैरवं दृष्ट्वा विष्णोर्दण्डवद् भूमौ पतनं नाश्चर्यमिति विष्णुभक्तैर्मनो न खेदनीयम् । अत एव महादेवाऽभेदेन स्तोष्यति भगवान् अयं धातेत्यादिना । एवं विष्णुं दृष्ट्वा शिवस्याऽपि नत्यादिकं नाश्चर्यमिति शिवभक्तैः संतोष्टव्यमिति ॥ ६७ ।

भूमौ तत्स्थाने देवादयश्च निपेतुर्दण्डवत्पतिता इत्यर्थः ॥ ६८ ।

दण्डपाताऽनन्तरं किमकरोद् भगवानित्याकाङ्क्षायामाह । प्रणिपत्येति । सत्कृत्य ॥ ६९ ।

ब्रह्महत्यादि पापगण तभी तक अत्यन्त गर्जते रहते हैं, जब तक वे सब पातक पर्वत की वज्ररूपा काशी का नाम नहीं सुन पाते ॥ ६५ ।

अतः परम प्रमथगणों के द्वारा सेव्यमान कापालिक व्रतधारी भगवान् कालभैरव त्रैलोक्य में विचरण करते हुए नारायण के निकेतन (श्वेतद्वीप) में जा पहुँचे ॥ ६६ ।

तदनन्तर गरुड़ध्वज ने सर्पकुंडलधारी त्रिलोचन भयंकरस्वरूप महादेव के अंशभूत महाकाल भैरव को आते हुए देखकर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम किया। (यह देख) चारों ओर से देवता, मुनि और देवनारीगण सभी इनको प्रणाम करने लगे। फिर कमलापति हरि ने प्रणतरूप से शिर पर अंजलि बांधकर विविध-विध के स्तोत्रों से स्तुति कर, क्षीरसमुद्र के मंथन से उत्पन्न पद्मालया (लक्ष्मी) से कहा—"अयि

क्षीरोदमथनोद्भूतां प्राह पद्मालयां हरिः ।
प्रिये पश्याऽब्जनयने धन्याऽसि सुभगेऽनघे ॥ ७० ।
धन्योऽहं देवि सुश्रोणि यत्पश्यावो जगत्पतिम् ।
अयं धाता विधाता च लोकानां प्रभुरीश्वरः ॥ ७१ ।
अनादिः शरणः शान्तः परः षड्विंशसंमितः ।
सर्वज्ञः सर्वयोगीशः सर्वभूतैकनायकः ॥ ७२ ।
सर्वभूतान्तरात्माऽयं सर्वेषां सर्वदः सदा ।
यं विनिद्रा विनिःश्वासाः शान्ता ध्यानपरायणाः ॥ ७३ ।
धिया पश्यन्ति हृदये सोऽयमद्य समीक्ष्यताम् ।
यं विदुर्वेदतत्त्वज्ञा योगिनो यतमानसाः ॥ ७४ ।
अरूपो रूपवान् भूत्वा सोऽयमायाति सर्वगः ।
अहो विचित्रं देवस्य चेष्टितं परमेष्ठिनः ॥ ७५ ।
यस्याख्यां ब्रुवतां नित्यं न देहः सोऽपि देहधृक् ।
यं दृष्ट्वा न पुनर्जन्म लभ्यते मानवैर्भुवि ॥ ७६ ।

अयमित्यङ्गुल्या निर्दिशति । स्वयमिति क्वचित् । धाता धर्ता पोष्टा सामान्यतोऽन्तर्यामिरूपेण । विधाता विशेषतो मात्रादिरूपेण भृगोः पुत्रद्वयरूपो वा । सर्वात्मकत्वात् कालराजस्य ॥ ७१ ।

षड्विंशसंमितः परमात्मतया निरूपितः ॥ ७२ ।

सर्वभूतान्तरात्मा सर्वप्राणिनामन्तर्यामी । विनिःश्वासा जितप्राणा इत्यर्थः ॥७३।

वेदतत्त्वं ब्रह्म तज्ज्ञा वेदतत्त्वज्ञाः ॥ ७४ ।

प्रिये ! कमलनेत्रे ! देखो, तुम आज धन्य हो, हे सुभगे ! अनघे ! सुश्रोणि ! देवि ! मैं भी धन्य हूँ; क्योंकि हम दोनों ही आज त्रिजगत्पति को देख रहे हैं। यही धाता, विधाता, लोकों के प्रभु, ईश्वर, अनादि, शरण, शान्त, परात्पर और परमात्मा हैं, यही सर्वज्ञ, सर्वयोगीश्वर, सर्वभूतैकभावन, समस्त भूतों के अन्तरात्मा, सब किसी के सर्वदा सर्वाभीष्टदाता हैं। इन्हें शान्त योगिगण तन्द्राहीन, निरुद्धश्वास और ध्यान-परायण होकर ज्ञानचक्षु से हृदय में देखते हैं। तुम भी आज उन्हें देख लो। जितेन्द्रिय, वेदतत्त्वज्ञ योगिगण जिसे जान सकें, वे ही सर्वव्यापी रूपरहित भी भगवान् रूप धारण कर ये आ रहे हैं। अहो ! भगवान् परब्रह्म की विचित्र ही लीला है ॥ ६७-७५ ।

जिसका नाम नित्य कीर्तन करने से देह धारण नहीं करना पड़ता, आज वे ही देह-धारण किये हुए हैं। जिसके दर्शन करने से मनुष्य को पृथिवी पर फिर जन्म नहीं

सोऽयमायाति भगवांस्त्र्यम्बकः शशिभूषणः।
पुण्डरीकदलायामे धन्ये मेऽद्य विलोचने ॥ ७७ ।

धिग् धिक् पदं तु देवानां परं दृष्ट्वाऽत्र शङ्करम् ।
लभ्यते यन्न निर्वाणं सर्वदुःखान्तकृत्तु यत् ॥ ७८ ।

देवत्वादशुभं किञ्चिद्देवलोके न विद्यते।
दृष्ट्वाऽपि सर्वदेवेशं यन्मुक्तिं न लभामहे ॥ ७९ ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशः संप्रहृष्टतनूरुहः ।
प्रणिपत्य महादेवमिदमाहवृषध्वजम् ॥ ८० ।

किमिदं देवदेवेन सर्वज्ञेन त्वया विभो ।
क्रियते जगतां धात्रा सर्वपापहराऽव्यय ॥ ८१ ।

त्र्यम्बकः त्रिनेत्रः । पुण्डरीकदलायामे पद्मपत्रवदायते विस्तृते इति यावत् ॥७७।

परं परमेश्वरं केवलमिति वा । किं तन्निर्वाणं तदाह । सर्वदुःखान्तकृत्तु यदिति । अशेषानर्थोच्छित्तिकृदेव यदित्यर्थः । सर्वदुःखान्तकर्तृ यदिति क्वचित् । सर्वदुःखान्तकर्तृवदिति चान्यत्र । तत्र कर्मकर्तृवदिति साधर्म्ये वैधर्म्ये वा दृष्टान्तः ॥ ७८ ।

एतदेव विवृणोति । देवत्वादिति । भारतवर्षस्यैव बाहुल्येन मोक्षादिस्थानत्वादिति भावः ॥ ७९ ।

मिलता, वे ही चन्द्रशेखर भगवान् त्र्यंबक ये आ रहे हैं। आज मेरे कमलदल के तुल्य विशाल दोनों नयन सफल हुए (जो लीलारूपधारी भगवान् का दर्शन कर धन्य हो रहा हूँ) ॥ ७६-७७ ।

देवों के पद को धिक्कार है, जो भगवान् शंकर का दर्शन पाने पर भी समस्त दुःखों के विनाशक निर्वाण पद को नहीं पाता ॥ ७८ ।

देवलोक में देवत्व से अशुभ और कुछ भी नहीं है; क्योंकि समस्त देवताओं के स्वामी को देखकर भी हमलोग मुक्तिलाभ नहीं कर सकते हैं ॥ ७९ ।

आनन्द से पुलकित शरीर होकर हृषीकेश ने लक्ष्मी से ये बातें कर, प्रणामपूर्वक वृषभध्वज महादेव से यह कहा ॥ ८० ।

"सर्वपापहर ! अव्यय ! विभो ! आप देवदेव सर्वज्ञ और त्रैलोक्य के विधाता

क्रीडेयं तव देवेश त्रिलोचन महामते ।
किं कारणं विरूपाक्ष चेष्टितं ते स्मरार्दन ॥ ८२ ।
किमर्थं भगवन् शम्भो भिक्षां चरसि शक्तिप ।
संशयो मे जगन्नाथ नतत्रैलोक्यराज्यद ॥ ८३ ।
एवमुक्तस्ततः शम्भुः विष्णुमेतदुदाहरत् ।
ब्रह्मणस्तु शिरश्छिन्नमङ्गुल्यग्रनखेन ह ॥ ८४ ।
तदघप्रतिघं विष्णो चराम्येतद्व्रतं शुभम् ।
एवमुक्तो महेशेन पुण्डरीकविलोचनः ॥ ८५ ।
स्मित्वा किञ्चिन्नतशिराः पुनरेवं व्यजिज्ञपत् ।
यथेच्छसि तथा क्रीड सर्वविष्टपनायक ॥ ८६ ।
मायया मां महादेव न च्छादयितुमर्हसि ।
नाभीकमलकोशात्तु कोटिशः कमलासनान् ॥ ८७ ।

शक्तिप हे मायानियन्तः ॥ ८३ ।

यदप्रतिघं तदघस्य प्रतिहन्तृ ॥ ८५ ।

स्मित्वा अहो ईश्वरलीलेति विस्मयेन ईषद्धास्यं कृत्वा । सर्वविष्टपनायक अशेषलोकपते ॥ ८६ ।

छादयितुं वञ्चयितुम् । मायात्वमेव दर्शयति । नाभीत्यादिना ॥ ८७ ।

होने पर भी यह क्या कर रहे हैं ? हे काममर्दन ! विरूपाक्ष ! आपके इस आचरण का कारण क्या है ? हे जगन्नाथ ! आप तो प्रणतजनों को त्रैलोक्य का राज्य देने वाले हैं, अतएव इस विषय में मुझे बड़ा सन्देह उत्पन्न हो रहा है" ॥ ८१-८३ ।

विष्णु के यह कहने पर शंभु उनसे बोले—"विष्णो ! मैंने अंगुलि के नखाग्र से ब्रह्मा का मस्तक काट दिया था" ॥ ८४ ।

उसी पाप के निवृत्यर्थ इस शुभव्रत का आचरण कर रहा हूँ, महेश्वर के ऐसा कहने पर पुण्डरीकाक्ष ने शिर झुकाय (झुकाकर) मुसकुरा कर, फिर यों निवेदन किया—'हे सर्वलोकनाथ ! आपकी जैसी इच्छा हो, वैसी ही क्रीड़ा करें' ॥ ८५-८६ ।

परन्तु हे महादेव ! मुझको अपनी माया से ढाँप देना आपके योग्य नहीं है । हे ईश ! आपके ही आज्ञाबल से मैं अपने नाभिकमल के कोश से कल्प-कल्प में

कल्पे कल्पे सृजामीश त्वन्नियोगबलाद् विभो ।
त्यज मायामिमां देव दुस्तरामकृतात्मभिः ॥ ८८ ।
मदादयो महादेव मायया तव मोहिताः ।
यथावदवगच्छामि चेष्टितं ते शिवापते ॥ ८९ ।
संहारकाले सम्प्राप्ते सदेवानखिलान्मुनीन् ।
लोकान् वर्णाश्रमवतो हरिष्यसि यदा हर ॥ ९० ।
तदा क्व ते महादेव पापं ब्रह्मवधादिकम् ।
पारतन्त्र्यं न ते शम्भो स्वैरं क्रीडेत्ततो भवान् ॥ ९१ ।
अतीतब्रह्मणामस्थ्नां स्त्रक्कण्ठे तव भासते ।
तदा तदा क्व नु गता ब्रह्महत्या तवाऽनघ ॥ ९२ ।

मदादय इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तदेव दर्शयति । यथावदिति । यद्वा, मदादयोऽहं विष्णुरादिर्येषां ते मदादयस्तव मायया मोहिताः । अतस्तव चेष्टितं यथावत्परमार्थमिवावगच्छामि ॥ ८९ ।

न चैतत्संगच्छत इत्याह । संहारेति ॥ ९० ।

अस्थ्नां स्त्रक्कीकसानां मालां । तदा तदा तस्मिंस्तस्मिन् संहारकाले । क्व कुत्र । नु पृच्छायाम् । गता प्राप्ता आगतेति वा ॥ ९२ ।

कोटिशः ब्रह्माओं का सृजन करता हूँ । सो, हे विभो ! मूढ़ लोगों से दुस्तर इस माया को छोड़ दीजिये ॥ ८७-८८ ।

हे देवदेव ! हम लोग तो सभी कोई आपकी माया से मोहित हैं, उमापते ! इसी से मैं आपका खेलवाड़ (भले ही) जान सका हूँ ॥ ८९ ।

हे हर ! जब (कि) आप प्रलयकाल के उपस्थित होने पर समस्त देवता, मुनि और वर्णाश्रमधर्म वालों का संहार करेंगे ॥ ९० ।

हे महादेव ! तब आपको यह ब्रह्महत्या आदि कहाँ रहेगी ? हे शम्भो ! आप किसी के पराधीन नहीं हैं, अतएव जो चाहें खेल करें । ("परम स्वतंत्र न शिर पर कोई, चाहे मनहि करहु जोइ सोई" तु० रा०) ॥ ९१ ।

अनघ ! कितने ही अतीत (भूतपूर्व) ब्रह्माओं की हड्डियों की माला आपके गले में शोभायमान है, तो भला उस समय आपकी ब्रह्महत्या कहाँ चली गई थी ? ॥ ९२ ।

कृत्वाऽपि सुमहत्पापं त्वां यः स्मरति भावतः ।
आधारं जगतामीशं तस्य पापं विलीयते ॥ ९३ ।
यथा तमो न तिष्ठेत सन्निधावंशुमालिनः ।
तथा न भवभक्तस्य पापं तस्य व्रजेत्क्षयम् ॥ ९४ ।
यश्चिन्तयति पुण्यात्मा तव पादाम्बुजद्वयम् ।
ब्रह्महत्यादिकमपि पापं तस्य व्रजेत्क्षयम् ॥ ९५ ।
तव नामाऽनुरक्ता वाग्यस्य पुंसो जगत्पते ।
अप्यद्रिकूटतुलितं नैनस्तमनुबाधते ॥ ९६ ।
रजसा तमसा विवर्धितं क्व नु पापं परितापदायकम् ।
क्व च ते शिवनाममङ्गलं जनजीवातु जगद्रुजापहम् ॥ ९७ ।

कैमुत्यन्यायेन सदृष्टान्तं पापाभावमाह। कृत्वाऽपीति द्वयेन। भावतो भक्त्या ॥ ९३ ।

भवस्य तव भक्तो भवभक्तस्तस्य सन्निधौ पापं न तिष्ठेदित्यस्यार्थमाह। पापं तस्येति । तथा न तव भक्तस्याप्यघं सान्निध्यमृच्छतीति पाठे ऋजुरेवार्थः ॥ ९४ ।

पुनरपि कैमुत्यन्यायमभिप्रेत्याह। तवेति त्रिभिः। अद्रिकूटतुलितं पर्वतश्रृङ्ग-सदृशं पर्वतसमूहतुल्यं वा । एनः पापम् ॥ ९६ ।

विवर्धितं विशेषेण वर्धितम् । विभावितमिति पाठे विशेषेण भावितं सम्पादित-मित्यर्थः। जनजीवातु जनानां जीवनौषधम्। जीवातुर्जीवनौषधमिति वचनात्। न केवलं जीवनमात्रस्यौषधं किन्तु जगद्रुजापहं संसाररोगनाशकं च। पूर्वपदे षंढत्वमार्षं कर्मधारयो वा ॥ ९७ ।

जो कोई बड़े-बड़े पापों के करने पर भी भक्तिभाव से जगत् के आधार ईश्वर आपको स्मरण करता है, उसके पाप विलय को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९३ ।

जैसे सूर्य के समीप अन्धकार नहीं ठहर सकता, वैसे ही आपके भक्त का पाप भी क्षय हो जाता है ॥ ९४ ।

जो पुण्यात्मा जन आपके दोनों चरणकमलों का ध्यान मात्र करता है, उसके ब्रह्महत्यादिक भी पातक क्षय को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९५ ।

हे जगत्पते ! जिस किसी की वाणी आपके नाम को अनुरागिणी हो जाती है, उसे पर्वत-श्रृंग के समान भी (ऊँचे और भारी) पातक कुछ बाधा नहीं दे सकते ॥ ९६ ।

हे शिव ! रजोगुण और तमोगुण से परिवर्द्धित, संतापदायक पाप कहाँ, और संसाररूपी रोग का विनाशक एवं सभी लोगों का जीवनौषध आपका मंगलमय (शिव) नाम ही कहाँ ? ॥ ९७ ।

यदि जातु चिदन्धकद्विषस्तव नामोष्ठपुटाद्विनिःसृतम् ।
शिवशङ्करचन्द्रशेखरेत्यसकृत्तस्य न संसृतिः पुनः ॥ ९८ ।
परमात्मन् परं धाम स्वेच्छाविधृतविग्रह ।
कुतूहलं तवेशेदं क्व पराधीनतेश्वरे ॥ ९९ ।
अद्य धन्योऽस्मि देवेश यं न पश्यन्ति योगिनः ।
पश्यामि तं जगन्मूलं परमेश्वरमक्षयम् ॥ १०० ।
अद्य मे परमो लाभस्त्वद्य मे मङ्गलं परम् ।
त्वद्दृष्ट्यमृततृप्तस्य तृणं स्वर्गापवर्गदम्[1] ॥ १०१ ।

यदीति । हे शिव ! यस्य पुरुषस्य जातु कदाचिदपि अन्धकद्विषस्तव शिव-शङ्करचन्द्रशेखरेति नाम ओष्ठपुटाद् विनिःसृतं तस्य पुनः असकृत्पुनः पुनर्जायमाना संसृतिर्न । [2]तन्नहीतिपाठे तत्तस्य नहि नैवेत्यर्थः ॥ ९८ ।

इतः परमन्यच्छ्रेयो नास्तीति बहुधा सम्बोधयन् प्रकृतमुपसंहरति । परमात्मन्निति ॥ ९९ ।

ननु वैकुण्ठकैवल्यपतेस्तव कथमयं प्रलापस्तत्राह । त्वद्दृष्टीति । तृणं तुच्छम् । परमिति पाठे परं दूरं निकृष्टमिति यावत् ॥ १०१ ।

अन्धकरिपो ! यदि कभी मनुष्य के ओष्ठपुट से "शिव, शंकर, चन्द्रशेखर" इत्यादि आपके नाम निकल पड़ें, तो उसे फिर बारंबार संसार में उत्पन्न नहीं होना पड़ता ॥ ९८ ।

हे ईश ! आप परमात्मा, परमधाम और स्वेच्छानुरूप मूर्तिधारी हैं। यह सब तो आपका कौतूहल (क्रीड़ा) है, नहीं तो भला ईश्वर में पराधीनता कहाँ है ॥ ९९ ।

हे देवेश ! आज मैं धन्य हूँ, जो कि योगियों को भी जिसका दर्शन नहीं प्राप्त होता, उसी अक्षय (अविनाशी), जगत् के मूल परमेश्वर को (साक्षात्) देख रहा हूँ ॥ १०० ।

आज मुझे परम लाभ हुआ, आज मेरा बड़ा ही मंगल है, जो आपके दर्शनरूप अमृत से सन्तुष्ट होकर मैं स्वर्ग और अपवर्ग दान को भी तृण-सा मान रहा हूँ ॥१०१।

---

१. वैकुण्ठादिकमिति शेषः ।

२. तस्य नेत्यत्र ।

इत्थं वदति गोविन्दे विमला पद्मया तया ।
मनोरथवतीनामभिक्षापात्रे समर्पिता ॥ १०२ ।
भिक्षाटनाय देवोऽपि निरगात्परया मुदा ।
दृष्ट्वाऽनुयायिनीं तां तु समाहूय जनार्दनः ॥ १०३ ।
सम्प्रार्थयद् ब्रह्महत्यां विमुञ्च त्वं त्रिशूलिनम् ।

ब्रह्महत्योवाच—

अनेनाऽपि मिषेणाऽहं संसेव्यामुं वृषध्वजम् ।
आत्मानं पावयिष्यामि क्व पुनर्भवदर्शनम् ॥ १०४ ।
सा तत्याज न तत्पार्श्वं व्याहृताऽपि मुरारिणा ।
तमूचेऽथ हरिं शम्भुः स्मेरास्यो वचनं शुभम् ॥ १०५ ।
त्वद्वाक्यपीयूषपानेन तृप्तोऽस्मि बहुमानद ।
वरं वृणीष्व गोविन्द वरदोऽस्मि तवाऽनघ ॥ १०६ ।

विमला शुद्धा पवित्रेति यावत् । मनोरथवती अभीष्टवतो अमृतकल्पेत्यर्थः ॥ १०२ ।

भिक्षाटनायेति । अन्यत्रापि भिक्षाटनाय निरगान्निर्गन्तुमुद्यत इत्यर्थः ॥ १०३ ।

अनेन मिषेण व्याजेन भवदर्शनं शिवदर्शनम् । भवस्य संसारस्य दर्शनमिति वा ॥ १०४ ।

स्मेरास्यः प्रहसितवदनः । स्मेराक्ष इति पाठे विकसितनेत्र इत्यर्थः ॥ १०५ ।

विष्णु के इस प्रकार कहने के अनन्तर स्वयं लक्ष्मीदेवी ने महादेव के भिक्षापात्र में शुद्ध मनोरथवती नाम को भिक्षा डाल दी ॥ १०२ ।

तब तो भैरव देव भी बड़ी प्रसन्नता के साथ भिक्षाटन करने के लिये वहाँ से चल पड़े। अनन्तर जनार्दन ने ब्रह्महत्या को उनके पीछे पीछे जाती हुई देख, बुलाकर उससे कहा कि, त्रिशूली को छोड़ दे ॥ १०३ ।

ब्रह्महत्या बोली—

"मैं इसी मिष (बहाने) से वृषभध्वज की सेवा कर अपने को पवित्र करती हूँ; क्योंकि फिर शिव का दर्शन कहाँ मिलेगा" ? ॥ १०४ ।

विष्णु के कहने पर भी ब्रह्महत्या ने भैरव का पीछा नहीं छोड़ा, अनन्तर मुसकुराते हुए शम्भु ने विष्णु से इस शुभवचन को कहा ॥ १०५ ।

"हे बहुमानद ! गोविन्द ! मैं तुम्हारे वाक्यामृत के पान करने से परम सन्तुष्ट हुआ हूँ, सो (अतः) हे अनघ ! मैं तुमको वर देता हूँ, तुम वर माँगो ॥ १०६ ।

न माद्यन्ति तथा भैक्षैर्भिक्षवोऽप्यतिसंस्कृतैः ।
यथा मानसुधापानैर्नुन्नभिक्षाटनज्वराः ॥ १०७ ।

महाविष्णुरुवाच—

एष एव वरः श्लाघ्यो यदहं देवताधिपम् ।
पश्यामि त्वां देवदेवं मनोरथपथातिगम् ॥ १०८ ।
अनभ्रेयं सुधावृष्टिरनायासो महोत्सवः ।
अयत्नो निधिलाभो यद्वीक्षणं हर तें सताम् ॥ १०९ ।
अवियोगोऽस्तु मे देव त्वदङ्घ्रियुगलेन वै ।
एष एव वरः शम्भो नान्यं कञ्चिद्वरं वृणे ॥ ११० ।

ननु मनोरथवर्तीं भिक्षां त्यक्त्वा किमिति वाक्सुधापानेनैव तृप्तिरावेद्यते तत्राह। **न माद्यन्तीति**। न माद्यन्ति न हृष्यन्ति। नुन्नभिक्षाटनज्वरा गतभिक्षाटनक्लेशाः। ननु भिक्षाटनज्वरा इति पाठे ननु न च विद्यते भिक्षाटनज्वरो भिक्षाटनकृतो ज्वरो येषां ते तथेत्यर्थः ॥ १०७-१०८ ।

ननु वरान् विहाय किमिति दर्शनमेव मृग्यते तत्राह। **अनभ्रेति**। हे हर ! ते सतां त्वद्भक्तानाम्। यद्वा सतां शिवविष्ण्वोरभेददर्शिनां ते तव यद्दर्शनं सतां तव च दर्शनमिति वा। इयमनभ्रा सुधावृष्टिर्वृष्ट्यपेक्षितसमये मेघरहिता जलवृष्टिः। निधिलाभः शेवधिलाभः ॥ १०९ ।

यत एव मनोऽवियोगोऽस्त्विति। अथवा तथापि मम सन्तोषार्थं कश्चिद्वरः प्रार्थ्यतामिति चेत्तत्राह। **अवियोगोऽस्त्विति**। अप्रार्थितमपि ददाति। सर्वेषामिति ॥ ११० ।

भिक्षुकगण भी अत्यन्त विधि से बनाये हुए भक्ष्यद्रव्यों से वैसे कभी नहीं सन्तुष्ट होते, जैसे कि आदररूपी अमृत के पीने से उनका भिक्षाटन रूप ज्वर उतर जाता है ॥ १०७ ।

महाविष्णु कहने लगे—

मेरा यही वर परम प्रशंसनीय है, जो समस्त देवताओं के अधिपति, मनोरथ-पथ से अतीत देवदेव आपका दर्शन पा रहा हूँ ॥ १०८ ।

हे हर ! आपका दर्शन तो सज्जनलोगों के लिये विना मेघ की सुधावृष्टि, अनायास महान् उत्सव और विना प्रयत्न निधि-लाभ के समान है ॥ १०९ ।

देव ! आपके चरणयुगल से मेरा कभी वियोग न होवे, शम्भो ! यही मेरी प्रार्थना है, दूसरा और कोई वर मैं नहीं चाहता ॥ ११० ।

श्री ईश्वर उवाच[1]—

एवं भवतु तेऽनन्त यत्त्वयोक्तं महामते।
सर्वेषामपि देवानां वरदस्त्वं भविष्यसि ॥ १११ ।
अनुगृह्येति दैत्यारिं केन्द्रादिभुवने चरम्।
भेजे विमुक्तिजननीं नाम्ना वाराणसीं पुरीम् ॥ ११२ ।
यत्र स्थितानां जन्तूनां कलां नार्हन्ति षोडशीम्।
अपि ब्रह्मादिदेवानां पदानि विपदां पदम् ॥ ११३ ।
वरं वाराणसीवासो जटी मुण्डो दिगम्बरः।
नान्यत्र [2]च्छत्रसंछन्नवसुधामण्डलेश्वरः ॥ ११४ ।

केन्द्रादिभुवने ब्रह्मेन्द्रादीनां लोके ॥ ११२ ।

प्रसङ्गात्काशीं स्तौति । यत्र स्थितानामित्यारभ्य क्षेत्रे प्रविष्ट इत्यतः प्राक्तनेन । पदानि सत्यलोकादिस्थानानि । नार्हन्तीत्यत्र हेतुगर्भविशेषणमाह । विपदां पदमाश्रयः ॥ ११३ ।

जटी पाशुपतादिः । मुण्डो एकदण्ड्यादिः । दिगम्बरोऽवधूतादिः ॥ ११४ ।

श्रीभैरव ने कहा—

हे महामते ! अनन्त ! जो तुमने कहा, वही तुमको प्राप्त होगा और तुम स्वयं समस्त देवताओं के वरदायक होंगे ॥ १११ ।

विष्णु भगवान् को इस वरदान से अनुगृहीत कर कालभैरव ब्रह्मा एवं इन्द्र आदि लोकों में भ्रमण करते हुए मुक्तिजननी काशीपुरी की यात्रा को चले ॥ ११२ ।

जिस काशी में निवास करनेवाले जन्तुओं की षोडशी कला के समान भी विपत्तियों के आकर ब्रह्मादि देवताओं के पद कभी नहीं हो सकते ॥ ११३ ।

उसी वाराणसी नगरी में जटाधारी, मुण्डित-मुण्ड अथवा दिगम्बर (नग्न) ही रहनेवाला बहुत अच्छा है; परन्तु अन्य स्थान में एकच्छत्र ससमुद्र वसुधा-मंडलाधिपति होना भला नहीं है ॥ ११४ ।

---

१. श्रीभैरव इत्यपि पाठः ।
२. संपन्नेति क्वचित्पाठः ।

वरं वाराणसीभिक्षा न लक्षाधिपताऽन्यतः ।
लक्षाधीशो विशेद् गर्भं तद्भिक्षाशो न गर्भभाक् ॥ ११५ ।
भिक्षाऽपि यत्र भिक्षुभ्यो दत्तामलकसंमिता ।
सुमेरुणाऽपि तुलिता वाराणस्यां गुरुर्भवेत् ॥ ११६ ।
वर्षाशनं हि यो दद्यात् काश्यां सीदत्कुटुम्बिने ।
यावन्त्यब्दानि तावन्ति युगानि स दिवीज्यते ॥ ११७ ।
वाराणस्यां वर्षभोज्यं यो दद्यान्निरुपायिने ।
स कदाचित्तृट्क्षुधा नो दुःखं भुङ्क्ते नरर्षभः ॥ ११८ ।
वाराणस्यां निवसतां यत्पुण्यमुपजायते ।
तदेव संवासयितुः फलं त्वविकलं भवेत् ॥ ११९ ।

अन्यतोऽन्यत्र । तद्भिक्षाशी वाराणसीभिक्षाभोजी ॥ ११५ ।

भिक्षेति । यत्र काश्यां संन्यासिभ्य आमलकपरिमितापि दत्ता या भिक्षा सा मेरुणा तुलिता तुलनार्थमुन्मानपात्रे धृता सती वाराणस्या भिक्षा गुरुर्गुर्वी स्यादित्यर्थः ॥ ११६ ।

सीदत्कुटुम्बिने क्षुधापीडितकलत्रादिमते । इज्यते देवैरिति शेषः ॥ ११७ ।

निरुपायिने जीवनोपायरहिताय । तृट् क्षुधासंपन्नं दुःखम् । यद्वा, तृट् क्षुधा स्तृषः क्षुधाश्च तदुभयजन्यं सामान्यं वा दुःखं नो भुङ्क्ते न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ११८ ।

संवासयितुः सम्यग्वासं कारयितुः । तु एव अविकलमेव समग्रमेव भवेदित्यर्थः ॥ ११९ ।

वाराणसी में भिक्षाटन करके भी निवास करना सर्वथा उत्तम ही है; परन्तु अन्यत्र लक्षाधिपति होना अच्छा नहीं है; क्योंकि लखपती को भी गर्भ में प्रवेश करना ही पड़ेगा, पर वाराणसी में भीख माँगकर खानेवाले को गर्भयन्त्रणा कदापि न भोगनी पड़ेगी ॥ ११५ ।

वहाँ पर आंवले के फल के समान भी भिक्षा भिक्षुकों को देने से वह सुमेरु पर्वत से भी भारी हो जाती है ॥ ११६ ।

काशी में जो कोई दरिद्र कुटुम्बी को वर्षभर का भोजन-वस्तु दान करता है, वह जितने वर्ष के लिये देता है, उतने ही युग परिमाण से स्वर्ग में देवताओं से पूजित होता रहता है ॥ ११७ ।

जो मनुष्य वाराणसीक्षेत्र में निरुपायजन को वर्षभोज्य दान करता है, उसे कभी भी क्षुधा एवं तृषा का दुःख भोगना नहीं पड़ता ॥ ११८ ।

काशीधाम में स्वयं वास करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, वही अविकल (ज्यों का त्यों) फल दूसरे किसी के वास करा देने से भी प्राप्त हो जाता है ॥ ११९ ।

ब्रह्महत्यादिपापानि यस्या नाम्नोऽपि कीर्तनात् ।
त्यजन्ति पापिनं काशी सा केनेहोपमीयते ॥ १२० ।
क्षेत्रे प्रविष्टमात्रेऽथ भैरवे भीषणाकृतौ ।
हा हेत्युक्त्वा ब्रह्महत्या पातालतलमाविशत् ॥ १२१ ।
कपालं ब्रह्मणो रुद्रः सर्वेषामेव पश्यताम् ।
हस्तात्पतितमालोक्य ननर्त परया मुदा ॥ १२२ ।
विधेः कपालं नामुञ्चत् करमत्यन्त[1]दुःसहम् ।
हरस्य भ्रमतः क्वाऽपि तत्काश्यां क्षणतोऽपतत् ॥ १२३ ।
शूलिनो ब्रह्मणो हत्या नापैति स्म च या क्वचित् ।
सा काश्यां क्षणतो नष्टा कथं काशी न दुर्लभा ॥ १२४ ।
अतः प्रदक्षिणीकार्या पूजनीया पुरी त्वियम् ॥ १२५ ।

नाम्नोऽपि कीर्तनात् । किं पुनः प्रवेशनादिकादिति भावः ॥ १२० ।

रुत् संसारदुःखं भक्तानां द्रावयतीति रुद्रः कालभैरवः ॥ १२२ ।

पुनरपि काशीं वर्णयति। विधेरित्यारभ्य कपालमोचनमित्यतः प्राक्तनेन ॥ १२३ ।

जिसका केवल नाम ले लेने से ही ब्रह्महत्यादिक पातक पापीजन को छोड़ भागते हैं, इस संसार में उस काशी की उपमा किससे दी जावे ? ॥ १२० ।

इसके अनन्तर भयंकर स्वरूप भैरव के काशी-क्षेत्र में प्रवेश करने मात्र से ब्रह्महत्या हाय ! हाय ! कहकर पातालतल में घुस गई ॥ १२१ ।

उनके हाथ से ब्रह्मा का कपाल सब किसी के देखते गिर पड़ा, इसी कारण से भैरव भगवान् परम आनन्दित होकर नृत्य करने लगे ॥ १२२ ।

भैरव के नानास्थानों में भ्रमण करते रहने पर भी जो दुःसह कपाल उनके हाथ को नहीं छोड़ता था, काशी में पहुँचते ही क्षणमात्र में वह गिर गया ॥ १२३ ।

यों ही जिस ब्रह्महत्या ने कहीं भी उनका संग नहीं छोड़ा, वह काशी में आते ही क्षणमात्र में विनष्ट हो गई। तब (भला वह) काशी कैसे दुर्लभ नहीं है ? ॥ १२४ ।

अतएव इस पुण्यपुरी की प्रदक्षिणा और पूजा करनी बहुत ही उचित है ॥ १२५ ।

---

१. दुस्त्यजमित्यपि पाठः ।

वाराणसीति काशीति महामन्त्रमिमं जपन् ।
यावज्जीवं त्रिसन्ध्यं तु जन्तुर्जातु न जायते ॥ १२६ ।
अविमुक्तं महाक्षेत्रं स्मरन् प्राणांस्तु यस्त्यजेत् ।
दूरदेशान्तरस्थोऽपि सोऽपि जातु न जायते ॥ १२७ ।
आनन्दकानने यस्य चित्तं संस्मरते सदा ।
तत्क्षेत्रनामश्रवणान्न स भूयोऽभिजायते ॥ १२८ ।
रुद्रावासे वसेन्नित्यं नरो नियतमानसः ।
एनसामपि संभारं कृत्वा कालाद्विमुच्यते ॥ १२९ ।
महाश्मशानमासाद्य यदि दैवाद्विपद्यते ।
पुनः श्मशानशयनं न क्वापि लभते पुमान् ॥ १३० ।
कपालमोचनं काश्यां ये स्मरिष्यन्ति मानवाः ।
तेषां विनङ्क्ष्यन्ति क्षिप्रमिहान्यत्रापि पातकम् ॥ १३१ ।

अविमुक्तस्य मन्त्रद्वयमाह । **वाराणसीति** ॥ १२६ ।

आनन्देति । काश्यां यस्य चित्तं संस्मरते सम्यक् स्मरति कालभैरवमिति शेषः । स तत्क्षेत्रनामश्रवणादानन्दकाननेति नामस्मरणादपि भूयो न जायत इत्यर्थः । आनन्दकाननं तत्क्षेत्रनामस्मरणादीति च स्थलद्वये पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ १२८ ।

नियतमानसत्वं दुःशकमित्याशंक्य पक्षान्तरमाह । **एनसामपीति** । कालाः कालयति क्षेत्रस्थानि पापानीति कालं पञ्चक्रोश्यादिप्रदक्षिणं तस्मात् । यद्वा, कालाद्रुद्रपिशाचभोगान्तरमित्यर्थः ॥ १२९-१३० ।

कपालमोचनमिति । इह काश्यामन्यत्रापि कृतं यत्पातकं तत्सर्वमित्यर्थः ॥१३१।

जो जन्तु जन्म भर त्रिकाल "वाराणसी-काशी" इस नाममन्त्र को जपता है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १२६ ।

यदि कोई दूरदेशान्तर में स्थित होकर भी अविमुक्त महाक्षेत्र को मरणकाल में स्मरण करके प्राणत्याग करे, तो उसे कदापि पुनर्जन्म न लेना पड़े ॥ १२७ ।

जिस किसी का चित्त सर्वदा आनन्दकानन में लगा रहता है, उस क्षेत्र के नाम श्रवणमात्र से वह भी फिर कभी जन्म नहीं लेता ॥ १२८ ।

जो नर नियतचित्त से रुद्रावास में नित्य वास करता है, वह पाप का बोझ उठाये रहने पर भी काल पाकर मुक्त हो जाता है ॥ १२९ ।

यदि दैवात् कोई महाश्मशान में आकर मृत्यु को प्राप्त होवे, तो फिर कभी उस पुरुष को श्मशान पर शयन न करना पड़े ॥ १३० ।

जो मनुष्य काशी में (स्थित) कपालमोचन (शिव) को स्मरण करेंगे, उनका जन्मजन्मान्तर का पातक शीघ्र ही विनष्ट हो जावेगा ॥ १३१ ।

आगत्य तीर्थप्रवरे स्नानं कृत्वा विधानतः ।
तर्पयित्वा पितृन् देवान् मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १३२ ।
अशाश्वतमिदं ज्ञात्वा वाराणस्यां वसन्ति ये ।
देहान्ते तत्परं ज्ञानं तेषां दास्यति शङ्करः ॥ १३३ ।
इयं काशीपुरी विप्र साक्षाद्रुद्रतनुः परा ।
अनिर्वाच्या परानन्दा दुष्प्राप्येशविरोधिभिः ॥ १३४ ।
अस्यास्तत्त्वमहं जाने शिवभक्तिपरोऽपि वा ।
मुच्यन्ते जन्तवोऽत्रैव यथायोगेन योगिनः ॥ १३५ ।
परं पदमियं काशी परानन्द इयं पुरी ।
इयमेव परं ज्ञानं सेव्याऽसौ मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ १३६ ।
अत्रोषित्वापीशभक्तान् विरुणद्धि तु यः कुधीः ।
पुर्यै द्रुह्यति वा मूढस्तस्यान्यत्रात्र नो गतिः ॥ १३७ ।

तीर्थप्रवरे कपालमोचने ॥ १३२ ।

अनिर्वाच्या वागगोचरा ॥ १३४ ।

मुच्यन्ते विदेहकैवल्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । योगेन ब्रह्मात्मनोरैक्यज्ञानेन ॥ १३५ ।

परं पदमित्यादिसाधने साध्योपचारात् ॥ १३६ ।

विरुणद्धि विशेषेणावृणोति पीडयतीति यावत् । निरुणद्धीति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । अत्रोषित्वापीशभक्तैर्विरोधं चाचरेत्तु य इति क्वचित्पाठः ॥ १३७ ।

अन्यत्र से काशी में आकर जो (इस) कपालमोचनतीर्थप्रवर में विधान से स्नान कर देवता-पितरों का तर्पण करेगा, वह ब्रह्महत्या से छूट जावेगा ॥ १३२ ।

जो लोग इस सब को अनित्य विचार कर वाराणसी में वास करते हैं, देह के अन्तकाल में भगवान् शंकर उन्हें "तत्" पदवाच्य परमज्ञान दे ही देते हैं ॥ १३३ ।

विप्रवर ! यह काशीपुरी साक्षात् रुद्रदेव की अकथनीय परमानन्दमयी दूसरी मूर्ति है । शिवविरोधियों को यह अलभ्य ही है ॥ १३४ ।

इस काशी का तत्त्व मैं जानता हूँ, अथवा जो परम शिवभक्त होगा, वह जानेगा । इसी स्थान में योगबल से योगियों के समान सभी जन्तु अनायास ही मुक्तिलाभ कर सकते हैं ॥ १३५ ।

यह काशी ही परमपद है, यह पुरी परमानन्द है । यही सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूपा है । मोक्ष की आकांक्षा रखनेवालों के लिए यही (सर्वथा) सेवनीय ॥ १३६ ।

इस काशी में रहकर भी जो शिवभक्तों को पीड़ा देता है, अथवा पुरी को ही निन्दा करता है, उस मूर्ख को न यहाँ ही गति मिलती है, न किसी दूसरे ही स्थान में सद्गति मिल सकती है ॥ १३७ ।

कपालमोचनं तीर्थं पुरस्कृत्वा तु भैरवः।
तत्रैव तस्थौ भक्तानां भक्षयन्नघसन्ततिम् ॥ १३८ ।
पापभक्षणमासाद्य कृत्वा पापशतान्यपि ।
कुतो बिभेति पापेभ्यः कालभैरवसेवकः ॥ १३९ ।
आमर्दयति पापानि दुष्टानां च मनोरथान् ।
आमर्दक इति ख्यातस्ततोऽसौ कालभैरवः ॥ १४० ।
कलिं कालं कलयति सदा काशीनिवासिनाम् ।
अतः ख्यातिं परां प्राप्तः कालभैरवसंज्ञिताम् ॥ १४१ ।

पापभक्षणामर्दकेति नामद्वयं निर्वक्ति। कपालमोचनमिति त्रिभिः। तत्रैव मन्दाकिन्या दक्षिणतटप्रदेश एव ।

इदमायतनं श्रेष्ठं मणिमाणिक्यनिर्मितम् ।
श्रीमतः कालराजस्य कलिकालार्तिहारिणः ॥
निजभक्तजनं पाति यः पापात्पापभक्षणः ।
क्षेत्रविघ्नकरान् पापान् पातयन् यातनाशतैः ॥
इयं मन्दाकिनी रम्या तपस्तप्तुमिहागता ।
काशीवाससुखं प्राप्य नाद्यापि दिवमीहते ॥

इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् कालोदतीर्थस्यात्रैव सर्वलोकाऽनादिसिद्धत्वात्। कुलस्तम्भस्थलं तु यातनास्थलम्। एतदप्युक्तं तत्रैव। अयं स हि कुलस्तम्भो यत्र श्रीकालभैरवः, क्षेत्रपापकृतः शास्ति दर्शयंस्तीव्रयातनामिति ॥ १३८-१४० ।

प्रकारान्तरेण कालभैरवनाम निर्वक्ति। **कलिमिति**। काशीनिवासिनां कलिं कलिनामानं कालं युगं कलयति नाशयति अतोऽसौ कालः स्मृत इति शेषः। अतः ख्यातिमित्यर्धं ततोऽसौ भैरव इति द्वितीयश्लोकस्यानन्तरं ज्ञातव्यम्। यद्वा, ननु यथाश्रुतव्युत्पत्त्यनुसारेण कालसंज्ञितामिति वक्तव्ये कथं कालभैरवसंज्ञितामित्युक्तं तत्राह। **सदैवेति**। अग्रे वक्ष्यमाणस्य प्रथमं सिद्धवन्निर्दिष्टत्वान्नाऽयं दोष इति भावः। अथवा कलयति भीरुतां प्रापयतीत्यर्थः। तदा ऋजुरेवाऽर्थः श्लोकस्य ॥ १४१ ।

तदनन्तर कालभैरव कपालमोचन-तीर्थ को सन्मुख कर भक्तों के पापसमूह को भक्षण करते हुए वहाँ पर ही विराजमान हो गये ॥ १३८ ।

पापभक्षणकारी भैरव के समीप जाकर सैकड़ों ही पाप करने पर भी कालभैरव का सेवक पापों से कहाँ डरता है ? ॥ १३९ ।

ये पापपुंज और दुष्टों के मनोरथों का मर्दन कर देते हैं। अतः इन कालभैरव का नाम आमर्दक विख्यात हुआ है ॥ १४० ।

यह काशीनिवासियों के कलि और काल के भय का निवारण करते हैं, इसलिये इनका कालभैरव नाम बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है ॥ १४१ ।

सदैव यस्य भक्तेभ्यो यमदूताः सुदारुणाः।
परमां भीरुतां प्राप्तास्ततोऽसौ भैरवः स्मृतः ॥ १४२ ।
मार्गशीर्षाऽसिताऽष्टम्यां कालभैरवसन्निधौ ।
उपोष्य जागरं कुर्वन् महापापैः प्रमुच्यते ॥ १४३ ।
यत्किञ्चिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धितः ।
तत्सर्वं विलयं याति कालभैरवदर्शनात् ॥ १४४ ।
अनेकजन्मनियुतैर्यत्कृतं जन्तुभिस्त्वघम् ।
तत्सर्वं विलयत्याशु कालभैरवदर्शनात् ॥ १४५ ।
कृत्वा च विविधां पूजां महासम्भारविस्तरैः ।
नरो मार्गाऽसिताऽष्टम्यां वार्षिकं विघ्नमुत्सृजेत् ॥ १४६ ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां रविभूमिजवासरे ।
यात्रां च भैरवीं कृत्वा कृतैः पापैः प्रमुच्यते ॥ १४७ ।

इदानीं प्रकारान्तरेण भैरवनाम व्युत्पादयति । सदैवेति । भक्तेभ्य एव बिभ्यति किं पुनस्तस्मादिति भावः ॥ १४२ ।

कथमाराधितश्चैष आराधितः कुत्र काल इति पञ्चमषष्ठप्रश्नयोरुत्तरमाह । मार्गशीर्षेत्यादिना । मार्गशीर्षाऽसिताऽष्टम्यामाग्रहायणिककृष्णाऽष्टम्याम् । महापापैः काश्यां कृतैः । बहिः कृतानां प्रवेशमात्रेण नाशात् ॥ १४३ ।

यत्किञ्चित् काशीकृतमित्येव । दर्शनादत्र ॥ १४४ ।

वार्षिकं विघ्नमिति साधारणम् । क्षेत्रस्थं बहिस्थं चेत्यर्थः ॥ १४६ ।

भूमिजो मङ्गलस्तस्य च वासरे ॥ १४७ ।

जिनके भक्तों से अतिदारुण भी यमदूत सदैव भयभीत बने रहते हैं, इसी से इनका भैरव नाम पड़ा है ॥ १४२ ।

इन कालभैरव के निकट अगहन मास की कृष्णाष्टमी को उपवासपूर्वक रात्रि में जागरण करने से मनुष्य महापापों से भी छूट जाता है ॥ १४३ ।

कालभैरव के दर्शन से जो कुछ अशुभ कर्म मानवबुद्धि से किया गया हो, वह सब भस्म हो जाता है ॥ १४४ ।

इन कालभैरव के दर्शन करने से (काशी में) अनेक जन्म का संचित समस्त जन्तुवों का अघसमूह अतिशीघ्र ही विलीन हो जाता है ॥ १४५ ।

अगहन मास की कृष्णाष्टमी तिथि को बड़ी सामग्रियों से जो नर विविध पूजा करता है, उसका वार्षिक विघ्न दूर हो जाता है ॥ १४६ ।

रवि और मंगलवार तथा अष्टमी एवं चतुर्दशी तिथि को कालभैरव की यात्रा करने से समस्त पापों से छूट जाता है ॥ १४७ ।

कालभैरवभक्तानां सदा काशीनिवासिनाम् ।
विघ्नं यः कुरुते मूढः स दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १४८ ।
विश्वेश्वरेऽपि ये भक्ता नो भक्ताः कालभैरवे ।
काश्यां ते विघ्नसंघातं लभन्ते तु पदे पदे ॥ १४९ ।
तीर्थे कालोदके स्नात्वा कृत्वा तर्पणमत्वरः ।
विलोक्य कालराजं च निरयादुद्धरेत् पितॄन् ॥ १५० ।
अष्टौ प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्यहं पापभक्षणम् ।
नरो न पापैर्लिप्येत मनोवाक्कायसम्भवैः ॥ १५१ ।
तस्मिन्नामर्दके पीठे जप्त्वा स्वाभीष्टदेवताम् ।
षण्मासं सिद्धिमाप्नोति साधको भैरवाज्ञया ॥ १५२ ।
वाराणस्यामुषित्वा यो भैरवं न भजेन्नरः ।
तस्य पापानि वर्धन्ते शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १५३ ।
यं यं संचिन्तयेत्कामं पापक्षणसेवया ।
बलिपूजोपहारैश्च तं तं स समवाप्नुयात् ॥ १५४ ।

अत्वरस्त्वरारहितः ॥ १५० ।

जो मूढ़जन सदा काशीनिवासी कालभैरव के भक्तों पर विघ्न का आचरण करता है, उसे दुर्गति प्राप्त होती है ॥ १४८ ।

जो कोई विश्वेश्वर का भी भक्त होवे, पर कालभैरव पर भक्ति न रखता हो, तो उसे काशी में पद-पद पर विघ्न मिलता है ॥ १४९ ।

कालोदकतीर्थ में स्थिरतापूर्वक स्नान-तर्पण करके फिर कालराज का दर्शन करने से मनुष्य अपने पितरों का नरक से उद्धार कर देता है ॥ १५० ।

जो नर प्रतिदिन पापभक्षण (कालभैरव = आमर्दक) की आठ प्रदक्षिणायें करता है, वह वाचिक, मानसिक एवं कायिक पापों से कदापि लिप्त नहीं होता ॥ १५१ ।

साधक पुरुष आमर्दक पीठ पर छः मासपर्यन्त अपने इष्टदेवता का जप करने से भैरव की आज्ञानुसार सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ १५२ ।

जो कोई वाराणसी पुरी में निवास करके भैरवनाथ का भजन नहीं भरता, उसके पातक शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के सदृश बढ़ा करते हैं ॥ १५३ ।

विविध बलि, पूजा एवं उपहारों से जो जन कालभैरव की सेवा करता है, वह अपनी जिस-जिस कामना को चाहता है, उसे-उसे प्राप्त करता है ॥ १५४ ।

कालराजं न यः काश्यां प्रतिभूताऽष्टमीकुजम् ।
भजेत्तस्य क्षयेत्पुण्यं कृष्णपक्षे यथा शशी ॥ १५५ ॥
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं ब्रह्महत्यापनोदकम् ।
भैरवोत्पत्तिसंज्ञं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १५६ ॥
बन्धनागारसंस्थोऽपि प्राप्तोऽपि विपदं पराम् ।
प्रादुर्भावं भैरवस्य श्रुत्वा मुच्यते सङ्कटात् ॥ १५७ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे भैरवप्रादुर्भावो नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

प्रतिभूताष्टमीकुजमिति । भूता च चतुर्दशी अष्टमी च कुजश्च मंगलवासरः, ते तथाभूताष्टमीकुजाः भूताष्टमीकुजान् प्रतीति प्रतिभूताष्टमीकुजं न भजेदित्यन्वयः ॥ १५५-१५६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ।

काशी में जो पुरुष प्रत्येक चतुर्दशी, अष्टमी और मंगलवार को कालराज का भजन नहीं करता, उसका पुण्य ऐसे क्षीण होता है, जैसे कृष्णपक्ष में चन्द्रमा (का क्षय होता है) ॥ १५५ ।

ब्रह्महत्याविनाशक भैरवोत्पत्तिसंज्ञक इस पवित्र अध्याय के श्रवण करने से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है ॥ १५६ ।

जो कोई कारागार (जेहल्खाना) में पड़ा हो, अथवा बहुत ही विपत्ति में पड़ा हो, वह यदि भैरव(नाथ) के प्रादुर्भाव की कथा सुने तो उसका संकट कट जावे ॥ १५७ ।

दोहा—भैरोंनाथ महाल में, भैरवनाथ प्रसिद्ध ।
जिनकी सेवा के किये, होत सिद्ध पर सिद्ध ॥ १ ।

एहि कलिकाल कराल में, काशी के कोतवाल ।
कोतवाली अजहूँ वहीं, तुव ढिग भैरव काल ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां कालभैरवप्रादुर्भाव-माहात्म्यवर्णनं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ।

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

बर्हियान समाचक्ष्व हरिकेशसमुद्भवम् ।
कोऽसौ कस्य सुतः श्रीमान् कीदृगस्य तपो महत् ॥ १ ।
कथं च देवदेवस्य प्रियत्वं समुपेयिवान् ।
काशीवासिजनीनोऽभूत् कथं वा दण्डनायकः ॥ २ ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं प्रसादं कुरु मे विभो ।
अन्नदत्वं च सम्प्राप्तः कथमेष महामतिः ॥ ३ ।
सम्भ्रमो विभ्रमश्चोभौ कथं तदनुगामिनौ ।
विभ्रान्तिकारिणौ क्षेत्रवैरिणां सर्वदा नृणाम् ॥ ४ ।

द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये सर्वपापैकनाशके ।
हरिकेशसमुत्पत्तिर्वर्ण्यतेऽतिमनोहरा ॥ १ ॥

एवंभूतो जितेन्द्रियोऽप्यहं क्षेत्राद्बहिर्निष्कासितः कालराजवदनेनापीति परमाश्चर्येण दण्डपाणेरप्युत्पत्त्यादिकं पृच्छति । बर्हीति चतुर्भिः । बर्हियान मयूररथ ॥१।

समुपेयिवान् प्राप्तवान् । काशीवासिजनीनोऽभूत् काशीवासिजनेषु प्रख्यातोऽभूत् । काशीवासिजनेष्वासीदिति क्वचित्पाठः । दण्डनायको दण्डधर्ता ॥ २ ।

अन्नदत्वं च काशीवासिजनेष्वित्येव ॥ ३ ।

नृणामित्युपलक्षणम्, क्षेत्रवैरिमात्राणामित्यर्थः । तत्र प्रथमश्लोके प्रश्नचतुष्टयं द्वितीये द्वयं तृतीये एकश्चतुर्थे चैक इत्यष्टौ प्रश्नाः ॥ ४ ।

(दण्डपाणि का प्रादुर्भाव)

अगस्त्य कहने लगे—

मयूरवाहन ! अब हरिकेश की उत्पत्तिकथा का वर्णन कीजिये । यह कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ? इनकी वैसी कौन बड़ी तपस्या है, जिसके द्वारा ऐसे श्रीमान् हुए ? ॥ १ ।

किस प्रकार से देवदेव के परम प्रिय हुए ? और क्यों काशीवासी लोगों के हितकर्ता दण्डनायक हुए ? ॥ २ ।

एवं कैसे यह महामति अन्नदाता के पद को प्राप्त हुए ? क्षेत्रद्वेषी मनुष्यों के भ्रम उत्पन्न करने वाले संभ्रम और विभ्रम ये दोनों गण कहाँ से इनके अनुगामी हो गये ? विभो ! मैं यह सब सुनना चाहता हूँ, कीर्तन कर मुझे अनुगृहीत कीजिये ॥ ३-४ ॥

स्कन्द उवाच—

सम्यगापृच्छि भवता काशीवासिसमाहितम् ।
कुम्भसम्भव विप्रर्षे दण्डपाणिकथानकम् ॥ ५ ॥
यदाकर्ण्य नरः प्राज्ञ काशीवासस्य यत्फलम् ।
निष्प्रत्यूहं तदाप्नोति विश्वभर्तुरनुग्रहात् ॥ ६ ॥
रत्नभद्र इति ख्यातः पर्वते गन्धमादने ।
यक्षः सुकृतलक्षश्रीः पुरा परमधार्मिकः ॥ ७ ॥
पूर्णभद्रं सुतं प्राप्य सोऽभूत्पूर्णमनोरथः ।
वयश्चरममासाद्य भुक्त्वा भोगाननेकशः ॥ ८ ॥
शाम्भवेनाऽथ योगेन देहमुत्सृज्य पार्थिवम् ।
आससाद शिवं शान्तं शान्तसर्वेन्द्रियार्थकः ॥ ९ ॥

प्रश्नमभिनन्दति । सम्यगिति । सम्यगासमन्ताद्धितं समाहितम् । सदा हितमिति क्वचित् । कथानकम् आभाषणं कथेत्यर्थः । कथात्मकमिति पाठे कथारूपमित्यर्थः ॥ ५ ॥

कथानकमेव विशेषयन् श्रोतृप्ररोचनाय तच्छ्रवणफलमाह । यदाकर्ण्येति । नरो मनुष्यमात्रः । हे प्राज्ञेति साऽभिप्रायं सम्बोधनम् । एतादृक् प्रश्नः पण्डितस्य तवोचित इति भावः ॥ ६ ।

प्रथमप्रश्नत्रयस्य प्रत्युत्तरं वक्तुमाख्यायिकामाह । रत्नभद्र इति । यक्षो देवयोनिविशेषः । सुकृतं लक्षयतीति सुकृतलक्षा तथाविधा श्रीर्यस्य स तथोक्तः । तत्र हेतुः । परमधार्मिक इति ॥ ७-८ ।

शाम्भवेन शिवध्यानात्मकेन । शान्ताः सर्वेन्द्रियार्था विषया यस्य स शान्तसर्वेन्द्रियार्थकः । स्वार्थे कः । त्यक्तेति क्वचित् ॥ ९ ।

स्कन्द बोले—

महर्षे ? कुम्भसंभव ! आपने बहुत उत्तम बात पूछी । दण्डपाणि की यह कथा काशीवासियों के लिये बड़ी ही हितकारिणी है ॥ ५ ।

हे प्राज्ञ ! इसके श्रवण करने से मनुष्य विश्वनाथ के अनुग्रह से काशीवास के फल को निर्विघ्न प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ।

पूर्वकाल में गन्धमादन पर्वत पर सुकृती, श्रीसम्पन्न रत्नभद्र नामक एक यक्ष रहता था ॥ ७ ।

वह पूर्णभद्र नामक पुत्र को पाकर पूर्ण मनोरथ हुआ । पश्चात् समस्त विषयों का यथेष्ट भोगकर वह वृद्धावस्था में, प्रशान्त सर्वेन्द्रिय शान्तचित होकर शैवयोग के बल से पार्थिव शरीर को त्याग शान्तिमय शिवत्व को प्राप्त हो गया ॥ ८-९ ।

पितर्युपरते सोऽथ पूर्णभद्रो महायशाः ।
सुकृतोपात्तविभवभवसम्भोगभुक्तिभाक् ॥ १० ॥
सर्वान्मनोरथाँल्लेभे विना स्वर्गैकसाधनम् ।
गार्हस्थ्याश्रमनेपथ्यं पथ्यं पैतामहं महत् ॥ ११ ॥
संसारतापसन्तप्तावयवामृतसीकरम् ।
अपत्यं पततां पोतं बहुक्लेशमहार्णवे ॥ १२ ॥
पूर्णभद्रोऽथ संवीक्ष्य मन्दिरं सर्वसुन्दरम् ।
तद्बालकोमलालापविकलं त्यक्तमङ्गलम् ॥ १३ ॥
शून्यं दरिद्रहृदिव जीर्णारण्यमिवाऽथवा ।
पान्थवत्प्रान्तरमिव खिन्नोऽतीवानपत्यवान् ॥ १४ ॥

पितरीति । पितरि मृतेऽनन्तरं स पूर्णभद्रोऽपत्यं विना सर्वान् मनोरथाँल्लेभे इत्यग्रिमेणाऽन्वयः । कथंभूतः ? महायशा बृहत्कीर्तिः । पुनः कीदृशः ? सुकृतेनोपात्ता ये विभवाः समृद्धयस्तैर्भवसम्भोगाः सांसारिका भोगास्तेषां भुक्तिं भजत इति तथा ॥१०॥

अपत्यं विशिनष्टि । स्वर्गैकसाधनमिति षडक्षराधिकेन सार्धेन । नेपथ्यं भूषणम् । पैतामहं महत्पथ्यं पितामहादीनामत्यन्तहितकरमित्यर्थः ॥ ११ ॥

संसारतापैः सन्तप्ता अवयवा येषां तेषाममृतसीकरं सुधाकणम् । पततां बहुक्लेशमहार्णवे संसारसागरे मज्जतां पोतं नावम् ॥ १२ ॥

पूर्णभद्र इति । पूर्णभद्रः स्वर्गैकसाधनमपत्यं विना मन्दिरं संवीक्ष्य कनककुण्डलामामाहूयोवाचेति तृतीयेनाऽन्वयः । तत्प्रसिद्धं मन्दिरमित्यन्वयः । विकलं रहितम् ॥ १३ ॥

शून्यमिति दृष्टान्तत्रयेण सम्बध्यते पान्थवत्पान्थस्येव ॥ १४ ॥

तदनन्तर पिता के देहान्त हो जाने पर महायशस्वी पूर्णभद्र पुण्यप्राप्य अतुल समृद्धि के द्वारा सांसारिक संभोगों का भोगभागी हुआ ॥ १० ॥

उसने समग्र मनोरथों को तो प्राप्त किया; परन्तु स्वर्ग का एकमात्र साधन, गृहस्थाश्रम का भूषण, पितरों का बड़ा पथ्य, संसार के संतापों से तप्त अंगों के लिये अमृतकण, और बड़े भारी दुःखरूपी समुद्र में गिरे लोगों को पोत (जहाज-नौका) स्वरूप सन्तान को नहीं पाया ॥ ११-१२ ॥

तदनन्तर पुत्रमुख को न देखने से, बालक के मधुर आलाप से रहित उसका सर्वसुन्दर मन्दिर मंगल से हीन ही रहा ॥ १३ ॥

दरिद्रों के हृदय सदृश, शून्य अथवा जीर्ण अरण्य के समान जान पड़ता था । छायादिहीन पट पर मार्ग में पथिक के तुल्य वह अपुत्र होने से बहुत ही खिन्न हुआ ॥ १४ ॥

आहूय गृहिणीं सोऽथ यक्षः कनककुण्डलाम् ।
उवाच यक्षिणीं श्रेष्ठां पूर्णभद्रो घटोद्भव ॥ १५ ॥
न हर्म्यं सुखदं कान्ते दर्पणोदरसुन्दरम् ।
मुक्तागवाक्षसुभगं चन्द्रकान्तशिलाजिरम् ॥ १६ ॥
पद्मरागेन्द्रनीलार्चिर्र्चिताट्टालकं क्वणत् ।
विद्रुमस्तम्भशोभाढ्यं स्फुरत्स्फटिककुड्यवत् ॥ १७ ॥
प्रेङ्खत्पताकानिकरं मणिमाणिक्यमालितम् ।
कृष्णागुरुमहाधूपबहुलामोदमोदितम् ॥ १८ ॥
अनर्घ्यासनसंयुक्तं चारुपर्यङ्कभूषितम् ।
रम्यार्गलकपाटाढ्यं दुकूलच्छन्नमण्डपम् ॥ १९ ॥

पूर्णभद्र इति पुनरुक्तिरन्वयार्था । पूर्णं सम्पूर्णं भद्रं यस्य स तथेति वा ॥ १५ ।

किमुवाच तदाह । न हर्म्यमिति । हर्म्यं विशिनष्टि । दर्पणेत्यादिना गर्भरूपेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । गवाक्षं भित्तिच्छिद्रम् । अजिरमङ्गनम् ॥ १६ ।

पद्मरागाणामिन्द्रनीलानां चार्चिभिर्दीप्तिभिरर्चिता अत्युज्ज्वला अट्टालका यस्मिस्तत् । क्वणत् शब्दायमानं प्रतिस्वनवदित्यर्थः । विद्रुमः प्रवालः । कुड्यं भित्तिः ॥ १७ ।

प्रेङ्खत्पताकानिकरं प्रेङ्खन्तीनां पताकानां निकरः समूहो यस्मिस्तत् । कृष्णागुरुभिः कालागुरुभिर्यो महाधूपस्तेन जातो यो बहुलामोदो महान् गन्धस्तेन मोदितमामोदितम् ॥ १८ ।

पर्यङ्कानि खट्वाः । अर्गलानि परिघाः ॥ १९ ।

घटोद्भव ! अनन्तर उस पूर्णभद्र यक्ष ने यक्षिणीश्रेष्ठा गृहिणी कनककुंडला को बुलाकर यह कहा ॥ १५ ।

'कान्ते ! मेरी यह अटारी (महल), जिसके भीतर सुन्दर दर्पण लगे हैं, मोतियों के झरोखे कटे हैं, चन्द्रकान्त की शिलायें आँगन में जड़ी हैं, कोठे पद्मराग (लाल) एवं नीलमणि की चमक से शोभायमान होकर प्रतिध्वनित हो रहे हैं, खंभे मूँगों के बने विराजित हैं, भीतें चमकते हुए स्फटिक की बनी हैं, पताकायें फहरा रही हैं, मणिमाणिक्य की मालाओं से भूषित हैं, (चहुँ ओर) कालागुरु महाधूप के बड़े सुगन्ध से आमोदित है, बहुमूल्य आसनों से (मोढ़ों से) युक्त है, रमणीय पलंग से सुसज्जित है, सुन्दर अगरी और केवाड़ियों से परिपूर्ण है, मण्डप पर वस्त्र का चन्दवा टँगा है, सुरम्य रतिशाला से भरपूर है, घोड़ों के झुंड बँधे हैं, सैकड़ों दास-दासियाँ

सुरम्यरतिशालाढ्यं वाजिराजिविराजितम् ।
दासीदासशताकीर्णं किङ्किणीनादनादितम् ।। २० ।
नूपुरारावसोत्कण्ठकेकिकेकारवाकुलम् ।
कूजत्पारावतकुलं गुरुसारीकथावरम्[1] ।। २१ ।
खेलन्मरालयुगलं जीवं जीवककान्तिमत् ।
माल्याहूतद्विरेफाणां मञ्जुगुञ्जारवावृतम् ।। २२ ।
कर्पूरैणमदामोदसोदरानिलवीजितम् ।
क्रीडामर्कटदंष्ट्राग्रीकृतमाणिक्यदाडिमम् ।। २३ ।
दाडिमीबीजसम्भ्रान्तशुकतुण्डात्तमौक्तिकम् ।
धनधान्यसमृद्धं च पद्मालयमिवापरम् ।। २४ ।

राजिः समूहः । क्वणदित्युक्तं विवृणोति । किङ्किणीनादनादितमित्यादिना । यद्वा, क्वणदिति वेदाध्ययनादिभिरिति ज्ञातव्यम् ।। २० ।

नूपुरारावेण सोत्कण्ठा ये केकिनो मयूरास्तेषां केकारवैराकुलं व्याप्तम् । गुरु महत् । सारी सारिका क्रीडापक्षिणी । शुकसारीति क्वचित् ।। २१ ।

खेलत् क्रीडत् मरालयुगलं हंसयुग्मं यस्मिंस्तत् । जीवं जीवकैश्चकोरैः कान्तिमत् शोभायुक्तम् । माल्यानां गन्धैराकृष्टत्वाद् भ्रमराणां माल्याहूतद्विरेफाणामित्युक्तम् । तेषां मञ्जुगुञ्जैर्मनोहराव्यक्तैरासमन्ताद्रवैरावृतम् ।। २२ ।

कर्पूरैणमदयोर्य आमोदस्तेन सहितमुदरं यस्य तेनानिलेन वीजितम् । क्रीडा-वानरैर्दंष्ट्राग्रीकृतानि मणिमाणिक्यान्येव मणिमाणिक्यमयानि वा दाडिमानि यस्मिन् । अथवा खेलावलीमुखैर्दंष्ट्राग्रीकृतानि माणिक्यानि दाडिमफलानीव यस्मिन् ।। २३ ।

दाडिमीबीजानीति सम्भ्रान्तैः शुकैस्तुण्डैः कृत्वा आत्तानि गृहीतानि मौक्तिकानि यस्मिंस्तत् । एतेन विशेषणद्वयेन माणिक्यानां मुक्ताफलानां च बाहुल्यं सूचितम् ।। २४ ।

भरी हैं, (इन सबके) छोटी-छोटी घंटियों के शब्द से शब्दायमान हो रही है, नूपुर के शब्द से उत्कंठित होकर मयूरगण केकाध्वनि कर रहे हैं, कबूतर की गोलें कूज रही हैं, सुग्गा-मैना बातचीत कर रहे हैं, हंस का जोड़ा खेल रहा है, चकोरों से शोभायुक्त हो रही है, मालाओं के गन्ध से उड़े आते हुए भ्रमरों के मधुर गुंजन से व्याप्त हो रही है, कर्पूर, कस्तूरी आदि गन्धों से पूर्ण वायु के द्वारा वीजित हो रही है, (देखो इस) खिलौना वानर के दाँतों पर मानिक का अनार शोभायमान है, अनारबीजों के ही धोखे से सुग्गे चोंच में मोतियों को ले रहे हैं, लक्ष्मी देवी के दूसरे भवन के समान

---

१. रवमिति क्वचित्पाठः ।

कमलामोदगर्भं च गर्भरूपं विना प्रिये।
गर्भरूपमुखं प्रेक्ष्ये कथं कनककुण्डले ॥ २५ ।
यद्युपायोऽस्ति तद्ब्रूहि धिगपुत्रस्य जीवितम्।
सर्वं शून्यमिवाभाति गृहमेतदनङ्गजम् ॥ २६ ।
धिगेतत्सौधसौन्दर्यं धिगेतद्धनसञ्चयम्।
विनाऽपत्यं प्रियतमे जीवितं च धिगावयोः ॥ २७ ।
प्रलपन्तमिव प्रोच्चैः प्रियं कनककुण्डला।
बभाषेऽन्तर्विनिःश्वस्य यक्षिणी सा पतिव्रता ॥ २८ ।

कनककुण्डलोवाच—

किमर्थं खिद्यसे कान्त ज्ञानवानसि यद्भवान्।
अत्रोपायोऽस्त्यपत्याप्त्यै विस्रब्धमवधारय ॥ २९ ।

कमलानां कमलाया वा मोद आमोदो हर्षो वा यस्मिन्। गर्भरूपमुखं पुत्रमुखम्। गर्भस्यापत्यस्य रूपयुक्तं मुखमिति वा ॥ २५ ।

यद्युपायोऽस्ति पुत्रोत्पत्ताविति शेषः। न विद्यते गजः पुत्रो यस्मिंस्तत् ॥ २६ ।

प्रलपन्तमिति लोकोक्तिः। प्रोच्चैरिवेति वाऽन्वयः। अन्तर्मनसि ॥ २८ ।

यद्यतः ॥ २९ ।

धनधान्य से समृद्ध है, प्रिये ! कनककुंडले ! यह लक्ष्मी के हर्षरूप गर्भ धारण किये है, तब भी गर्भरूप के विना ही है, हाय ! मैं कैसे पुत्र का मुख देखूँगा' ? ॥ १६-२५ ।

यदि कोई उपाय हो, तो कहो। हाय ? अपुत्र के जीवन को धिक्कार है ! बिना पुत्र के यह समस्त गृह शून्य-सा ही भासता है ॥ २६ ।

'अयि प्रियतमे ! अपत्य के विना इस सौध (उत्तम गृह) की सुन्दरता को धिक्कार है ! इस धन के संचय को धिक्कार है !! और हम दोनों के जीने को धिक्कार है !!!' ॥ २७ ।

पति को इस प्रकार से उच्चस्वर में प्रलाप करते देख, वह पतिव्रता कनककुंडला यक्षिणी भीतर ही भीतर एक लम्बी सांस लेकर कहने लगी ॥ २८ ।

कनककुंडला ने कहा—

'कान्त ! आप ज्ञानवान् होकर क्यों खेद कर रहे हैं ! इस सन्तान प्राप्ति के लिये उपाय मैं कहती हूँ। आप विश्वासपूर्वक सुनिये ॥ २९ ।

किमुद्यमवतां पुंसां दुर्लभं हि चराचरे।
ईश्वरार्पितबुद्धीनां स्फुरन्त्यग्रे मनोरथाः ॥ ३० ।
दैवं हेतुं वदन्त्येवं भृशं कापुरुषाः पते।
स्वयं पुराकृतं कर्म दैवं तच्च न हीतरत् ॥ ३१ ।
ततः पौरुषमालम्ब्य तत्कर्मपरिशान्तये।
ईश्वरं शरणं यायात् सर्वकारणकारणम् ॥ ३२ ।
अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः।
सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे शिवभक्तितः ॥ ३३ ।
विधातुः शाम्भवीं भक्तिं प्रिय सर्वे मनोरथाः।
सिद्धयोऽष्टौ गृहद्वारं सेवन्ते नात्र संशयः ॥ ३४ ।

नन्वदृष्टमेव फलसिद्धौ कारणं किमुद्यमेन तत्राह। दैवमिति। दैवमेव हेतुरिति यद्वदन्तीत्यर्थः। एवमिति। दैवं हेतुरेवं कापुरुषा वदन्तीत्यन्वयः। एवं वदने कुतस्तेषां कुत्सितपुरुषत्वं तत्राह। तच्च तत्पुनर्दैवं हि यस्मात्पुरा स्वयं कृतं कर्म नेतरदिति ॥ ३१ ।

पुरुषकारस्य कारणत्वे स्थिते फलितमाह। तत इति। तत्पापपुण्यलक्षणं कर्म यस्मात्तत् तत्कर्म अज्ञानं पुराकृतं कर्मेति वा तस्य परिशान्तये नाशाय ईश्वरं शरणं यायाद् गच्छेदिति ॥ ३२ ।

न केवलमेतावदपि त्वपत्यमिति ॥ ३३ ।

विधातुरिति। शाम्भवीं भक्तिं विधातुः कर्तुर्यस्य कस्यचिदित्यर्थः ॥ ३४ ।

उद्योगी पुरुष को इस चराचर में क्या दुर्लभ है ! ईश्वर में चित्त समर्पण करने वालों के मनोरथगण आगे से ही सिद्ध हुये रहते हैं ॥ ३० ।

नाथ ! कापुरुष लोग ही प्रायः दैव को कारण बतलाते हैं; परन्तु पूर्वजन्मकृत कर्म से भिन्न दैव स्वयं कोई दूसरा पदार्थ नहीं है ॥ ३१ ।

अतएव प्राक्तन कर्म की शान्ति के निमित्त पौरुष का अवलम्बन कर समस्त कारणों के कारण ईश्वर की शरणागत होना ही उचित है ॥ ३२ ।

सन्तान, धन, स्त्री, भूषण, भवन, अश्व, गज, सुखसमूह, स्वर्ग और मोक्ष, ये सब शिवभक्ति से दूर नहीं रहते ॥ ३३ ।

हे प्रिय ! जिस किसी की शम्भु पर भक्ति है, उसके समस्त मनोरथ और आठों सिद्धियाँ गृहद्वार पर सेवा करती रहती हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ३४ ।

नारायणोऽपि भगवानन्तरात्मा जगत्पतिः ।
चराचराणामविता जातः श्रीकण्ठसेवया ॥ ३५ ॥
ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वं दत्तं तेनैव शम्भुना ।
इन्द्रादयो लोकपाला जाताः शम्भोरनुग्रहात् ॥ ३६ ॥
मृत्युञ्जयं सुतं लेभे शिलादोऽप्यनपत्यवान् ।
श्वेतकेतुरपि प्राप जीवितं कालपाशितः ॥ ३७ ॥

तदेव दर्शयति । नारायणोऽपीत्यादिना ॥ ३५ ।

मृत्युं जयतीति मृत्युञ्जयं सुतं नन्दिनं शिलमत्तीति शिलादः कश्चिद् ऋषिर्लेभे लब्धवानिति । शम्भोरनुग्रहादित्यनुषज्जते । उत्तरत्राप्यस्य यथासम्भवमन्वयः । एवं हि लैङ्गे श्रूयते—"शालंकायनात्मजः शिलादनामा मुनिर्बहुकालं तपस्तेपे ततस्तपसा तुष्टेन देवराजेनागत्य वरं वरयेत्यभिहितम् । शिलादोऽप्ययोनिजं मृत्युहीनं सुव्रतं पुत्रं वव्रे । तच्छ्रुत्वेन्द्रेणाऽभ्यधायि योनिजं मृत्युसंयुतं पुत्रं दास्याम्यन्यं न दास्यामि यतोऽयोनिजा मृत्युहीना न सन्ति, यतः पितामहोऽप्ययोनिजो मृत्युहीनश्च न भवति, सोऽपि अण्डजः, पद्मजो महादेवाङ्गजो भवान्यास्तनयः परार्धद्वयनाशे नश्यति चेति श्रूयते, किमुतान्यस्य वार्ता; किन्तु यदि देवेश्वरो रुद्रः प्रसीदति तदा मृत्युहीनोऽयोनिजः पुत्रो दुर्लभो न भवति, अन्यथा मया वा ब्रह्मणा वा विष्णुना वेतादृशः पुत्रो दातुं न शक्य इत्येवं तमनुगृह्य महेन्द्रो ययौ । ततो महेन्द्रे गते भवमाराधयतः शिलादस्य दिव्यं वर्षसहस्रत्रयं क्षणमिव गतम्, ततो वल्मीकेनावृताङ्गं तक्षिस्त्रीगणैर्वज्रसूचीमुखैश्चान्यैरक्तस्त्रीभिश्च सर्वतो निर्मांसरुधिरत्वं च विज्ञाय सगणः सोमः प्रादुरभूत्, तपसाऽलं सर्वज्ञं सर्वशास्त्रार्थपारगं पुत्रं दास्यामीति चोक्तवान् । ततो भवं प्रणम्य शिलाशन उवाचाऽयोनिजं मृत्युहीनं सुव्रतं पुत्रमिच्छामीति । ततः श्रीरुद्रः प्राह—पुरा ममाऽवतारार्थं ब्रह्मणा मुनिभिर्देवैश्चाहमाराधितोऽतोऽहमेवाऽयोनिजो मृत्युहीनो नन्दिनामा तव पुत्रो भविष्यामीति । ततो यज्ञांगणं कर्षतः शिलादस्य शम्भोराज्ञया नन्दिकेश्वरो जातः" इति । तथा हि सनत्कुमारं प्रति नन्दिकेश्वरवाक्यम्—

प्रजाकामः शिलादोऽभूत् पिता मम महामुने ।
सोऽपीह सुचिरं कालं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ इत्यादि ।

ग्रन्थगौरवभयात् समग्रं न लिख्यते । एवमग्रेऽपि । श्वेतकेतुरिति तस्यैव नामान्तरम् । कालपाशितः कालेन पाशेन बद्धः । एवं हि श्रूयते तत्रैव—"श्वेतो नाम

(अधिक क्या कहें) सर्वान्तर्यामी जगन्नाथ भगवान् नारायण भी श्रीकण्ठ की सेवा से ही चराचर संसार के पालनकर्ता हैं ॥ ३५ ।

उन्हीं भगवान् शम्भु ने ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता बनाया । उन्हीं महादेव के अनुग्रह से इन्द्रादिदेवगण लोकपाल हुए ॥ ३६ ।

शिलाद मुनि ने निःसन्तान होने पर भी मृत्यु के जीतने वाले (मृत्युंजय) पुत्र को पाया, श्वेतकेतु ने भी कालपाश में बद्ध होकर इन्हीं की दया से जीवनलाभ किया ॥३७।

क्षीरार्णवाधिपतितामुपमन्युरवाप्तवान् ।
अन्धकोऽप्यभवद् भृङ्गी गाणपत्यपदोर्जितः ॥ ३८ ।

कश्चिन्मुनिर्गतायुर्गिरिगह्वरे महादेवमभ्यर्च्य स्तौति स्म, ततश्च प्राप्तकालं तं नेतुं कालः सान्निध्यमकरोत्, तदा प्राप्तकालोऽपि श्वेतस्तं कालं दृष्ट्वा विश्वेशमभ्यर्चतो मे वराकः कालः किं करिष्यति, यतो मृत्योरपि मृत्युरहं स्थितोऽस्मीति भावयन् शङ्करमनुस्मरन् शङ्करं पूजयामास। तं तादृशं निर्भयं दृष्ट्वा कालः सस्मितमाह—हे विप्र ! एह्येहि किमनया पूजया, यतो ममाऽग्रतस्त्वां ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अपि परित्रातुं न शक्नुवन्ति, अनेन रुद्रेण मम किम्, विधिवशादेव यस्माद्गतासुस्त्वं तस्मात्त्वां नेतुमहमुद्यत इति, ततस्तस्य धर्ममिश्रितं भयङ्करमेवं श्रुत्वा स मुनिः हा रुद्रेति विललाप, पश्चादेकया दृशा वाष्पमिश्रया संप्रेक्ष्योवाचाऽस्मिल्लिङ्गे मम वृषध्वजः स्वस्त्यस्ति चेत्त्वया विधिना वा किम्, तस्माद्यथागतं तथा गच्छ, तदनन्तरं तद्वचनं श्रुत्वा तीक्ष्णदंष्ट्रो भयङ्करः कालः पाशहस्तः सिंहनादं कृत्वा मुहुर्मुहुः आस्फोट्य कालप्राप्तं तं मुनिं बबन्ध आह च—मया त्वं बद्धोऽसि यमालयं नेतुं तव रुद्रेण मम किं कृतमद्य क्व वा स रुद्रस्तव भक्तिर्वा कुत्र पूजा वा कुत्र पूजाफलं वा कुत्र, अहं वा क्व, मम भीतिर्वा क्वाऽतोऽस्मिल्लिङ्गे चेत्तव शङ्करः कथं निश्चेष्ट इति कथय। तदनन्तरं नन्दिना गणेश्वरैश्च सह द्विजं निहन्तुमागतं कालं निहन्तुं भगवान् लिङ्गात्प्रादुर्बभूव, ततश्च कालस्तं रुद्रं निरीक्ष्य क्षणाज्जीवितं विससर्ज पपात च" इति। तथा हि—'श्वेतो नाम मुनिः श्रीमान् गतायुर्गिरिगह्वरः' इत्यादि ॥ ३७ ।

क्षीरार्णवाधिपतितामिति। एवं हि महाभारते श्रूयते—"उपमन्युः किल दुग्धं पिबतो मुनिकुमारान् दृष्ट्वा मातरं दुग्धं निर्बन्धेन याचितवान्, तन्माता च दारिद्र्यवशाद्दुग्धाऽभावात्पिष्टेन दुग्धं निर्माय्याऽदात्, तत्पीत्वाऽसौ ननर्त्त, तदेतत्सर्वं ज्ञात्वा बाला जहसुः, ततो हास्यकारणं पृष्टवते तस्मै स्वदारिद्र्यं माता न्यवेदयत्। तज्ज्ञात्वा श्रीमहादेवमाराध्य दुग्धसागराऽधिपत्यं स लेभे" इति।

अन्धकोऽपीति। एवं हि वामनपुराणे श्रूयते—"अन्धको हि दैत्याधिपस्तत्सन्निधौ नारदः समागम्य बहुधा तं स्तुत्वोवाच, त्वं पुरुषरत्नं त्वत्सदृशं तव स्त्रीरत्नं नास्ति, ततस्तेनोक्तम्, तर्हि ब्रह्मन् कथय कुत्र मत्सदृशं स्त्रीरत्नं विद्यत इति, तदा नारदेनोक्तम्, ब्रह्माण्डे त्रयमेव स्त्रीरत्नं विद्यते, सत्यलोके सावित्री, वैकुण्ठे लक्ष्मीः, मर्त्यभूमौ कैलासे च पार्वतीति। तत्र त्वं सामर्थ्यं चेन्निकटवर्त्तित्वात् पार्वतीं समानयेति, ततः स कामाऽभिभूतः पार्वतीमभिलष्य प्रमथैः सार्धं वारंवारं बहुयुद्धं कुर्वन्नेकदेश्वरेण वर्षाणामयुतं त्रिशूलाऽग्रे प्रोत आतपेनातिशुष्क ईश्वरध्यानेन निष्पापः सन् ईश्वरं तुष्टाव, ततो महेशेनाऽनुगृहीतः पुत्रं परिकल्प्य देव्यादत्तस्ततः सन् गणनामाधिपत्ये पदे ऊर्जित उद्रिक्तो भृङ्गीशो नाम बभूव" इति ॥ ३८ ।

उपमन्यु ने तो क्षीरसमुद्र का आधिपत्य ही प्राप्त कर लिया। अंधक नामा असुर भी भृंगी होकर प्रमथगण का नायक हो गया ॥ ३८ ।

जिगाय शार्ङ्गिणं संख्ये दधीचिः शम्भुसेवया ।
प्राजापत्यपदं प्राप दक्षः संशील्य शङ्करम् ॥ ३९ ॥

जिगाय शार्ङ्गिणमिति । अत्रैवं कथा लैङ्गे—"ब्रह्मणः क्षुत्सम्भवस्य लब्धवज्रस्य स्वकार्यार्थमिन्द्रप्रेरणाया स्वेच्छयैव नरशरीरेण सञ्जातनरपालस्य क्षुपस्य च्यवनात्मजस्य दधीचस्य च क्षत्रिय एव श्रेष्ठो विप्र एव श्रेष्ठ इति मित्रभावेन चिरप्रसङ्गाद्विवादोऽभूत्ततः कदाचिदष्टलोकपालानां वपुर्वयो धारयतोऽहमिन्द्रोऽहं वह्निरहं यमादिरीश्वर इति त्वया च्यावनेनाऽहं नाऽवमन्तव्यः; किन्तु सदा सम्पूजनीय इति तस्य क्षुपस्य मतं श्रुत्वा दधीच आत्मनो महत्त्वाद्वाममुष्ट्या क्षुपं मूर्ध्नि व्यताडयत्, ततश्च क्रोधात् क्षुपो बलवांस्तपोऽन्वितो वज्रधरतुल्यो वज्रेण दधीचं चिच्छेद । ततो दधीचो भूमौ निपपात, पतित्वा च दुःखाच्छुक्रं सस्मार, शुक्रोऽप्यागत्य दधीचस्य देहं योगबलात् सन्धयामास, आह च—भो दधीच ! उमापतिं समाराध्यावध्यो भव, मयाऽपि मृतसञ्जीवनीविद्या तत एव लब्धा, शम्भुभक्तानां मृत्युभयं नास्त्येव मृतसञ्जीवनीमपि तुभ्यमहं ददामीति मृतसञ्जीवनीमन्त्रं कथितवान् । तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा तपसा शङ्करमाराध्य वज्राऽस्थित्वमवध्यत्वं चाऽवाप, एवं परमेश्वरमाराध्याऽवध्यत्वं वज्राऽस्थित्वं च प्राप्य पादमूलेन राजेन्द्रं सभायां मूर्ध्नि प्रयत्नतोऽताडयत्, ततः क्षुपो दधीचं पुनरपि वज्रेण ताडयामास । तत्ताडनं तस्य वज्रबद्धशरीरस्य परमेशस्य प्रभावान्मनागपि दुःखाय नाऽभूत्, तदा दधीचस्याऽवध्यत्वमहीनत्वं च दृष्ट्वा क्षुपो विष्णुं पूजयामास, पूजया च सन्तोषेण दत्तदर्शनं भगवन्तं तुष्टाव च । स्तुत्या प्रत्यक्षीभूतस्य च विष्णोरग्रे तस्य केभ्योऽपि भयाऽभावं च वामपादताडनादिकं च कथयित्वा यथाऽहं तं जेष्यामि तथा कर्त्तुमर्हति भवानिति कथितवान् । तदा विष्णुनोक्तं ब्राह्मणमात्रस्य तावत्कस्याऽपि भयं नास्ति, शिवभक्तानां तु प्राणिमात्राणां दधीचस्य तदुभयरूपत्वाद् भयं नास्तीति किं वक्तव्यम्, तस्मात्तव विजयो नास्ति, तथापि दक्षयज्ञे तस्य शापेन सुरैः सार्धं मम विनाशो भविता पुनरुत्थानं चेति ससुरस्य मे शापार्थं तस्य दुःखं करोमि सर्वयत्नेन तमेत्य तव विजयाय यत्नं करिष्यामि, तदा तथाऽस्त्वति क्षुपेणाऽभिहिते ब्राह्मणवेषं कृत्वा दधीचस्याश्रमं प्राप्य तमभिवन्द्य प्राह, भो दधीच त्वत्तोऽहमेकं वरं वृणे तं दातुमर्हसीति । ततस्तेनोक्तम्—तवाऽभिप्रेतं मया ज्ञातं ब्राह्मणरूपेण क्षुपार्थं तेनाराधितो भक्तवात्सल्येन त्वं विष्णुरेवाऽऽगतोऽसि, तथाप्यहं न बिभेमि, रुद्रार्चकस्य भीतिरस्ति चेत्तर्हि सर्वज्ञस्त्वं वद, देवदैत्यद्विजादप्येतस्मिन् जगति नाऽहं बिभेमीति, तदा विष्णुर्दधीचस्य वचः श्रुत्वा द्विजतां क्षणाद्विहाय स्वरूपं गृहीत्वा सस्मितं प्राह, भवाऽर्चनरतस्य तव भयं नास्त्येव सर्वज्ञ एव भवांस्तथापि मम नियोगात् सदसि क्षुपं प्रति जयस्तव; परन्तु त्वत्तोऽहं बिभेमीति सकृद्वक्तुमर्हसीति, एवं सान्त्वं विष्णोर्वाक्यं श्रुत्वाऽपि न बिभेमीति तं प्राह, तत-

---

इन्हीं शम्भु की सेवा से दधीचि ऋषि ने युद्ध में विष्णु भगवान् को भी जीत लिया था। दक्ष भी शंकर की ही आराधना से प्रजापति हो गये ॥ ३९ ।

मनोरथपथातीतं यच्च वाचामगोचरम् ।
गोचरो गोचरीकुर्यात्तत्पदं क्षणतो मृडः ॥ ४० ।
अनाराध्य महेशानं सर्वदं सर्वदेहिनाम् ।
कोऽपि क्वाऽपि किमप्यत्र न लभेतेति निश्चितम् ॥ ४१ ।

स्तस्य तादृशं वचः श्रुत्वा कुपितो हरिस्तं दिधक्षुश्चक्रं मुमोच, ततो दधीचस्य प्रभावात् सुदारुणमपि तच्चक्रं क्षुपस्य सन्निधावेव कुण्ठितधारमभवत्, कुण्ठितधारं तच्चक्रं दृष्ट्वा दधीच आह—शिवस्य एतच्चक्रं ततस्त्वया लब्धं मां न जिघांसति, अतो ब्राह्माद्यैरस्त्रैर्मां हन्तुं प्रयत्नं कुर्विति, तस्य तद्वचः श्रुत्वा सर्वाण्यस्त्राणि तस्मै ससर्ज, देवा अपि विष्णोः साहाय्यं चक्रुः, तदा कुशमुष्टिमादाय भवं संस्मरन् दधीचिः ससर्ज, स च कुशमुष्टिदिव्यं कालाग्निसदृशप्रभं त्रिशूलमभवत्, तेन च देवान् दग्धुं स मतिं चक्रे, तदस्त्रप्रभावान्नारायणादिभिस्त्यक्तान्यस्त्राणि च प्रणेशुर्देवाश्च दुद्रुवुः । तत आत्मनः सदृशान् दिव्यान् लक्षायुतान् गणान् स भगवान् ससर्ज, तान् सर्वानेकदैव स मुनिसत्तमो ददाह, ततस्तस्य विस्मापनार्थाय हरिर्विश्वमूर्त्तिरभूत्तं दृष्ट्वा दधीचेनोक्तम्—हे महाविष्णो ! मायां त्यज, ममाऽप्येतादृशं विश्वरूपं त्वं पश्येत्युक्त्वा स्वतनौ विश्वरूपं दर्शयामास, आह च हरिमनया मायया किम् ? तस्मान्मायां त्यक्त्वा योद्धुमर्हसीति, एवं तस्य वचः श्रुत्वोत्तमं माहात्म्यं च दृष्ट्वा देवाश्च भूयोऽपि दुद्रुवुर्नारायणं च निश्चेष्टं ब्रह्मा वारयामास, ततो ब्रह्मणो वचनं निशम्य तेन निर्जितस्तं महामुनिं प्रणिपत्य भगवान् ययौ, ततः क्षुपोऽपि दुःखातुरो भूत्वा दधीचं ब्राह्मणा एव श्रेष्ठाः, मयाऽपराद्धं क्षमस्वेति प्रार्थयामास, ततो दधीचस्तं राजानमनुगृह्य सुरोत्तमान् दक्षयज्ञे विष्णुना गणैश्च समं हे देवाः ! ध्वस्ता भवतेति शशाप । क्षुपं सम्बोध्य ब्राह्मणा एव पूज्या इत्याद्युक्त्वा स्वोटजं प्रविवेश । दधीचमभिवन्द्य क्षुपोऽपि विस्मितः सन् जगाम" इति । तथा हि—

'ब्रह्मपुत्रो महातेजा राजा क्षुप इति श्रुतः ।
अभून्मित्रं दधीचस्य मुनीन्द्रस्य नरेश्वरः' ॥ इत्यादि ।

संशील्य सम्यग् ध्यात्वा । एतत्त्वीश्वरद्वेषात्पूर्वं पश्चाद्वा ज्ञातव्यम् ॥ ३९ ।

किं बहुना संक्षेपतः शृण्वित्याह मन इति । । मनोरथपथातीतं वाचामगोचरं यत्पदं कैवल्यं तद् गोचरः प्रत्यक्षीभूतः सन् मृडः क्षणतस्तत्क्षण एव गोचरीकुर्यात् प्रत्यक्षीकुर्याद्द्द्यादित्यर्थः ॥ ४० ।

अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाहाऽनाराध्येति ॥ ४१ ।

महादेव यदि दृष्टिगोचर हो जावें, तो क्षणमात्र में वह पद दे देते हैं, जो समस्त मनोरथों के पथ से परे है, और जहाँ वाणी की भी गति नहीं है ॥ ४० ।

अशेष देहधारियों के सर्वाभीष्टदाता इन महेश्वर की आराधना विना किये इस लोक में कोई भी कहीं पर किसी प्रकार से मनोरथ की सिद्धि को नहीं पा सकता, यह निश्चित है ॥ ४१ ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शङ्करं शरणं व्रज ।
यदिच्छसि प्रियं पुत्रं प्रियसर्वजनीनकम् ॥ ४२ ।
इति श्रुत्वा वचः पत्न्याः पूर्णभद्रः स यक्षराट् ।
आराध्य श्रीमहादेवं गीतज्ञो गीतविद्यया ॥ ४३ ।
दिनैः कतिपयैरेव परिपूर्णमनोरथः ।
पुत्रकाममवापोच्चैस्तस्यां पत्न्यां दृढव्रतः ॥ ४४ ।
नादेश्वरं समभ्यर्च्य कैः कैर्नापि स्वचिन्तितम् ।
तस्मात् काश्यां प्रयत्नेन सेव्यो नादेश्वरो नृभिः ॥ ४५ ।
अन्तर्वत्न्यथ कालेन तत्पत्नी सुषुवे सुतम् ।
तस्य नाम पिता चक्रे हरिकेश इति द्विज ॥ ४६ ।
प्रीतिदायं ददौ चाऽथ भूरिपुत्राननेक्षणात् ।
पूर्णभद्रस्तथाऽगस्त्य हृष्टा कनककुण्डला ॥ ४७ ।

फलितमुपसंहरति । तस्मादिति । हे प्रिय ! सर्वजनीनकं सर्वलोकश्रेष्ठमतिप्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ४२ ।

काम्यत इति कामः पुत्ररूपं कामं पुत्रकामं पुत्ररूपमभिलाषमित्यर्थः । पुत्ररूपं वरं वा ॥ ४४ ।

नादेश्वरम् ओंकारम् ॥ ४५ ।

प्रीतिदायं हर्षेण देयं वस्त्रालङ्करणादिकमित्यर्थः । हृष्टाऽभूदिति शेषः । हृष्टा सती ददाविति पूर्वक्रियाया वाऽनुषङ्गः ॥ ४७ ।

अतएव हे स्वामिन् ! यदि आप सर्वजन के हितकर प्रियपुत्र के लाभ की वाञ्छा रखते हैं, तो सर्वप्रयत्न से उन्हीं शंकर के शरणागत होइये ॥ ४२ ।

इस प्रकार से पत्नी का वचन सुनकर संगीतकुशल यक्षराज, दृढ़व्रत (वह) पूर्णभद्र गीतविद्या से श्रीमहादेव की आराधना करके, थोड़े ही दिनों में अपनी पत्नी के गर्भ में ऊँची पुत्रकामना को प्राप्त कर परिपूर्ण मनोरथ हुआ ॥ ४३-४४ ।

काशी में नादेश्वर शिव की उपासना कर किस-किस ने अपना अभीष्ट नहीं प्राप्त किया ! अतएव सब मनुष्यों को प्रयत्नपूर्वक नादेश्वर भगवान् की सेवा करनी चाहिये ॥ ४५ ।

द्विजवर ! अनन्तर कालक्रम से उसकी पत्नी ने गर्भवती होकर पुत्र को प्रसव किया । पिता पूर्णभद्र ने उस पुत्र का नाम "हरिकेश" रखा ॥ ४६ ।

अगस्त्य जी ! अनन्तर पूर्णभद्र ने पुत्र का मुख देखने से प्रसन्न होकर बहुत कुछ प्रीतिदाय (इनाम) दिया और कनककुंडला भी परमानन्दित हुई ॥ ४७ ।

बालोऽपि पूर्णचन्द्राभवदनो मदनोपमः ।
वृद्धिं प्रतिक्षणं प्राप शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ४८ ।
यदाऽष्टवर्षदेशीयो हरिकेशोऽभवच्छिशुः ।
नित्यं तदाप्रभृत्येवं शिवमेकममन्यत ॥ ४९ ।
पांसुक्रीणनसक्तोऽपि कुर्याल्लिङ्गं रजोमयम् ।
शाद्वलैः कोमलतृणैः पूजयेच्च सकौतुकम् ॥ ५० ।
आकारयति मित्राणि शिवनाम्नाऽखिलानि सः ।
चन्द्रशेखर भूतेश मृत्युञ्जय मृडेश्वर ॥ ५१ ।
धूर्जटे खण्डपरशो मृडानीश त्रिलोचन ।
भर्ग शम्भो पशुपते पिनाकिन्नुग्र शङ्कर ॥ ५२ ।
श्रीकण्ठ नीलकण्ठेश स्मरारे पार्वतीपते ।
कपालिन् भालनयन शूलपाणे महेश्वर ॥ ५३ ।

एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥ ४९ ।

तमेव प्रकारं दर्शयति । पांस्विति । शाद्वलैर्हरिततृणैः ॥ ५० ।

शिवनाम्नेत्युक्तं तदेव नाम दर्शयति । चन्द्रशेखरेति सपादत्रयेण ॥ ५१ ।

खण्डपरशो भग्नकुठार ॥ ५२ ।

मदनोपम पूर्ण चन्द्रमुख वह बालक भी शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान प्रतिक्षण बढ़ने लगा ॥ ४८ ।

इस प्रकार से वह बच्चा हरिकेश आठ वर्ष को अवस्था होते न होते सर्वदैव शिव को छोड़ और कुछ भी नहीं जानता था ॥ ४९ ।

वह पांशुक्रीड़ा के समय भी धूलि का ही शिवलिंग बनाता और हरी-हरी कोमल दूबों से सकौतुक उसका पूजन करता था ॥ ५० ।

वह अपने समस्त मित्रों को शिव के ही नाम से पुकारता था, यथा—चन्द्रशेखर, भूतेश, मृत्युंजय, मृड, ईश्वर, धूर्जटी, खंडपरशु, मृडानीश, त्रिलोचन, भर्ग, शंभु, पशुपति, पिनाकी, उग्र, शंकर, श्रीकण्ठ, नीलकण्ठ, ईश, स्मरारि, पार्वतीपति, कपाली, भालनयन, शूलपाणि, महेश्वर, चर्माम्बर, दिगम्बर, गंगाधर, विरूपाक्ष, सर्पभूषण, इन्हीं सब (शिव के) नामों को लेकर अपने समोरिया (समवयस्क) लोगों को

अजिनाम्बर दिग्वासः स्वर्धुनीक्लिन्नमौलिज ।
विरूपाक्षाहिनैपथ्य गृणन्नामावलीमिमाम् ।। ५४ ।
सवयस्कानिति मुहुः समाहूयति लालयन् ।
शब्दग्रहौ न गृह्णीतस्तस्यान्याख्यां हरादृते ।। ५५ ।
पद्भ्यां न पद्यते चान्यदृते भूतेश्वराजिरात् ।
द्रष्टुं रूपान्तरं तस्य वीक्षणेन विचक्षणे ।। ५६ ।
रसयेत्तस्य रसना हरनामाक्षराऽमृतम् ।
शिवाङ्घ्रिकमलामोदाद् घ्राणं नैव जिघृक्षति ।। ५७ ।
करौ तत्कौतुककरौ मनो मनति नापरम् ।
शिवसात्कृत्य पेयानि पीयन्ते तेन सद्धिया ।। ५८ ।

अहिनैपथ्य सर्पभूषण ।। ५४ ।

सवयस्कान् समानवयसो मित्राणीत्येतत् । पूर्वस्याऽयमनुवादोऽन्वयार्थः । शब्दग्रहौ कर्णौ ।। ५५ ।

पद्यते गम्यते । वीक्षणे विशिष्टे चक्षुषी । विचक्षणे निपुणे चतुरे इति यावत् ।। ५६ ।

रसयेदास्वादयेत् । रसना जिह्वा । शिवांघ्रिकमलामोदादन्यदिति शेषः । घ्राणं घ्राणेन्द्रियम् । जिघृक्षति ग्रहीतुमिच्छति ।। ५७ ।

तत्कौतुककरौ तत्सपर्याकरावित्यर्थः । मनति चिन्तयति । शिवसात्कृत्य शिवाय समर्प्य । एतेन तस्य बाणलिङ्गाद्यन्यतमलिङ्गपूजकत्वं सूचितम् । तथा च वचनम्—

बाणलिङ्गे स्वयंभूते चन्द्रकान्ते हृदि स्थिते ।
तत्र क्रतुशतं पुण्यं शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ।। इति ।

सद्धिया शोभनधिया ।। ५८ ।

बड़े प्यार से बारंबार पुकारा करता था । उसके दोनों ही कान केवल महादेव को छोड़ दूसरों का नाम सुनाते ही नहीं थे ।। ५१-५५ ।

उसके चरण शिवालय को छोड़ अन्यत्र पड़ते ही नहीं थे । उसके नेत्र दूसरा रूप देखते ही नहीं थे ।। ५६ ।

उसकी रसना हर के नामामृत का ही स्वाद लेती थी । उसकी नासिका शिव के पादपद्म से भिन्न दूसरा सुगन्ध सूंघती ही नहीं थी ।। ५७ ।

उसके हाथ शिव के ही कौतुक कार्य में लगते थे । मन दूसरी ओर जाता ही न था । वह सद्बुद्धिमान् समस्त खाद्य और पेय वस्तुओं को महादेव के ही निवेदन

भक्ष्यन्ते सर्वभक्ष्याणि त्र्यक्षप्रत्यक्षगान्यपि ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र न स पश्येच्छिवं विना ॥ ५९ ।
गच्छन् गायन् स्वपंस्तिष्ठञ्छयानोऽदन् पिबन्नपि ।
परितस्त्र्यक्षमैक्षिष्ट नान्यं भावं चिकेति सः ॥ ६० ।
क्षणदासु प्रसुप्तोऽपि क्व यासीति वदन् मुहुः ।
क्षणं त्र्यक्ष प्रतीक्षस्व बुद्ध्यतीति स बालकः ॥ ६१ ।
स्पष्टां चेष्टां विलोक्येति हरिकेशस्य तत्पिता ।
अशिक्षयत्सुतं सोऽथ गृहकर्मरतो भव ॥ ६२ ।
एते तुरङ्गमा वत्स तवैतेऽश्वकिशोरकाः ।
चित्राणीमानि वासांसि सुदुकूलान्यमूनि च ॥ ६३ ।
रत्नान्याकरशुद्धानि नानाजातीन्यनेकशः ।
कुप्यं बहुविधं चैतद् गोधनानि महान्ति च ॥ ६४ ।

त्र्यक्षप्रत्यक्षगानि त्रिलोचनाग्रे आनीय समर्पितानीत्यर्थः । अपिर्भिन्नक्रमे भक्ष्याणीत्यनेन सम्बध्यते ॥ ५९ ।

ऐक्षिष्ट अपश्यत् । भावं पदार्थम् । चिकेति ज्ञानविषयीकरोति जानातीत्येतत् । कित ज्ञान इति धातुः ॥ ६० ।

क्षणदासु रात्रिषु ॥ ६१ ।

शिक्षामेवाह । एतदित्यारभ्यासकृदित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । अश्वकिशोरकाः तरुणाश्वा बालाश्वा वेत्यर्थः ॥ ६३ ।

आकरशुद्धानि जन्मशुद्धानि । कुप्यं स्वर्णरजतातिरिक्तं स्फाटिकादिभाजनम् ॥ ६४ ।

करने पर तब खाता और पीता था। वह सर्वत्र ही सब अवस्थाओं में शिव के विना और कुछ भी नहीं देखता था ॥ ५८-५९ ।

क्या जाते, क्या गाते, क्या सोते, क्या उठते, क्या स्वप्न देखते, क्या खाते, क्या पीते, सभी समय वह चारों ओर त्रिलोचन को ही देखता था। दूसरा भाव तो वह जानता ही नहीं था ॥ ६० ।

वह बालक, रात्रिकाल में निद्रित होने पर पर भी—"हे त्रिलोचन ! कहाँ जाते हो ! क्षण भर (थोड़ा) ठहर जाओ"—यही कहता हुआ जाग जाता था ॥ ६१ ।

हरिकेश के पिता उसकी चेष्टा को स्पष्टरूप से देखकर पुत्र को सिखलाने लगे—"बेटा ! घर का काम काज सँभालो" ॥ ६२ ।

ये सब घोड़े बछेड़े, विचित्र वस्त्र, बढ़ियाँ दुशाले (दुकूल), खानि के शुद्ध (असली) अनेक जाति के रत्नसमूह, विविध भाँति के सोना-चाँदी से भिन्न धन, बड़ा

अमत्राणि महार्हाणि रौप्यकांस्यमयानि च ।
पणनीयानि वस्तूनि नानादेशोद्[1]भवान्यपि ॥ ६५ ।
चामराणि विचित्राणि गन्धद्रव्याण्यनेकशः ।
एतान्यन्यानि बहुशस्त्वनेके धान्यराशयः ॥ ६६ ।
एतत्त्वदीयं सकलं वस्तुजातं समन्ततः ।
अर्थोपार्जनविद्याश्च सर्वाः शिक्षस्व पुत्रक ॥ ६७ ।
चेष्टास्त्यज दरिद्राणां धूलिधूसरिणाममूः ।
अभ्यस्य विद्याः सकला भोगान्निर्विश्य चोत्तमान् ॥ ६८ ।
तां दशां चरमां प्राप्य भक्तियोगं ततश्चर ।
असकृच्छिक्षितः पित्रेत्यवमन्य गुरोर्गिरम् ॥ ६९ ।
रुष्टदृष्टिं च जनकं कदाचिदवलोक्य सः ।
निर्जगाम गृहाद् भीतो हरिकेश उदारधीः ॥ ७० ।
ततश्चिन्तामवापोच्चैर्दिग्भ्रान्तिमपि चाप्तवान् ।
अहो बालिशबुद्धित्वात्कुतस्त्यक्तं गृहं मया ॥ ७१ ।

अमत्राणि पात्राणि पणनीयानि विक्रयार्हाणि ॥ ६५ ।

निर्विश्य भुक्त्वा ॥ ६८ ।

भीतः पितुः सकाशात् स्नात इति पाठे भोजनाय कृतस्नान इत्यर्थः ॥ ७० ।

चिन्तामेव विलापद्वारा स्पष्टयत्यहो इति सार्धेन । अहो इत्यादीनां हरिकेशो विचार्येति यातो वाराणसीमिति त्रयोदशेनान्वयः ॥ ७१ ।

भारी गोधन, रूपा, काँसा आदि के बहुमूल्य पात्रादि, नाना देशदेशान्तर के विक्री की वस्तु, उत्तमोत्तम चामर, अनेकशः गन्ध, द्रव्य—ये सब और अपरिमित धान्यराशियाँ, ये चारों ओर की समस्त वस्तु-सामग्रियाँ सब तुम्हारी ही हैं। बेटा ! अर्थोपार्जन (वाणिज्य) की समग्र विद्याओं को सीख लो ॥ ६३-६७ ।

धूलि से धूसर दरिद्रों की इन चेष्टाओं को छोड़ दो। (प्रथम) समस्त विद्याओं का अभ्यास कर, एवं उत्तम भोगों के सुख से दिन बिताय वृद्धावस्था प्राप्त होने पर भक्तियोग का आचरण करना" इस प्रकार से पिता ने उसे बारम्बार सिखलाया, पर हरिकेश ने एक भी नहीं माना ॥ ६८-६९ ।

एक बार कहीं पिता की दृष्टि रूखी (बदली हुई) देखकर वह उदार बुद्धिमान् बालक घर से डर कर निकल भागा ॥ ७० ।

जाते-जाते उसे दिशा-भ्रम हो गया। तब सोचने लगा—"हाय ! मैंने क्षणिक बुद्धि से क्यों घर छोड़ दिया ? ॥ ७१ ।

---

१. देशगतान्यपीति क्वचित्पाठः ।

क्व यामि क्व स्थिते शम्भो मम श्रेयो भविष्यति ।
पित्रा निर्वासितश्चाहं न च वेद्म्यथ किञ्चन ॥ ७२ ।
इति श्रुतं मया पूर्वं पितुरुत्सङ्गवर्तिना ।
गदतस्तातपुरतः कस्यचिद्वचनं स्फुटम् ॥ ७३ ।
मात्रा पित्रा परित्यक्ता ये त्यक्ता निजबन्धुभिः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ ७४ ।
जरया परिभूता ये ये व्याधिविकलीकृताः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ ७५ ।
पदे पदे समाक्रान्ता ये विपद्भिरहर्निशम् ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ ७६ ।
पापराशिभिराक्रान्ता ये दारिद्र्यपराजिताः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ ७७ ।
संसारभयभीता ये ये बद्धाः कर्मबन्धनैः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ ७८ ।

कुत्र गच्छामि कुत्र वा स्थिते मम श्रेयो भविष्यतीत्येद्द्वयं निश्चिनोति । श्रुतमित्यादिना ॥ ७३ ।

तेषां पूर्वोक्तानां सर्वेषामपीत्यर्थः । अग्रेऽपि तेषामित्यत्रापिशब्दो द्रष्टव्यः । येषां क्वापि गतिर्नास्तीत्येतस्यावृत्तिर्वाराणस्या अतिकारुणिकताद्योतनार्था ॥ ७४ ।

शम्भो ! मैं कहाँ जाऊँ ? कहाँ रहने से मेरा कल्याण होगा ? अब तो मैं अपने पिता का निकसुआ (पिता के यहाँ से निर्वासित) हो रहा हूँ । मुझे कुछ भी नहीं समझाई पड़ता (कि क्या करूँ ?) ॥ ७२ ।

पहले की बात है कि मैं एक बार पिता की गोद में बैठा था, तो बातचीत में किसी (साधु) ने यह वचन स्पष्टरूप से कहा था और जिसे मैंने भी सुना था (कि) माता, पिता और निज बन्धुबान्धवगण जिसका परित्याग कर देते हैं, एवं जिनकी कहीं भी गति नहीं होती, उनकी भी गति वाराणसी ही है ॥ ७३-७४ ।

जिन्हें वृद्धता (जरा) ने धर दबाया है, और जो लोग व्याधियों के मारे विकल हो गये हैं, एवं जिनको और कहीं पर ठिकाना नहीं है, उन सब की गति वाराणसी के भिन्न अन्यत्र नहीं है ॥ ७५ ।

जो लोग पद-पद में विपदों से पददलित हुए हैं, पाप राशियों से आक्रान्त हैं, दरिद्रता से अभिभूत हैं, संसार के भय से भीत हैं, कर्मबन्धनों से बंध गये हैं, श्रुति-स्मृति से हीन हैं, शौचाचारों से रहित हैं, योग से भ्रष्ट हो चुके हैं, तप-दान से शून्य

श्रुतिस्मृतिविहीना ये शौचाचारविवर्जिताः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥ ७९ ॥
ये च योगपरिभ्रष्टास्तपोदानविवर्जिताः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसीगतिः ॥ ८० ॥
मध्ये बन्धुजने [1]येषामपमानं पदे पदे ।
तेषामानन्ददं चैकं शम्भोरानन्दकाननम् ॥ ८१ ॥
आनन्दकानने येषां रुचिर्वै वसतां सताम् ।
विश्वेशानुगृहीतानां तेषामानन्दजोदयः ॥ ८२ ॥
भर्ज्यन्ते कर्मबीजानि यत्र विश्वेशवह्निना ।
अतो महाश्मशानं तदगतीनां परागतिः ॥ ८३ ॥
हरिकेशो विचार्येति यातो वाराणसीं पुरीम् ।
यत्राविमुक्ते जन्तूनां त्यजतां पार्थिवीं तनुम् ॥ ८४ ॥

आनन्ददं चेति चकारादपमाननाशकमित्यपि ज्ञेयम् ॥ ८१ ॥

रुचिरभिरुचिः । वै निश्चितम् । आनन्दजोदयः सुखजन्योल्लासविशेषोदयः । सततमिति[2] पाठश्चिन्त्यः । तेन स्वानन्दजोदय इति पाठे तेन विश्वेशानुग्रहेण ॥ ८२ ॥

प्रकारान्तरेण महाश्मशाननामनिर्वचनं कुर्वन्नगतीनां गतित्वं विशेषतः साधयति । भर्ज्यन्त इति । कर्मबीजानि कर्माणि बीजानि तद्वासनासहितान्यज्ञानानि चेत्यर्थः ॥ ८३ ॥

यातो गतः ॥ ८४ ॥

हैं, इन सब की अन्यत्र कहीं भी गति नहीं होती, उनकी केवल वाराणसी ही गति है। जिन लोगों का बन्धुजन के मध्य में पद-पद पर अपमान होता है, विश्वेश्वर का आनन्दकानन ही एकमात्र उनको आनन्ददायक है ॥ ७९-८१ ॥

(क्योंकि) विश्वनाथ द्वारा अनुगृहीत जिन निवासी सज्जनों की रुचि आनन्द-कानन में बनी रहती है, उन्हीं के लिये निरन्तर वहाँ पर आनन्द का उदय होता रहता है ॥ ८२ ॥

इस महाश्मान में निवास करने से समस्त कर्मरूपी बीज विश्वेश्वररूप अग्नि से भुजकर (भस्म हो) जाते हैं। इसी कारण से वहाँ अगतियों की भी परमगति होती है ॥ ८३ ॥

हरिकेश ने यह सब विचारकर, जहाँ पर महादेव के प्रसाद से इस पार्थिव

१. बहुषु पुस्तकेषु नपुंसकपाठदर्शनादेतच्छान्दसम् ।
२. रुचिर्वै इत्यत्र ।

पुनर्नो तनुसम्बन्धस्तनुद्वेषिप्रसादतः ।
आनन्दवनमासाद्य स तपःशरणं गतः ॥ ८५ ॥
अथ कालान्तरे शम्भुः प्रविश्यानन्दकाननम् ।
पार्वत्यै दर्शयामास निजमाक्रीडकाननम् ॥ ८६ ॥
अमन्दामोदमन्दारं कोविदारपरिष्कृतम् ।
चारुचम्पकचूताढ्यं प्रोत्फुल्लनवमल्लिकम् ॥ ८७ ॥
विकसन्मालतीजालं करवीरविराजितम् ।
प्रस्फुटत् केतकिवनं प्रोद्यत्कुरबकोर्जितम् ॥ ८८ ॥

तनुद्वेषी काशीस्थानां तनुभृन्मात्राणां तनुमात्रद्वेषी प्रलयकाले वा तनुमात्रद्वेषी विश्वनाथः । वाराणसीमागत्य किं कृतवानित्यत्राहानन्दवनमिति । स हरिकेशः ॥ ८५ ॥

कीदृशमस्य तपो महदिति तृतीयप्रश्नस्य प्रत्युत्तरं विशदयितुं प्रसङ्गमाह । **अथेति** । अथेति वाक्यारम्भे ॥ ८६ ॥

आक्रीडं विशेषयन्नेतदेव विवृणोति । अमन्देति चतुर्विंशतिभिः । एतेषां श्लोकानां दर्शयन्नित्थमाक्रीडं देव्यै देवोऽविशद्वनमित्यग्रिमेणान्वयः । इत्थमेवम्भूतम् । एवम्भूतत्वमेवाह । **अमन्देति** । अमन्दामोदा महापरिमला मन्दाराः पारिजाता यस्मिन् कोविदारैश्चमरिकैः परिष्कृतं भूषितम्, चारुभ्यां चम्पकचूताभ्यामाढ्यं परिपूर्णमित्यर्थः । प्रोत्फुल्ला विकसिता नवा नूतना मल्लिकास्तृणशून्यानि यत्र ॥ ८७ ॥

विकसन्तीनां मालतीनां जातीनां जालानि समूहा यत्र । करवीरैः प्रतीहासैर्विराजितं प्रकाशितम् । प्रस्फुटन्तीनां केतकीनां तृणजातिभेदानां वनानि यत्र । **याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचिदिति ह्रस्वः** । दीर्घ एव वा पाठः । प्रोद्यन्ति यानि कुरबकानि अम्लानस्य वृक्षस्य शोणकुसुमानि तैरूर्जितमुद्रिक्तम् । 'अम्लानस्तु महासहा तत्र शोणे कुरबकस्तत्र पोते कुरंटकः' इत्यमरः ॥ ८८ ॥

शरीर के त्याग करने पर फिर देह-सम्बन्ध नहीं होता, उसी आनन्दवन, अविमुक्त क्षेत्र काशीपुरी में गमन कर, तपस्या की शरण ले ली ॥ ८४-८५ ॥

उसके अनन्तर कुछ काल बीत जाने पर एक बार भगवान् शंभु आनन्दकानन में प्रवेश कर पार्वती को अपना उत्तम उद्यान (बाग) दिखलाने लगे ॥ ८६ ॥

(प्रिय ! देखो, उद्यान की कैसी शोभा है ?) इस उद्यान (वाटिका) में मन्दार, मालती, नवमल्लिका, चूत, चंपक, कोविदार, करवीर, केतकी, कुरबक, विचकिला, बकुल, अशोक, पुन्नाग और पाटल इत्यादि विकसित होकर कैसे दशों दिशाओं को

जृम्भद्विचकिलामोदं लसत्कंकेलिपल्लवम् ।
नवमल्लीपरिमलाकृष्टषट्पदनादितम् ॥ ८९ ॥
पुन्नागनिकरं बकुलामोदमोदितम् ।
मेदस्विपाटलामोदसदामोदितदिङ्मुखम् ॥ ९० ॥
बहुशो लम्बिरोलम्बमालामालितभूतलम् ।
चलच्चन्दनशाखाग्ररममाणपिकाकुलम् ॥ ९१ ॥
गुरुणाऽगुरुणा मत्तभद्रजातिविहङ्गमम् ।
नागकेसरशाखास्थशालभञ्जिविनोदितम् ॥ ९२ ॥

जृम्भतामुज्जृम्भतां विकसितानिति यावत् । विचिकिलानां द्रुमविशेषाणामामोदो यस्मिन् । लसन्तीनां कङ्केलीनामशोकानां पल्लवा यस्मिन् । 'नवमालतीनां नूतनमाल॰तीनां परिमलैर्गन्धैराकृष्टैराकर्षितैः षट्पदैर्नादितं नादयुक्तम् ॥ ८९ ।

पुष्येषु हिताः पुष्याः पुष्यानां पुन्नागानां देववल्लभानां निकरः समूहो यस्मिन् । पुष्यदिति पाठे पुष्यतां पुष्पाणि जनयतां पुन्नागानामित्यर्थः । बकुलानां केसराणामामोदैर्मोदितं सुगन्धितम् । मेदस्विनो वपावन्तोऽन्तःस्निग्धा इत्यर्थः । ये पाटलास्तेषामामोदैः सदा मोदितानि दिशां मुखानि यत्र ॥ ९० ।

बहुशः शाखादिषु लम्बिनां रोलम्बानां भ्रमराणाम् । 'रोलम्बो मधुलम्पटः' इति रत्नमाला । मालया समूहेन मालितं सञ्जातमालं भूतलं यत्र । चलत्सु चन्दनशाखाग्रेषु रममाणैः पिकैः कोकिलैराकुलं व्याप्तम् ॥ ९१ ।

गुरुणा महताऽगुरुणा कालागुरुणा मत्ता भद्रजातय उत्कृष्टजातयो विहङ्गमा यत्र । नागकेसराणां शाखासु कौतुकार्थं विश्वकर्मणा निर्मिताः क्रीडार्थमागता वा सुराङ्गना एव याः शाखास्थाः शालभञ्जयः पुत्तलिकास्ताभिर्विनोदितं विलासयुक्तम् । अत एव पूर्वमुक्तं निजमाक्रीडकाननमिति ॥ ९२ ।

परम सुगन्धित कर रहे हैं ? इस नवमल्लिका (वेला) के परिमलामोद से मत्त होकर भ्रमरगण गूंज रहे हैं ॥ ८७-९० ।

बहुत से स्थानों पर भ्रमरपंक्ति मालाकार होकर भूतल में लम्बमान हो रही है । इन हिलती हुई चन्दन-वृक्ष की शाखाओं के अग्रभाग पर कोकिलगण (कुहू-कुहू कहकर) क्रीड़ा कर रहे है ॥ ९१ ।

इस विशाल अगर के द्वारा उत्तम जाति के विहंगगण मदमत्त हो रहे हैं । यह नागकेसर की शाखा पर स्थित शालभंजिका (पुतरी मन को) विनोदित किये देती हैं ॥ ९२ ।

मेरुतुङ्गनमेरुस्थच्छायाक्रीडितकिन्नरम् ।
किन्नरीमिथुनोद्गीतं गानवच्छुककिंशुकम् ॥ ९३ ।
कदम्बानां कदम्बेषु गुञ्जद्रोलम्बयुग्मकम् ।
जितसौवर्णवर्णोच्चकर्णिकारविराजितम् ॥ ९४ ।
(शा[1]लतालतमालालीहिंतालीलकुचावृतम्) ।
लसत्सप्तच्छदामोदं खर्जूरीराजिराजितम् ।
नारिकेलतरुच्छन्नं नारङ्गीरागरञ्जितम् ॥ ९५ ।
फलिजम्बीरनिकरं मधूकमधुपाकुलम् ।
शाल्मलीशीतलच्छायं पिचुमन्दमहावनम् ॥ ९६ ।

मेरुतुङ्गनमेरुस्थच्छायासु मेरूच्चरुद्राक्षवृक्षजातच्छायासुक्रीडिताः क्रीडायुक्ताः किन्नरा यत्र। किन्नरीमिथुनानां किन्नरपत्नीयुगलानां स्थाने स्थाने उदुच्चैर्गीतं यत्र। गानवन्तो मधुरध्वनयः शुकाः कीरा येषु तथाभूताः किंशुकाः पलाशा यत्र ॥ ९३ ।

कदम्बानां हलिप्रियाणां कदम्बेषु समूहेषु गुञ्जन्त्यव्यक्तशब्दवन्ति रोलम्बयुग्मकानि भ्रमरयुगलानि यत्र। जितः सौवर्णः सुवर्णसम्बन्धो वर्णो यैस्ते च ते उच्चकर्णिकारा महापरिव्याधास्तैर्विराजितम् ॥ ९४ ।

लसद्भिः सप्तच्छदैर्विशालत्वग्भिरामोदो यत्र। खर्जूरीणां तृणद्रुमावान्तरजातीनां राजिभिः पङ्क्तिभिः राजितं शोभितम्। नारिकेलतरुभिर्लाङ्गलिवृक्षैश्छन्नं व्याप्तम्। ऐरावतापरपर्याया या नागरङ्गा एव नारंग्यस्तासां रागै रञ्जितमनुरञ्जितं व्याप्तमिति यावत्। नागेति पाठे [2]नागैः समूहैरित्यर्थः ॥ ९५ ।

फलिनां फलवतां जम्बीराणां समीरणानां निकराः समूहा यत्र। मधूकेषु गुडपुष्पेषु ये मधुपा भ्रमरास्तैराकुलम्। शाल्मलीनां पिच्छिलानां शीतलाश्छाया यत्र। पिचुमन्दानां निम्बानां महावनं यत्र ॥ ९६ ।

इस सुमेरु के समान ऊँचे नमेरु (रुद्राक्ष) वृक्ष की छाया में बैठे किन्नरगण विहार कर रहे हैं और किन्नरी का जोड़ा ऊँचे (गान्धार) स्वर में गा रहा है। किंशुक (पलाश) पर शुकगण भी गान कर रहे हैं ॥ ९३ ।

इधर (इन) कदम-वृक्ष के झुंडों पर भौंरों के जोड़े गूँज रहे हैं, यह सुवर्ण के भी वर्ण से उत्तम (गहिरा) करना, विराजमान हैं ॥ ९४ ।

(इन सब शाल, ताल, तमाल हिन्ताल और लकुटों को भरमार है,)। छितवन का सुगन्ध उड़ रहा है। खजूर की पंक्तियों से राजित, नारियल वृक्षों से आच्छादित, नारंगियों के रंग से रंगीला, बिजौरा नीबुओं से हराभरा, महुओं पर मधुपों से शोभित, नींब के बड़े वन एवं सेमर की ठंढी छाया से पूर्ण। मधुर सुगन्धवाले दौनों

१. इदमर्धमधिकमेकस्मिन्पुस्तके ।
२. नागशब्दस्य समूहवाचकत्वं विचारणीयम् ।

मधुरामोददमनच्छन्नं मरुवनोदितम् ।
लवलीलोललोलाभृन्मन्दमारुतलोलितम् ॥ ९७ ।
भिल्लीहल्लीसकप्रीतिझिल्लीरावविराविणम् ।
क्वचित्सरःपरिसरक्रोडत् क्रोडकदम्बकम् ॥ ९८ ।
मरालीगलनालीस्थबिसासक्तसितच्छदम् ।
विशोककोकमिथुनक्रीडाक्रेंकारसुन्दरम् ॥ ९९ ।
बकशावकसञ्चारं लक्ष्मणासक्तसारसम् ।
मत्तबर्हिणसंघुष्टं कपिञ्जलकुलाकुलम् ॥ १०० ।

मधुरो रम्य आमोदो येषां तैर्दमनकैराच्छन्नम् । मरुवेण मरुबकेन पिण्डीतकेन नोदितमुच्छलितं मरूणां मरूबकानां वा वनैरुदितं प्रकाशितम् । मरुवमोदिनमिति पाठे स्पष्ट एवार्थः । लवल्या मुक्ताफलाया लवालीति गौडे प्रसिद्धाया लोलां चञ्चलां चालनरूपामिति यावत् । लीलां बिभर्तीति लीलाभृद् यो मन्दमारुतस्तेन लोलितमान्दोलितम् ॥ ९७ ।

भिल्लीनां शबरस्त्रीणां हल्लीसकप्रीतौ प्रीयतेऽनेनेति प्रीतिः क्रीडनकं हल्लीसकाख्ये नृत्यक्रीडनके वाद्यस्थानीयो झिल्लीनां भृङ्गारीणां कठोरध्वनिसूक्ष्मकीटानाम् । 'भृंगारी चीरिका चीरी झिल्ली काचसमा इमाः' इत्यमरः । रावः शब्दस्तेन विराविणं शब्दयुक्तम् । क्वचित्कुत्रचित् सरसां परिसरेषु पर्यन्तभूमिषु क्रीडतां क्रोडाणां कदम्बः समूहो यत्र ॥ ९८ ।

मरालीनां हंसीनां गलनालीस्थेषु बिसेषु पद्मिनीतन्तुष्वासक्ताः सितच्छदा हंसा यत्र । हंसीकण्ठसंसक्तहंसमित्यर्थः । विशोकस्य शोकरहितस्य कोकमिथुनस्य चक्रवाकयुग्मस्य क्रीडाक्रेंकाराभ्यां लीला तज्जातिशब्दाभ्यां सुन्दरं मनोहरम् ॥ ९९ ।

बकशावकानां बकपोतानां संचारो यत्र । लक्ष्मणासु सारसयोषित्स्वासक्ताः सारसाः पुष्कराह्वा यत्र । मत्तैर्बर्हिणैर्मयूरैः संघुष्टं सन्नादितम् । कपिञ्जलानां कपिञ्जलानालभेतेति श्रुतिप्रसिद्धपक्षिविशेषाणां कुलैराकुलं व्याप्तम् ॥ १०० ।

से छिपा, मरुवक (मयना) के वन से प्रकाशित, लवली (हरफारवड़ी) के लोललोलाओं के कारण मन्द मारुत से आन्दोलित हो रहा है ॥ ९५-९७ ।

भीलिनों के बाजन के समान झींगुरों के झंकार से शब्दायमान है । कहीं पर सरोवर के किनारे (समीप भूमि में) वराह के दल क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ९८ ।

उस मराली के गलनालीवाले मृणाल की अभिलाषा से मराल आसक्त हो रहा है । आनन्दित चकवा के जोड़े की क्रीड़ा में क्रेंकार शब्दों से सुन्दर-सा जान पड़ता है ॥ ९९ ।

बकुलों के बच्चे घूम रहे हैं, सारस सारसी पर आसक्त हो रहा है । मद से मत्त होकर मयूरगण पिहक रहे हैं । कपिंजल पक्षियों के झुंडों से आकुल हो रहा है ॥१००।

जीवं जीवलसज्जीवं क्वणत्कारंडवोत्कटम् ।
दीर्घिकावारिसंचारि शीतमारुतवीजितम् ॥ १०१ ॥
मन्दान्दोलितकह्लारपरागपरिपिङ्गलम् ।
उल्लसत्पङ्कजमुखं नीलेन्दीवरलोचनम् ॥ १०२ ॥
तमालकबरीभारं विलसद्दाडिमीरदम् ।
भ्रमरालीलसद्भ्रूकं शुकनासाविराजितम् ॥ १०३ ॥
महान्धुश्रवणं दूर्वास्त्वश्रुभिः परिशोभितम् ।
कमलामोदनिःस्वासं बिम्बीफलरदच्छदम् ॥ १०४ ॥

जीवं जीवैः पक्षिविशेषैर्लसन्त उल्लसन्तो जीवाः प्राणिनो यस्मिन् । क्वणद्भिः शब्दायमानैः कारण्डवैः पक्षिविशेषैरुत्कटमुच्चैर्व्याप्तमित्यर्थः । दीर्घिकावारिसंचारिणा वाप्युदकप्रसरणवता शीतेन वातेन वीजितं सेवितमित्यर्थः ॥ १०१ ॥

मन्दान्दोलितकह्लाराणामीषच्चलितसौगन्धिकानां परागै रजोभिः परिपिङ्गलमत्यन्तं पिञ्जरम् । इदानीं पुंरूपेण निरूपयति । उल्लसदिति । विकसत्पद्मं वक्त्रं यस्य तत् । नीलेन्दीवरे पद्म एव लोचने यस्य तत् ॥ १०२ ॥

तमालः कालस्कन्धः कबरीभारः केशपाशसमूहो यस्य तत् । कबर्या एकत्वेऽपि तदवयवानां बहुत्वाद् भारग्रहणम् । विलसन्त्यो दाडिम्यो रदा दन्ता यस्य तत् । विदलदिति पाठे विदलन्त्यो प्राप्नुवत्य इत्यर्थः । भ्रमराल्यौ भ्रमरपंक्तौ लसन्त्यौ भ्रुवौ यस्य तत् । शुकः कीर एव शुकानां वा या नासा तया विराजितम् ॥ १०३ ॥

महान्तौ अन्धू कूपौ श्रवणे यस्य तत् । दूर्वाः शतपर्विका एव । दूर्वा तु शतपर्विकेत्यमरः । श्मश्रूणि पुंमुखरूढलोमानि तैः परिशोभितम् । कमलस्यामोदो निःस्वासो यस्य तत् । बिम्बीफलवत् गौडे प्रसिद्धलोलाकुचाफलवद् रदच्छदौ यस्य तत् ॥ १०४ ॥

जीव जीव को मानो जिलाये देते हैं । (वह) कडरुआ कैसा उत्कट बोल रहा है । बावली के जल में संचार करने से शीतल वायु (मानो) पंखा झल रहा है ॥ १०१ ॥

मंदगति से हिलते हुए कमलों की धूलि से वापी चतुर्दिक् पीतवर्ण हो रही है । विकसित पंकज ही (मानो इस उद्यान के) मुखमंडल के नीलकमल लोचन हैं ॥ १०२ ॥

तमाल ही जटाजूट, फटा हुआ अनार दंतपंक्ति, भ्रमरावली ही (काली कुटिल) भ्रूरेखा, सुग्गों के ठोर ही नासिका हैं ॥ १०३ ॥

बड़े-बड़े कूप ही कान, दूबों की ढेर ही दाढ़ी, कमलों का सुगंध ही निःश्वास-वायु, कुन्दरु ही ओठ है ॥ १०४ ॥

सुपद्मपत्रवसनं कर्णिकारविभूषणम् ।
कम्रकम्बुलसत्कण्ठं शङ्करस्कन्धबन्धुरम् ॥ १०५ ।
गन्धसारसमासक्ताहीनदोर्दण्डमण्डितम् ।
अशोकपल्लवाङ्गुष्ठं केतकीनखरोज्ज्वलम् ॥ १०६ ।
लसत्कण्ठीरवोरस्कं गण्डशैलपृथूदरम् ।
जलावर्तलसन्नाभितरुजंघायुगान्वितम् ॥ १०७ ।

शोभनं पद्मपत्रं वसनं यस्य तत् । कर्णिकाराः परिव्याधाः सुपुष्पितवृक्षविशेषा विभूषणानि यस्य तत् ! कम्रकम्बुः कमनीयशुक्तिः शोभनवृक्षविशेषः स एव लसच्छोभमानः कण्ठो यस्य तत् । शुक्तिः शङ्खः खुरः कोलदबंनखमित्यमरः । यद्वालं कम्रः, कामुको यः कम्बुः शङ्खः स एव लसत्कण्ठो यस्य तत् । कामातुरो हि शङ्खशब्दं कुर्वाणो भवति स एव लसत्कण्ठत्वेनोत्प्रेक्ष्यत इत्यर्थः । कामुकेकमितानुकः कम्रः कामयिता भीकः कमनः कामनोभिक इत्यमरः । शङ्करशिवाख्यो वितुन्नकापरपर्यायः कालानुसार्यापरपर्यायो वा वृक्षविशेषः । अथ वितुन्नकः झटामला झलाताली शिवा तामलकीति च । कालानुसार्यवृक्षाश्मपुष्पशीतशिवानि तु शैलेयमित्यमरः । स एव स्कन्धबन्धुरे स्कन्धस्थे बन्धुरे उन्नतानते यस्मिंस्तत् । बन्धुरन्तून्नतानतमित्यमरः । अथवा क्रीडार्थमागतः शङ्कर ईशादिरुद्र एव मूर्त्तिभेदेन स्कन्धबन्धुरं स्कन्धस्थं मूलप्ररोहस्थं बन्धुरमुन्नतावनतं यस्मिंस्तत् ॥ १०५ ।

गन्धसारे चन्दने समासक्तः संलग्नो य अहीनोऽहिश्रेष्ठः स एव दोर्दण्डो-हस्तस्तेन मण्डितम् । अशोकपल्लवौ वञ्जुलपल्लवावङ्गुष्ठौ यस्य तत् । केतक्यस्तृणद्रुमविशेषास्त एव नखरा नखास्तैरुज्ज्वलम् ॥ १०६ ।

लसत्कण्ठीरवः सिंह एव उरो यस्य तत् । गण्डशैलो गिरेश्च्युतः पाषाणः स एव पृथुविस्तीर्णमुदरं यस्य तत् । जलावर्तोऽम्भसां भ्रम एव लसन्नाभिर्यस्य तत् । तरू एव जंघायुगे ताभ्यामन्वितम् ॥ १०७ ।

सुन्दर पद्मपत्र ही वस्त्र, करना का फूल ही विभूषण, कमनीय शंख ही उत्तम कंठ, ठूठे वृक्ष ही स्कन्ध के ऊँचे-नीचे भाग हैं ॥ १०५ ।

चन्दन वृक्षों में लिपटे हुए भुजंगराज ही मंडित भुजदंड, अशोक के पल्लव ही अँगूठे (अँगुलियाँ) केतकी पुष्प ही नख है ॥ १०६ ।

शोभायमान सिंह ही वक्षःस्थल, पहाड़ से टूटे पत्थर के ढोंके ही बड़ा उदर, जल की भँवरियाँ ही नाभि, बड़े-बड़े वृक्ष ही दोनों जंघायें हैं ॥ १०७ ।

स्थलभाक्पद्मचरणं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
लसत्कदलिकेदारदलच्चीनांशुकावृतम् ॥ १०८ ॥
नानाकुसुममालाभिर्मालितं च समन्ततः ।
अकण्टकितरुच्छन्नं महिषस्वापदावृतम् ॥ १०९ ॥
चन्द्रकान्तशिलासुप्तकृष्णैणहरितोडुपम् ।
तरुप्रकीर्णकुसुमजितस्वर्लोकतारकम् ।
दर्शयन्नित्थमाक्रीडं देव्यै देवोऽविशद्वनम् ॥ ११० ॥

स्थलभाजौ पद्मौ चरणौ यस्य तत् । मत्तमातङ्गेन गन्तुं शीलं यस्य तत् । पुंस्त्वमार्षम् । लसत्कदलीनां केदारेषु वप्रेषु । पुंनपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रमित्यमरः । दलन्तः संमर्दन्तो ये चीना हरिणविशेषाः । कदली कन्दली चीनश्चमूरुप्रियकावपि । समूरुश्चेति हरिणा अमी अजिनयोनय इत्यमरः । त एवांशुकानि वस्त्राणि तैरावृतम् । यद्वा, लसत्कदलीक्षेत्रेषु यानि दलानि कदलीपत्राणि तान्येव चीनांशुकानि चीनदेशोद्भव-वस्त्राणि तैरावृतम् ॥ १०८ ॥

विविधपुष्पस्रग्भिर्मालितं सञ्जातमालम् । समन्ततः सर्वत्र । चकारः समुच्चये । अकण्टकिभिः कण्टकरहितैः तरुभिश्छन्नम् । महिषैः श्वापदैश्च व्याघ्रादिभि-र्मित्रैरिवैकत्र स्थितैरावृतम् । ऐकपद्यपाठे कर्मधारयः । अकण्टकिनस्तरवो यस्मिंस्तत्तथा छन्नाः प्रच्छन्ना आवृता वैरं विहाय एकत्रस्थिता इति यावत् । ये महिषश्वापदा-स्तैरावृतमिति वा । अकण्टकिभिस्तरुभिश्छन्ना आच्छादिता ये महिषादयस्तैरावृत-मिति वा ॥ १०९ ॥

चन्द्रकान्तशिलासुप्तेन कृष्णसारेण हरितो हरिद्वर्णीकृतः कलङ्कित इति यावत् । उडुपतिबिम्बीभूतश्चन्द्रो यत्र तत् । तरुषु प्रकीर्णानि यानि कुसुमानि तैर्जिताः स्वर्लोक-स्थास्तारका येन तत् ॥ ११० ॥

और स्थलारविन्द ही चरण के स्थान पर शोभा पा रहे हैं। मत्त मातंग के समान इसकी गति जान पड़ती है। कोमल केलाओं की कियारियों में कदलीदल का ही मानों चीनियाँ वस्त्र पहिन लिया है ॥ १०८ ॥

चारों ओर से नानाविध पुष्पमालाओं की मानों माला डाल लिये हैं। इसमें कंटैले वृक्ष नहीं हैं। महिष और हिंस्र जन्तुगण (वैर छोड़कर) भरे हैं ॥ १०९ ॥

अहा ! चन्द्रकान्तमणि की शिला पर सोकर कृष्णसार मृग मानो चन्द्रमा को कलंकित बना रहा है। अहा ! वृक्षों के द्वारा विकीर्ण इन कुसुमों ने तो स्वर्ग के तारों की शोभा जीत ली है। इसी प्रकार से पार्वती देवी को उद्यान की छटा दिखलाते हुए महादेव ने (उस) वन में प्रवेश किया ॥ ११० ॥

देवदेव उवाच—

यथा प्रियतमा देवि मम त्वं सर्वसुन्दरि ।
तथा प्रियतरं चैतन्मे सदानन्दकाननम् ॥ १११ ।
अत्रानन्दवने देवि मृतानां मदनुग्रहात् ।
वपुस्त्वमृततां प्राप्तमपुनर्भविनस्तु ते ॥ ११२ ।
भविनो ये विपद्यन्ते वाराणस्यां ममाज्ञया ।
तेषां बीजानि दग्धानि श्मशानज्वलदग्निना ॥ ११३ ।
महाश्मशाने ये प्राप्ता दीर्घनिद्रां गिरीन्द्रजे ।
न पुनर्गर्भशयने ते स्वपन्ति कदाचन ॥ ११४ ।
ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते नान्यथा जन्तवः क्वचित् ।
ब्रह्मज्ञानमये क्षेत्रे प्रयागे वा तनुत्यजः ॥ ११५ ।

काननं प्रविश्य किमकरोत् काशीं वर्णयामासेत्याह । देवदेव उवाचेति यथा प्रियतमेत्यादीनामितिब्रुवाणो देवेशो हरिकेशमवैक्षतेत्यग्रिमेणाऽन्वयः । मे मम । सदैवेति क्वचित् ॥ १११ ।

अत्रेति । हे देवि अत्रानन्दकानने येषां ममाऽनुग्रहान्मृतानां जन्तूनां वपुः शरीरममृततां पुनर्मरणाभावं प्राप्तं ते पुनर्भविन एव पुनः संसारिणो न भवन्त्ये-वेत्यर्थः ॥ ११२ ।

श्मशानं काशी स एव ज्वलदग्निः । यद्वा श्मशाने काश्यां ज्वलदग्निर्विश्वेश-स्तेन ॥ ११३ ।

एतदेव विवृणोति । महाश्मशान इति ॥ ११४ ।

ब्रह्मज्ञानमये ब्रह्मज्ञानप्राप्तिसाधने ॥ ११५ ।

देवदेव बोले—

'अयि सर्वसुन्दरी ! देवि ! जैसे तुम मेरी परम प्रियतमा हो, वैसे ही यह आनन्दवन भी मुझे बहुत ही प्रिय है ॥ १११ ।

देवि ! इस आनन्दवन में कालधर्म को प्राप्त करने वाले जीवों की देह मेरे अनुग्रह से अमृत पद को पा जाती है, और फिर उन्हें जन्म भी नहीं लेना पड़ता ॥११२।

जितने जन्मधारी वाराणसी में मृत्युगत होते हैं, मेरी आज्ञा से श्मशान के प्रज्वलित अग्नि में उनके कर्मबीज भस्म हो जाते हैं ॥ ११३ ।

गिरिराजकिशोरि ! जो लोग महाश्मशान में दीर्घनिद्रा लेते हैं, फिर वे कभी गर्भ में शयन नहीं करते ॥ ११४ ।

जन्तुगण ब्रह्मज्ञान होने से ही मुक्त होते हैं, प्रयागतीर्थ हो, चाहे यह ब्रह्मज्ञान का क्षेत्र (काशी) हो, कहीं भी बिना ब्रह्मज्ञान के मोक्ष हो हो नहीं सकता ॥ ११५ ।

ब्रह्मज्ञानं तदेवाहं काशीसंस्थितिभागिनाम् ।
दिशामि तारकं प्रान्ते मुच्यन्ते ते तु तत्क्षणात् ।। ११६ ।
गृह्णीयुः पापकर्माणि काशीमृतविनिन्दकाः ।
सुकृतानि स्तुतिकृतो मुच्यन्ते तेऽत्र जन्तवः ।। ११७ ।
ब्रह्मज्ञानं कुतो देवि कलिनोपहतात्मनाम् ।
स्वभावचञ्चलाक्षाणां तद्ब्रह्मेह दिशाम्यहम् ।। ११८ ।
योगिनो योगविभ्रष्टाः पतन्त्यैश्वर्यमोहिताः ।
काश्यां पतित्वा न पुनः पतन्त्यपि महालये ।। ११९ ।
ब्रह्मज्ञानं न विन्दन्ति योगैरेकेन जन्मना ।
जन्मनैकेन मुच्यन्ते काश्यामन्तकृतो जनाः ।। १२० ।

संस्थितिर्मरणं सम्यक् स्थितिर्वा ।। ११६ ।

काशीमरणादमुक्तिमुक्ती कथयतोर्दोषगुणावाह । गृह्णीयुरिति । अत्र ये जन्तवो म्रियन्ते ते न मुच्यन्ते इति काशीमृतविनिन्दकाः पापानि गृह्णीयुर्गृह्णन्ति । ते मुच्यन्त इति स्तुतिकृतः सुकृतानि गृह्णन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।। ११७ ।

अन्तं मरणं कुर्वन्तीत्यन्तकृतो मरणं प्राप्ता इत्यर्थः ।। १२० ।

इसीलिये मैं काशीवासियों को अन्तकाल में वही ब्रह्मज्ञान रूप तारक (मंत्र) उपदेश कर देता हूँ, जिसके द्वारा वे सब उसी क्षण मुक्त हो जाते हैं ।। ११६ ।

जो लोग काशी में मरने वालों की निन्दा करते हैं, वे तो पाप कर्मों को ले लेते हैं और जो कि बड़ाई करते हैं, वे पुण्यों को ग्रहण करते हैं, फिर वह जीव पापपुण्य से शून्य होकर मुक्त हो जाता है ।। ११७ ।

देवि ! कलि के द्वारा उपहतबुद्धि और स्वभावतः चंचलेन्द्रिय मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान कहाँ से हो सकता है ? इसी कारण से मैं इस स्थान पर उस ब्रह्म का उपदेश करता हूँ ।। ११८ ।

योगिगण ऐश्वर्य से मोहित होने पर योगभ्रष्ट होकर पतित हो जाते हैं; परन्तु काशी में पतित होकर फिर कभी संसार में पतित नहीं होते ।। ११९ ।

बहुत से योग-साधनों को करने पर भी एक ही जन्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता; परन्तु काशी में देहान्त होने से मनुष्य एक ही जन्म में मोक्ष पा जाता है ।। १२० ।

यथेह मुच्यते जन्तुर्गिरिजे मदनुग्रहात् ।
अविमुक्ते महाक्षेत्रे न तथाऽन्यत्र कुत्रचित् ॥ १२१ ॥
बहुजन्मसमभ्यासाद्योगी मुच्येत वा न वा ।
मृतमात्रो विमुच्येत काश्यामेकेन जन्मना ॥ १२२ ॥
न सिद्ध्यति कलौ योगो न सिध्यति कलौ तपः ।
न्यायार्जितधनोत्सर्गः सद्यः सिध्येत्कलौ नरः ॥ १२३ ॥
न व्रतं न तपो नेज्या न जपो न सुरार्चनम् ।
दानमेव कलौ मुक्त्यै काशीदानैरवाप्यते ॥ १२४ ॥
कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी ।
कलौ भागीरथी गङ्गा कलौ दानं विशिष्यते ॥ १२५ ॥

सम्यगभ्यासः समभ्यासस्तस्मात् । कृताभ्यासादिति क्वचित् ॥ १२२ ।

ननु केचिद्योगेन तपसा वा मुच्यन्त इति श्रूयते, सत्यम्, तत्तु कलौ न सिध्यतीत्याह । न सिध्यतीति । न्यायार्जितधनस्योत्सर्गस्त्यागो यस्य स नरः । पर इति पाठे परः केवलः सद्यः सिध्येदिति ॥ १२३ ।

उक्तमेव विवृणोति । न व्रतमिति । मुक्त्यै परम्परयेत्यर्थः । तदेवाह । काशीदानैरित्यादिना ॥ १२४ ।

गिरिजे ! जीव मेरे अनुग्रह से इस अविमुक्त महाक्षेत्र में जैसा मुक्तिलाभ करता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं (पा सकता) ॥१२१ ।

योगी अनेक जन्म में योगाभ्यास करने पर भी मोक्ष पावे वा न पावे; परन्तु काशी में तो मरने मात्र से एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है ॥ १२२ ।

कलिकाल में न तो योग ही सिद्ध होता है, न तपस्या ही सिद्ध होती है, केवल न्यायपूर्वक अर्जित धन का दाता मनुष्य सिद्धि को तुरत प्राप्त कर सकता है ॥ १२३ ।

व्रत, तप, यज्ञ, जप और देवपूजन (आदि कर्म) कलियुग में मुक्ति के साधन नहीं होते । एकमात्र दान ही मुक्ति का कारण होता है; क्योंकि काशी दानों के द्वारा ही प्राप्त होती है ॥ १२४ ।

घोर कलिकाल में विश्वनाथ ही एकमात्र देवता, वाराणसी ही मोक्षपुरी, केवल भागीरथी गंगा ही पुण्यप्रवाहिनी नदी और दान ही एकमात्र विशेष धर्म है ॥ १२५ ।

गङ्गोत्तरवहा काश्यां लिङ्गं विश्वेश्वरं मम ।
उभे विमुक्तिदे पुंसां प्राप्ये दानबलात्कलौ ॥ १२६ ।
पुण्यवानितरो वाऽपि मम क्षेत्रस्य सेवया ।
मुक्तो भवति देवेशि नात्र कार्या विचारणा ॥ १२७ ।
अविमुक्तस्य माहात्म्यात्पुण्यपापेन कर्मणा ।
देवि प्रभवतः पुंसामपि जन्मशतार्जिते ॥ १२८ ।
अविमुक्तं न मोक्तव्यं तस्माद्देवि मुमुक्षुणा ।
हन्यमानेन बहुधा ह्युपसर्गशतैरपि ॥ १२९ ।
विधाय क्षेत्रसंन्यासं ये वसन्तीह मानवाः ।
जीवन्मुक्तास्तु ते देवि तेषां विघ्नं हराम्यहम् ॥ १३० ।
न योगिनां हृदाकाशे न कैलासे न मन्दरे ।
तथा वासरतिर्मेऽस्ति यथा काश्यां रतिर्मम ॥ १३१ ।

प्राप्ये प्राप्तुं योग्ये । प्राप्त इति पाठे प्राप्तव्ये इत्यर्थः ॥ १२६ ।

ननु भवतु पुण्यवतां दानेन काश्यादि प्राप्त्या मोक्ष इतरेषान्तु का वार्ता तत्राह । पुण्यवानिति ॥ १२७ ।

उपसर्गशतैर्विघ्नशतैः ॥ १२९ ।

काशी में उत्तरवाहिनी गंगा और मेरा विश्वेश्वर लिंग (बस) ये दोनों ही मुक्ति के दाता हैं; परन्तु कलियुग में तो ये दोनों दान के ही बल से प्राप्त हो सकते हैं ॥ १२६ ।

हे देवेश्वरि ! मेरे इस क्षेत्र की सेवा करने से पुण्यवान् अथवा पापी हो, वह जीव मुक्त हो ही जाता है—इसमें कुछ भी विचारना व्यर्थ है ॥ १२७ ।

मनुष्यों के शतजन्मार्जित भी पुण्य-पाप इस अविमुक्त क्षेत्र के माहात्म्य से कर्मद्वारा कभी समर्थ नहीं हो सकते ॥ १२८ ।

अतएव हे देवि ! मुमुक्षुजन बारंबार सेकड़ों विघ्न-बाधाओं से ठोकर खाने पर भी कभी इस अविमुक्त क्षेत्र को न छोड़ें ॥ १२९ ।

जो लोग क्षेत्रसंन्यास लेकर यहाँ पर वास करते है, वे सब जीवन्मुक्त हैं। देवि ! मैं उनके विघ्नों को हटाया करता हूँ ॥ १३० ।

योगियों के हृदयाकाश कैलास वा मन्दर पर्वत पर मेरा रहने का अनुराग वैसा नहीं है, जैसा कि काशी में प्रेमपूरण रहता है ॥ १३१ ।

काशीवासिजनो देवि मम गर्भे वसेत्सदा।
अतस्तं मोचयाम्यन्ते प्रतिज्ञेयं यतो मम ॥ १३२ ।
तामसीं प्रकृतिं प्राप्य कालो भूत्वा चराचरम्।
ग्रसामि लीलया देवि काशीं रक्षामि यत्नतः ॥ १३३ ।
प्रेमपात्रद्वयं देवि नितरां नेतरन्मम।
त्वं वा तपोधने गौरि काशीवानन्दभूमिका ॥ १३४ ।
विना काशीं न मे स्थानं विना काशीं न मे रतिः।
विना काशीं न निर्वाणं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ १३५ ।
ब्रह्माण्डगोलके यद्वन्मुक्तिः काश्यां व्यवस्थिता।
अष्टाङ्गयोगयुक्त्या वा न तथा हेलयाऽन्यतः ॥ १३६ ।

काशीस्थप्राणिमात्रमोचने हेतुमाह। काशीवासीति। हे देवि काशीवासिजनः काशीस्थप्राणिमात्रो यतः सदा मम गर्भे वसेत्। प्राणेभ्योऽपि प्रियो ममेति क्वचित्। अतस्तं काशीवासिनं जनं अन्ते मोचयामि। मोचयाम्येवेति क्वचित्। विपक्षे बाधकमाह। यतः इयं काशीस्था प्राणिमात्रमोचनरूपा। मम प्रतिज्ञा। दृढा ममेति क्वचित् ॥ १३२ ।

यतः काशी मम गर्भभूताऽतस्तामसीमिति। तामसीं तमोगुणोद्रेकाम्। प्रकृतिं मायाम्। तामसस्वभावं वा ॥ १३३ ।

लये काशीरक्षणे हेत्वन्तरमाह। प्रेमपात्रमिति ॥ १३४ ।

निर्वाणं विदेहं कैवल्यम् ॥ १३५ ।

ब्रह्माण्डेति। ब्रह्माण्डमध्ये हेलयाऽनायासेन काश्यां यद्वद्यथा मुक्तिर्व्यवस्थिता तथाऽन्यतोऽन्यत्राऽष्टाङ्गयोगस्य मुक्त्या युञ्जनेन अभ्यासेनाऽपि नेत्यर्थः ॥ १३६ ।

काशीवासी जन सर्वदा मेरे ही गर्भ में निवास करते हैं। अतएव मैं अन्तकाल में उनका मोचन कर देता हूँ (उन्हें जन्म, जरा, मरण के भय से मुक्त करता हूँ)। यही तो मेरी प्रतिज्ञा है। मैं (प्रलय में) तामसी प्रकृति धारण कर कालमूर्ति बन चराचर विश्व को लीलानुसार ग्रास कर जाता हूँ; किन्तु काशी की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता हूँ ॥ १३३ ।

तपोधने! गौरी! देवि! तुम और आनन्दभूमि काशी, ये ही दोनों मेरे नितान्त प्रेमपात्र हैं। दूसरा नहीं ॥ १३४ ।

काशी के विना मुझे स्थान नहीं है। काशी से भिन्न कहीं भी मेरा अनुराग नहीं है। काशी को छोड़ अन्यत्र कहीं पर मुक्ति भी नहीं है। यह मैं सत्य सत्य कह रहा हूँ ॥ १३५ ।

इस ब्रह्माण्ड गोलक के मध्य काशी में मुक्ति जैसे अनायास व्यवस्थित है, दूसरे स्थान पर अष्टांग योगाभ्यास करने पर भी वैसी नहीं है ॥ १३६ ।

इति ब्रुवाणो देवेशो हरिकेशमवैक्षत ।
मध्ये वनं तपस्यन्तमशोकतरुमूलगम् ॥ १३७ ॥
शुष्कस्नायुपिनद्धास्थिसञ्चयं निश्चलाकृतिम् ।
वल्मीककीटकाकोटिशोषितासृगसृग्धरम् ॥ १३८ ॥
निर्मांसकीकसचयं स्फटिकोपलनिश्चलम् ।
शङ्खकुन्देन्दुतुहिनमहाशङ्खलसच्छ्रियम् ॥ १३९ ॥
सत्त्वावलम्बितप्राणमायुःशेषेण रक्षितम् ।
निःश्वासोच्छ्वासपवनवृत्तिसूचितजीवितम् ॥ १४० ॥

कीदृगस्य तपो महदिति चतुर्थस्य प्रश्नस्य प्रत्युत्तरं दातुं विश्वनाथेन दृष्टं हरिकेशं विशिनष्टि । इति ब्रुवाण इत्यष्टभिः । मध्येवनं वनमध्ये ॥ १३७ ।

शुष्कस्नायुभिर्नीरसनाडीभेदैः पिनद्धश्छन्नोऽस्थिसंचयो यस्य तम् । निश्चलाकृतिं निश्चलशरीरम् । वाल्मीककीटा वामलूरकीटाः । वामलूरश्च नाकुश्च वाल्मीकं पुंनपुंसकमित्यमरः । त एव कीटकास्तेषामासमन्तात् कोट्या शोषितमसृक्शोणितं यासां ता असृग्धरा शिरा यस्य तम् ॥ १३८ ।

निर्मांसो मांसरहितः कीकसंचयोऽस्थिसमूहो यस्य तम् । स्फटिकोपलनिश्चलं स्फटिकमयपर्वतवत्पाषाणवद्वा स्थिरम् । शंखादीनामिव लसन्ती श्रीः शोभा यस्य तम् । तत्र महाशंखः शुक्तिर्नराऽस्थि वा ॥ १३९ ।

सत्त्वेऽन्तःकरणेऽवलम्बिताः स्थिताः प्राणा यस्य तम् । आयुःशेषेण प्रारब्धेन कर्मणा रक्षितम् । निःश्वासोच्छ्वासपवनस्य प्राणस्य वृत्तिभ्यां सूचितं ज्ञापितं जीवितं जीवनं यस्य तम् ॥ १४० ।

देवदेव देवी से यों ही वार्तालाप करते हुए, वन के बीच अशोकतरु के मूल में स्थित तपस्या करते हुए हरिकेश को देखने लगे ॥ १३७ ।

उसकी नसें सूख गई हैं । पर उन्हीं से अस्थिसमूह बँधे हैं । शरीर निश्चल है । विमौर के कीड़ों ने चारों ओर रक्त और नसों को सुखा दिया है ॥ १३८ ।

हड्डियों पर कहीं मांस नहीं है । वे सब स्फटिक शिला के समान स्थिर पड़ी हैं । उनकी शोभा शंख, कुन्द, चन्द्र, हिम और महाशंख के समान हो रही है ॥१३९।

प्राण अन्तःकरण के अवलम्बन से रह गया है । आयुःशेष ही (जीवन की) रक्षा कर रहा है । श्वास वायु के निकलने, बैठने से ही जीवित होने की सूचना मिल रही है ॥ १४० ।

निमेषोन्मेषसंचारपिशुनीकृतजन्तुकम् ।
पिङ्गतारस्फुरद्रश्मिनेत्रदीपितदिङ्मुखम् ॥ १४१ ॥
तत्तपोऽग्निशिखादावचुम्बितम्लानकाननम् ।
तत्सौम्यदृक्सुधावर्षसंसिक्ताऽखिलभूरुहम् ॥ १४२ ॥
साक्षात्तपस्यन्तमिव तपो धृत्वा नराकृतिम् ।
निराकृतिं निराकाङ्क्षं कृत्वा भक्तिं च काञ्चन ॥ १४३ ॥
कुरङ्गशावैर्गणशो भ्रमद्भिः परिवारितम् ।
नितान्तभीषणास्यैश्च पञ्चास्यैः परिरक्षितम् ॥ १४४ ॥

निमेषोन्मेषसंचारेण प्राणिधर्मेण अपिशुनाः पिशुना गुणेषु दोषारोपकाः कृता जन्तवो व्याघ्रादयो येन तम् । तेषामस्मिन् व्याधबुद्धिर्जातेति भावः । पिङ्गे पिङ्गले तारे कनीनिके ययो स्फुरन्तोः रश्मयो ययोस्ते च ते नेत्रे च ताभ्यां दीपितानि दिशांमुखानि येन तम् ॥ १४१ ।

स प्रसिद्धश्चासौ तपोऽग्निश्च तस्य शिखेव दावो वनाग्निस्तेन चुम्बितानि सम्बन्धेन म्लानानि काननानि यस्मादिति वा । ते प्रसिद्धे च सौम्यदृशौ च शांतनेत्रे तयोः सुधावर्षेण संसिक्ता अखिलभूरुहा येन तम् ॥ १४२ ।

नराकृतिं मनुष्यशरीरं धृत्वा साक्षात्तप इव तपस्यन्तम् । किं कृत्वेत्यपेक्षायामाह । निराकाङ्क्षं यथा स्यात्तथा निराकृतिमाकारशून्यामनिर्वाच्यां काञ्चन भक्तिं कृत्वा विधाय । निराकाङ्क्षं यथा स्यादिति यद्यपि तथापि निराकृतिं काञ्चनाकाङ्क्षां कृत्वेत्यर्थः ॥ १४३ ।

कुरङ्गशावैर्मृगपोतैर्गणशो यूथशो भ्रमद्भिः परिवारितं वेष्टितम् । नितान्तमतिशयेन भीषणान्यास्यानि येषां तथाभूतैः पञ्चास्यैः सिंहैरीश्वरप्रयुक्तैः परिरक्षितम् ॥ १४४ ।

पलक के गिरने और उठने से ही जान पड़ता है कि जन्तु है । पिंगलतारा से शोभित नेत्रों की उज्ज्वल (चमकती हुई) ज्योति से दिशा प्रकाशित हों रही है ॥१४१।

उसके तपरूप अग्निशिखा को स्पर्श करने वाले वन के वृक्ष मुरझा गये हैं । (परन्तु) उसकी सौम्य दृष्टिरूपा सुधावृष्टि से समस्त वृक्ष सींचे जा रहे हैं ॥ १४२ ।

उसके देखने से बोध होता है कि मानो निराकार, निराकांक्ष साक्षात् तप ही भक्तिवश मनुष्य का रूप धारण कर तपस्या कर रहा है ॥ १४३ ।

उसके चारों ओर मृगों के बच्चों का झुंड घूम रहा है और बड़े भयंकर मुखवाले सिंहगण चतुर्दिक् रक्षा कर रहे हैं ॥ १४४ ।

तं तथाभूतमालोक्य देवी देवं व्यजिज्ञपत् ।
वरेण च्छन्दयेशामुं निजभक्तं तपस्विनम् ॥ १४५ ।
त्वदेकचित्तं त्वदधीनजीवितं त्वदेककर्माणममुं त्वदाश्रयम् ।
तीव्रैस्तपोभिः परिशुष्कविग्रहं कुरुष्व यक्षस्य वरैरनुग्रहम् ॥ १४६ ।
देवो वृषेन्द्रादवरुह्य देव्या शैलादिना दत्तकरावलम्बः ।
समाधिसंकोचितनेत्रपत्रं पस्पर्श हस्तेन दयार्द्रचेताः ॥ १४७ ।
ततः स यक्षो विनिमील्य चक्षुषी त्र्यक्षं पुरो वीक्ष्य समक्षमात्मनः ।
उद्यत्सहस्रांशुसहस्रतेजसं जगाद हर्षाकुलगद्गदाक्षरम् ॥ १४८ ।
जयेश शम्भो गिरिजेश शङ्कर त्रिशूलपाणे शशिखण्डशेखर ।
स्पर्शात्कृपालो तव पाणिपङ्कजं प्राप्याऽमृतीभूततनूलतोऽभवम् ॥ १४९ ।

तं तथेति । तं पूर्वोक्तं प्रसिद्धं वा हरिकेशं तथाभूतं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमालोक्य देवी भवानी देवं विश्वेश्वरं व्यजिज्ञपद् विज्ञापयामास । विज्ञापनप्रकारमाह । हे ईशाऽमुं निजभक्तं तपस्विनं वरेण वरदानेन छन्दय इच्छां पूरय अनुग्रहं कुर्वित्यर्थः ॥ १४५ ।

एतदेव विवृणोति । त्वदेकेति । स्पष्टम् ॥ १४६ ।

अवरुह्याऽवतीर्य शैलादिना नन्दिना दत्तः करावलम्बो यस्य सः समाधिना संकोचितं मुद्रितं नेत्रमेव पत्रं पद्मपत्रं यस्य तम् ॥ १४७ ।

समक्षं प्रत्यक्षम् । हर्षेणाकुलं गद्गदं चाक्षरं यथा स्यात्तथा जगाद ॥ १४८ ।

किं जगाद तदाह । जयेति । जयोत्कर्षमाविष्कुरु । इतः परमन्यच्छ्रेयो नास्तीति बहुधा सम्बोधयति । हे कृपालो दयालो । तव हस्तपङ्कजम् । स्पर्शात् मम स्पर्शं कुर्वत् । स्पर्शं कृपालो तव पाणिपद्मजमिति पाठे पाणिपद्माज्जातं स्पर्शं प्राप्येत्यर्थः ॥ १४९ ।

भगवती पार्वती ने उसको वैसी अवस्था में देख महादेव से निवेदन किया—'ईश ! आप पर एकाग्रचित्त, आप के ही अधीन जोवन, आप ही एकमात्र कर्म, आप के ही केवल आश्रय, (आप के ही) उग्र तपस्याओं से परिशुष्क शरीर, निजभक्त, इस तपस्वी यक्ष को वरदान कर अनुगृहीत कीजिये ॥ १४५-१४६ ।

(यह सुनकर) महादेव ने नन्दी का हस्तावलम्बन कर, पार्वती के सहित वृषभ-वाहन पर से उतर कर दयार्द्रचित्त हो, समाधि के कारण निमीलित नेत्र हरिकेश को हाथ से सुहरा (सहला) दिया ॥ १४७ ।

तदनन्तर उस यक्ष ने अपने नेत्रों को खोल सम्मुख ही उदय होते हुये सहस्र-सूर्य के समान भगवान् त्रिलोचन को आगे देख, मारे हर्ष के घबड़ा कर गद्गद स्वर से कहा ॥ १४८ ।

'हे ईश ! शम्भो ! गिरिजेश ! शंकर ! त्रिशूलपाणे ! शशिखण्डशेखर ! आपको जय हो, कृपालो ! आपके करकमलस्पर्श से मेरी यह शरीरलता सुधासिक्त हो गई'॥१४९।

श्रुत्वोदितां तस्य महेश्वरो गिरं मृद्वीकया साम्यमुपेयुषीं मृदु ।
भक्तस्य धीरस्य महातपोनिधे ददौ वराणां निकरं तदा मुदा ॥ १५० ॥

क्षेत्रस्य यक्षास्य मम प्रियस्य भो
भवाऽधुना दण्डधरो वरान्मम ।
स्थिरस्त्वमद्यादिदुरात्मदण्डकः
सुपालकः पुण्यकृतां च मत्प्रियः ॥ १५१ ॥

त्वं दण्डपाणिर्भव नामतोऽधुना
सर्वान् गणान् शाधि ममाज्ञयोत्कटान् ।
गणाविमौ त्वामनुयायिनौ सदा
नाम्ना यथार्थौ नृषु सम्भ्रमोद्भ्रमौ ॥ १५२ ॥

कथं च देवदेवस्येत्यादिप्रश्नचतुष्टयस्योत्तरं दातुमुपक्रमते । श्रुत्वेति । हे महातपोनिधे अगस्त्य ! विसर्गान्तपाठे हरिकेशविशेषणम् । महेश्वरस्तस्य हरिकेशस्य मृदु यथा स्यात्तथा गिरं श्रुत्वा वराणां निकरं प्रादादित्यन्वयः । मृदुमिति पाठे गिरो विशेषणम् । कथंभूताम् ? मृद्वीकया द्राक्षया मधुररसयेति यावत् । साम्यं समभावमुपेयुषीं प्राप्नुवतीम् ॥ १५० ॥

वरसमूहमेव दर्शयति । क्षेत्रस्येत्यादिना । भो हरिकेश ! त्वं मम प्रियस्यास्य क्षेत्रस्य मम वराद्दण्डनायको दण्डधारको भव । अद्य दिनमादि अद्यादि तद्यथा स्यात्तथा स्थिरः सन्नित्यर्थः । दण्डधारकत्वमेव दर्शयति । दुरात्मनां दुष्टानां दण्डको दुरात्मदण्डकः । पुण्यकृतां सुपालकः सुष्ठुरक्षकः । अनुपालक इति क्वचित्पाठः । तृतीयपादादौ क्षेत्रस्थितान् पाहीति च ॥ १५१ ॥

शाधि नियमय । उत्कटानुद्भटानपि । त्वामनुयायिनौ त्वदनुवर्तिनौ भविष्यतः । यथा अबाधितोऽर्थो ययोस्तौ । तमेवाह । सम्यग्भ्रमो यस्मादित्येक उत् उत्कृष्टो भ्रमो यस्मादित्यपरस्तौ ॥ १५२ ॥

(फिर तो) महेश्वर उस महातपोनिधि धीर भक्त की द्राक्षा (अंगूर-दाख) की समता को प्राप्त मधुर वाणी को सुन, प्रसन्न हो, वरों का ढेर देने लगे ॥ १५० ॥

'हे यक्ष ! मदीय वर से तुम इस मेरे प्रियक्षेत्र के दण्डधर होकर आजके दिन से यहाँ पर स्थिर रहोगे । दुष्टों का शासन और शिष्टों का पालन करोगे एवं मेरे प्रेम पात्र होवोगे ॥ १५१ ॥

अब मेरी आज्ञा से तुम्हारा नाम "दण्डपाणि" पड़ेगा और तुम इन उत्कट गणों के नियम का व्यवहार करोगे । मनुष्यों में यथार्थ नामधारी संभ्रम और उद्भ्रम ये दोनों गण तुम्हारे अनुगामी होंगे ॥ १५२ ॥

त्वमन्त्यभूषां कुरु काशिवासिनां
गले सुनीलां भुजगेन्द्रकङ्कणाम् ।
भाले सुनेत्रां करिकृत्तिवाससं
वामेक्षणालक्षितवामभागाम् ॥ १५३ ।
मौलौ लसत्पिङ्गकपर्दभारिणीं
विभूतिसंक्षालितपुण्यविग्रहाम् ।
अहो हिमांशोः कलया लसच्छ्रियं
वृषेन्द्रलीलागतिमन्दगामिनीम् ॥ १५४ ।
त्वमन्नदः काशिनिवासिनां सदा
त्वं प्राणदो ज्ञानद एक एव हि ।
त्वं मोक्षदो मन्मुखसूपदेशत-
स्त्वं निश्चलां सद्वसतिं विधास्यसि ॥ १५५ ।

अपृष्टमपि कथयति । त्वमिति । काशीवासिनां जनानां त्वमन्त्यभूषामन्तिम-कालीनामलङ्कृतिं कुरु । गले सुनीलं यस्याम् । कण्ठे काल इत्यादिवदलुक् । भुजगेन्द्राः कङ्कणा निकरभूषणानि यस्याम् । भालेषु शोभनानि नेत्राणि यस्याम् । करिणां गजानां कृत्तयश्चर्माणि वासांसि यस्याम् । वामे मनोहरे ईक्षणे नेत्रे यासाम्, ताभि-रुपलक्षितो वामभागो यस्याम् ॥ १५३ ।

मौलौ मस्तके लसतां कान्तिमतां पिङ्गकपर्दानां पिङ्गलजटाजूटानां भारो वर्तते यस्याम् । विभूतिभिरग्निहोत्रभस्मभिः संक्षालितः पुण्यो विग्रहो यस्याम् । अहःस्वपि हिमांशोश्चन्द्रस्य कलया लसन्ती श्रीर्यस्याम् । अहो इत्याश्चर्ये सम्बोधने वा । वृषेन्द्रस्य लीलागत्या मन्दं गन्तुं शीलं यस्यास्ताम् ॥ १५४ ।

त्वमन्नद इति । अत्राऽधिकोक्तिर्व्युत्क्रमोक्तिश्च भक्तिरसावेशेनेति बोद्धव्यम् । ननु त्वमेव तारकोपदेशान्मोक्षदः कथमहमिति चेत्तत्राह । मन्मुखसूपदेशतो मन्मुख-

---

तुम काशीवासियों को अन्तकाल में इस प्रकार से भूषित करना कि, गले में नील रेखा, हाथों में सर्पराज का कंकण, भाल में सुन्दर नेत्र, पहिरने (पहनने) को गजचर्म का वस्त्र, वामभाग वामनयना से उपलक्षित, मस्तक पर पिंगल जटाजूट एवं चन्द्रकला से शोभायमान, समस्त शरीर में पवित्र भस्म का अनुलेपन और वृषभराज की लीला गति का मन्द गमन हो जावे (ऐसा सँवार दोगे) ॥ १५३-१५४ ।

काशीनिवासी लोगों के अन्नदाता, प्राणदाता, ज्ञानदाता एवं मेरे मुख के सुन्दर उपदेश के द्वारा मोक्षदाता—अकेले तुम्हीं होगे और निश्चल उत्तम निवास (विधान) करोगे ॥ १५५ ।

त्वं विघ्नपूगैः परिपीड्य पापिनः
सम्भ्रान्तिमुत्पाद्य विनेष्यसे बहिः ।
आनीय भक्तान् क्षणतोऽपि दूरतो
मुक्तिं परां दापयितासि पिङ्गल ॥ १५६ ।

त्वत्सात्कृते क्षेत्रवरे हि यक्षराट्
कस्त्वामनाराध्य विमुक्तिभाजनम् ।
सभाजनं पूर्वत एव ते चरे-
त्ततःसमर्चां मम भक्त आचरेत् ॥ १५७ ।

त्वं ग्रामवासप्रद एव मे पुरेऽ-
ध्यक्षस्त्वमेधीह च दण्डनायकः ।
दुष्टान् समुद्घाटय काशिवैरिणः
काशीं पुरीं रक्ष सदा मुदान्वितः ॥ १५८ ।

निःसृतशोभनोपदेशान्निमित्तात्त्वमेक एव मोक्षद इत्यर्थः । हीत्यनेन शास्त्रसिद्धि द्योतयति । सद्वसतिं सम्यङ्निवासम् ॥ १५५ ।

विघ्नपूगैः प्रत्यूहसमूहैः । पिङ्गल हे तपसा पिङ्गलमूर्ते सूर्यपारिपार्श्वकस्य पिङ्गलस्यावतारत्वाद्वा तथा सम्बोध्यते ॥ १५६ ।

त्वदिति । यक्षराट् हे यक्षराज ! क्षेत्रवरेऽस्मिन्नविमुक्ते त्वत्सात् त्वदधीने कृते सति कस्त्वामनाराध्याऽपूजयित्वा मुक्तिभाजनं मुक्तेः पात्रं स्यात् । अतः पूर्वत एव प्रथममेव ते तव सभाजनं पूजनं चरेत् । तदस्तदनन्तरं मम समर्चां मम भक्त आचरेत् कुर्यात् । अन्यथा कृते मम भक्त एव न स्यादिति भावः ॥ १५७ ।

दण्डनायकस्त्वमेधि भव ॥ १५८ ।

पिंगल ! पापियों को बड़े-बड़े विघ्नों से परिपीड़ित करके उन्हें संभ्रम उत्पादन पूर्वक क्षेत्र से बाहर निकाल दोगे और भक्तजनों को क्षणमात्र में बहुत दूर से भी (बुला) लाकर परम मोक्ष दोगे ॥ १५६ ।

यक्षराज ! यह क्षेत्र सब प्रकार से तुम्हारे अधीन होता है, यहाँ पर बिना तुम्हारी आराधना किये कौन मुक्ति का पात्र बन सकता है ? अतएव मेरे भक्तमात्र प्रथम तुम्हारी पूजा करके तब पीछे मेरा समर्चन करें ॥ १५७ ।

तुम मेरे इस पुर में अध्यक्ष होकर ग्रामवास के दाता और दण्डनायक होगे। काशी के शत्रु दुष्टों को उखाड़ कर सर्वदा सहर्ष इस काशीपुरी की रक्षा करना ॥ १५८ ।

पूर्णभद्रसुत दण्डनायक
त्र्यक्ष यक्ष हरिकेश पिङ्गलः ।
काशिवासवसतां सदान्नद
ज्ञानमोक्षद गणाग्रणीर्भव ॥ १५९ ।
मद्भक्तियुक्तोऽपि विना त्वदीयां
भक्तिं न काशीवसतिं लभेत ।
गणेषु देवेषु हि मानवेषु
तदग्रमान्यो भव दण्डपाणे ॥ १६० ।
ज्ञानोदतीर्थे विहितोदकक्रियो
यस्त्वां समाराधयिता गणेशम् ।
स एव लोके कृतकृत्यतामगा-
न्ममातुलानुग्रहतोऽत्र पुण्यवान् ॥ १६१ ।
त्वं दक्षिणस्यां दिशि दण्डपाणे
सदैव मे नेत्रसमक्षमत्र ।
त्वं दण्डयन् प्राणभृतो दुरीहा-
निहास्व नॄन् स्वानभयं दिशन्वै ॥ १६२ ।

तत्तस्मादग्रमान्यः प्रथमत एव पूज्यः ॥ १६० ।
गणेशं गणानां नियन्तारं त्वामिति ॥ १६१ ।
हे दण्डपाणे ! त्वमिह क्षेत्रे सदैव मे मम नेत्रसमक्षं प्रत्यक्षमास्व तिष्ठेत्यन्वयः । कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह । मे दक्षिणस्यां दिशीति । किं कुर्वन् ? दुश्चेष्टान् प्राणभृतः

हे पूर्णभद्रसुत ! दण्डनायक ! यक्ष ! पिंगल ! हरिकेश ! तुम त्रिलोचन बन, काशीवासियों के अन्न, ज्ञान एवं मोक्ष के दाता और समस्तगणों के अग्रगण्य होवो ॥ १५९ ।

मेरी भक्ति से युक्त होने पर भी मनुष्य विना तुम्हारी भक्ति के काशी में निवास न प्राप्त कर सकेगा । दण्डपाणे ! तुम समस्त गण और देव-दानवों में अग्रमान्य होगे ॥ १६० ।

ज्ञानवापी तीर्थ में स्नानतर्पणादि क्रियाओं को कर जो तुम्हारी आराधना करेगा, हे गणश्रेष्ठ ! वह पुण्यवान् इस लोक में मेरे अतुल अनुग्रह से परमकृतकृत्यता को प्राप्त होगा ॥ १६१ ।

दण्डपाणे ! तुम मेरे सामने (सम्मुख) दक्षिणदिशा में दुष्टों को दण्ड और निज-जनों को अभयदान करते हुए यहाँ पर अपना स्थिति-विधान सम्पादन करना ॥१६२।

स्कन्द उवाच—

इति दत्त्वा वरान् विप्र गिरीशो दण्डपाणये।
वृषेन्द्रमधिरुह्याऽथ विवेशानन्दकाननम् ॥ १६३ ।
कुम्भोद्भव तदारभ्य यक्षराड् दण्डनायकः।
पुरीं वाराणसीं सम्यगनुशास्ति निदेशतः ॥ १६४ ।
अहमप्यत्र वसतिं चक्रे तदनुसूयया।
वसन्नपि मया काश्यां यतः सम्भावितो न सः ॥ १६५ ।
मुने क्षेत्रं यदत्याक्षीस्त्वमप्येवंविधो वशी।
शङ्के तत्राहमेवाद्धा कामं तस्यैव विक्रियाम् ॥ १६६ ।

प्राणिनो दण्डयन्। पुनः किं कुर्वन्? स्वान् भक्तान् नॄन् मनुष्यान् प्रति अभयं दिशन्। वै निश्चये ॥ १६२ ।

विवेश परिचचार ॥ १६३ ।

निदेशत ईश्वराज्ञया। च दुष्टत इति क्वचित्पाठः ॥ १६४ ।

अहमिति। [1]तदनुसूयया तद्गुणदोषाविष्कारेण। गुणेषु दोषाविष्करणमेवाह। वसन्नपीति। काश्यां वसन्नपि समया न संभावितो यतः, अतस्तदनुसूययाऽहमप्यत्र वसतिं चक्र इत्यर्थः। त्वयेति पाठो बाहुल्येन न दृश्यते, स चिन्त्यः ॥ १६५ ।

मुने इति। हे मुने एवंविधो वशी जितेन्द्रियोऽपि क्षेत्रं यत्त्वमत्याक्षीस्त्यक्तवानसि। यदात्याक्षीरिति पाठे आ समन्ततः सर्वात्मनेत्यर्थः। तत्र त्यागे कामं निराबाधं तस्यैव दण्डपाणेरेव विक्रियां प्रातिकूल्यं हेतुमहं शङ्के आशङ्क इत्यर्थः ॥ १६६ ।

स्कन्द बोले—

'हे विप्र! भगवान् गिरीश दण्डपाणि को इस प्रकार से वर प्रदान कर, वृषभराज पर चढ़, आनन्दवन में चले गये ॥ १६३ ।

कुंभोद्भव! तब से यक्षराज दण्डनायक आदेशानुसार वाराणसी-पुरी का पूर्ण-रीति से शासन कर रहे हैं ॥ १६४ ।

मैं भी उन्हीं की डाह से यहाँ पर निवास करता पड़ा हूँ; क्योंकि जब मैं काशी में रहता था, तो उस घड़ी उनकी मर्यादा का पालन नहीं कर सका ॥ १६५ ।

मुनिवर! मेरी समझ में आप ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष को भी जो काशी छोड़ देनी पड़ी, उसका भी कारण उनका अपमान (बिगाड़) ही हो सकता है ॥ १६६ ।

---

१. अनुसूयाशब्दस्योक्तार्थत्वं यद्यपि न दृष्टम्, तथापि एतद्व्याख्याकृताऽत्रोत्तरत्र च बहुषु स्थलेष्वेतदर्थपरत्वेन व्याख्यानादसूयानुसूयाशब्दयोः पर्यायत्वं भाति।

मनाग् विरुद्धाचरणं यदि द्विज विलक्षयेत् ।
हरिकेशस्तदा काश्यां क्व स्थितिः क्व च निर्वृतिः ।। १६७ ।
दण्डपाणिमनाराध्य कः काश्यां सुखमाप्नुयात् ।
प्रविविक्षुरहं काशीं दूरगोऽपि भजामि तम् ।। १६८ ।
रत्नभद्रां गजोद्भूत पूर्णभद्रसुतोत्तम ।
निर्विघ्नं कुरु मे यक्ष काशीवासं शिवाप्तये ।। १६९ ।
धन्यो यक्षः पूर्णभद्रो धन्या काञ्चनकुण्डला ।
ययोर्जठरपीठे भूर्दण्डपाणे महामते ।। १७० ।
जय यक्षपते घोर जय पिङ्गललोचन ।
जय पिङ्गजटाभार जय दण्डमहायुध ।। १७१ ।

तद्विक्रियायां हेतुं दर्शयन् पूर्वोक्तमेव विवृणोति । मनागिति । निर्वृतिः सुखम् ।। १६७ ।

अतः स्वयमपि काशीवासायोद्रिक्तभक्तिस्तमेव प्रार्थयते । रत्नभद्रेति । उत्तम श्रेष्ठ । शिवाप्तये मोक्षाय ।। १६९ ।

बुद्धया प्रत्यक्षीकृत्य तं स्तोतुमुपक्रमते । धन्य इति । हे दण्डपाणे हे महामते ययो[1]र्जठरपीठे भवतीति भूस्त्वं स पूर्णभद्रो धन्यः, सा च कनककुण्डला धन्येति ।। १७० ।

स्तुतिमाह । जयेत्यष्टभिः । दण्ड एव महायुधं यस्य ।। १७१ ।

द्विजवर ! हरिकेश काशी में यदि तनिक भी विरुद्ध आचरण देख पावें, तो फिर वहाँ का रहना और सुख भोगना कहाँ (से हो सकता है) ।। १६७ ।

दण्डपाणि की आराधना न करने से किसी भाँति सुखप्राप्ति की संभावना नहीं है । मैं तो बहुत दूर पर रहकर भी काशी में प्रवेश करने की इच्छा से (सदा) उनका भजन करता रहता हूँ ।। १६८ ।

(कि) 'हे रत्नभद्र के पुत्र ! पूर्णभद्र के तनयश्रेष्ठ ! यक्ष ! शिवप्राप्ति (मोक्ष) के लिये निर्विघ्नरूप से मेरा काशीवास करा दीजिये ।। १६९ ।

महामते ! दण्डपाणे ! वह पूर्णभद्र यक्ष धन्य है, और वह कांचनकुंडला भी धन्य है, जिन दोनों के जठरपीठ से आपने जन्म ग्रहण किया है ।। १७० ।

हे यक्षराज ! आप ही सर्वोत्कृष्ट हैं, पिंगलनयन ! आपकी जय हो । हे पिंगलजटाभार ! आपसे उत्तम और कोई भी नहीं है । हे दण्डमहायुध ! आपकी (सर्वदा) जय होवे ।। १७१ ।

---

१. ययोर्जठरपीठे त्वमभूरित्येवं व्याख्याने सरले संभवत्येवं क्लिष्टव्याख्यानं कुत इति विचारणीयम् ।

अविमुक्तमहाक्षेत्रसूत्रधारोग्रतापस ।
दण्डनायक भीमास्य जय विश्वेश्वरप्रिय ॥ १७२ ।
सौम्यानां सौम्यवदन भीषणानां भयानक ।
क्षेत्रपापधियां काल महाकाल महाप्रिय ॥ १७३ ।
जय प्राणद यक्षेन्द्र काशीवासान्नमोक्षद ।
महारत्नस्फुरद्रश्मि जय चर्चितविग्रह ॥ १७४ ।
महासम्भ्रान्तिजनक महोद्भ्रान्तिप्रदायक ।
अभक्तानां च भक्तानां सम्भ्रान्त्युद्भ्रान्तिनाशक ॥ १७५ ।
प्रान्तनेपथ्यचतुर जय ज्ञाननिधिप्रद ।
जय गौरीपदाब्जाले मोक्षेक्षणविचक्षण ॥ १७६ ।
यक्षराजाष्टकं पुण्यमिदं नित्यं त्रिकालतः ।
जपामि मैत्रावरुणे वाराणस्याप्तिकारणम् ॥ १७७ ।

सूत्रधारस्थपते ॥ १७२ ।

महान् प्रियो महाप्रियः ॥ १७३ ।

महारत्नानां स्फुरता रश्मि च येन चर्चितो विग्रहो यस्य ॥ १७४ ।

अभक्तानां चेत्यस्य पूर्वेणान्वयः ॥ १७५ ।

प्रान्तनेपथ्यचतुर ! अन्तिमकालीनालङ्करणे दक्ष । गौरीपदाब्जाले भवानीपादपद्मभ्रमर । मोक्षस्येक्षणे मोक्ष इदानीं भविष्यतीति ज्ञाने विचक्षण निपुण मोक्षेक्षणविचक्षण । मोक्षेषणेति क्वचित् ॥ १७६ ।

स्वफलमाह । यक्षेति ॥ १७७ ।

हे अविमुक्त क्षेत्र के सूत्रधार ! उग्रतापस ! दण्डनायक ! भीममुख ! विश्वेश्वरप्रिय ! आपकी जय हो ॥ १७२ ।

हे सौम्यों के प्रति सौम्यवदन ! एवं भीषणों के लिये भयानक ! आप क्षेत्र में पाप-बुद्धि करने वालों के काल हैं और महाकाल के परम प्रेमपात्र हैं ॥ १७३ ।

हे यक्षेन्द्र ! प्राणद ! काशीवासियों के अन्न एवं मोक्ष के प्रदाता एवं महारत्न के समान उज्ज्वल कान्ति तथा प्रसिद्धि से युक्त आपकी जय हो ॥ १७४ ।

आप (तो सर्वदैव) अभक्त लोगों के सम्भ्रांतिजनक और उद्भ्रांति दाता हैं एवं भक्तवर्ग के संभ्रम और उद्भ्रम के नाशक हैं ॥ १७५ ।

हे अन्तिम शृङ्गारचतुर ! ज्ञाननिधिप्रद ! आपकी जय हो, हे गौरी-चरण-कमल-भ्रमर ! मोक्षकालज्ञाननिपुण ! आपकी (सदा) जय हो ॥ १७६ ।

हे अगस्त्यमुने ! काशी की प्राप्ति के निमित्त मैं त्रिकाल इस पवित्र यक्षराजाष्टक (स्तोत्र) को नित्य ही जपा करता हूँ ॥ १७७ ।

दण्डपाण्यष्टकं धीमान् जपन् विघ्नैर्न जातुचित् ।
श्रद्धया परिभूयेत काशीवासफलं लभेत् ॥ १७८ ।
प्रादुर्भावं दण्डपाणेः शृण्वन् स्तोत्रमिदं गृणन् ।
विपत्तिमन्यतः प्राप्य काशीं जन्मान्तरे लभेत् ॥ १७९ ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं दण्डपाणिसमुद्भवम् ।
पठित्वा पाठयित्वाऽपि न विघ्नैरभिभूयते ॥ १८० ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दण्डपाणिप्रादुर्भावो नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

परफलमाह । दण्डपाणीति द्वाभ्याम् । श्रद्धया जपन्निति सम्बन्धः ॥ १७८ ।

विपत्ति मरणम् ॥ १७९ ।

एतदध्यायश्रवणपठनफलमाह । श्रुत्वेति ॥ १८० ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ।

जो कोई बुद्धिमान् जन इस दण्डपाणि के अष्टक का श्रद्धापूर्वक पाठ करता है, वह कभी भी विघ्नों में नहीं पड़ता और काशीवास का फल भी प्राप्त करता है॥ १७८।

इस दण्डपाणि की उत्पत्ति की कथा सुनने एवं स्तोत्र के पाठ करने से अन्यत्र मरने पर भी जन्मान्तर में काशी प्राप्त होती है ॥ १७९ ।

दण्डपाणि-प्रादुर्भाव नामक इस पवित्र अध्याय के पाठ करने, पाठ कराने और सुनने से कभी विघ्न की बाधायें नहीं होतीं ॥ १८० ।

दोहा—भये प्रकट हरिकेश जिमि, दण्डपाणि पद पाय ।
अतिपुनीत तिन की कथा, कहो षडानन गाय ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां दण्डपाणि-प्रादुर्भाववर्णनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ।

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच—

स्कन्द ज्ञानोदतीर्थस्य माहात्म्यं वद साम्प्रतम् ।
ज्ञानवापीं प्रशंसन्ति यतः स्वर्गौकसोऽप्यलम् ॥ १ ।

स्कन्द उवाच—

घटोद्भव महाप्राज्ञ शृणु पापप्रणोदिनीम् ।
ज्ञानवाप्याः समुत्पत्तिं कथ्यमानां मयाऽधुना ॥ २ ।
अनादिसिद्धे संसारे पुरा देवयुगे मुने ।
प्राप्तः कुतश्चिदीशानश्चरन् स्वैरमितस्ततः ॥ ३ ।

चिद्वाप्या वर्णनं चित्रं चित्रकाशीक्षणान्तरम् ।
त्रयस्त्रिंशत्तमेऽध्याये तथ्यं संकथ्यते ध्रुवम् ॥ १ ।

ज्ञानोदतीर्थे विहितोदकक्रिय इत्युक्तं तत्र पृच्छति । स्कन्देति । विशेषत एतत्प्रश्ने हेतुमाह । ज्ञानवापीमिति । स्वर्गौकसो देवा अपि । अलमत्यर्थम् ॥ १ ।

अनादीति । देवयुगे सत्ययुगे । ईशानः पूर्वोत्तरान्तरालदिगधिष्ठाताऽष्टानां रुद्राणां मध्य एकतमः, तथा चोक्तं वैष्णवे नीललोहितं रुद्रमुपक्रम्य—

भवं शर्वं महेशानं तथा[1] भूतपतिं द्विज ।
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः ॥ इति ॥ २ ।

निर्वाणकमलाया मोक्षलक्ष्म्याः क्षेत्रमानन्दकाननं प्राप्त इति । तृतीयेनान्वयः ॥ ३ ।

(ज्ञानवापी-वर्णन)

अगस्त्य ने कहा—

हे स्कन्द ! संप्रति आप ज्ञानोदतीर्थ (ज्ञानवापी) का माहात्म्य कीर्तन कीजिये; क्योंकि स्वर्गवासी देवगण भी ज्ञानवापी की बड़ी प्रशंसा करते हैं ॥ १ ।

स्कन्द (जी) बोले—

महाप्राज्ञ ! घटोद्भव ! (अच्छा तो) अब मैं पापहारिणी ज्ञानवापी की उत्पत्तिकथा कहता हूँ, आप सुनिये ॥ २ ।

हे मुने ! जब कि पूर्वकाल में सत्ययुग वर्तमान था, तब अनादिसिद्ध इस संसार में मेघ, जल की वृष्टि नहीं करते थे । नदियां भी नहीं बहती थीं । फिर उस समय

---

१. पशुपतिमिति क्वचित्पाठः ।

न वर्षन्ति यदाऽभ्राणि न प्रावर्तन्त निम्नगाः ।
जलाभिलाषो न यदा स्नानपानादिकर्मणि ॥ ४ ।
क्षारस्वादूदयोरेव यदासीज्जलदर्शनम् ।
पृथिव्यां नरसंचारे वर्तमाने क्वचित् क्वचित् ॥ ५ ।
निर्वाणकमलाक्षेत्रं श्रीमदानन्दकाननम् ।
महाश्मशानं सर्वेषां बीजानां परमूषरम् ॥ ६ ।
महाशयनसुप्तानां जन्तूनां प्रतिबोधकम् ।
संसारसागरावर्तपतज्जन्तुतरण्डकम् ॥ ७ ।
यातायातातिसंखिन्नजन्तुविश्राममण्डपम् ।
अनेकजन्मगुणितकर्मसूत्रच्छिदाक्षुरम् ॥ ८ ।

कदा प्राप्त इत्याकाङ्क्षायां कालं निर्दिशति । न वर्षन्ति यदेति द्वाभ्याम् ॥ ४ ।

क्षारस्वादुनी उदे उदके ययोस्तौ क्षारस्वादूदी लवणजलार्णवौ तयोः ॥ ५ ।

क्षेत्रं विशिनष्टि । निर्वाणेति त्रिभिः । महान्ति भूतानि श्म शवीभूय शानं शेरतेऽस्मिन्निति महाश्मशानम् । तदुक्तम्—"श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते" इति । बीजानां कर्मणामूषरमनुद्भवहेतुम् ॥ ६ ।

महाशयनसुप्तानामात्माज्ञानजृम्भितानां जन्तूनां प्रतिबोधकं ज्ञानजनकम् । संसारसागरावर्ते संसाररूपस्य समुद्रस्य जलस्थानीयानां रागादीनामावर्ते भ्रमे पततां जन्तूनां तरण्डकं वेलारूपमित्यर्थः । यद्वा तरण्डकं महानौकास्वरूपं पढमं भाषया तरण्डो नाम 'ॐ पिङ्गलो जय' इति दर्शनात् ॥ ७ ।

गमनागमनाभ्यामतिसंखिन्नानां जन्तूनां विश्राममण्डपं कैवल्यैकगृहम् । अनेकजन्मभिर्गुणितानि ग्रथितानि यानि कर्मरूपाणि सूत्राणि तेषां छिदायाश्छेदनस्य क्षुरमतितीक्ष्णधारं शस्त्रविशेषः । विच्छेदकमित्यर्थः ॥ ८ ।

में स्नान, पान आदि कर्मों में लोग जल को चाहते भी नहीं थे । तब लवणाकर वा महोदधि, समुद्रों में ही जल का दर्शन होता था और पृथिवी पर जहाँ-तहाँ (कहीं कहीं) मनुष्यों का संचार प्रचलित हो गया था । उसी काल में ईशान-नामक दिक्पाल कहीं से यों ही इधर-उधर घूमते-फिरते वहाँ जा पड़े ॥ ३-५ ।

जहाँ मोक्षलक्ष्मी का क्षेत्र, महाश्मशान, समस्त कर्मबीजों की ऊसर भूमि, महानिद्रा में सोते हुए जन्तुओं का प्रतिबोधक, संसार सागर के भँवरियों में चक्कर खाकर डूबते लोगों की अवलम्बनरूपा महानौका (जहाज), आवागमन से बहुत ही थके हुए जीवों का विश्राममण्डप, अनेक जन्म के संचित कर्मसूत्र का काटने वाला छूरा'

सच्चिदानन्दनिलयं परब्रह्मरसायनम् ।
सुखसन्तानजनकं मोक्षसाधनसिद्धिदम् ॥ ९ ॥
प्रविश्य क्षेत्रमेतत् स ईशानो जटिलस्तदा ।
लसत्त्रिशूलविमलरश्मिजालसमाकुलः ॥ १० ॥
आलुलोके महालिङ्गं वैकुण्ठपरमेष्ठिनोः ।
महाहमहमिकायां प्रादुरास यदादितः ॥ ११ ॥
ज्योतिर्मयीभिर्मालाभिः परितः परिवेष्टितम् ।
वृन्दैर्वृन्दारकर्षीणां गणानां च निरन्तरम् ॥ १२ ॥

सच्चिदानन्दलक्षणस्य विश्वेश्वरस्य निलयमाश्रयम् । परब्रह्म चासौ रसश्चेति । "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति श्रुतेः (तै०उ० २।७।१) । तमयते प्रापयति तस्यायनं प्राप्तिर्यस्मादिति वा तत् ॥ ९ ।

प्रविश्येति । स प्रसिद्धः पूर्वोक्तो वा । एतत्पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमेतत्क्षेत्रं प्रविश्य महालिङ्गमालुलोके ददर्शेति द्वितोयेनान्वयः । कथंभूतो जटिलो जटावान् । शोभमानत्रिशूलस्य निर्मलरश्मिसमूहेन व्याप्तः ॥ १० ।

किं तल्लिङ्गं यद्वैकुण्ठपरमेष्ठिनोर्यज्ञहिरण्यगर्भयोः महाहमहमिकायां महानहं महानहमिति संरब्धक्रियायाम् । आदितः कालभैरवाध्याये पूर्वमिति वा । प्रादुरास प्रादुरभूत् ॥ ११ ।

लिङ्गं विशिनष्टि । ज्योतिरिति चतुर्भिः । ज्योतिर्मयीभिर्मालाभिर्देदीप्यमानाभिः पुष्पादिमालाभिस्तेजःपुञ्जैर्वा चतुर्दिक्षु व्याप्तमित्यर्थः । वृन्दारका देवा ऋषयश्च तेषां वृन्दैः समूहैर्निरन्तरमर्च्यमानमित्यन्वयः ॥ १२ ।

सुख-सन्तान का जनक, मोक्ष के साधनों की सिद्धियों का दाता, सत्, चित्, आनन्द का भवन, परब्रह्म रसायन, श्री आनन्दकानन विराजमान हैं ॥ ६-९ ।

तब शोभायमान त्रिशूल के निर्मल किरणसमूहों से व्याप्त उस जटाधारी ईशान ने इस क्षेत्र में प्रवेश करके उस महालिंग को देखा, जो ब्रह्मा और विष्णु के (श्रेष्ठत्व विचार की) बड़ी अहमहमिका के समय ही से प्रकट हुआ था ॥ १०-११ ।

जिसके चतुर्दिक् ज्योतिर्मयी मालायें परिवेष्टित थीं। देवता, ऋषि, प्रथम, सिद्ध एवं योगियों के गण निरन्तर प्रतिक्षण जिसकी पूजा कर रहे थे, गन्धर्व लोग

---

१. एतदादेर्ग्रन्थस्य सम्पादितेषु सर्वेषु पुस्तकेषु दर्शनात्तथैव संस्थापितः । अत्र ओमित्यादेरर्थस्तु न बुध्यते ।

सिद्धानां योगिनां स्तोमैरर्च्यमानं निरन्तरम् ।
गीयमानं च गन्धर्वैः स्तूयमानं च चारणैः ॥ १३ ।
अङ्गहारैरप्सरोभिः सेव्यमानमनेकधा ।
नीराज्यमानं सततं नागीभिर्मणिदीपकैः ॥ १४ ।
विद्याधरीकिन्नरीभिस्त्रिकालं कृतमण्डनम् ।
अमरीचमरीराजिवीज्यमानमितस्ततः ॥ १५ ।
अस्येशानस्य तल्लिङ्गं दृष्ट्वेच्छेत्यभवत्तदा ।
स्नपयामि महल्लिङ्गं कलशैः शीतलैर्जलैः ॥ १६ ।
चखान च त्रिशूलेन दक्षिणाशोपकण्ठतः ।
कुण्डं प्रचण्डवेगेन रुद्रो रुद्रवपुर्धरः ॥ १७ ।

सिद्धानां कपिलादीनां योगिनां च सनकादीनां स्तोमैः समूहैश्च निरन्तरमर्च्यमानम् । गन्धर्वैर्निरन्तरं गीयमानं च चारणैर्देवानां स्तुतिपाठकैर्निरन्तरं स्तूयमानं चेत्यर्थः ॥ १३ ।

अङ्गहारैर्नृत्यैरुर्वश्यादिभिरनेकधा सेव्यमानम् । नागकन्याभिर्मणिदीपकैर्मणिरूपैः प्रदीपैः सततं नीराज्यमानं नीराजनं प्राप्यमाणम् ॥ १४ ।

विद्याधरकिन्नराङ्गनाभिः । कालत्रयं व्याप्य कृतं मण्डनं भूषणं यस्य, कृतानि मण्डनानि सर्वतोभद्रादीनि वा यस्मै तत् । अमरीभिर्देवस्त्रीभिश्चमरीराजिभिश्चामरपङ्क्तिभिर्वीज्यमानं देवाङ्गनाभिश्चामरव्यजनैः सेव्यमानमित्यर्थः ॥ १५ ।

अस्येति । अस्य प्रकृतस्य ईशानस्य तल्लिङ्गं दृष्ट्वा इति एतादृशी इच्छाऽभवत् । कीदृशीत्याकाङ्क्षायामाह । स्नपयामीति ॥ १६ ।

चखान कुण्डं खनितवान् । कुत्र ? विश्वेशस्थानाद्दक्षिणाशाया उपकण्ठतः कण्ठस्य समीपमुपकण्ठं तस्मिन् विश्वेश्वरस्य दक्षिणस्यां दिश्यतिसमीप इत्यर्थः ॥ १७ ।

गान करते थे, चारणगण स्तुति कर रहे थे ॥ १२-१३ ।

अप्सरायें बहुधा नाच कर उसकी सेवा कर रही थीं । नागकन्यायें मणि के दीपकों से सतत आरती उतार रही थीं ॥ १४ ।

विद्याधरी और किन्नरियाँ त्रिकाल श्रृङ्गार बनाया करती थीं । देवांगनायें इधर-उधर चामरों को डुला रही थीं ॥ १५ ।

उस वेला में उस लिंग के दर्शन से इस ईशान दिक्पाल की यह इच्छा हो गई कि इस महालिंग को कलश के शीतल जल से स्नान करवाऊँ ॥ १६ ।

तब रुद्रमूर्ति ईशान ने त्रिशूल से दक्षिण दिशा में अतिसमीप ही प्रचण्डवेग से एक कुण्ड खोदा ॥ १७ ।

पृथिव्यावरणाम्भांसि निष्क्रान्तानि तदा मुने ।
भूप्रमाणाद्दशगुणैर्यैरियं वसुधावृता ॥ १८ ।
तैर्जलैः स्नापयाञ्चक्रे त्वस्पृष्टैरन्यदेहिभिः ।
तुषारैर्जाड्यविधुरैर्जंजपूकौघहारिभिः ॥ १९ ।
सन्मनोभिरिवात्यच्छैरनच्छैर्व्योमवर्त्मवत् ।
ज्योत्स्नावदुज्ज्वलच्छायैः पावनैः शम्भुनामवत् ॥ २० ।
पीयूषवत्स्वादुतरैः सुखस्पर्शैर्गवाङ्गवत् ।
निष्पापधीवद्गम्भीरैस्तरलैः पापिशर्मवत् ॥ २१ ।
विजिताब्जमहागन्धैः पाटलामोदमोदिभिः ।
अदृष्टपूर्वलोकानां मनोनयनहारिभिः ॥ २२ ।

पृथिव्यावरणाम्भांसि पृथिव्या द्वितीयावरणाम्भांसि । कथंभूतानि ? भूप्रमाणात् पञ्चाशत्कोटिलक्षणाद्दशगुणैर्यैरम्भोभिर्जलैरियं वसुधावृता तानि ॥ १८ ।

तैर्जलैः स्नापयाञ्चक्रे इत्यन्वयः । जलानि विशिनष्टि । त्वस्पृष्टैरिति पादोनसप्तभिः । तु एव अन्यप्राणिभिरस्पृष्टैरेवेत्यर्थः । तुषारैस्तत्तुल्यैः शीतलैरित्यर्थः । जाड्यविधुरैः जडस्य भावो जाड्यं तद्विधुरैर्ज्ञानैकस्वरूपैः । जंजपूकौघहारिभिः पापनिकरध्वंसिभिः ॥ १९ ।

सतां मनोभिः सन्ति समीचीनानि यानि मनांसि तैरिवात्यच्छैरत्यन्तनिर्मलैः । अनच्छैर्नीलीसदृशैर्व्योमवर्त्मवदाकाशमार्गैरिव । न विद्यमानमच्छं येभ्यस्तैरिति वा । अतुच्छैरिति क्वचित् । ज्योत्स्नावत् ज्योत्स्नाभिरिवोज्ज्वलाच्छायाकान्तिर्येषां तैः । पावनैः पवित्रैः शम्भुनामवत् शिवनामभिरिव ॥ २० ।

पीयूषवद् अमृतैरिव स्वादुतरैरत्यन्तसुस्वादैः । सुखं स्पर्शो येषां तैः । गवाङ्गवद् गवामङ्गैरिव । निष्पापधीवद् निष्कलुषबुद्धिभिरिव गम्भीरैरगाधैः । तरलैश्चञ्चलैः पापिशर्मवत् पापिनां सुखैरिव ॥ २१ ।

विजितस्तिरस्कृतोऽब्जानां पद्मानां महागन्धो यैः । पाटलायाः पाटलैरिव वा य आमोदो हर्षो गन्धो वा तेन तस्मादपि वा मोदितुं शीलं येषां तैः । न दृष्टानि पूर्वं यैस्तेऽदृष्टपूर्वास्ते च ते लोकाश्च तेषां मनो नेत्रहरणशीलैः ॥ २२ ।

मुनिवर ! तदनन्तर उसमें से पृथिवीमण्डल के आवरण रूप और भूमिप्रमाण से दशगुने अधिक होकर, जिनके द्वारा यह वसुधा घिरी हुई है, वे ही जल निकल पड़े ॥ १८ ।

कुम्भयोने ! तब उस ईशानदिक्पाल ने अन्य शरीरधारियों से अस्पृष्ट, अत्यन्त शीतल, जड़तापहारक, पापावलीनाशक, सज्जनों के चित्तसदृश स्वच्छ, आकाशमार्ग के समान कुछ नीलवर्ण, चन्द्रिका के ऐसे धवल, शंभुनामों की तरह पावन, अमृतसम

अज्ञानतापसन्तप्तप्राणिप्राणैकरक्षिभिः ।
पञ्चामृतानां कलशैः स्नपनातिफलप्रदैः ॥ २३ ॥
श्रद्धोपस्पर्शिहृदयलिङ्गत्रितयहेतुभिः ।
अज्ञानतिमिरार्काभैर्ज्ञानदाननिदायकैः ॥ २४ ॥
विश्वभर्तुरुमास्पर्शसुखातिसुखकारिभिः ।
महावभृथसुस्नानमहाशुद्धिविधायिभिः ॥ २५ ॥
सहस्रधारैः कलशैः स ईशानो घटोद्भव ।
सहस्रकृत्वः स्नपयामास संहृष्टमानसः ॥ २६ ॥
ततः प्रसन्नो भगवान् विश्वात्मा विश्वलोचनः ।
तमुवाच तदेशानं रुद्रं रुद्रवपुर्धरम् ॥ २७ ॥

अज्ञानरूपतापसन्तप्तप्राणिप्राणानां मुख्यरक्षणशीलैः। दधिदुग्धघृतमधुशर्कराणां कुम्भैर्यत्स्नानं ततोऽप्यतिफलं प्रददतीति तथा तैः ॥ २३ ॥

श्रद्धयोपस्प्रष्टुमाचमितुं शीलं येषां तेषां हृदयेषु लिङ्गत्रितयहेतुभिर्लिङ्गत्रितयजनकैः। अज्ञानमविद्या तदेव तिमिरमन्धकारस्तत्रार्कैस्तन्नाशकैरित्यर्थः। ज्ञानस्य दाने प्रदाने नितरां दायकैः प्रदायकैः। निदानकैरिति पाठे आदिकारणैरित्यर्थः ॥ २४ ॥

विश्वभर्तुर्विश्वेशस्य कान्ताया उमायाः पार्वत्याः स्पर्शेन सुखादप्यतिसुखमतिशयितं सुखं कर्तुं शीलं येषां तैः। महावभृथसुस्नानेभ्यो महावभृथशोभनस्नानात् सकाशाद्वा महतीं शुद्धिं विधातुं शीलं येषां तैः ॥ २५ ॥

सहस्रधारैरसंख्याताधश्छिद्रैः। सहस्रमुखावयवधारैरिति वा। सहस्रधारैः कलशैरिति व्यधिकरणे वा तृतीये। धारासमानार्थो धारशब्दोऽप्यस्ति ॥ २६ ॥

स्वादिष्ट, गौओं के अंगतुल्य सुखस्पर्श, निष्पाप बुद्धिमानों के समान अगाध (धीर-गंभीर), पापियों के ऐसे चंचल, अज्ञानरूप संताप से तप्त प्राणियों के एकमात्र प्राण-रक्षक, पंचामृत के कलशस्नान से भी अधिक फलप्रद, श्रद्धापूर्वक आचमन करनेवालों के हृदय में लिंगत्रितय के कारण (जनक), अज्ञानतिमिर के सूर्यतुल्य, ज्ञानदान के निदान, उमा के स्पर्शसुख की अपेक्षा विश्वेश्वर के अत्यन्तसुखकारी, बड़े अवभृथस्नान से भी अधिक शुद्धिविधायक, उन जलों के द्वारा सहस्रधारकलशों से प्रसन्नचित्त होकर सहस्रवार स्नान कराया ॥ १९-२६ ॥

तदनन्तर विश्वलोचन भगवान् विश्वात्मा प्रसन्न होकर उस रुद्रमूर्ति ईशान से कहने लगे ॥ २७ ॥

तव प्रसन्नोऽस्मीशान कर्मणाऽनेन सुव्रत।
गुरुणाऽनन्यपूर्वेण ममाऽतिप्रीतिकारिणा। २८।
ततस्त्वं जटिलेशान वरं ब्रूहि तपोधन।
अदेयं न तवाऽस्त्यद्य महोद्यमपरायण ॥ २९।

ईशान उवाच—

यदि प्रसन्नो देवेश वरयोग्योऽस्म्यहं यदि।
तवैतदतुलं तीर्थं तव नाम्नाऽस्तु शङ्कर ॥ ३०।

विश्वेश्वर उवाच—

त्रिलोक्यां यानि तीर्थानि भूर्भुवः स्वःस्थितान्यपि।
तेभ्योऽखिलेभ्यस्तीर्थेभ्यः शिवतीर्थमिदं परम् ॥ ३१।
शिवज्ञानमिति ब्रूयुः शिवशब्दार्थचिन्तकाः।
तच्च ज्ञानं द्रवीभूतमिह मे महिमोदयात् ॥ ३२।

अनेन कुण्डोद्धृतजलस्नानेन। गुरुणा महत्तरेण। न विद्यतेऽन्यः त्वत्तः पूर्वो यस्मिंस्तेन पूर्वं त्वदन्येनानाहृतेनेत्यर्थः। यद्वा, न विद्यतेऽन्यत्पूर्वं यस्मात्प्रथमोत्पन्नेनेत्यर्थः ॥ २८-२९।

शिवशब्दार्थं कथयन् ज्ञानोदमिति नामान्तरं निर्दिशति। शिवमिति सार्धेन ॥ ३२।

"हे सुव्रत ! ईशान ! अन्य किसी के अपूर्वकृत और मेरे परमप्रीतिकर, तुम्हारे इस महान् कर्म से प्रसन्न हूँ ॥ २८।

अत एव हे तपोधन ! जटिल ! ईशान ! तुम जो वर माँगना चाहते हो उसे कहो। हे महोद्यमपरायण ! आज तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है" ॥ २९।

ईशान ने कहा—

"देवेश ! यदि आप प्रसन्न हुये हैं और यदि मैं भी वरदान का पात्र हो गया हूँ, तो हे शंकर ! यह तीर्थ आपके नाम से अतुलनीय हो जावे" ॥ ३०।

विश्वेश्वर बोले—

त्रिभुवन और भूर्भुवः स्वर्लोक में जितने तीर्थ स्थित हैं, उन समस्त तीर्थों से यह शिवतीर्थ श्रेष्ठ हो ॥ ३१।

शिवशब्द के अर्थचिन्तक लोग शिव का अर्थ "ज्ञान" ही कहते हैं। इस तीर्थ में वही ज्ञान मेरी महिमा के बल से द्रवरूप हो गया है ॥ ३२।

अतो ज्ञानोदनामैतत्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अस्य स्पर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ३३ ।
ज्ञानोदतीर्थसंस्पर्शादश्वमेधफलं लभेत् ।
स्पर्शनाचमनाभ्यां च राजसूयाऽश्वमेधयोः ।। ३४ ।
फल्गुतीर्थे नरः स्नात्वा सन्तर्प्य च पितामहान् ।
यत्फलं समवाप्नोति तदत्र श्राद्धकर्मणा ।। ३५ ।
गुरुपुष्यासिताष्टम्यां व्यतीपातो यदा भवेत् ।
तदाऽत्र श्राद्धकरणाद् गयाकोटिगुणं भवेत् ।। ३६ ।
यत्फलं समवाप्नोति पितॄन् सन्तर्प्य पुष्करे ।
तत्फलं कोटिगुणितं ज्ञानतीर्थे तिलोदकैः ।। ३७ ।

फल्गुतीर्थे गयाऽन्तर्गते ।। ३५ ।

अमावस्यायुक्तो रविवासरो व्यतीपातो योगविशेषो वा । गुरुपुष्यासिताष्टम्यां व्यतीपातो योगो यदा भवेदित्येकं [1]वाक्यम् ।। ३६ ।

पुष्करे चित्रकूटदेशान्तर्गतपारियात्रपर्वताविदूरे ।। ३७ ।

इसलिये यह तीर्थ ज्ञानोद नाम से त्रैलोक्य भर में प्रसिद्ध होता है। इसके दर्शनमात्र से समस्त पाप छूट जाते हैं ।। ३३ ।

इस ज्ञानोदतीर्थ के स्पर्श करने से अश्वमेधयज्ञ का फल और स्पर्शन एवं आचमन से राजसूय और अश्वमेध इन दोनों ही यज्ञों का फल प्राप्त हो जाता है ।।३४।

फल्गुतीर्थ में स्नान और पितरों का तर्पण करके मनुष्य जो फल पाता है, यहाँ पर श्राद्ध करने से भी वही फल मिलता है ।। ३५ ।

गुरुवार, पुष्यनक्षत्र, शुक्लपक्ष, अष्टमी तिथि एवं व्यतीपात योग जब होवे, तब यदि कोई यहाँ पर श्राद्ध करे तो गयाश्राद्ध से कोटिगुण अधिक फल प्राप्त होता है ।। ३६ ।

पुष्करतीर्थ में पितृ-तर्पण करने से जो फल मिलता है, इस ज्ञानतीर्थ में केवल तिलजल के द्वारा तर्पण करने से उसकी अपेक्षा कोटिगुण फल अधिक प्राप्त होता है ।। ३७ ।

---

१. इदं यदा व्यतीपातशब्देन योगविशेषो गृह्यते तस्मिन्पक्षे । यदा अमावास्यायुक्तो रविवारो गृह्यते, तदा तु गुरुपुष्यासिताष्टम्यां श्राद्धद, यदा व्यतीपातो भवेत्तदा श्राद्धद इति वाक्यद्वयं बोध्यम् ।

सन्निहत्यां कुरुक्षेत्रे तमोग्रस्ते विवस्वति ।
यत्फलं पिण्डदानेन तज्ज्ञानोदे दिने दिने ।। ३८ ।
पिण्डनिर्वपणं येषां ज्ञानतीर्थे सुतैः कृतम् ।
मोदन्ते शिवलोके ते यावदाभूतसंप्लवम् ।। ३९ ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यामुपवासो नरोत्तमः ।
प्रातः स्नात्वाऽथ पीताम्भस्त्वन्तर्लिङ्गमयो भवेत् ।। ४० ।
एकादश्यामुपोष्याऽत्र प्राश्नाति चुलुकत्रयम् ।
हृदये तस्य जायन्ते त्रीणि लिङ्गान्यसंशयम् ।। ४१ ।
ईशानतीर्थे यः स्नात्वा विशेषात्सोमवासरे ।
सन्तर्प्य देवर्षिपितन् दत्वा दानं स्वशक्तितः ।। ४२ ।
ततः समर्च्य श्रीलिङ्गं महासम्भारविस्तरैः ।
अत्रापि दत्वा नानार्थान् कृतकृत्यो भवेन्नरः ।। ४३ ।

सन्निहत्यां रामह्लदे। सप्तम्यर्थे द्वितीया। सन्निहत्यां प्राप्येति शेष इति वा ॥ ३८।

पीतमम्भो येनेति पीताम्भः। आकाराभावश्छान्दसः। पीत्वेति वा पाठः। तु एव अन्तर्लिङ्गमयो भवेदेवेत्यर्थः ॥ ४०।

चुलुकत्रयं गण्डूषत्रयम् ॥ ४१।

ईशानतीर्थे ईशानकृते तीर्थे ज्ञानोदे। विशेषाद्विशेषेण ॥ ४२।

श्रीलिङ्गं विश्वेशम् ईशानेश्वरं वा ज्ञानेश्वरं वा ॥ ४३।

रामह्लद कुरुक्षेत्र तीर्थ में सूर्यग्रहणपर्व पर पिण्डदान करने से जो फल होता है, इस ज्ञानोदतीर्थ में प्रतिदिन वही फल है ॥ ३८।

जिन लोगों के पुत्रों ने इस ज्ञानतीर्थ में पिण्डदान कर दिया है, वे सब प्रलयावधि शिवलोक में आनन्द भोग करते रहते हैं ॥ ३९।

यदि कोई नरोत्तम अष्टमी और चतुर्दशी को उपवासी होकर इस तीर्थ में प्रातः स्नान एवं जलपान करे, तो उसका अन्तःकरण(शिव) लिंगमय हो जावेगा ॥४०।

जो कोई एकादशी को व्रत कर इसका तीन चुल्लू जल पी लेता है, उसके हृदय में निःसन्देह तीन (शिव) लिंग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ४१।

जो कोई विशेषतः सोमवार को इस ईशानकृत तीर्थ में स्नान, देव, ऋषि और पितरों का तर्पण और यथाशक्ति दान करके तदनन्दर बड़े वस्तु-विस्तार से विश्वेश्वर की पूजा और वहाँ पर भी नाना प्रकार के द्रव्यों को वितरण करे, तो वह नर कृतकृत्य हो जावेगा ॥ ४२-४३।

उपास्य संध्यां ज्ञानोदे यत्पापं काललोपजम् ।
क्षणेन तदपाकृत्य ज्ञानवान् जायते द्विजः ॥ ४४ ।
शिवतीर्थमिदं प्रोक्तं ज्ञानतीर्थमिदं शुभम् ।
तारकाख्यमिदं तीर्थं मोक्षतीर्थमिदं ध्रुवम् ॥ ४५ ।
स्मरणादपि पापौघो ज्ञानोदस्य क्षयेद्ध्रुवम् ।
दर्शनात्स्पर्शनात्स्नानात्पानाद्धर्मादिसम्भवः ॥ ४६ ।
डाकिनी शाकिनी भूतप्रेतवेतालराक्षसाः ।
ग्रहाः कूष्माण्डझोटिङ्गाः कालकर्णीशिशुग्रहाः ॥ ४७ ।
ज्वरापस्मारविस्फोटद्वितीयकचतुर्थकाः ।
सर्वे प्रशममायान्ति शिवतीर्थजले क्षणात् ॥ ४८ ।
ज्ञानोदतीर्थपानीयैर्लिङ्गं यः स्नापयेत्सुधीः ।
सर्वतीर्थोदकैस्तेन ध्रुवं संस्नापितं भवेत् ॥ ४९ ।

तारयतीति तारकं तदाख्यं तन्नामकम् ॥ ४५ ।

क्षयेत् नश्येत् । ज्ञानोदे क्षीयते इति पाठे ज्ञानोदविषये स्मरणान्नश्यतीत्यर्थः ॥ ४६ ।

शाकिनीडाकिन्यवान्तरभेदः । झोटिङ्गा प्रेतविशेषाः । मोटिङ्गा इति पाठे स एवार्थः । गुर्जरदेशे प्रसिद्धाः । कालकर्णी राक्षस्यवान्तरभेदः ॥ ४७ ।

द्वितीयकचतुर्थकाः द्व्याहिकचतुर्थाहिकज्वरविशेषाः । उक्षणादभ्युक्षणात् ॥४८।

यथाकाल संध्या न करने से काललोप का जो पाप होता है, इस ज्ञानोदतीर्थ में संध्योपासन करने से वह पाप क्षणमात्र में दूर हो जाता है और द्विजाति ज्ञानवान् हो जाता है ॥ ४४ ।

यही शिवतीर्थ, यही शुभज्ञानतीर्थ, इसी का नाम तारक तीर्थ और यही निश्चयरूप से मोक्षतीर्थ कहा गया है ॥ ४५ ।

इस ज्ञानोदतीर्थ के स्मरण मात्र से पापराशि विनष्ट हो जाती है और इसके दर्शन, स्पर्शन, स्नान, पान करने से धर्मादिपुरुषार्थ के चतुर्वर्ग का फल-लाभ हो सकता है ॥ ४६ ।

इस शिवतीर्थ का जल देखने से ही डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत, वेताल, राक्षस, ग्रह, कूष्मांड, झोटिंग, कालकर्णी, बालग्रह, ज्वर, अपस्मार (मृगी), विस्फोटक, (चेचक-शीतला) अन्तरिया, चौथिया आदि सब शान्त हो जाते हैं ॥ ४७-४८ ।

जो बुद्धिमान् इस ज्ञानोदतीर्थ के जल से शिवलिंग को नहवाता है, उसे समस्त तीर्थोदक से स्नान कराने का फल अवश्य ही प्राप्त हो जाता है ॥ ४९ ।

ज्ञानरूपोऽहमेवाऽत्र द्रवमूर्तिं विधाय च ।
जाड्यविध्वंसनं कुर्यां कुर्यां ज्ञानोपदेशनम् ॥ ५० ।
इति दत्त्वा वराञ्छम्भुस्तत्रैवान्तरधीयत ।
कृतकृत्यमिवात्मानं सोऽप्यमंस्त त्रिशूलभृत् ॥ ५१ ।
ईशानो जटिलो रुद्रस्तत्प्राश्य परमोदकम् ।
अवाप्तवान् परं ज्ञानं येन निर्वृतिमाप्तवान् ॥ ५२ ।

स्कन्द उवाच—

कलशोद्भव चित्रार्थमितिहासं पुरातनम् ।
ज्ञानवाप्यां हि यद्वृत्तं तदाख्यामि निशामय ॥ ५३ ।
हरिस्वामीति विख्यातः काश्यामासीद् द्विजः पुरा ।
तस्यैका तनया जाता रूपेणाऽप्रतिमा भुवि ॥ ५४ ।
न समा शीलसम्पत्त्या तस्याः काचन भूतले ।
कलाकलापकुशला स्वरेण जितकोकिला ॥ ५५ ।

निर्वृतिं ब्रह्मानन्दमाप्तवान् । जीवन्मुक्तो बभूवेत्यर्थः ॥ ५२ ।

ईशानस्य तज्जलप्राशनद्वारा स्वानन्दावाप्तिरित्येतन्नातिचित्रं प्राकृतानामपि तद्दर्शनादिति कथयितुमितिहासमवतारयति । कलशोद्भवेति ॥ ५३ ।

तन्यते वंशोऽनयेति तनया । तां विशिनष्टि । रूपेणेति सपादपञ्चदशभिः ॥ ५४ ।

इस स्थान पर ज्ञानरूपी मैं ही द्रवमूर्तिधारण कर लोगों की जड़ता का नाश और ज्ञानोपदेश करता रहूँगा ॥ ५० ।

इस प्रकार से वरदान देकर भगवान् शंभु वहीं पर अन्तर्धान हो गये और उस त्रिशूलधारी, जटिल, रुद्रमूर्ति, ईशान ने भी अपने को कृतार्थ माना, उन्होंने उस परम (उत्तम) जल का पान कर उत्कृष्ट ज्ञान का लाभ किया, जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ ॥ ५१-५२ ।

स्वामि कार्तिकेय कहने लगे—

कलशोद्भव ! इस ज्ञानवापी पर एक बार विचित्र घटना हो गई थी, उसका पुरातन इतिहास कहता हूँ, श्रवण कीजिये ॥ ५३ ।

पूर्वकाल में हरिस्वामी, नामक एक ब्राह्मण काशी में रहते थे। उनको एक कन्या उत्पन्न हुई। वह पृथिवी पर अनुपम सौन्दर्यवती थी ॥ ५४ ।

उसके समान शीलसंपत्तिशालिनी (उस समय) भूतल पर कोई भी (अन्य कन्या) नहीं थी। वह समस्त कलाओं में चतुर और कोकिल से भी अधिक सुरीली बोली बोलती थी ॥ ५५ ।

न नारी तादृगस्तीह नामरी किन्नरी न च ।
विद्याधरी न नो नागी गान्धर्वी नासुरी न च ॥ ५६ ।
सर्वसौन्दर्यनिलया सर्वलक्षणसत्खनिः ।
अधिशेते ध्रुवं ध्वान्तं तन्मौलिं ब्रध्नसाध्वसात् ॥ ५७ ।
तदास्यं शरणं यातो मन्ये दर्शभयाच्छशी ।
दिवापि न त्यजेत् तां तु त्रस्तश्चण्डमरीचितः ॥ ५८ ।
तद् भ्रूभ्रमरराजीव गण्डपत्रलतान्तरे ।
उदञ्चन्न्यञ्चदुड्डीनगतेरभ्यासभाजिनी ॥ ५९ ।

तादृगिति सर्वत्र सम्बध्यते । किन्नरीति चेति पाठे इति चेति पक्षान्तरे ॥ ५६ ।

खनिर्गर्त आश्रय इत्यर्थः । तन्मौलिं तत्केशमित्यर्थः । एतेन केशानां नीलता सूचिता ब्रध्नसाध्वसात् सूर्यभयात् ॥ ५७ ।

दर्शभयादमावास्यायां नाशभयादित्यर्थः । दिवापि अपिशब्दान्नक्तमपि । चण्डमरीचितः सूर्यात् ॥ ५८ ।

तस्या भ्रूर्हंसोरूर्ध्वस्थरोमाली गण्डयोः कपोलयोर्यत्पत्रमलङ्करणविशेषस्तदेव लता तस्या आभ्यन्तरे मध्ये उदञ्चन्ती ऊर्ध्वं गच्छन्ती न्यञ्चन्ती अधोगच्छन्ती च या उड्डीनगतिः खगगतिक्रियाविशेषस्तस्या अभ्यासभाजिनी सादृश्यभाजिनी आवृत्ति-भाजिनीति वा । भ्रमरराजीव भ्रमरपङ्क्तिरिवेति सर्वत्रोत्प्रेक्षा । उदञ्चदित्यादि पृथग्वा । उदञ्चदित्यादिभाजिनी वेत्यर्थः ॥ ५९ ।

न कोई नारी, न देवी, न किन्नरी, न विद्याधरी, न नागकन्या, न गन्धर्व-कन्या, न दैत्यकन्या—कोई भी उसके समान थी ॥ ५६ ।

वह समस्त सुन्दरता की भूमि और शुभलक्षणों की खानि हो गई थी । मानो सूर्य के भय से अंधकार उसके माथे पर केशों में जा छिपा था ॥ ५७ ।

मुख देखने से जान पड़ता था, मानो अमावस्या में नष्ट हो जाने के डर से चन्द्रमा उसके मुख का शरणागत हुआ है । चंडरश्मि (सूर्य) के भय से वह दिन में भी वहीं ही पड़ा रहता है ॥ ५८ ।

उसकी भ्रू मानो भ्रमरपंक्ति के समान गंडपत्रलता के मध्य में ऊपर-नीचे उड़ने का अभ्यास कर रही थी ॥ ५९ ।

तच्चारुलोचनक्षेत्रे विचरन्तौ च खञ्जनौ ।
सदैव शारदीं प्रीतिं निर्विशेते निजेच्छया ॥ ६० ।

सुदत्या रदनश्रेणी छदेषु विषमेषुणा ।
विहिता काञ्चनी रेखा क्वेन्दावेतावती कला ॥ ६१ ।

प्रायो मदनभूपालहर्म्यरत्नान्तरे शुभे ।
जितप्रवालसुच्छाये तस्या रदनवाससी ॥ ६२ ।

स्वर्गे मर्त्ये च पाताले नैषा रेखा क्वचित् स्त्रियाम् ।
तत्कण्ठरेखात्रितयव्याजेन शपते स्मरः ॥ ६३ ।

तच्चारुलोचनक्षेत्रे तस्याश्चारुलोचनयोः क्षेत्रम् उपनासामूलं तस्मिंस्तत्समीप इत्यर्थः । खञ्जनौ खञ्जरीटौ । शारदीं शरत्सम्बन्धिनीम् । निर्विशेते प्राप्नुतः । एतेन लोचनयोराह्लादकारित्वं सूचितम् । यद्वा, कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति श्रुतेः खं ब्रह्मानन्दसुखं रूपदर्शनेन जनयत इति खञ्जनौ, सर्वेषां लोचने तस्याश्चारुरूपे क्षेत्रे विचरन्तौ पश्यन्तौ सदैव शारदीं प्रीतिं प्राप्नुत इत्यर्थः ॥ ६० ।

शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती, तस्या रदनश्रेणी छदेषु दन्तपङ्क्तिरूपेषु पत्रेषु विषमेषुणा कामेन यादृशी काञ्चनी रेखा विहिता इन्दौ चन्द्रे एतावती ईदृशी कलारेखा क्वेत्यर्थः ॥ ६१ ।

तस्या रदनवाससी द्वे औष्ठौ प्रायो बाहुल्येन मदनभूपालस्य हर्म्ये गृहे यानि रत्नानि तान्यन्तरे ययोस्ते तथेवेति लुप्तोपमेत्यर्थः ॥ ६२ ।

तस्याः कम्बुवत् कण्ठरेखात्रितयस्य व्याजेन छलेन कामः स्वर्गादौ स्त्रियामेषा रेखा क्वचिन्नेति तस्याः सर्वाधिक्यार्थं शपथं करोतीवेत्यर्थः ॥ ६३ ।

उसके सुन्दर नयनरूपी खेत में दो खंजन विचरण करते हुये स्वेच्छानुसार सर्वदैव शरदृतु का आनन्द भोग कर रहे थे ॥ ६० ।

उस सुदती के दन्तपंक्तिरूपी पत्रों पर मानों पंच बाण ने सुनहली रेखा खींच रक्खी थी; क्योंकि चन्द्रमा में भी ऐसी रेखा कहाँ है ? ॥ ६१ ।

प्रवाल (मूँगा) के समान रंगीले उसके ओष्ठाधर तो मानो मदनभूपाल के प्रासाद पर के रत्नों से ही सुशोभित हो रहे थे ॥ ६२ ।

उसके कंठ की तीनों रेखाओं के व्याज (बहाने) से मानों कामदेव यह शपथ करता था कि स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, कहीं पर भी किसी स्त्री के कंठ में यह रेखा नहीं है ॥ ६३ ।

शङ्के चित्तभुवो राज्ञो लसत्पटकुटीद्वयम् ।
अनर्घ्यरत्नकोशाढ्यं तस्या वक्षोरुहद्वयम् ॥ ६४ ।

अनङ्गभूनियमतोऽदृश्ये मध्ये नतभ्रुवः ।
रोमालीलक्षिकामूर्ध्वामिव यष्टिं विधिर्व्यधात् ॥ ६५ ।

तस्या नाभीदरीं प्राप्य कन्दर्पोऽनङ्गतां गतः ।
पुनः प्राप्तुमिवाङ्गानि तप्यते परमं तपः ॥ ६६ ।

गुरुणैतन्नितम्बेन महामन्मथदीक्षया ।
भुवि के के युवानो न स्वाधीनाः प्रापिता दृशाम् ॥ ६७ ।

तस्या वक्षोरुहद्वयं मदनमहीपतेर्लसत्पटकुटीद्वयं शोभमानवस्त्रगृहद्वयमिति शङ्के आशङ्के वस्त्रेणाच्छादितत्वात् । कथंभूतम् ? अनर्घ्यरत्नकोशाढ्यममूल्यसुखरत्नसञ्चयसम्पूर्णम् ॥ ६४ ।

नतभ्रुवस्तस्या अनङ्गभूनियमतः कामस्य स्थानपरिचयार्थं सप्तवितस्तिपरिमितस्य शरीरस्य मध्ये यददृश्यं वराङ्गं भगः, तस्मिन् रोमाल्या रोमपङ्क्त्या लक्षिकामूर्ध्वां यष्टिमिव विधिर्ब्रह्मा व्यधात् । यथान्धकारे स्थितं वस्तु यष्ट्या लक्ष्यते तथाऽदृश्यं वराङ्गं लक्षितुं रोमावल्या यष्टिं व्यधादित्यर्थः ॥ ६५ ।

नाभीदरीं नाभिगुहाम् । अनेन निम्ननाभित्वं सूचितम् ॥ ६६ ।

गुरुणा एतस्या नितम्बेन महान् यो मन्मथः कामः, तस्य दीक्षया तद्विषयदीक्षानिमित्तेन भूर्लोके युवानो दृशां नेत्राणां स्वाधीनाः सुष्ठ्वधीनतां न प्रापिता न कारिताः, अपि तु सर्व एव प्रापिताः । तन्नितम्बैकदृष्टयो युवानो बभूवुरित्यर्थः । दशामिति पाठे दशां कामदशाम्, स्वाधीनाः स्वनितम्बैकनिष्ठा इत्यर्थः । कामदशां प्रापिता इत्येव वा । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् ॥ ६७ ।

उसके दोनों कुचों को देख मन में यही शंका होती थी कि, मनोज महाराज के बहुमूल्य रत्नकोशों से परिपूर्ण सुशोभित दो पटमंडप (डेरे-खड़े) हैं ("मानों मढ़े सुलतानी बनात में शाह मनोज के गुंमज दोऊ"—ऐसा ही भाव टपकता है) ॥ ६४ ।

विधाता ने उस नतभ्रू के अदृश्य मध्यदेश में कामदेव के स्थान परिचयार्थ, रोमावलीरूपा लक्षित करानेवाली मानो ऊँची छड़ी ही बना दी थी ॥ ६५ ।

उसकी नाभिरूपा गुफा में पड़कर मानो कन्दर्प अंगहीन (अनंग) हो गया और वही वहाँ पर बैठ फिर अंग पाने के लिये घोर तपस्या कर रहा है ॥ ६६ ।

उसके गुरु नितम्ब ने मन्मथ के महामंत्र दीक्षा द्वारा जगत् में किन-किन जवानों के नेत्र की टकटकी नहीं बँधवा दी ? ॥ ६७ ।

ऊरुस्तम्भेन चैतस्याः स्तम्भवत् कस्य नो मनः ।
तस्तम्भे न मुनेर्वापि सुवृत्तेन सुवर्तनम् ॥ ६८ ।
पादाङ्गुष्ठनखज्योतिः प्रभया कस्य न प्रभा ।
विवेकजनिताऽध्वंसि मुने तस्या मृगीदृशः ॥ ६९ ।
सा प्रत्यहं ज्ञानवाप्यां स्नायं स्नायं शिवालये ।
संमार्जनादिकर्माणि कुरुतेऽनन्यमानसा ॥ ७० ।
तत्पादप्रतिबिम्बेषु रेखाशष्पांकुरं चरन् ।
नान्यद्वनान्तरं याति काश्यां यूनां मनोमृगः ॥ ७१ ।

ऊरुरेव स्तम्भ ऊरुस्तम्भः कदल्यादिरूपस्तेन मुनेर्मननशीलस्यापि कस्य मनो न तस्तम्भे । ब्रह्माकारादिवृत्तिवृत्तान्न स्तंभितं न निर्वर्तितमपितु स्तम्भितमेव स्तम्भवत् । यथा स्तम्भेन स्थाण्वादिनागमनादि प्रतिबध्यते तद्वत् । कीदृशेन ? सुवृत्तेन सुष्ठुवर्तुलेन । कथंभूतं मनः ? सुवर्तनं शोभनवृत्तम् ॥ ६८ ।

अध्वंसि ध्वंसिता । शृङ्गाररसनिमग्नो मा भूदिति सम्बोधयति—मुने हेऽगस्त्येति ॥ ६९ ।

स्नायं स्नायं स्नात्वा स्नात्वा ॥ ७० ।

तत्पादेति । काश्यां यूनां तरुणानां मन एव मृगो मनोमृगस्तस्याः सुशीलायाः पादप्रतिबिम्बेषु बालुकादिप्रदेशोत्थितेषु रेखाशष्पाङ्कुरं रेखात्मकपद्मवज्रादिरूपकोमल-तृणाङ्कुरं चरन् आनन्दकाननं रेखाशष्पाङ्कुरं वनं वा विहायान्यद्वनान्तरं स्थानं न संयातीत्यर्थः ॥ ७१ ।

उसके बड़े ही सुडौल ऊरुरूपी गोलखंभे से किस मुनिजन का भी सच्चरित्र चित्त स्तंभ के समान स्तंभित नहीं हो गया ? ॥ ६८ ।

हे मुने ! उस मृगनयनी के चरणांगुष्ठ की नखज्योति की प्रभा से किसकी विवेकजनित प्रभा विध्वंस नहीं हो गई थी ? ॥ ६९ ।

वह कन्या प्रतिदिन ज्ञानवापी में स्नान कर एकाग्रचित्त हो शिवालय में संमार्जनादि (झाड़-बहाड़) कर्म करती थी ॥ ७० ।

उस (कन्या) के चरण की परछांही में रेखारूप तृणांकुर के चर पाने आनन्दवन के नव जवानों का मनोमृग उसे छोड़ दूसरे वन में नहीं जाना चाहता था ॥ ७१ ।

तदास्यपङ्कजं हित्वा यूनां नेत्रालिमालया ।
न लतान्तरमासेवि अप्यामोदप्रसूनयुक् ॥ ७२ ॥

सुलोचनापि सा कन्या प्रेक्षेतास्यं न कस्यचित् ।
सुश्रवा अपि सा बाला नादत्ते कस्यचिद्वचः ॥ ७३ ॥

सुशीला शीलसम्पन्ना रहस्तद्विरहातुरैः ।
प्रार्थिताऽपि सुरूपाढ्यैर्नाभिलाषं बबन्ध सा ॥ ७४ ॥

धनैस्तस्याजनेतापि युवभिः प्रार्थितो बहु ।
नाऽशकत्तां सुशीलां स दातुं शीलोर्जितश्रियम् ॥ ७५ ॥

ज्ञानोदतीर्थभजनात् सा सुशीला कुमारिका ।
बहिरन्तस्तदाऽद्राक्षीत्सर्वं लिङ्गमयं जगत् ॥ ७६ ॥

तदास्येति । तस्या आस्यपङ्कजं मुखपद्मं हित्वा यूनां नेत्राण्येवालयस्तेषां मालया समूहेन लतान्तरं नासेवि न सेवितम् । कथंभूतम् ? अप्यामोदप्रसूनयुक् आमोदप्रसूनैः सुगन्धिपुष्पैर्युनक्तीति तथा तादृशमपीत्यर्थः । आसेवीति विसन्धिरार्षः ॥ ७२ ।

प्रेक्षेत पश्यति । शोभनं श्रवः श्रवणेन्द्रियं श्रवणं वा यस्याः सा सुश्रवाः । नादत्ते गृह्णाति न शृणोतीति यावत् ॥ ७३ ।

सुशीला नाम्ना । तदेवार्थतो निर्वक्ति । शीलसम्पन्नेति । रह एकान्ते । तद्विरहातुरैस्तत्प्राप्त्यभावेन कातरैः । बबन्ध चकार ॥ ७४ ।

शीलेन सुचारित्रेण सहोर्जिता श्रीः शोभा यस्याः सा ॥ ७५ ।

युवकों की नेत्ररूप भ्रमरमाला उसके कमलमुख को छोड़ सुगन्धों से भरी और पुष्पों से लदी हुई दूसरी लता का सेवन नहीं करती थी ॥ ७२ ।

वह कन्या विशालनेत्र होने पर भी किसी पुरुष का मुख नहीं देखती और सुन्दरकर्णा होने पर भी किसी पुरुष का वचन नहीं सुनती थी ॥ ७३ ।

वह शीलसंपन्ना, सुशीला, उसके विरह से आतुर सुन्दर रूपवान् पुरुषों से गुप्तरीति पर विवाह की प्रार्थना की जाने पर भी अभिलाषवती नहीं हुई ॥ ७४ ।

जवानों ने उसके पिता से भी बहुत धन देने की प्रतिज्ञा कर विवाह की प्रार्थना की; परन्तु वह भी उस सुचारित्र शोभासम्पन्न सुशीला को उनके हाथ में नहीं दे सका ॥ ७५ ।

उस काल में वह सुशीला कुमारी ज्ञानोदतीर्थ की सेवा करने के कारण से बाहर और भीतर सब जगत् लिंगमय ही देखती थी ॥ ७६ ।

कदाचिदेकदा तान्तु प्रसुप्तां सदनाङ्गणे ।
मोहितो रूपसम्पत्त्या कश्चिद्विद्याधरोऽहरत् ॥ ७७ ।
व्योमवर्त्मनि तां रात्रौ यावन्मलयपर्वतम् ।
स निनीषति तावच्च विद्युन्माली समागतः ॥ ७८ ।
राक्षसो भीषणवपुः कपालकृतकुण्डलः ।
वसारुधिरलिप्ताङ्गः श्मश्रुलः पिङ्गलोचनः ॥ ७९ ।

राक्षस उवाच—

मम दृग्गोचरं यातो विद्याधर कुमारक ।
अद्य त्वामेतया सार्धं प्रेषयामि यमालयम् ॥ ८० ।
इति श्रुत्वाऽथ सा वाक्यं व्याघ्राघ्राता मृगी यथा ।
चकम्पेऽतीव संभीता कदलीदलवन्मुहुः ॥ ८१ ।

सदनाङ्गणे गृहाजिरे । कदाचिदेकदा कस्मिंश्चित्काल इत्यर्थः । सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति । स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टम इति पैशाच-विवाहस्य निन्दितत्वान्नामग्रहणमकृत्वा कश्चिदित्युक्तम् ॥ ७७ ।

वसा मेदः । श्मश्रुलो दीर्घचिबुकलोमा ॥ ७९ ।

मम विद्युन्मालिनो दृग्गोचरं नेत्रविषयं यातो गतः । दृग्गोचरं चिरं यात इति पाठे चिरं बहुकालेन ॥ ८० ।

व्याघ्रेणाघ्राता भक्षणार्थं विषयीकृता ॥ ८१ ।

एक बार कोई विद्याधर उसे घर के आँगन में सोई हुई देख उसके रूपलावण्य से मोहित होकर उसे हर ले चला ॥ ७७ ।

(आगे चलकर) आकाश मार्ग में रात्रि की वेला जब तक वह उसे मलयपर्वत पर ले जाना चाहता था, इसी बीच में नरकपाल का कुंडल पहिने, वसा (चरबी) और रुधिर सर्वांग में पोते, बडा दढ़ियल, पिंगल-लोचन, भयंकर मूर्ति विद्युन्माली नाम राक्षस वहाँ पर पहुँच गया ॥ ७८-७९ ।

और कहने लगा—"अरे विद्याधरकुमार ! बहुत दिन पर तुझे देख पाया है, आज तुझे इस स्त्री के साथ यम के घर भेज देता हूँ" ॥ ८० ।

इस वचन के सुनते ही वह कन्या बाघ के सूँघने पर हरिणी के समान अत्यन्त भयभीत होकर बारम्बार केला के पत्ते ऐसी काँपने लगी ॥ ८१ ।

निजघान त्रिशूलेन रक्षो विद्याधरं च तम् ।
विद्याधरकुमारोऽपि नितरां मधुराकृतिः ॥ ८२ ।
तद्भीषणत्रिशूलेन भिन्नोरस्को महाबलः ।
जघान मुष्टिघातेन वज्रपातोपमेन तम् ॥ ८३ ।
नरमांसवसामत्तं विद्युन्मालिनमाहवे ।
चूर्णितो मुष्टिपातेन सोऽपतद्वसुधातले ॥ ८४ ।
राक्षसो मृत्युवशगो वज्रेणेव महीधरः ।
विद्याधरोऽपि तच्छूलघातेन विकलीकृतः ॥ ८५ ।
उवाच गद्गदं वाक्यं विघूर्णितविलोचनः ।
प्रिये मुधा समानीता सुशित्यर्धोक्तिमुच्चरन् ॥ ८६ ।
जहौ प्राणान् रणे वीरस्तां प्रियां परितः स्मरन् ॥ ८७ ।
अनन्यपूर्वसंस्पर्शसुखं समनुभूय सा ।
तमेव च पतिं मत्वा चक्रे शोकाग्निसात्तनुम् ॥ ८८ ।

रक्षो राक्षसः । चकारोऽप्यर्थे । रक्ष इत्यनेन सम्बध्यते ॥ ८२ ।

चूर्णितश्चूर्णयामास ॥ ८४ ।

स्वरैर्व्यञ्जनैश्च मिलित्वा षडक्षरनाम्नोऽर्धोक्तिः सुश् । उच्यते तामुच्चरन् ब्रुवन् । प्राणान् जहौ सुशीतीति पाठश्चिन्त्यः ॥ ८६ ।

परितसः सर्वतोभावेन ॥ ८७ ।

न विद्यतेऽन्यः पूर्वो यस्मात् स अनन्यपूर्वः स चासौ संस्पर्शश्च तज्जन्यं सुखम् । यद्वा, न विद्यतेऽन्यत्पूर्वं यस्मात् संस्पर्शसुखात् तत्तथा तच्च तत्संस्पर्शसुखं चेति तथा ।

(उधर) उस राक्षस ने त्रिशूल से उस विद्याधर को मारा, अत्यन्त मधुरमूर्ति, महाबली वह विद्याधरकुमार भी उसके भीषण त्रिशूल के आघात से विदीर्ण वक्षःस्थल होकर, मनुष्य के मांस और वसा से मत्त उस विद्युन्माली को युद्ध में वज्रपात के सदृश मुष्टिप्रहार से मारने लगा। अनन्तर वह राक्षस मुक्कों की चोट से चकनाचूर होकर भूतल पर गिर पड़ा और मृत्यु के वशंगत हो गया, (इधर) विद्याधर भी उसके शूलाघात से विकल और घूर्णितनयन होकर गद्गद स्वर से बोला—"प्रिये ! तुमको व्यर्थ ही लाया, सुश् !" (बस) इसी आधे नाम को कहता और सर्वतोभाव से अपनी प्रिया को स्मरण करता हुआ उस वीर ने रण में प्राणत्याग कर दिया ॥ ८२-८७ ।

तदनन्तर उस कन्या ने भी अनन्यपूर्व स्पर्श सुख के अनुभव करने से उसी को पति मानकर शोकानल में देह को डाल दिया ॥ ८८ ।

लिङ्गत्रयशरीरिण्यास्तस्याः सान्निध्यतः स हि ।
दिव्यं वपुः समासाद्य राक्षसः त्रिदिवं ययौ ॥ ८९ ।
रणे पणीकृतप्राणो विद्याधरसुतोऽपि सः ।
अन्ते प्रियां स्मरन् प्राप जनुर्मलयकेतुतः ॥ ९० ।
ध्यायन्ती साऽपि तं बाला विद्याधरकुमारकम् ।
विरहाग्नौ विसृष्टासुः कर्णाटे जन्मभागभूत् ॥ ९१ ।
सुतो मलयकेतोस्तां कालेन परिणीतवान् ।
माल्यकेतुरनङ्गश्रीः पित्रा दत्तां कलावतीम् ॥ ९२ ।
साऽपि प्राग्वासनायोगाल्लिङ्गार्चनरता सती ।
हित्वा मलययक्षोदं विभूतिं बह्वमंस्त वै ॥ ९३ ।
मुक्तावैदूर्यमाणिक्यपुष्परागेभ्य एव सा ।
मेने रुद्राक्षनेपथ्यमनर्घ्यं गर्भसुन्दरी ॥ ९४ ।

अनन्यपूर्वपुंस्पर्शेति क्वचित् । चकाराद्देवं च । शोकाग्निसाच्छोकाग्नौ तनुं शरीरं चक्रे चकार । शोकेन जहावित्यर्थः ॥ ८८-८९ ।

पणीकृतोग्लहत्वेन दत्तः प्राणो येन स तथा । जनुर्जन्म । मलयकेतुतस्तन्नाम्नः पितृतः ॥ ९० ।

कर्णाटे विद्यानगरे ॥ ९१ ।

माल्यकेतुर्नाम्ना । अनङ्गः कामस्तस्येव श्रीः शोभा यस्य सः । कामदेव इवातिसुन्दर इत्यर्थः । पित्रा कर्णाटेश्वरेण । नाम्ना कलावती ॥ ९२ ।

मलयजक्षोदं चन्दनचूर्णम् । बह्वमंस्त बहु मेने ॥ ९३ ।

नेपथ्यमलङ्करणम् । अनर्घ्यममूल्यम् । गर्भसुन्दरी साहजिकरूपवती ॥ ९४।

एक ओर तो वह राक्षस लिंगत्रयशरीरिणी उस कन्या के सान्निध्यवश मरने पर दिव्यदेह धारण कर स्वर्ग को चला गया, दूसरी ओर वह विद्याधरकुमार भी रण में प्राणपण कर अन्त में प्रिया के स्मरण करने से मलयकेतु का पुत्र हुआ ॥८९-९०।

वह कन्या भी विद्याधरकुमार का ध्यान करती हुई विरहानल में प्राणत्याग करने से कर्णाट-देश में उत्पन्न हुई ॥ ९१ ।

कुछ काल बीतने पर मलयकेतु का पुत्र, मदनसुन्दर नामक माल्यकेतु ने पिता कर्णाटेश्वर से दी गई कलावती से वह विवाह कर लिया ॥ ९२ ।

वह सहजसुन्दरी, पतिव्रता, कलावती, पूर्वजन्म के संस्कार बल से शिवलिंग के पूजन में तत्पर होकर, चन्दन को छोड़ विभूति ही को श्रेष्ठ समझने लगी ॥ ९३ ।

यों ही मोती, वैदूर्य (लहसुनिया), माणिक, पुष्पराग (पोखराज), आदि रत्नों की अपेक्षा रुद्राक्ष का ही शृंगार अमूल्य मानने लगी ॥ ९४ ।

कलावती माल्यकेतुं पतिं प्राप्य पतिव्रता ।
अपत्यत्रितयं लेभे दिव्यभोगसमृद्धिभाक् ।। ९५ ।
एकदा कश्चिदौदीच्यो माल्यकेतुं नरेश्वरम् ।
चित्रकृच्चित्रपटिकां चित्रां दर्शितवानथ ।। ९६ ।
तां तु चित्रपटीं राजा कलावत्यै समार्पयत् ।
साऽथ चित्रपटीं रम्यां संप्रहृष्टतनूरुहा ।। ९७ ।
मुहुर्मुहुः प्रपश्यन्ती रहसि प्राणदेवताम् ।
विसस्मार स्वमपि च समाधिस्थेव योगिनी ।। ९८ ।
क्षणमुन्मील्य नयने कृत्वा नेत्रातिथिं पटीम् ।
तर्जन्यग्रमथोत्क्षिप्य स्वात्मानं समबोधयत् ।। ९९ ।
संभेदोऽयमसे रम्य उपलोलार्कमग्रतः ।
उपश्रीकेशवपदं वरणैषा सरिद्वरा ।। १०० ।

औदीच्य उत्तरदिगुत्पन्नः ।। ९६ ।

प्राणदेवता विश्वनाथस्तल्लिङ्गाधारत्वात् पश्यति तथा ताम् । स्वं देहम् । अपिर्निश्चये । चकाराद् गृहादिकं च ।। ९८ ।

उन्मील्य विकचय्य । नेत्रातिथिं नेत्रगोचरम् ।। ९९ ।

उपलोलार्कं लोलार्कसमीपे । उपश्रीकेशवपदं श्रीकेशवस्थानस्य समीपे ।। १०० ।

परम सती कलावती ने माल्यकेतु को पति पाकर दिव्यभोगों की समृद्धियों का सुख और तीन सन्तान-लाभ किया ।। ९५ ।

एक बार उत्तरदेश के निवासी किसी एक चित्रकार ने माल्यकेतु नरपाल को एक विचित्र चित्रपट (तसवीर) दिखलाया ।। ९६ ।

अनन्तर राजा ने उस चित्रपटी को लेकर कलावती को समर्पण किया, वह उस रम्य चित्रपटी में अपने प्राणदेवता को एकान्त में बारम्बार देखती-देखती आनन्द से पुलकित हो, समाधि में बैठी हुई योगिनी की तरह अपने को भी भूल गई ।।९७-९८।

अनेक क्षण के अनन्तर आँखें खोलकर चित्रपटी को देखती हुई, तर्जनी अंगुलि के अग्रभाग को रख-रख कर अपने को समझाने लगी ।। ९९ ।

यह लोलार्क के समीप असी नदी का संगम है, आगे की ओर आदिकेशव के पदतल में यह सरिद्वरा वरणा नदी है ।। १०० ।

स्वर्गे प्रार्थितसंस्पर्शा सैषा स्वर्गतरङ्गिणी ।
उदग्वहाभिलष्यन्ति यां दिवोद्युसदः सदा ॥ १०१ ।
अलक्ष्या मोक्षलक्ष्मीर्या वेदान्ते परिपठ्यते ।
विमुक्तये सतां सैषा श्रीमती मणिकर्णिका ॥ १०२ ।
मरणं मङ्गलं यत्र सफलं यत्र जीवितम् ।
स्वर्गस्तृणायते यत्र सैषा श्रीमणिकर्णिका ॥ १०३ ।
यत्र सम्पत्तिसम्भारान् विश्राण्यनिधनेच्छया ।
यतिव्रतं समालम्ब्य तिष्ठते मूलकन्दभुक् ॥ १०४ ।

स्वर्गे प्रार्थितसंस्पर्शेत्यस्याऽयं भावः । तथापि काश्यधिकरणिकाया उदग्वहाया अतिशयितत्वेन दुर्लभत्वात् स्वर्गे प्रार्थितसंस्पर्शेत्युक्तमिति । उदग्वहा उत्तरवाहिनी । दिवोद्युसदः स्वर्गसम्बन्धिनो देवा इत्यर्थः ॥ १०१ ।

अलक्ष्या वाङ्मनसयोरगोचरा । सतां तस्यामुत्सृष्टदेहानाम् । सतीति क्वचित्पाठः ॥ १०२ ।

मङ्गलहेतुत्वान्मङ्गलम् । सफलं मुक्तिलक्षणफलहेतुत्वात् ॥ १०३ ।

यत्र यस्यां स्थल्यां स्थाने वा सम्पत्तिसम्भारान् धनस्तोमान् निधनेच्छया मरणवाञ्छया विश्राण्य दत्वा यतिव्रतं विरागाहिंसादिलक्षणं समालम्ब्याश्रित्य मूलकन्दभुक् सुकृतीजनस्तिष्ठते तिष्ठति, सैषा श्रीमणिकर्णिकेति पूर्वेणाऽग्रिमेण वा पञ्चानामन्वयः । तत्र मूलकन्दयोरपिण्डपिण्डाकारतया भेदः । तिष्ठन्ते मोक्षकामुका इति क्वचित्पाठः ॥ १०४ ।

यद्यपि स्वर्गतरङ्गिणी गङ्गा स्वर्गे वर्तत एव, स्वर्ग में देवतागण भी जिसके स्पर्श की लालसा किया करते हैं, यह वही स्वर्गतरंगिणी उत्तरदिशा में बह रही हैं ॥ १०१ ।

सज्जनों के विमुक्त्यर्थ जो वेदान्तशास्त्र में अलक्ष्य मोक्षलक्ष्मी कही जाती है, यह वही श्रीमती मणिकर्णिका है ॥ १०२ ।

अहा ! हा !! जहाँ का मरना मंगल और जीवन सफल होता है, जिसके सामने स्वर्ग भी तृण के समान है, यह वही श्रीमती मणिकर्णिका है ॥ १०३ ।

जहाँ पर लोग मृत्यु की कामना से समग्रसंपत्ति के संभार को दान कर, कंदमूलभोजी हो, पतिव्रतावलम्बनपूर्वक रहते हैं ॥ १०४ ।

यत्र त्रिमार्गगाङ्गां मार्गमाणो मृतान् हरः ।
स्वमौलिबालचन्द्रेण मुक्तिमार्गं प्रदर्शयन् ॥ १०५ ॥
संसारं यत्र दुर्वारं प्रतारयति शङ्करः ।
मृता अप्यमृतायन्ते कर्णधाराद्यतो नराः ॥ १०६ ॥
संसारसारपदवी यत्र स्याददवीयसी ।
कर्णेजपान् महेशानात् करुणावरुणालयात् ॥ १०७ ॥
अनेकभवसम्भूतप्रभूतसुकृतैर्नराः ।
कर्णे जपं भवं यत्र लभन्ते ते भवापहम् ॥ १०८ ॥

यत्र मृतान् प्रति मुक्तिमार्गं प्रदर्शयन् हरो वर्तत इति शेषः। कथंभूतः? स्वमौलिबालचन्द्रेण सह गङ्गां मार्गमाणः। अधिकारिभेदेन सारूप्यमुक्तिदानार्थं स्वशिरस्थं चन्द्रादिकं वाऽन्विष्यमाण इत्यर्थः। मार्गमाणो ध्रियमाण इति वा ॥ १०५ ।

दुर्वारं तत्त्वज्ञानमन्तरेणाविनश्वरं प्रतारयति नाशयति। शं कल्याणं करोतीति शङ्करः। तदेवाह। यतः कर्णधारात् सन्मार्गप्रापकान्मृता अप्यमृतायन्ते मुक्ताभवन्ति। विरुद्धाऽलङ्कारोऽयम्। मृत्वा पुनर्न जायन्त इत्यर्थः। मृता नरा इत्यन्वयः। नरा इत्यधिकारप्रदर्शनार्थं न त्वन्येषां परिसंख्यार्थम्। कृमिकीटानामपि मुक्तिश्रवणात् ॥ १०६ ।

संसारसारपदवी संसाररूपदृढमार्गो यत्रादवीयसो अदूरे स्यात्। तत्र हेतुमाह। कर्णे जपादिति। कर्णे दक्षिणकर्णे तारकं जपतीति कर्णेजपस्तस्मात्। पुनः कीदृशात्? करुणावरुणालयाद् दयासमुद्रात् ॥ १०७ ।

इसी भूमि में भगवान् हर अपने मस्तकस्थित बालचन्द्र के प्रकाश से मुक्तिमार्ग को दिखलाते हुए त्रिमार्गगा गंगा के (तट में) मृतलोगों का अन्वेषण करते रहते हैं ॥ १०५ ।

इसी स्थल पर स्वयं शंकर दुर्वार संसार-सागर से पार उतार देते हैं, मनुष्यगण जिन को कर्णधार (खेवैया) पाकर मृत होने पर भी अमृत (मुक्त) हो जाते हैं ॥ १०६ ।

यहाँ करुणासागर महेश्वर के कर्णेजप हो जाने से संसाररूपी दृढ़ मार्ग अत्यन्त दूर नहीं रह जाता ॥ १०७ ।

यहाँ पर लोग अनेक जन्म के संचित बड़े ही पुण्यबल से अन्तकाल में भवतापहारी भगवान् भवानीपति को कर्णेजप (गुरु) पा जाते हैं ॥ १०८ ।

स्वीकृत्य क्षेत्रसंन्यासं यद्बलेन महाधियः ।
तृणं कृतान्तं मन्यन्ते सेयं श्रीमणिकर्णिका ॥ १०९ ।
तृणीकृत्य निजं देहं यत्र राजर्षिसत्तमः ।
हरिश्चन्द्रः सपत्नीको व्यक्रीणाद् भूरियं हि सा ॥ ११० ।
अभिलष्यन्ति यत्रत्यमपि वैकुण्ठवासिनः ।
सैकतं मृदुलं तल्पं सैषा श्रीमणिकर्णिका ॥ १११ ।
अनेकजन्मजनितकर्मसूत्रनियन्त्रणम् ।
उन्मुच्य यत्र मुक्ताः स्युः सैषा श्रीमणिकर्णिका ॥ ११२ ।
सत्यलोकेऽपि ये लोकास्तेऽर्थयन्ति निरन्तरम् ।
यामहो दीर्घनिद्रायै सेयं श्रीमणिकर्णिका ॥ ११३ ।

ते नरा इत्यन्वयः । भवं महादेवम् । यद्बलेन यस्याः प्रभावात् । कृतान्तं यमम् ॥ १०९ ।

अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नीति, आत्मा वै जायते पुत्र इति च श्रुतेर्निजं देहमित्यनेन स्त्रीपुत्रदेहयोरपि संग्रहः । अत एव सपत्नीक इत्युक्तम् । पुत्रस्य त्वत्यन्तबालत्वादेवानुल्लेखः । व्यक्रीणात् विक्रीतवान् । हीत्यनेन मार्कण्डेयादिपुराणागमप्रसिद्धि द्योतयति ॥ ११० ।

यत्रत्यं यत्रस्थं सैकतं वालुकामयं मृदुलं कोमलं तल्पं शयनमित्यर्थः ॥ १११ ।

नियन्त्रणं बन्धनम् ॥ ११२ ।

अर्थयन्ति प्रार्थयन्ति । अहो आश्चर्ये । दीर्घनिद्रायै कैवल्यावाप्त्यै ॥ ११३ ।

इसके प्रभाव से बड़े बुद्धिमान् जन, क्षेत्रसंन्यास लेकर यमराज को भी तृणवत् मानने लगते हैं । यह वही मणिकर्णिका है ॥ १०९ ।

यहाँ पर राजर्षिसत्तम हरिश्चन्द्र ने सपत्नीक अपने शरीर को तृणवत् बेंच डाला था, यह वही स्थान है ॥ ११० ।

वैकुण्ठवासी लोग भी यहाँ की बालुका को कोमलशय्या के सदृश चाहते रहते हैं ॥ १११ ।

यहाँ पर जीवगण अनेक जन्मजनित कर्मसूत्र के बन्धन को काटकर मुक्त हो जाते हैं ॥ ११२ ।

सत्यलोक के निवासी लोग भी इस स्थान की महानिद्रा (मृत्यु) के लिये निरन्तर प्रार्थना करते ही रहते हैं । यह वही मणिकर्णिका विराजमान है ॥ ११३ ।

अयं हि सकुलस्तम्भो यत्र श्रीकालभैरवः ।
क्षेत्रपापकृतः शास्ति दर्शयंस्तीव्रयातनाम् ।। ११४ ।
अन्यत्र विहितं पापं नश्येत्काशीनिरीक्षणात् ।
काश्यां कृतानां पापानां दारुणेयं तु यातना ।। ११५ ।
कपालमोचनं तीर्थमेतत्तदपि पावनम् ।
कपालं पतितं यत्र विधेर्भैरवपाणितः ।। ११६ ।
ऋणत्रयाद्विमुच्यन्ते यत्र स्नाता नरोत्तमाः ।
तीर्थं विशुद्धिजनकं तदेतदृणमोचनम् ।। ११७ ।
प्रणवाख्यं परं ब्रह्म यत्र नित्यं प्रकाशते ।
स पञ्चायतनोपेत ॐकारेशोऽयमद्भुतः ।। ११८ ।

क्षेत्रपापकृतः क्षेत्रे पापकारिणो मनुष्यान् । बहिः कृतानां पापानां क्षेत्रप्रवेशमात्रेणैवोपक्षयात् ।। ११४ ।

ननु "नाविमुक्ते नरः कश्चिन्नरकं याति किल्बिषी । ईश्वरानुगृहीता हि सर्वे यान्ति परां गतिम्" इति लैङ्गोक्तेः कथमिदं सङ्गच्छत इति स्वयमेवाशङ्क्याह—अन्यत्रेति । तुशब्दाद्यमयातनातोऽपीयं यातनाऽधिकेति ध्वनितम् । दारुणा रुद्रयातनेति क्वचित् । तत्र रुद्रः कालभैरव एव । लैङ्गवचने तु किल्विषीत्यत्रान्यत्रेति ज्ञातव्यम् । यमयातनाविषयो वा नरकशब्दः ।। ११५ ।

तदपीत्यपिशब्दादन्यदपि तीर्थान्तरं पावनमिति ध्वनितम् ।। ११६ ।

ऋणत्रयाद्देवर्षिपितॄणाम् ऋणादित्यर्थः । विशुद्धिजनकमन्तःकरणशोधकम् ।।११७।

प्रणवाख्यमिति वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात् । अकारोकारमकारबिन्दुनादाः पञ्चायतनानि तैरुपेतस्तदाश्रयः ।। ११८ ।

यह वही कुलस्तंभ (कोहुआ-वालाट) है, जहाँ पर श्रीकालभैरव, दारुण यातना दिखलाते हुए क्षेत्र में पाप करनेवालों का शासन करते हैं ।। ११४ ।

दूसरे स्थानों का किया हुआ पाप काशी को देखते ही विनष्ट हो जाता है; परन्तु काशो में किये हुए पापों के लिये यह घोर भैरवीयातना भोगनी ही पड़ती है ।। ११५ ।

यह तो वही पवित्र कपालमोचन तीर्थ है, जहाँ पर भैरव के हाथ से ब्रह्मा का कपाल गिर पड़ा था ।। ११६ ।

यहाँ पर स्नान करने से उत्तम नर देव, ऋषि और पितृऋण से मुक्त हो जाते हैं, यह वही देहशोधन ऋणमोचन तीर्थ है ।। ११७ ।

प्रणवनामक परब्रह्म यहाँ पर नित्य ही प्रकाशमान रहते हैं, पंचायतन के सहित अद्भुत (शक्तिमान्) यह भगवान् ओंकारेश्वर हैं ।। ११८ ।

अश्च उश्च मकारश्च नादो बिन्दुश्च पञ्चमः ।
पञ्चात्मकं परं ब्रह्म यत्र नित्यं प्रकाशते ।। ११९ ।
एषा मत्स्योदरी रम्या यत्स्नातो मानवोत्तमः ।
मातुर्जातूदरदरीं न विशेदेष निश्चयः ।। १२० ।
त्रिलोचनोऽयं भगवान् कुर्यादेव त्रिलोचनम् ।
निजभक्तं कृपायुक्तस्त्वपि देशान्तरस्थितम् ।। १२१ ।
असौ कामेश्वरो देवो यः कामान् पूरयेत्सताम् ।
दुर्वासा अपि यत्राप निजकाममहोदयम् ।। १२२ ।
स्वयं लीनो महेशोऽत्र भक्तकामसमृद्धये ।
तस्मात्स्वर्लीनसंज्ञाऽस्य देवदेवस्य शूलिनः ।। १२३ ।

एतदेवाह । अश्चेत्येकेन ।। ११९ ।

मत्स्योदरी नदी । तथा च ब्राह्मे—अथासावपि मूर्खस्तु नदीं मत्स्योदरीं मुने । जगामाऽथ ददर्शाऽसौ स्नायमानामथोर्वशीमिति । यत्स्नातो यस्यां स्नातः । जातु कदाचित् ।। १२० ।

त्रिलोचनं सारूप्यमुक्तिभाजम् । तुशब्द आश्चर्ये । अपिर्भिन्नक्रमे देशान्तरस्थित-मित्यनेन सम्बध्यते ।। १२० ।

दुर्वासा अपि अक्षान्तिसारसर्वस्वोऽप्यतिक्रोधनोऽपीत्यर्थः । तथा चोक्तं वैष्णवे—"अक्षान्तिसारसर्वस्वं दुर्वाससमवेहि माम्" इति । अनेन क्रोधाद्याविष्टानामनधिकारिणा-मप्यत्र फलं भवतीति ध्वनितम् ।। १२२ ।

निर्वचनपूर्वकं स्वर्लीनेशं कथयति । स्वयमिति ।। १२३ ।

यहाँ पर अकार, उकार, मकार, नाद और बिन्दु, ये पाँचों (ओंकारमध्यवर्ती) पंचात्मक परब्रह्म नित्य ही प्रकाशित रहते हैं ।। ११९ ।

यह वही रम्य मत्स्योदरी तीर्थ है, जिसमें स्नान करने वाले उत्तम मनुष्यगण फिर कभी माता के उदरदरी में प्रवेश नहीं करते, यह बात निश्चित है ।। १२० ।

देशान्तर में स्थित भी निजभक्तजन को त्रिलोचन बनाने वाले कृपालु भगवान् यह त्रिलोचन हैं ।। १२१ ।

यह कामेश्वर देव हैं, जो सज्जनों के सकल कर्मों को पूरा करते हैं । जहाँ पर दुर्वासा ऐसे क्रोधी ऋषि ने भी अपनी कामना के महोदय को प्राप्त किया था ।। १२२ ।

यहाँ पर महेश भक्तजनों की कामनासिद्धि के लिये स्वयं लीन हो बैठे हैं, अतएव इस शिवलिंग का नाम स्वर्लीनेश्वर पड़ा है ।। १२३ ।

वारांणस्यां महादेवो यः पुराणेषु पठ्यते ।
क्षेत्राभिमानी भगवांस्तत्प्रासादोऽयमद्भुतः ॥ १२४ ।
असौ स्कन्देश्वरो देवः श्रद्धया यद्विलोकनात् ।
आजन्मब्रह्मचर्यस्य फलमाप्नोति मानवः ॥ १२५ ।
विनायकेश्वरश्चायं सर्वसिद्धिप्रदायकः ।
यत्सेवया प्रणश्यन्ति नृणां सर्वे विनायकाः ॥ १२६ ।
इयं वाराणसी देवी साक्षान्मूर्तिमयी शुभा ।
यस्या विलोकनात् पुंसां भूयो नो गर्भसम्भवः ॥ १२७ ।
पार्वतीश्वरलिङ्गस्य महदायतनं त्विदम् ।
यत्र नित्यं महेशानो गौर्या सह विमुक्तिदः ॥ १२८ ।
एष भृङ्गीश्वरः श्रीमान् महापातकनाशनः ।
जीवन्मुक्तोऽभवद् भृङ्गी यस्य लिङ्गस्य सेवया ॥ १२९ ।

विनायका विघ्नहेतवः ॥ १२६ ।

इयमिति । क्षेत्राधिष्ठात्री देवतेत्यर्थः ॥ १२७ ।

आयतनं स्थानं गृहमिति यावत् ॥ १२८ ।

जीवन्मुक्तोऽभवद्भृङ्गीति । तथा च वासिष्ठं वचनम्—

एतद्व्रतत्रयं राम पुरा चन्द्रार्धमौलिना ।
भृङ्गीशाय तु सम्प्रोक्तं येनाऽसौ विज्वरः स्थितः ॥ इति । १२९ ।

वाराणसी में क्षेत्राभिमानी भगवान् महादेव जो पुराणों में वर्णित किए जाते हैं, यह उन्हीं का विचित्र प्रासाद (दृष्ट = दिखाई पड़ता) है ॥ १२४ ।

यह स्कन्देश्वर देव हैं, श्रद्धापूर्वक जिनका दर्शन करने से मनुष्य आजन्म ब्रह्मचर्य करने का फललाभ करता है ॥ १२५ ।

यह वही सर्वसिद्धिदाता विनायकेश्वर देव हैं, जिनके सेवन करने से मनुष्य के समस्त विघ्न दूर भाग जाते हैं ॥ १२६ ।

यह साक्षात् मूर्तिमती वाराणसी देवी हैं, जिसके दर्शन से मानवगण फिर गर्भ की यन्त्रणा नहीं भोग करते ॥ १२७ ।

यह पार्वतीश्वर लिंग का बड़ा मन्दिर है, जहाँ पर भगवती पार्वती के सहित भगवान् शिव नित्य ही मुक्तिदान करते रहते हैं ॥ १२८ ।

यह महापातकनाशन श्रीमान् भृंगीश्वर हैं, जिस लिंग की सेवा से भृंगी जीवन्मुक्त हो गये हैं ॥ १२९ ।

चतुर्वेदेश्वरश्चैव चतुर्वेदधरो विधिः ।
लभेद्यद्वीक्षणाद्विप्रो वेदाध्ययनजं फलम् ॥ १३० ।

यज्ञैः संस्थापितं चैतल्लिङ्गं यज्ञेश्वराभिधम् ।
यदर्चनाल्लभेन्मर्त्यः सर्वयागफलं महत् ॥ १३१ ।

पुराणेश्वरनामैतल्लिङ्गमष्टादशाङ्गुलम् ।
अष्टादशानां विद्यानां स्यादाधारो यदीक्षणात् ॥ १३२ ।

धर्मशास्त्रेश्वरश्चायं स्मृतिभिश्च प्रतिष्ठितः ।
स्मृत्यध्ययनजं पुण्यं यद्विलोकनतो भवेत् ॥ १३३ ।

सारस्वतमिदं लिङ्गं सर्वजाड्यविनाशकृत् ।
सर्वतीर्थेश्वरं लिङ्गमेतत्सद्यो विशुद्धिदम् ॥ १३४ ।

चतुरो वेदान् धरतीति तथा । चतुर्वक्त्रधर इति क्वचित् । विदधातीति विधिः सर्वोत्पादक इत्यर्थः ॥ १३० ।

अष्टादशाङ्गुलं तिर्यगूर्ध्वमष्टादशाङ्गुलपरिमितमित्यर्थः । तदुपयोगमाहाऽष्टादशेति ॥ १३२ ।

प्रतिष्ठितः स्थापितः । प्रलम्बित इति पाठे आश्रित इत्यर्थः ॥ १३३ ।

सर्वेषां जाड्यमज्ञानं तद्विनाशकृत् । यद्वा, सर्वजाड्यं मूलाविद्या, तूलारूपं तद्विनाशकृद् इति । विशुद्धिदमन्तःकरणशुद्धिदमित्यर्थः ॥ १३४ ।

चतुर्मुखधारी सर्वोत्पादक यह चतुर्वेदेश्वर हैं, जिनका दर्शन करने से ब्राह्मण चतुर्वेदाध्ययन का फल-लाभ करता है ॥ १३० ।

इस लिंग को यज्ञों ने स्थापित किया है और जिसका पूजन करके मनुष्य समस्त यज्ञों का महत्फल पाता है, यह वही यज्ञेश्वर हैं ॥ १३१ ।

जिसके दर्शन से अठारहों विद्याओं का ज्ञाता हो जाता है, यह वही अठारह अंगुलि परिमाण के पुराणेश्वर नामक लिंग हैं ॥ १३२ ।

समग्र स्मृतियों के द्वारा प्रतिष्ठित यह धर्मशास्त्रेश्वर हैं, जिनके दर्शन से स्मृति-पाठ का फल प्राप्त होता है ॥ १३३ ।

सर्वविध जड़ता का नाश करने वाला यह सारस्वतलिंग है और यह सद्यः विशुद्धिदायक सर्वतीर्थेश्वर का लिंग है ॥ १३४ ।

शैलेश्वरस्य लिङ्गस्य मण्डपोऽयं महाद्भुतः ।
सर्वेषां रत्नजातानां यो बिभर्ति परां श्रियम् ॥ १३५ ।
सप्तसागरसंज्ञं वै लिङ्गमेतन्मनोहरम् ।
यद्वीक्षणाल्लभेन्मर्त्यः सप्ताब्धिस्नानजं फलम् ॥ १३६ ।
असौ मन्त्रेश्वरः श्रीमान् मन्त्रजाप्यफलप्रदः ।
सप्तकोटिमहामन्त्रैः स्थापितो यः पुरा युगे ॥ १३७ ।
त्रिपुरेशस्य लिङ्गस्य पुरः कुण्डमिदं महत् ।
त्रिपुरैः खानितं पूर्वं त्रिपुरारिप्रियं परम् ॥ १३८ ।
इदं बाणेश्वरं लिङ्गं सहस्रभुजपूजितम् ।
द्विभुजस्यापि बाणस्य सहस्रभुजहेतुकम् ॥ १३९ ।
वैरोचनेश्वरश्चैष पुरः प्रह्लादकेशवात् ।
बलिकेशवनामासावेष नारदकेशवः ॥ १४० ।

बिभर्ति धारयति ॥ १३५ ।

पुरा युगे सत्ययुगे ॥ १३७ ।

त्रिपुरेशस्य त्रिपुरस्थेशस्येत्यर्थः । त्रिपुरैः त्रिपुरस्थैः ॥ १३८ ।

(अहा !) यह तो शैलेश्वरलिंग का समस्त रत्नों से परम शोभायमान अतिविचित्र मंडप है ॥ १३५ ।

यह मनोहर लिंग सप्तसागरसंज्ञक है, इसके दर्शन से मनुष्य सातों समुद्रों के स्नान का फल पा जाता है ॥ १३६ ।

पूर्व युग में सप्तकोटि मन्त्रों के द्वारा स्थापित और मन्त्रजप के फलदाता यही श्रीमान् मन्त्रेश्वर हैं ॥ १३७ ।

त्रिपुरेश्वरलिंग के सम्मुख त्रिपुरारि का परमप्रिय और त्रिपुरासुरों का खोदा हुआ यह बड़ा कुण्ड विद्यमान है ॥ १३८ ।

बाणासुर के द्विभुज होने पर भी उसके सहस्रबाहु होने का कारण एवं सहस्रभुजपूजित यह बाणेश्वरलिंग है ॥ १३९ ।

प्रह्लादकेशव से आगे यह वैरोचनेश्वर हैं, यह बलिकेशव और यह नारदकेशव हैं ॥ १४० ।

आदिकेशवपूर्वेण स्वयमादित्यकेशवः ।
भीष्मकेशवनामाऽसौ दत्तात्रेयेश्वरस्त्वयम् ॥ १४१ ।
दत्तात्रेयेश्वरात्पूर्वमेष आदिगदाधरः ।
भृगुकेशवनामासावेष वामनकेशवः ॥ १४२ ।
नरनारायणावेतौ यज्ञवाराहकेशवः ।
विदारनारसिंहोऽयं गोपीगोविन्द एष ह ॥ १४३ ।
एष लक्ष्मीनृसिंहस्य प्रासादो रत्नकेतनः ।
यस्य प्रसादात् प्रह्लादः पदमैन्द्रमवाप्तवान् ॥ १४४ ।
अखर्वसिद्धिदः पुंसामेष खर्वविनायकः ।
शेषमाधवनामाऽसौ शेषेण स्थापितः पुरा ॥ १४५ ।
यस्य भक्ता न दह्यन्ते त्वपि संवर्तवह्निना ।
शङ्खमाधवनामासौ शङ्खं हत्वाऽत्र संस्थितः ॥ १४६ ।

ह इति प्रसिद्धौ । होति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १४३ ।

खर्वविनायकः खर्वनामा गणाधिपः । तर्हि खर्वत्वात्खर्वफलद एव किं नेत्याह । अखर्वसिद्धिद इति । शेषेणाऽनन्तेन ॥ १४५ ।

संवर्तवह्निना संकर्षणमुखाऽनलेन । शङ्खं पञ्चजननामानमसुरम् ॥ १४६ ।

आदिकेशव के पूर्व (ओर) यह आदित्यकेशव हैं, इनका नाम भीष्मकेशव है, यह दत्तात्रेयेश्वर हैं ॥ १४१ ।

इनके पूर्वभाग में यह आदिगदाधर हैं, यह भृगुकेशव और यह वामन-केशव हैं ॥ १४२ ।

ये दोनों नरनारायण हैं, यह यज्ञवाराहकेशव हैं, यह विदारनारसिंह और गोपीगोविन्द (देव) हैं ॥ १४३ ।

प्रह्लाद ने जिसके प्रसाद से इन्द्र के पद को प्राप्त किया था, उसी लक्ष्मी-नृसिंह का यह रत्नकेतन मन्दिर है ॥ १४४ ।

पुरुषों की अखर्व (बड़ी) सिद्धि के दाता यह खर्वविनायक हैं । शेषनाग के द्वारा स्थापित यह शेषमाधव हैं ॥ १४५ ।

जिसके भक्त प्रलयानल से भी दग्ध नहीं होते, शंखासुर को मारकर यहाँ पर वह शंखमाधव अवस्थित हैं ॥ १४६ ।

इदं सारस्वतं स्रोतः परब्रह्मरसायनम् ।
सरस्वत्या महानद्या सङ्गमो यत्र गङ्गया ॥ १४७ ॥
यत्राप्लुता नरा भूयः सम्भवन्ति न भूतले ।
श्रीबिन्दुमाधवस्त्वेष साक्षाल्लक्ष्मीपतिः परः ॥ १४८ ॥
श्रद्धया यं नमन्मर्त्यो न वसेद्गर्भवेश्मनि ।
न दारिद्र्यमवाप्नोति व्याधिभिर्नाऽभिभूयते ॥ १४९ ॥
बिन्दुमाधवभक्तो यस्तं यमोऽपि नमस्यति ।
प्रणवात्मा य एकोऽस्ति नादबिन्दुस्वरूपधृक् ॥ १५० ॥
अमूर्तं यत्परं ब्रह्म बिन्दुमाधव एव सः ।
एतत्पञ्चनदं तीर्थं पञ्चब्रह्मात्मसंज्ञकम् ॥ १५१ ॥
यत्र स्नातो न गृह्णीयाच्छरीरं पाञ्चभौतिकम् ।
एषा सा मङ्गलागौरी काश्यां परममङ्गलम् ॥ १५२ ॥
यत्प्रसादादवाप्नोति नरोऽत्र च परत्र च ।
मयूखादित्यसंज्ञोऽयं रश्मिमाली तमोपहः ॥ १५३ ॥

पञ्चनदपदार्थमाह । पञ्चेति । अकारोकारमकारबिन्दुनादाः । किरणा-धूतपापा-सरस्वती-गंगा-यमुनानद्यो वा । सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानसंज्ञा वा, पञ्चब्रह्माणस्तदात्मकं तत्संज्ञकं तत्स्वरूपनामकम् ॥ १५१ ।

यस्याः प्रसादान्नरः परममङ्गलमाप्नोति सैषा मङ्गलागौरीत्यन्वयः । रश्मिमाली सूर्यः । तमोपहोऽज्ञाननाशकः, अन्धकारध्वंसको वा ॥ १५३ ।

यह परब्रह्म रसायन सरस्वती का सोता है, जहाँ पर महानदी गंगा से सरस्वती का संगम हुआ है ॥ १४७ ।

यहाँ पर स्नान करने से मनुष्य को फिर भूतल पर जन्म नहीं लेना पड़ता । यह श्रीबिन्दुमाधव हैं, जो सर्वश्रेष्ठ और साक्षात् लक्ष्मीपति हैं ॥ १४८ ।

मनुष्य श्रद्धापूर्वक जिनको प्रणाम करके न तो गर्भागार में वास करता है, न दरिद्रता को प्राप्त होता है और न व्याधियों से ही (कभी) पीड़ित होता है ॥ १४९ ।

यमराज भी बिन्दुमाधव के भक्त को प्रणाम करते हैं । जो नाद-बिन्दुस्वरूपी एकमात्र प्रणवात्मा हैं और जो अमूर्त परब्रह्म हैं, यह वही बिन्दुमाधव हैं । पंच-ब्रह्मात्मसंज्ञक यह पंचनदतीर्थ है ॥ १५०-१५१ ।

जहाँ पर स्नान करने से पंचभूतमय शरीर धारण नहीं करना पड़ता, मनुष्य जिसके प्रसाद से काशी में इस लोक और परलोक का परममंगल प्राप्त करता है, यह वही मंगलगौरी (मंगलागौरी) हैं । यह अज्ञानरूपी अंधकार के ध्वंसक, मयूखादित्यसंज्ञक सूर्य (नारायण) हैं ॥ १५२-१५३ ।

गभस्तीशो महालिङ्गमेतद्दिव्यमहःप्रदम् ।
मृकण्डुसूनुनाप्यत्र तपस्तप्तं पुरा महत् ॥ १५४ ।
लिङ्गं संस्थाप्य परमं स्वनाम्नायुःप्रदं परम् ।
किरणेश्वरनामैतल्लिङ्गं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥ १५५ ।
सकृन्नतमिदं लोकं नयेत्किरणमालिनः ।
धौतपापेश्वरं लिङ्गमेतत्पातकधावनम् ॥ १५६ ।
निर्वाणनरसिंहोऽयं भक्तनिर्वाणकारणम् ।
मणिप्रदीपनागोऽयं महामणिविभूषणः ॥ १५७ ।
यदर्चनान्नरो जातु न नागैः परिभूयते ।
कपिलेशमिदं लिङ्गं कपिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १५८ ।
मुच्यते कपयोऽप्यस्य दर्शनात्किमु मानवाः ।
प्रियव्रतेश्वरं लिङ्गं महदेतत्प्रकाशते ॥ १५९ ।
यस्याऽर्चनाल्लभेज्जन्तुः प्रियत्वं सर्वजन्तुषु ।
इदमायतनं श्रेष्ठं मणिमाणिक्यनिर्मितम् ॥ १६० ।

गभस्तीश इति पुंस्त्वमार्षम् । दिव्यमहः स्वप्रकाशं ज्योतिस्तत्प्रदम् । मृकण्डुसूनुना मार्कण्डेयेन ॥ १५४ ।

किरणमालिनः सूर्यस्य । पातकधावनं पापस्य शोधनं नाशकमिति यावत् ॥१५६।

कपयो वानराः ॥ १५९ ।

दिव्य तेज के दाता गभस्तीश्वर का यह महालिंग है । इसी स्थान पर मार्कण्डेय मुनि ने अपने नाम से आयुष्यप्रद लिंग स्थापन करके पूर्वकाल में बड़ी तपस्या की थी । यह त्रैलोक्यविश्रुत किरणेश्वरलिंग है ॥ १५४-१५५ ।

जो एक बार भी प्रणाम करने से सूर्यलोक में पहुँचा देता है, यह पातकों को धो देनेवाला धौतपापेश्वरलिंग है ॥ १५६ ।

भक्तों के निर्वाणकारण यह निर्वाणनरसिंह हैं। यह महामणिविभूषण मणिप्रदीप नाग हैं ॥ १५७ ।

इनका पूजन करने से मनुष्य कभी सर्पों से पीड़ित नहीं होता। यह कपिल ऋषि का स्थापित कपिलेश्वरलिंग है ॥ १५८ ।

इसके दर्शन से नर को कौन कहे, वानर भी मुक्त हो जाते हैं। यह प्रियव्रतेश्वर का बड़ा लिंग प्रकाशमान है ॥ १५९ ।

जिसके अर्चन करने से प्राणी सर्वजन्तुओं का प्रिय हो जाता है, कलि और काल के दुःखहारी श्रीमान् कालराज का मणिमाणिक्यरचित यह उत्तम मन्दिर है ।

श्रीमतः कालराजस्य कलिकालार्तिहारिणः ।
निजभक्तं जनं पाति यः पापात्पापभक्षणः ॥ १६१ ।
क्षेत्रविघ्नकरान् पापान् यातयन्यातनाशतैः ।
इयं मन्दाकिनी रम्या तपस्तस्तुमिहागता ॥ १६२ ।
काशीवाससुखं प्राप्य नाऽद्याऽपि दिवमीहते ।
स्नात्वाऽत्र सन्तर्प्य पितॄन् श्राद्धं कृत्वा विधानतः ॥ १६३ ।
नरो न नरकं पश्येदपि दुष्कृतकर्मकृत् ।
यानि कानि च लिङ्गानि काश्यां सन्ति सहस्रशः ॥ १६४ ।
रत्नभूतमिदं तेषु लिङ्गं रत्नेश्वराऽभिधम् ।
रत्नेश्वरप्रसादेन भुक्त्वा रत्नान्यनेकशः ॥ १६५ ।
पुरुषार्थमहारत्नं निर्वाणं को न लब्धवान् ।
कृत्तिवासेश्वरस्यैषा महाप्रासादनिर्मितिः ॥ १६६ ।
यां दृष्ट्वाऽपि नरो दूरात् कृत्तिवासः पदं लभेत् ।
सर्वेषामपि लिङ्गानां मौलित्वं कृत्तिवाससः ॥ १६७ ।
ॐकारेशः शिखा ज्ञेया लोचनानि त्रिलोचनः ।
गोकर्णभारभूतेशौ तत्कर्णौ परिकीर्तितौ ॥ १६८ ।

निर्वचनपूर्वकं रत्नेश्वरलिङ्गं दर्शयति । यानीति ॥ १६४ ।

कृत्तिवासेश्वरस्येत्यत्राऽदन्तत्वमार्षम् ॥ १६६ ।

लिङ्गात्मकं विश्वेश्वरशरीरं कथयति । सर्वेषामित्यारभ्य यावेताविल्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ १६७ ।

यह कालभैरव पापभक्षण होकर अपने भक्तजनों की पाप से रक्षा करते रहते हैं और क्षेत्र के विघ्नकर्ता पापियों को सैकड़ों ही पीड़ा देकर बाहर कर देते हैं। यह रमणीय मन्दाकिनी, यहाँ तपस्या करने आई; परन्तु काशीवास के सुख को पाकर आज तक स्वर्ग में फिर नहीं जाना चाहती। इसमें यथाविधि स्नान और पितृतर्पण एवं श्राद्ध करने से, पापी नर को भी (नरक) नहीं देखना पड़ता ॥ १६०-१६३ ।

काशी में जो सहस्रशः लिंग हैं, उनमें रत्नभूत यह रत्नेश्वरनामक लिंग है, रत्नेश्वर की दया से अनेकशः रत्नों का भोग कर पुरुषार्थों में महारत्न निर्वाणपद किसने नहीं पाया (है ?), यह कृत्तिवासेश्वर के बड़े शिवालय की रचना है ॥ १६४-१६६ ।

मनुष्य जिसे दूर से भी देखकर शिवपद को प्राप्त करता है, यही कृत्तिवासेश्वर समस्त लिंगों के शिरोरूप हैं। ओंकारेश्वर ही शिखा, त्रिलोचन ही लोचन, गोकर्णेश्वर

विश्वेश्वराविमुक्तौ च द्वावेतौ दक्षिणौ करौ ।
धर्मेशमणिकर्णेशौ द्वौ करौ दक्षिणेतरौ ॥ १६९ ।
कालेश्वरकपर्दीशौ चरणावतिनिर्मलौ ।
ज्येष्ठेश्वरो नितम्बश्च नाभिर्वै मध्यमेश्वरः ॥ १७० ।
कपर्दोऽस्य महादेवः शिरोभूषा श्रुतीश्वरः ।
चन्द्रेशो हृदयं तस्य आत्मा वीरेश्वरः परः ॥ १७१ ।
लिङ्गं तस्य तु केदारः शुक्रं शुक्रेश्वरं विदुः ।
अन्यानि यानि लिङ्गानि परःकोटिशतानि च ॥ १७२ ।
ज्ञेयानि नखलोमानि वपुषो भूषणान्यपि ।
यावेतौ दक्षिणौ हस्तौ नित्यनिर्वाणदौ हि तौ ॥ १७३ ।
जन्तूनामभयं दत्त्वा पततां मोहसागरे ।
इयं दुर्गा भगवती पितृलिङ्गमिदं परम् ॥ १७४ ।

धर्मेशमणिकर्णेशावित्यत्राऽन्तिमपदे टावन्तत्वमार्षम् ॥ १६९ ।

आत्माऽहङ्कारः ॥ १७१ ।

कोटिशतेभ्यः पराणि परःकोटिशतानि अनन्तानीत्यर्थः ॥ १७२ ।

यावेतौ विश्वेश्वराऽविमुक्तेश्वरावित्युक्ताऽनुवादोऽन्यत्प्रष्टुम् । तदेवाह । नित्येति पादत्रयेण । स्थितिसमयेऽभयं न विद्यते यस्मात्तत्तारकं वा दत्त्वा । नित्यं यन्निर्वाणं तद्दौ नित्यं सर्वदा वा निर्वाणप्रदावित्युत्तरेणाऽन्वयः । हीति श्रुतिप्रसिद्धिं द्योतयति ॥ १७३ ।

पितृलिङ्गं पित्रीश्वरम् ॥ १७४ ।

और भारभूतेश्वर दोनों कर्ण, विश्वेश्वर और अविमुक्तेश्वर, ये ही (दोनों) दक्षिण हस्त और धर्मेश्वर और मणिकर्णिकेश्वर ये (दोनों) वाम कर, कालेश्वर और कपर्दीश्वर दोनों निर्मल-चरण, ज्येष्ठेश्वर नितम्ब, मध्यमेश्वर नाभि, महादेव जटाजूट, श्रुतीश्वर शिरोभूषण, चन्द्रेश्वर हृदय, वीरेश्वर आत्मा, केदारेश्वर लिंग और शुक्रेश्वर शुक्र (वीर्य) कहे गये हैं। इनसे भिन्न दूसरे जो सैकड़ों, करोड़ों से अधिक लिंग हैं ॥ १६७-१७२ ।

उन्हें शरीर के नख, लोम और भूषण (रूप से) समझना चाहिये। और ये जो दोनों दक्षिणहस्त हैं, वे मोहसागर में गिरते हुए जीवों को अभय देकर सर्वदा हित-कारक और निर्वाणदायक हैं। यह भगवती दुर्गा हैं, यह श्रेष्ठ पितृलिंग है ॥१७३-१७४।

इयं हि चित्रघण्टेशी घण्टाकर्णह्रदस्त्वयम् ।
इयं सा ललितागौरी विशालाक्षीयमद्भुता ॥ १७५ ।
आशाविनायकस्त्वेष धर्मकूपोऽयमद्भुतः ।
यत्र पिण्डान्नरो दत्त्वा पितॄन् ब्रह्मपदं नयेत् ॥ १७६ ।
एषा विश्वभुजा देवी विश्वैकजननी परा ।
असौ वन्दी महादेवी नित्यं त्रैलोक्यवन्दिता ॥ १७७ ।
निगडस्थानपि जनान् पाशान्मोचयति स्मृता ।
दशाश्वमेधिकं तीर्थमेतत्त्रैलोक्यवन्दितम् ॥ १७८ ।
यत्राहुतित्रयेणाऽपि अग्निहोत्रफलं लभेत् ।
प्रयागाख्यमिदं स्रोतः सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ॥ १७९ ।
अशोकाख्यमिदं तीर्थं गङ्गाकेशव एष वै ।
मोक्षद्वारमिदं श्रेष्ठं स्वर्गद्वारमिदं विदुः ॥ १८० ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ज्ञानवापीवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ।

ईशी ईश्वरी चित्रघण्टा चासावीशी चेत्येकं पदं वा ॥ १७५ ।
विश्वभुजा विश्वबाहुका बन्दी नाम्ना ॥ १७७ ।
स्रोतस्तीर्थं गङ्गायां प्रवाहरूपं वा ॥ १७९ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ।

यह चित्रघंटा देवी हैं। यह घंटाकर्ण ह्रद है। यह ललितागौरी और यह अद्भुत विशालाक्षी हैं ॥ १७५ ।

यह आशाविनायक हैं। यह विचित्र कूप है, जहाँ पर पिण्डदान करने से मनुष्य पितरों को ब्रह्मपद पर पहुँचा देता है ॥ १७६ ।

विश्वमात्र की एक जननी सर्वश्रेष्ठा यह विश्वभुजा देवी हैं। यह नित्य त्रैलोक्यवन्दिता महादेवी वन्दी हैं ॥ १७७ ।

ये स्मरण करते ही निगड़ (बेड़ी) में बँधे हुए लोगों को भी पाश (फन्दे) से छुड़ा देती हैं। त्रिभुवनपूजित यह दशाश्वमेध तीर्थ है ॥ १७८ ।

यहाँ पर केवल तीन ही आहुति से अग्निहोत्र करने का फल प्राप्त होता है। यह प्रयाग नामक स्रोत समस्त तीर्थों में उत्तमोत्तम है ॥ १७९ ।

यह अशोक तीर्थ है, यह गंगाकेशव हैं, यही श्रेष्ठ मोक्षद्वार है और इसे स्वर्गद्वार कहते हैं ॥ १८० ।

दोहा—सुनत ज्ञानवापी-कथा, उपजत ज्ञान विशेष ।
सहित ज्ञान सोपान के, राजत सो द्रव भेष ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ज्ञानवापीवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ।

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

पुनर्ददर्श तन्वङ्गी चित्रपट्यां घटोद्भव।
स्वर्गद्वारात्पुरोभागे श्रीमतीं मणिकर्णिकाम् ॥ १ ॥
संसारसर्पदष्टानां जन्तूनां यत्र शङ्करः।
अपसव्येन हस्तेन ब्रूते ब्रह्म स्पृशन् श्रुतिम् ॥ २ ॥
न कापिलेन योगेन न सांख्येन न च व्रतैः।
या गतिः प्राप्यते पुंभिस्तां दद्यान्मोक्षभूरियम् ॥ ३ ॥
वैकुण्ठे विष्णुभवने विष्णुभक्तिपरायणाः।
जपेयुः सततं मुक्त्यै श्रीमतीं मणिकर्णिकाम् ॥ ४ ॥

चतुस्त्रिंशत्तमेऽध्याये सर्वपापैकहारके।
ज्ञानवापीप्रशंसा च वर्ण्यतेऽमरदुर्लभा ॥ १ ॥

ज्ञानवाप्याः प्रशंसां वक्तुं पुनरपि चित्रपटीदर्शनमेव प्रस्तावयति। पुनरिति ॥ १ ॥

मणिकर्णिकाया आधिक्यद्योतनार्थं पुनः प्रशंसामाह। संसारेत्यादिना। अपसव्येन दक्षिणेन। अपसर्पेणेति पाठे उपदेश्यानां भयरहिततयाऽन्तःकरणस्वास्थ्यार्थं दूरीकृतसर्पेण हस्तेन श्रुतिं दक्षिणकर्णं स्पृशन् ब्रह्म ब्रह्मज्ञानं ब्रूते। कथयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

कपिलेन देवहूत्यै स्वमात्रे श्रीकपिलप्रोक्तेन सांख्येनात्मानात्मविवेकेन ॥ ३ ॥

यां मणिकर्णिकां जपेयुः सेयं मोक्षभूरिति पूर्वक्रियाया अनुषङ्गः ॥ ४ ॥

(ज्ञानवापी और मणिकर्णिका की प्रशंसा)

स्कन्द ने कहा—

"कुंभजमुने ! वह कृशांगी कलावती (प्रथम समस्त चित्रपटी देखकर) फिर से (दूसरी बार) स्वर्गद्वार के पुरोभाग में श्रीमती मणिकर्णिका को देखने लगी ॥ १ ॥

यहाँ पर स्वयं शंकर संसारसर्प के डँसे हुए प्राणियों के (दक्षिण) कर्ण को दक्षिणहस्त से स्पर्श करते हुए तत्त्वज्ञान का उपदेश देते रहते हैं ॥ २ ॥

जो गति कपिलयोग वा सांख्ययोग अथवा व्रतानुष्ठानों से भी नहीं मिलती, यह मोक्षभूमि उसे भी दे ही देती है ॥ ३ ॥

वैकुण्ठ लोक में विष्णु के भक्तगण भी मुक्ति के लिये निरन्तर इसी श्रीमती मणिकर्णिका को जपा करते हैं ॥ ४ ॥

हुत्वाऽग्निहोत्रमपि च यावज्जीवं द्विजोत्तमाः ।
अन्ते श्रयन्ते मुक्त्यै यां सेयं श्रीमणिकर्णिका ॥ ५ ॥
वेदान् पठित्वा विधिवद् ब्रह्मयज्ञरता भुवि ।
यां श्रयन्ति द्विजा मुक्त्यै सेयं श्रीमणिकर्णिका ॥ ६ ॥
इष्ट्वा क्रतूनपि नृपा बहून् पर्याप्तदक्षिणान् ।
श्रयन्ते श्रेयसे धन्याः प्रान्तेऽधिमणिकर्णिकम् ॥ ७ ॥
सीमन्तिन्योऽपि सततं पतिव्रतपरायणाः ।
मुक्त्यै पतिमनुव्रज्य श्रयन्ति मणिकर्णिकाम् ॥ ८ ॥
वैश्या अपि च सेवन्ते न्यायोपार्जितसम्पदः ।
धनानि साधु सात्कृत्वा प्रान्ते श्रीमणिकर्णिकाम् ॥ ९ ॥
त्यक्त्वा पुत्रकलत्रादि सच्छूद्रा न्यायमार्गगाः ।
निर्वाणप्राप्तये चैनां भजेयुर्मणिकर्णिकाम् ॥ १० ॥

ब्रह्मयज्ञरता ज्ञानयज्ञरताः । अत एव शङ्कराचार्यप्रभृतीनां मणिकर्ण्याश्रयणं श्रूयते । यद्वा, ब्रह्म वेदस्तद्यज्ञरता इत्यर्थः ॥ ६ ॥

मणिकर्णिकाया अधि अधिमणिकर्णिकम्, तदुपरीत्यर्थः ॥ ७ ॥

सीमन्तिन्यो नार्यः पतिमनुव्रज्य मृतं भर्तारमनु पश्चाद् गत्वाऽग्नावनुमरणं सहमरणं वा कृत्वेत्यर्थः ॥ ८ ॥

प्रान्ते साधुसात् कृत्वा सत्पात्रेभ्यो दत्त्वा यां सेवन्ते सेयं मोक्षभूरिति शेषः । प्रान्ते सेवन्त इति वाऽन्वयः ॥ ९ ॥

भजेयुः भजन्ति ॥ १० ॥

द्विजोत्तमगण यावज्जीवन अग्निहोत्र का हवन कर एवं वेदों को पढ़, विधिवत् ब्रह्मयज्ञ में तत्पर हो, अन्त में भूमि पर मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिसका आश्रयण करते हैं, यह वही श्रीमणिकर्णिका है ॥ ५-६ ।

नृपालगण दक्षिणादान से परिपूर्ण यज्ञों को कर, धन्य हो, इसी मणिकर्णिका पर अन्तिम श्रेयःप्राप्ति के लिये शरणागत हो जाते हैं ॥ ७ ।

सदा पतिव्रत धर्म में परायण स्त्रियाँ भी मोक्ष की आशा से पति के साथ सती होकर इसी मणिकर्णिका का आश्रय लेती हैं ॥ ८ ।

न्यायपूर्वक सम्पत्ति को उपार्जित करने वाले वैश्यलोग भी सत्पात्र साधुओं को धन का दान कर अन्त में इसी मणिकर्णिका का सेवन करते हैं ॥ ९ ।

सत्पथावलम्बी सज्जन शूद्रगण भी स्त्रीपुत्रादि को छोड़कर निर्वाण-प्राप्ति के निमित्त मणिकर्णिका को ही भजते हैं ॥ १० ।

यावज्जीवं चरन्तोऽपि ब्रह्मचर्यं जितेन्द्रियाः ।
निःश्रेयसे श्रयन्त्येनां श्रीमतीं मणिकर्णिकाम् ॥ ११ ।
अतिथीनपि सन्तर्प्य पञ्चयज्ञरता अपि ।
गृहस्थाश्रमिणो नेमां त्यजेयुर्मणिकर्णिकाम् ॥ १२ ।
वानप्रस्थाश्रमयुजो ज्ञात्वा निर्वाणसाधनम् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं मणिकर्णीमुपासते ॥ १३ ।
अनन्यसाधनां मुक्तिं ज्ञात्वा शास्त्रैरनेकधा ।
मुमुक्षुभिस्त्वेकदण्डैः सेव्यते मणिकर्णिकाम् ॥ १४ ।
दण्डयित्वा मनो वाचं कायं नित्यं त्रिदण्डिनः ।
नैःश्रेयसीं श्रियं प्राप्तुं श्रयन्ते मणिकर्णिकाम् ॥ १५ ।

देवयज्ञपितृयज्ञमनुष्ययज्ञभूतयज्ञब्रह्मयज्ञा इति पञ्चयज्ञाः । त्यजेयुः त्यजन्ति ॥ १२ ।

मणिकर्णीमुपासते इत्यादिषु यथायोग्यं यां या सेयं मोक्षभूरिति वा इमामिति वा बोद्धव्यम् ॥ १३ ।

अनन्यसाधनां स्वतःसिद्धां स्वप्रकाशामिति वा । मणिकर्णिकामन्तरेण न विद्यतेऽन्यत् साधनं यस्याः, सा तथा तामिति वा ॥ १४ ।

दण्डयित्वेति । तत्र मनोदण्डः प्राणायामः । वाचो दण्डो मौनम् । कायदण्डो वृथाव्यापाररहित्यम् । तथा च भागवते भगवद्वचनम्—

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते सन्ति यस्यांगवेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥ इति ।

नैःश्रेयसीं कैवल्यसम्बन्धिनीम् ॥ १५ ।

यावज्जीवन ब्रह्मचर्यव्रत करने वाले जितेन्द्रिय लोग भी निःश्रेयस-लाभ के लिये मणिकर्णिका का ही आश्रय ग्रहण करते हैं ॥ ११ ।

पंचयज्ञ में तत्पर गृहस्थाश्रमी जन भी अतिथियों को यथेष्ट सन्तुष्ट कर इस मणिकर्णिका को (कभी) नहीं त्यागते ॥ १२ ।

वानप्रस्थ आश्रम वाले लोग भी मोक्ष का साधन जान इन्द्रियग्राम को संयत कर इसी मणिकर्णिका की उपासना करते हैं ॥ १३ ।

एकदण्डधारी मुमुक्षुगण भी अनेक प्रकार के शास्त्रों से मुक्ति को दूसरे उपायों से असाध्य विचार कर इसी मणिकर्णिका को सेवते (रहते) हैं ॥ १४ ।

त्रिदण्डीजन मन, वचन और काय को नित्य दण्डित करने पर भी कैवल्य-सिद्धयर्थ मणिकर्णिका के ही आश्रित होते हैं ॥ १५ ।

संन्यस्ताऽखिलकर्माणो दण्डयित्वा चलं मनः ।
एकदण्डव्रता मुक्त्यै भजेयुर्मणिकर्णिकाम् ॥ १६ ।
शिखी मुण्डी जटी वाऽपि कौपीनी वा दिगम्बरः ।
मुमुक्षुः को न सेवेत मुक्तिदां मणिकर्णिकाम् ॥ १७ ।
तपः कर्तुं न शक्ता ये दानं वा दातुमक्षमाः ।
योगाभ्यासविहीना ये तेषामेषा विमुक्तिदा ॥ १८ ।
सन्त्युपायाः सहस्रन्तु मुक्तये न तथा मुने ।
हेलयैषा यथा दद्यान्निर्वाणं मणिकर्णिका ॥ १९ ।
अनशनव्रतभृते त्रिकालाभ्यवहारिणे ।
प्रान्ते दद्यात्समां मुक्तिमुभाभ्यां मणिकर्णिका ॥ २० ।

संन्यस्तेति । अस्य विद्वद्विषयत्वादनन्येत्यस्य विविदिषु विषयत्वादपौनरुक्त्यम् ॥ १६ ।

अनन्येत्यादिश्लोकत्रयोक्तमुपसंहरति । शिखीति । शिखी त्रिदण्डी । मुण्डी एकदण्डी । जटी पाशुपतादिः । कौपीनी केवलकौपीनमात्रग्राही । मुमुक्षुरिति सर्वेषां विशेषणम् । अन्यो वा यः कश्चिन्मुमुक्षुः ॥ १७ ।

तुशब्दोक्तविशेषमाह । हेलयेति ॥ १९ ।

उभाभ्यामनशनव्रतत्रिकालाभ्यवहारिभ्याम् । चतुर्थ्यां द्विवचनमेतत् ॥ २० ।

अखिलकर्मों के संन्यासीगण भी एकदण्डव्रती हो चंचल मन को संयत कर मोक्ष के प्राप्त्यर्थ मणिकर्णिका को ही भजते हैं ॥ १६ ।

शिखाधारी, मुंडी, जटी, कौपीनी अथवा दिगंबर, चाहे जो हो, मोक्षाभिलाषी होकर मुक्तिदात्री मणिकर्णिका का कौन नहीं सेवन करता ? ॥ १७ ।

जो तपस्या करने में अशक्त हैं, दान देने में असमर्थ हैं, योगाभ्यास से रहित हैं, उन सब को ये ही मुक्ति देती हैं ॥ १८ ।

मुनिवर ! मुक्ति के लिये सहस्रशः उपाय वैसे नहीं हैं, जैसी कि यह मणिकर्णिका । यह खेलवाड़ में (अनायास ही) मुक्ति दे देती है ॥ १९ ।

चाहे निर्जलव्रती हो, अथवा त्रिकालभोजी हो, दोनों को ही अन्त में यह मणिकर्णिका एक समान मुक्तिदान करती है ॥ २० ।

यथोक्तमाचरेदेको निष्ठापाशुपतं व्रतम् ।
निरन्तरं स्मरेदेको ह्यनेनां मणिकर्णिकाम् ॥ २१ ।
दृष्टाऽत्र वपुषः पाते द्वयोश्च सदृशी गतिः ।
तस्मात्सर्वं विहायाशु सेव्यैषा मणिकर्णिका ॥ २२ ।
स्वर्गद्वारे विशेयुर्ये विगाह्य मणिकर्णिकाम् ।
तेषां विधूतपापानां क्वापि स्वर्गो न दूरतः ॥ २३ ।
स्वर्गद्वाः स्वर्गभूरेखा मोक्षभूर्मणिकर्णिका ।
स्वर्गापवर्गावत्रैव नोपरिष्टान्न चाप्यधः ॥ २४ ।
दत्वा दानान्यनेकानि विगाह्य मणिकर्णिकाम् ।
स्वर्गद्वारं प्रविष्टा ये न ते निरयगामिनः ॥ २५ ।

यथोक्तमिति सार्धं वाक्यम् । निष्ठा तात्पर्यं तत्पूर्वकं पाशुपतव्रतं नियमम् । कीदृशम् ? यथोक्तं सनत्कुमारसंहितायां यथावत्प्रोक्तं विभूतिभिस्त्रिपुण्ड्रधारणादिरूपमेक आचरेदनुतिष्ठेत्, एको निरन्तरं ह्यनेनां मणिकर्णिकां स्मरेत्तयोर्द्वयोरत्र मणिकर्ण्यां वपुषः पाते सदृशी गतिर्दृष्टेत्यर्थः ॥ २१ ।

फलितमाह । तस्मादित्यर्धेन ॥ २२ ।

स्वर्गद्वाः स्वर्गस्य द्वाररूपा स्वर्गभूर्मोक्षभूश्चैषा मणिकर्णिकेत्यर्थः । तस्मात् स्वर्गापवर्गावत्रैव मणिकर्णिकायामेव न तूपरिष्टादप्यधः क्वापीत्यर्थः । स्वर्गदेति पाठे स्वर्ग

एक यथोक्तविधि से निष्ठापूर्वक पाशुपतव्रत का आचरण करे और दूसरा सर्वदा इस मणिकर्णिका को स्मरण करता रहे, तो उन दोनों को ही शरीरपात होने पर यहाँ एक-सी गति दिखलायी पड़ती है, अत एव शीघ्रता से सब को छोड़कर इस मणिकर्णिका का सेवन करना उचित है ॥ २१-२२ ।

जो लोग मणिकर्णिका में अवगाहन करके स्वर्गद्वार में प्रवेश करते हैं, उन का पाप धो जाता है और स्वर्ग भी कहीं दूर नहीं रहता ॥ २३ ।

यह स्वर्गद्वार ही स्वर्गभूमि और मणिकर्णिका मोक्षभूमि है, अतएव स्वर्ग एवं अपवर्ग दोनों यहाँ पर ही हैं। वे ऊपर अथवा नीचे नहीं हैं ॥ २४ ।

जो लोग मणिकर्णिका में स्नान और दानों को देकर, स्वर्गद्वार में प्रवेश कर जाते हैं, वे फिर कभी नरक में गमन नहीं करते ॥ २५ ।

स्वर्गापवर्गयोरर्थः [1]कोविदैश्च निरूपितः ।
स्वर्गः सुखं समुद्दिष्टमपवर्गो महासुखम् ॥ २६ ।
मणिकर्ण्युपविष्टस्य यत्सुखं जायते सतः ।
सिंहासनोपविष्टस्य तत्सुखं क्व शतक्रतोः ॥ २७ ।
महासुखं यदुद्दिष्टं समाधौ विस्मृतात्मनाम् ।
श्रीमत्यां मणिकर्ण्यां तत्सहजेनैव जायते ॥ २८ ।
स्वर्गद्वारात्पुरोभागे देवनद्याश्च पश्चिमे ।
सौभाग्यभाग्यैकनिधिः काचिदेका महास्थली ॥ २९ ।
यावन्तो भास्वतः स्पर्शाद् भासन्ते सैकताः कणाः ।
तावन्तो द्रुहिणा जग्मुर्नैत्येषा मणिकर्णिका ॥ ३० ।

सुखं तद्ददातीति तथा । अत्रैवेत्यस्यायं भावः । अत्रैव स्वर्गमोक्षौ प्राप्याऽपि तत्प्राप्त्यै मूढा अन्यत्र यान्त्यत्र कस्मान्नायान्तीत्यनुक्रोशति भगवान् कार्तिकेय इति ॥ २४-२५ ।

स्वर्गापवर्गावत्रैवेति स्वानुभवेन दर्शयितुं स्वर्गापवर्गयोरर्थमाह । **स्वर्गापवर्गयोरिति** ॥ २६ ।

इदानीं तौ दर्शयति । **मणिकर्णीति** द्वाभ्याम् ॥ २७ ।

ब्रह्मनालिकाया मणिकर्णिकायाश्चिह्नमाह । **स्वर्गद्वारादिति** । सौभाग्यं सौन्दर्यं भाग्यमैश्वर्यादिषाड्गुण्यं तयोरेकनिधिर्मुख्य आश्रयः काचिदपरिमेयगुणगहना । एका मुख्या ॥ २९ ।

द्रुहिणाश्चतुर्मुखाः । जग्मुर्गताः । नैत्येषा एषा मणिकर्णिका न एति न गच्छतीत्यर्थः ॥ ३० ।

पंडितों ने स्वर्ग और अपवर्ग शब्द का यह अर्थ निरूपण किया है, (कि) स्वर्ग तो सुख है और अपवर्ग महासुख है ॥ २६ ।

(क्योंकि) मणिकर्णिका पर बैठे हुए सज्जन को जो सुख प्राप्त होता है, सिंहासन पर उपविष्ट देवराज को भी वह सुख कहाँ (मिलता) है ? ॥ २७ ।

समाधि की अवस्था में अपने को भूले हुए योगियों को जो महासुख संघटित होता है, श्रीमती मणिकर्णिका पर वह सहज ही प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ।

स्वर्गद्वार से आगे (पूर्व) और गंगा के पश्चिमभाग में सौभाग्य और भाग्य की एकमात्र निधि कोई एक बड़ी अकृत्रिम भूमि है ॥ २९ ।

सूर्य के किरण-स्पर्श से जितने वालुका के कण उद्भासित होते हैं, उतने लोग ब्रह्मालय को प्राप्त हो चुके (हैं); परन्तु यह मणिकर्णिका जैसी थी, वैसी ही बनी है ॥ ३० ।

---

१. को विद्वद्भिरित्यपि क्वचित्पाठः ।

सन्ति तीर्थानि तावन्ति परितो मणिकर्णिकाम् ।
यावद्भिस्तिलमात्रापि न भूमिर्विरलीकृता ॥ ३१ ।
यदन्वये कोऽपि मुक्तः सम्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ।
तद्वंश्यास्तत्प्रभावेण मान्याः स्वर्गौकसामपि ॥ ३२ ।
तर्पिताः पितरो येन सम्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ।
सप्त सप्त तथा सप्त पूर्वजास्तेन तारिताः ॥ ३३ ।
आमध्याद्देवसरित आहरिश्चन्द्रमण्डपात् ।
आगङ्गाकेशवादा च स्वर्गद्वारान्मणिकर्णिका ॥ ३४ ।
एतद्रजः कणतुलां त्रिलोक्यपि न गच्छति ।
एतत्प्राप्त्यै प्रयतते त्रिलोकस्थोऽखिलो भवी ॥ ३५ ।

सन्तीति । मणिकर्णिकां परितो व्याप्य वेष्टयित्वेत्यर्थः । तावन्ति तीर्थानि सन्ति यावद्भिस्तीर्थैस्तिलमात्राऽपि एकतिलपरिमिताऽपि भूमिर्न विरलीकृता न निरवकाशीकृतेत्यर्थः ॥ ३१ ।

कोऽपि पुंजीवः स्त्रीजीवो वेत्यर्थः ॥ ३२ ।

स्थूलमणिकर्णिकायाः प्रमाणमाह । आमध्यादिति ॥ ३४ ।

न गच्छति न प्राप्नोति । तत्र हेतुमाह । एतदिति । त्रिलोकस्थस्त्रिलोके वर्तमानः । त्रिलोकीस्थ इति क्वचित् । अखिलो भवी कृत्स्नः संसारी । अवनीमिति पाठे त्रिलोकस्थस्त्रिजगतीस्थो जन एतत्प्राप्त्यर्थमवनीं प्रयतते पर्यटतीत्यर्थः ॥ ३५ ।

मणिकर्णिका के चतुर्दिक् (चौगिर्द) उतने तीर्थ वर्तमान हैं, जिनसे तिलमात्र भी भूमि शून्य (खाली) नहीं है ॥ ३१ ।

जिसके कुल में कोई एक भी मणिकर्णिका पर पहुँच (देहत्याग) कर मुक्त हो गया है, उसके वंश में उत्पन्न संतानगण भी उसी प्रभाव से स्वर्गवासी देवताओं के मान्य हो जाते हैं ॥ ३२ ।

मणिकर्णिका पर जाकर जिसने पितरों का तर्पण किया, उसने अपने पूर्व के और अपने अनन्तर के सात-सात पुरखों का उद्धार कर दिया ॥ ३३ ।

गंगा के मध्यभाग से लेकर स्वर्गद्वारपर्यन्त (पूर्व से पश्चिम) और हरिश्चन्द्रेश्वर से लेकर गंगाकेशवपर्यन्त (उत्तर से दक्षिण) मणिकर्णिका का परिमाण है ॥ ३४ ।

त्रिभुवन भी इस मणिकर्णिका की धूलिकण के तुल्य नहीं है । त्रैलोक्यस्थित समस्त जन्मधारी इसी की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं ॥ ३५ ।

कलावती चित्रपटीं पश्यन्तीत्थं मुहुर्मुहुः।
ज्ञानवापीं ददर्शाऽथ श्रीविश्वेश्वरदक्षिणे ॥ ३६।
यदम्बु सततं रक्षेद्दुर्वृत्ताद्दण्डनायकः।
सम्भ्रमो विभ्रमश्चासौ[1] दत्त्वा भ्रान्तिं गरीयसीम् ॥ ३७।
योऽष्टमूर्तिर्महादेवः पुराणे परिपठ्यते।
तस्यैषाम्बुमयी मूर्तिर्ज्ञानदा ज्ञानवापिका ॥ ३८।
नेत्रयोरतिथीकृत्य ज्ञानवापीं कलावती।
कदम्बकुसुमाकारां बभार क्षणतस्तनुम् ॥ ३९।
अङ्गानि वेपथुं प्रापुः स्विन्ना भालस्थली भृशम्।
हर्षवाष्पाम्बुकलिले जाते तस्य विलोचने ॥ ४०।
तस्तम्भ गात्रलतिका मुखं वैवर्ण्यमाप च।
स्वरोऽथ गद्‌गदो जातो व्यभ्रंशत्तत्करात्पटी ॥ ४१।

रक्षणे हेतुमाह। योऽष्टमूर्तिरिति। पञ्चभूतसोमसूर्यात्मान आत्मानं त्यक्त्वा दीक्षितब्राह्मणान्ता वाष्टौ मूर्तयः ॥ ३८।

कदम्बकुसुमाकारां कदम्बकुसुमवद्रोमाञ्चितास् ॥ ३९।

स्विन्ना स्वेदार्द्रा श्लथद्रूपा वा। हर्षवाष्पाम्बुना कलिले व्यामिश्रे। वाष्पाम्बुनेति सामान्यविशेषभावान्न पौनरुक्त्यम्, विलोचने विशिष्टे लोचने इति द्विवचनम् ॥ ४०।

तस्तम्भ निश्चलाऽभूत्। व्यभ्रंशद् अधः पपात ॥ ४१।

इसी प्रकार कलावती उस चित्रपटी (छवि-तसबीर-नक्शा) को बारम्बार देखती हुई, विश्वेश्वर के दक्षिणभाग में ज्ञानवापी को देखने लगी ॥ ३६।

उसके जल की दंडपाणि और उनके संभ्रम, विभ्रम दोनों गण बड़ी भारी भ्रान्ति उत्पादन कर कुकर्मियों से सदा रक्षा करते रहते हैं ॥ ३७।

पुराणादि में जो अष्टमूर्ति महादेव पठित हैं। यह उन्हीं की जलमयी मूर्ति ज्ञानदात्री ज्ञानवापी है ॥ ३८।

कलावती ज्ञानवापी को दृष्टिगोचर करते ही क्षणमात्र में कदम्बपुष्प के समान रोमांचित-शरीर हो गई ॥ ३९।

उसके सब अंग काँपने लगे और दोनों नेत्र आनन्दाश्रु से डबडबा उठे ॥ ४०।

शरीर निश्चल हो गया। मुख का रंग फिर गया। कण्ठ रुक जाने से स्वर गद्‌गद हो गया और वह पटी उसके हाथ से गिर पड़ी ॥ ४१।

---

१. श्चापोत्यपि क्वचित्पाठः।

सा क्षणं स्वं विसस्मार काऽहं क्वाऽहं न वेत्ति च ।
सौषुप्तायां दशायां च परमात्मेव निश्चला ॥ ४२ ।
अथ तत्परिचारिण्यस्त्वरमाणा इतस्ततः ।
किं किं किमेतदेतत्किं पृच्छन्ति स्म परस्परम् ॥ ४३ ।
तदवस्थां समालोक्य तां ताश्चतुरचेतसः ।
विज्ञाय सात्त्विकैर्भावैरिदमूचुः परस्परम् ॥ ४४ ।
भवान्तरे प्रेमपात्रमेतयैक्षि तु किञ्चन ।
चिरात्तेन च सङ्गत्य सुखमूर्च्छामवाप ह ॥ ४५ ।
अथ नेत्थं कथमियमकाण्डात्पर्यमूमुहत् ।
प्रेक्षमाणा रहश्चित्रपटीमतिपटीयसीम् ॥ ४६ ।

स्वं देहम् । सौषुप्तायां सुषुप्तसम्बन्धिन्याम् ॥ ४२ ।

सा कदम्बकुसुमाकारत्वादिरूपावस्था यस्याः सा तदवस्था ताम् । विज्ञाय तामवस्थामिति शेषः ॥ ४४ ।

ऐक्षि दृष्टम् ॥ ४५ ।

अथेति चेदर्थे । इत्थं न चेत् कथमियमकाण्डादनवसरात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । अकाण्डं प्राप्य पर्यमूमुहत् सर्वतोभावेन मोहं प्राप्तवतीत्यर्थः । अतिपटीयसीमतिशयेन पटुतराम् ॥ ४६ ।

क्षणभर के लिये वह अपने को भी भूल गई मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? यह भी उसे स्मरण न रहा । शयन करने की अवस्था में केवल परमात्मा के समान निश्चलभाव में पड़ी रही ॥ ४२ ।

अनन्तर उसकी परिचारिकायें इधर से उधर त्वरा करती हुई "अरे ! यह क्या हुआ, यह क्या हुआ," यही कहती हुई परस्पर एक दूसरे से पूछने लगीं ॥ ४३ ।

(उनमें से) चतुरचित्त दासियों ने सात्त्विक-भावों से उसकी अवस्था को देख विचार कर परस्पर यह कहा कि इसने जन्मान्तर के किसी प्रेमपात्र को देख लिया है । यही कारण है कि बहुत दिन के अनन्तर संगति प्राप्त होने से ही इनको सुख की मूर्छा आ गई है ॥ ४४-४५ ।

यदि यह बात न होती तो यह सहसा (बे-मौके) अत्यन्त सुन्दर चित्रपटी को एकान्त में देखती-देखती क्यों ऐसी मूर्छित हो जातीं ? ॥ ४६ ।

तन्मोहस्य निदानं ताः सम्यगेव विचार्य च ।
उपचेरुर्महाशान्तैरुपचारैरनाकुलम् ॥ ४७ ॥
काचित्तां वीजयाञ्चक्रे कदलीतालवृन्तकैः ।
बिसिनीवलयैरन्या धन्यां तां पर्यभूषयत् ॥ ४८ ॥
अमन्दैश्चन्दनरसैरभ्यषिञ्चदमुं पुरा ।
अशोकपल्लवैरस्याः काचिच्छोकमनीनशत् ॥ ४९ ॥
धारामण्डपधाराम्बुसीकरैस्तत्तनूलताम् ।
इष्टार्थविरहग्लानां सिञ्चयामास काचन ॥ ५० ॥
जलार्द्रवाससा काचिदेतस्यास्तनुमावृणोत् ।
कर्पूरक्षोदजालेपैरन्यास्तामन्वलेपयन् ॥ ५१ ॥

तन्मोहस्यनिदानं स चासौ मोहश्च तस्यां वा मोहस्तन्मोहस्तस्य कारणम् । उपचर्यते एभिरित्युपचारा व्यजनादयस्तैरनाकुलमनाबाधं यथा स्यात्तथा उपचेरुरुपचारांश्चक्रुः ॥ ४७ ॥

उपचारानेव दर्शयति । काचिदित्यारभ्य सापीष्टेत्यतः प्राक्तनेन । वृन्तकैर्व्यजनैः । बिसिनीवलयैः पद्मिनीकटकैः । पर्यभूषयद् भूषयाञ्चकार ॥ ४८ ॥

अमन्दैः स्निग्धैः । अनीनशन्नाशयामास ॥ ४९ ॥

कर्पूरक्षोदजालेपैः कर्पूरचूर्णजैरालेपैः ॥ ५१ ॥

उन सबों ने इसी प्रकार से उसकी मूर्छा के कारण को विचार कर अच्छी स्थिर-रीति से अत्यन्त शान्त उपचार आरम्भ किया ॥ ४७ ॥

उन सबों में से कोई तो केला का पंखा झलने लगी। कोई हाथ आदि में मृणाल का कड़ा पहिराने लगी ॥ ४८ ॥

दूसरी कोई शीतल सुगन्धित चन्दन का लेपन ही करने लगी। अन्य अशोक के पत्तों से उसका शोक दूर करने लगी ॥ ४९ ॥

कोई प्रियवस्तु के विरह से मुरझुराती हुई उसकी तनु-लता पर फुहारा की धारा से सींचने लगी ॥ ५० ॥

किसी ने जल के ओदे (आर्द्र) कपड़े से उसकी देह ढाँप दी, दूसरी ने कपूर के चूर्ण का उसको लेपन कर दिया ॥ ५१ ॥

पद्मिनीदलशय्यां च काचिद् व्यरचयन्मृदुम् ।
काचित्कुलिशनेपथ्यं दूरीकृत्य तदङ्गतः ॥ ५२ ।
मुक्ताकलापं रचयाञ्चक्रे वक्षोजमण्डले ।
काचिच्छशिमुखी तां तु चन्द्रकान्तशिलातले ॥ ५३ ।
स्वापयामास तन्वङ्गीं स्रवच्छीताम्बुशीतले ।
दृष्ट्वापचार्यमाणां तामित्थं बुद्धिशरीरिणी ॥ ५४ ।
अतितापपरीताङ्गी ताः सखीः प्रत्यभाषत ।
एतस्यास्तापशान्त्यर्थं जानेऽहं परमौषधम् ॥ ५५ ।
उपचारानिमान् सर्वान् दूरीकुरुत माचिरम् ।
अपतापां करोम्येनां सद्यः पश्यत कौतुकम् ॥ ५६ ।
दृष्ट्वा चित्रपटीमेषा सद्यो विह्वलतामगात् ।
अत्रैव काचिदेतस्याः प्रेमभूरस्ति निश्चितम् ॥ ५७ ।
अतश्चित्रपटीस्पर्शात् परितापं विहास्यति ।
वाक्याद्बुद्धिशरीरिण्यास्ततस्तत्परिचारिकाः ॥ ५८ ।

कुलिशनेपथ्यं वज्रालङ्करणम् ॥ ५२ ।
बुद्धियुक्तं शरीरं वर्तते यस्याः सा बुद्धिशरीरिणीति सान्वया संज्ञा ॥ ५४ ।
माचिरं शीघ्रम् । सत्वरमिति क्वचित् ॥ ५६ ।
तत्परिचारिकाः कलावत्याः सख्यः ॥ ५८ ।

किसी ने उसके लिये कमलदल (पंखुरी) की कोमल शय्या बनायी। कोई-कोई उसके अंगों पर से हीरा के भूषण उतार कर वक्षोजमण्डल पर मुक्ताहार पहिनाने लगी और कोई चन्द्रमुखी, स्रवते हुए ठण्ढे जल से शीतल चन्द्रकान्तमणि के शिलातल पर उस कृशांगी को सुलाने लगी। इसी प्रकार से उन सबों को उपचार करती हुई देखकर बुद्धिशरीरिणी नाम की एक सखी ने अत्यन्त सन्तप्त होकर उन सखियों से कहा, मैं इसका ताप दूर करने की परम औषधि जानती हूँ ॥ ५२-५५ ।

तुम लोग इन सब उपचारों को दूर हटा दो, मैं इन्हें अभी मूर्छारहित किये देती हूँ। टुक कौतुक (जरा तमाशा) तो देखती जाओ ॥ ५६ ।

यतः यह इसी चित्रपटी को देखकर अभी विह्वल हो गई हैं, अतः यह निश्चय है कि इसी में इनकी कोई प्रेमभूमि है ॥ ५७ ।

अतएव इसी चित्रपटी के स्पर्श करा देने से यह सन्ताप त्याग देवेंगी। अनन्तर बुद्धिशरीरिणी के कहने से उसकी दासियों ने उसके सम्मुख चित्रपटी रखकर कहा,

निधाय तत्पुरः प्रोचुः पटीं पश्य कलावति।
तवानन्दकरी यत्र काचिदस्तीष्टदेवता ॥ ५९ ।
साऽपीष्टदेवतानाम्ना तत्पटीदर्शनेन च।
सुधासेकमिव प्राप्य मूर्च्छां हित्वोत्थिता द्रुतम् ॥ ६० ।
अवग्रहपरिम्लाना वर्षासारैरिवौषधीः।
पुनरालोकयाञ्चक्रे ज्ञानदां ज्ञानवापिकाम् ॥ ६१ ।
स्पृष्ट्वा कलावती तां तु वापीं चित्रगतामपि।
लेभे भवान्तरज्ञानं यथासीत् पूर्वजन्मनि ॥ ६२ ।
पुनर्विचारयाञ्चक्रे वापीमाहात्म्यमुत्तमम्।
अहो चित्रगताऽपीयं संस्पृष्टा ज्ञानवापिका ॥ ६३ ।
ज्ञानं मे जनयामास भवान्तरसमुद्भवम्।
अथ तासां पुरो हृष्टा कथयामास सुन्दरी ॥ ६४ ।
निजं प्राग्भववृत्तान्तं ज्ञानवापीप्रभावजम्।

कलावत्युवाच—

एतस्माज्जन्मनः पूर्वमहं ब्राह्मणकन्यका ॥ ६५ ।

अवग्रहेण वृष्टिप्रतिघातेन सूर्यतापेनेति यावत्। परिम्लाना ईषच्छुष्काः। ओषधीरोषध्यः ॥ ६१ ।

सखि कलावति! यह चित्रपटी देखो, जिसमें तुम्हारे आनन्दकर इष्टदेवता (वर्तमान) हैं ॥ ५८-५९ ।

वह इष्टदेवता का नाम सुनने और उस पटी के देखने से अमृतधारा के द्वारा मानो सिक्त होकर तुरत मूर्छा छोड़ (चैतन्य हो) उठ बैठी ॥ ६० ।

सूर्य के ताप से मुरझुराई हुई औषधियों पर वृष्टि की धारा होने से जैसे वे हरी-भरी हो जाती हैं, वैसी ही प्रफुल्ल हो, ज्ञानदात्री ज्ञानवापी को वह देखने लगी ॥ ६१ ।

अनन्तर उस कलावती ने चित्रस्थित भी ज्ञानवापी का स्पर्श करके पूर्वजन्म में जैसी थी, उस जन्मान्तर के ज्ञान को प्राप्त किया ॥ ६२ ।

वह मन ही मन ज्ञानवापी का माहात्म्य विचार करने लगी—अहो! क्या ही विचित्रता है कि चित्रगत भी इस ज्ञानवापी ने स्पर्श करने से मेरे जन्मान्तर के समुद्भूत ज्ञान को उत्पन्न कर दिया। तदनन्तर वह सुन्दरी उन सब (सखियों) के आगे ज्ञानवापी के प्रभाव से उत्पन्न अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त हर्षित होकर कहने लगी। कलावती बोली—"इस जन्म से पूर्व मैं ब्राह्मण की कन्या थी ॥ ६३-६५ ।

उपविश्वेश्वरं काश्यां ज्ञानवाप्यां रमे मुदा।
जनको मे हरिस्वामी जनयित्री प्रियंवदा ॥ ६६ ।
आख्या मम सुशीलेति मां च विद्याधरोऽहरत् ।
मध्येमार्गं निशीथेऽथ तदोपमलयाचलम् ॥ ६७ ।
रक्षसा सह हतो वीरो राक्षसं स जघान ह ।
रक्षोऽपि मुक्तं शापात्तु दिव्यं वपुरवाप ह ॥ ६८ ।
अवाप जन्म गन्धर्वस्त्वसौ मलयकेतुतः ।
कर्णाटनृपतेः कन्या बभूवाऽहं कलावती ॥ ६९ ।
इति ज्ञानं ममोद्भूतं ज्ञानवापीक्षणात्क्षणात् ।
इति तस्या वचः श्रुत्वा साऽपि बुद्धिशरीरिणी ॥ ७० ।
ताश्च तत्परिचारिण्यः प्रहृष्टास्यास्तदाऽभवन् ।
प्रोचुस्तां प्रणिपत्याऽथ पुण्यशीलां कलावतीम् ॥ ७१ ।
अहो कथं हि सा लभ्या यत्प्रभावोऽयमीदृशः ।
धिग्जन्म तेषां मर्त्येऽस्मिन् यैर्नैक्षि ज्ञानवापिका ॥ ७२ ।

उपविश्वेश्वरं विश्वेश्वरसमीपे ॥ ६६ ।

मध्येमार्गं मार्गस्य मध्ये । उपमलयाचलं मलयाचलसमीपे ॥ ६७ ।

काशी में विश्वेश्वर के समीप ज्ञानवापी पर मुदित होकर खेला करती थी। मेरे पिता का नाम हरिस्वामी और माता का नाम प्रियंवदा था ॥ ६६ ।

मेरा नाम सुशीला था, मुझको एक विद्याधर ने हरण कर लिया। अनन्तर अर्धरात्रि के समय मार्ग में ही मलयाचल के सन्निकट एक राक्षस ने उस वीर को मारा और उसने भी उस राक्षस का वध किया। वह राक्षस तो शाप से छूट दिव्यदेहधारी होकर चला गया और वही विद्याधर इस घड़ी मलयकेतु के पुत्र हुए हैं, एवं मैं भी कर्णाटक देश के राजा की बेटी कलावती हुई हूँ ॥ ६७-६९ ।

ज्ञानवापी के दर्शन करने से क्षणमात्र में यह ज्ञान मुझे उत्पन्न हुआ है"। इस प्रकार से उसका वचन सुनकर वह बुद्धिशरीरिणी और अपरापर दासियाँ तुरत प्रसन्नवदन हो गईं। अनन्तर उस पुण्यशीला, कलावती को प्रणाम कर बोलीं ॥७०-७१।

"अहो ! ज्ञानवापी को कैसा (अद्भुत) प्रभाव है, (भला) वह किस प्रकार से प्राप्त हो सकती है ? जिन लोगों ने ज्ञानवापी को नहीं देखा, इस मर्त्यलोक में उनके जन्म (लेने) को धिक्कार है !!! ॥ ७२ ।

कलावति नमस्तुभ्यं कुरु नोऽपि समीहितम् ।
जनिं सफलयास्माकं नय नः प्रार्थ्य भूपतिम् ।। ७३ ।
अयं च नियमोऽस्माकमद्यारभ्य कलावति ।
निर्वेक्ष्यामो महाभोगान् दृष्ट्वा तां ज्ञानवापिकाम् ।। ७४ ।
अवश्यं ज्ञानवापी सा नाम्ना भवितुमर्हति ।
चित्रं चित्रगताऽपीह या तव ज्ञानदायिनी ।। ७५ ।
ॐकृत्य तासां वाक्यं सा स्वाकारं परिगोप्य च ।
प्रियाणि कृत्वा भूभर्तुः प्रस्तावज्ञा व्यजिज्ञपत् ।। ७६ ।

कलावत्युवाच—

जीवितेश न मे त्वत्तः किञ्चित् प्रियतरं क्वचित् ।
त्वामासाद्य पतिं राजन् प्राप्ताः सर्वे मनोरथाः ।। ७७ ।

निर्वेक्ष्यामोऽतितरां प्राप्स्यामः । महाभोगादिति पाठे निर्वेक्ष्यामो निर्विण्णा भविष्याम इत्यर्थः ।। ७४ ।

सा भक्तेभ्यो ज्ञानमुप्यते दीयतेऽनयेति ज्ञानवापीनाम्ना यथार्थाख्या भवितुमर्हतीत्यर्थः ।। ७५ ।

ॐकृत्य स्वीकृत्य स्वाकारं पटीदर्शनेन सात्त्विकभावेन विवशं शरीरं परिगोप्याच्छाद्य पूर्ववत् कृत्वेत्यर्थः । व्यजिज्ञपद् विज्ञापयामास ।। ७६ ।

कलावति ! हम सब तुम्हारे चरणों पर पड़ती हैं, हम लोगों का अभिलाष पूर्ण करो । तुम महाराज से प्रार्थना कर हम सब को वहाँ ले चलो और (हम लोगों का) जन्म सार्थक करो ।। ७३ ।

(राज्ञि, कलावति !) हम सब आज से प्रतिज्ञा कर लेती हैं कि उस ज्ञानवापी को देखकर (तभी) महाभोगों का उपभोग करेंगी ।। ७४ ।

उसका नाम ज्ञानवापी पड़ना अवश्य ही उचित है, जिसने चित्रगत होने पर भी तुमको यह (विचित्र) ज्ञान-दान किया है" ।। ७५ ।

इसके पीछे कलावती उन सबों से हामी भर और अपना आकार छिपाकर (एक दिन) राजा के प्रियकर्मों के समाप्त करने पर उचित अवसर देख (उनसे) प्रार्थना करने लगी ।। ७६ ।

कलावती बोली—

"जीवितेश ! आपसे बढ़कर कहीं भी मेरा प्रियतर वस्तु नहीं है, आपको पति पाकर मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं ।। ७७ ।

एको मनोरथः प्राथ्यों ममाऽस्त्यत्राऽऽर्यपुत्रक ।
विचारपथमापन्नस्तवाऽपि स महाहितः ॥ ७८ ।
मम तु त्वदधीनायाः सुदुष्प्रापतरो महान् ।
तव स्वाधीनवृत्तेस्तु सिद्धप्रायो मनोरथः ॥ ७९ ।
प्राणेश किं बहूक्तेन यदि प्राणैः प्रयोजनम् ।
तदाऽभिलषितं देहि प्राणा यास्यन्त्यथाऽन्यथा ॥ ८० ।
प्राणेभ्योऽपि गरीयस्यास्तस्या वाक्यं निशम्य सः ।
उवाच वचनं राजा तस्याः स्वस्याऽपि च प्रियम् ॥ ८१ ।

राजोवाच—

नाऽहं प्रिये तवादेयमिह पश्यामि भामिनि ।
प्राणा अपि मम क्रीतास्त्वया शीलकलागुणैः ॥ ८२ ।

आपन्नः प्राप्तः ॥ ७८ ।

अन्यथाऽभिलषितस्यादानेऽथाऽनन्तरमेव प्राणा यास्यन्तीत्यन्वयः । मेऽन्यथेति क्वचित् ॥ ८० ।

गरीयस्या अधिकायाः ॥ ८१ ।

क्रीताः स्वाधीनाः कृता इत्यर्थः । क्रान्त इति वा पाठः । कैः ? शीलकलागुणैः, शीलं सत्स्वभावः, कलाश्चतुःषष्टिविधाः । गुणाः पातिव्रत्याद्याः, तैः ॥ ८२ ।

आर्यपुत्र ! केवल एक ही मेरी कामना प्रार्थनीय है। विचारपूर्वक देखने से वह आपको भी महाहितकर जान पड़ेगी ॥ ७८ ।

मुझे तो वह आपके आधीन होने से बहुत ही दुष्प्राप्य है; परन्तु आप ऐसे स्वाधीनवृत्ति का मनोरथ तो सिद्धप्राय ही रहता है ॥ ७९ ।

प्राणनाथ ! बहुत क्या कहूँ, यदि मेरे प्राणों से (आपको) कुछ भी प्रयोजन है, तो मेरा वह मनोरथ पूर्ण कीजिये, नहीं तो प्राण चले ही जावेंगे" ॥ ८० ।

राजा प्राण से भी परम प्रिया उस कलावती के वचन को सुनकर उसकी और अपनी भी हितकर वाणी कहने लगा ॥ ८१ ।

राजा ने कहा—

"प्रिये ! भामिनि ! मैं इस संसार में तुमको देने योग्य न होवे, ऐसा कुछ भी नहीं देखता, तुमने तो (अपने) शील-कला और गुणों से मेरे प्राणों को भी क्रीत (खरीद) लिया है ॥ ८२ ।

अविलम्बितमाचक्ष्व कृतं विद्धि कलावति।
भवद्विधानां साध्वीनां मन्येऽप्राप्यं न किञ्चन ॥ ८३ ।
कः प्रार्थ्यः प्रार्थनीयं किं को वा प्रार्थयिता प्रिये।
न पृथग्जनवत्किञ्चिद्वर्तनं नौ कलावति ॥ ८४ ।
देशः कोशो बलं दुर्गं यदन्यदपि भामिनि।
तत्त्वदीयं न मे किञ्चित् स्वाम्यमात्रमिहास्ति मे ॥ ८५ ।
तच्च स्वाम्यं ममाऽन्यत्र त्वदृते जीवितेश्वरि।
राज्यं त्यजेयं त्वद्वाक्यात्तृणीकृत्याऽपि मानिनि ॥ ८६ ।
माल्यकेतोर्महीजानेरिति वाक्यं निशम्य सा।
प्राह गम्भीरया वाचा वचश्चारु कलावती ॥ ८७ ।

प्रार्थ्य-प्रार्थनीय-प्रार्थयितॄणामभावादपि तवाप्राप्यं नास्तीत्याह। क इति। प्रार्थ्यो याच्यः। पृथग्जनवत् प्राकृतलोकवत्। नौ आवयोः॥ ८४।

उक्तं विवृणोति। देश इति। देशो जनपदः। कोशो भाण्डागारः। बलं हस्त्यश्वरथपादातम्। दुर्गं वार्क्षं पार्वतमौदकं कृत्रिमं च। तत्र वार्क्षं वृक्षनिर्मितम्। पार्वतं पर्वतनिर्मितम्। पर्वतभवं वा। औदकमुदकनिर्मितम्। कृत्रिमं प्राकारादि। यदन्यच्छत्रचामरादि तत्सर्वं त्वदीयमेव मे मम न किञ्चित्; किन्तु स्वामिन इदं स्वाम्यं तन्मात्रमेव ममाऽस्ति ॥ ८५।

तच्च मम स्वाम्यं त्वदृते त्वां विनाऽन्यत्र। अहमपि त्वदीय एवेत्यर्थः ॥ ८६।

महीजानेः पृथ्वीभर्तुः ॥ ८७।

कलावति! (जो हो उसे) झटपट कह दो और उसे हुआ ही समझो। मेरे जान तो तुम्हारो जैसी पतिव्रताओं को कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥ ८३।

अयि प्रिये! कलावति! किसके पास किस वस्तु की प्रार्थना करनी है? अथवा प्रार्थयिता ही कौन है? (क्योंकि) मेरा, तुम्हारा वर्ताव तो साधारण लोगों के समान नहीं है॥ ८४।

भामिनि! यह राज (पाट), कोश, सैन्य, दुर्ग और अन्य जो कुछ है, वह सब तुम्हारा ही है। मेरा तो कुछ भी नहीं है। मैं तो नाममात्र का स्वामी (बना बैठा) हूँ॥ ८५।

प्राणेश्वरि! वह मेरा प्रभुत्व भी तुमसे भिन्न अन्य सब पर है। अयि मानिनि! तुम्हारे कहने से मैं राज्य को भी तृणवत् त्याग सकता हूँ" ॥ ८६।

इस प्रकार से माल्यकेतु राजा के वाक्य को सुनकर कलावती गम्भीर स्वर से कहने लगी॥ ८७।

कलावत्युवाच—

नाथ प्रजासृजा पूर्वं सृष्टा नानाविधाः प्रजाः ।
प्रजाहिताय संसृष्टं पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥ ८८ ।
तद्विहीना जनिरपि जलबुद्बुदवन्मुधा ।
तस्मादेकोऽपि संसाध्यः परत्रेह च शर्मणे ॥ ८९ ।
यत्राऽनुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ।
यदुच्यते पुरा विद्भिरिति तत्तथ्यमीक्षितम् ॥ ९० ।
मद्विधानां तु दासीनां शतं तेऽस्तीह मन्दिरे ।
तथापि नितरां प्रेम स्वामिनो मयि दृश्यते ॥ ९१ ।
तव दास्यपि भोगाढ्या किमुतांकस्थली चरी ।
तत्राप्यनन्यसम्पत्तिस्तत्र स्वाधीनभर्तृता ॥ ९२ ।
विपश्चित् संचयेदर्थानिष्टापूर्ताय कर्मणे ।
तपोऽर्थमायुर्निर्विघ्नं दारांश्चापत्यलब्धये ॥ ९३ ।

जनिर्जन्म ॥ ८९ ।

न विद्यतेऽन्या यस्याः सा अनन्या, अनन्या चासौ सम्पत्तिश्चेति तथा । अपत्य-सम्पत्तिरिति क्वचित्पाठः ॥ ९२ ।

कलावती ने कहा—

"नाथ ! विधाता ने पूर्व में नानाभाँति के प्रजागण की सृष्टि की । फिर उन सब के हितार्थ ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन (चारों पुरुषार्थों) को बनाया ॥८८।

उन पुरुषार्थों से हीन होने पर जल के बुल्ला-सा यह जन्म निरर्थक है । अतएव उन चारों में से उभय लोक के कल्याणनिमित्त अन्ततः एक पुरुषार्थ का भी साधन कर लेना उचित है ॥ ८९ ।

जहाँ पर स्त्री-पुरुष दोनों में सद्भाव रहता है, वहाँ पर त्रिवर्ग की वृद्धि ही होती रहती है, ऐसा जो प्राचीन विज्ञ लोग कहते हैं, वह यथार्थ ही दिखलाई पड़ता है ॥ ९० ।

आपके भवन में मुझ-सी सैकड़ों दासियाँ विद्यमान हैं; परन्तु स्वामी का मुझ पर बहुत ही घनिष्ट प्रेम दिखाई देता है ॥ ९१ ।

आपकी दासी होना भी बड़े सौभाग्य की बात है । फिर अंकशायिनी का कहना ही क्या है ? उस पर भी सन्तानरत्न की सम्पत्ति और स्वाधीनभर्तृता (सुतरां मेरी समझ में तो मुझ-सी सौभाग्यवती दूसरी विरल ही स्त्री होगी) ॥ ९२ ।

विद्वान् इष्टापूर्त कर्म के निमित्त अर्थ, तपस्या करने के निमित्त निर्विघ्न आयुष्य और अपत्यलाभार्थ ही स्त्री का संग्रह करते हैं ॥ ९३ ।

तवैतत्सर्वमस्तीह विश्वेशानुग्रहात्प्रिय ।
पूरणीयोऽभिलाषो मे यदि तद्वच्म्यहं शृणु ॥ ९४ ।
तूर्णं प्रहिणु मां नाथ विश्वनाथपुरीं प्रति ।
प्राणाः प्रयाताः प्रागेव वपुःशेषाऽस्मि केवलम् ॥ ९५ ।
माल्यकेतुः कलावत्या इत्याकर्ण्य वचः स्फुटम् ।
क्षणं विचार्य स्वहृदि राजा प्रोवाच तां प्रियाम् ॥ ९६ ।
प्रिये कलावति यदि तव गन्तव्यमेव हि ।
राज्यलक्ष्म्याऽनया किं मे चलया त्वद्विहीनया ॥ ९७ ।
न राज्यं राज्यमित्याहू राज्यश्रीः प्रेयसी ध्रुवम् ।
सप्ताङ्गमपि तद्राज्यं तया हीनं तृणायते ॥ ९८ ।
निःसपत्नं कृतं राज्यं भुक्त्वा भोगान्निरन्तरम् ।
हृषीकार्थाः कृतार्थाश्च विधृता आधृतिः प्रिये ॥ ९९ ।

प्रहिणु प्रस्थापय ॥ ९५ ।

स्वहृदि स्वान्तःकरणे । सद्हृदीति क्वचित् । सुहृदीति चान्यत्र ॥ ९६ ।

प्रेयसी प्रेमवती महिषी । सप्ताङ्गमिति । स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रबलानि चेति सप्ताङ्गानि । तृणायते तृणवदाचरति ॥ ९८ ।

निरन्तरं भोगान् भुक्त्वा हृषीकार्था इन्द्रियार्थाश्च विषयाः कृतार्थाः कृता इति

प्रियतम ! विश्वेश्वर के अनुग्रह से यह सभी कुछ आपको प्राप्त हो चुका है। नाथ ! यदि आप मेरी अभिलाषा पूर्ण करने योग्य समझते हैं, तो मैं निवेदन करती हूँ, आप सुनें ॥ ९४ ।

(वह यही है कि) मुझे शीघ्रता से काशीपुरी में भिजवा दीजिये । (क्योंकि) मेरे प्राण तो पूर्व से ही वहाँ जा चुके हैं। यहाँ पर तो केवल शरीर मात्र रह गया है" ॥ ९५ ।

माल्यकेतु राजा ने कलावती के इस स्फुट वचन को सुन, क्षणमात्र अपने मन में विचार कर उस प्रिया से कहा ॥ ९६ ।

"प्रिये कलावति ! यदि तुमको अवश्य जाना ही है, तो तुमसे विहीन इस चंचल राज्यलक्ष्मी से मुझे कौन प्रयोजन है ? ॥ ९७ ।

यह सातों अंगों के सहित जो राज्य है, वह राज्य नहीं कहलाता। प्रियतमा ही निश्चय राजलक्ष्मी है, अतएव तुम्हारे विना यह राज्य मेरे लिये तृण के समान तुच्छ है ॥ ९८ ।

प्रिये ! मैंने निष्कंटक राज्य किया, निरन्तर भोगों का सुख भोगकर इन्द्रियों के विषय भी कृतार्थ कर दिये और चारों ओर से धैर्य भी धारण कर लिया ॥ ९९ ।

अपत्यान्यपि जातानि किं कर्तव्यमिहाऽस्ति मे ।
अवश्यमेव गन्तव्याऽऽवाभ्यां वाराणसीपुरी ॥ १०० ।
माल्यकेतुः प्रियामित्थमाश्वास्य कृतनिश्चयः ।
समाहूय च दैवज्ञान् प्रकृतीः परिपूज्य च ॥ १०१ ।
पुत्रे राज्यं निधायाऽथ राजा काशीं प्रतस्थिवान् ।
रत्नजातं कियदपि पुत्रादर्थं प्रगृह्य च ॥ १०२ ।
दृष्ट्वा विश्वेश्वरपुरीं हृष्टरोमा नरेश्वरः ।
मेने कृतार्थमात्मानं संसाराम्बुधिपारगम् ॥ १०३ ।
प्राग्जन्मवासनायोगात् साऽपि राज्ञी कलावती ।
ग्रामान्तरादागतेव पुरीमार्गानवैत्स्वयम् ॥ १०४ ।
मणिकर्ण्यामथ स्नात्वा भूरि दत्त्वा ततो वसु ।
विश्वेशमर्चयित्वाऽथ रत्नजातैरनकेशः ॥ १०५ ।

बहुवचनेन परिणमय्य पूर्वक्रियया सम्बन्धः । जाता इति शेष इति वा । मुक्ता भोगास्त्वया सहेति क्वचित् । आधूतिरा समन्ताद्धैर्यं विशेषेण धृता विधृतेत्यर्थः ॥ ९९-१०० ।

प्रकृतीः पौरश्रेणीः ॥ १०१ ।

पुत्राद्रत्नजातमर्थं प्रगृह्येति सम्बन्धः । पुत्रदत्तमिति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ १०२ ।

अवैत् ज्ञातवती ॥ १०४ ।

अपत्य भी उत्पन्न हो चुके, अब संसार में मुझे क्या कर्तव्य (शेष) है ? अवश्य ही हम दोनों जन को वाराणसी पुरी में ही चलना योग्य है" ॥ १०० ।

माल्यकेतु ने इस प्रकार से पत्नी को समझाकर जाने का निश्चय कर, ज्योतिषियों को बुलवा, (शुभ मुहूर्त स्थिर किया) अनन्तर पुरवासी और अमात्यादि को सम्मानित कर, पुत्र के हाथ में राज्य का भार सौंप, और उन्हीं से कुछ धन एवं रत्नादिक लेकर काशी की यात्रा की ॥ १०१-१०२ ।

राजा माल्यकेतु विश्वनाथपुरी को देखते ही रोमांचित होकर अपने को संसार-सागर के पारंगत-सा कृतार्थ बोध करने लगे ॥ १०३ ।

उस रानी कलावती ने भी पूर्वजन्म की वासना के योग से समीप के ही दूसरे ग्राम से आगत जन के सदृश आप से आप पुरी के समस्त मार्गों को जान लिया ॥ १०४ ।

इसके अनन्तर (वे दोनों) मणिकर्णिका में स्नान, प्रचुर धन का दान, अनेक विध रत्न-समूहों से विश्वेश्वर का पूजन और रत्न, गज, अश्व, धेनु, व्रज, विचित्रवस्त्र,

दत्त्वा तत्रापि रत्नानि गजानश्वान् गवां व्रजम् ।
दुकूलानि विचित्राणि पूजोपकरणानि च ॥ १०६ ।
सुवर्णरूप्यकलशान् दीपीदर्पणचामरान् ।
ध्वजस्तम्भपताकाश्च विचित्रोल्लोचकानि च ॥ १०७ ।
अथ प्रदक्षिणीकृत्य मुक्तिमण्डपमाविशत् ।
तत्र धर्मकथां श्रुत्वा दत्त्वा तत्रापि सद्धनम् ॥ १०८ ।
सायन्तनीं महापूजां पुनः कृत्वा क्षितीश्वरः ।
तत्र जागरणं कृत्वा तौर्यत्रिकमहोत्सवैः ॥ १०९ ।
अथ प्रातः समुत्थाय कृत्वा शौचाचमक्रियाम् ।
राज्ञा विनिर्दिष्टपथा ज्ञानवापीं नृपो ययौ ॥ ११० ।
नृपः सार्धं कलावत्या तत्र सस्नौ प्रहृष्टवत् ।
अथ पिण्डान् स निर्वाप्य सन्तर्प्य श्रद्धया पितॄन् ॥ १११ ।
तत्र रूप्यसुवर्णादि पात्रेभ्यः प्रतिपाद्य च ।
दीनान्धकृपणानाथान् महार्हैं रत्नजातकैः ॥ ११२ ।

व्रजं समूहम्, दुकूलानि पट्टवस्त्राणि ॥ १०६ ।

दीपोऽस्याऽस्तीति दीपी दीपाधारयष्टिरित्यर्थः। दीप्यादीनां त्रयाणां द्वन्द्वः। दीर्घत्वमार्षम् । ध्वजस्तम्भयुक्ताः पताका ध्वजस्तम्भपताकाः । उल्लोचकानि चन्द्रातपानि ॥ १०७ ।

न्यायार्जितं धनं सद्धनम् उत्कृष्टं धनं वा ॥ १०८ ।

तौर्यत्रिकमहोत्सवैः नृत्यगीतवादित्रपूर्वकैर्महोत्सवैः ॥ १०९ ।

आचमक्रिया आचमनक्रिया । राज्ञा कलावत्या ॥ ११० ।

अनेकशः पूजोपकरण सुवर्ण और रूपे के कलश, दीवट, दर्पण, चामर, ध्वज, दण्ड, पताका, विचित्र चन्द्रातप (चन्दवा), इत्यादि वस्तुओं का वहाँ पर दान कर, प्रदक्षिणा के अनन्तर मुक्तिमण्डप में जा बैठे। वहाँ पर धर्मकथा का श्रवण कर, उत्तर धन दान कर, सायंकाल की महापूजा फिर से समाप्त कर, नृत्य-गीत-वाद्यादि महोत्सव के द्वारा रात्रि भर जागरण कर, पुनः प्रातःकाल उठ, शौच (कुल्ला) आदि क्रियाओं से निवृत्त हो, रानी के बतलाये हुए मार्ग से वह राजा ज्ञानवापी में गया ॥ १०५-११० ।

नरपति ने कलावती के सहित वहाँ पर प्रसन्नचित्त से स्नान किया, फिर पिण्डदान कर श्रद्धापूर्वक पितरों का तर्पण किया ॥ १११ ।

पश्चात् सत्पात्रों को रूप्य, सुवर्ण (रूपया, अशर्फी) वितरण करते हुए, दीन, अन्ध, कृपण और अनाथ लोगों को बहुमूल्य रत्नजातों से सन्तुष्ट कर, अनन्तर स्वयं

प्रीणयित्वा नरपतिः पारणां कृतवांस्ततः ।
संस्कार्यरत्नसोपानैर्ज्ञानवापीं कलावती ॥ ११३ ।
आबबन्ध रतिं तत्र सह भर्त्रा तपस्विनी ।
एकान्तरोपवासैश्च कदाचिच्च त्र्यहोव्रतैः ॥ ११४ ।
षडहो भोजनैश्चापि पक्षार्धनियमैरथ ।
पक्षान्तरोपवासैश्च मासोपवसनादिभिः ॥ ११५ ।
चान्द्रायणव्रतैः कृच्छ्रैः भर्तुः शुश्रूषणैरपि ।
निनाय क्षणवत्कालमायुःशेषस्य साऽनघा ॥ ११६ ।
एकदा ज्ञानवाप्यान्तु प्रातः स्नात्वोपविष्टयोः ।
आगत्य जटिलः कश्चिद्विभूतिं दत्तवान् करे ॥ ११७ ।
उवाच च प्रसन्नास्य आशीर्भिरभिनन्द्य च ।
उत्तिष्ठतं प्रकुरुतं महानेपथ्यमद्य वै ॥ ११८ ।
तारकोदयसम्प्राप्तिर्भवित्री वां क्षणादिह ।
यावदित्थं समाचष्ट जटिलोऽग्रे तयोर्वचः ॥ ११९ ।
तावद्विमानमापन्नं सक्वणत्किङ्किणीगणम् ।
पश्यतां सर्वलोकानां चन्द्रमौलिरथो रथात् ॥ १२० ।

महानेपथ्यं महदलङ्करणम् ॥ ११८ ।

क्वणता शब्दवता किङ्किणीगणेन सहितं सक्वणत्किङ्किणीगणम् । प्रक्वणत्किङ्किणीगणमिति क्वचित् ॥ १२० ।

पारण किया और कलावती ज्ञानवापी की सीढ़ियों को रत्नों से बँधवा कर पति के सहित, उस पर बड़ी ही भक्ति करने लगी । फिर वह तपस्विनी कभी एकान्तर उपवास कभी तीन दिन, छः दिन, सप्ताह, पक्ष और एक मास काल (पर्यन्त) उपवास आदि एवं कृच्छ्र, चान्द्रायण प्रभृति व्रतानुष्ठान और पति की (सेवा) शुश्रूषाओं से निष्पाप हो, जीवन के शेष भाग को क्षणकाल के सदृश बिताने लगी ॥ ११२-११६ ।

एक बार प्रातःकाल ज्ञानवापी में स्नान कर ज्यों ही वे दोनों (बाहर आ) बैठे, त्यों ही एक जटाधारी ने आकर उनके हाथ में विभूति दे दी ॥ ११७ ।

और प्रसन्नमुख हो आशीर्वाद देकर कहा, तुम दोनों उठो और अभी महाशृङ्गार करो ॥ ११८ ।

तुम दोनों को यहाँ पर क्षण मात्र में तारकोदय (मोक्ष) की प्राप्ति होवेगी । इस प्रकार से वह जटाधारी जब तक उन दोनों के आगे यह वचन कह रहा था, इसी बीच सब लोगों के सम्मुख किंकिणीगण से निनादित विमान आ पहुँचा । अनन्तर

उत्तीर्य तच्छ्रुतिपुटे किमपि स्वयमादिशत् ।
अनाख्यं यत्परं ज्योतिरुच्चक्राम च तत्क्षणात् ॥ १२१ ।
उद्द्योतयन्नभोवर्त्म देवोऽपि स्वालयं ययौ ।

स्कन्द उवाच—

तदा प्रभृति लोकेऽत्र ज्ञानवापी विशिष्यते ॥ १२२ ।
सर्वेभ्यस्तीर्थमुख्येभ्यः प्रत्यक्षज्ञानदा मुने ।
सर्वज्ञानमयी चैषा सर्वलिङ्गमयी शुभा ॥ १२३ ।
साक्षाच्छिवमयी मूर्त्तिर्ज्ञानकृज्ज्ञानवापिका ।
सन्ति तीर्थान्यनेकानि सद्यः शुचिकराण्यपि ॥ १२४ ।
परन्तु ज्ञानवाप्या हि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
ज्ञानवाप्याः समुत्पत्तिं यः श्रोष्यति समाहितः ।
न तस्य ज्ञानविभ्रंशो मरणे जायते क्वचित् ॥ १२५ ।

उत्तीर्याऽवतीर्य किमपि वाङ्मनसयोरगोचरं यद् ब्रह्मात्मैकत्वं तदादिशदुपदिष्टवान् । उपदेशानन्तरमनाख्यं यत्परं ज्योतिर्वाङ्मनसातीतं स्वप्रकाशं ब्रह्म तत्क्षणाच्छीघ्रमेवोच्चक्राम प्राप्तवान् । अर्थात्सकलावतीको माल्यकेतुरित्यर्थः । अथवा अनाख्यमित्यादेः पूर्वेणैवाऽन्वयः । उपदेशानन्तरं तद्विमानं क्षणादुच्चक्राम ऊर्ध्वमगमत् ॥ १२१ ।

तर्हि किं देवोऽत्रैव स्थितवान् ? नहीत्याह । उद्द्योतयन्निति । तेनैव विमानेन नभोवर्त्म द्योतयन् देवश्चन्द्रमौलिः स्वालयं कैलासं ययावित्यर्थः । यद्वा, नभोवर्त्म उद्द्योतयद्विमानमुच्चक्रामेत्यन्वयः । तर्हि देवः किं कृतवान् ? तत्राह । देवोऽपि स्वालयं वैश्वेश्वरं लिङ्गं ययौ स्वप्रकाशज्योतिर्मयवैश्वेश्वरलिङ्गे एकीभावं प्राप्तवानित्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ १२२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ।

भगवान् चन्द्रमौलि ने उस विमान से उतर कर उनके कर्णपुट में स्वयं कुछ उपदेश कर दिया । उसी क्षण अनाख्येय (अवर्णनीय) परंज्योति प्रकट होकर उड़ गई ।।११९-१२१।

भगवान् ने भी आकाशमार्ग को उद्दीपित करते हुए निज-स्थान को प्रस्थान किया ।

स्कन्द बोले—

मुने ! तभी से यह ज्ञानवापी संसार में समस्त प्रधान तीर्थों से श्रेष्ठ और प्रत्यक्ष ज्ञानदात्री मानी जाती है । यह ज्ञानवापी सर्वज्ञानमयी, सर्वलिंगमयी, ज्ञानकारिणी, शुभमयी, साक्षात् शिवमूर्ति है । यद्यपि सद्यः शुद्धि करने वाले अनेक तीर्थ वर्तमान हैं, तथापि वे सब ज्ञानवापी की षोड़शी कला के सदृश भी नहीं हो सकते । जो कोई

महाख्यानमिदं पुण्यं महापातकनाशनम् ।
महादेवस्य गौर्याश्च महाप्रीतिविवर्धनम् ॥ १२६ ।
पठित्वा पाठयित्वा वा श्रुत्वा वा श्रद्धयान्वितः ।
ज्ञानवाप्याः शुभाख्यानं शिवलोके महीयते ॥ १२७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ज्ञानवापीप्रशंसनं नाम
चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ।

मनोयोग देकर ज्ञानवापी को उत्पत्तिकथा को श्रवण करेगा, उसका मरणकाल में भी ज्ञानभ्रंश कहीं भी न होगा ॥ १२२-१२५ ।

यह पवित्र महाख्यान महापातक-नाशक और महादेव तथा पार्वती का महाप्रीतिवर्धक है ॥ १२६ ।

ज्ञानवापी के इस शुभ उपाख्यान का श्रद्धापूर्वक पठन-पाठन और श्रवण करने से (मनुष्य) शिवलोक में माननीय होता है ॥ १२७ ।

सों०—जेहि समान नहिं आन, कछु नहिं जेहि बिन बनि पड़े ॥
सकल ज्ञान की खान, वही ज्ञानवापी विदित ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ज्ञानवापीप्रशंसावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ।

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कुम्भयोनिरुवाच—

अविमुक्तं महाक्षेत्रं परं निर्वाणकारणम् ।
क्षेत्राणां परमं क्षेत्रं मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् ॥ १ ॥
श्मशानानां च सर्वेषां श्मशानं परमं महत् ।
पीठानां परमं पीठमूषराणां महोषणम् ॥ २ ॥
धर्माऽभिलाषिबुद्धीनां धर्मराशिकरं परम् ।
अर्थार्थिनां शिखिरथ परमार्थप्रकाशकम् ॥ ३ ॥
कामिनां कामजननं मुमुक्षूणां च मोक्षदम् ।
श्रूयते यत्र यत्रैतत्तत्र तत्र परामृतम् ॥ ४ ॥

पञ्चत्रिंशत्तमेऽध्याये सदाचारो निरूप्यते ।
सामान्येन चतुर्वर्णाश्रमाणां च विशेषतः ॥ १ ॥

ज्ञानवाप्याः कथाश्रवणजनितानन्दकदम्बेनात्यौत्सुक्यादुक्तानुवादपूर्वकमविमुक्तं स्तुत्वाऽविमुक्तप्रापकं सदाचारं पृच्छति । अविमुक्तमित्यादिना ॥ १ ॥

शिखिरथ मयूरवाहन ॥ ३ ॥

यत्र यत्र त्वया कथ्यमाने आख्याने । एतदविमुक्तम् ॥ ४ ॥

(सदाचार-निरूपण)

अगस्त्य कहने लगे—

'अविमुक्त महाक्षेत्र (तो) परम निर्वाण का कारण है। समस्त क्षेत्रों में परमक्षेत्र और मंगलों का भी मंगलस्वरूप है ॥ १ ॥

सब श्मशानों के मध्य में (यही) सर्वश्रेष्ठ महाश्मशान, अशेष पीठस्थानों में परम पीठ और सब ऊषर (क्षेत्रों) में बड़ा ऊषर है ॥ २ ॥

मयूरवाहन ! (यह क्षेत्र तो) धर्माभिलाषि बुद्धिवालों का परम धर्मराशि-संपादक एवं अर्थप्रार्थियों का परमार्थप्रकाशक है ॥ ३ ॥

(यह) कामोलोगों का कामोत्पादक, मुमुक्षुगण का मोक्षदाता है, आपके कथन में जहाँ ही सुनो, वहाँ ही यह क्षेत्र परममोक्षप्रद सुनाई पड़ता है ॥ ४ ॥

क्षेत्रैकदेशवर्तिन्या ज्ञानवाप्याः कथां परम् ।
श्रुत्वेमामिति मन्येऽहं गौरीहृदयनन्दन ॥ ५ ।
अणुप्रमाणमपि या मध्ये काशिविकासिनी ।
मही महीयसी ज्ञेया सा सिद्धयै न मुधा क्वचित् ॥ ६ ।
कियन्ति सन्ति तीर्थानि नेह क्षोणीतलेऽखिले ।
परं काशी रजोमात्रतुलासाम्यं क्व तेष्वपि ॥ ७ ।
कियन्त्यो न स्रवन्त्योऽत्र रत्नाकरमुदावहाः ।
परं स्वर्गतरंगिण्याः काश्यां का साम्यमुद्वहेत् ॥ ८ ।
कियन्ति सन्ति नो भूम्यां मोक्षक्षेत्राणि षण्मुख ।
परं मन्येऽविमुक्तस्य कोटयंशोऽपि न तेष्वहो ॥ ९ ।
गङ्गा विश्वेश्वरः काशी जागर्त्ति त्रितयं यतः ।
तत्र नैःश्रेयसी लक्ष्मीर्लभ्यते चित्रमत्र किम् ॥ १० ।

क्षेत्रेति । अणुप्रमाणं यथा स्यात्तथा मध्येकाशि काशीमध्ये या विकासिनी प्रख्याता प्रकाशिनीति वा अर्थात् कैवल्यस्य अत एव महीयसी महत्तरा मही वर्तते । सा सिद्धयै मुक्तये इति क्वचित् । कदाचिदपि मुधा मिथ्या नेति ज्ञानवाप्या इमां कथां श्रुत्वाऽहं मन्ये इति द्वयोरन्वयः ॥ ५-६ ।

रत्नाकरस्य समुद्रस्य मुदं हर्षमावहन्तीति रत्नाकरमुदावहाः ॥ ८ ।

काशीमूर्तिमती क्षेत्राधिष्ठात्री देवता । यतो यस्मिन् क्षेत्ररूपेऽविमुक्ते ॥ १० ।

हे गौरीहृदयनन्दन ! इस अविमुक्त क्षेत्र के एकदेशवर्तिनी ज्ञानवापी की उत्तम कथा सुनकर मैं यही मानता हूँ कि काशी के मध्य में अणुप्रमाण भी जो भूमि है, वह मुक्तिसिद्धि के लिये सर्वोत्तमा ही है, मुक्ति से शून्य तो कोई स्थान नहीं है ॥ ५-६ ।

इस अखिल महीतल में कितने तीर्थ नहीं हैं ? परन्तु उन सबों में काशी की धूलिकणिका की भी तुल्यता कहाँ है ? ॥ ७ ।

समुद्र को आनन्दित करने वाली कितनी ही नदियाँ पड़ी हैं, परन्तु काशी में गंगा की समानता कौन कर सकती है ? ॥ ८ ।

हे षण्मुख ! इस पृथिवी पर कितने ही मुक्तिक्षेत्र वर्तमान हैं; परन्तु मेरी समझ में वे सब अविमुक्त क्षेत्र के कोटि-अंश की भी योग्यता नहीं रखते ॥ ९ ।

जहाँ पर (साक्षात्) गंगा, विश्वेश्वर एवं काशी—ये तीनों ही जागरूक हो रहे हैं, वहाँ पर यदि मोक्षलक्ष्मी का लाभ हो जावे, तो इस विषय में आश्चर्य ही क्या है ? ॥ १० ।

कथमेषा त्रयी स्कन्द प्राप्यते नियतं नरैः ।
तिष्ये युगे विशेषेण नितरां चञ्चलेन्द्रियैः ॥ ११ ॥
तपस्तादृक् क्व वा तिष्ये तिष्ये योगः क्व तादृशः ।
क्व वा व्रतं क्व वा दानं तिष्ये मोक्षस्त्वतः कुतः ॥ १२ ॥
विनाऽपि तपसा स्कन्द विना योगेन षण्मुख ।
विना व्रतैर्विना दानैः काश्यां मोक्षस्त्वयेरितः ॥ १३ ॥
किं किमाचरता स्कन्द काशी प्राप्येत तद् वद ।
मन्ये विना सदाचारं न सिद्धयेयुर्मनोरथाः ॥ १४ ॥
आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः ।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारात्पापसंक्षयः ॥ १५ ॥

त्रयाणां गङ्गाविश्वेश्वरकाशीनां समाहारस्त्रयी। नियतमवश्यं यथा स्यात्तथेत्यर्थः ॥ ११ ।

त्वतः तु एव अत एव मोक्षः कुतः। तप आदेरभावात् सत्त्वशुद्धयभावादित्यर्थः ॥ १२ ।

तर्हि कलौ तप आदेरभावान्मोक्षो नास्त्येव किं नेत्याह । विनाऽपीति ॥ १३ ।

अतः काशीप्राप्त्युपायं वदेति पृच्छति। किं किमिति। तत्र तावन्मनोरथमात्राणां सदाचारप्राप्यत्वात्तत्स्तुतिपूर्वकं सदाचारमेव प्रथमं वदेत्याह। मन्य इति सार्धद्वाभ्याम् ॥ १४ ।

हे स्कन्द ! मनुष्यगण विशेषतः कलियुग में अत्यन्त चंचलेन्द्रिय लोग इस मूर्तित्रयी को कैसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं ? ॥ ११ ।

कलियुग में तादृश तपस्या कहाँ है ? अथ च तादृश योगाभ्यास ही कहाँ होता है ? एवं वैसा व्रत अथवा दान ही कहाँ (बन पड़ता) है ? तब कलियुग में मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ १२ ।

हे षडानन ! स्कन्द ! विना तपस्या, विना योगाभ्यास, विना व्रत और विनैव दान के आपने काशी में मोक्ष की प्राप्ति कहा है ॥ १३ ।

हे कार्तिकेय ! कौन-कौन से आचार करने से काशी प्राप्त हो सकती है, आप उन्हें कहें। मैं तों यही मानता हूँ कि विना सदाचार के (कभी) मनोंरथ नहीं सिद्ध होते ॥ १४ ।

आचार ही परम धर्म और आचार ही महातपश्चर्या है; (क्योंकि) आचार से आयुष्य की वृद्धि होती है, एवं आचार से ही पापों का क्षय हो जाता है ॥ १५ ।

आचारमेव प्रथमं तस्मादाचक्ष्व षण्मुख ।
देवदेवो यथा प्राह तवाऽग्रे त्वं तथा वद ॥ १६ ॥

स्कन्द उवाच—

मित्रावरुणजाऽऽख्यामि सदाचारं सतां हितम् ।
यदाचरन्नरो नित्यं सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥ १७ ॥

स्थावराः कृमयोऽब्जाश्च पक्षिणः पशवो नराः ।
क्रमेण धार्मिकास्त्वेते एतेभ्यो धार्मिकाः सुराः ॥ १८ ॥

एकमुखत्वादन्यैरेतद्वक्तुं न शक्यमिति द्योतयन् सम्बोधयति । **षण्मुखेति** । न च स्वयमूहित्वा संक्षेपेण वा कथनीयमित्याह । **देवदेव इति** ॥ १६ ॥

सदाचारं वक्तुं प्रतिजानीते । **मित्रावरुणजेति** । देवपुत्रत्वात्तवैवैतच्छ्रवणेऽधिकार इति द्योतयन् सम्बोधयति । **मित्रेति** । सदाचारं शिष्टाचारं सतां साधूनां हितं हितकरम् । शिवोदितमिति क्वचित् ॥ १७ ॥

सदाचारशीलिना सततं भाव्यमिति वक्तुं तद्विमुखाः पातकिनोऽनुभूतनानानरकाः, तद्विपाकशेषेण तामसादिगुणत्रयसंकरतारतम्यानुबन्धभिन्नानि स्थावरादिजन्मानि यावन्मोक्षं क्रमेण प्राप्नुवन्तीत्याह । स्थावरा इति श्लोकाभ्याम् । **स्थावरा वृक्षादयः । कृमयः पिपीलिकाद्या अनस्थिमन्तः । अब्जाः मत्स्यादयः। पक्षिणो मयूरादयः । पशवो गवादयः । नरा मनुष्याः ।** एते सर्वे क्रमेण स्थावरेभ्यः कृमयः कृमिभ्योऽब्जा इत्यादिक्रमेण धार्मिकाः । अप्यर्थे तुशब्दो भिन्नक्रमे एतेभ्य अनेन सम्बध्यते । एतेभ्योऽपि सुरा धार्मिका इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अतएव हे षड्वदन ! प्रथमतः आचार का ही वर्णन कीजिये । जैसा कि देवदेव ने आपके आगे कहा था, तदनुसार आप भी कीर्तन करें ॥ १६ ॥

स्कन्द बोले—

हे मित्रावरुणनन्दन ! मैं सज्जनों के हितकर सदाचार को निरूपण करता हूँ, जिसके आचरण करने से मनुष्य नित्य ही समस्त कामों को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

स्थावर, कृमि, जलचर, पक्षी, पशु एवं मनुष्य, ये सब यथाक्रम (पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर अधिक) धार्मिक होते हैं । इनसे भी देवतागण अधिक धार्मिक होते हैं ॥ १८ ॥

सहस्रभागः प्रथमाद् द्वितीयोऽनुक्रमात्तथा ।
सर्वं एते महाभागा यावन्मुक्तिसमाश्रयाः ॥ १९ ।
चतुर्णामपि भूतानां प्राणिनोऽतीव चोत्तमाः ।
प्राणिभ्योऽपि मुने श्रेष्ठाः सर्वे बुद्धयुपजीविनः ॥ २० ।
मतिमद्भ्यो नराःश्रेष्ठास्तेभ्यः श्रेष्ठास्तु वाडवाः ।
विप्रेभ्योऽपि च विद्वांसो विद्वद्भ्यः कृतबुद्धयः ॥ २१ ।

विशेषस्त्वमीषामुत्तरोत्तरमल्पीयस्त्वमित्याह । सहस्रेति । प्रथमात् प्रथमनिर्दिष्टात् स्थावरादिरूपाद् द्वितीयस्तदनन्तरं निर्दिष्टः कृम्यादिरूपोऽनुक्रमात् सहस्रभागः प्रथम-निर्दिष्टाद्रूपाद् द्वितीयो निर्दिष्टरूपः सहस्रस्य सहस्रस्य एकैकोंऽश इत्यर्थः । सहस्रभागाद् द्वितीयादिति पाठे सहस्रं भागमंशमत्ति भजतीति सहस्रभागात् । तथा । द्वितीयं द्वितीयत्वं प्रथमनिर्दिष्टादनन्तरनिर्दिष्टत्वं कृम्यादिरूपत्वमत्ति भजत इति द्वितीयादिति पूर्वोक्त एवार्थः । सर्वं एते महाभागा महान् भागो भाग्यं येषां ते तथा । कियत्काल-पर्यन्तमेते एवं रूपा भवन्तीति पृच्छायामाह । यावन्मुक्तीति । यावन्मुक्ति मुक्तिपर्यन्तं समस्तुल्यः संसारलक्षण आश्रयो येषां ते स्युरित्यर्थः । एतेन पापिनां बाहुल्यं धार्मिकाणा-मल्पत्वं मोक्षिणामल्पतमत्वं चोक्तम् । तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—स्थावराः कृमयोऽजाश्च पक्षिणः पशवो नराः । धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् । सर्वेऽप्येते महा-भागा यावन्मुक्तिसमाश्रयाः । सहस्रभागः प्रथमाद् द्वितीयोऽनुक्रमात्तथेति । यद्वा विशेष-तस्त्वमीषामुत्तरोत्तरं महाभागत्वमित्याह । सहस्रेति । अथवा पूर्वोक्तमेव विवृणोति । सहस्रभागेति । प्रथमात्स्थावरादिरूपाद् द्वितीयोऽनुक्रमात् कृम्याद्यनुक्रमात् सहस्रभागात् सहस्रभागेन सहस्रगुणेनेति यावत् । सर्वं एते महाभागा इत्यादि पूर्ववत् ॥ १९ ।

ब्राह्मणेन सदाचारोऽवश्यमनुष्ठेय इति वक्तुं सर्वेभ्यो ब्राह्मणानां श्रैष्ठ्यमाह । **चतुर्णामित्यादिना** । चतुर्णां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां प्राणिनश्चेष्टावन्तः कृम्या-दयो बुद्धयुपजीविनो ज्ञानपूर्वकोपजीविनो हितानुसन्धानाः पश्वादयः ॥ २० ।

मतिमद्भ्यो ज्ञानवद्भ्यो बुद्धयुपजीविभ्य इति यावत् । वाडवा ब्राह्मणाः । विद्वांसः शास्त्रार्थज्ञाः । कृता सम्पादिता इदमित्थमिति बुद्धिर्निश्चयात्मिका यैस्ते कृतबुद्धयः ॥ २१ ।

(इन सबों में) क्रमानुसार एक से दूसरे सहस्र अंश में एक अंश होते हैं; परन्तु ये सब महाभाग मुक्तिपर्यन्त समान आश्रयवाले हैं ॥ १९ ।

मुने ! स्वेदज, अंडज, उद्भिज्ज एवं जरायुज—इन चतुर्विध भूतों में चेष्टाशील प्राणिगण अतीव उत्तम हैं । उन प्राणियों से भी समस्त बुद्धिशाली जीव श्रेष्ठ होते हैं ॥ २० ।

उन ज्ञानवान् जीवों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं । मनुष्यों में भी ब्राह्मण लोग सर्वोत्तम हैं, ब्राह्मणों में भी विद्वान् गण प्रधान हैं, एवं विद्वान् लोगों में भी (शास्त्रविहित व्यापारों में) निश्चित बुद्धिवाले लोग ही श्रेष्ठतम होते हैं ॥ २१ ।

कृतधीभ्योऽपि कर्तारः कर्तृभ्यो ब्रह्मतत्पराः ।
न तेषामर्चनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु कुम्भज ॥ २२ ।
अन्योन्यमर्चकास्ते वै तपोविद्याऽविशेषतः ।
ब्राह्मणो ब्रह्मणा सृष्टः सर्वभूतेश्वरो यतः ॥ २३ ।
अतो जगत्स्थितं सर्वं ब्राह्मणोऽर्हति नापरः ।
सदाचारो हि सर्वार्हो नाचाराद्विच्युतः पुनः ।
तस्माद्विप्रेण सततं भाव्यमाचारशीलिना ॥ २४ ।
विद्वेषरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने ।
विद्वांसस्तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्बुधाः ॥ २५ ।
लक्षणैः परिहीनोऽपि सम्यगाचारतत्परः ।
श्रद्धालुरनसूयश्च नरो जीवेत् समाः शतम् ॥ २६ ।

कर्तारोऽनुष्ठातारः । ब्रह्मतत्पराः परमात्मैकनिष्ठाः ॥ २२ ।

तप आलोचनम् । 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इति श्रुतेः । विद्या ब्रह्मविद्या ताभ्यामविशेषतोऽविशेषात् ॥ २३ ।

तर्हि किं साधारण्येन सर्व एव ब्राह्मणो जगद्गतं वस्त्वर्हति नेत्याह । सदाचार इति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ २४ ।

सदाचारस्य लक्षणमाह । विद्वेषेति । यं क्रियाकलापम् । धर्ममूलं पुण्यस्य हेतुम् ॥ २५ ।

सदाचाराऽनुष्ठानस्य फलमाह । लक्षणैरिति । अनसूयुर्गुणेषु दोषाविष्करणहीनः । समा इत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ २६ ।

निश्चितबुद्धि के लोगों में भी तदनुसार कर्म करने वाले ही उत्तम हैं एवं कर्मकर्ताओं में भी ब्रह्मनिष्ठ लोग ही सब से श्रेष्ठ हैं। हे कुंभज ! त्रैलोक्य में उन लोगों से बढ़कर अर्थात् उनके लिए पूजनीय कोई भी नहीं है ॥ २२ ।

(ज्ञानमय) तप एवं (ब्रह्म) विद्या की अविशेषता से वे लोग (स्वयं) परस्पर के अर्चक होते हैं; क्योंकि ब्रह्मा ने ब्राह्मण को ही समस्त भूतों का प्रभु बनाया है ॥ २३ ।

अतएव ब्राह्मण ही जगत् में स्थित समस्त वस्तु पाने के योग्य होता है, दूसरा कोई भी नहीं; परन्तु सदाचारी ब्राह्मण ही सर्वाधिकारी है। आचारच्युत कदापि नहीं हो सकता । अतः ब्राह्मण को सर्वदैव आचारशील होना उचित है ॥ २४ ।

हे मुने ! विद्वान् लोग रागद्वेष से रहित होकर जिस कर्म का अनुष्ठान करते हैं, पंडितगण उसी को धर्म का मूल सदाचार कहते हैं ॥ २५ ।

लक्षणों से हीन मनुष्य भी डाह को छोड़ श्रद्धापूर्वक यदि पूर्णरीति से आचार में तत्पर होवे, तो वह (अवश्य ही) शतवर्षपर्यन्त आयुष्य-लाभ करे ॥ २६ ।

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं स्वेषु स्वेषु च कर्मसु।
सदाचारं निषेवेत धर्ममूलमतन्द्रितः॥ २७।
दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
व्याधिभिश्चाऽभिभूयेत सदाऽल्पायुः सुदुःखभाक्॥ २८।
त्याज्यं कर्म पराधीनं कार्यमात्मवशं सदा।
दुःखी यतः पराधीनः सदैवात्मवशः सुखी॥ २९।
यस्मिन् कर्मण्यन्तरात्मा क्रियमाणे प्रसीदति।
तदेव कर्म कर्तव्यं विपरीतं न च क्वचित्॥ ३०।
प्रथमं धर्मसर्वस्वं प्रोक्ता यन्नियमा यमाः।
अतस्त्वेष्वेव वै यत्नः कर्तव्यो धर्ममिच्छता॥ ३१।

उदितं कथितम्॥ २७।

सदाचारं स्तुत्वा दुराचारं निन्दति। दुराचाररत इति। द्वेषरागयुक्ताः पुरुषा अधर्मस्य मूलं यं क्रियाकलापं कुर्वन्ति, स दुराचारः॥ २८।

परायत्तं धर्ममपि त्याज्यमित्याह। त्याज्यमिति॥ २९।

स्वाधीनमपि कर्म न सर्वं कार्यमित्याह। यस्मिन्निति। अन्तरात्मा मनः। तथा च मनुः—'मनःपूतं समाचरेत्' इति॥ ३०।

यद्यस्माद्धर्मसर्वस्वं प्रथमं यमा नियमाश्च प्रोक्ताः, अतस्तेष्वेव यमनियमेष्वेव धर्ममिच्छता यत्नः कर्तव्य इत्यर्थः। प्रोक्तमिति क्वचित्पाठः॥ ३१।

(मनुष्य को) आलस्यरहित होकर अपने-अपने कर्मों में, श्रुति-स्मृति के कथित पुण्य के कारण सदाचार का सेवन करना चाहिए॥ २७।

(क्योंकि) दुराचारी पुरुष लोक में निन्दनीय, सदा व्याधिग्रस्त, अल्पायु और बड़ा दुःखभागी होता है॥ २८।

सदैव पराधीन कर्म का त्याग और स्वाधीन कर्म करना ही उचित है; क्योंकि पराधीन सर्वदा दुःखी और स्वाधीन सुखी रहता है॥ २९।

(उसमें भी) जिस कर्म के करने में अन्तरात्मा प्रसन्न होती है, वही करना चाहिए और उसके विपरीत कर्म को कभी न करे॥ ३०।

यम-नियम ही धर्म के प्रथम सर्वस्व कहे गये हैं। इसलिये धर्माभिलाषी का उन्हीं के पालन में प्रयत्नशील होना परम कर्तव्य है॥ ३१।

सत्यं क्षमार्जवं ध्यानमानृशंसस्यमहिंसनम् ।
दमः प्रमादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश ॥ ३२ ।
शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याध्ययनं व्रतम् ।
उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते नियमाः स्मृताः ॥ ३३ ।
कामं क्रोधं मदं मोहं मात्सर्यं लोभमेव च ।
अमून् षड्वैरिणो जित्वा सर्वत्र विजयी भवेत् ॥ ३४ ।
शनैः शनैः संचिनुयाद्धर्मं वल्मीकशृङ्गवत् ।
परपीडामकुर्वाणः परलोकसहायिनम् ॥ ३५ ।

क्षमा आक्रुष्टस्य ताडितस्य वाऽविकृतचित्तता । आर्जवं मृदुता अवक्रतेति यावत् । ध्यानं शिवस्य विष्णोर्वा चिन्तनम् । आनृशंस्यं अमारात्मकता । अहिंसा प्राणिमात्राणामपीडा । दमो बाह्येन्द्रियोपशम इन्द्रियमात्रस्य वा । प्रसादः प्रसन्नता स्वच्छतेति यावत् । माधुर्यं मधुरता मधुरस्वभाव इति यावत् । मृदुता कोमलता अकाठिन्यमिति यावत् । एते दश यमाः ॥ ३२ ।

शौचं द्विविधं बाह्याऽभ्यन्तरभेदेन । तत्र बाह्यं मृज्जलादिना अन्तर्भावशुद्ध्या । स्नानं गङ्गादौ मज्जनादि । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि । दानं द्रविणादेः संत्यागः । मौनं वृथा वाचामनुच्चारणम् । इज्या पञ्चयज्ञाद्यनुष्ठानम् । अध्ययनं वेदपाठः । व्रतं चातुर्मास्यादि । उपोषणमेकादश्याद्युपवासः । उपस्थदण्डः परदारादि पराङ्मुखता । एते दश नियमाः स्मृताः ॥ ३३ ।

उपादेयकर्तव्यतामुक्त्वा हेयनिरोधनं दर्शयति काममित्येकेन ॥ ३४ ।

शनैरिति । वल्मीकशृङ्गं वामलूरकूटं यथा वल्मीककीटाः क्रमेण संवर्धयन्ति, तथा कायवाङ्मनोभिः परपीडामकुर्वाणः शनैः शनैः परलोकसहायभूतं धर्मं संचिनुयाद्वर्धयेदित्यर्थः ॥ ३५ ।

सत्य, क्षमा, सिधाई, ध्यान, अक्रूरता, अहिंसन, इन्द्रियों का दमन, प्रसन्नता, मधुरता और कोमलता ये ही दश यम हैं ॥ ३२ ।

शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, उपवास और उपस्थानादि इन्द्रियों का संयम, ये ही दशविध नियम कहलाते हैं ॥ ३३ ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः शत्रुओं को जीतकर सर्वत्र विजयी होना चाहिए ॥ ३४ ।

परपीडा से पराङ्मुख होकर धीरे-धीरे वल्मीक के शृंगसम परलोक के सहायीधर्म का संचय करता रहे ॥ ३५ ।

धर्म एव सहायी स्यादमुत्र न परिच्छदः ।
पितृमातृसुतभ्रातृयोषिद्बन्धुजनादिकः ॥ ३६ ।
जायते चैकलः प्राणो प्रम्रियेत तथैकलः ।
एकलः सुकृतं भुङ्क्ते भुङ्क्ते दुष्कृतमेकलः ॥ ३७ ।
देहं पञ्चत्वमापन्नं त्यक्त्वा कौ काष्ठलोष्ठवत् ।
बान्धवा विमुखा यान्ति धर्मो यान्तमनुव्रजेत् ॥ ३८ ।
कृती संचिनुयाद्धर्मं ततोऽमुत्र सहायिनम् ।
धर्मं सहायिनं लब्ध्वा सन्तरेद् दुस्तरं तमः ॥ ३९ ।
सम्बन्धानाचरेन्नित्यमुत्तमैरुत्तमैः सुधीः ।
अधमानधमांस्त्यक्त्वा कुलमुत्कर्षतां नयेत् ॥ ४० ।

धर्मस्यैव सहायित्वं प्रत्यक्षमवलम्ब्याह । धर्म एवेति । परिच्छदः करितुरगप्रासादादिः । बन्धुः प्रीतिभाक् । आदिपदेन दासादयो गृह्यन्ते ॥ ३६ ।

एक एव एकलः । स्वार्थे लः ॥ ३७ ।

धर्म एव सहायी स्यादित्येतद्विवृणोति । देहमिति ॥ ३८ ।

ननु यथा धर्मोऽनुगच्छति तथा पापमपि, सत्यम्, तत्तु न कर्तव्यमित्याशयेनाह । कृतीति । तमो दुःखं संसारं वा अज्ञानं वा धर्मानुष्ठानात् सत्त्वशुद्धया ज्ञानोत्पत्तेः ॥ ३९ ।

किञ्च, श्रेष्ठेनैव धर्मोऽनुष्ठेय इति श्रेष्ठत्वसम्पादनप्रकारमाह । सम्बन्धानित्येकेन ॥ ४० ।

(क्योंकि) परलोक में (तो) एकमात्र धर्म ही सहायक होता है। पिता, माता, पुत्र, भ्राता, पत्नी एवं बन्धुजन प्रभृति, तथा हाथी, घोड़ा, घर इत्यादि परिच्छदवर्ग कोई भी वहाँ सहायता नहीं देता ॥ ३६ ।

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। अकेला ही पुण्य को भोगता है एवं अकेला ही पाप भी भोगता है ॥ ३७ ।

मृतक शरीर को पृथिवी पर काष्ठ-लोष्ट के समान फेंककर बन्धुजन फिर लौट जाते हैं—छोड़कर जाते हैं, केवल धर्म ही उस गमनशील के पीछे-पीछे चला जाता है ॥ ३८ ।

अतएव कृतीजन, परलोक के सहायक धर्म का संचय करे; क्योंकि धर्म की ही सहायता पाने से इस दुस्तर संसार के पार हो सकता है ॥ ३९ ।

बुद्धिमान् जन अधर्मों का संबन्ध छोड़कर सर्वदा उत्तमों से ही (संबन्ध) करे, इसी प्रकार से अपने कुल की उत्कर्षता प्राप्त करे ॥ ४० ।

उत्तमानुत्तमानेव गच्छन् हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ ४१ ॥
अनध्ययनशीलं च सदाचारविलंघिनम् ।
सालसं च दुरन्नादं ब्राह्मणं बाधतेऽन्तकः ॥ ४२ ॥
ततोऽभ्यसेत्प्रयत्नेन सदाचारं सदा द्विजः ।
तीर्थान्यप्यभिलष्यन्ति सदाचारिसमागमम् ॥ ४३ ॥
रजनीप्रान्तयामार्धं ब्राह्मसमय उच्यते ।
स्वहितं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तस्मिंश्चोत्थाय सर्वदा ॥ ४४ ॥
गजास्यं संस्मरेदादौ तत ईशं सहाऽम्बया ।
श्रीरङ्गं श्रीसमेतं तु ब्रह्माण्या कमलोद्भवम् ॥ ४५ ॥

फलितमाह । उत्तमानिति । प्रत्यवायेन नीचसम्बन्धाचरणादिजनित-पापेनेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अनध्ययनेति । तथा च मनुः—अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य तु लंघनात् । आलस्याच्चान्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसतीति ॥ ४२ ॥

तत इति । यतः सदाचारविलंघिनं मृत्युर्बाधते तत इत्यर्थः । सदाचाराऽनुष्ठायिनां माहात्म्यमाह । तीर्थानीति ॥ ४३ ॥

प्रतिदिनं ब्राह्मं मुहूर्तमारभ्य धर्मोऽनुष्ठेय इत्येतदर्थं ब्राह्मं मुहूर्तं लक्षयति । रजनीत्यर्धेन । रजनीप्रान्ते यामार्धं घटिकाचतुष्टयम् । यदर्थं ब्राह्मो मुहूर्तो लक्षित-स्तदाह । स्वहितमिति । स्वस्य हितं यस्मात् स्वहितं चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

स्वहितमेवाह । गजास्यमित्यारभ्य तत आवश्यकमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । अम्बया अम्बिकया । श्रीरङ्गं श्रीरङ्गपर्वतशायिनं विष्णुमित्यर्थः । 'श्रीरङ्गशायिनि

उत्तमों से सम्बन्ध करने एवं नीचों का सम्बन्ध त्यागने ही से ब्राह्मण श्रेष्ठ हो जाता है । इसके विरुद्ध आचरण करने से शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

अध्ययनहीन, सदाचाररहित, आलसी और अभक्ष्यभोजी ब्राह्मण को मृत्यु पीड़ित करती है ॥ ४२ ॥

इन सब कारणों से द्विज को यत्नपूर्वक नित्य ही सदाचार का अभ्यास करना चाहिये; (क्योंकि) तीर्थगण भी सदाचारी लोगों के समागम को अभिलाषा करते रहते हैं ॥ ४३ ॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर का अर्धभाग (चार घड़ी रात शेष रहते) 'ब्राह्म' समय कहा जाता है । प्राज्ञजन सर्वदैव उसी काल में उठकर अपना हितचिन्तन करे ॥ ४४ ॥

निद्रा का परित्याग कर प्रथम तो गणेश का स्मरण करे । फिर अम्बिका के सहित महेश्वर, लक्ष्मी के सहित नारायण, ब्रह्माणी के समेत ब्रह्मा का स्मरण करना चाहिये ॥ ४५ ॥

इन्द्रादीन् सकलान् देवान् वसिष्ठादीन् मुनीनपि ।
गङ्गाद्याः सरितः सर्वाः श्रीशैलाद्यखिलान् गिरीन् ॥ ४६ ।
क्षीरोदादीन् समुद्रांश्च मानसादि सरांसि च ।
वनादिनन्दनादीनि धेनूः कामदुघादिकाः ॥ ४७ ।
कल्पवृक्षादिवृक्षांश्च धातून् कांचनमुख्यतः ।
दिव्यस्त्रीरुर्वशीमुख्या गरुडादीन् पतत्त्रिणः ॥ ४८ ।
नागांश्च शेषप्रमुखान् गजानैरावतादिकान् ।
अश्वानुच्चैःश्रवोमुख्यान् कौस्तुभादीन् मणीन् शुभान् ॥ ४९ ।
स्मरेदरुन्धतीमुख्याः पतिव्रतवतीर्वधूः ।
नैमिषादीन्यरण्यानि पुरीः काशीपुरीमुखाः ॥ ५० ।
विश्वेशादीनि लिङ्गानि वेदानृक्प्रमुखानपि ।
गायत्रीप्रमुखान् मन्त्रान्योगिनः सनकादिकान् ॥ ५१ ।
प्रणवादिमहाबीजं नारदादींश्च वैष्णवान् ।
शिवभक्तांश्च बाणादीन् प्रह्लादादीन् दृढव्रतान् ॥ ५२ ।

हरौ रमतां मनो मे' इति वचनात् । श्रियो लक्ष्म्या रङ्गो हर्षो यस्मादिति वा । अत एव श्रीसमेतमिति विशेषणम् । ब्रह्माण्या सावित्र्या ॥ ४५-४६ ।

नन्दनादीनीत्यादिपदेन चैत्ररथादीनि गृह्यन्ते । कामदुघा कपिला । आदिपदेन सुरभ्यादयो गृह्यन्ते ॥ ४७ ।

कल्पवृक्षादीत्यादिपदेनाश्वत्थादयो गृह्यन्ते । काञ्चनमुख्यतः सुवर्णमुख्यान् । उर्वशीमुख्यास्तत्प्रधाना रम्भातिलोत्तमाद्याः । गरुडादीनित्यादिपदेन जटायुःप्रमुखा गृह्यन्ते ॥ ४८ ।

शेषोऽनन्तस्तत्प्रमुखांस्तदादीनित्यर्थः । ऐरावतादिकानित्यादिपदेन पुण्डरीकादयो गृह्यन्ते ॥ ४९ ।

अनन्तर इन्द्रादि समस्त देवगण, वसिष्ठ प्रभृति मुनि, गंगा इत्यादि नदी, श्रीशैलादि निखिल पर्वत, क्षीरोदादि (सातों) समुद्र, मानस इत्यादि सरोवर, नन्दन आदिक वन, कामधेनु प्रभृति धेनु, कल्पवृक्षादि वृक्ष, सुवर्णादि धातु, उर्वशी प्रभृति दिव्यस्त्री, गरुड़ आदि पक्षी, शेषनाग आदि सर्प, ऐरावत इत्यादि गज, उच्चैःश्रवा प्रभृति अश्व, कौस्तुभादि शुभ मणि, अरुन्धती प्रभृति पतिव्रता रमणी, नैमिषादिक अरण्य, काशी इत्यादि पुरी, विश्वेश्वरादिक लिंग, ऋक् प्रभृति (चारों) वेद, गायत्री इत्यादि मन्त्र, सनकादि योगिगण, प्रणवादि महाबीज, नारदादि वैष्णव, बाणासुर प्रभृति शिवभक्त, प्रह्लाद आदि दृढ़व्रत, दधीचि आदि उदार दाता, हरिश्चन्द्र

वदान्यांश्च दधीच्यादीन् हरिश्चन्द्रादिभूपतीन् ।
जननीचरणौ स्मृत्वा सर्वतीर्थोत्तमोत्तमौ ॥ ५३ ।
पितरं च गुरूंश्चापि हृदि ध्यात्वा प्रसन्नधीः ।
ततश्चावश्यकं कर्त्तुं नैर्ऋतीं दिशमाश्रयेत् ॥ ५४ ।
ग्रामाद्धनुःशतं गच्छेन्नगराच्च चतुर्गुणम् ।
तृणैराच्छाद्य वसुधां शिरः प्रावृत्य वाससा ॥ ५५ ।
कर्णोपवीत्युदग्वक्त्रो दिवसे सन्ध्ययोरपि ।
विण्मूत्रे विसृजन्मौनी निशायां दक्षिणामुखः ॥ ५६ ।
न तिष्ठन्नाप्सु नो विप्रगोवह्न्यनिलसम्मुखः ।
न फालकृष्टे भूभागे न रथ्यासेव्यभूतले ॥ ५७ ।
नालोकयेद्दिशो भागान् ज्योतिश्चक्रं नभोऽमलम् ।
वामेन पाणिना शिश्नं धृत्वोत्तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ॥ ५८ ।

वदान्यान् दातॄन् ॥ ५३ ।
नैर्ऋतीं यामीवारुण्योर्मध्याम् ॥ ५४ ।
कर्णे उपवीतं वर्तते यस्य स तथा ॥ ५६ ।
रथ्या च सेव्यभूतलं च तस्मिन् ॥ ५७ ।
अमलमित्यनेन समलस्यालोकने न दोषः ॥ ५८ ।

इत्यादि भूपति और समस्त तीर्थों से परमोत्तम माता के चरणयुगल का स्मरण करे ॥ ४६-५३ ।

प्रसन्नचित्त हो पिता एवं गुरुजन का हृदय में ध्यान करे। इसके अनन्तर आवश्यक मलत्यागादि करने को नैर्ऋत्य कोण की ओर जाय ॥ ५४ ।

ग्राम से एक सौ धनुष और नगर से चार सौ धनुष (पग) की दूरी पर जाना चाहिये। वहाँ पर तृणों से भूभाग को ढाँप कर शिर को वस्त्र से बाँध ले ॥ ५५ ।

दाहिने कान पर जनेऊ चढ़ाय (चढ़ाकर), मौन हो, दिन में और दोनों संध्याओं में उत्तर मुख एवं रात्रि में दक्षिणमुख (बैठ) कर मलमूत्र का त्याग करे ॥ ५६ ।

खड़ा रहकर, जल में, ब्राह्मण, गौ, अग्नि और वायु के सन्मुख होकर, जोते हुए खेत में एवं गली में, बैठने-उठने के स्थान में मलमूत्र का त्याग न करे ॥ ५७ ।

दिशा के भागों को, ताराचक्र को, आकाश मण्डल को एवं मल को न देखे। (निवृत्त होकर) अनन्तर बायें हाथ से शिश्न पकड़कर सावधानतापूर्वक वहाँ से उठे ॥ ५८ ।

अथो मृदं समादाय जन्तुकर्करवर्जिताम् ।
विहाय मूषकोत्खातां शौचोच्छिष्टाञ्च नाकुलाम् ॥ ५९ ।
गुह्ये दद्यान्मृदं चैकां पायौ पञ्चाम्बुसान्तराः ।
दश वामकरे चापि सप्त पाणिद्वये मृदः ॥ ६० ।
एकैकां पादयोर्दद्यात्तिस्रः पाण्योर्मृदस्तथा ।
इत्थं शौचं गृही कुर्याद् गन्धलेपक्षयावधि ॥ ६१ ।
क्रमाद् द्वैगुण्यमेतस्माद् ब्रह्मचर्यादिषु त्रिषु ।
दिवा विहितशौचस्य रात्रावर्धं समाचरेत् ॥ ६२ ।
रुज्यर्धं च तदर्धं च पथि चौरादिबाधिते ।
तदर्धं योषितां चापि सुस्थे न्यूनं न कारयेत् ॥ ६३ ।
अपि सर्वनदीतोयैर्मृत्कूटैश्चापि गोमयैः ।
आपादमाचरन् शौचं भावदुष्टो न शुद्धिभाक् ॥ ६४ ।

नाकुलां नकुलाज्जातामित्यर्थः । नाकुलीमिति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ५९ ।

तिस्रः पाण्योर्मृदस्तथेति । एतेन पूर्वोक्ताभिः सप्तभिर्मिलित्वा द्वयोर्हस्तयोर्दश मृदो दातव्या इत्यर्थः ॥ ६१ ।

क्रमादिति । एतस्माद् गृहस्थशौचाद् ब्रह्मचारिणो द्विगुणम्, ब्रह्मचारिशौचाद् वानप्रस्थस्य द्विगुणम्, वानप्रस्थशौचात् संन्यासिनो द्विगुणं शौचमित्यर्थः ॥ ६२ ।

निर्मलाऽन्तःकरण एव शौचफलभाक्, न दुष्टाऽन्तःकरण इत्याहाऽपि सर्वेति॥६४।

फिर जन्तु और कंकरी के सहित एवं मूषक और नेउर (नेवला) की खोदी हुई तथा शौचोच्छिष्ट मृत्तिका को छोड़, शुद्ध मृत्तिका लेकर, उसे एक बार शिश्न में, बीच-बीच में जल से धोकर पाँच बार गुद में, दश बार वामहस्त में, फिर दोनों हाथों में सात बार, एक-एक बार दोनों पैरों में और फिर तीन बार दोनों हाथों में (मिट्टी) लगा(कर धो)वे । इस प्रकार से गृहस्थ जब तक दुर्गन्ध और (मट्टी के) लेपन का क्षय न हो जावे, शौच करता रहे ॥ ५९-६१ ।

ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमी यथाक्रम द्विगुण शौच करें, अर्थात् गृहस्थ का दूना ब्रह्मचारी, उसका दूना वानप्रस्थ और उसका भी दूना संन्यासी शौच करे। यह शौच दिन का कहा गया है । रात्रि में इसका अर्ध ही शौच करना चाहिए ॥ ६२ ।

रोगावस्था में उसका भी अर्ध ही शौच करे । चौरादि से बाधित पथ में उसका भी अर्ध करे । स्त्री लोगों का शौच अर्ध ही है । स्वस्थावस्था में न्यून(कम) नहीं करना चाहिये ॥ ६३ ।

जो मनुष्य भावदुष्ट है, वह चाहे समस्त नदियों के जल से, मिट्टी की ढेर से और गोमय (गोबर) समूह से आपादमस्तक शौच करता रहे; परन्तु कभी शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ६४ ।

आर्द्रधात्रीफलोन्माना मृदः शौचे प्रकीर्तिताः ।
सर्वाश्चाहुतयोऽप्येव ग्रासाश्चान्द्रायणेऽपि च ।। ६५ ।
प्रागास्य उदगास्यो वा सूपविष्टः शुचौ भुवि ।
उपस्पृशेद्विहीनायां तुषाङ्गारास्थिभस्मभिः ।। ६६ ।
अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिर्हृद्‌गाभिरत्वरः ।
ब्राह्मणो ब्राह्मतीर्थेन दृष्टिपूताभिराचमेत् ।। ६७ ।
कण्ठगाभिर्नृपः शुद्ध्येत्तालुगाभिस्तथोरुजः ।
स्त्रीशूद्रावास्यसंस्पर्शमात्रेणाऽपि विशुद्ध्यतः ।। ६८ ।
शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा जले मुक्तशिखोऽपि च ।
अक्षालितपदद्वन्द्व आचान्तोऽप्यशुचिर्मतः ।। ६९ ।
त्रिः पीत्वाम्बु विद्धयर्थं ततः खानि विशोधयेत् ।
अङ्गुष्ठमूलदेशेन द्विर्द्विरोष्ठाधरौ स्पृशेत् ।। ७० ।

शौचमृदः परिमाणमाह । आर्द्रधात्रीत्यर्धेन । अथ धात्रीति पाठेऽथशब्दोऽर्थान्तरे । प्रसङ्गादाहुतिचान्द्रायणग्रासयोरपि परिमाणमाह । सर्वाश्चेति पादद्वयेन ॥ ६५ ।

ब्राह्मतीर्थेनाऽङ्गुष्ठमूलेन ॥ ६७ ।

शिर इति । जले जलमध्ये । शुष्कं वस्त्रं परिधायेत्यर्थः ॥ ६९ ।

आचमनप्रकारमाह । त्रिःपीत्वेति । खानि इन्द्रियाणि विशोधयेत् विशेषेण शुद्धानि कुर्यादित्यर्थः । एतदेव विवृणोति अङ्गुष्ठेत्यादिना ॥ ७० ।

शौच-क्रिया में ओदे (आर्द्र) आँवला के फल और उतनी मिट्टी ग्रहण करनी चाहिये और यही परिमाण समस्त आहुति और चान्द्रायण व्रत के ग्रासों का भी जानना चाहिये ॥ ६५ ।

इसके अनन्तर बुसा, अंगार, अस्थि और भस्म इत्यादि से रहित पवित्र भूमि पर पूर्व अथवा उत्तर मुख बैठकर अच्छी रीति से कुल्ला करे ॥ ६६ ।

ब्राह्मण स्थिर होकर ब्राह्मतीर्थ (अँगूठा की जड़ से) से अनुष्ण, फेनहीन, हृदयगामी जल से, जल को भलीभाँति से देखकर आचमन करे ॥ ६७ ।

क्षत्रिय लोग कण्ठपर्यन्त और वैश्यगण तालु तक जल ले जाकर शुद्ध होते हैं एवं स्त्री और शूद्र मुख में जल लगाने से ही शुद्ध हो जाते हैं ॥ ६८ ।

मस्तक और कण्ठ को ढाँपकर जल में (सूखा वस्त्र पहिन) शिखा खोले, किंवा विना दोनों पैर धोये जो आचमन करता है, वह आचमन करने पर भी अशुद्ध ही रहता है ॥ ६९ ।

तीन बार जल पीकर तदनन्तर इस रीति से छिद्रों को विशोधित करे, अंगुष्ठ के मूल देश से ओष्ठ और अधर को दो-दो बार स्पर्श करे ॥ ७० ।

अङ्गुलीभिस्त्रिभिः पश्चात् पुनरास्यं स्पृशेत्सुधीः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठकोटया च घ्राणरन्ध्रे पुनः पुनः ॥ ७१ ॥

अङ्गुष्ठाऽनामिकाग्राभ्यां चक्षुः श्रोत्रे पुनः पुनः ।
कनिष्ठाऽङ्गुष्ठयोगेन नाभिरन्ध्रमुपस्पृशेत् ॥ ७२ ॥

स्पृष्ट्वा तलेन हृदयं समस्ताभिः शिरः स्पृशेत् ।
अङ्गुल्यग्रैस्तथा स्कन्धौ साम्बु सर्वत्र संस्पृशेत् ॥ ७३ ॥

आचान्तः पुनराचामेत् कृते रथ्योपसर्पणे ।
स्नात्वा भुक्त्वा पयः पीत्वा प्रारम्भे शुभकर्मणाम् ॥ ७४ ॥

साम्बु यथा स्यात्तथा सर्वत्र संस्पृशेदित्यर्थः । तथा च दक्षः—

प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम् ।
संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ॥
संहताभिस्त्रिभिः पूर्वमास्यं तु समुपस्पृशेत् ।
अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम् ॥
अङ्गुष्ठाऽनामिकाभ्यां तु चक्षुः श्रोत्रे पुनः पुनः ।
कनिष्ठाऽङ्गुष्ठयोर्नाभिं हृदयन्तु तलेन वै ॥
सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद् बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ॥ इति ॥ ७३ ।

द्विराचमननिमित्तान्याह । आचान्तः पुनराचमेदिति द्वयेन ॥ ७४ ।

पीछे से बुद्धिमान् जन तर्जनी, मध्यमा और अनामिका—इन तीनों अँगुलियों के द्वारा फिर मुख को स्पर्श करे एवं तर्जनी और अंगुष्ठ के अग्रभाग से नासिका के दोनों रन्ध्रों को बारम्बार स्वच्छ करे ॥ ७१ ।

फिर अँगूठा और अनामिका के अग्रभाग से दो चार बार दोनों आँखें और दोनों कानों का स्पर्श करे, अनन्तर कनिष्ठा और अंगुष्ठ के कोर से नाभिरन्ध्र को स्पर्श करना चाहिए ॥ ७२ ।

तत्पश्चात् दक्षिण हस्त के तल से छाती को छूकर समस्त अँगुलियों के द्वारा मस्तक एवं अँगुलियों के अग्रभाग से दोनों कन्धों का स्पर्श करे, सर्वत्र स्पर्श करने से पूर्व हाथ में जल लगा लेना चाहिए ॥ ७३ ।

गली (रथ-समूह) से चलने पर, स्नान, भोजन और जलपान करने पर और शुभकर्मों के प्रारम्भ में (एक बार) आचमन करके फिर से आचमन करना चाहिए ॥ ७४ ।

सुप्त्वा वासः परीधाय तथा दृष्ट्वाऽप्यमङ्गलम् ।
प्रमादादशुचिं स्पृष्ट्वा द्विराचान्तः शुचिर्भवेत् ।। ७५ ।
अथो मुखविशुद्ध्यर्थं गृह्णीयाद्दन्तधावनम् ।
आचान्तोऽप्यशुचिर्यस्मादकृत्वा दन्तधावनम् ।। ७६ ।
प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां रविवासरे ।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहेदासप्तमं कुलम् ।। ७७ ।
अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धे वाऽथ वासरे ।
गण्डूषा द्वादशग्राह्या मुखस्य परिशुद्धये ।। ७८ ।
कनिष्ठाऽग्रपरीमाणं सत्वचं निर्व्रणं ऋजुम् ।
द्वादशाङ्गुलमानं च सार्धं स्याद्दन्तधावनम् ।। ७९ ।

सहेतुकं दन्तधावनप्रकारमुत्थापयति । अथेति । विपक्षे बाधकमाह । आचान्त इति ।। ७६ ।

सहेतुकं दन्तधावनकाष्ठनिषेधसमयमाह । प्रतिपदिति ।। ७७ ।

ननु तर्हि दन्तकाष्ठानामभावे प्रतिषिद्धदिने वा किं विधेयं तत्राह । अलाभ इति ।। ७८ ।

दन्तकाष्ठस्य मानमाह । कनिष्ठेति । कनिष्ठाग्रपरीमाणमिति विस्तरेण । द्वादशाङ्गुलमानं चेति दैर्घ्येण ।। ७९ ।

सोकर (उठने पर) वस्त्र पहन कर कोई अमांगलिक वस्तु देख, अथवा भूल से किसी अपवित्र वस्तु को स्पर्श कर, दो बार आचमन करने से शुद्ध हो जाता है ।। ७५ ।

इस प्रकार से आचमन-विधि को समाप्त कर मुख की विशुद्धि निमित्त दतुइन (दातून) लेवे; क्योंकि आचमन करने पर भी दन्तधावन न करने से शुद्ध नहीं हो सकता ।। ७६ ।

प्रतिपदा, अमावस्या, षष्ठी व नवमी तिथियों में एवं रविवार को दाँतों में लकड़ी की दतुअन लगाने से सात पुरुष कुल दग्ध हो जाता है ।। ७७ ।

इन निषिद्ध दिनों में अथवा जब कहीं दतुअन न मिले, तो बारह कुल्ला करके मुख को शुद्ध करना चाहिए ।। ७८ ।

दतुअन कानी अंगुली के अग्रभाग-सी मोटी, छिलका के सहित, व्रणरहित, कोमल, सार्ध (अर्थात् आधी फाड़ी न हो) बारह अंगुल की लम्बी (अथवा साढ़े बारह अंगुल लम्बी) होनी चाहिए ।। ७९ ।

एकैकाऽङ्गुलह्रासेन वर्णेष्वन्येषु कीर्तितम् ।
आम्राम्रातकधात्रीणां[1] कङ्कोलखदिरोद्भवम् ॥ ८० ॥
शम्यपामार्गखर्जूरीशेलुश्रीपर्णिपीलुजम् ।
राजादनं च नारङ्गं कषायकटुकण्टकम् ॥ ८१ ॥
क्षीरवृक्षोद्भवं वाऽपि प्रशस्तं दन्तधावनम् ।
जिह्वोल्लेखनिकां चाऽपि कुर्याच्चापाकृतिं शुभाम् ॥ ८२ ॥
अन्नाद्यायव्यूहध्वं सोमो राजाऽयमागमत् ।
स मे मुखं प्रमाक्ष्यंते यशसा च भगेन च ॥ ८३ ॥

अन्येषु क्षत्रियादिषु कीर्तितं कथितम् । नूदितमिति क्वचित् । किं वृक्षोद्भवं दन्तकाष्ठं विधेयमित्यत्राह । आम्रेति ॥ ८० ॥

राजादनमित्यर्थं कार्यकारणयोरभेदाऽभिप्रायेण ॥ ८१ ॥

जिह्वाधावनमाह । जिह्वेति । जिह्वा उल्लिख्यते शोध्यते यया सा जिह्वोल्लेखनिका । चापाकृतिं धनुराकारम् ॥ ८२ ॥

दन्तधावनमन्त्रद्वयमाह । अन्नाद्यायेति । तत्र प्रथममन्त्रस्याऽयमर्थः । अन्नाद्याय अन्नादनाय भक्षणाय निर्मलतां प्राप्य व्यूहध्वं स्थिरपङ्क्त्या दृढीभवत । यतः सोमो राजा चन्द्रोऽयं काष्ठरूपं वनस्पतिं प्रत्यागतः स मे दीप्तिकारी शोभनकृत् मे मम मुखमास्यं प्रमाक्ष्यंते प्रमार्क्ष्यति शोधयिष्यतीत्यर्थः । केन ? यशसा कीर्त्या भगेन भाग्येन च । दन्तधावनस्य नित्यकाम्यत्वादुभयथा फलसम्बन्धः । सोमो वनस्पतीनामिति श्रुतेः । वनस्पतीनामाधिपत्ये यमग्निं सूर्यं च प्रति सोमो राजा गतो भक्ष्यतया । अथवा हे दन्ता व्यूहध्वं मलाद्विभक्ता निर्मला भवत । यतोऽयं वनस्पतिर्मे दन्तकाष्ठरूपः सोमो राजा आगत इत्याकारप्रश्लेषेण व्याख्येति ॥ ८३ ॥

इस दतुइन से क्षत्रियादिक अन्य सब वर्णों की दतुअन यथाक्रम एक-एक अंगुल छोटी होनी चाहिए । आम, आमड़ा, आँवला, कङ्कोल, खैर, शमी, चिचिड़ा, खर्जूरी, लिसोडा, खंभारी, अखरोट, खिरनी (वा प्यारमेवा), नारंगी एवं कसैले, कडुवे, कटेले और दुद्धे (दुधैले) वृक्षों की दतुअन उत्तम है, पश्चात् धनुष के ऐसी टेढ़ी अच्छी जीभ छोलनी (बनाकर) करे ॥ ८०-८२ ।

"अन्न भोजन करने के लिये (निर्मलता प्राप्तकर) स्थिर पंक्ति से दृढ़ रहो, (क्योंकि) राजा सोम जिस वनस्पति में आ गये हैं, वही मेरे मुख को यश और भाग्य के द्वारा पोंछ देवेंगे ॥ ८३ ।

---

1. णामंकोलेति क्वचित्पाठः ।

आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशु वसूनि च ।
ब्रह्मप्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते ।। ८४ ।
मन्त्रावेतौ समुच्चार्य यः कुर्याद्दन्तधावनम् ।
वनस्पतिगतः सोमस्तस्य नित्यं प्रसीदति ।। ८५ ।
मुखे पर्युषिते यस्माद् भवेदशुचिभाग् नरः ।
ततः कुर्यात् प्रयत्नेन शुद्ध्यर्थं दन्तधावनम् ।। ८६ ।
उपवासेऽपि न दुष्येद्दन्तधावनमञ्जनम् ।
गन्धालङ्कारसद्वस्त्रपुष्पमालानुलेपनम् ।। ८७ ।
प्रातःसन्ध्यां ततः कुर्याद् दन्तधावनपूर्विकाम् ।
प्रातःस्नानं चरित्वा च शुद्धे तीर्थे विशेषतः ।। ८८ ।
प्रातःस्नानाद्यतः शुद्ध्येत् कायोऽयं मलिनः सदा ।
छिद्रितो नवभिश्छिद्रैः स्रवत्येव दिवानिशम् ।। ८९ ।

द्वितीयो मन्त्रः स्पष्ट एव ।। ८४ ।

उपवासेऽपीति । दन्तधावनमित्यनेन द्वादशगण्डूषादिभिर्दन्तानां शोधनमेवाऽत्र विवक्षितं न तु दन्तकाष्ठानां भक्षणम् । प्रतिपद्दर्शषष्ठीनवम्येकादशीषु च व्रतश्राद्धो-पवासेषु दन्तकाष्ठं न भक्षयेदिति निषेधात् ।। ८७ ।

हे वनस्पते ! तुम हम लोगों को आयु, बल, कीर्ति, तेज, प्रजा, पशु, धन, ब्रह्मप्रज्ञा (ब्रह्मबुद्धि) और मेधा प्रदान करो" ।। ८४ ।

इन अर्थवाले दोनों मन्त्रों का पाठ कर जो कोई दतुअन करता है, उस पर वनस्पति में स्थित सोम नित्य ही प्रसन्न होता है ।। ८५ ।

मुख के वासी हो जाने से मनुष्य अपवित्र हो जाता है, अतएव शुद्ध होने के लिये प्रयत्नपूर्वक दन्तधावन करे ।। ८६ ।

उपवास में भी दन्तधावन, अंजन, अलंकार, उत्तमवस्त्र, पुष्पमाला और अनुलेपन दूषित नहीं है ।। ८७ ।

तदनन्तर दन्तधावन करके प्रातःकाल की संध्या कर डाले और विशेष करके तो शुद्धतीर्थ में प्रातः स्नान करके तभी संध्या करे ।। ८८ ।

(क्योंकि) सदा प्रातःकाल स्नान करने से मलिन यह जर्जर शरीर, जो रात-दिन नवों छेदों से (मल) स्रवता ही रहता है, शुद्ध हो जाता है ।। ८९ ।

उत्साहमेधासौभाग्यरूपसम्पत्प्रवर्तकम् ।
मनःप्रसन्नताहेतुः प्रातःस्नानं प्रशस्यते ॥ ९० ।
प्रस्वेदलालाद्याक्लिन्नो निद्राधीनो यतो नरः ।
प्रातःस्नानात्ततोऽर्हः स्यान्मन्त्रस्तोत्रजपादिषु ॥ ९१ ।
प्रातः प्रातस्तु यत्स्नानं संजाते चारुणोदये ।
प्राजापत्यसमं प्राहुस्तन्महाघविघातकृत् ॥ ९२ ।
प्रातःस्नानं हरेत्पापमलक्ष्मीं ग्लानिमेव च ।
अशुचित्वं च दुःस्वप्नं तुष्टिं पुष्टिं प्रयच्छति ॥ ९३ ।
नोपसर्पन्ति वै दुष्टाः प्रातःस्नायिजनं क्वचित् ।
दृष्टाऽदृष्टफलं यस्मात्प्रातःस्नानं समाचरेत् ॥ ९४ ।
प्रसङ्गतः स्नानविधिं वक्ष्यामि कलशोद्भव ।
विधिस्नानं यतः प्राहुः स्नानाच्छतगुणोत्तरम् ॥ ९५ ।

प्राजापत्यो व्रतविशेषः ॥ ९२ ।

प्रातः स्नान (लोगों के) उत्साह, बुद्धि, सौभाग्य, रूप, सम्पत्ति एवं मन को प्रसन्नता का मुख्य हेतु होने से ही प्रशंसित होता है ॥ ९० ।

क्योंकि मनुष्य निद्राधीन होकर पसीना और लार इत्यादि के द्वारा आर्द्र हो जाता है। अतःपरं प्रातः स्नान करने से ही मन्त्र, स्तोत्र और जपादिक करने का अधिकारी हो सकता है ॥ ९१ ।

प्रातः अरुणोदय होने की वेला का स्नान प्राजापत्यव्रत के समान कहा जाता है, एवं यह स्नान महापापों का विघातक है ॥ ९२ ।

प्रातः स्नान पाप, दरिद्रता, ग्लानि, अपवित्रता और दुःस्वप्न का विनाशक एवं तुष्टि और पुष्टि का दायक है ॥ ९३ ।

प्रातः स्नायी जन को कभी दोषगण आक्रमण नहीं कर सकते, प्रातः स्नान से दृष्ट और अदृष्ट दोनों ही फल प्राप्त होते हैं, इसलिये प्रातः स्नान अवश्य करना चाहिए ॥ ९४ ।

हे कलशोद्भव ! प्रसंगवश मैं स्नान की विधि भी वर्णन करता हूँ, कारण यह कि विधिपूर्वक स्नान साधारण स्नान से सौ गुना उत्तम कहा गया है ॥ ९५ ।

विशुद्धां मृदमादाय बर्हींषि तिलगोमयम् ।
शुचौ देशे परिस्थाप्य स्वाचम्यस्नानमाचरेत् ।। ९६ ।
उपग्रही बद्धशिखो जलमध्ये समाविशेत् ।
उरूँ हीति मन्त्रेण तोयमावर्त्य सूष्टितः ।। ९७ ।
ये ते शतं जप्त्वा तोयस्यामन्त्रणाय च ।
सुमित्रियानो मन्त्रेण पूर्वं कृत्वा जलाञ्जलिम् ।
क्षिपेद्द्वेष्यं समुद्दिश्य जपन् दुर्मित्रिया इति ।। ९८ ।

उपग्रही प्रगृहीतकुश इत्यर्थः । उरुँ हीति । उरुँ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेत वा उ । अपदे पादा प्रतिधातवेऽकुरुतायवक्ताहृदयाविधश्चित् । नमो वरुणायभिष्ठितो वरुणस्य पाश इति मन्त्रस्य शेषः । उरुँ विस्तीर्णं हि अतिशयेन राजा वरुणः चकार कृतवान् । सूर्याय षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सूर्यस्य पन्थानम् । अन्वेत वै यः अन्वहमागमनाय । अपदे पादा प्रतिधातवेकः यत्र पदं दत्तं प्रतिमुद्रान्यायेन नोपलक्ष्यते अस्मिन् अपदे अन्तरिक्षलोके पादापादानां षष्ठीबहुवचनस्थाने आकारः । प्रतिधातवे प्रतिनिधानाय अकः कृतवान् आलम्बनमिति शेषः । सूर्यस्येव । उत्तापवक्ता हृदयो विधश्चित् । उतापि चापवक्ता अपवदिता क्षेप्ता हृदयाविधश्चित् । चिच्छब्दोऽप्यर्थे । हृदयं यो विध्यति मर्माण्युच्चार्य पिशुनः तस्याप्यपवक्ताऽपवदिता किमुतान्येषामिति शेषः । य इत्थंभूतो वरुणः सोऽवभृथाय तीर्थं ददात्विति शेषः । अप उन्ध क्रमयन् वाचयति । नमो वरुणाय नमोऽस्तु वरुणायाभिष्ठिता आक्रान्तो वरुणस्य पाशेनालम्बंधनायेति ।। ९७ ।

ये ते शतमिति । वरुणये सहस्रं यज्ञियाः । पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नोघसवितोतविष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्का इति मन्त्रशेषः । शतसहस्रशब्दावत्र बहुत्वार्थौ । तथा चायमर्थः—भो वरुणये तव शतं सहस्रमसंख्याता यज्ञिया यज्ञकाले भवा यज्ञियाः श्रेयः प्रत्यूहाः पाशाः कर्मावरोधका बन्धनप्रकारा वितता विस्तृता महान्तो बृहत्तरास्तेभिस्तैः तेभ्यः सकाशादित्यर्थः । नोऽस्मान् अद्य इदानीं सविता सर्वेषां प्रसविता उतापि च विष्णुर्व्यापकः विश्वे सर्वे मुञ्चन्तु मोचयन्तु मरुतो देवाः स्वर्काः

पवित्र मृत्तिका, कुश, तिल और गोबर लेकर शुद्ध स्थान में (उसे) रख स्नान करना चाहिए ।। ९६ ।

प्रथमतः कुशग्रहण और शिखावन्दन करके जल के मध्य में प्रवेश करे । फिर "ऊरुंहि" इत्यादि मन्त्र को पढ़ता हुआ चारों ओर जल लेकर वेष्टित करे ।। ९७ ।

फिर जल के आमन्त्रण करने के लिये "ये ते शतं" इत्यादि मन्त्र को जपे । अनन्तर "सुमित्रिया नः" इत्यादि मन्त्र से जलांजलि देकर, फिर "दुर्मित्रिया" इत्यादि मन्त्र के द्वारा शत्रु के उद्देश से जल को फेंक देवे ।। ९८ ।

इदं विष्णुरिमं जप्त्वा लिम्पेदङ्गानि मृत्स्नया।
मृदैकया शिरः क्षाल्य द्वाभ्यां नाभेस्तथोपरि ॥ ९९ ।
नाभेरधस्तु तिसृभिः पादौ षड्भिर्विशोधयेत्।
मज्जेत् प्रवाहाभिमुख आपो अस्मानिमं जपन् ॥ १०० ।

सुरोचनाः स्वंचनाः स्वर्चना वेति। सुमित्रियान इति। आप ओषधयः सन्त्विति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—सुमित्रियाः साधुमित्रत्वेनावस्थिता नोऽस्माकमाप ओषधयश्च सन्त्विति। दुर्मित्रिया इति। तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—दुर्मित्रिया दुष्टमित्रत्वेनावस्थिता आप ओषधयश्चेत्यनुवर्तते तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च शत्रुं द्विष्मो वयमिति ॥ ९८।

इदं विष्णुरिति। विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्, समूढमस्य पाँ सुर इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—इदं जगत् विष्णुर्विचक्रमे विक्रान्तवान्। सर्वप्राणिनां भूतेन्द्रियमनोजीव-भावेन विशतीति विष्णुः। किञ्च, त्रेधा निदधे पदं पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं भूम्यन्तरिक्ष-द्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रेधा निहितवान् पदम्। किञ्च, समूढमस्य सुरे लुप्तोप-मैतत्। अस्यैव विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरमित्येवं लक्षणं समूढमन्तर्हितमविज्ञातमकृतात्मभिः पांसुरे पांसुले प्रदेशे निहितमिव न दृश्यते तद्द्रष्ट-व्यमिति वाक्यशेषः ॥ ९९।

आपो अस्मानिति। मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं-प्रवहन्ति देवीरिति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु आप उच्यन्ते या एता आपो जगतो निर्मात्र्यस्ता अस्मान् शुन्धयन्तु शोधयन्तु, किञ्च घृतेन नोऽस्मान् घृतप्वः घृतेन याः पुनन्ति ता घृतप्वः, घृतं ह्यपां परमं तेजः पवित्रं च तद्वै सुपूतं यद् घृतेन पुनन्तीति श्रुतेः। सुवर्णप्राशो घृतप्राश इति मेध्यानीति गौतमः। पुनन्तु यज्ञयोग्यं कुर्वन्तु। स्तुतिपूर्वं हि याञ्चाति क्रियते, न चात्र स्तुतिरत आह। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः। हि शब्दो यस्मादर्थे। तयो रिप्रमिति पापनामनी भवतः, यस्मात् स्वभावत एव सर्वं पापं प्रकर्षेण वहन्ति देव्य इति ॥ १००।

इसके पीछे "इदं विष्णुः" इत्यादि मन्त्र को पढ़ता हुआ सर्वांग में मृत्तिका लगावे, एक बार मृत्तिका से मस्तक को प्रक्षालित कर, दो बार नाभि के उपरि-भाग ॥ ९९।

तीन बार नाभि के नीचे एवं छः बार दोनों पाँवों को विशोधित करे। फिर "आपो अस्मान्" इत्यादि मन्त्र को जपता हुआ प्रवाहाभिमुख होकर डुबकी लगावे ॥ १००।

उदिदाभ्यः शुचिरिति मन्त्र उन्मज्जने मतः ।
मानस्तोक इमं जप्त्वा लिम्पेद् गात्राणि गोमयैः ॥ १०१ ।
इमं मे वरुणेत्यादि मन्त्रैः स्वात्माऽभिषेचनम् ।
तत्त्वायामि तथा त्वन्नः स त्वं नश्चाप्युदुत्तमम् ॥ १०२ ।

उदिदाभ्यः शुचिरिति । आपूत एमीति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः । उदेमि उद्गच्छामि । इच्छब्दोऽनर्थकः आभ्योऽद्भ्यः शुचिः सन्नापूतश्च यावदिति । मानस्तोक इति । तनये मान आयुषि मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः, मानो वीरान् रुद्रभामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामह इति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—मा रीरिषः रिषति-हिंसाकर्मा । मा हिंसीः । नोऽस्माकं तोके पुत्रविषये तनये पौत्रविषये मा हिंसीः । नोऽस्माकमायुषि विषयभूते मा नो गोषु मा हिंसीः, नोऽस्माकं गोषु विषयभूतासु मा नो अश्वेषु मा हिंसीः, नोऽस्माकमश्वेषु विषयभूतेषु । यद्वा, विभक्तिव्यत्ययेन व्याख्यानम् । मा रीरिषः अस्माकं तोकं तनयं आयुर्गा अश्वान् । मा नो वीरान् रुद्रभामिनो वधीर्मा वधीर्नोऽस्माकं वीरान् हे रुद्र । भामिनः भामः क्रोधः क्रोधसंयुक्तान् । कः प्रत्युपकार इति चेद्धविष्मन्तः हविषा संयुक्ताः सन्तः सदं सदाकालं इत् इच्छब्द एवार्थेत्वामेव हवामहे आह्वयामः । यागार्थमनन्यशरणा वयमित्यभिप्रायः ॥ १०१ ।

इमं मे वरुणेत्यादीति । आदिशब्देन श्रुधीहवमद्या च मृडय त्वामवस्युराचके इति मन्त्रशेषो गृह्यते । अस्यार्थः । इमं मे मम हे वरुण श्रुधि श्रृणु हवमात्मानम् अद्यास्मिन् मृडय सुखय मा कालान्तरमपेक्षस्व । किं कारणम् ? यतस्त्वामहमाचके आचक इति कान्तिकर्मा । कामये । कथंभूतः ? अवस्युरात्मनोऽवनं पालनमिच्छन्निति । तत्त्वायामीति । ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः अहेडमानो वरुणेहबोध्युरुशं-समान आयुः प्रमोषीरिति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—तत्त्वा तदाशास्त इति श्रवणादिह-पदप्रयोगः । त्वा त्वां यामि याचामि । ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन वन्दमानः । हविर्भिर-भ्युद्यतैः । अत आह । अहेडमानः अक्रुध्यन् हे वरुण ! इह कर्मणि वर्तमानः अस्माकं प्रयोजनं यज्ञसमाप्तिलक्षणं बोधि बुध्यस्व । बुध्वा च उरु शंसहे बहु संस्तव्यमान आयुः प्रमोषीः, माऽस्माकमायुरवखण्डयेति । त्वन्न इति । अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मदिति मन्त्रशेषः ।

अस्यार्थः—हे अग्ने ! त्वं नः अस्मान् प्रतिविद्वान् जानानः वरुणस्य देवस्य हेडः क्रोधः अवयासिसीष्ठाः । य सु उपक्षये अस्य ण्यन्तस्य लिङि एतद्रूपमवपूर्वस्य । अपगमय ।

अनन्तर "उदिदाभ्यः शुचिः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता हुआ जल में से ऊपर निकल "मानस्तोक" इत्यादि मन्त्र को जपकर समस्त देह में गोबर का लेपन करे ॥ १०१ ।

अनन्तर "इमं मे वरुण" इत्यादि, अथ च "उदुत्तमम्" इत्यादि फिर "धाम्नो धाम्नः" इत्यादि, तथा "मापो मौषधीः" एवं "यदाहुरघ्न्या" इत्यादि, पुनः "मुंचन्तु

धाम्नो धाम्नस्तथा मापो मौषधीरिति संजपेत् ।
यदाहुरघ्न्या मुञ्चन्तु मेति चावभृथेति च ॥ १०३ ॥

यस्माच्च त्वं यजिष्ठो यज्ञकृत्तमो वह्नितमो वोढृतमो हविषा शोशुचानो देदीप्यमानो भवसि, तस्मात् प्रार्थये । विश्वा विश्वानि द्वेषांसि सर्वाणि दौर्भाग्यानि प्रमुमुग्धि विमुञ्च अस्मदस्मत्त इति । स त्वं न इति । अग्ने वमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ अवयक्ष्वनो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधीति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—स त्वमेवं प्रार्थ्यमानो नोऽस्माकं हे अग्ने ! अवमः अवितृतमः पालयितृतमो भव । उती उत्याऽवनेन नेदिष्ठश्चान्तिकतमः अस्या उसषो व्युष्टौ व्यूष्टिकालेऽस्मिन्नेवाहनीत्यभिप्रायः । ततोऽवयक्ष्व अवपूर्वो यजिर्नाशने वर्तते, इह तु धात्वर्थयोगात् स्वकीयमेवार्थं ब्रवीति । अवगत्य यज । नोऽस्माकं वरुणं रराणो रा दाने ददद्वा हविस्ततो ब्रवीमि वीहि मृडीकं भक्षय पुरोडाशं सुखकरम् । ततः सुहवः स्वाह्वानः अस्माकमेधीति । उदुत्तममिति । वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्लथाय । अथावयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्यामेति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—उदित्ययमुपसर्गः श्लथायेति सम्बध्यते । हे वरुण ! उत्तमं तावत् पाशम् उत् श्लथाय श्लथ शैथिल्ये श्लथीकृत्य उत् ऊर्ध्वं नयाऽस्मदस्मत्तः । अवाधमं अधमं च पाशम् अवाचीनं श्लथय विमध्यमं स्थानस्थितमेव श्लथय । अथैवंकृते सति वयं हे आदित्य ! अदितेः पुत्र तव कर्मणि वर्तमाना अनागसोऽनपराधाः सन्तोऽदितयेऽदीनतायै स्यामेति ॥ १०२ ॥

धाम्नो धाम्न इति । राजंस्ततो वरुण नो मुञ्चेति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—हे वरुण राजन् धाम्नो धाम्नः धामशब्दः स्थानवचनः । यतो यतः पाशसमन्वितात् स्थानाद्बिभीमस्ततस्ततो नोऽस्मान् विमुञ्चेति । मापो मौषधीरिति । हिंसीरित्येव शेषः । अस्यार्थः—हृदयशूलमुपगूहति मापो मौषधीरिदं वै पशोः संज्ञप्यमानस्येत्युपक्रम्य हृदयशूलं शुक् समवैतीत्युक्तम् । अत एवमुच्यते—मा हिंसीरपो मा चौषधीर्हिंसीरिति । यदाहुरघ्न्या इति । वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्चेति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—अघ्न्या इति गोनामप्रकरणात् । इहानुबन्ध्या विषयं बहुवचनमनुबन्ध्या बहुत्वेऽर्थवत् । एकानुबन्ध्या पक्षे तु पूजार्थम् । यद्वेदे श्लोकमन्त्रवाक्यान्याहुरहन्तव्या अघ्न्या अबन्ध्याः वन्द्याः पूजनीया इति करणो वाक्यस्यार्थमभिनयेन दर्शयति । वयं हे वरुण शपामहे । इति करणः प्रदर्शनार्थः । शपतिर्हिंसार्थः । एवमनेनविधिनाऽहिंस्या अघ्न्या अत एव वयं त्वां शपामहे । ततो वरुण नो मुञ्च ततस्तस्मादेनसः वरुण नोऽस्मान् विमुञ्चेति । मुञ्चन्तु मेति । शपथ्यादथो वरुण्यादुत । अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्मादेव किल्विषाद् इति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—मुञ्चन्तु मा शपथ्यात् शपथे भवः शपथ्यस्तस्माच्छपथ्यात् शपथनिमित्तात् किल्बिषादोषधयो मा मां मुञ्चन्तु । अथो अपि च वरुण्यात् वरुणे भवो वरुण्यस्तस्माद्वरुण्याद् वरुणनिबन्धनात् किल्बिषान्मुञ्चन्तु । उत अपि च

मा" इत्यादि, पश्चात् "अवभृथ" इत्यादि इन सब अब्दैवत (जिनके देवता जल हैं) मन्त्रों के द्वारा आत्माभिषेक करना कहा गया है । इसके अनन्तर कृती ब्राह्मण, प्रणव,

अब्दैवता इमे मन्त्राः प्रोक्ताः स्वात्माऽभिषेचने ।
प्रणवेन ततो विप्रो महाव्याहृतिभिस्ततः ॥ १०४ ।
आत्मानं पावयेद्विद्वान् गायत्र्या च ततः कृती ।
आपो हिष्ठेति तिसृभिः प्रत्यृचं पावनं स्मृतम् ॥ १०५ ।

यमस्य यमयति नियमयति सर्वं जगदिति यमस्तस्य यमस्य सम्बन्धिनः पड्वीशात् पड्वीशशब्दो बन्धनवचनः । बन्धनाद् बन्धननिमित्तात् किल्बिषान्मुञ्चन्तु । अथोऽपि च देवकिल्बिषाद् देवतापराधनिमित्तात् किल्बिषान्मां मुञ्चन्तु । किञ्चाऽत्र बहुनोक्तेन सर्वस्मात् किल्बिषाद् ब्रह्महत्यादिपापान्मां मुञ्चन्त्विति । अवभृथेति । निचुंपुणनिचेरुरसिनिचुंपुणः । अवदेवैर्देवकृतमेनोयासिषमवमर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देवरिषस्पाहीति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—अवभृथो यज्ञः, हे अवभृथ वयमवाचीनं पात्राण्यस्मिन् भ्रियन्त इत्यवभृथः । निचुं पुनः नीचैः क्वणत्यांशु अवभृथेष्ट्या चरन्तीति श्रुतेः । यस्त्वं नीचैश्चरणोऽसि नीचैः क्वणंश्च तं त्वां प्राप्यैव अवदेवैर्देवकृतमेनायासिषं कृतवान् अवनोतवान् । किमवनीतवान् ? एनः पापम् कैः सखिभूतैर्देवैः । किं विषयं देवकृतं देवविषये यत्कृतम् । अवमर्त्यैर्मर्त्यकृतम् अवनोतवांश्च मर्त्यैर्मनुष्यैर्ऋत्विग्भिः सखिभूतैः मर्त्यकृतं मनुष्यविषये कृतं पापम् । अतस्त्वं हे अवभृथ देवरिषः पाहि ऋषतिर्हिंसार्थः । रिष हिंसायां क्विबन्तस्तस्य पञ्चमी रिषः बन्धात् पाहि गोपाय । कथम्भूताद् बन्धात् । पुरुराव्णः । रा दाने । बहुकर्मोपभोगसन्तानदातुः संसारलक्षणाद् बन्धनात् । यद्वा, पुरुशब्देन रुवन्ति प्राणिनोऽस्मिन् संसार्यमाणः पुरुराणाः इति चेति ॥ १०३ ।

आपो देवता येषां ते तथा । महाव्याहृतिभिर्भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमिति सप्तभिः ॥ १०४ ।

गायत्र्या गायत्रीमन्त्रेणेत्यर्थः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयादिति गायत्रीमन्त्रः । अस्यार्थः—तदिति षष्ठ्या विपरिणम्यते । तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुरादित्यान्तरपुरुषस्य देवस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य देवस्य वा विज्ञानानन्दस्वभावस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं भर्गः, भर्गशब्दो वीर्यवचनः, वरुणाद्धवा अभिषिञ्चनाद् भर्गोऽपचक्राम वीर्यं वै भर्ग इति श्रुतिः । तेन हि पाप्मानं भृज्जति दहति, भृजी भर्जने । अथवा भर्गस्तेजोवचनः । यद्वा, मण्डलं पुरुषो रश्मय इत्येतत्त्रितयमभिप्रेयते । देवस्य देवनादिगुणयुक्तस्य धीमहि ध्यै चिन्तायाम् अस्य च्छान्दसं सम्प्रसारणम् । ध्यायामश्चिन्तयामो निदिध्यासनं तद्विषयं कुर्म इति यावत् । धियो यो नः धीशब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वा । बुद्धिः कर्माणि

महाव्याहृति एवं गायत्री के द्वारा अपने को पावन करे । "आपो हिष्ठा" इत्यादि प्रत्येक तीनों ऋचाएँ पावन कही गईं हैं (अत एव इनसे भी अभिषेक करना चाहिए) ॥१०२-१०५।

एतेऽपि पावना मन्त्रा इदमापो हविष्मतीः।
देवीराप अपो देवा द्रुपदादिव संज्ञकाः॥ १०६॥

वा यः सविता नोऽस्माकं प्रचोदयात्, चुद संचोदने प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति। तस्य सवितुः सम्बन्धिवीर्यं तेजो वा ध्यायाम इति सम्बन्धः। वाक्यभेदेन वा योजना। तत्सवितुर्वरणीयं वीर्यं तेजो वा देवस्य ध्यायामः। यश्च बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयत्यस्माकं तं च ध्यायामः। स च सवितैव भवति। लिङ्गव्यत्ययेन वा योजना। तत्सवितुर्वरणीयं भर्गो देवस्य ध्यायामः। धियो यो भर्गः अस्माकं प्रेरयतीति। आपो हिष्ठेति तिसृभिः कण्डिकाभिरिति शेषः। तत्र मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन। महेरणाय चक्षसे। यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजतयेह नः। उशतीरिव मातरः। तस्मा अरङ्गमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जन यथा च न इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—द्वितीयपादे तच्छ्रवणाद् यदोऽध्याहारः। हे आपः या यूयं मयो भुवः इति सुखनाम। सुखेन भावयित्र्यः स्थ भवथ सर्वप्राणिनाम्। छन्दसः परिपूर्तिकरो हिशब्दः। ता नोऽस्मान् ऊर्जेऽन्नाय दधातन स्थापयत। यथा वयं सर्वस्य भोक्तारो भवेम, तथा कुरुतेत्यभिप्रायः। महे महते ईरणाय रमणीयाय चक्षसे दर्शनायाऽस्मान् दधातन इत्यनुवर्तते। एतदुक्तं भवति—महच्च यद्दर्शनं परब्रह्मलक्षणं रमणीयं तदस्माकं कुरुतेति। अथवा हिशब्दो यस्मादर्थे। कृत्वा व्याख्यायते। न हि वेदे मात्रामात्रस्यानर्थक्यमिष्यते सम्भवे सति। आपो हि आपः यस्मात् कारणान्मयोभुवः तान ऊर्जे ताशब्दस्य पञ्चम्यासन्नेति तस्माद्धेतोरस्मान् अन्नाय स्थापयत महते रमणीयाय चक्षसे दर्शनीयाय। यो वः यश्च वो युष्माकं शिवतमः शान्ततमो रसस्तस्य भाजयत भागिनः कुरुत इहैव स्थितानस्मान् उशतीरिव वश कान्तौ कृतसम्प्रसारणस्यैतद्रूपम्। कामयमाना इव मातरः, मातृशब्दः सम्बन्धवचनः। यथा कामयमाना मातरः पुत्रस्य कल्याणं तैस्तैरर्थैर्भाजयेयुरेवं भाजयत। तस्मा अरम्। अलमिति प्राप्ते लकारस्य रेफश्छान्दसः। हे आपः तस्य च रसस्याधस्तनमन्त्रयाचितस्य वो युष्मत् सम्बन्धिनः अलं पर्याप्तं गमाम गच्छाम वयम्। पर्याप्तं नाम रसविषये वैतृष्ण्यं सदा तृप्तिर्वा। यस्य क्षयाय जिन्वथ क्षयो निवास इत्याद्युदात्तः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। यस्येति सामानाधिकरण्यादेशः। यस्याहुतिपरिमाणभूतस्य क्षयस्य निवासस्य एकदेशेन जिन्वथ जिन्वथिः प्रीतिकर्म तर्पयथ पञ्चाहुतिपरिणामक्रमेणेदं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत्। तत्र च हे आपः जनयथाऽऽलम्बनमसमत्तः नोऽस्मान् भोक्तृत्वेन पानदेवत्वमाशास्यतेति। प्रत्यृचं ऋ च नृचं प्रतिपावनं पावित्र्यं स्मृतं ब्रह्मविद्भिरिति शेषः। परमिति पाठे परमुत्कृष्टम्॥ १०५॥

एते वक्ष्यमाणा अपि मन्त्राः पावनाः पावित्र्यजनकाः। **इदमाप इति।** प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्। आपो मा

"इदमापः" इत्यादि, "हविष्मतीः" इत्यादि, "देवीरापः" इत्यादि, "अपो देवाः" इत्यादि, "द्रुपदादिव" इत्यादि, "शन्नो देवीः" इत्यादि, "अपो देवीः" इत्यादि,

तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चन्त्विति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—हे आप इदं पशुसंज्ञपन-निमित्तं पापं प्रवहत अपनयत। किञ्चावद्यमवदनीयं च यदभिशापादि मलं च यत्, यच्च मलं शरीरसंलग्नं मूत्रपुरीषादि प्रसिद्धं तच्च प्रवहत अपनयत। यच्चाभिदु-द्रोहानृतम्, द्रुह जिघांसायाम्, यदपि चाभिद्रुग्धवानस्मि असत्यमुच्चार्यं यच्च शेपे अभीरुणम्, शप आक्रोशे, यच्छपितवानस्मि अभीरुणमपराधिनमनपराधीति न बिभेति, यद्वाऽभिलुनाति छिनत्ति मर्माणि यदुच्चरितं सत्। यच्चाभीरुणम्। आपः मा मां तस्मादेनसः पापात् पवमानः सोमो वायुर्वा मुञ्चतु पृथक् करोत्विति। हविष्मतीरिति। इमा आपो हविष्माम् आविवासति। हविष्मान् देवो अध्वरोहविष्मास् अस्तु सूर्य इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—लिङ्गोक्ता हविष्मतीर्हविषा संयुक्ता इमा आपः हविष्मान् हविषा संयुक्तो यजमान आविवासति। आविपूर्वो वसतिः। परिचरति इत्यर्थः। यजमानो हविःप्रदानाय परिचरति। हविष्मानध्वरो यज्ञः स्वशरीरनिष्पत्त्यर्थं हविष्मान् भवतु हविःसम्पन्नोऽस्तु। सुशोभनतया ईरणात् सूर्यो देवो यजमानस्य फलदानाय स्वतृप्त्यर्थं हविष्मान् भवतु हविःसम्पन्नोऽस्त्विति। देवीराप इति। आपन्नपाद्यो व ऊर्मिर्हविष्य। इन्द्रियावान् मदिन्तम इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—हे देव्य आपः अपान्नपात्संज्ञको यो व ऊर्मिस्तरङ्गः कल्लोलो हविष्यः हविर्योग्यः यज्ञियः इन्द्रियावान्, दीर्घश्छान्दसः, वीर्यवान् मदितमः मदयितृतम इति। अपो देवा इति। मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः। याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीरिति मन्त्र-शेषः। अस्यार्थः—मधुमतीः मधुरतया स्वादुरसोपेता मधुमत्यस्ता मधुमतीः ऊर्जस्वती-र्विशिष्टान्नरसवतीः। राजस्वः राजसुवः, षुञ् प्राणिप्रसवे, राजानं सुवते जनयन्तीति राजसुवः चितानादेवतात्वमनेन चेतयमानाः परिहृष्टचारिण्यः अब्देवाः। भकार-श्छान्दसः। अगृभ्णन् गृहीतवन्तः, अपो विशिनष्टि। याभिर्मित्रावरुणाविति। याभिरद्भिर्मित्रावरुणौ देवा अभ्यषिञ्चन् मित्रावरुणयोरभिषेकं कृतवन्तः, याभिरिन्द्र-मनयन् याभिरिन्द्रं देवराजम् अति अरातीरदानशीलाः। शत्रुसेना अनयन् शत्रूनतीत्या अतिक्रम्य अधः कृत्यानयन् आनीतवन्तः, ता अपो गृभ्णन्निति शेष इति। द्रुपदादिव-संज्ञका इति। मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनस इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—द्रोः पादो द्रुपदः। द्रुशब्दो वृक्षवचनः। द्रुपदो वृक्षमयः पादः पादुकः। एकवचनमविवक्षितम्। गमनसाधनत्वेन पादुकाभ्याम् मुमुचानो मुच्यमानो यथा पुमान् गमनावसाने क्लेशेन मुच्यते। स्विन्नः स्वेदं प्राप्तः पुमांस्तन्निवृत्त्यर्थं स्नातो मलादिव यथा मलाद्विमुच्यते। पूतं पवित्रेणेवाज्यं यथा पवित्रेण पूतमाज्यं पवित्राद्विमुच्यते पृथक् क्रियते तथा आपः शुन्धन्तु मैनसः मा मां यथा उपासिता आप एनसः पापात् साकाशाच्छुन्धन्तु प्रस्विन्नस्य कृत्स्नान् मलात्तापादि-कृतः, अतः शुद्धिविशेषतो मे पापनिवृत्तिं शुन्धन्तु पृथक् कुर्वन्त्विति ॥ १०६॥

"अपां रसम्" इत्यादि, "पुनन्तु मा" इत्यादि ये पावमानी सूक्त के मन्त्र परम पावन कहे गये हैं (इनसे भी आत्मशोधन करना चाहिए)॥ १०६-१०७॥

शन्नो देवीरपो देवीरपाँ रसमित्यपि ।
पुनन्तु मेति च नव पावमान्यः प्रकीर्तिताः ॥ १०७ ॥

शन्नो देवीरिति। अभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु न इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—नोऽस्माकं देवीर्देव्यः आपोऽभीष्टयेऽभिषेकायाभीष्टाय वा पीतये पानाय च शं सुखरूपा भवन्तु। शं योरभिस्रवन्तु नः यो रोगाणां पृथक्करणहेतोः शं सुखरूपाः सत्य आपो नोऽस्मानभिस्रवन्त्विति। अपो देवीरिति। उपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः। तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पला इति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—सिन्धुद्वीप आपिन्यं कुमारिणी बृहती। विधूमभग्न इत्यानन्तर्या-दत्र कर्तृत्वेनाग्निर्विवक्ष्यते द्यौर्वा। प्रजाभ्यः। अत्र विभक्तिव्यत्ययः। प्रजानामयक्ष्माय यक्ष्माव्याधिरयक्ष्मार्थं मधुमतीर्देवीराप उपसृजेति सम्बन्धः। देवीर्दवनादिगुणसंयुक्ता मधुमतीः रसवतीर्वृष्टिरूपा आप उपसृज निक्षिप। तासां भूमिगतानामपामास्थाना-दपांरससम्बन्धितया आपां रससंपृक्तमुज्जितं क्षेत्रलक्षणस्थानात् सुपिप्पलाः सुष्ठु पिप्पलं फलं यासामोषधीनां ताः सुपिप्पलाः। फलपाकान्ता ओषधयः शाल्यादय उज्जिहतास्, ऊहाङ्गतौ उद्गच्छान्त्विति। अपां रसमिति। उद्वयसँ सूर्यं सन्तँ-समाहितम्। अपाँ रसस्य यो रसस्तम्बो गृह्णाम्युत्तममिति मन्त्रशेषः। अस्यार्थः—रसः सारः सोऽपां वायुः। 'एष वा अपां रसो योऽयं पवते' इति श्रुतिः। उद्वयसं उद्गतं वयोऽन्नं यस्माद्वायोस्तमुद्वयसं वायुं सूर्ये सन्तं समाहितमित्यनयोः पदयोर्व्य-त्ययाऽर्थसम्बन्धात् सूर्ये समाहितं सन्तं समारोपितं स्थापितं सन्तं गृह्णामीति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। अपां रसस्य यो रसस्तम्बो गृह्णाम्युत्तमम् अपां रसोवायुस्तस्यापि रसः सारः प्रजापतिः, स हि यज्ञलोककालाग्निवायुसूर्यऋग्युजःसामादिवपुस्तं वय-शब्देनाह। अपो गृह्णामि उत्तममुत्कृष्टतमम्, यद्वा, वयःशब्दोऽनर्थकः। अपां रसस्य वायोर्यो रसः प्रजापतिस्तं गृह्णामीति तस्मिन् पक्षे योजना। पुनन्तु मेतीति। पावमान्यः पवित्र्यकर्त्र्यः ऋच इत्यर्थः। तत्र पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः, पुनन्तु मा पितामहाः, पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषेति प्रथमो मन्त्रः। पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः सोमार्हाः सोम्याः सोमसम्पादिनो वा सोम्याः, सोम्या एव सोम्यासः पितरो मा मां यजमानं पुनन्तु शोधयन्तु। पितामहाः पितुः पितरो मा मां पुनन्तु तत्पितरः प्रपि-तामहाः पुनन्तु। केन पुनन्तु ? पवित्रेण पवनहेतुभूतेन शतायुषा येन पवित्रेण पूतः शतायुर्भवति तत्पवित्रं शतायुस्तेन शतायुषा पवित्रेण मां पुनन्तु पावनं च पाप-नोदनम्, शुद्धिफलग्रहणयोग्यताशुद्धिमापादयन्त्विति। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै इति द्वितीयो मन्त्रः। अस्यार्थः—पुनन्तु मा मां पितामहाश्च पुनन्तु शतायुषा पवित्रेण पुनन्तु प्रपितामहाश्च पुनन्तु विश्वमायुरेतैः सर्वैर्दत्तं विश्वं सर्वमायुर्व्यश्नवै। अशूङ् व्याप्तौ। अहं व्यश्नवै व्यश्नुयामिति। अग्न आयूँषिपवसआसुवोर्जमिषं च नः।

आरे बाधस्व दुच्छुनामिति तृतीयो मन्त्रः। अस्यार्थः—आग्नेयी गायत्री वैश्वानरः। हे श्रीभगवन्नग्ने नोऽस्मान् प्रति आयूंषि आयुःप्रापकानि कर्माणि पवसे

ततोऽघमर्षणं जप्त्वा द्रुपदां च ततो जपेत् ।
प्राणायामं च विधिवदथवान्तर्जले जपेत् ॥ १०८ ॥

अन्तर्गतणिजर्थोऽयं पावयसे गमयसि । किञ्च, आसुवोर्जमिषं च नः इषं व्रीह्यादिकम् ऊर्जं दधिक्षीराद्युपसेचनं नोऽस्मभ्यं आसुव अभ्यनुजानीहि । आरे दूरे व्यवस्थितं सन्तं दुच्छुनां दुच्छुदौर्गत्यं व्याधयश्च । दुर्जनप्रभृतयो लक्ष्यन्ते तान् बाधस्वेत्यर्थः । पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धिया । पुनन्तु विश्वाभूतानि जातवेदः पुनीहि मेति चतुर्थो मन्त्रः । अस्यार्थः—लिङ्गोक्तदेवत्यानुष्टुप् देवजना देवानुगा जना मां पुनन्तु पुनन्तु मनसा धियः मनसा विवेकेन सम्पन्नेन मनसा संजाता धियो देवता विषयज्ञानानि कर्माणि वा मां पुनन्तु । विश्वानि भूतानि मां पुनन्तु । हे श्रीजातवेदः मां पुनीहीति । **आग्नेयी गायत्री** । पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देवदीद्यत् । अग्ने क्रत्वा क्रतूँ रनु इति पञ्चमो मन्त्रः । हे देवदीद्यत् दीप्यमान श्रीभगवन् अग्ने शुक्रेण शुद्धेन पवित्रेण मां पुनीहीति । यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा । ब्रह्म तेन पुनातु मा इति षष्ठो मन्त्रः । अस्यार्थः—आग्नेयी ब्राह्मी च गायत्री तृतीयः पादो ब्रह्मदेवत्यः । हे श्रीभगवन्नग्ने यत्ते पवित्रमर्चिषि परमतेजसि अन्तरा मध्ये विततंते तव यत्पवित्रं पवनहेतुभूतं विततमतिविस्तृतरूपं पवित्रे तिष्ठति तेन पवित्रेण मां पुनीहि । ब्रह्म तेन पुनातु मां वेदलक्षणं यद् ब्रह्म परं यद् ब्रह्म तेन ब्रह्मणा मां पुनातु । यद्वा, अर्चिषि विततं यत्पवित्रं तेन पवित्रेणाभ्यनुज्ञानेन ब्रह्मणा पुनात्विति । पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः । यः पोतासपुड्नातु मेति सप्तमो मन्त्रः । अस्यार्थः—सोमदेवत्या गायत्री तृतीयः पादो वायव्यः । पवमानः ससोमः अद्याऽस्मिन्नहनि नोऽस्मान् पवित्रेण पावनेन विचर्षणिर्द्रष्टा कृताकृतं प्रत्यवेक्ष्यामि । को मां पुनातु ? यः स्वभावतः पोता पवनकर्ता वायुः स मां पुनात्विति । उभाभ्यां देवसवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वत इत्यष्टमो मन्त्रः । अस्यार्थः—**सवितृदेवता गायत्री** । हे देव सवितः पवित्रेण सवेन च अनेन पवित्रेण सर्वेणानेन यागेन चेत्युभाभ्यां पवित्रसवाभ्यां मां पुनीहि विश्वतः सर्वतो मां पावयेति । वैश्वदेवी पुनती देव्या गाद्यस्यामि मा बह्वयस्त-न्वोवीतपृष्ठाः । तया मदंतः सधमादेषु वयँ स्याम पतयारयीणामिति नवमो मन्त्रः । अस्यार्थः—वैश्वदेवीत्रिष्टुप् । वैश्वदेवी विश्वदेवत्यासुराकुंभी पुनती पावनं कुर्वाणा देवीदेवता आगाद् आगता यस्यां देव्यां इमा बह्वयस्तन्वो बहुशरीराणि वीतपृष्ठाः विगतापरभागा निरन्तरधारा बह्वयः सन्ति तया सुराकुंभ्या देव्या मदन्तो मोदमानाः सधमादेषु सहर्षप्राप्तिस्थानेषु वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम ॥ १०७ ॥

ततोऽघमर्षणमिति । ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः । समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य

अनन्तर जल में मग्न होकर "अघमर्षण" मन्त्र को जप कर फिर "द्रुपदा" मन्त्र को जपे अथवा विधिपूर्वक प्राणायाम का जप करे ॥ १०८ ॥

प्रणवं त्रिर्जपेद्वापि विष्णुं वा संस्मरेत्सुधीः ।
स्नात्वेत्थं वस्त्रमापीड्य गृह्णीयाद्धौतवाससी ॥ १०९ ।
आचम्य च ततः कुर्यात् प्रातः सन्ध्यां कुशान्विताम् ।
यो न सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणो हि विशेषतः ॥ ११० ।
स जीवन्नेव शूद्रस्तु मृतः श्वा जायते ध्रुवम् ।
सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ॥ १११ ।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत् ।
प्रणवं प्राग्दिशि स्मृत्वा ततो दत्वा कुशासनम् ॥ ११२ ।

मिषतो वशी । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः इत्यघमर्षणमन्त्रः । अस्यार्थः—ऋतं सत्यमिति परब्रह्मोच्यते । तथा च श्रुतिः—"ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति" । आसीदित्यध्याहार्यम् । तदयमर्थः—ऋतं च सत्यं चासीत् परब्रह्म आसीत् । एतेन महाप्रलयावस्था प्रतिपादिता । महाप्रलयसमये केवलं ब्रह्ममात्रमासीदित्यर्थः । ततो महाप्रलयावस्थायामेव रात्र्यजायत रात्रिः समुत्पन्ना, केवलमन्धकारमयमासीदित्यर्थः । तथा च स्मृतिः—"अप एव ससर्जादाविति" । किंभूतात्तपसः । अभीद्धात् अभि सर्वतोभावेन समृद्धात् । लब्धप्रलयसमये हि ऋद्धवददृष्टं भवति । ततः समुद्रादर्णवाद्धाता स्रष्टा अजायत । किंभूतः ? मिषतः प्रकटीभवतो विश्वस्य वशी प्रभुः । महाप्रलये विलुप्तसृष्टजगतो निर्माणे प्रभुरित्यर्थः । स धाता यथापूर्वं यथाक्रमं सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् । किंभूतौ ? अहोरात्राणि विदधत् कुर्वाणौ । ततः सूर्यचन्द्रयोः उत्पत्त्यनन्तरं संवत्सरोऽजायत । सूर्यचन्द्रोत्पत्तौ रात्रिंदिनविभागकल्पनया संवत्सरः सृष्टः । अथाऽनन्तरं दिवं स्वर्गं पृथिवीं महीम् अन्तरिक्षमाकाशं स्वर्नक्षत्रलोकोपरिस्थितं स्वर्गलोकं स एव धाताऽकल्पयत् । चराचरात्मकं सकललोकं स एव सृष्टवानिति । द्रुपदामिति प्रतीकग्रहणाभिप्रायेण ॥१०८।

किं वा तीन बार प्रणव का ही जप करे अथवा विष्णु को स्मरण करे, इस प्रकार से स्नान करके वस्त्र को गार (निचोड़कर) धोआ (कचारा) हुआ तरना, उपरना (अधोवस्त्र और उत्तरीय) दो वस्त्र पहिने ॥ १०९ ।

अनन्तर आचमन कर, कुश ले, प्रातःकाल की संध्या करे, विशेष करके जो ब्राह्मण संध्या की उपासना नहीं करता, वह जीते जी तो शूद्र के समान (होता है) और मरने पर निश्चय कुक्कुर होता है । संध्याहीन जन सर्वदा अशुद्ध एवं समस्त कर्मों के अयोग्य ही रहता है ॥ ११०-१११ ।

वह जो कुछ अन्य धर्म-कर्म करता है, उसका फलभागी नहीं होता । प्रथमतः पूर्वदिशा में प्रणव को स्मरण कर कुशासन बिछाय, चित्त और दृष्टि को एकाग्र कर

चतुःस्रक्तिरिमं मन्त्रं पठित्वा नान्यदृङ्मनाः ॥ ११३ ।
प्राङ्मुखो बद्धचूडो वाप्युपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्रदक्षिणं स्वमभ्युक्ष्य प्राणायामं समाचरेत् ॥ ११४ ।
गायत्रीं शिरसा सार्धं सप्तव्याहृतिपूर्विकाम् ।
त्रिर्जपेत् स दशोंकारः प्राणायामोऽयमुच्यते ॥ ११५ ।
प्राणायामांश्चरन् विप्रो नियतेन्द्रियमानसः ।
अहोरात्रकृतैः पापैर्मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥ ११६ ।
दश द्वादशसंख्या वा प्राणायामाः कृता यदि ।
नियम्य मानसं तेन तदा तप्तं महत्तपः ॥ ११७ ।

चतुःस्रक्तिरिति । नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः । स नः सर्वायुः सप्रथाः । अपद्वेषो अपह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिमेति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—चतुःस्रक्तिर्दिशो यश्च वीरस्य स्रक्तयः कोणेषु चतुःस्रक्तिर्यश्च नाभिर्नहनं ऋतस्य प्रथाः 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' त्वत्प्रसादाच्चापद्वेषः अपगच्छतु द्वेषोऽस्मत्तः । वीतरागाः स्यामेत्यभिप्रायः । अपह्वरः भरह्वर चलने, अपगच्छतु चलनमस्मत्तः । जनित्वा म्रियते मृत्वा जायत इत्येतच्चलनमभिप्रेतम् । अन्यव्रतस्य सश्चिममन्यद्व्रतं कर्म यस्य मनुष्यकर्मणः सकाशादार्तानुग्रहात्मकं स तथोक्तस्तस्य कर्म वयं सेवामहे साधु वयं प्राप्ताः सन्त इति ॥११३।

गायत्रीमिति । शिरसा सार्धम् । आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोमित्यनेन सह सहितामित्यर्थः । सप्तव्याहृतयो भूरादयः पूर्वं प्रथमं यस्यास्ताम् । ॐभूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यं ॐतत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्, ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोमित्येवंभूतां गायत्रीं त्रिर्वारत्रयं जपेत् । सोऽयं दशोंकारो दशोंकारसहितो वाऽयं प्राणायाम उच्यत इत्यर्थः ॥ ११५ ।

"चतुःस्रक्तिः" इत्यादि मन्त्र को पढ़, पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख बैठ, शिखा को बाँध, दक्षिण ओर से अपना अभ्युक्षण जल से कर, प्राणायाम आरम्भ करे ॥ ११२-११४ ।

सप्त व्याहृति, शिरो मन्त्र और दश प्रणव सहित गायत्री का तीन बार जप करे (पूरक, कुम्भक और रेचक साधे), इसी का नाम प्राणायाम कहा जाता है ॥ ११५ ।

ब्राह्मण, मन और इन्द्रियों को स्थिर कर प्राणायाम का आचरण करने से उसी क्षण अहोरात्रकृत पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ११६ ।

जो कोई मन को संयमित करके दश वा बारह प्राणायाम करता है, उसे बड़ी तपस्या करने का फल प्राप्त हो जाता है ॥ ११७ ।

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ ११८ ।
यथा पार्थिवधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः ।
तथेन्द्रियैः कृता दोषा ज्वाल्यन्ते प्राणसंयमात् ॥ ११९ ।
एकं सम्भोज्य विधिवद् ब्राह्मणं यत्फलं लभेत् ।
प्राणायामैर्द्वादशभिस्तत्फलं श्रद्धयाऽऽप्यते ॥ १२० ।
वेदादिवाङ्मयं सर्वं प्रणवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
ततः प्रणवमभ्यस्येद् वेदादिं वेदजापकः ॥ १२१ ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य सप्तसु व्याहृतिष्वपि ।
त्रिपदायान्तु गायत्र्यां न भयं जायते क्वचित् ॥ १२२ ।
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति पावनं कलशोद्भव ॥ १२३ ।

भ्रूणहनं गर्भहन्तारं श्रेष्ठब्राह्मणहन्तारं वा ॥ ११८ ।

दह्यन्ते दाहकर्तृभिरिति शेषः । धमनादग्निसंयोगात् । ज्वाल्यन्ते नाश्यन्ते प्राणायामकर्तृभिरिति शेषः । प्राणसंयमात् प्राणायामात् ॥ ११९ ।

वेदादिरूपं यद् वाङ्मयं तत्सर्वं यस्मात् प्रणवे प्रतिष्ठितं ततस्तस्माद् वेदजापकः प्रणवमभ्यसेत् । कथम्भूतम् ? वेदादिं वेदादेः कारणम् । तथा चोक्तम्—

ॐकारप्रभवा वेदा ॐकारप्रभवाः स्वराः ।
ॐकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ इति ॥ १२१ ।

भयाऽभावे हेतुमाह । एकाक्षरमिति । एकाक्षरं प्रणवम् ॥ १२३ ।

एक मास भर प्रतिदिन सोलह प्राणायाम यदि किये जावें, तो वे भ्रूणहत्या करने वाले को भी पवित्र कर दे सकते हैं ॥ ११८ ।

जैसे अग्नि में तपा देने से पार्थिव धातुओं का मल दग्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायाम करने से इन्द्रियकृत समस्त दोष भस्म हो जाते हैं ॥ ११९ ।

एक ब्राह्मण को विधिपूर्वक भोजन कराने से जो पुण्य प्राप्त होता है, श्रद्धापूर्वक बारह प्राणायाम करने से भी वही फल प्राप्त हो जाता है ॥ १२० ।

वेदादिक समस्त वाक्य स्वरूप ही प्रणव में प्रतिष्ठित हैं, अतएव वेदजापक जन सर्वदा उसी वेदादिप्रणव का अभ्यास करे ॥ १२१ ।

प्रणव, सप्त व्याहृति और त्रिपदा गायत्री के (जप में) जो सदा तत्पर रहता है, उसे कहीं भी भय उत्पन्न नहीं होता ॥ १२२ ।

हे घटयोने ! प्रणव ही परंब्रह्म, प्राणायाम ही परम तप है और गायत्री की अपेक्षा दूसरा कोई भी मन्त्र परम पावन नहीं है ॥ १२३ ।

कर्मणा मनसा वाचा यद्रात्रौ कुरुते त्वघम् ।
उत्तिष्ठन् पूर्वसन्ध्यायां प्राणायामैर्विशोधयेत् ॥ १२४ ।
यदह्ना कुरुते पापं मनोवाक्कायकर्मभिः ।
आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां तत्प्राणायामतो हरेत् ॥ १२५ ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमान्तु समासीनः सम्यगर्क्षविभावनात् ॥ १२६ ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमान्तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १२७ ।
नोपतिष्ठेत्तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ १२८ ।
अपां समीपमासाद्य नित्यकर्म समाचरेत् ।
गायत्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ १२९ ।

उत्तिष्ठन् शयनात् । अथवा पूर्वसन्ध्यायामुत्तिष्ठन् उत्कर्षेण तिष्ठंस्तां कुर्वन्नित्यर्थः ॥ १२४ ।

रात्रि में मनसा, वाचा, कर्मणा जो कुछ पाप हुआ हो, सोकर उठते ही प्रातःकाल की संध्या में प्राणायामों के ही द्वारा उन सब (पापों) को विशेषशुद्धि कर डाले ॥ १२४ ।

इसी प्रकार से दिन में मन, वचन और काय कर्मों से जो पाप होता है, सायंकाल की संध्या में बैठकर प्राणायाम करने से वह पाप दूर हो जाता है ॥ १२५ ।

खड़ा होकर गायत्री का जप करता हुआ सूर्य के दर्शनपर्यन्त प्रातःसंध्या करे और बैठ कर सम्यक् प्रकार से नक्षत्र (तारा) दिखलाई पड़ने तक सायं सन्ध्योपासन करे ॥ १२६ ।

खड़े होकर प्रातःसंध्या में जप करने से रात्रि के पाप नष्ट हो जाते हैं एवं बैठकर सायंसंध्या में जप करने से दिन के पाप दूर हो जाते हैं ॥ १२७ ।

जो प्रातः संध्या और सायं संध्या न करे, उसे शूद्र के समान समस्त द्विजगणों के कर्म से बाहर कर देना चाहिए ॥ १२८ ।

जलाशय के समीप जाकर नित्यकर्मों का अनुष्ठान करे और अरण्य में जाकर स्थिरचित्त से गायत्री का जप करे ॥ १२९ ॥

गृहाद् बहुगुणा यस्मात् सन्ध्या बहिरुपासिता ।
गायत्र्यभ्यासमात्रोऽपि वरं विप्रो जितेन्द्रियः ॥ १३० ।
त्रिवेद्यपि च नो मान्यः सर्वभुक् सर्वविक्रयी ।
सविता देवता यस्या मुखमग्निस्त्रिपाच्च या ॥ १३१ ।
विश्वामित्रो ऋषिश्छन्दो गायत्री सा विशिष्यते ।
गायत्रीमुषसि ध्यायेल्लोहितां ब्रह्मदैवताम् ॥ १३२ ।
हंसारूढामष्टवर्षां रक्तस्रगनुलेपनाम् ।
ऋक्स्वरूपामभयदामक्षमालावलम्बिनीम् ॥ १३३ ।
व्यासर्षिणा स्तूयमानां छन्दसाऽनुष्टुभायुताम् ।
एतद्ध्यानादुषर्देव्या नैशमेनो व्यपोहति ॥ १३४ ।
सूर्यश्चेति च मन्त्रेण स्यादाचमनमुत्तमम् ।
आपोहिष्ठेति तिसृभिर्मार्जनं ततश्चरेत् ॥ १३५ ।

गायत्र्यभ्यासमात्रः गायत्रीसारमात्रः । जितेन्द्रियः सुयन्त्रितः । तथा च मनुः—

गायत्रीसारमात्रोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नाऽयं त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ इति ॥ १३० ।

उषर्देव्याः प्रातःकालोपास्याया गायत्र्याः ॥ १३४ ।

सूर्यश्चेतीति । मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मत्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्, यद्रात्र्यां पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सूर्यज्योतिषि परमात्मनि जुहोमि स्वाहेति मन्त्रशेषः ।

क्योंकि गृह से बाहर जाकर जो संध्योपासन किया जाता है, वह गृह की संध्या से कई गुना अधिक होता है। जितेन्द्रिय होकर जो ब्राह्मण केवल गायत्री का ही अभ्यास करता है, वही भला है ॥ १३० ।

परन्तु त्रिवेदविज्ञ होने पर भी जो जन सर्वभोजी और सर्वविक्रयी हो, वह कभी मानने के योग्य नहीं है। जिसके देवता सविता (सूर्य) मुख अग्नि, विश्वामित्र ऋषि, छन्द त्रिपदा गायत्री है, वही सबसे विशेष है। प्रातःकाल में लोहितवर्णा, ब्रह्मदेवता, हंसारूढा, अष्टवर्षा, रक्तमाला, रक्तचन्दनानुलेपना, ऋग्वेदस्वरूपा, अभयदा, अक्षमालावलम्बिनी, व्यास ऋषि के द्वारा स्तूयमाना, एवं अनुष्टुप् छन्द से युक्त, (ऐसी) गायत्री का ध्यान करे। प्रातःकाल में गायत्री देवी का इस प्रकार से ध्यान करने से रात्रिकृत समस्त पाप दूर हो जाते हैं ॥ १३१-१३४ ।

अनन्तर "सूर्यश्च" इत्यादि मन्त्र के द्वारा आचमन करना उत्तम है। फिर "आपो हिष्ठा" इत्यादि तीनों ऋचाओं से मार्जन करे ॥ १३५ ।

भूमौ शिरसि चाकाशे आकाशे भुवि मस्तके।
मस्तके च तथाकाशे भूमौ च नवधा क्षिपेत्॥ १३६॥
भूमिशब्देन चरणावाकाशं हृदयं स्मृतम्।
शिरस्येव शिरःशब्दो मार्जनज्ञैरुदाहृतः॥ १३७॥
वारुणादपि चाग्नेयाद्वायव्यादपि चैन्द्रतः।
मन्त्रस्नानादपि परं ब्राह्मं स्नानमिदं परम्॥ १३८॥

अस्यार्थः—मा मां रक्षन्ताम्, के, सूर्यश्च मन्युश्च मन्युर्यज्ञः। केभ्यः, पापेभ्यः। किंभूतेभ्यो, मन्युकृतेभ्यः असाङ्गयज्ञकृतेभ्यः। तथा मन्युपतयो यज्ञपतयो मन्युः क्रोधो वा क्रोधपतयः इन्द्रियाणि क्रोधकृतेभ्यः पापेभ्यः क्रोधो रक्षतामिति किमुक्तं स्यात्। ममैतादृशः क्रोधो मा भवतु येनाहमकार्यं न करोमीति। किञ्च, यत्पापं रात्र्यकार्षं केन, मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना शिश्नेन तत्पापमहर्दिवसोऽवलुम्पतु खण्डयतु यत्किञ्चिन्मयि मदाश्रितं दुरितं पापं तदिदमहं सूर्ये जुहोमि। किंभूते, ज्योतिषि हृत्पद्ममध्यस्थितप्रकाशस्वरूपे। परमात्मनि परमात्मस्वरूपे। अमृतयोनौ चेतनात्मकारणे। पानीयरूपेण तत्पापं जुहोमि स्वाहा सुहुतं भवत्विति॥ १३५॥

आपो हिष्ठेति तिसृभिर्व्याख्यातं ब्राह्मं स्नानमाह। **भूमावित्यादि-द्वाभ्याम्**॥ १३६॥

भूमाविति श्लोकगतं पादत्रयं स्वयमेव व्याचष्टे। **भूमिशब्देनेति**॥ १३७॥

वारुणादिति। इदं भूमावित्यादिनोक्तं ब्राह्मं स्नानं वारुणादित्यादिपञ्चस्नानात् परं भिन्नं परं श्रेष्ठं चेत्यन्वयः। तत्र वारुणं जलजम्। आग्नेयमग्निहोत्रविभूतिजम्। वायव्यं वायुना नीयमानगोरजोजम्। ऐन्द्रमभ्रं विना ऐरावतकरोज्झितवारिजम्। मान्त्रं मूलमन्त्रजं वैदिकमन्त्रजं वा। तथा चोक्तम्—

मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसं चैव [1]सप्तधेवं प्रकीर्तितम्॥ इति।

(मार्जन की विधि यह है कि प्रथम—)भूमि में, मस्तक पर, आकाश में, (फिर) आकाश में, भूमि पर और मस्तक पर, (एवं) मस्तक पर आकाश में, और भूमि पर, इस प्रकार से नव बार जल छिड़के॥ १३६॥

मार्जनज्ञ लोगों ने भूमिशब्द से दोनों चरण, आकाश से हृदय और मस्तक से मस्तक को ही उदाहृत किया है॥ १३७॥

(जल से) वारुणस्नान, (अग्निहोत्र के भस्म से) आग्नेय स्नान, (वायु के द्वारा उड़े हुए गोरज पड़ने से) वायव्यस्नान, (विना मेघ की वृष्टि से) ऐन्द्र स्नान, एवं (वैदिकादि मूलमन्त्रों से) मन्त्रस्नान श्रेष्ठ है; परन्तु यह (मानसिक) ब्राह्मस्नान सब से श्रेष्ठ होता है॥ १३८॥

---

१. सप्तस्नानमिति क्वचित्पाठः।

ब्राह्मस्नानेन यः स्नातः स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ।
सर्वत्र चार्हतामेति देवपूजादिकर्मणि ॥ १३९ ।
नक्तं दिनं निमज्ज्याप्सु कैवर्ताः किमु पावनाः ।
शतशोऽपि तथा स्नाता न शुद्धा भावदूषिताः ॥ १४० ।
अन्तःकरणशुद्धा ये तान् विभूतिः पवित्रयेत् ।
किं पावनाः प्रकीर्त्यन्ते रासभा भस्मधूसराः ॥ १४१ ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु स सर्वमलवर्जितः ।
तेन क्रतुशतैरिष्टं चेतो यस्येह निर्मलम् ॥ १४२ ।
तदेव निर्मलं चेतो यथा स्यात्तन्मुने शृणु ।
विश्वेशश्चेत् प्रसन्नः स्यात्तदा स्यान्नान्यथा क्वचित् ॥ १४३ ।

तत्र भौमं मृदालम्बनं तिलकादिधारणमिति यावत् । दिव्यमैन्द्रम् । मानसं सगुणनिर्गुणभेदेन हरिहरयोश्चिन्तनम् । तथा च ब्राह्मादपि स्नानान्मानसं स्नानमधिकमिति दर्शितं भवति । यद्वा, भूमावित्यादिश्लोकद्वयं मार्जनविशेषपरं तदा वारुणादित्यस्यायमर्थः । वारुणादिपञ्चस्नानादित्युपलक्षणं भौमस्नानादपि ब्राह्मं स्नानं यदिदं परं भिन्नं परं श्रेष्ठं चेत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे ब्राह्मं मानसमेव ॥ १३८ ।

तत्स्तौति । ब्राह्मं स्नानेनेति ॥ १३९ ।

ननु वारुणाग्नेययोरेव श्रेष्ठत्वं प्रतिभाति प्रायशः सर्वैः क्रियमाणत्वादित्याशङ्क्य निराकरोति । नक्तमिति द्वयेन ॥ १४० ।

रासभा गर्दभाः ॥ १४१ ।

एवंस्थिते फलितमाह । सस्नात इति ॥ १४२ ।

तर्हि तत् कथं स्यादित्याकाङ्क्षापूर्वकं सहेतुकमाह । तदेवेति ॥ १४३ ।

(इस) ब्राह्मस्नान के द्वारा जो नहाता है, वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों में पवित्र हो जाता है एवं देवपूजादिक सब कर्मों में सर्वत्र अधिकारी होता है ॥ १३९ ।

केवट लोग (मलाह) रात्रि-दिन जल में डूबे रहने से क्या पवित्र हो जाते हैं ? उसी प्रकार से भावदूषित जन सैकड़ो बार स्नान करने पर भी शुद्ध नहीं होते ॥ १४० ।

जो लोग शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, विभूति का लेपन उन्हीं को पवित्र करता है, नहीं तो भस्म से धूसर गर्दभों को भी क्या कोई पवित्र कह सकता है ? ॥ १४१ ।

इस जगत् में जिसका चित्त निर्मल है, वह मनुष्य समस्त तीर्थों में स्नात, सर्वविध मलों से वर्जित एवं सैकड़ों यज्ञों का फलभागी होता है ॥ १४२ ॥

हे मुनिवर ! वही चित्त जिस प्रकार से निर्मल होता है, उसे सुनिये । यदि विश्वेश्वर प्रसन्न हों, तभी (चित्त निर्मल) होता है । अन्य प्रकार से कभी ऐसा होता ही नहीं ॥ १४३ ।

तस्माच्चेतोविशुद्धचर्थं काशीनाथं समाश्रयेत् ।
तदाश्रयेण नियतं संक्षीयन्ते मनोमलाः ॥ १४४ ।
संक्षीणमानसमलो विश्वेशाऽनुग्रहात्परात् ।
इदं शरीरमुत्सृज्य परं ब्रह्माधिगच्छति । १४५ ।
विश्वेशाऽनुग्रहे हेतुः सदाचारो मतो नृणाम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं तस्मात्तमनुसंश्रयेत् ॥ १४६ ।
द्रुपदान्तु ततो जप्त्वा जलमादाय पाणिना ।
कुर्यादृतञ्च मन्त्रेण विधिज्ञः त्वघमर्षणम् ॥ १४७ ।
निमज्ज्याप्सु च यो विद्वान् जपेत्त्रिरघमर्षणम् ।
यथाऽश्वमेधावभृथस्तस्य स्यात्तत्तथा ध्रुवम् ॥ १४८ ।
जले वाऽपि स्थले वाऽपि यः कुर्यादघमर्षणम् ।
तस्याघौघो विनश्येत यथा सूर्योदये तमः ॥ १४९ ।

समाश्रयेच्चिन्तयेत् । मनोमलाः कामाः ॥ १४४ ।

ननु विश्वेशाऽनुग्रह एव कुतः स्यात्तत्राह । विश्वेशाऽनुग्रह इति । तं सदाचारम् ॥ १४६ ।

द्रुपदामिति । ऋतञ्चेति मन्त्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातमिति प्रतीकतया एकदेशग्रहणाऽभिप्रायेण ॥ १४७ ।

अतएव अन्तःकरण की विशुद्धि के सिद्धयर्थ काशीनाथ के शरण का आश्रयण करे; क्योंकि उनके आश्रय से सकल मनोगत मल नियतरूप से क्षय हो जाते हैं ॥ १४४ ।

विश्वेश्वर के परम अनुग्रह से मनुष्य मानसिक मलों के संपूर्णरूप से क्षीण हो जाने पर इस शरीर को त्यागकर परब्रह्म (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥ १४५ ।

केवल सदाचार ही मनुष्यों के प्रति विश्वेश्वर के उस अनुग्रह का कारण होता है। अतएव श्रुति-स्मृतिकथित उसी सदाचार का आचरण करना सर्वथा उचित है ॥ १४६ ।

अनन्तर विधिज्ञ जन "द्रुपदा" मन्त्र को जप हाथ में जल लेकर "ऋतं च" इत्यादि मन्त्र के द्वारा अघमर्षण करे ॥ १४७ ॥

जो विद्वान् जल में डूबकर तीन बार अघमर्षण का जप करता है, वह तो उस अश्वमेधयज्ञ के अवभृथ स्नान में जो पुण्य होता है, निश्चय उसे प्राप्त करता है ॥१४८।

चाहे जल में हो, अथवा स्थल पर ही हो, जो कोई अघमर्षण को जपता है, उसकी पापराशि सूर्य के उदय होने पर अन्धकार के सदृश विनाश को प्राप्त हो जाती है ॥ १४९ ॥

इमं मन्त्रं ततश्चोक्त्वा कुर्यादाचमनं द्विजः ।
आचार्याः केचिदिच्छन्ति शाखाभेदेन चापरे ॥ १५० ।
अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ॥ १५१ ।
गायत्रीं शिरसा हीनां महाव्याहृतिपूर्विकाम् ।
प्रणवाद्यां जपंस्तिष्ठन् क्षिपेदम्भोऽञ्जलिं त्रयम् ॥ १५२ ।
तेन वज्रोदकेनाशु मन्देहानामराक्षसाः ।
सूर्यारयः प्रलीयन्ते शैला वज्राहता इव ॥ १५३ ।
विवस्वतः सहायार्थं यो द्विजो नाऽञ्जलित्रयम् ।
क्षिपेन्मन्देहनाशाय सोऽपि मन्देहतां व्रजेत् ॥ १५४ ।
प्रातस्तावज्जपंस्तिष्ठेद्यावत्सूर्यस्य दर्शनम् ।
उपविष्टो जपेत् सायमृक्षाणामाविलोकनात् ॥ १५५ ।

इमं इममेव वरुणेति मन्त्रम् । आचार्या इति । केचिदपरे आचार्याः शाखाभेदेनाऽन्तश्चरसि—इत्याचमनमन्त्रमिच्छन्तीति शेषः । इमं वक्ष्यमाणं मन्त्रमुक्त्वाऽऽचमनं कुर्यादित्यत्र हेतुमाह । आचार्या इति । मन्त्रमेव दर्शयति । अन्तश्चरसीत्येवाऽन्वयः । गुहायां बुद्धौ । विश्वतोमुखः सर्वत्राननः । रस आनन्दः अमृतं षड्विकाररहितम् ॥ १५० ।

कोई कोई आचार्य "अन्तश्चरसि" मन्त्र को जपकर द्विज आचमन करे, ऐसा उपदेश करते हैं । (परन्तु) दूसरे (आचार्य) शाखाभेद से आचमन की व्यवस्था करते हैं ॥ १५०-१५१ ।

इसके अनन्तर शिरोमन्त्र से हीन, प्रणवादि महाव्याहृतियों के सहित गायत्री का जप करता हुआ खड़ा होकर तीन बार जलांजलि (सूर्यार्घ्य) देवे ॥ १५२ ॥

वह जलांजलि वज्रोदक है, सूर्य के शत्रु मंदेहनामक राक्षसगण वज्र से आहत शैल की तरह उससे प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५३ ।

जो द्विज, सूर्यदेव के सहायतार्थ 'मन्देह' राक्षसों के विनाश होने के लिये तीन अंजलि जल नहीं देता, तो वह स्वयं मन्देह हो जाता है ॥ १५४ ।

प्रातःकाल जब तक सूर्यनारायण का दर्शन न होवे, तब तक खड़ा रहकर (गायत्री को) जपता रहे, एवं सायंकाल में भी तारकदर्शनपर्यन्त बैठकर जप करे ॥ १५५ ॥

काललोपो न कर्तव्यो द्विजेन स्वहितेप्सुना ।
अर्धोदयास्तसमये तस्माद्वज्रोदकं क्षिपेत् ॥ १५६ ॥
विधिनाऽपि कृता सन्ध्या कालातीताऽफला भवेत् ।
अयमेव हि दृष्टान्तो वन्ध्यास्त्रीमैथुनं यथा ॥ १५७ ॥
जलं वामकरे कृत्वा या सन्ध्या चरिता द्विजैः ।
वृषली सा परिज्ञेया रक्षोगणमुदावहा ॥ १५८ ॥
उद्वयन्तमुदुत्यञ्च चित्रन्देवेति तत्परम् ।
तच्चक्षुरित्युपस्थानमन्त्रा ब्रध्नस्य सिद्धिदाः ॥ १५९ ॥

उद्वयन्तमित्यनुस्वार आर्षः । प्रतीकाऽभिप्रायो वा । मसः परिस्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तममिति मन्त्रशेषः । अस्यार्थः—तद् वयं तमसः परितमः प्रचुरादस्माल्लोकात्तमसः पाप्मनो वा परि उपरि स्वः स्वर्गे लोके देवत्रा देवेषु उत्तरं देवं देवनादिगुणयुक्तमुत्तमं सर्वज्योतिर्भ्य उत्तमं उत्कृष्टतमं सूर्यं सर्वप्रेरकं पश्यन्तः शास्त्रदृष्ट्या साक्षात्कुर्वन्तः सूर्यं ज्योतिः उत् अगन्मवहृता स्मेति । उदुत्यमिति । जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यमिति मन्त्रशेषः । अस्याऽयमर्थः—उदित्युपसर्गः । उ इति च निपातः । त्यच्छब्दस्य रूपं त्यमिति । त्यं जातवेदसं जातं वेत्ति वेदयतीति जातवेदास्तं जातवेदसं सर्वज्ञं देवं देवनादिगुणयुक्तम् । सूर्यम् । चिती ज्ञाने । केतवः प्रज्ञानात्मका असंख्याता रश्मयः उ एव उद्वहन्ति विश्वाय विश्वस्य सर्वस्य जगतः दृशे दर्शनाय सर्वलोकस्य दर्शनादिव्यवहारसिद्ध्यर्थं वहन्ति उद्वहन्तीति सम्बन्ध इति । चित्रन्देवेति । नामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति मन्त्रशेषः । अस्याऽयमर्थः—चित्रमिति क्रियाविशेषणम् । चित्रं विचित्रं यथा भवति तथा उदगात् । आश्चर्यं हि स्वकीयेन ज्योतिषा शार्वरं तमोऽपहत्याऽन्येषां च ज्योतिषां ज्योतिरादाय गच्छतीति । यद्वा, चित्रं चायनीयं दर्शनाय उदगात् । देवानां रश्मीनामनीकं मुखं प्रथम-

---

निजहिताकांक्षी द्विज कभी काललोप न होने देवे । (सुतरां) सूर्य के अर्धोदय और अर्धास्त के समय वज्रोदक (अर्घ्य) दे देवे ॥ १५६ ।

संध्या का काल बीत जाने पर विधिपूर्वक भी की गई संध्या वंध्या (विफल) हो जाती है। इसका यही दृष्टान्त है कि, जैसे वन्ध्या स्त्री का मैथुन (होता है ।) ॥ १५७ ।

द्विज लोग वामहस्त में जल लेकर जिस संध्या को करते हैं, उसे वृषली जानना चाहिए। उसके द्वारा राक्षसगणों को ही हर्ष प्राप्त होता है ॥ १५८ ।

"उद्वयं" इत्यादि, "उदुत्यं" इत्यादि, "चित्रं देवानाम्" इत्यादि, एवं "तच्चक्षुः" इत्यादि सूर्य के ये चारों उपस्थान के मन्त्र सिद्धिप्रद हैं ॥ १५९ ।

सहस्रकृत्वो गायत्र्याः शतकृत्वोऽथवा पुनः ।
दशकृत्वोऽथ देव्यैव कुर्यात् सौरीमुपस्थितिम् ।। १६० ।
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं यो जपेद्विप्रो न स पापैः प्रलिप्यते ।। १६१ ।
विभ्राडित्यनुवाकं वा कं वा सूक्तं वा पौरुषं जपेत् ।
शिवसंकल्पमथवा ब्राह्मणं मण्डलं तु वा ।। १६२ ।

मुदगात् । ततो देवानां रश्मीनामनीकं रश्मिसंघातश्चित्रं विचित्रं चायतनीयम् आदित्यमण्डलमुदगादित्यर्थः । तच्च मित्रस्य वरुणस्याग्नेरित्येतेषां चक्षुर्दृष्टिः सदेव मनुष्यस्य जगतो यच्चक्षुस्तदादित्यमण्डलम् आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्, प्रा पूरणे, द्यावा पृथिवी तन्मध्यमन्तरिक्षं च स्वकीयेन प्रकाशेन आ समन्तात् प्राः पुरुषव्यत्ययः । अप्रात् आपूरितवान् । सूर्योदये हि रूपादयो अभिव्यज्यन्ते कालस्याऽपि विशिष्टक्रियाहेतुत्वं यजमानानां च विशिष्टक्रियाकर्तृत्वं देवानां च विशिष्टपूजाविषयत्वमित्यादिकं सर्वं सूर्योदयायत्तमित्यर्थः । स एव सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः, अस्य जगतः जगन्ति गच्छतीति जगत् तस्य जगतो जंगमस्य तस्थुषः स्थितिशीलस्य स्थावरस्य सूर्यः सर्वप्रेरको भगवान् आत्मा सर्वस्य प्रत्यगात्मभूतः । परमात्मदृष्ट्या सूर्यः स्तूयत इति । तत्परम् उदुत्यमित्यस्मात्परम् । तच्चक्षुरिति । देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतमिति मन्त्रशेषः । अस्याऽयमर्थः— तच्चक्षुरादित्यात्मकं चक्षुर्देवहितं देवेन श्रीभगवता हितं प्रतिष्ठितं देवेभ्योऽर्थाय वा हितं पुरस्तात् प्राच्यां दिशि शुक्रं पाप्मभिरसंस्पृष्टम् उच्चरत् उदेति । पश्येम सर्वाणि पुरुषार्थसाधनानि पश्येम । शरदः शतमिति बहुकालं जीवेम । शरदः शतं शतसंवत्सरपरिमितं कालम् । शृणुयाम श्रीभगवन्माहात्म्यप्रभाववादिनोः श्रुतोः । शरदः शतं कल्पेन शृणुयामेति ॥ १५९ ।

सहस्रकृत्वः सहस्रवारान् । एवमग्रेऽपि । वाशब्दो विकल्पार्थः ॥ १६० ।

सौर्युपस्थितेः फलमाह । सहस्रपरमां दशशतेनोत्तमाम्, शतवारजपेन मध्यां मध्यमां दशवारजपेन अवरां लघ्वीम् ॥ १६१ ।

विभ्राडिति । विभ्राड बृहत् पिबत्वित्यादिचतुर्दशाऽनुवाकं वा जपेत्, पौरुषसूक्तं सहस्रशीर्षेत्यादिषोडशर्चं वा जपेत्, शिवसंकल्पं यज्जाग्रतेति षडृचं वा जपेत्,

---

सूर्य के उपस्थान में सहस्रबार, शतबार अथवा दशबार गायत्री का जप करना (सर्वथा) उचित है ॥ १६० ।

इनमें सहस्र-जप सर्वोत्तम, शतजप मध्यम एवं दशबार का जप अधम है । जो ब्राह्मण इनमें से किसी प्रकार का गायत्रीजप करता है, वह पापों में (कभी) नहीं पड़ता ॥ १६१ ।

इसके पीछे "विभ्राड्" इत्यादि अनुवाक् वा पुरुषसूक्त, किंवा शिवसंकल्प, अथवा ब्राह्मणमण्डल का जप करे ॥ १६२ ।

एतानि चोपस्थानानि रविप्रीतिकराणि च ।
रक्तचन्दनमिश्राऽद्भिरक्षतैः कुसुमैः कुशैः ॥ १६३ ।
वेदोक्तैरागमोक्तैर्वा मन्त्रैरर्घं प्रदापयेत् ।
अर्चितः सविता येन तेन त्रैलोक्यमर्चितम् ॥ १६४ ।
अर्चितः सविता सूते सुतान् पशुवसूनि च ।
व्याधीन् हरेद्ददात्यायुः पूरयेद् वाञ्छितान्यपि ॥ १६५ ।
अयं हि रुद्र आदित्यो हरिरेष दिवाकरः ।
रविर्हिरण्यगर्भोऽसौ त्रयीरूपोऽयमर्यमा ॥ १६६ ।
रवेस्तु तोषणात्तुष्टा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
इन्द्रादयोऽखिला देवा मरीच्याद्या महर्षयः ॥ १६७ ।
मानवा मनुमुख्याश्च सोमपाद्याः पितामहाः ।
रवेरर्चां विधायेत्थं ततस्तर्पणमारभेत् ॥ १६८ ।

मण्डलं ब्राह्मणं यदेतन्मण्डलमित्यादि त्रयोविंशतिकण्डिकात्मकं वा जपेत् । एतेषां स्वरूपं संहितादौ । व्याख्यानं च[1] गुणविष्ण्वादौ द्रष्टव्यम् । एवमग्रेऽपि ॥ १६२ ।

वेदोक्तैर्हंसः शुचिषदित्याद्यैः । आगमोक्तैः एहि सूर्य सहस्रांशो इत्याद्यैः ॥१६४।

अयं हीति । अयमादित्यो रुद्रः, एष दिवाकरो हरिः, असौ रविः हिरण्यगर्भः, तस्मादयमर्यमा त्रयीरूपो रुद्रहरिहिरण्यगर्भस्वरूप इति । तथा च स्मृतिः—

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥ इति ॥१६६।

यत एवमतो रवेस्त्विति ॥ १६७ ।

ये सब उपस्थान-मन्त्र सूर्यनारायण के परमप्रीतिकर हैं। फिर वेदोक्त अथवा आगमोक्त मन्त्रों को पढ़ता हुआ रक्तचन्दन, अक्षत, पुष्प और कुशसहित जल के द्वारा सूर्य को अर्घ्य दे, जिस किसी ने सूर्य की पुजा, की वह त्रैलोक्य का पूजन कर चुका ॥ १६३-१६४ ।

सूर्यदेव पूजित होकर पूजकों को पुत्र, पशु, धन और आयुष्य देते हैं। एवं उन लोगों के रोगों को हरते और सब कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं ॥ १६५ ।

ये ही सूर्यदेव रुद्र, ये ही विष्णु और ये ही हिरण्यगर्भ(ब्रह्मा)हैं। ये ही दिवाकर त्रयीस्वरूप हैं ॥ १६६ ।

केवल एक सूर्य के ही सन्तोष से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्रादि समस्त देवता, मरीचिप्रभृति महर्षि, मन्वादिक मनुष्य और सोमपा इत्यादि पितृगण सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस रीति से सूर्य का पूजन करके तब तर्पण करना आरम्भ करे ॥१६७-१६८।

---

१. उव्वटगुणविष्ण्वाविति क्वचित्पाठः ।

दर्भानगर्भानादाय नव सप्त च पञ्च वा ।
साग्रान् समूलानच्छिन्नान् द्विजो दक्षिणपाणिना ।। १६९ ।
अन्वारब्धेन सव्येन तर्पयेत् षड्विनायकान् ।
ब्रह्मादीनखिलान्देवान् मरीच्यादींस्तथा मुनीन् ।। १७० ।
चन्दनागुरुकस्तूरीगन्धवत्कुसुमैरपि ।
तर्पयेच्छुचिभिस्तोयैस्तृप्यन्त्विति समुच्चरन् ।। १७१ ।
सनकादीन् मनुष्यांश्च निवीती तर्पयेद्यवैः ।
अङ्गुष्ठद्वयमध्ये तु कृत्वा दर्भानृजून् द्विजः ।। १७२ ।
कव्यवाडनलादींश्च पितॄन् दिव्यान् प्रतर्पयेत् ।
प्राचीनावीतिको दर्भैर्द्विगुणैस्तिलमिश्रितैः ।। १७३ ।
रवौ शुक्रे त्रयोदश्यां सप्तम्यां निशि सन्ध्ययोः ।
श्रेयोऽर्थी ब्राह्मणो जातु न कुर्यात्तिलतर्पणम् ।। १७४ ।

अन्वारब्धेन सव्येन दक्षिणहस्तसंलग्नेन वामेन हस्तेन। **षड्विनायकान् चण्डप्रचण्डधर्मविनायकविघ्नराजमहागणपतीन्** ।। १७० ।

निवीती कण्ठलग्नयज्ञोपवीती ।। १७२ ।

प्राचीनावीतिको दक्षिणस्कन्धयज्ञोपवीतवान् ।। १७३ ।

तिलतर्पणस्य निषेधमाह । **रवाविति** ।। १७४ ।

ब्राह्मण (द्विज) दक्षिण हस्त से नव वा सात, किंवा पाँच, अग्रभागयुक्त, समूल, अच्छिन्न (टूटा न हो) एवं गर्भशून्य कुशों को लेकर, बायाँ हाथ लगाते हुए दाहिने हाथ से षड् विनायक, ब्रह्मादिक समस्त देवगण तथा मरीचि इत्यादि मुनियों को "तृप्यन्तु" इस पद का उच्चारण करता हुआ, चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और सुगन्धित पुष्पों के सहित पवित्र जल से तर्पण करे ।। १६९-१७१ ।

अनन्तर निवीती होकर (यज्ञोपवीत को कण्ठ में कर) दोनों हाथों के दोनों अंगुष्ठों के मध्य में कोमल कुशों को धारण कर सनकादि मनुष्यों का यवयुक्त जल से तर्पण करे ।। १७२ ।

फिर प्राचीनावीती होकर (यज्ञोपवीत को दक्षिण कंधे पर रख उसमें वामहस्त डालकर) दोहरे हुए (अथवा मोटक) कुश को हाथ में लेकर तिलमिश्रित जल से कव्यवाह अनल प्रभृति दिव्यपितरों का तर्पण करे ।। १७३ ।

श्रेयोऽर्थी ब्राह्मण रविवार, शुक्रवार, त्रयोदशी, सप्तमी, रात्रिकाल और दोनों संध्याओं में कभी तिल से तर्पण न करे ।। १७४ ।

यदि कुर्यात्ततः कुर्याच्छुक्लैरेव तिलैः कृती ।
चतुर्दशयमान् पश्चात्तर्पयेन्नाम उच्चरन् ॥ १७५ ।
ततः स्वगोत्रमुच्चार्य तर्पयेत् स्वपितृन् मुदा ।
सव्यजानुनिपातेन पितृतीर्थेन वाग्यतः ॥ १७६ ।
एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादिकाः ।
पितरस्त्रीन् प्रवाञ्छन्ति स्त्रिय एकैकमञ्जलिम् ॥ १७७ ।
अङ्गुल्यग्रे भवेद्दैवमार्षमङ्गुलिमूलगम् ।
ब्राह्ममङ्गुष्ठमूले तु पाणिमध्ये प्रजापतेः ॥ १७८ ।
मध्येऽङ्गुष्ठप्रदेशिन्योः पित्र्यं तीर्थं प्रचक्षते ।
नवर्चमुच्चरन् विद्वान् विदध्यात् पितृतर्पणम् ॥ १७९ ।
उदीरतामङ्गिरस आयन्तु न इतीष्यते ।
ऊर्जं वहन्ती पितृभ्यः स्वधायिभ्यस्ततः पठेत् ॥ १८० ।

तत्रापि यादृच्छिकप्रतिप्रसवमाह । यदीति । चतुर्दशेति । यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च । वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च । औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने । वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नम इत्येवंभूतान् ॥ १७५ ।

पितृतीर्थेनाऽङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्येन ॥ १७६ ।

देवादितीर्थान्याह । अङ्गुल्यग्र इति सार्धेन ॥ १७८ ।

पितृतर्पणमन्त्रानाह । नवर्चमिति ॥ १७९ ।

नवर्चमेवोदाहृत्य दर्शयति । उदीरतामिति पादोनद्वयेन । उदीरतामित्येका कण्डिका । अङ्गिरस इति द्वे, आयन्तु न इति तिस्रः, ऊर्जं वहन्तीति चतस्रः, पितृभ्यः

यदि चेत् करना हो तो शुक्ल-तिलों से ही करे। फिर वह कृती द्विज चतुर्दश यमों का नाम ले लेकर तर्पण करे ॥ १७५ ।

अनन्तर वाग्यत (और कुछ न बोलकर) बायाँ जानु पातित कर सहर्ष अपने गोत्रोच्चारण को करता हुआ पितृतीर्थ से पितरों का तर्पण करे ॥ १७६ ।

तर्पण में देवगण एक-एक अंजलि, सनकादि ऋषिगण दो-दो अंजलि, पितृगण तीन-तीन अंजलि जल की वाञ्छा रखते हैं ॥ १७७ ।

अँगुलियों के अग्रभाग में देवतीर्थ, अँगुलियों की जड़ में ऋषितीर्थ, अंगुष्ठ के मूल में ब्राह्मतीर्थ, हस्ततल के मध्य में प्रजापतितीर्थ, अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य-भाग में पितृतीर्थ निर्दिष्ट किया गया है। विद्वान् जन नवों ऋचाओं का उच्चारण करता हुआ पितृतर्पण का विधान करे ॥ १७८-१७९ ।

(वे ऋचायें ये हैं) "उदीरताम्' इत्यादि, "अंगिरसः" इत्यादि, "आयन्तु नः" इत्यादि, "ऊर्जं वहन्ती" इत्यादि, "पितृभ्यः" इत्यादि, "ये चेह पितरः" इत्यादि, एवं

ये चेह पितरस्तद्वन्मधुवाता इति तृचम् ।
नमो वः पितरश्चोक्त्वा पठन् सिञ्चेज्जलं भुवि ॥ १८१ ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः ॥ १८२ ।
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम् ।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम् ॥ १८३ ।
ये चास्माकं कुले जाता अपुत्रागोत्रिणो मृताः ।
सर्वे ते तृप्तिमायान्तु वस्त्रनिष्पीडनोदकैः ॥ १८४ ।
अग्निकार्यं ततः कृत्वा वेदाभ्यासं ततश्चरेत् ।
श्रुत्यभ्यासः पञ्चधा स्यात् स्वीकारोऽर्थविचारणम् ॥ १८५ ।
अभ्यासश्च जपश्चापि शिष्येभ्यः प्रतिपादनम् ।
लब्धस्य प्रतिपालार्थमलब्धस्य च लब्धये ॥ १८६ ।
दातारं समुपेयाद्वै स्वगुरुत्वं च वर्धयेत् ।
प्रातःकृत्यमिदं प्रोक्तं द्विजातीनां द्विजोत्तम ॥ १८७ ।

स्वधायिभ्य इति पञ्च, ये चेहेति षट्, मधुवाता इति कण्डिकात्रयम् इति नवर्चमुक्त्वा पितृतर्पणं विदध्यादिति पूर्वेणैवाऽन्वयः ॥ १८० ।

मातृरमन्त्रकं सन्तर्प्य मातामहतर्पणमाह । नमो व इति ॥ १८१ ।

आ ब्रह्मेति मन्त्रत्रयं पठन् भुवि जलं सिञ्चेदिति सपादत्रयाणामन्वयः ॥ १८२ ।

उपसंहरति । प्रातःकृत्यमिति ॥ १८७ ।

"मधुवाता" इत्यादि में तीन ऋचा—इन नवों ऋचाओं को पढ़कर "नमो वः पितरः" मन्त्र को पढ़ता हुआ भूतल में जल गिरावे ॥ १८०-१८१ ।

अनन्तर "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्" इत्यादि तथा "अतीतकुलकोटीनाम्" इत्यादि, इन दोनों मन्त्रों को तर्पण के अन्त में कहकर तत्पश्चात् "ये चास्माकम्" इत्यादि मन्त्र के द्वारा वस्त्र का गारा हुआ जल (वस्त्रनिष्पीडनोदक) भूमि में फेंक दे। (और भीष्म को अर्घ देकर तर्पण समाप्त करे) ॥१८२-१८४ ।

अनन्तर अग्निकार्य (होम) कर के वेदाभ्यास आरम्भ करे, वह वेदाभ्यास पाँच प्रकार से होता है, प्रथम—स्वीकार (गुरु से पढ़ना), द्वितीय—अर्थविचारण, तृतीय-अभ्यास (उद्धर्ण आदि के द्वारा), चतुर्थ—जप करना, पंचम—शिष्यो को शिक्षादान। फिर लब्ध अर्थ के प्रतिपालन निमित्त और अलब्ध अर्थ के प्राप्तिनिमित्त, दाता के निकट जावे और अपना गौरव बढ़ाता रहे। हे द्विजवंशावतंस ! द्विजाति लोगों का यही प्रातःकृत्य कहा गया है ॥ १८५-१८७ ।

अथवा प्रातरुत्थाय कृत्वावश्यकमेव च ।
शौचाचमनमादाय भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥ १८८ ।
विशोध्य सर्वगात्राणि प्रातःसन्ध्यां समाचरेत् ।
वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधान्यपि ॥ १८९ ।
अध्यापयेच्छुचीन् शिष्यान् हितान् मेधासमन्वितान् ।
उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमादिसिद्धये ॥ १९० ।
ततो मध्याह्नसिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तं स्नानमाचरेत् ।
स्नात्वा माध्याह्निकीं सन्ध्यामुपासीत विचक्षणः ॥ १९१ ।
नवयौवनभिन्नाङ्गीं शुद्धस्फटिकनिर्मलाम् ।
त्रिष्टुप्छन्दःसमायुक्तां सावित्रीं रुद्रदेवताम् ॥ १९२ ।
कश्यपर्षिसमायुक्तां यजुर्वेदस्वरूपिणीम् ।
त्र्यक्षरां वृषभारूढां भक्ताभयकरां पराम् ॥ १९३ ।
देवतां परिपूज्याऽथ नैत्यिकं विधिमाचरेत् ।
पचनाग्निं समुज्ज्वाल्य वैश्वदेवं समाचरेत् ॥ १९४ ।

प्रातःस्नानासक्तान्प्रत्याह । अथवेति ॥ १८८ ।
त्र्यक्षरां प्रणवात्मिकाम् ॥ १९३ ।
पचनाग्निं वैश्वदेवार्थमग्निम्[1] ॥ १९४ ।

अथवा (जो लोग प्रातःकाल स्नान करने में असमर्थ होवें, वे) प्रातः उठकर आवश्यक कर्म करके शौच, आचमन (कुल्ला), दन्तधावन कर डालें ॥ १८८ ।

अनन्तर समस्त शरीर (भींगे वस्त्रादिक से पोंछ) शुद्धकर प्रातःसंध्योपासन कर लेवें, फिर वेदार्थ एवं विविध शास्त्रों को विचारपूर्वक पढ़ें ॥ १८९ ।

और मेधावी, शुचि, हितैषी शिष्यों को पढ़ावें, तब योगक्षेमादि के सिद्ध्यर्थ ईश्वर (स्वामी वा राजा) के समीप प्राप्त होवें ॥ १९० ।

अनन्तर पंडितजन मध्याह्न कर्मों की सिद्धि के निमित्त दोपहर को पूर्वोक्तविधि से स्नान करें, अतः परं मध्याह्नसंध्योपासन करें ॥ १९१ ।

(मध्याह्नसंध्या में गायत्री का ध्यान यों करें) नवयौवन से भिन्नांगी, शुद्ध-स्फटिक के समान निर्मल, त्रिष्टुप्छन्द से युक्त, रुद्रदेवता, कश्यप ऋषिसमन्विता, यजुर्वेदस्वरूपिणी, प्रणवात्मिका, वृषभोपरिसमारूढ़ा, सावित्री देवी भक्तों के लिये अभयमुद्रा से शोभितहस्ता रहती हैं ॥ १९२-१९३ ।

अनन्तर देवतापूजन कर नित्य-कृत्यों का आचरण करे, पाक (रसोई) के अग्नि को प्रज्वलित कर वैश्वदेव करे ॥ १९४ ।

---

१. थं पाकाग्निमित्यपि क्वचित्पाठः ।

निष्पावान् कोद्रवान् माषान् कलायांश्चणकांस्त्यजेत् ।
तैलपक्वं च पक्वान्नं सर्वं लवणयुक् त्यजेत् ॥ १९५ ।
आढकीश्च मसूरांश्च वर्तुलान् वरटांस्तथा ।
भुक्तशेषं पर्युषितं वैश्वदेवे विवर्जयेत् ॥ १९६ ।
दर्भपाणिः समाचम्य प्राणायामं विधाय च ।
पृष्ठो देवीति मन्त्रेण पर्युक्षणमथाचरेत् ॥ १९७ ।
प्रदक्षिणं च पर्युक्ष्य त्रिः परिस्तीर्य वै कुशान् ।
एषो ह देवमन्त्रेण कुर्याद् वह्निं सुसंमुखम् ॥ १९८ ।
वैश्वानरं समभ्यर्च्य साज्यपुष्पाक्षतैरथ ।
भूराद्याश्चाहुतीस्तिस्रः स्वाहान्ताः प्रणवादिकाः ॥ १९९ ।
ॐभूर्भुवः स्वः स्वाहेति विप्रो दद्यात्तथाहुतिम् ।
तथा देवकृतस्याद्या जुहुयाच्च षडाहुतीः ॥ २०० ।

निष्पावान् शिम्बीः वल्लावल्लहा इति गौडे प्रसिद्धाः । कोद्रवान् कोरदूषकान् । माषान् प्रख्यातान् । कलायान् सूक्ष्मान् वाटुला इति प्रसिद्धान् । चणकान् हरिमन्थकान् । पक्वान्नं सर्वं लवणयुक् लवणसम्बद्धं सर्वं पक्वान्नं सिद्धमन्नं त्यजेदित्यर्थः ॥ १९५ ।

आढकीः तुवरीः । मसूरान् सूक्ष्मकलायसदृशान् रक्तवर्णान् । वर्तुलान् स्थूलकलायान् । वरटान् वर्वटीति प्रसिद्धान् ॥ १९६ ।

पृष्ठो दिवि पृष्ठोऽग्निरित्यादि मन्त्रेण पर्युक्षणमभ्युक्षणं मन्त्रपूर्वकं जलेनाग्निवेष्टनं वा ॥ १९७ ।

सुसंमुखं तृतीयरेखोपर्येकीकृत्य स्थापितम् । प्राङ्मुखो देव मम संमुखो भवेत्येवंरूपं वा ॥ १९८ ।

देवकृतस्याद्या इति । एनसो वय जनमसि स्वाहा मनुष्यकृतस्यैनसो वयजनमसीत्यादय आदिपदेन गृह्यन्ते ॥ २०० ।

शिबी (छोमी), कोदव (कोदो), उरद, मटर, चना, तैलपक्व और नुनहा पकवान, रहर, मसूर, गोले बड़े (वरा), भुक्तशेष और बासी, ये सब अन्न वैश्वदेव में वर्जित हैं ॥ १९५-१९६ ।

प्रथमतः कुश हाथ में लेकर आचमन और प्राणायाम करे, "पृष्ठो दिवि" इत्यादि मन्त्र से अग्निवेष्टन करना चाहिए ॥ १९७ ।

फिर प्रदक्षिण और पर्युक्षण कर कुशों को तीन बार बिछाकर "एषो ह देव" इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अग्नि को सुसम्मुख करे ॥ १९८ ।

पश्चात् घृत, पुष्प और अक्षतों से वैश्वानर (अग्नि) की पूजा कर, प्रणवादि व स्वाहान्त "भूः" इत्यादि मन्त्रों से तीन आहुति देवे ॥ १९९-२०० ।

यमाय तूष्णीमेकां च तथा स्विष्टकृतोद्वयम् ।
विश्वेभ्यश्चापि देवेभ्यो भूमौ दद्यात्ततो बलिम् ॥ २०१ ।
सर्वेभ्यश्चापि भूतेभ्यो नमो दद्यात्तदुत्तरे ।
तद्दक्षिणे पितृभ्यश्च प्राचीनावीतिको ददेत् ॥ २०२ ।
निर्णेजनोदकान्नं चैशान्यां वै यक्ष्मणेऽर्पयेत् ।
ततो ब्रह्मादिदेवेभ्यो नमो दद्यात्तदुत्तरे ॥ २०३ ।
निवीती सनकादिभ्यः पितृभ्यस्त्वपसव्यवान् ।
हन्तः षोडशभिर्ग्रासैश्चतुर्भिः पुष्कलं स्मृतम् ॥ २०४ ।
ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा गृहस्थसुकृतप्रदा ।
अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च विद्यार्थी गुरुपोषकः ॥ २०५ ।
यतिश्च ब्रह्मचारी च षडेते धर्मभिक्षुकाः ।
अतिथिः पथिको ज्ञेयोऽनूचानः श्रुतिपारगः ॥ २०६ ।
मान्यावेतौ गृहस्थानां ब्रह्मलोकमभीप्सताम् ।
अपि श्वपाके शुनि वा नैवान्नं निष्फलं भवेत् ॥ २०७ ।

स्विष्टकृतोद्वयम् अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्याहुतिद्वयम् ॥ २०१ ।

अनूचानः साङ्गाधीतिः ॥ २०६ ।

इसके अनन्तर मौन होकर एक आहुति यम को, दो स्विष्टकृत् को देकर, तब विश्वेदेव की आहुति देनी चाहिये। इसके पीछे भूमि पर उत्तरभाग में समस्त भूतों को नमः कहकर बलि दे। फिर प्राचीनावीती होकर उसके दक्षिण भाग में पितरों के उद्देश से (अन्न की बलि) देनी चाहिये ॥ २०१-२०२ ।

इसके पश्चात् यक्ष्मा के लिये ईशान कोण में निर्णेजन का उदक और अन्न समर्पण करे। फिर उसके उत्तर ओर ब्रह्मादि देवों को नमः पद अन्त में लगाकर बलि देवे ॥ २०३ ।

कण्ठसूत्र से सनकादि को और अपसव्य से पितरों को बलि देना चाहिये। सोलह ग्रासों से एक हन्त, चार ग्रासों का एक पुष्कल कहा गया है ॥ २०४ ।

एक कवर (ग्रास) मात्र की भिक्षा (होती है जो) गृहस्थों को सुकृतप्रदा है। पथिक, क्षीणवृत्ति, विद्यार्थी, गुरुपोषक, संन्यासी और ब्रह्मचारी ये छवों धर्मभिक्षुक हैं। पथिक एवं वेदपारंगत अनूचान (ब्रह्मचारी) ये ही यथार्थ अतिथि समझने योग्य हैं ॥ २०५-२०६ ।

ब्रह्मलोकाभिलाषी गृहस्थों के ये ही दोनों मान्य हैं, (यों तो) चाण्डाल वा कुक्कुर को भी अन्न देने से निष्फल (कभी) नहीं होता ॥ २०७ ।

अन्नार्थिनि समायाते पात्रापात्रं न चिन्तयेत् ।
शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ॥ २०८ ।
काकानां च कृमीणां च बहिरन्नं किरेद्भुवि ।
ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋताश्च ये ॥ २०९ ।
प्रतिगृह्णन्त्विमं पिण्डं काका भूमौ मयार्पितम् ।
द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ॥ २१० ।
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ ।
देवा मनुष्याः पशवो रक्षो यक्षोरगाः खगाः ॥ २११ ।
दैत्याः सिद्धाः पिशाचाश्च प्रेता भूताश्च दानवाः ।
तृणानि तरवश्चापि मद्दत्तान्नाभिलाषुकाः ॥ २१२ ।
कृमिकीटपतङ्गाद्याः कर्मबद्धा बुभुक्षिताः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया दत्तं तेषां मुदेऽस्तु वै ॥ २१३ ।
इत्थं भूतबलिं दत्वा कालं गोदोहमात्रकम् ।
प्रतीक्ष्यातिथिमायान्तं विशेद् भोज्यगृहं ततः ॥ २१४ ।

तर्हि किमष्टवगाद्यष्टौ विहायान्येभ्योऽन्नं न देयम् ? केनोक्तमित्याह । अन्नार्थिनीति । किन्तु शुनामिति ॥ २०८ ।

तत्र काकबलिमन्त्रमाह । ऐन्द्रेति ॥ २०९ ।

श्वबलिमन्त्रमाह । द्वाविति ॥ २१० ।

भूतबलिमन्त्रमाह । देवा इति सार्धद्वयेन ॥ २११ ।

कोई भी अन्नार्थी होकर आ जावे तो सुपात्र-कुपात्र का विचार नहीं करना चाहिये। पतित, चाण्डाल, पापरोगी, कुक्कुर, काक व कृमिगण के लिये बाहर भूमि पर अन्न फेंक देवे (और यह कहे कि) ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, सौम्य और नैर्ऋत, जो सब कौवे हैं, पृथिवी पर मेरे दिये हुए इस पिण्ड को ले लेवें। वैवस्वत के कुल में उत्पन्न जो दोनों श्याम और शबल नामक श्वान हैं। मैं उनको पिंड देता हूँ, वे दोनों अहिंसक होवें। देव, मनुष्य, पशु, राक्षस, यक्ष, उरग, खग, दैत्य, सिद्ध, पिशाच, प्रेत, भूत, दानव, तृण, तरु, कृमि, कीट और पतंग इत्यादि जो कर्मसूत्र में बँधे व क्षुधार्त होकर मेरे दिये हुए अन्न की कामना रखते होवें ॥ २०८-२१३ ।

इस प्रकार से भूतबलि देकर गोदोहन काल भर अतिथि के आगमन की प्रतीक्षा करके भोजन-गृह में प्रवेश करे ॥ २१४ ।

अदत्वा वायसबलिं नित्यश्राद्धं समाचरेत् ।
नित्यश्राद्धे स्वसामर्थ्यात् त्रीन् द्वावेकमथापि वा ॥ २१५ ।
भोजयेत्पितृयज्ञार्थं दद्यादुद्धृत्य दुर्बलः ।
नित्यश्राद्धं दैवहीनं नियमादिविवर्जितम् ॥ २१६ ।
दक्षिणारहितं त्वेतद्दातृभोक्तृव्रतोज्झितम् ।
पितृयज्ञं विधायेत्थं स्वस्थबुद्धिरनातुरः ॥ २१७ ।
अवुष्टासनमध्यास्य भुञ्जीत शिशुभिः सह ।
सुगन्धिः सुमनाः स्रग्वी शुचिवासो द्वयान्वितः ॥ २१८ ।
प्रागास्य उदगास्यो वा भुञ्जीत पितृसेवितम् ॥ २१९ ।
विधायान्नमनग्नं तदुपरिष्टादधस्तथा ।
आपोशनविधानेन कृत्वाऽश्नीयात्सुधीर्द्विजः ॥ २२० ।
प्रदद्याद् भुवःपतये भुवनपतये तथा ।
भूतानां पतये स्वाहेत्युक्त्वा भूमौ बलित्रयम् ॥ २२१ ।

दद्यादुद्धृत्य दुर्बल इति । दरिद्रश्च सर्वस्मात् स्वभोज्यात् किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य सर्वेभ्य एकं बलिं दद्यादित्यर्थः ॥ २१६ ।

विधायेति । आपोशनविधानेन कृत्वा तदन्नमध उपरिष्टाच्चानग्नतां विधाय सुधीर्द्विजोऽश्नीयादित्यन्वयः ॥ २२० ।

आपोशनविधानक्रमं दर्शयति । प्रदद्यादिति ॥ २२१ ।

काकबलि बिना दिये ही नित्यश्राद्ध करे। अपने सामर्थ्यानुसार नित्यश्राद्ध में तीन, दो अथवा एक ही (ब्राह्मण) को पितृयज्ञ के लिये खिलावे, एवं जो दरिद्र हो, वह अपने सब भोजन में से कुछ-कुछ निकाल कर सबको एक ही बलि दे। नित्यश्राद्ध देवकर्मों से हीन विशेष नियमादिक से वर्जित एवं दक्षिणारहित ही होता है और इसमें श्राद्धकर्ता और भोक्ता दोनों को व्रत (ब्रह्मचर्य) का कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार से स्वस्थबुद्धि और अनातुर हो, पितृयज्ञ को समाप्त करे ॥ २१५-२१७।

तदनन्तर प्रशस्त आसन पर बैठ शोभनगन्ध और माला धारण कर, शुद्ध दो वस्त्र ओढ़ और पहिन, पूर्वमुख वा उत्तरमुख हो, प्रसन्नचित्त से श्राद्धशेष भोजन कर बच्चों के साथ आहार करे ॥ २१८-२१९।

सुबुद्धि द्विज को आपोशन विधान के द्वारा ऊपर तथा नीचे से अन्न को अनग्न बनाकर भोजन करना चाहिये ॥ २२०।

भुवःपति, भुवनपति एवं भूतों के पति इन तीनों को स्वाहान्त मन्त्र के द्वारा एक-एक ग्रास अन्न की बलि भूमि पर दे ॥ २२१।

सकृच्चाप उपस्पृश्य प्राणाद्याहुतिपञ्चकम् ।
दद्याज्जठरकुण्डाग्नौ दर्भपाणिः प्रसन्नधीः ॥ २२२ ।
दर्भपाणिस्तु यो भुङ्क्ते तस्य दोषो न विद्यते ।
केशकीटादिसम्भूतस्तदश्नीयात् सदर्भकः ॥ २२३ ।
यावद्रुच्यन्नमश्नीयान्न ब्रूयात्तद्गुणाऽगुणान् ।
भुञ्जते पितरस्तावद्यावन्नोक्ता गुणाऽगुणाः ॥ २२४ ।
अतो मौनेन यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते केवलाऽमृतम् ।
अनुपीय ततः क्षीरं तक्रं पानीयमेव वा ॥ २२५ ।
अमृतापिधानमसीत्येवं प्राश्योदकं सकृत् ।
पीतशेषं क्षिपेद्भूमौ तोयं मन्त्रमिमं पठन् ॥ २२६ ।
अप्रक्षालितहस्तस्य दक्षिणाङ्गुष्ठमूलतः ।
रौरवेऽपुण्यनिलये पद्मार्बुदनिवासिनाम् ॥ २२७ ।
उच्छिष्टोदकमिच्छूनामक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥ २२८ ।

सकृदिति । अमृतोपस्तरणमसीति मन्त्रेण सकृदाचम्येत्यर्थः ॥ २२२ ।

प्रथम एक बार आचमन करके कुश हाथ में लेकर प्रसन्न मन से जठर-कुण्ड के अग्नि में 'प्राण' इत्यादि पंचवायु को पाँच बार अन्न की आहुति देवे, (यही आपोशन विधान है) ॥ २२२ ।

जो कोई कुश हस्त में लेकर भोजन करता है, उसे अन्न में गिरे हुए केश कीटादि का दोष नहीं होता । इसलिये कुशहस्त होकर भोजन करना चाहिए ॥२२३।

जब तक रुचि होवे, तब तक अन्न भोजन करे; परन्तु उस वेला अन्न का गुण-दोष कुछ भी न कहे; क्योंकि जबतक अन्न का गुणागुण नहीं कहा जाता, तभी तक पितर लोग भोजन करते हैं ॥ २२४ ।

अतएव जो कोई मौनी होकर भोजन करता है, वह केवल अमृत ही खाता है, इसके पीछे दूध, मंठा (सिखरन) अथवा पानी पीना चाहिए ॥ २२५ ।

एक घोंट जल एक बार "अमृतापिधानमसि" इत्यादि मन्त्र को पढ़कर पीवे । पीत-शेष जल इस मन्त्र के द्वारा भूमि पर फेंक देवे ॥ २२६ ।

"जो लोग पद्म अर्बुदवर्ष तक पापस्थानरौरव नरक में निवास कर रहे हों, एवं विना हाथ धोये मनुष्य के दाहिने अँगूठे की जड़ से उच्छिष्ट जल की इच्छा रखते हों, मेरा उच्छिष्ट यह जल उन सब लोगों को अक्षय हो" ॥ २२७-२२८ ।

पुनराचम्य मेधावी शुचिर्भूत्वा प्रयत्नतः ।
हस्तेनोदकमादाय मन्त्रमेतमुदीरयेत् ॥ २२९ ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषस्त्वंगुष्ठं च समाश्रितः ।
ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् ॥ २३० ।

इत्यन्नं परिसंकल्प्य प्रक्षाल्य चरणौ करौ ।
ततोऽन्नपरिणामार्थं मन्त्रानेतानुदीरयेत् ॥ २३१ ।

अग्निराप्याययन्धातून् पार्थिवान् पवनेरितः ।
दत्तावकाशो नभसा जरयत्वस्तु मे सुखम् ॥ २३२ ।

प्राणापानसमानानामुदानव्यानयोस्तथा ।
अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममास्त्वव्याहतं सुखम् ॥ २३३ ।

समुद्रो वडवाग्निश्च ब्रध्नो ब्रध्नस्य नन्दनः ।
मयाभ्यवहृतं यत्तदशेषं जरयन्त्विमे ॥ २३४ ।

मुखशुद्धिं ततः कृत्वा पुराणश्रवणादिभिः ।
अतिवाह्य दिवाशेषं ततः सन्ध्यां समारभेत् ॥ २३५ ।

बुद्धिमान् जन फिर भी आचमन कर, पवित्र हो, प्रयत्नपूर्वक हाथ में जल लेकर इस मन्त्र को पढ़े ॥ २२९ ।

"जो अङ्गुष्ठ मात्र का पुरुष अङ्गुष्ठ पर ही समाश्रित रहता है, समस्त जगत् का ईश वह प्रभु विश्वभुक् प्रसन्न होवे" ॥ २३० ।

इस प्रकार से अन्न को संकल्प कर दोनों हाथ और दोनों पावों को धो कर तब अन्न पचने के लिये इन मन्त्रों को कहे ॥ २३१ ।

"वायु से प्रेरित (मदीय जठरगत) अग्नि (मेरे) समग्र पार्थिव धातुओं के परिपुष्ट्यर्थ आकाश के दिये हुए अवकाश में (भुक्त अन्न को) पचा देवे, जिससे मुझे सुख हो ॥ २३२ ।

यह भुक्त अन्न प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नामक शरीरस्थित वायुगण का पुष्टिकारक हो और मुझको यथेष्ट सुख प्राप्त हो ॥ २३३ ।

समुद्र, बड़वानल, सूर्य और सूर्यनन्दन—ये सब लोग मैंने जो कुछ खाया है, उसे जीर्ण करें (पचा दें) ॥ २३४ ।

इसके पश्चात् मुखशुद्धि करके पुराणादि के श्रवण द्वारा अवशिष्ट दिन के भाग को बिता कर, तब सन्ध्या प्रारम्भ करे ॥ २३५ ।

गृहे गोष्ठे नदीतीरे सन्ध्या दशगुणा क्रमात् ।
संभेदे स्याच्छतगुणा ह्यनन्ता शिवसन्निधौ ॥ २३६ ।

उपासिता बहिः सन्ध्या दिवामैथुनपातकम् ।
शमयेदनृतोक्ताघं मद्यगन्धजमेव च ॥ २३७ ।

सामवेदस्वरूपां च वसिष्ठर्षिसमायुताम् ।
कृष्णाङ्गीं कृष्णवसनां मनाक्स्खलितयौवनाम् ॥ २३८ ।

सरस्वतीं तार्क्ष्ययानां विघ्नघ्नीं विष्णुदैवताम् ।
जगती च्छन्दसा युक्तां ध्यायेदेकाक्षरां पराम् ॥ २३९ ।

अग्निश्चेति च मन्त्रेण विधायाचमनं सुधीः ।
पश्चिमास्यो जपेत्तावद्यावन्नक्षत्रदर्शनम् ॥ २४० ।

अतिथिं सायमायान्तमपि वाग्भूतृणोदकैः ।
सम्भाव्य परिकल्प्येत्थं निशः प्राक्प्रहरं सुधीः ॥ २४१ ।

अग्निश्चेति मन्त्रः, सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्त्रेणेव व्याख्यातप्रायः ॥ २४० ।

संध्या गृह से गोशाला में और उससे नदीतीर पर यथाक्रम दशगुण अधिक फलप्रदा होती है। एवं दो नदियों के संगम में सौ गुनी और शिव के समीप अनन्त फलदा होती है ॥ २३६ ।

बाहरी ओर संध्या की उपासना करने से दिन के मैथुन, असत्य-भाषण और मद्यगन्ध के पाप का शमन हो जाता है ॥ २३७ ।

(इस सायंसंध्या में गायत्री का ध्यान इस रूप से करना चाहिये) (गायत्री) सामवेदस्वरूपा, वशिष्ठ ऋषि से युक्ता, कृष्णवर्णा, कृष्णवस्त्रपरिधाना, अधेड़-अवस्था, सरस्वतीरूपा, गरुड़वाहना, विष्णुदेवता, विघ्नविनाशिनी, जगतीछन्दःसमन्विता और परम एकाक्षरमयी (रहती) है ॥ २३८-२३९ ।

(इस सायंसंध्या में) "अग्निश्च" इत्यादि मन्त्र से आचमन करके सुधीजन को पश्चिम मुख बैठ जब तक नक्षत्र नहीं दिखाई पड़ें, तब तक जप करते रहना चाहिए ॥ १४० ।

सायंकाल में अतिथि के आकर उपस्थित होने पर उसे मधुरवचन, स्थान, आसन और जल देकर आदरपूर्वक (भोजनादि करावे)। इस प्रकार से बुद्धिमान् जन रात्रि का प्रथम प्रहर बितावे ॥ २४१ ।

इत्थं दिवाकर्म कृत्वा श्रुतेः पठनपाठनैः ।
एककाष्ठमयीं शय्यां नातितृप्तोऽथ संविशेत् ॥ २४२ ।

उद्देशतः समाख्यातो ह्येष नित्यतमो विधिः ।
इत्थं समाचरन् विप्रो नावसीदति कर्हिचित् ॥ २४३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सदाचारो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ।

तत्तस्माद् एककाष्ठमयीं एकजातीयकाष्ठमयीम् । अखण्डकाष्ठमयीं वा ॥ २४२ ।

उपसंहरति । उद्देशत इति । कथनस्य फलमाह । इत्थमिति ॥ २४३ ।

वेद[1]पाठार्थं यो रोधाद्यदत्रस्खलितं मम ।
क्षन्तव्यं तद्विशेषेण वेदवेदार्थपारगैः ॥ १ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

यों ही वेद के पठन-पाठन से दैनिक कर्म को समाप्त कर अनतितृप्तभाव से एक ही लकड़ी की बनी हुई शय्या पर शयन करे ॥ २४२ ।

मैंने प्रसंगवश इस नित्यकर्म की विधि को (संक्षेप में तुम से) कहा है, इस रीति से आचरण करनेवाला ब्राह्मण कभी भी विनष्ट नहीं होता ॥ २४३ ।

दोहा—नित्य कृत्य सब द्विजन के, धर्मग्रन्थ निचोर ।
सदाचार बरने सकल, धर्म वृक्ष की सोर ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां सदाचारनिरूपणं नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ।

१, वेदवेदार्थयोराज्ञ्यादिति पाठोऽपि क्वचित् ।

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

पुनर्विशेषं वक्ष्यामि सदाचारस्य कुम्भज ।
यं श्रुत्वाऽपि नरो धीमान्नाज्ञानतिमिरं विशेत् ॥ १ ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजाः स्मृताः ।
प्रथमं मातृतो जाताद् द्वितीयं चोपनायनात् ॥ २ ।
एषां क्रिया निषेकादिश्मशानान्ता च वैदिको ।
आदधीत सुधीर्गर्भमृतौ मूलं मघां त्यजेत् ॥ ३ ।
स्पन्दनात् प्राक् पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं ततः ।
मासि षष्ठेऽष्टमे वाऽपि जातेऽथो जातकर्म च ॥ ४ ।

षट्त्रिंशतितमेऽध्याये पावनेऽत्यन्तशोभने ।
प्रथमाश्रमिणां तावत् सदाचारो निरूप्यते ॥ १ ।

एवं साधारण्येन धर्मानुक्त्वा प्रथमाश्रमिणां धर्मान् वक्तुमुपक्रमते । पुनर्विशेषमिति ॥ १ ।

निषेको गर्भाधानम् । श्मशानमन्त्येष्टिः ॥ ३ ।

स्पन्दनाद् गर्भस्थबालस्य चलनात् षष्ठान्मासादर्वाक् पुंसवनं गर्भस्य पुंस्त्वाधानं कर्म । सीमन्तोन्नयनं कर्मविशेषः षष्ठेऽष्टम इति कुलाचारभेदेन ॥ ४ ।

(ब्रह्मचारी का सदाचारवर्णन)

स्कन्द ने कहा—

कुंभजऋषे ! मैं पुनः उसी सदाचार के विषय में कुछ और विशेषरूप से कहता हूँ । उसके सुन लेने पर बुद्धिमान् जन (कभी) अज्ञानरूप अन्धकार में नहीं पड़ता ॥१।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये ही तीनों वर्ण द्विज कहलाते हैं । इन सबका प्रथम जन्म तो माता से होता है, और दूसरा (जन्म) उपनयन (संस्कार) से (होता है) ॥ २ ।

इन द्विजों की गर्भाधान से लेकर श्मशानपर्यन्त सभी क्रियाएँ वेदविहित ही होती हैं । मतिमान् जन, ऋतुकाल प्राप्त होने पर मघा और मूल नक्षत्र को त्याग कर गर्भाधान करे ॥ ३ ।

गर्भ के चलने से पूर्व ही पुंसवन करे । फिर छठें वा आठवें मास में सीमन्तोन्नयन करना चाहिए और गर्भ-उत्पन्न हो जाने पर जातकर्म (सम्पादन) करे ॥ ४ ।

नामाऽह्न्येकादशे गेहाच्चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।
मासेऽन्नप्राशनं षष्ठे चूडाब्दे वा यथाकुलम् ॥ ५ ।
शममेनो व्रजेदेवं बैजं गर्भजमेव च ।
स्त्रीणामेताः क्रियास्तूष्णीं पाणिग्राहस्तु मन्त्रवान् ॥ ६ ।
सप्तमेऽथाऽष्टमे वाब्दे सावित्रीं ब्राह्मणोऽर्हति ।
नृपस्त्वेकादशे वैश्यो द्वादशे वा यथाकुलम् ॥ ७ ।
ब्रह्मतेजोऽभिवृद्ध्यर्थं विप्रोऽब्दे पञ्चमेऽर्हति ।
षष्ठे बलार्थी नृपतिर्मौञ्जीं वैश्योऽष्टमे ध्रियेत् ॥ ८ ।
महाव्याहृतिपूर्वं च वेदमध्यापयेद् गुरुः ।
उपनीय च तं शिष्यं शौचाचारे च योजयेत् ॥ ९ ।

एनः पापम् । पाणिग्रहो विवाहः ॥ ६ ।

काम्योपनयनमाह । ब्रह्मेति । बलार्थी सामर्थ्यार्थी । धनार्थीति क्वचित् । ध्रियेद्धारयेत् कृष्यादिवृत्त्यभिवृध्यर्थमिति शेषः । धिये इति पाठे कृष्यादिवृत्तिविज्ञानायेत्यर्थः ॥ ८ ।

शौचाचारे चेति । चकारः समुच्चये । योजयेन्नियोजयेत् प्रेरयेदिति यावत् । निमन्त्रयेदिति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ ९ ।

ग्यारहवें दिन नामकरण करे । चौथे मास में गृह से निष्क्रमण (निकलना) और छठवें मास में अन्नप्राशन करे । तत्पश्चात् वर्ष (भर) में ही अथवा कुलाचार के अनुसार चूड़ाकर्म (मुण्डन) कर डाले ॥ ५ ॥

(इन क्रियाओं के करने से) बीज और गर्भ के उत्पन्न दोष शान्त हो जाते हैं। स्त्रियों की ये सब क्रियायें विना मन्त्र के ही होती हैं । एकमात्र विवाह मन्त्रों से किया जाता है ॥ ६ ।

ब्राह्मण का सातवें वा आठवें वर्ष में उपनयन-संस्कार (यज्ञोपवीत) होना उचित है । एवं क्षत्रिय का ग्यारहवें (वर्ष में) और वैश्य का बारहवें वर्ष में अथवा कुलाचार के अनुसार ही करना चाहिये ॥ ७ ।

ब्रह्मतेज की वृद्धि के लिये ब्राह्मण पाँचवें वर्ष में, बलार्थी क्षत्रिय छठवें और कृष्यादि वृत्ति की वृद्धि का अभिलाषी वैश्य आठवें वर्ष में ही यज्ञोपवीत धारण कर सकता है ॥ ८ ।

गुरु को शिष्य का उपनयन संस्कार करके महाव्याहृतिपूर्वक उसे वेद पढ़ाना चाहिए । शौचाचार में लगा देना उचित है ॥ ९ ।

पूर्वोक्तविधिना शौचं कुर्यादाचमनं तथा ।
दन्तान् जिह्वां विशोध्याऽथ कृत्वा मलविशोधनम् ॥ १० ।
स्नात्वाऽम्बुदैवतैर्मन्त्रैः प्राणानायम्य यत्नतः ।
उपस्थानं रवेः कृत्वा सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥ ११ ।
अग्निकार्यं ततः कृत्वा ब्राह्मणानभिवादयेत् ।
ब्रुवन्नमुकगोत्रोऽहमभिवादय इत्यपि ॥ १२ ।
अभिवादनशीलस्य वृद्धसेवारतस्य च ।
आयुर्यशो बलं बुद्धिर्वर्धतेऽहरहोऽधिकम् ॥ १३ ।
अधीते गुरुणाहूतः प्राप्तं तस्मै निवेदयेत् ।
कर्मणा मनसा वाचा हितं तस्याचरेत् सदा ॥ १४ ।
अध्याप्याधर्मतो नार्थात् साध्वाप्तज्ञानवित्तदा ।
शक्ताः कृतज्ञाः शुचयोऽद्रोहकाश्चानसूयकाः ॥ १५ ।
धारयेन्मेखलादण्डोपवीताजिनमेव च ।
अनिन्द्येषु चरेद् भैक्ष्यं ब्राह्मणेष्वात्मवृत्तये ॥ १६ ।

अनिन्द्येषु अभिशस्तपतितवर्जितेषु । ब्राह्मणेष्विति सर्वेषां साधारण्येन ॥ १६ ।

पूर्वोक्त विधि के क्रम से मलत्याग, शौच, आचमन (कुल्ला), दन्तधावन और जिह्वाशोधन करके फिर "जलदैवत" मन्त्रों के द्वारा स्नान कर यत्नपूर्वक दोनों ही संध्याओं में प्राणायाम और सूर्य का उपस्थान करे ॥ १०-११ ।

फिर अग्निकार्य (होमादिक) संपादन कर, "अमुक गोत्र मैं आपको प्रणाम करता हूँ" यह कहता हुआ ब्राह्मणों को अभिवादन करे ॥ १२ ।

जो कोई अभिवादनशील और वृद्धजन की सेवा में तत्पर होता है, प्रतिदिन उसकी आयु, यश, बल और बुद्धि की वृद्धि होती ही रहती है ॥ १३ ।

(यह श्लोक मनु के इस श्लोक के समान ही है—"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः । चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥) गुरु के बुलाने पर उनके पास जाकर पढ़े और जो कुछ भी प्राप्त करे, उसे ले जाकर गुरु को समर्पण करे । एवं कर्मणा, मनसा, वाचा सदैव उनका हित करे ॥ १४ ।

जो लोग साधु, विश्वस्त, ज्ञानदाता, धनप्रद, शक्त, कृतज्ञ, पवित्र, अद्रोही और अनसूयक हैं, धर्मपूर्वक गुरु को उन्हें भी पढ़ाना चाहिए । उनसे धन की आशा करना उचित नहीं है ॥ १५ ।

ब्रह्मचारी को मेखला, दण्ड, उपवीत और चर्म धारण करना चाहिए । अपने जीवन-निर्वाह के अर्थ अनिन्दित ब्राह्मणों के गृह में भिक्षाचरण करना योग्य है ॥१६।

ब्राह्मणक्षत्रियविशामादिमध्यावसानतः ।
भैक्ष्यचर्या क्रमेण स्याद् भवच्छब्दोपलक्षिता ॥ १७ ।

वाग्यतो गुर्वनुज्ञातो भुञ्जीताऽन्नमकुत्सयन् ।
एकान्नं न समश्नीयाच्छ्राद्धेऽश्नीयात्तथापदि ॥ १८ ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १९ ।

न द्विर्भुञ्जीत चैकस्मिन् दिवा क्वाऽपि द्विजोत्तमः ।
सायं प्रातर्द्विजोऽश्नीयादग्निहोत्रविधानवित् ॥ २० ।

विशेषमाह। ब्राह्मणेति। ब्राह्मणानां भवति भिक्षां देहीति, क्षत्रियाणां भिक्षां भवति देहीति, वैश्यानां भिक्षां देहि भवतीति क्रमेणेत्यर्थः ॥ १७।

एकान्नम् एकस्यान्नं न समश्नीयात्। आपदि पुनरेकान्नं श्राद्धे चाश्नीयादित्यन्वयः ॥ १८।

अग्निहोत्रविधानविदग्निहोत्राऽनुष्ठानज्ञः अग्निहोत्रविधानवानिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ २०।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के भिक्षा माँगने के वचन में यथाक्रम आदि, मध्य, एवं अन्त में भवत् शब्द का प्रयोग होना चाहिये (अर्थात् ब्राह्मण—"भवति ! भिक्षां देहि" ऐसा कहे, क्षत्रिय कहे—"भिक्षां भवति ! देहि", एवं वैश्य को कहना चाहिये—"भिक्षां देहि भवति !") ॥ १७ ॥

गुरु की आज्ञा पाकर, मौन होकर भोजन करे। अन्न पर घृणा न करे एवं एक ही जन का अन्न भोजन नहीं करना चाहिये। हाँ, जब कि श्राद्ध हो अथवा आपत्काल प्राप्त हो, तो एक ही जन के अन्न-भोजन का निषेध नहीं है ॥ १८।

अधिक भोजन करना आरोग्यता, आयुष्य, स्वर्ग और पुण्य का दूषक एवं लोक में गर्हित है, अतएव उसका परित्याग ही उचित है[1] ॥ १९।

द्विजोत्तम एक ही दिन में दो बार कभी भी भोजन नहीं करे, अग्निहोत्र की विधि का ज्ञाता द्विज, एक बार दिन में और एक बार रात्रि में भोजन करे ॥ २०।

---

१. तुलना करें—अनायुष्यमनारोग्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

मधुमांसं प्राणिहिंसा भास्करालोकनाञ्जने ।
स्त्रियं पर्युषितोच्छिष्टं परिवादं विवर्जयेत् ।। २१ ।
औपनायनिकः कालो ब्रह्मक्षत्रविशां परः ।
आषोडशादाद्वाविंशादाचतुर्विशदब्दतः ।। २२ ।
इतोऽप्यूर्ध्वं न संस्कार्याः पतिता धर्मवर्जिताः ।
व्रात्यस्तोमेन यज्ञेन तत्पातित्यं परिव्रजेत् ।। २३ ।
सावित्रीपतितैः सार्धं सम्बन्धं न समाचरेत् ।
ऐणं च रौरवं बास्तं क्रमाच्चर्म द्विजन्मनाम् ।। २४ ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ।
द्विजस्य मेखला मौञ्जी मौर्वी च भुजजन्मनः ।
भवेत्त्रिवृत्समाश्लक्ष्णा विशस्तु शणतान्तवी ।। २५ ।

भास्करालोकनवर्जनं तूदयादिषु । तथा च मनुः—"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्" इत्यादि । पर्युषितं चोच्छिष्टं चेत्येकवद्भावः ।। २१ ।

उपनयनग्रहणसमयस्य मुख्यपक्षमुक्त्वा गौणपक्षावधिमाह । औपनायनिक इति ।। २२ ।

एणरुर्वोरवान्तरभेदः । बस्तश्छागः ।। २४ ।

शाणं शणतन्तुविनिर्मितम् । क्षौमं दुकूलम् । आविकं मेषरोमनिर्मितम् । मौञ्जी मुञ्जसम्बन्धिनी । मूरुस्तृणावान्तरभेदो येन धनुर्ज्या क्रियते तत्सम्बन्धिनी मौर्वी । शणतान्तवी शणतन्तुनिर्मिता । त्रिवृत्त्रिगुणा । समा समगुणत्रयनिर्मिता । श्लक्ष्णा

मद्यपान, मांसाहार, जीवहिंसा, उदय और अस्तकाल में सूर्य का दर्शन, नेत्रों में अंजन, स्त्रीसंभोग, बासी और जूठा भोजन एवं परनिन्दा—इन सबका परित्याग ही करना सर्वथा उचित है ।। २१ ।

द्विजों के उपनयन का अन्तिम समय यह है । ब्राह्मण का सोलह वर्ष पर्यन्त, क्षत्रिय का बाइस वर्ष तक एवं वैश्य की चौबीस वर्ष तक सीमा है ।। २२ ।

इस निर्दिष्ट कालपर्यन्त भी जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता, फिर वे धर्मवर्जित एवं पतित हो जाते हैं, (व्रात्य कहे जाते हैं) । व्रात्यस्तोम यज्ञ करने से उन सब का पातित्य दोष दूर हो सकता है ।। २३ ।

इन सावित्री-पतितों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए । द्विजातियों में यथाक्रम तीनों वर्णों को कृष्णसार मृग का चर्म, रुरुमृग का चर्म और छाग का चर्म (ओढ़ने के लिये) विहित है ।। २४ ।

(एवं पहनने के लिये) सन के सूत का वस्त्र, पट (कपास के सूत का) वस्त्र और (मेष के रोम का) कम्बल आदि वस्त्र होना चाहिए । ब्राह्मण की मेखला (करधन) मौंजी

मुञ्जाभावे विधातव्या कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
ग्रन्थिनैकेन संयुक्ता त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ २६ ।

उपवीतं क्रमेण स्यात् कार्पासं शाणमाविकम् ।
त्रिवृदूर्ध्ववृतं तच्च भवेदायुर्विवृद्धये ॥ २७ ।

बिल्वपालाशयोर्दण्डो ब्राह्मणस्य नृपस्य तु ।
न्यग्रोधबालदलयोः पीलूदुम्बरयोर्विशः ॥ २८ ।

आमौलि वाऽऽललाटं वाऽऽनासमूर्ध्वप्रमाणतः ।
ब्रह्मक्षत्रविशां दण्डस्त्वगाढ्यो नाग्निदूषितः ॥ २९ ।

स्निग्धस्पर्शा । अत्र त्रिवृत्समाश्लक्ष्णेति तिसृणां विशेषणं गम्यते । मनौ तु त्रिवृत् समा श्लक्ष्णेति मौञ्ज्या एवेति । तथा च मनुः—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ इति ।

तत्र त्रैगुण्यं साधारणमेव । त्रिगुणप्रदक्षिणा मेखलेति साधारण्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात् ॥ २५ ।

मुञ्जाऽभाव इति । मुञ्जाद्यभाव इत्यर्थः । विधातव्या इति बहुवचनान्तो वा पाठः । पञ्चभिर्वेति वा शब्दप्रयोगान्न विप्रादिभिः क्रमेण सम्बन्धः; किन्तु सर्वत्र यथाकुलाचारसम्बन्धः । अश्मन्तकः मालूयात्तृणम् । बल्वजः वागयीति प्रसिद्धः ॥ २६ ।

ऊर्ध्ववृतं दक्षिणवर्तितम् ॥ २७ ।

बालदलः खदिरः । पीलुर्गुडफलः ॥ २८ ।

(मूँज-वाध की), क्षत्रिय की मौर्वी (इसकी धनुष में डोरी लगती है) एवं वैश्य की शणतन्तु (सन-सुतरी) की तिहरी एवं चिकनी होनी चाहिए ॥ २५ ॥

यदि मूँज न मिले, तो कुश अश्मंतक (एक तृण) अथवा बल्वज (बगई) की मेखला बनावे और उसमें एक, तीन अथवा पाँच गाँठ लगा देवे ॥ २६ ।

इसी क्रम के अनुसार यज्ञोपवीत भी तीनों वर्णों का—कपास, सन और मेष के लोम का होना चाहिए। वह त्रिगुण (तिहरा) और दक्षिणावर्त घुमाये जाने से आयुष्यवर्धक होता है ॥ २७ ।

ब्राह्मण का दण्ड बिल्व या पलाश का मस्तकपर्यन्त ऊँचा होना चाहिए। क्षत्रिय का बड़ अथवा खैर का ललाट तक ऊँचा होना चाहिए। एवं वैश्य का पीलु या गूलर का नासिका तक ऊँचा होना चाहिए। ये सब द्विजातियों के दण्ड वल्कल-सहित रहें और अग्नि से दूषित न होने पावें ॥ २८-२९ ।

प्रदक्षिणं परोत्याग्निमुपस्थाय दिवाकरम् ।
दण्डाजिनोपवीताढ्यश्चरेद्भैक्ष्यं यथोदितम् ॥ ३० ।
मातृमातृष्वसृस्वसृपितृस्वसृपुरःसराः ।
प्रथमं भिक्षणीयाः स्युरेताया च न नो वदेत् ॥ ३१ ।
यावद्वेदमधीते च चरन् वेदव्रतानि च ।
ब्रह्मचारी भवेत्तावदूर्ध्वं स्नातो गृही भवेत् ॥ ३२ ।
प्रोक्तोऽसावुपकुर्वाणो द्वितीयस्तत्र नैष्ठिकः ।
तिष्ठेत्तावद्गुरुकुले यावत्स्यादायुषः क्षयः ॥ ३३ ।
गृहाश्रमं समाश्रित्य यः पुनर्ब्रह्मचर्यभाक् ।
नाऽसौ यतिर्वनस्थो वा स्यात् सर्वाश्रमवर्जितः ॥ ३४ ।
अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ।
आश्रमं तु विना तिष्ठन् प्रायश्चित्ती यतो हि सः ॥ ३५ ।

यथोदितं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तम् ॥ ३० ।

न नो वदेन्नास्तीति न ब्रूयात् । या चैनं नावमानयेदिति पाठे एनं ब्रह्मचारिणं नावमानयेत् प्रत्याख्यानेन । एनामिति पाठे एनां भिक्षाम् ॥ ३१ ।

वेदव्रतानि गुरुशुश्रूषादीनि । ऊर्ध्वं वेदपाठसमाप्त्यनन्तरम् ॥ ३२ ।

असौ पूर्वोक्तः ॥ ३३ ।

अग्नि की प्रदक्षिणा और सूर्य का उपस्थान करके तब ब्रह्मचारी दण्ड, चर्म और यज्ञोपवीत से युक्त होकर कथित रीति से भिक्षाचरण करे ॥ ३० ।

प्रथम भिक्षा माता, मातृस्वसा (मासी), भगिनी (बहिन) अथवा पितृस्वसा (फूआ) से वा उस स्त्री से माँगे, जो "नहीं" न करे ॥ ३१ ।

जब तक वेद पढ़े और वेद का व्रत करे, तब लों (तक) ब्रह्मचारी ही रहे। इसके उपरान्त स्नान करके गृहस्थ होवे ॥ ३२ ।

इस प्रकार का ब्रह्मचारी "उपकुर्वाणक" कहा जाता है। दूसरा वह नैष्ठिक कहलाता है, जो आजन्म (मरणपर्यन्त) गुरुकुल में ही रह जाता है ॥ ३३ ।

जो कोई गृहस्थाश्रम लेकर फिर ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है, वह न तो ब्रह्मचारी ही रहा, न यति ही हुआ और न वानप्रस्थ ही हो सका, अतःपरं वह सभी आश्रमों से भ्रष्ट हो चुका। (उसका कोई आश्रम ही नहीं रह गया) ॥ ३४ ।

द्विज को अनाश्रमी होकर एक दिन भी नहीं रहना चाहिए; क्योंकि विना आश्रम रहने पर उसे प्रायश्चित्ती होना पड़ता है ॥ ३५ ।

जपं होमं व्रतं दानं स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ।
कुर्वाणोऽथाश्रमभ्रष्टो नाऽसौ तत्फलमाप्नुयात् ॥ ३६ ।
मेखलाजिनदण्डाश्च लिङ्गं स्याद् ब्रह्मचारिणः ।
गृहिणो वेदयज्ञादि नखलोमवनस्थितेः ॥ ३७ ।
त्रिदण्डादि यतेरुक्तमुपलक्षणमत्र वै ।
एतल्लक्षणहीनस्तु प्रायश्चित्ती दिने दिने ॥ ३८ ।
जीर्णं कमण्डलुं दण्डमुपवीताजिने अपि ।
अप्स्वेव तानि निक्षिप्य गृह्णीतान्यच्च मन्त्रवत् ॥ ३९ ।
विदध्यात् षोडशे वर्षे केशान्तं कर्म च क्रमात् ।
द्वाविंशे च चतुर्विंशे गार्हस्थ्यप्रतिपत्तये ॥ ४० ।
तपो यज्ञव्रतेभ्यश्च सर्वस्माच्छुभकर्मणः ।
द्विजातीनां श्रुतिर्ह्येका हेतुर्निःश्रेयसश्रियः ॥ ४१ ।

वेदश्च यज्ञश्चादिर्यस्य लिङ्गस्य चिह्नस्य तत्तथा । वेदयष्ट्यादीति पाठश्चि-न्त्यः ॥ ३७ ।

उपलक्षणं चिह्नम् ॥ ३८ ।

केशान्तं समावर्तनम् ॥ ४० ।

एका मुख्या केवला ॥ ४१ ।

कोई आश्रमभ्रष्ट होकर जप, होम, व्रत, दान, स्वाध्याय और पितृतर्पण आदि यदि कुछ भी करे, तो उसे किसी का कुछ भी फल नहीं प्राप्त होता ॥ ३६ ।

मेखला, अजिन, दण्ड इत्यादि ब्रह्मचारी के चिह्न हैं । वेद, यज्ञ प्रभृति गृहस्थों के और नखलोमादिक वानप्रस्थ के चिह्न होते हैं ॥ ३७ ।

यों ही यति का त्रिदण्ड इत्यादि लक्षण कहा गया है । इन सब लक्षणों से हीन आश्रमी लोग प्रतिदिन प्रायश्चित्त करने के योग्य हो जाते हैं ॥ ३८ ।

पुराना कमण्डलु, दण्ड, यज्ञोपवीत और चर्म जल में ही फेंक कर तब मन्त्रोच्चारणपूर्वक दूसरा (नवीन) धारण करे ॥ ३९ ।

गृहस्थाश्रम धारण के सिद्ध्यर्थ यथाक्रम ब्राह्मण सोलहवें, क्षत्रिय बाईसवें और वैश्य चौबीसवें वर्ष में केशान्त-संस्कार को करे ॥ ४० ।

द्विजातियों की मोक्षलक्ष्मी का एकमात्र कारण तपस्या, यज्ञ, व्रत और समस्त शुभ कर्मों की अपेक्षा वेद ही है ॥ ४१ ।

वेदारम्भे विसर्गे च विदध्यात् प्रणवं सदा ।
अफलोऽनोंकृतो यस्मात्पठितोऽपि न सिद्धये ॥ ४२ ।

वेदस्य वदनं प्रोक्तं गायत्री त्रिपदा परा ।
तिसृभिः प्रणवाद्याभिर्महाव्याहृतिभिः सह ॥ ४३ ।

सहस्रं साधिकं किञ्चित्त्रिकमेतज्जपन् यमी ।
मासं बहिः प्रतिदिनं महाघादपि मुच्यते ॥ ४४ ।

अत्यब्दमिति योऽभ्यसेत् प्रतिघस्रमनन्यधीः ।
स व्योममूर्तिः शुद्धात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ४५ ।

त्रिवर्णमयमोंकारं भूर्भुवः स्वरिति त्रयम् ।
पादत्रयं च सावित्र्यास्त्रयो वेदा अदूदुहन् ॥ ४६ ।

एतदक्षरमेनां च जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ४७ ।

बहिः नदीतीरादौ ॥ ४४ ।

अत्यब्दमिति । अत्यब्दं किञ्चिदधिकं संवत्सरम् । अत्यब्दमेतदिति क्वचित्पाठः। प्रतिघस्रं प्रतिदिनम् । व्योममूर्तिः शुद्धशरीरः परिपूर्णरूपो वा ॥ ४५ ।

वेद के प्रारम्भ और अन्त में सदा प्रणव का उच्चारण करे; क्योंकि बिना प्रणव के पाठ करने पर भी वेद सिद्धि के लिये फलीभूत नहीं होता ॥ ४२ ।

प्रणवादि तीनों महाव्याहृतियों के सहित त्रिपदा गायत्री ही वेद का मुख कही गई है ॥ ४३ ।

प्रणव, व्याहृति और गायत्री—इन तीनों का कुछ अधिक सहस्र बार जप ग्राम से बाहर प्रतिदिन एक मास पर्यन्त करने से महापातकों से भी मुक्त हो जाता है ॥४४।

जो कोई एकाग्रचित्त होकर एक वर्ष से अधिक प्रतिदिन इस जप को करता है, वह आकाशरूप शुद्धात्मा होकर परंब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ४५ ।

तीन अक्षरों का प्रणव, तीनों व्याहृतियाँ एवं गायत्री के तीन चरण तीनों वेदों से दुहे गये हैं ॥ ४६ ।

जो वेदज्ञ जन प्रातःसन्ध्या और सायंसन्ध्या में इस अक्षर (प्रणव) और व्याहृति के सहित इस गायत्री का जप करता है, उसे समग्र वेदपाठ करने का फल प्राप्त होता है ॥ ४७ ।

विधिक्रतोर्दशगुणं जपस्य फलमश्नुते ।
विधिक्रतोर्दशगुणो जपक्रतुरुदीरितः ॥ ४८ ।
उपांशुस्तच्छतगुणः सहस्रो मानसस्ततः ॥ ४९ ।
अधीत्य वेदान् वेदौ वा वेदं वा शक्तितो द्विजः ।
सुवर्णपूर्णधरणीदानस्य फलमश्नुते ॥ ५० ।
श्रुतिमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्तुं द्विजोत्तमः ।
श्रुत्यभ्यासो हि विप्रस्य परमं तप उच्यते ॥ ५१ ।
हित्वा श्रुतेरध्ययनं योऽन्यत् पठितुमिच्छति ।
स दोग्ध्रीं धेनुमुत्सृज्य ग्रामक्रोडीं दुधुक्षति ॥ ५२ ।
उपनीय च वै शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं विदुर्बुधाः ॥ ५३ ।

विधिक्रतोरिति । विधिनाऽनुष्ठितक्रतुर्विधिक्रतुर्दर्शपौर्णमासादिस्तस्य दशगुणं फलं प्रणवादीनां जपस्य यत्तदश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । विधीति ॥ ४८ ।

तत उपांशुजपक्रतोः उपांशुरस्पष्टः । स्मृत इति क्वचित् ॥ ४९ ।

तपस्तप्तुं तपः कर्तुम् । तपस्तप्यन्निति क्वचित् ॥ ५१ ।

ग्रामक्रोडीं ग्रामसूकरीम् । दुधुक्षति दोग्धुमिच्छति ॥ ५२ ।

विधिपूर्वक यज्ञ करने से जप का फल दशगुण (अधिक) पाया जाता है; क्योंकि विधियज्ञ की अपेक्षा जप-यज्ञ दश गुणा कहा गया है ॥ ४८ ।

इस जप-यज्ञ के मध्य में रहस्य-जप शतगुणा श्रेष्ठ है और मानस-जप तदपेक्षया सहस्रगुण श्रेष्ठ होता है ॥ ४९ ।

द्विज अपनी शक्ति के अनुसार तीन वेद या दो वेद अथवा एक ही वेद के अध्ययन करने से भी सुवर्णपूर्ण धरणी के दान करने का फल प्राप्त करता है ॥ ५० ।

द्विजोत्तम तपस्या करने की इच्छा से सर्वदैव वेदाभ्यास ही करे; क्योंकि ब्राह्मण का वेदाभ्यास ही सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है ॥ ५१ ।

वेदाध्ययन का परित्याग कर जो (द्विज) दूसरा कुछ पढ़ना चाहता है, वह दुधार धेनु को छोड़कर ग्राम की शूकरी का दोहन करना चाहता है ॥ ५२ ।

जो द्विज शिष्य को उपनीत करके कल्पसहित और सरहस्य वेद पढ़ाता है, पण्डित लोग उसे आचार्य कहते हैं ॥ ५३ ।

योऽध्यापयेदेकदेशं श्रुतेरङ्गान्यथाऽपि वा ।
वृत्त्यर्थं स उपाध्यायो विद्वद्भिः परिगीयते ॥ ५४ ।
यथाविधि निषेकादि यः कर्म कुरुते द्विजः ।
सम्भावयेत्तथाऽन्नेन गुरुः स इह कीर्त्यते ॥ ५५ ।
अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ ५६ ।
उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्यात्तु शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ ५७ ।
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं बाहुजानां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः पज्जातानान्तु जन्मतः ॥ ५८ ।
यथा दारुमयो हस्ती यथा कृत्तिमयो मृगः ।
तथा विप्रोऽनधीयानस्त्रयोऽमी नामधारिणः ॥ ५९ ।

आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्म अग्न्याधेयम् । पाकयज्ञान् पक्वनवसस्यनिमित्तान् अष्टकादीन् वा ॥ ५६ ।

कृत्तिमयः चर्ममयः ॥ ५९ ।

जो वृत्तिनिमित्तक वेद का एक देश अथवा वेदाङ्गों को पढ़ाता है, विद्वान् लोग उसे उपाध्याय कहकर पुकारते हैं ॥ ५४ ।

जो द्विज यथाविधि गर्भाधानादि कर्म करता है, एवं अन्नादि से पालन-पोषण करता है, उसे इस संसार में गुरु अर्थात् पिता कहकर कीर्तन किया जाता है ॥ ५५ ।

जो कोई वृत होकर (संकल्प लेकर) जिसका अग्न्याधेय-कर्म, पाक-यज्ञ एवं अग्निष्टोमादि यज्ञ करता है, यहाँ पर वही जन उसका ऋत्विक् कहलाता है ॥ ५६ ।

उपाध्याय की अपेक्षा आचार्य का गौरव दशगुण होता है, और आचार्य से पिता का शतगुण अधिक है, एवं पिता से माता का गौरव सहस्रगुण अधिक है ॥ ५७ ।

ज्ञान से ही ब्राह्मणों की ज्येष्ठता, वीर्य से (पराक्रम से) क्षत्रियों की, धनधान्य से वैश्यों की और जन्म से शूद्रों की बड़ाई होती है ॥ ५८ ।

जैसा काठ का हाथी और चमड़े का मृग होता है, वैसा ही अध्ययनहीन ब्राह्मण भी है । ये तीनों ही पदार्थ नामधारी मात्र हैं ॥ ५९ ।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ ६० ।
स्वधर्मनिरतानां च वेदयज्ञक्रियावताम् ।
ब्रह्मचारी चरेद्भैक्ष्यं वेश्मसु प्रयतोऽन्वहम् ॥ ६१ ।
अकृत्वा भैक्ष्यचरणमसमिध्यहुताशनम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ ६२ ।
यथेष्टचेष्टो न भवेद् गुरोर्नयनगोचरे ।
न नाम परिगृह्णीयात् परोक्षेऽप्यविशेषणम् ॥ ६३ ।
गुरुनिन्दा भवेद्यत्र परिवादस्तु यत्र च ।
श्रुती पिधाय वा स्थेयं यातव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ ६४ ।
खरो गुरोः परीवादाच्छ्वा भवेद्गुरुनिन्दकः ।
मत्सरी क्षुद्रकीटः स्यात् परिभोक्ता भवेत् कृमिः ॥ ६५ ।

द्विजो विप्रादिः । विप्र इति पाठे विप्र इति क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणम् । पुनर्मामित्यृचमिति । पुनर्मामैत्विन्द्रियमित्येतामृचं वारत्रयं जपेत् ॥ ६० ।
वेश्मसु गृहस्थाश्रमेषु ॥ ६१ ।
अवकीर्णिव्रतं प्रायश्चित्तम् ॥ ६२ ।
अविशेषणं विशेषणरहितं केवलमित्यर्थः ॥ ६३ ।
परिभोक्ता अग्रतो भोक्ता ॥ ६५ ।

ब्रह्मचारी द्विज अनिच्छा से स्वप्नावस्था में स्खलितवीर्य होने पर स्नान और सूर्य का पूजन करके तीन बार "पुनर्माम्" इत्यादि ऋचा (मन्त्र) का जप करे ॥६०।

ब्रह्मचारी स्वधर्मतत्पर और वेदयज्ञ-क्रियाशील लोगों के गृह में प्रतिदिन प्रयत्न करके भिक्षा करे ॥ ६१ ।

आतुरता के व्यतिरिक्त सात रात (दिन) भिक्षाचरण अथवा अग्निसमिधन (न ?) करने पर (प्रायश्चित्तरूप) अवकीर्णिव्रत करना चाहिए ॥ ६२ ।

गुरु के दृष्टिपथ में स्वेच्छानुसार चेष्टा न करे और परोक्ष में भी कभी उनका नाम विना विशेषण के न लेवे ॥ ६३ ।

जहाँ पर गुरु की निन्दा (भूतपूर्व दोष-कथन) अथवा अपवाद (वर्तमान दोष-कथन) होता हो, वहाँ पर (यदि रहना ही पड़े तो) दोनों कानों को बन्द करके रहे, नहीं तो वहाँ से कहीं अन्यत्र हट जावे ॥ ६४ ।

("श्रवण मूँदि न त चलिय पराई—तु० रा०") । गुरु का परिवाद करने से गर्दभ, निन्दा करने से कुक्कुर, मत्सर (डाह) करने से क्षुद्रकीट और आगे बैठकर भोजन करने से कृमि योनि में (प्राप्त) शिष्य जन्म लेता है ॥ ६५ ।

नाभिवाद्या गुरोः पत्नी स्पृष्ट्वाङ्घ्री युवती सती ।
क्वापि विंशतिवर्षेण ज्ञातृणा गुणदोषयोः ॥ ६६ ।
स्वभावश्चञ्चलः स्त्रीणां दोषः पुंसामतः स्मृतः ।
प्रमदासु प्रमाद्यन्ति क्वचिन्नैव विपश्चितः ॥ ६७ ।
विद्वांसमप्यविद्वांसं यतस्ताधर्षयन्त्यलम् ।
स्ववशं वापि कुर्वन्ति सूत्रबद्धशकुन्तवत् ॥ ६८ ।
न मात्रा न दुहित्रा वा न स्वस्रैकान्तशीलता ।
बलवन्तींद्रियाण्यत्र मोहयन्त्यपि कोविदान् ॥ ६९ ।
प्रयत्नेन खनन्यद्वद्भूमेर्वार्यधिगच्छति ।
शुश्रूषया गुरोस्तद्वद् विद्यां शिष्योऽधिगच्छति ॥ ७० ।

ज्ञातृणा ज्ञात्रा । ज्ञानिनेति क्वचित् । जानतेति चान्यत्र । पक्षत्रयेऽपि गुणदोषयोरिति कर्मणि षष्ठी ॥ ६६ ।

अतश्चञ्चलस्वभावात् । प्रमाद्यन्ति विश्वासयन्तीत्यर्थः ॥ ६७ ।

विश्वासागमने हेतुर्विद्वांसमिति । धर्षयन्ति क्षोभयन्ति । अलं सर्वप्रकारेण । तदेवाह । स्ववशमिति ॥ ६८ ।

एकान्तशीलता एकत्रस्थितिर्न कर्तव्येति शेषः ॥ ६९ ।

गुण-दोष का ज्ञाता, बीस वर्ष की अवस्था का शिष्य, गुरु-पत्नी के युवती होने पर कभी पाँव छूकर प्रणाम न करे ॥ ६६ ।

स्त्रियों का स्वभाव तो चञ्चल होता ही है, इसी से पुरुषों में भी विकार आ जाता है । अतएव पण्डित लोग, इन प्रमदाओं के विषय में कभी प्रमाद (असावधानता) नहीं करते ॥ ६७ ।

कारण यह है कि—स्त्रियाँ विद्वान् हों, चाहे मूर्ख हों, सभी को भरपूर धर दबाती हैं, अथवा डोरे में बंधे हुए पक्षी की तरह अपने वश में कर लेती (सकती) हैं ॥ ६८ ।

माता, बेटी, बहन के साथ में भी एकान्तस्थान में नहीं रहना चाहिए; क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी ही प्रबल हैं । ये सब पण्डित लोगों को मोहित कर डालती हैं, यथा च मनुः—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् (विशेत्) । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" ॥ ६९ ।

प्रयत्नपूर्वक खनते रहने से जिस प्रकार पृथिवी के तल से जल पाया जाता है, यों ही शिष्य भी केवल गुरुशुश्रूषा के द्वारा ही विद्या को प्राप्त कर सकता है ॥ ७० ।

शयानमभ्युदयते ब्रध्नश्चेद् ब्रह्मचारिणम् ।
प्रमादादथ निम्नोचेज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ ७१ ।
सुतस्य सम्भवे क्लेशं सहेते पितरौ च यत् ।
शक्या वर्षशतेनापि नो कर्तुं तस्य निष्कृतिः ॥ ७२ ।
अतस्तयोः प्रियं कुर्याद् गुरोरपि च सर्वदा ।
त्रिषु तेषु सुतुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ ७३ ।
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
तानतिक्रम्य यत्कुर्यात्तन्न सिद्धयेत्कदाचन ॥ ७४ ।
त्रीनेवामून् समाराध्य त्रीँल्लोकान् स जयेत्सुधीः ।
देववद् दिवि दिव्येत तेषां तोषं विवर्धयन् ॥ ७५ ।
भूर्लोकं जननीभक्त्या भुवर्लोकं तथा पितुः ।
गुरोः शुश्रूषणात्तद्वत् स्वर्लोकं च जयेत् कृती ॥ ७६ ।

जपन् गायत्रीमिति शेषः ॥ ७१ ।

तान् पित्रादीन् । तानीति पाठे तेषां शुश्रूषादीनीत्यर्थः ॥ ७४ ।

सुधीर्धार्मिकः । सदेति पाठे सदा समाराध्येति सम्बन्धः ॥ ७५ ।

यदि ब्रह्मचारी की शयनावस्था में ही सूर्य उदय होवें, अथवा प्रमादवश ही रहने में अस्त हो जावें, तो उस ब्रह्मचारी को एक दिन भर गायत्री का जप उपवास-करना चाहिये ॥ ७१ ।

पुत्र के जन्म में माता पिता जो क्लेश सहते हैं, उस (ऋण) का सौ वर्ष में भी उद्धार नहीं हो सकता है ॥ ७२ ।

अतएव माता, पिता और गुरु का सर्वदैव प्रिय करना चाहिए; क्योंकि इन्हीं तीनों के संतुष्ट होने से सभी तपस्याएँ समाप्त हो जाती हैं ॥ ७३ ।

उन्हीं तीनों जनों की शुश्रूषा ही परम तपस्या कही जाती है, उन लोगों को अतिक्रमण करके जो कुछ किया जावे, वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ७४ ।

बुद्धिमान् जन इन्हीं तीनों की आराधना करके तीनों लोकों को जीत सकते हैं । उन लोगों का संतोष बढ़ाता हुआ स्वर्ग में देवताओं के समान क्रीड़ा करे ॥ ७५ ।

सुकृती-जन, माता की भक्ति से भूलोक, पिता की सेवा से भुवर्लोक एवं गुरु की शुश्रूषा से स्वर्लोक को जीत लेने में समर्थ होता है ॥ ७६ ।

एतदेव नृणां प्रोक्तं पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
यदेतेषां हि सन्तोष उपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ ७७ ।
अधीत्य वेदान् वेदौ वा वेदं वाऽपि क्रमाद्द्विजः ।
अप्रस्खलद्ब्रह्मचर्यो गृहाश्रममथाश्रयेत् ॥ ७८ ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो विश्वेशानुग्रहाद् भवेत् ।
अनुग्रहश्च वैश्वेशः काशीप्राप्तिकरः परः ॥ ७९ ।
काशीप्राप्त्या भवेज्ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ।
निर्वाणार्थं प्रयत्नो हि सदाचारस्य धीमताम् ॥ ८० ।
सदाचारो गृहे यद्वन्न तथाऽस्त्याश्रमान्तरे ।
विद्याजातं पठित्वान्ते गृहस्थाश्रममाश्रयेत् ॥ ८१ ।
गृहाश्रमात् परं नास्ति यदि पत्नी वशंवदा ।
आनुकूल्यं हि दम्पत्योस्त्रिवर्गोदयहेतवे ॥ ८२ ।

ऋच्छति प्राप्नोति ॥ ८० ।

जिसमें इन लोगों का सन्तोष होवे, वे ही मनुष्यों के (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) चारों पुरुषार्थ कहे गये हैं। अन्य सब तो उपधर्म कहलाते हैं ॥ ७७ ।

द्विज क्रमानुसार तीन वेद, दो वेद अथवा एक वेद (अर्थात् ब्राह्मण तीन वेद, क्षत्रिय दो वेद और वैश्य एक वेद) पढ़कर, अस्खलित ब्रह्मचर्य हो जाने पर गृहस्थाश्रम का आश्रयण करे ॥ ७८ ।

विश्वेश्वर के अनुग्रह से ही ब्रह्मचर्य विचलित नहीं होता और वही विश्वेश्वर का परम अनुग्रह काशी-प्राप्ति का कारण है ॥ ७९ ।

काशी की प्राप्ति होने से ज्ञान होता है, और ज्ञान उत्पन्न होने पर निर्वाण मिल जाता है। इसी निर्वाणपद की प्राप्ति के लिये बुद्धिमानों को सदाचार के परिपालन का प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ८० ।

गृहस्थाश्रम में जैसा सदाचार होता है, वैसा दूसरे आश्रम में नहीं है, इसीलिये (प्रथम) विद्यावर्ग का अध्ययन कर तब गृहस्थाश्रम का आश्रय करे ॥ ८१ ।

यदि पत्नी निजवशवर्तिनी होवे तो गृहस्थाश्रम की अपेक्षा और कुछ भी भला नहीं है; क्योंकि दम्पति की परस्पर अनुकूलता ही त्रिवर्ग के उदय का कारण होती है ॥ ८२ ।

आनुकूल्यं[1] कलत्रं चेत्त्रिदिवेनापि किं ततः ।
प्रातिकूल्यं कलत्रं चेन्नरकेणापि किं ततः ॥ ८३ ।
गृहाश्रमः सुखार्थाय भार्यामूलं च तत्सुखम् ।
सा च भार्या विनीता या त्रिवर्गो विनयो ध्रुवम् ॥ ८४ ।
जलौकयोपमीयन्ते प्रमदा मन्दबुद्धिभिः ।
मृगीदृशां जलौकानां विचारान्महदन्तरम् ॥ ८५ ।
जलौका केवलं रक्तमाददाना तपस्विनी ।
प्रमदा सर्वदा दत्ते चित्तं वित्तं बलं सुखम् ॥ ८६ ।
दक्षा प्रजावती साध्वी प्रियवाक् च वशंवदा ।
गुरोरमीभिः संयुक्ता सा श्रीः स्त्रीरूपधारिणी ॥ ८७ ।

तत आनुकूल्यात्तदेति वा । एवमग्रेऽपि ॥ ८३ ।

सा चेति । सा च भार्या या विनीता तथा च सति त्रिवर्गो विनयश्च ध्रुवं स्यादित्यर्थः । विनीता चेदिति क्वचित्पाठः । त्रिवर्गस्तत्र वै इति क्वचित् । त्रिवर्गं विनयेदिति चान्यत्र । तत्र विनयेद्विशेषेण प्रापयेदित्यर्थः ॥ ८४ ।

तपस्विनी सन्तप्ताऽऽहाराभावेन जलवासाद्वा ॥ ८६ ।

पत्नी यदि अनुकूल होवे तो स्वर्ग से कौन प्रयोजन है ? और यदि पत्नी प्रतिकूल होवे तो उसकी अपेक्षा दूसरा नरक ही क्या हो सकता है ? ॥ ८३ ।

गृहस्थाश्रम का मुख्य प्रयोजन सुख है; परन्तु उस सुख की जड़ भार्या ही है । भार्या भी वही है, जो विनीता होवे । विनय ही निश्चयरूप से त्रिवर्ग का स्वरूप है ॥ ८४ ।

मन्दबुद्धि लोग प्रमदाओं को जोंक की उपमा देते हैं; परन्तु विचार करने पर मृगनयनी और जोंक में बड़ा ही अन्तर जान पड़ता है ॥ ८५ ।

क्षुद्र (बेचारी) जोंक तो केवल रक्त भर ही चूस लेता है; परन्तु प्रमदा लोग तो सर्वदा मन, धन, बल और सुख लेती रहती हैं ॥ ८६ ।

गृहकार्यों में दक्षता, सन्तान-सम्पत्ति, सतीत्व, प्रियवचन और पति से अनुकूलता, जो इन सब गुणों से संयुक्त है, वह स्त्री का रूप धारण किये हुए साक्षात् गृहलक्ष्मी है ॥ ८७ ।

---

१. आनुकूल्यमित्यस्यार्थो आद्यचि आनुकूल्यवदित्यर्थः, एवं प्रतिकूल्यमित्यस्यापि उभयत्राप्यनुकूलमिति पाठश्चेत् सुगमम् ।

गुरोरनुज्ञया स्नात्वा व्रतं वेदं समाप्य च।
उद्वहेत ततो भार्यां सवर्णां साधुलक्षणाम् ॥ ८८ ॥
जनेतुरसगोत्रा या मातुर्याप्यसपिण्डका।
दारकर्मणि योग्या सा द्विजानां धर्मवृद्धये ॥ ८९ ॥
स्त्रीसम्बन्धेऽप्यपस्मारिक्षयिश्वित्रिकुलं त्यजेत्।
अभिशस्तिसमायुक्तं तथा कन्याप्रसूं त्यजेत् ॥ ९० ॥
रोगहीनां भ्रातृमतीं स्वस्मात् किञ्चिल्लघीयसीम्।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सौम्यास्यां मृदुभाषिणीम् ॥ ९१ ॥
न पर्वतर्क्षवृक्षाह्वां न नदीसर्पनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं सौम्याख्यामुद्वहेत्सुधीः ॥ ९२ ॥
न चातिरिक्तहीनाङ्गीं नातिदीर्घां न वा कृशाम्।
नालोमिकां नातिलोमां नास्निग्धस्थूलमौलिजाम् ॥ ९३ ॥

पर्वतश्च ऋक्षं च नक्षत्रं च ऋक्षश्च भल्लूक इति वा। वृक्षश्च तदाह्वां तदाख्यामित्यर्थः। सर्पाह्योर्निष्फणसफणत्वेनावान्तरभेदस्तत्राहयो नागाः। प्रेष्यनाम्नीं दास्यसूचकनाम्नीम् ॥ ९२ ॥

॥ इति श्रीकाशीखण्डटीकायां षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

गुरु की अनुमति के अनुसार व्रत और वेद के समाप्त करने पर स्नान कर, समानवर्णा (समान जातिवाली), शुभलक्षणा भार्या से विवाह करे ॥ ८८ ॥

जो पिता की असगोत्रा और मातामह की असपिंडा कन्या है, वही द्विजगण के धर्मवृद्धिकर विवाहकार्य में योग्य होती है ॥ ८९ ॥

जिस कुल में अपस्मार (मृगी), क्षय (छई), एवं श्वित्र (श्वेतकोढ़) रोग चला आता हो, अथवा जिस कुल में अपवाद लगा हो एवं जहाँ पर कन्या ही अधिक होती हो, विवाह सम्बन्ध में उन सब कुलों को छोड़ ही देना चाहिए ॥ ९० ॥

द्विज को उचित है कि रोगहीना, भ्रातृमती, सौम्य (सुन्दर), सुमुखी, मृदुभाषिणी एवं अपने से अवस्था में कुछ छोटी कन्या से विवाह करे ॥ ९१ ॥

सुधीजन पर्वत, नक्षत्र, वृक्ष, नदी, सर्प, पक्षी, नाग और दासवाचक नामवाली कन्या से विवाह न करे। जिसका नाम सौम्य (सुन्दर) हो, उसे व्याहे ॥ ९२ ॥

हीनांगी, अधिकांगी, अतिदीर्घा, अतिकृशा, लोमहीना, अतिलोमा एवं जिसके केश रूखे और मोटे हों, ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए ॥ ९३ ॥

मोहात् समुपयच्छेत कुलहीनां न कन्यकाम् ।
हीनोपयमनाद्याति सन्तानमपि हीनताम् ॥ ९४ ।

लक्षणानि [1]परीक्ष्यादौ ततः कन्यां समुद्वहेत् ।
सुलक्षणासदाचारापत्युरायुर्विवर्धयेत् ॥ ९५ ।

ब्रह्मचारिसमाचार इति ते समुदीरितः ।
घटोद्भव प्रसङ्गेन स्त्रीलक्षणमथ ब्रुवे ॥ ९६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ।

कुलहीना कन्या से कदापि विवाह न करे। मोहवश अकुलीन कन्या के विवाह करने से अपनी सन्तानधारा भी हीनता को प्राप्त हो जाती है ॥ ९४ ।

प्रथमतः लक्षणों की परीक्षा करके तदुपरान्त कन्या से विवाह करे; क्योंकि सुलक्षणा और सदाचारा भार्या पति का आयुष्य बढ़ा देती है ॥ ९५ ।

"हे घटोद्भव ! यह तो तुमसे मैंने ब्रह्मचारी का सदाचार वर्णन किया, अब प्रसंगवश स्त्रियों का भी लक्षण कहता हूँ" ॥ ९६ ।

चौपाई—होय ब्रह्मचारी जो कोई। यह आचार विचारै सोई ॥
मन्वादिक सम्मत सब भाषे। पढ़त सुनत जेहि मन अभिलाषे ॥ १ ॥

दोहा—स्मृतिपुराण के तत्त्व सब, करि राखे एकत्र ।
सदाचार जो बनि पड़े, पूज्य होय सर्वत्र ॥ २ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ब्रह्मचारिसदाचारवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ।

●

---

1. निरीक्ष्येति क्वचित्पाठः ।

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

सदा गृही सुखं भुङ्क्ते स्त्रीलक्षणवती यदि ।
अतः समृद्धयर्थमादौ लक्षणमीक्षयेत् ॥ १ ।
वपुरावर्तगन्धाश्च छाया सत्वं स्वरो गतिः ।
वर्णश्चेत्यष्टधा प्रोक्ता बुधैर्लक्षणभूमिका ॥ २ ।

त्रिंशत्तमेऽथ सप्तोर्ध्वेऽध्यायेऽतीवमनोरमे ।
लक्षणं वर्ण्यते स्त्रीणां मृगीदृग्भिर्हृतात्मनाम् ॥ १ ।

ननु निवृत्तिमार्गं विहाय किमित्यतिबीभत्सितं ब्रह्मज्ञानप्रतिकूलं स्त्रीयोन्यादि-वर्णनं निरूप्यते भगवता व्यासेन । तथा चोक्तं भाष्यकारेण—"स्त्रीपिण्डसम्पर्ककलुषितचेतसो ब्रह्म न जानन्ति" इति, सत्यम्; किन्तु गुडजिह्विकान्यायेन बहिर्मुखानां विश्वेश्वरकथायां प्रवृत्त्यर्थमिति ब्रूमः । तथा च भागवते मैत्रेयं प्रति विदुरवचनम्—

मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापिते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादैर्मतिर्गृहीता तु हरेः कथायाम् ॥ इति ।

अपिरत्र भिन्नक्रमे भारतमपीत्यनेन सम्बध्यमानः पुराणानि समुच्चिनोति । हरेरित्यर्थपरो निर्देशः । पूर्वाऽध्यायान्ते स्त्रीलक्षणमथ ब्रुव इत्युक्तमतस्तदेव सहेतुकमनुक्रामति । सदा गृहीति ॥ १ ।

तत्र प्रथमं लक्षणाधिकरणं निर्दिशति । वपुरिति । वपुर्ह्रस्वाद्यवयवरहितम् । आवर्तः पाणिनाभ्यादौ रोम्णां दक्षिणावर्तः । छाया कान्तिः । सत्वमन्तःकरणं परपुरुषोपस्थितो मनोनिवारणकारणं गुणविशेषो वा । वर्णो गौरादिः । अष्टधाऽष्टप्रकारा लक्षणभूमिका लक्षणस्थानम् ॥ २ ।

(स्त्रीलक्षण—सामुद्रिक)

स्कन्द कहने लगे—

गृहस्थ सदा सुख-भोग करे, यदि स्त्री लक्षणवती होवे, अतएव सुख-समृद्धि के लिए प्रथमतः (स्त्रियों के) लक्षणों को परखना चाहिए ॥ १ ।

शरीर (में बालों की), भौंरी, गन्ध, छाया (परछाँही), अन्तःकरण, स्वर (बोली), गति (चाल) एवं वर्ण (रँग), पण्डितों ने इन्हीं आठों को लक्षण के स्थान कहे हैं ॥ २ ।

आपादतलमारभ्य यावन्मौलिरुहं क्रमात् ।
शुभाऽशुभानि वक्ष्यामि लक्षणानि मुने शृणु ।। ३ ।
आदौ पादतलं रेखास्ततोऽङ्गुष्ठाङ्गुलीनखाः ।
पृष्ठं गुल्फद्वयं पार्ष्णी जंघे रोमाणि जानुनी ।। ४ ।
ऊरू कटीनितम्बस्फिग् भगो जघनबस्तिके ।
नाभिः कुक्षिद्वयं पार्श्वोदरमध्यवलित्रयम् ।। ५ ।

वपुषो लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते । आपादेति । यावन्मौलिरुहं यावत्केशम् ॥ ३ ।

शरीरस्य प्रत्यङ्गं लक्षणं वक्तुमङ्गानि कथयति । आदाविति षड्भिः । योषिदेवं भूतेति षष्ठेनाऽन्वयः । कथम्भूता, षडुत्तरा षष्टिः षडधिकषष्ठ्यवयवयुक्तेरित्यर्थः । का सेत्यत आह । अङ्गलक्षणसत्खनिः शुभाऽशुभाङ्गलक्षणसत्स्थानं समीचीना भूमिरित्यर्थः । यद्वा, षष्टिरेव विशेष्या षडधिकषष्ठ्यवयवेत्यर्थः । का सेत्यत आहाऽङ्गलक्षणसत्खनिरिति । तान्येव षडधिकानि षष्ट्यङ्गानि लक्षणस्थानानि दर्शयति । पादतलमित्यादिना । पादश्च तलं चेति पादतलमित्येकवद्भावः । पादतले इति पाठे द्विवचनम् । रेखादिपञ्चकं पादस्यैव । अङ्गुष्ठश्चाङ्गुली च नखश्चेति ते तथा । गुल्फद्वयं पादग्रन्थिद्वयम् । पार्ष्णी प्रायो गुल्फयोरधः पादयोः पश्चाद्भागौ । जङ्घे प्रसृते जानुनोरधोभागौ । जानुनो ऊरू पर्वाणो आ[1]पु इति ख्यातावित्यर्थः । तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः । जङ्घा तु प्रसृता जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियामित्यमरः ॥ ४ ।

ऊरू सक्थिनी जानुनोरुपरिभागौ । कटी उन्नतमांसखण्डे श्रोण्याविति यावत् । नितम्बौ च स्त्रीकट्योः पश्चाद्भागौ कटिः श्रोणिः ककुद्मती, पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्या इत्यमरः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावित्यमरः । नितम्बश्च स्फिक् चेति समाहारत्वादेकवद्भावः । भगो भगं योनिरित्यर्थः । भगं योनिद्वयोरित्यमरः । नितम्बस्फिग्भगा इति क्वचित्पाठः । जघनं स्त्रीकट्याः पुरोभागः । स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुर इत्यमरः । बस्तिर्नाभेरधोभागः । बस्तिर्नाभेरधो द्वयोरित्यमरः । जघनं च बस्तिश्च ते तथा । नाभिः प्रसिद्धा । कुक्षिद्वयं जठरद्वयम् । पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुण्डमित्यमरः । पार्श्वं च बाहुमूलस्याधोभागः । पार्श्वमस्त्री तयोरध इत्यमरः । उदरं च यद्यपि कुक्ष्युदरयोः पर्यायत्वं तथापि मध्यप्रदेश उदरं तदुभयपार्श्वप्रदेशः कुक्षिरिति ज्ञातव्यम् । अत एव कुक्षिद्वयमिति द्वयपदं प्रागुक्तम् । मध्यं च मध्यमम् । मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री द्वौ परौ द्वयोरित्यमरः । वलित्रयं च । त्रयपदं शुभलक्षणाऽभिप्रायेण नोद्देशमात्रापेक्षया । समाहारत्वादेकवद्भावः ॥ ५ ।

मुनिवर ! पैर के तलवे से लेकर शिर के केश तक शुभ और अशुभ लक्षणों को क्रम से कहता हूँ, सुनिए ॥ ३ ।

प्रथम पैर, पैर का तलवा, पैर के तलवा की रेखाएँ, पैर का अँगूठा, अँगुलि, नख, पादपृष्ठ (पुस्तपाँव), पैर की दोनों घुट्ठी, दो एड़ी, दोनों पेंडुरी, (उस पर के)

---

१. पुस्तकान्तरे आघु इति ख्यातावित्यपिपाठः ।

रोमालीहृदयं वक्षोजद्वयचूचुकम् ।
जत्रुस्कन्धांसकक्षादोर्मणिबन्धकरद्वयम् ॥ ६ ।
पाणिपृष्ठं पाणितलं [1]रेखाऽङ्गुष्ठाऽङ्गुलीनखाः ।
पृष्ठिः कृकाटिकाकण्ठे चिबुकं च हनूद्वयम् ॥ ७ ।
कपोलौ वक्त्रमधरोत्तरोष्ठौ द्विजजिह्विकाः ।
घण्टिका तालु हसितं नासिका क्षुतमक्षिणी ॥ ८ ।

रोमाली रोमपङ्क्तिः । हृदयं हृदाधार उदरादूर्ध्वप्रदेशः । वक्ष उरः । उरो वत्सं च वक्षश्चेत्यमरः । वक्षोजद्वयं स्तनद्वयम् । चूचुकं कुचाग्रम् । चूचुकं तु कुचाग्रं स्यादित्यमरः । वक्षोजद्वयं चूचुकं चेत्येकवद्भावः । जत्रु स्कन्धस्य सन्धिः । सन्धी तस्यैव जत्रुणीत्यमरः । स्कन्धश्च भुजशिरः । स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्रीत्यमरः । अंसश्च तस्यैवोपरिभाग इत्यवान्तरभेदान्न पौनरुक्त्यम् । कक्षश्च बाहुमूलम् । बाहुमूले उभे कक्षावित्यमरः । ते तथा । दोर्हस्तः । भुजबाहुप्रकोष्ठो दोरित्यमरः । मणिबन्धकरद्वयं तत्पर्यन्तं हस्तद्वयमित्यर्थः ॥ ६ ।

पृष्ठिः पृष्ठम् कृकाटिका च अवटुः पृष्ठवंशस्योपरिभागो घाट[2] इति गौडे प्रसिद्धः । अवटुर्घाटा कृकाटिकेत्यमरः । कण्ठश्च गलः । कण्ठो गल इत्यमरः । ते तथा । क्लीबत्वमार्षम् । कृकाटिका कण्ठ इति पाठे पृथक् पदम् । चिबुकमधरस्याधोभागः । अधस्ताच्चिबुकमित्यमरः । हनुः कपोलयोः परभागः । तत्परा हनुरित्यमरः ॥ ७ ।

कपोलौ गण्डौ । गण्डौ कपोलावित्यमरः । अधरश्च उत्तरोष्ठश्च अधरोत्तरोष्ठौ रदनच्छदौ । उत्तरपदं तु स्पष्टार्थम् । यद्वा, अधरोत्तरौ च यावोष्ठौ । ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी इत्यमरः । द्विजा दन्ताश्च जिह्विका च जिह्वा तास्तथा । घण्टिका जिह्वाया अधोभागः । तालु काकुदं जिह्वात उपरिप्रदेशः । तालु तु काकुदमित्यमरः । हसितं हास्यम् । क्षुतं क्षुत् । स्त्रीक्षुत् क्षुतं क्षवः पुंसीत्यमरः ॥ ८ ।

रोयें, घुटने, जंघे, कमर, नितम्ब, कला, योनि, पट्टा (पुट्ठा), पेडू, नाभि (ढोंढी), कोखें, दोनों पँजडी, पेट, मध्यभाग, त्रिबली (पेटी), (पेट पर को) रोमावली, हृदय, छाती, दोनों स्तन, ढेपुनी, हँसुली, कन्धे का जोड़ (बाँह की जड़), कन्धा, काँख, बाँहें, (हाथ का) गट्टा (कलाई), दोनों हाथ, (हाथ का) उपरैल, हथेली, (हथेली की) रेखाएँ, अँगूठा, अँगुलि, नख, पीठघाँटी, कण्ठ, गला, चिबुक (ओठ के नीचे), ठुड्डियाँ, दोनों गाल, नीचे ऊपर के दोनों ही ओठ, दाँत, जीभ, घण्टी, तालुहँसी, नाक, छींक (छींकना), दोनों आँखें, पलक (पपनी), भौं, कान, माथा, सिर, माँग और केश, यही

---

१. पाणिसम्बन्धिन इत्यर्थः ।
२. घांड इति इत्यपपाठः ।

पक्ष्मभ्रूकर्णभालानि मौलिसीमन्तमौलिजाः ।
षष्टिः षडुत्तरा योषिदङ्गलक्षणसत्खनिः ॥ ९ ।

स्त्रीणां पादतलं स्निग्धं मांसलं मृदुलं समम् ।
अस्वेदमुष्णमरुणं बहुभोगोचितं स्मृतम् ॥ १० ।

रूक्षं विवर्णं परुषं खण्डितप्रतिबिम्बकम् ।
सूर्पाकारं विशुष्कं च दुःखदौर्भाग्यसूचकम् ॥ ११ ।

चक्रस्वस्तिकशंखाब्जध्वजमीनातपत्रवत् ।
यस्याः पादतले रेखा सा भवेत् क्षितिपाऽङ्गना ॥ १२ ।

पक्ष्म नेत्ररक्षकम् । भ्रूर्दृश उपरिवर्तमानावयवविशेषः । ऊर्ध्वं दृग्भ्यां भ्रुवौ स्त्रियामित्यमरः । कर्णौ च भालं च ललाटं तानि तथा । मौलिश्च शिरः सीमन्तश्च सिन्दूराधारकेशवेशविस्तारविशेषः । मौलिजाश्च केशास्ते तथा ॥ ९ ।

तन्त्रेण पादतलयोः शुभाशुभे लक्षणे आह । स्त्रीणामिति द्वयेन । मांसलं मांसयुक्तं मांसैः सुललितमित्यर्थः ॥ १० ।

खण्डितप्रतिबिम्बकं वालुकादावजातचिह्नम् । एवं शुभाशुभलक्षणद्वयमुक्तम् ॥ ११ ।

पादतलरेखायाः शुभाशुभे लक्षणे आह । चक्रेति द्वाभ्याम् । स्वस्तिकं त्रिकोणरेखाविशेषः । क्षितिपाङ्गना राजपत्नी । तदुक्तं सामुद्रिके—

यस्याः पाणितले पद्मं पादे चैव विशेषतः ।
चामरं शंखचक्रं च साऽपि राज्ञी भविष्यति ॥ इति ॥ १२ ।

छाछठों स्थान स्त्रियों के अङ्ग-लक्षण की उत्तम खान हैं ॥ ४-९ ।

स्त्रियों (के पैर) का तलवा चिकना, मांसल (मँसगर), कोमल, सम (थर) रक्तवर्ण, जो पसीजे नहीं और उष्ण रहे, वह बहुत ही भोग के योग्य कहा गया है ॥ १० ।

रूखा, विवर्ण (बदरंग), कर्कश (कड़ा), चुचका, (पिचका) सूप के आकार का और जिसका चिह्न भूमि पर पूरा न पड़े, वह तलवा दुःख और दुर्भाग्य का सूचक होता है ॥ ११ ।

चक्र, त्रिकोण, शंख, कमल, ध्वजा, मत्स्य और छत्र (छाता)—ये सब रेखाएँ जिसके तलवा में होवें, वह राजपत्नी होती है ॥ १२ ।

भवेदखण्डभोगायोर्द्ध्वा मध्याऽङ्गुलिसङ्गता ।
रेखाखुसर्पकाकाभा दुःखदारिद्रचसूचिकाः ॥ १३ ।
उन्नतो मांसलोऽङ्गुष्ठो वर्तुलोऽतुलभोगदः ।
वक्रो ह्रस्वश्च चिपिटः सुखसौभाग्यभञ्जकः ॥ १४ ।
विधवा विपुलेन स्याद्दीर्घाऽङ्गुष्ठेन दुर्भगा ।
मृदवोऽङ्गुलयः शस्ता घनावृत्ताः समुन्नताः ॥ १५ ।
दीर्घाऽङ्गुलीभिः कुलटा कृशाभिरतिनिर्धना ।
ह्रस्वायुष्या च ह्रस्वाभिर्भुग्नाभिर्भुग्नवर्तिनी ॥ १६ ।
चिपिटाभिर्भवेद्दासी विरलाभिर्दरिद्रिणी ।
परस्परं समारूढाः पादाऽङ्गुल्यो भवन्ति हि ॥ १७ ।
हत्वा बहूनपि पतीन् परप्रेष्या तदा भवेत् ।
यस्याः पथि समायान्त्या रजो भूमेः समुच्छलेत् ॥ १८ ।

ऊर्ध्वा ऊर्ध्वगामिनी । आखुर्मूखकश्च सर्पश्च काकश्च तेषामाभा आकारो यस्याः सा रेखा दुःखदारिद्रच सूचिकेत्यन्वयः । नख्यहीति पाठे नखी जन्तुविशेषः ॥१३।

पादाङ्गुष्ठस्य शुभे लक्षणे आह । उन्नत इति सार्धेन । चिपिटः चिपिटकाकारः । चेमढ' इति लोके प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ १४ ।

अङ्गुलीनां शुभाशुभे लक्षणे आह । मृदव इति सार्धैरष्टभिः ॥ १५ ।

भुग्नाभिः कुटिलाभिः । भुग्नवर्तिनी कुटिलव्यवहारवर्तिनी ॥ १६ ।

परप्रेष्या पराधीना । समुच्छलेदूर्ध्वं गच्छेत् ॥ १८ ।

जिस (स्त्री) के तलवे में ऊर्ध्वरेखा बिचिली अँगुली से मिली हो, वह सम्पूर्ण सुख-भोग प्राप्त करने वाली होती है (तथा च नैषधे—पदं किमस्यांकितमूर्ध्वरेखया इति) और मूस, सांप और कौवा के ऐसी रेखा दुःख-दारिद्रच की सूचिका है ॥ १३ ।

उभड़ा हुआ, मांसल और गोला अँगूठा अतुल भोग देता है, एवं टेढा, छोटा और चिपटा होने से सुख-सौभाग्य का भञ्जक होता है ॥ १४ ।

जिसका अँगूठा बहुत बड़ा हो, वह स्त्री विधवा और लम्बा अँगूठा होने से दुर्भगा होती है । घनी, ऊँची, गोली और कोमल अँगुलियाँ ही प्रशस्त होती हैं ॥ १५ ।

(स्त्री) अँगुलियों के लम्बी होने से कुलटा, पतली होने से दरिद्रा, छोटी होने से अल्पायुषा और टेढी होने से कुटिल व्यवहार करने वाली होती है ॥ १६ ।

चिपटी अँगुली होने से दासी और बिरल अँगुली होने से निर्धना एवं एक के ऊपर (परस्पर) दूसरी अँगुलियों के चढ़े रहने से अनेक पतियों को मारकर फिर पराये की चेरी होती है । जिसके मार्ग में चलने पर भूमि से धूल उड़े, वह तीनों कुल

सा पांसुला प्रजायेत कुलत्रयविनाशिनी ।
यस्याः कनिष्ठिका भूमिं न गच्छन्त्या परिस्पृशेत् ॥ १९ ।
सा निहत्य पतिं योषा द्वितीयं कुरुते पतिम् ।
अनामिका च मध्या च यस्या भूमिं न संस्पृशेत् ॥ २० ।
पतिद्वयं निहन्त्याद्या द्वितीया च पतित्रयम् ।
पतिहीनत्वकारिण्यौ हीने ते द्वे इमे यदि ॥ २१ ।
प्रदेशिनी भवेद्यस्या अङ्गुष्ठाव्यतिरेकिणी ।
कन्यैव कुलटा सा स्यादेष एव विनिश्चयः ॥ २२ ।
स्निग्धाः समुन्नतास्ताम्रा वृत्ताः पादनखाः शुभाः ॥ २३ ।
राज्ञीत्वसूचकं स्त्रीणां पादपृष्ठं समुन्नतम् ।
अस्वेदमशिराढ्यं च मसृणं मृदुमांसलम् ॥ २४ ।

पांसुला व्यभिचारिणी । न परिस्पृशेदित्यन्वयः ॥ १९ ।

आद्याऽनामिका स्पृष्टभूमिका । द्वितीया मध्यमाऽस्पृष्टभूमिका । ते अनामिका मध्ये हीने रहिते न्यूने वा ॥ २१ ।

अङ्गुष्ठाव्यतिरेकिणी अङ्गुष्ठेन सम्बद्धा । अङ्गुष्ठव्यतिरेकिणीति पाठे अङ्गुष्ठेनात्यन्तभिन्ना विरला । अङ्गुष्ठादतिरेकिणीति पाठे अङ्गुष्ठादपि दीर्घेत्यर्थः । कन्यैवाऽविवाहितैव । कुलटा पुंश्चली ॥ २२ ।

पादनखानां शुभलक्षणमाह । स्निग्धा इति । एतद्विपरीता अशुभा इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । एवमन्यत्रापि यत्र यत्राशुभलक्षणं नोक्तं तत्र तत्रार्थाज्ज्ञातव्यम् ॥२३।

का नाश करने वाली पांसुला होती है । जिसके चलने में कानी अँगुली पृथिवी पर नहीं पड़ती, वह एक स्वामी को मारकर दूसरा पति करती है । जिसकी अनामिका अँगुली भूमि पर न पड़े, वह तो दो पतियों को और जिसकी बिचिली न लगती हो, वह तीन स्वामियों को मार डालती है । यही दोनों (अनामिका और मध्यमा) अँगुलियाँ जिसे न हों अथवा यदि छोटी हों, तो वह स्त्री भी पतिहीन ही रहती है ॥ १७-२१ ।

जिस नारी की तर्जनी अँगुली अँगूठे से सटी हो (अथवा बड़ी हो), तो वह कन्यावस्था में ही पुंश्चली हो जाती है, यह दृढ़ निश्चय है ॥ २२ ।

चिकने, ऊँचे, तामडे और गोले पैर के नख शुभप्रद होते हैं ॥ २३ ।

स्त्रियों का पादपृष्ठ ऊँचा, चिकना, कोमल, मांसल हो एवं बहुत नसों से भरा और स्वेदयुक्त न हो, तो रानी होने की सूचना करता है ॥ २४ ।

दरिद्रा मध्यनम्रेण शिरालेन सदाध्वगा।
रोमाढ्येन भवेद्दासी निर्मांसेन च दुर्भगा ॥ २५।
गूढौ गुल्फौ शिवायोक्तावशिरालौ सुवर्तुलौ।
स्थपुटौ शिथिलौ दृश्यौ स्यातां दौर्भाग्यसूचकौ ॥ २६।
समपार्ष्णिः शुभा नारी पृथुपार्ष्णिश्च दुर्भगा।
कुलटोन्नतपार्ष्णिः स्याद्दीर्घपार्ष्णिश्च दुःखभाक् ॥ २७।
रोमहीने समे स्निग्धे यज्जङ्घे क्रमवर्तुले।
सा राजपत्नी भवति विशिरे सुमनोहरे ॥ २८।

पादपृष्ठस्य शुभाशुभलक्षणे आह। राज्ञीत्वेति द्वयेन ॥ २४-२५।

पादग्रन्थ्यपरपर्यायस्य गुल्फस्य शुभाशुभलक्षणे आह। गूढावित्येकेन। स्थपुटौ निम्नौ। सुपुष्टाविति पाठे स्थूलावित्यर्थः। दृश्यौ प्राकृतौ कुत्सिताविति यावत्। यद्वा, दृशौ नेत्रे पश्यतस्तन्नूकुरुत इति दृश्यौ नेत्रयोर्व्रीडाजनकावित्यर्थः ॥ २६।

पादपश्चाद्भागस्य पार्ष्णेः शुभाशुभे लक्षणे आह। समपार्ष्णिरित्येकेन ॥ २७।

जानुगुल्फमध्यभागस्य जंघाख्यस्य शुभलक्षणमाह। रोमहीन इति। यस्याः जंघे रोमहीने भवतः, सा राजपत्नी भवतीति सम्बन्धः। क्रमवर्तुले अधोभागमारभ्योपर्युपरि किञ्चिदधिकस्थूले इत्यर्थः। समवर्तुले इति पाठे सते उच्चनीचरहिते च ते वर्तुले चेति तथा। अर्थादेतद्विपरीतमशुभलक्षणमित्युक्तमेव ॥ २८।

पादपृष्ठ, जो बीच में धँसा रहे, तो स्त्री दरिद्रा और नसों से भरा हो, तो सदा मार्ग में घूमने वाली एवं रोयें से पूर्ण होने पर दासी तथा सुकठा रहने से दुर्भगा होती है ॥ २५।

पैर की दोनों घुट्ठियाँ छिपी हुई हों और नसों से हीन और गोली हों, तो शुभ लक्षण कही गयी हैं। टेढ़ी-मेढ़ी (ऊँची-नीची) ढीली दिखलाई पड़ती हों, तो दुर्भाग्यसूचक होती हैं ॥ २६।

जिस रमणी की एड़ी सम हो, वह शुभ लक्षणा, जिसकी एड़ी मोटी हो, तो वह दुर्भगा, जिसकी एड़ी ऊँची हो, वह कुलटा और जिसकी एड़ी बड़ी हो, वह दुःख-भागिनी होती है ॥ २७।

जिसके जंघे (पैर की पेंडुरी—अर्थात् घुटने के नीचे का भाग) रोमरहित, चिकने, क्रम से गोले, विना नसों के, मनोहर होवें, वह स्त्री राजपत्नी होती है ॥ २८।

एकरोमा राजपत्नी द्विरोमा च सुखावहा ।
त्रिरोमा रोमकूपेषु भवेद् वैधव्यदुःखभाक् ॥ २९ ।
वृत्तं पिशितसंलग्नं जानुयुग्मं प्रशस्यते ।
निर्मांसं स्वैरचारिण्या दरिद्रायाश्च विश्लथम् ॥ ३० ।
विशिरैः करभाकारैं रुरुभिर्मसृणैर्घनैः ।
सुवृत्तै रोमरहितैर्भवेयुर्भूपवल्लभाः ॥ ३१ ।
वैधव्यं रोमशैरुक्तं दौर्भाग्यं चिपिटैरपि ।
मध्यच्छिद्रैर्महादुःखं दारिद्र्यं कठिनत्वचैः ॥ ३२ ।
चतुर्भिरङ्गुलैः शस्ता कटिर्विंशतिसंयुतैः ।
समुन्नतनितम्बाढ्या चतुरस्रा मृगीदृशाम् ॥ ३३ ।

कूपोत्थस्य रोम्णः शुभाशुभे लक्षणे आह । एकरोमेत्येकेन । रोमकूपेष्विति त्रिष्वपि सम्बध्यते ॥ २९ ।

जानुनः शुभाशुभे लक्षणे आह । वृत्तमित्येकेन । वृत्तं वर्तुलम् । पिशितसंलग्नं मांसपिण्डितम् । विश्लथमदृढम् ॥ ३० ।

अवयवाः १२ ऊरोः शुभाशुभे लक्षणे आह । विशिरैरिति द्वयेन । करभाकारैर्मणिबन्धाकनिष्ठाद्धस्तस्य बहिर्भागसदृशैर्हस्तिशुण्डाकारैरिति वा । मसृणैश्चिक्कणैः । घनैर्निबिडैः । सुवृत्तैः सुवर्तुलैः ॥ ३१ ।

चिपिटैर्निम्नैः । मध्यच्छिद्रैर्मध्ये शिरालैः । मध्ये छिद्राणि निम्नस्थानानि येषां तैरिति वा ॥ ३२ ।

कट्याः शुभाशुभे लक्षणे आह । चतुर्भिरिति द्वयेन । चतुरस्रा चतुःकोणा आयतेत्यर्थः ॥ ३३ ।

जिसकी प्रत्येक भँवरियों पर एक-एक रोम हो, वह राजपत्नी, दो-दो रोम हों, तो सुख से परिपूर्ण और तीन-तीन रोम होने से वैधव्य-दुःखभागिनी होती है ॥ २९ ।

गोले और मांसल पैर के घुटने उत्तम हैं। पर स्वैरचारिणी का घुटना मांस-रहित (सुकठा) और दरिद्रा का घुटना पतला वा कोमल (गोला नहीं) होता है ॥ ३० ।

जिनके ऊरु (जंघे) विना नस, हाथी के सूँड के समान, घने (कड़े) चिकने, गोले और रोमरहित हों, वे स्त्रियाँ राजपत्नी होती हैं ॥ ३१ ।

जिनके ऊरु रोमश हों, वे विधवा, चिपटे हों, तो दुर्भगा, बीच में गड्ढे पड़े हों, तो महादुःखिनी और कठोर त्वचा (चमड़ा) के होने से दरिद्रिणी होती हैं ॥ ३२ ।

मृगनयनियों की कटि (कमर) चौबीस अँगुलियों से परिमित और ऊँचे नितम्ब से शोभित एवं चौकोर होने से ही उत्तम है ॥ ३३ ।

विनता चिपिटा दीर्घा निर्मांसा संकटा कटिः ।
ह्रस्वा रोमयुता नार्यं दुःखवैधव्यसूचिकाः ॥ ३४ ।
नितम्बबिम्बो नारीणामुन्नतो मांसलः पृथुः ।
महाभोगाय सम्प्रोक्तस्तदन्योऽशर्मणे मतः ॥ ३५ ।
कपित्थफलवद्वृत्तौ मृदुलौ मांसलौ घनौ ।
स्फिचौ वलिविनिर्मुक्तौ रतिसौख्यविवर्धनौ ॥ ३६ ।
शुभः कमठपृष्ठाभो गजस्कन्धोपमो भगः ।
वामोन्नतस्तु कन्याजः पुत्रजो दक्षिणोन्नतः ॥ ३७ ।

विनता नम्रा । संकटा सम्यक् कठिना संकीर्णा वा ॥ ३४ ।

नितम्बस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । नितम्बेत्येकेन । तदन्यस्तद्विपरीतः । अशर्मणे दुःखाय ॥ ३५ ।

कटिप्रोथापरपर्यायायाः स्फिचः शुभलक्षणमाह । कपित्थेत्येकेन । कपित्थफलं श्रीफलाकारफलविशेषः ॥ ३६ ।

भगस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । शुभ इति पञ्चभिः । कमठपृष्ठाभः कूर्मपृष्ठवन्निविडो दृढ इति यावत् । गजस्कन्धोपमः करिस्कन्धवदुन्नतः । कन्याजः कन्याजनकः । पुत्रजः पुत्रजनकः ॥ ३७ ।

और जिस नारी की कटि झुकी हुई, चिपटी, दीर्घा (चौड़ी वा लम्बी) विना मांस वाली सङ्कीर्ण (संकरी), छोटी और रोमयुक्त हो, तो वह नारी दुःख और वैधव्य का सूचन करती है ॥ ३४ ।

स्त्रियों का नितम्बबिम्ब ऊँचा, मांसल (गुदगर) और भारी हो, तो महाभोगों का दायक कहा गया है और इससे भिन्न होने से अशुभसूचक जानना चाहिए ॥ ३५ ।

दोनों स्फिक् (कूल्हा) कैथ के फल ऐसे गोले, मांसल, घन और बलि (रेखा) से हीन हों, तो रति और सौख्य के वर्द्धक होते हैं ॥ ३६ ।

स्त्रियों की योनि कछुआ के पीठ ऐसी कठोर(ठस)और हाथी के कन्धे सी ऊँची हो, तो शुभ है, जो बायीं ओर ऊँची हो, वह कन्या उत्पन्न करने वाली और दाहिनी ओर ऊँची हो, तो पुत्र जनने वाली होती है ॥ ३७ ।

आखुरोमा गूढमणिः सुश्लिष्टः संहतः पृथुः ।
तुङ्गः कमलपर्णाभः शुभोऽश्वत्थदलाकृतिः ॥ ३८ ।
कुरङ्गखुररूपो यश्चुल्लिकोदरसन्निभः ।
रोमशो विवृतास्यश्च दृश्यनासोऽतिदुर्भगः ॥ ३९ ।
शङ्खावर्तो भगो यस्याः सा गर्भमिह नेच्छति ।
चिपिटः खर्पराकरः किङ्करीपददो भगः ॥ ४० ।
वंशवेतसपत्राभो गजरोमोच्चनासिकः ।
विकटः कुटिलाकारो लम्बगल्लस्तथाऽशुभः ॥ ४१ ।

आखूनां मूषकानामिव पिङ्गलानि रोमाणि यस्य स तथा । गूढो मणिरिव मणिर्वराङ्गत्वान्मध्यभागविशेषो यस्य स तथा । सुश्लिष्टः सुनिबिडः । संहतो दृढः । पृथुर्विस्तीर्णः । तुङ्ग उच्चः । कमलपर्णाभः पद्मपत्राकारः । कमलवर्णाभ इति क्वचित् । कमलगर्भाभ इति चान्यत्र । अश्वत्थदलाकृतिः पिप्पलपत्रसदृशः ॥ ३८ ।

कुरङ्गखुररूपो हरिणशफतुल्यः । तथा च श्रूयते—

अन्यत्र भीष्माद् गाङ्गेयादन्यत्र च हनूमतः ।
हरिणीखुरमात्रेण चर्मणा मोहितं जगत् ॥ इति ।

चुल्लिकोदरसन्निभः पाकाग्न्याधारमध्यसदृशः । रोमशो रोमबहुलः । विवृतास्योऽतिविस्तीर्णमुखः । दृश्या स्थूला स्पष्टा वा नासा यस्य स तथा । अत्र नासानामाक्षताया योनेर्मध्यप्रदेशः । अतिदुर्भगोऽतिकुत्सितः । अतिदुर्भगत्वे हेतुर्वा ॥ ३९ ।

शङ्खावर्तः शङ्खसदृशः शङ्खवत्त्रिरेखाद्यङ्कित इति वा । गर्भं नेच्छति वन्ध्या भवतीत्यर्थः । खर्पराकारः भग्नघटखर्पराकारः । तस्मै व हेयमुदकं घटखर्परेणेत्युक्तः । कपटाकार इति पाठे वस्त्रविशेषाकार इत्यर्थः । तथा च दृश्यते—

करे कर्पटके चैव आयसे ताम्रभाजने ।
भुञ्जन् भिक्षुर्न लिप्येत लिप्यते तु परिग्रहात् ॥ इति ॥ ४० ।

वंशवेतसपत्राभः वंशः प्रसिद्धः । वेतसो वानीरस्तयोः पत्रसदृशः । गजस्येव

जिसके ऊपर मूसे के समान मटमैले (भूरे) रोयें हों, मध्यभाग छिपा हो, दोनों भाग सटे हों, कड़ी भारी और ऊँची हो, कमलपत्र का वर्ण हो और पीपल के पत्ते के समान आकार हो, तो वह सुभग है ॥ ३८ ।

जो हिरण के खुर सदृश, चूहा के बीच समान, रोमश, खुला मुँह हो और जिसकी नासिका दिखलायी पड़ती रहे, वह अत्यन्त दुर्भगा है ॥ ३९ ।

जो शङ्ख की तरह तीन रेखाओं से अङ्कित होती है, वह गर्भ नहीं धारण करती और जो चिपटी व खपड़ा के आकार की होती है, ये लक्षण उस स्त्री को दासी पद प्रदान करते हैं ॥ ४० ।

जो बाँस या बेंत के पत्ते जैसी हो, या हाथी के समान कड़े रोयें हों, किंवा

भगस्य भालं जघनं विस्तीर्णं तुङ्गमांसलम् ।
मृदुलं मृदुलोमाढ्यं दक्षिणावर्तमीडितम् ॥ ४२ ।
वामावर्तं च निर्मांसं भुग्नं वैधव्यसूचकम् ।
संकटस्थपुटं रूक्षं जघनं दुःखदं सदा ॥ ४३ ।
बस्तिः प्रशस्ता विपुला मृद्वीस्तोकसमुन्नता ।
रोमशा च सिराला च रेखाङ्का नैव शोभना ॥ ४४ ।
गम्भीरा दक्षिणावर्ता नाभी स्यात् सुखसम्पदे ।
वामावर्ता समुत्ताना व्यक्तग्रन्थिर्न शोभना ॥ ४५ ।

रोमाणि यस्य स तथा । उच्चनासिको दीर्घनासिकः । विकटः कुत्सितः । कुटिलाकारो वक्राकारः । लम्बगल्लः दीर्घमुखाऽधोभागः । अशुभ इति च्छेदः ॥ ४१ ।

जघनस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । भगस्येति द्वाभ्याम् । भालं ललाटं भगस्योपरि-भाग इत्यर्थः । तुङ्गमांसलं तुङ्गं च तन्मांसलं मांसयुक्तं च तत्तथा । मृदुलं कोमलम् । दक्षिणावर्तं यथा स्यात्तथा मृदुलोमाढ्यमित्यन्वयः । ईडितं स्तुतं शुभमित्यर्थः ॥ ४२ ।

वामावर्तं च रेखाणां रोम्णामित्येव वा । भुग्नं कुटिलं विश्लिष्टावयवमित्यर्थः । संकटस्थपुटं संकटं संकुचितं च तत्स्थपुटं निम्नं चेति तथा ॥ ४३ ।

बस्तेः शुभाशुभे लक्षणे आह । बस्तिरित्येकेन । मृद्वी कोमला । स्तोकसमुन्नता ईषदुन्नता । रेखाङ्का रेखाङ्किता ॥ ४४ ।

नाभेः शुभाशुभलक्षणे आह । गम्भीरेत्येकेन । गम्भीरा निम्ना । दक्षिणावर्ता रोमभी रेखाभिर्वेति ज्ञेयम् । समुत्ताना उच्चा । व्यक्ता अभिव्यक्ता ग्रन्थिग्रन्थनं मध्य-भागो यस्याः सा तथा ॥ ४५ ।

जिसकी नासिका उभड़ी रहे, अथवा कुत्सित और टेढ़ा आकार हो तथा जिसका अधो-भाग बड़े मुँह का हो, तो वह (सब) अशुभसूचक है ॥ ४१ ।

उसके ऊपर का जघन (पट्टा या पुट्ठा) फैला हुआ, ऊँचा, मांसल, कोमल एवं दक्षिणावर्त कोमल रोमों से पूर्ण हो, तो शुभ है ॥ ४२ ।

और जिस पर वामावर्त भँवरियाँ हों और चुचका (पिचका) और टेढ़ा हो, वह वैधव्यसूचक है एवं सकरा, नीचा और रूखा हो, तो सदा दुःखप्रद होता है ॥४३।

बस्ति (पेडू) बड़ा, कोमल और कुछ उभड़ा हुआ हो, तो अच्छा है, एवं जो रोमश, नसों से भरा और रेखाओं से अङ्कित हो, वह अच्छा नहीं है ॥ ४४ ।

जिसकी नाभि गहरी और दक्षिणावर्त हो, वह सुख सम्पत्ति की सूचक होती है । वामावर्त्त, उत्तान और जिसकी गाँठ व्यक्त (दिखलायी पड़ती) हो, वह नाभि शोभन नहीं है ॥ ४५ ।

सूते सुतान् बहूस्नारी पृथुकुक्षिः सुखास्पदम् ।
क्षितीशं जनयेत्पुत्रं मण्डूकाभेन कुक्षिणा ॥ ४६ ।

उन्नतेन वलीभाजा सावर्तेनापि कुक्षिणा ।
वन्ध्या प्रव्रजिता दासी क्रमाद्योषा भवेदिह ॥ ४७ ।

समैः समांसैर्मृदुभिर्योषिन्मग्नास्थिभिः शुभैः ।
पार्श्वैः सौभाग्यसुखयोर्निधानं स्यादसंशयम् ॥ ४८ ।

यस्या दृश्यशिरे पार्श्वे उन्नते रोमसंयुते ।
निरपत्या च दुःशीला सा भवेद् दुःखशेवधिः ॥ ४९ ।

अवयवाः २० । कुक्षेः शुभाशुभे लक्षणे आह । सूत इति द्वयेन । सुखस्यास्पदं सुखास्पदं सुखभाजनमित्यर्थः । मण्डूकाभेन भेकोदरतुल्येन ॥ ४६ ।

वलीभाजा श्लथचर्मभाजा । सावर्तेनावर्तसहितेन । क्रमादिति । उन्नतेन कुक्षिणा वन्ध्या । वलीभाजा प्रव्रजिता परिव्राजिका आवर्तसहितेन दासी भवेदिति ॥ ४७ ।

पार्श्वस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । समैरिति द्वयेन । योषित्स्त्री समैरित्यादि-विशेषणविशिष्टैः । पार्श्वैः सौभाग्यसुखयोर्निधानमाश्रयः स्यादिति योजना । पार्श्वयोर-वान्तरभेदविवक्षया पार्श्वैरिति बहुवचनम् । यद्वा, योषिदिति जातावेकवचनम् । पार्श्वै-रिति व्यक्ताविति ॥ ४८ ।

दुःखानां शेवधिर्निधिर्दुःखानामाश्रय इत्यर्थः ॥ ४९ ।

जिसकी कुक्षि (कोंख) बड़ी होती है, वह स्त्री सुख से अनेक पुत्रों को उत्पन्न करती है, जिसकी कुक्षि मेढक के पेट जैसी होती है, वह स्त्री राजा पुत्र का प्रसव करती है ॥ ४६ ।

जिसकी कुक्षि उन्नत हो, वह बाँझ, जिसकी कुक्षि में वलि (पेटी) पड़े, वह प्रव्रजिता (साधुनी) और जिसकी कुक्षि पर भँवरी हो, वह दासी होती है ॥ ४७ ।

जिस नारी के पार्श्व (पाँजर-पँजड़ी) सम, मांसल, कोमल, सुन्दर और मग्नास्थि (अर्थात् जिसकी हड्डियाँ छिपी) हों, वे पार्श्व निस्सन्देह सौभाग्य और सुख के निधान होते हैं ॥ ४८ ।

जिसके पार्श्व में नसें दिखायी पड़ती हों या रोम जमे हों, किं वा वे उभड़े रहते हों, तो वह स्त्री निःसन्तान, दुःख की खान और दुःशीला होती है ॥ ४९ ।

उदरेणातितुच्छेन विशिरेण मृदुत्वचा ।
योषिद्भवति भोगाढ्या नित्यं मिष्टान्नसेविनी ॥ ५० ।
कुम्भाकारं दरिद्राया जठरं च मृदङ्गवत् ।
कूष्माण्डाभं यवाभं च दुष्पूरं जायते स्त्रियाः ॥ ५१ ।
सुविशालोदरी नारी निरपत्या च दुर्भगा ।
प्रलम्बजठरा हन्ति श्वशुरं चापि देवरम् ॥ ५२ ।
मध्यक्षामा च सुभगा भोगाढ्या सवलित्रया ।
ऋज्वी तन्वी च रोमाली यस्याः सा शर्मनर्मभूः ॥ ५३ ।
पिला कुटिला स्थूला विच्छिन्ना रोमराजिका ।
चौरवैधव्यदौर्भाग्यं विदध्यादिह योषिताम् ॥ ५४ ।

उदरस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । उदरेणेति त्रिभिः । अतितुच्छेनातिसूक्ष्मेणेत्यर्थः ॥ ५० ।

दरिद्रायाः स्त्रियः कुम्भकारादिरूपमुदरं जायत इत्यन्वयः ॥ ५१ ।

देवरं भर्तृभ्रातरम् ॥ ५२ ।

मध्यस्य शुभलक्षणमाह । मध्येति पादेन । वलेः शुभलक्षणमाह । भोगाढ्येति पादेन । अङ्गावयवसंकीर्तने त्रयपदं शुभलक्षणाऽभिप्रायेण । रोमाल्याः शुभाशुभे लक्षणे आह । ऋज्वीति सार्धेन । शर्मनर्मभूः सुखक्रीडयोः स्थानम् ॥ ५३ ।

चौरादीनां त्रयाणामेकवद्भावः । तत्र चौरं चौर्यम् ॥ ५४ ।

जिसका उदर (पेट) छोटा, नसों से हीन और कोमल त्वचा (चमड़े) का होता है, वह नारी भोगों से पूर्ण होकर नित्य ही मिष्टान्न का सेवन करती है और दरिद्रा स्त्री का उदर घड़ा, कोहँड़ा, मृदङ्ग या जव के आकार का होता है और वह कभी भरता भी नहीं है ॥ ५०-५१ ।

जिसका उदर बहुत बड़ा होता है, वह स्त्री अपत्यहीना और दुर्भगा होती है । जिसका उदर बड़ा, लम्बा होता है, वह श्वसुर या देवर को मार डालती है ॥ ५२ ।

जिस सुन्दरी का मध्य भाग (कमर के पास स्तन का अधोदेश) पतला होता है, वह सुभगा और जिसका मध्यभाग त्रिवली से युक्त रहे, वह भोगवती होती है एवं जिसकी रोमावली कोमल एवं छोटी (पतली) हो, वह सुख और क्रीड़ा की भूमि होती है ॥ ५३ ।

जिन स्त्रियों की रोमावली भूरे रङ्ग की, टेढ़ो, मोटी और विच्छिन्न (छितर-बितर) होती है, तो वे चोट्टी, विधवा या दुर्भगा होती हैं ॥ ५४ ।

निर्लोमहृदयं यस्याः समं निम्नत्ववर्जितम् ।
ऐश्वर्यं चाप्यवैधव्यं प्रियप्रेम च सा लभेत् ॥ ५५ ।
विस्तीर्णहृदया योषा पुंश्चली निर्दया तथा ।
उद्भिन्नरोमहृदया पतिं हन्ति विनिश्चितम् ॥ ५६ ।
अष्टादशाङ्गुलततमुरः पीवरमुन्नतम् ।
सुखाय दुःखाय भवेद्रोमशं विषमं पृथु ॥ ५७ ।
घनौ वृत्तौ दृढौ पीनौ समौ शस्तौ पयोधरौ ।
स्थूलाग्रौ विरलौ शुष्कौ वामोरूणां न शर्मदौ ॥ ५८ ।
दक्षिणोन्नतवक्षोजा पुत्रिणी त्वग्रणीर्मता ।
वामोन्नतकुचा सूते कन्यां सौभाग्यसुन्दरीम् ॥ ५९ ।

हृदयस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । निर्लोमेति द्वाभ्याम् ॥ ५५ ।

वक्षसः शुभाशुभे लक्षणे आह । अष्टादशेत्येकेन ॥ ५७ ।

वक्षोजस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । घनाविति चतुर्भिः । शस्तौ प्रशस्तौ ॥ ५८ ।

तु एव । अग्रणीः श्रेष्ठा । स्वग्रणीरिति क्वचित् । पुत्रिणीष्वग्रणीरिति चान्यत्र ॥ ५९ ।

जिसकी छाती रोमरहित, सम एवं धँसी हुई न हो, उस नारी को ऐश्वर्य, अवैधव्य और पति का प्रेम प्राप्त होता है ॥ ५५ ।

जिस स्त्री की छाती फैली रहती है, वह निर्दया और पुंश्चली होती है और जिसकी छाती पर रोयें जमे हों, वह नारी पति को अवश्य ही मार डालती है ॥ ५६ ।

अठारह अङ्गुल की विस्तृत, मोटी और उभड़ी हुई छाती सुखसूचक होती है; पर वही रोमश, नीची, ऊँची और भारी हो जाने से दुःखसूचक हो जाती है ॥ ५७ ।

सुन्दरियों के घने, गोले, कड़े, मोटे और सम दोनों स्तन प्रशस्त हैं और जिनके अग्रभाग भारी हों या विरल हों, किं वा सुखड़े हों, तो वे (स्तन) शुभप्रद नहीं होते ॥ ५८ ।

जिसका स्तन दक्षिण ओर उन्नत रहता है, वह नारी पुत्रवती और स्त्रियों में श्रेष्ठ होती है । जिसका स्तन वामभाग में उभड़ा हो, वह सौभाग्यसुन्दरी कन्या को जन्म देती है ॥ ५९ ।

अरघट्टघटीतुल्यौ कुचौ दौःशील्यसूचकौ ।
पीवरास्यौ सान्तरालौ पृथूपान्तौ न शोभनौ ॥ ६० ।

मूले स्थूलौ क्रमकृशावग्रे तीक्ष्णौ पयोधरौ ।
सुखदौ पूर्वकाले तु पश्चादत्यन्तदुःखदौ ॥ ६१ ।

सुदृढं चूचुकयुगं शस्तं श्यामं सुवर्तुलम् ।
अन्तर्मग्नं च दीर्घं च कृशं क्लेशाय जायते ॥ ६२ ।

पीवराभ्यां च जत्रुभ्यां धनधान्यनिधिर्वधूः ।
श्लथास्थिभ्यां च निम्नाभ्यां विषमाभ्यां दरिद्रिणी ॥ ६३ ।

अबद्धावनतौ स्कन्धावदीर्घावकृशौ शुभौ ।
वक्रौ स्थूलौ च रोमाढ्यौ प्रेष्यवैधव्यसूचकौ ॥ ६४ ।

अरघट्टो घटीयन्त्रं रहट्ट इति गुर्जरदेशे प्रसिद्धम् । तत्रस्था या घटी, तत्तुल्यौ ॥ ६० ।

चूचुकस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । सुदृढमित्येकेन । सुदृशामिति क्वचित् ॥ ६२ ।

अवयवसंख्या ३० । जत्रुणः शुभाशुभे लक्षणे आह । पीवराभ्यामित्येकेन । श्लथान्यस्थीनि ययोस्ताभ्याम् । श्लथाभ्यां चैवेति क्वचित् ॥ ६३ ।

स्कन्धस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । अबद्धावित्येकेन । प्रेष्यं दास्यम् ॥ ६४ ।

अरघट्ट-घटी (रहट में लगी हुई मोट = कलसी) के समान होने से दोनों ही स्तन दुःशीलता के सूचक होते हैं । जिनके अग्रभाग मोटे हों, सान्तराल (परस्पर के बीच में झरी पड़ती) हो और अन्त के पास (जड़) में भारी हो गये हों, वे स्तन शोभन नहीं होते हैं ॥ ६० ।

जो स्तन जड़ में मोटे और क्रम से पतले होकर आगे आकर तीखे हो जाते हैं, वे प्रथम सुख देकर फिर पीछे से बड़े ही दुःखदायक होते हैं ॥ ६१ ।

चूचुकद्वय (दोनों कुचाग्र–ढेपुनी) बहुत कड़े, गोले और श्याम वर्ण के होने से प्रशस्त होते हैं, एवं भीतर धंसे, बड़े और पतले होने से क्लेश को उत्पन्न करते हैं ।६२।

जिस वधू की दोनों हँसुली भरी हो, वह धन-धान्य से परिपूर्ण रहती है । जिसकी हँसुली ढोली, हड्डी के नीचे और विषम होवे, वह दरिद्रिणी होती है ॥ ६३ ।

जो कंधे बँधे, झुके, बड़े और पतले न हों, वे तो शुभ हैं और जो टेढ़े, भारी और रोमों से भरे हों, वे दासी या विधवा होने की सूचना देते हैं ॥ ६४ ।

निगूढसन्धी स्रस्ताग्रौ शुभावंसौ सुसंहतौ ।
वैधव्यदौ समुच्चाग्रौ निर्मांसावतिदुःखदौ ॥ ६५ ।
कक्षे सुसूक्ष्मरोमे तु तुङ्गे स्निग्धे च मांसले ।
शस्ते न शस्ते गम्भीरे शिराले स्वेदमेदुरे ॥ ६६ ।
स्यातां दोषौ सुनिर्दोषौ गूढास्थिग्रन्थिकोमलौ ।
विशिरौ च विरोमाणौ सरलौ हरिणीदृशाम् ॥ ६७ ।
वैधव्यं[1] स्थूलरोमाणौ ह्रस्वौ दौर्भाग्यसूचकौ ।
परिक्लेशाय नारीणां परिदृश्यशिरौ भुजौ ॥ ६८ ।
अम्भोजमुकुलाकारमङ्गुष्ठाङ्गुलिसंमुखम् ।
हस्तद्वयं मृगाक्षीणां बहुभोगाय जायते ॥ ६९ ।

अंशस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । निगूढेत्येकेन । समुच्चाग्रौ उन्नताग्रौ ॥ ६५ ।

कक्षयोः शुभाशुभे लक्षणे आह । कक्षे इत्येकेन । शिराले शिरायुक्ते । स्वेदमेदुरे स्वेदस्निग्धे ॥ ६६ ।

दोषः शुभाशुभे लक्षणे आह । स्यातामिति द्वयेन । गूढौ अस्थिग्रन्थी ययोस्तौ गूढास्थिग्रन्थी तौ च तौ कोमलौ चेति तथा ॥ ६७ ।

मणिबन्धावधिकरस्य शुभलक्षणमाह । अम्भोजेत्येकेन । अङ्गुष्ठोऽङ्गुलयश्च सम्यङ्मुखं यस्य तत्तथा ॥ ६९ ।

जो अंश (भुज-शिर) छिपे जोड़, आगे की ओर झुके हुए, अच्छी रीति से जुटे (सटे) होवें, तो वे शुभप्रद हैं और जो आगे की ओर उभड़े हों, वे वैधव्यसूचक एवं जो चुचके हों, वे अत्यन्त दुःखप्रद होते हैं ॥ ६५ ।

दोनों कक्षायें (काँखें) बहुत छोटी रोयिओं से युक्त, ऊँची, चिकनो और मांसल हों, तो वे ही उत्तम हैं एवं जिनमें गड्ढा पड़ जाये, नसें, उभड़ी हों और स्वेद (पसीना) भरा रहे, वे कक्षायें प्रशस्त नहीं होती हैं ॥ ६६ ।

सुन्दरियों के गूढ़ास्थि, गूढ़-ग्रन्थि (जिनकी हड्डी की गाँठ छिपी हो) नस और रोमों से हीन, कोमल और सरल (सीधे) दोनों कर (हाथ) निर्दोष होते हैं ॥ ६७ ।

यदि स्त्रियों के बाहुद्वय स्थूल, रोमों से युक्त हों, तो वैधव्यसूचक, ह्रस्व (छोटे) हों, तो दुर्भाग्यसूचक एवं जिनमें नसें दिखलायी पड़ें, वे बाहु बड़े क्लेशों के सूचक होते हैं ॥ ६८ ।

जिन मृगाक्षियों के दोनों हाथ अँगूठा और अँगुलियों को मिलाकर सम्मुख (सीधा) करने से कमल की कली का आकार बन जाये, वे बड़े ही भोगप्रद होते हैं ॥ ६९ ।

---

१. सूचयत इति शेषः ।

मृदु मध्योन्नतं रक्तं तलं पाण्योररन्ध्रकम् ।
प्रशस्तं शस्तरेखाढ्यमल्परेखं शुभश्रियम् ॥ ७० ।
विधवा बहुरेखेण विरेखेण दरिद्रिणी ।
भिक्षुकी सुशिराढ्येन नारी करतलेन वै ॥ ७१ ।
विरोमविशिरं शस्तं पाणिपृष्ठं समुन्नतम् ।
वैधव्यहेतुरोमाढ्यं निर्मांसं स्नायुमत्त्यजेत् ॥ ७२ ।
रक्ता व्यक्ता गभीरा च स्निग्धा पूर्णा च वर्तुला ।
कररेखाऽङ्गनायाः स्याच्छुभा भाग्यानुसारतः ॥ ७३ ।
मत्स्येन सुभगा नारी स्वस्तिकेन वसुप्रदा ।
पद्मेन भूपतेः पत्नी जनयेद् भूपतिं सुतम् ॥ ७४ ।

क्रममनादृत्य पाणितलस्य शुभाशुभे लक्षणे आह। मृदुमध्योन्नतमिति द्वयेन ॥ ७० ।

पाणिपृष्ठस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । विरोमेत्येकेन ॥ ७२ ।

हस्तरेखायाः शुभाशुभे लक्षणे आह । रक्तेत्यादि सार्धाष्टभिः ॥ ७३ ।

स्वस्तिकेन त्रिकोणाङ्कितरेखाविशेषेण ॥ ७४ ।

पाणितल (हथेली) कोमल, मध्य में उन्नत, रक्तवर्ण, प्रशस्त अल्प रेखाओं से पूर्ण सुश्रीक (सुन्दर) एवं छिद्रहीन (जिसमें गड्ढा न पड़े, ऐसा) होने से बहुत ही उत्तम होता है ॥ ७० ।

जिस नारी का करतल बहुत-सी रेखाओं से भरा हो, वह विधवा और जिसके करतल में रेखा ही न हो, वह दरिद्रिणी एवं जिसके हस्ततल में नसें हों, वह भिक्षुकी होती है ॥ ७१ ।

जिस पर रोम और नसें न हों और समुन्नत हो, वही पाणिपृष्ठ (हाथ का पुस्त) प्रशस्त होता है और रोमपूर्ण, नसों से भरा, मांसहीन करपृष्ठ वैधव्य का हेतु होता है ॥ ७२ ।

रमणी की कररेखा रक्तवर्ण, व्यक्त-आकार, गम्भीर, चिकनी, पूरी और गोली होने से भाग्यानुसार शुभदा होती है ॥ ७३ ।

जिस नारी के करतल में मत्स्य की रेखा हो, वह सुभगा और स्वस्तिक रेखा पड़ जाय, तो धनवती एवं पद्माकार रेखा होने से राजपत्नी और राजमाता होती है ॥ ७४ ।

चक्रवर्तिस्त्रियाः पाणौ नन्द्यावर्तः प्रदक्षिणः ।
शङ्खातपत्रकमठा नृपमातृत्वसूचकाः ॥ ७५ ।
तुलामानाकृती रेखे वणिक्पत्नीत्वहेतुके ।
गजवाजिवृषाकाराः करे वामे मृगीदृशाम् ॥ ७६ ।
रेखाप्रासादवज्राभा ब्रूयुस्तीर्थकरं सुतम् ।
कृषीवलस्य पत्नी स्याच्छकटेन युगेन वा ॥ ७७ ।
चामरांकुशकोदण्डै राजपत्नी भवेद्ध्रुवम् ।
अङ्गुष्ठमूलान्निर्गत्य रेखा याति कनिष्ठिकाम् ॥ ७८ ।
या सा पतिहन्त्री स्याद् दूरतस्तां त्यजेत्सुधीः ।
त्रिशूलासिगदाशक्तिदुन्दुभ्याकृतिरेखया ।
नितम्बिनी कीर्तिमती त्यागेन पृथिवीतले ॥ ७९ ।

नन्द्यावर्तः स्वस्तिकः । सौधोऽस्त्रीराजसदनमुपकार्योपकारिका । स्वस्तिकः सर्वतोभद्रो नन्द्यावर्तादयोऽपि चेत्यमरः ॥ ७५ ।

तीर्थंकरं सुतं तीर्थपर्यटनकर्तारं शास्त्रकर्तारं वा पुत्रमित्यर्थः । तीर्थंकरं शुभमिति क्वचित् । तीर्थङ्करे शुभमिति चान्यत्र । तत्र करे रेखा इत्यन्वयः । युगेन बलीवर्दस्कन्धनिक्षिप्तेन काष्ठेन ॥ ७७ ।

अङ्कुशस्तोत्रम् । कोदण्डो धनुः ॥ ७८ ।

दुन्दुभिर्वाद्यभाण्डविशेषः । त्यागेन दानेन । पादेनेति पाठे पदमेव पादं तेन व्यवसायेन ॥ ७९ ।

चक्रवर्ती राजा की पत्नी के करतल में प्रदक्षिण नन्द्यावर्त (गोल तम्बू वा गोल घर) की रेखा रहती है । शङ्ख, छत्र, कच्छप की रेखायें राजमाता होने की सूचना देती हैं ॥ ७५ ।

जिसके हाथ में तुला (तराजू) के दोनों पलड़ों के समान रेखायें हों, वह बनिया की स्त्री होती है । जिस स्त्री के बाएँ हाथ में हाथी, घोड़ा, बैल (साँड़) के आकार की अथवा अटारी या वज्र के समान रेखा हो, वह तीर्थसेवी पुत्र को उत्पन्न करती है । कृषक (खेतिहर) की स्त्री के हाथ में छकड़ा या जूवा के काठ की रेखा पड़ जाती है ॥ ७६-७७ ।

जिसकी हथेली में चामर, अङ्कुश या धनुष की रेखा हो, वह निश्चय ही राजमहिषी होती है । जिस स्त्री के अङ्गुष्ठमूल से निकलकर कनिष्ठा अङ्गुली की जड़ तक रेखा चली जाय, वह स्त्री पतिघातिनी होती है । अतएव पण्डितजन उस स्त्री को दूर से ही त्याग दें । जिसके हाथ में त्रिशूल, तलवार, गदा, बरछी (या भाला) और दुन्दुभि (नगाड़ा-डंका) के समान रेखा हो, तो वह रमणी दान के द्वारा पृथिवी पर बड़ी यशस्विनी (नामवाली) होती है ॥ ७८-७९ ।

कङ्कजम्बूकमण्डूकवृकवृश्चिकभोगिनः ।
रासभोष्ट्रबिडालाः स्युः करस्था दुःखदाः स्त्रियाः ॥ ८० ॥

शुभदः सरलोऽङ्गुष्ठो वृत्तो वृत्तनखो मृदुः ॥ ८१ ॥

अङ्गुल्यश्च सुपर्वाणो दीर्घावृत्ताः क्रमात्कृशाः ।
चिपिटाः स्थपुटा रूक्षाः पृष्ठरोमयुजोऽशुभाः ॥ ८२ ॥

अतिह्रस्वाः कृशा वक्रा विरला रोगहेतुकाः ।
दुःखायाऽङ्गुलयः स्त्रीणां बहुपर्वसमन्विताः ॥ ८३ ॥

अरुणाः सशिखास्तुङ्गाः करजाः सुदृशां शुभाः ।
निम्ना विवर्णा शुक्त्याभाः पीता दारिद्र्यदायकाः ॥ ८४ ॥

अङ्गुष्ठस्य शुभलक्षणमाह । शुभद इत्यर्धेन । सरलो ऋजुः । वृत्तो वर्तुलः । वृत्तनखो वर्तुलनखः ॥ ८१ ।

अङ्गुलीनां शुभाशुभे लक्षणे आह । अङ्गुल्य इति द्वयेन । कृशा इत्यस्यानन्तरं शुभा इति शेषः । चिपिटा अत्र ह्रस्वाः । स्थपुटा निम्नाः ॥ ८२ ।

बहुपर्वसमन्विताः विस्तृतपर्वसमन्विता इत्यर्थः ॥ ८३ ।

नखानां शुभाशुभे लक्षणे आह । अरुणा इति सार्धेन । सुदृशां शोभनाक्षीणाम् ॥ ८४ ।

कङ्क (कँकहड़ा, पक्षी विशेष) शृगाल, मेंढ़ुका, वृक (भेड़िया), बिच्छू, सर्प, गर्दभ, ऊँट और बिलार (बिडाल), इन सब के आकार की रेखा हाथ में होने से स्त्रियों को बड़ा दुःख भोगना पड़ता है ॥ ८० ।

सीधे, गोले, कोमल और गोल नखवाले अँगूठे शुभप्रद होते हैं ॥ ८१ ।

अङ्गुलियाँ भी जो अच्छे पोरों से युक्त, लम्बी (अग्रभाग में) गोली और क्रमशः (नीचे से ऊपर को) पतली होती जायें, तो शुभ हैं और जो कि चिपटी, टेढ़ी, रूखी और पीछे की ओर रोमयुक्त हों, तो वे अशुभ होती हैं ॥ ८२ ।

अत्यन्त छोटी, पतली, टेढ़ी और विरल अङ्गुलियाँ रोग की जड़ होती हैं। जिन स्त्रियों की अङ्गुलियों में बहुत से पोर रहते हैं, वे दुःख की सूचना देती हैं ॥८३।

सुन्दरियों के अरुणवर्ण शिखायुक्त, ऊँचे नखगण (नह) शुभसूचक और नीचे, विवर्ण (बदरंग) सुतुही (शुक्ति) के समान (चमकीले) और पीले होवें, तो दारिद्र्यदायक होते हैं ॥ ८४ ।

नखेषु बिन्दवः श्वेताः प्रायः स्युः स्वैरिणीस्त्रियाः ।
पुरुषा अपि जायन्ते दुःखिनः पुष्पितैर्नखैः ॥ ८५ ।
अन्तर्निमग्नवंशास्थिः पृष्ठिः स्यान्मांसला शुभा ।
पृष्ठेन रोमयुक्तेन वैधव्यं लभते ध्रुवम् ॥ ८६ ।
भुग्नेन विनतेनापि सशिरेणाऽपि दुःखिताः ।
ऋज्वी कृकाटिका श्रेष्ठा समांसा च समुन्नता ॥ ८७ ।
शुष्का शिराला रोमाढ्या विशाला कुटिला शुभा ।
मांसलो वर्तुलः कण्ठः प्रशस्तश्चतुरङ्गुलः ॥ ८८ ।
शस्ता ग्रीवा त्रिरेखाङ्का त्वव्यक्तास्थिः सुसंहता ।
निर्मांसा चिपिटा दीर्घा स्थपुटा न शुभप्रदा ॥ ८९ ।
स्थूलग्रीवा च विधवा वक्रग्रीवा च किङ्करी ।
वन्ध्या हि चिपिटग्रीवा ह्रस्वग्रीवा च निःसुता ॥ ९० ।

प्रसङ्गात् पुरुषाणामपि नखानामशुभलक्षणमाह । पुरुषा इत्यर्धेन । पुष्पितैः श्वेतपुष्पवर्णैरित्यर्थः ॥ ८५ ।

पृष्ठेः शुभाशुभे लक्षणे आह । अन्तरिति सार्धेन । अन्तर्निमग्नं तिर्यग्वंशाकारमस्थि यस्यांसान्तर्निमग्नवंशास्थिः ॥ ८६ ।

कृकाटिकायाः शुभाशुभे लक्षणे आह । ऋज्वीत्येकेन[1] ॥ ८७ ।

कण्ठस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । मांसल इति सार्धद्वयेन ॥ ८८ ।

जिस स्त्री के नखों पर श्वेत बूंदें पड़ी हों, वह प्रायः व्यभिचारिणी होती है । एवं पुरुष लोग भी ऐसे पुष्पित (फूलदार) नखों से दुःखभागी ही होते हैं ॥ ८५ ।

मांसल होने से वंशास्थि (रीढ़ की हड्डी) जिसके भीतर धँसी हो, वही पीठ शुभ है । पीठ पर रोम होने से अवश्यमेव वैधव्य प्राप्त होता है ॥ ८६ ।

टेढ़ी, झुकी हुई और नसभरी (नसैल) पीठ भी दुःख ही देती है । सीधी, मांसयुक्त और ऊँची कृकाटिका (गले की घण्टी) श्रेष्ठ होती है ॥ ८७ ।

सुकठी, नसैल, रोमभरी, बड़ी और टेढ़ी घण्टी अशुभ है । मांसल, गोला, चार अङ्गुल का कण्ठ उत्तम होता ॥ ८८ ।

तीन रेखाओं से अङ्कित, जिसमें हड्डियाँ छिपी हों, ऐसी नारी भरी हुई ग्रीवा (गरदन) अच्छी होती है । निर्मांस (चुचकी) चिपटी, लम्बी और नीची ग्रीवा अच्छी नहीं है ॥ ८९ ।

जिसकी ग्रीवा बहुत स्थूल (मोटी-लम्बी) हो, वह स्त्री विधवा, टेढ़ी ग्रीवा हो, तो दासी, चिपटी ग्रीवा होने से बांझ और छोटी ग्रीवा से अपुत्रिणी होती है ॥ ९० ।

---

१. अर्धद्वयेनेत्यर्थः ।

चिबुकं द्व्यङ्गुलं शस्तं वृत्तं पीनं सुकोमलम् ।
स्थूलं द्विधा संविभक्तमायतं रोमशं त्यजेत् ॥ ९१ ।
हनुश्चिबुकसंलग्ना निर्लोमा सुघना शुभा ।
वक्रा स्थूला कृशा ह्रस्वा रोमशा न शुभप्रदा ॥ ९२ ।
शस्तौ कपोलौ वामाक्ष्याः पीनौ वृत्तौ समुन्नतौ ।
रोमशौ परुषौ निम्नौ निर्मांसौ परिवर्जयेत् ॥ ९३ ।
समं समांसं सुस्निग्धं स्वामोदं वर्तुलं मुखम् ।
जनेतृवदनच्छायं धन्यानामिह जायते ॥ ९४ ।
पाटलो वर्तुलः स्निग्धो लेखाभूषितमध्यभूः ।
सीमन्तिनीनामधरो धराजानिप्रियो भवेत् ॥ ९५ ।

चिबुकस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । चिबुकमित्येकेन । त्यजेत्स्थूलादिचिबुकवतीं नोद्वहेदित्यर्थः । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ९१ ।

हनोः शुभाशुभे लक्षणे आह । हनुरित्येकेन । कपोलयोः शुभाशुभे लक्षणे आह । शस्तावित्येकेन ॥ ९२ ।

वामाक्ष्याः शोभननेत्रायाः ॥ ९३ ।

वक्त्रस्य शुभलक्षणमाह । सममित्येकेन ॥ ९४ ।

अधरोष्ठस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । पाटल इति द्वयेन । पाटलः पाटलपुष्पवर्णः । लेखाभूषितमध्यभूः रेखालङ्कृतमध्यस्थानः । रश्रुतेर्लश्रुतिरिति न्यायेन रेफस्य लकारः । धराजानिर्जाया यस्य स धराजानिर्नृपतितस्य प्रियः । एवंविधोष्ठवतो—सा नृपतेर्भार्या भवतीत्यर्थः ॥ ९५ ।

चिबुक (ओठ के नीचे की ठुड्डी) गोला, मोटा, अतिकोमल और दो अङ्गुल परिमाण का हो, तो प्रशस्त होता है। और जिस नारी का चिबुक भारी, दो भाग में बँटा हुआ, लम्बा और रोमश हो, वह उत्तम नहीं होता है ॥ ९१ ।

चिबुक से सटी हुई, निर्लोम और अत्यन्त घन हनू (दाढ़ी) शुभ है एवं टेढी, मोटी, दुबली, छोटी और रोमश हो, तो अच्छी नहीं है ॥ ९२ ।

सुन्दरी के गोले, पीन (फुले हुए) उभड़े दोनों कपोल (गाल) उत्तम हैं एवं रोमश, कड़े, धँसे और चुचके कपोल त्यागने योग्य ही होते हैं ॥ ९३ ।

वे रमणियाँ धन्य हैं, जिनका मुख सम, समांस, अति चिकना, सुगन्धित, गोला और पिता के मुख के समान होता है ॥ ९४ ।

पाटलवर्ण (गुलाबी रंग), गोला, चिकना और मध्यभाग में रेखा से विभूषित सुन्दरियों का अधर (नीचे का ओठ) भूपति का प्रिय होता है ॥ ९५ ।

कृशः प्रलम्बः स्फुटितो रूक्षो दौर्भाग्यसूचकः ।
श्यावः स्थूलोऽधरोष्ठः स्याद्वैधव्यकलहप्रदः ॥ ९६ ।

मसृणो मत्तकाशिन्याश्चोत्तरोष्ठः सुभोगदः ।
किञ्चिन्मध्योन्नतोऽरोमा विपरीतो विरुद्धकृत् ॥ ९७ ।

गोक्षीरसन्निभाः स्निग्धा द्वात्रिंशद्दशवाः शुभाः ।
अधस्तादुपरिष्टाच्च समाः स्तोकसमुन्नताः ॥ ९८ ।

पीताः श्यावाश्च दशनाः स्थूला दीर्घा द्विपङ्क्तयः ।
शुक्त्याकाराश्च विरला दुःख[1]दौर्भाग्यकारणम् ॥ ९९ ।

अधस्तादधिकैर्दन्तैर्मातरं भक्षयेत्स्फुटम् ।
पतिहीना च विकटैः कुलटा विरलैर्भवेत् ॥ १०० ।

श्यावः कपिशः ॥ ९६ ।

अवयवसंख्या ५० उत्तरोष्ठस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । मसृण इत्येकेन । विपरीतः कुत्सितः पूर्वस्माद्विपरीतो वा । द्विजानां शुभाशुभे लक्षणे आह । गोक्षीरेति त्रिभिः । स्तोकसमुन्नता ईषदुच्चाः ॥ ९८ ।

पतला, बहुत लम्बा, फटा हुआ, रूखा अधर दुर्भाग्य का लक्षण है । जिसका ओठ श्याम (कपिल—कुछ काला-पीला रंग) होता है, वह विधवा और जिसका स्थूल (मोटा) हो, वह झगड़ालू होती है ॥ ९६ ।

सुन्दरी का उत्तरोष्ठ (ऊपर का ओठ) कुछ बीच में उभड़ा, चिकना और रोमरहित हो, तो भोगप्रद होता है और इसके विपरीत होने से विरुद्ध ही फल देता है ॥ ९७ ।

गौ के दूध जैसे श्वेतवर्ण, चिकने, कुछ उभड़े हुए, नीचे और ऊपर समान बत्तीस दाँत हों, तो शुभप्रद होते हैं ॥ ९८ ।

जो पीतवर्ण अथवा कपिश वर्ण, मोटे, लम्बे, द्विपंक्ति (तरैल उपरैल-गजदन्ता), अथवा सुतुही (शुक्ति) के आकार के वा बिरल हों, तो दुःख, दुर्भाग्य के कारण होते हैं ॥ ९९ ।

जिसे नीचे की पंक्ति में अधिक दाँत हों, वह नारी अवश्य माता को खा जाती है । विकट (ओठ के बाहर निकले) दाँत हों, तो पतिहीना और बिरल दाँतों से कुलटा होती है ॥ १०० ।

---

१. दौर्गत्येति क्वचित्पाठः ।

जिह्वेष्टमिष्टभोक्त्री स्याच्छोणा मृद्वी तथासिता।
दुःखाय मध्यसंकीर्णा पुरोभागसविस्तरा ॥ १०१ ।

सितया तोयमरणं श्यामया कलहप्रिया।
दरिद्रिणी मांसलया लम्बयाऽभक्ष्यभक्षिणी ॥ १०२ ।

विशालया रसनया प्रमदातिप्रमादभाक्।
स्निग्धं कोकनदाभासं प्रशस्तं तालु कोमलम् ॥ १०३ ।

सिते तालुनि वैधव्यं पीता प्रव्रजिता भवेत्।
कृष्णेऽपत्यवियोगार्ता रुक्षे भूरिकुटुम्बिनी ॥ १०४ ।

कण्ठे स्थूला सुवृत्ता च क्रमतीक्ष्णा सुलोहिता।
अप्रलम्बा शुभा घण्टी स्थूला कृष्णा च दुःखदा ॥ १०५ ।

जिह्वायाः शुभाशुभे लक्षणे आह। जिह्वेति सार्धद्वयेन। शोणा शोणवर्णा ॥१०१।

क्रममनादृत्य तालुनः शुभाशुभे लक्षणे आह। स्निग्धमिति सार्धेन। कोकनदाभा संशोणच्छविम् ॥ १०३ ।

घण्टिकायाः शुभाशुभे लक्षणे आह। कण्ठ इत्येकेन। तीक्ष्णा सूक्ष्मा ॥ १०५ ।

जिह्वा (जीभ) ऊपर तो रक्तवर्ण और नीचे की ओर काली (श्वेत) और कोमल हो, तो इच्छित मिष्ठ पदार्थ का भोजन करने वाली होती है। अग्रभाग में विस्तीर्ण और मध्य स्थल में सङ्कीर्ण जिह्वा हो, तो दुःखसूचक ही होती है ॥ १०१ ।

जिसकी जिह्वा श्वेतवर्णा हो, तो उसका मरण जल से होता है। जिसकी जिह्वा श्यामवर्ण हो, तो वह कलहप्रिया होती है। मांसल जिह्वावाली स्त्री दरिद्रा और जिसकी जिह्वा लम्बी हो, वह अभक्ष्यभक्षिणी होती है ॥ १०२ ।

जिस प्रमदा की रसना विशाल हो, वह बड़ी प्रमादिनी होती है। चिकना, रक्तकमल के समान और कोमल तालु उत्तम है ॥ १०३ ।

यदि तालु श्वेत हो, तो विधवा, पीतवर्ण होने से साधुनी (भिक्षुकी), काला हो, तो सन्तान के वियोग से पीड़ित और रूखा होने से बहु-कुटुम्बिनी होती है ॥ १०४ ।

कण्ठ के भीतर की घण्टी अस्थूल, गोली, क्रमशः तीखी (पतली), अतिलोहित और बहुत लटकती न हो, तो शुभप्रदा है और जो मोटी या कृष्णवर्ण हो, तो दुःख-दात्री होती है ॥ १०५ ।

अलक्षितद्विजं किञ्चित् किञ्चित्फुल्लकपोलकम् ।
स्मितं प्रशस्तं सुदृशामनिमीलितलोचनम् ॥ १०६ ।
समवृत्तपुटा नासा लघुच्छिद्रा शुभावहा ।
स्थूलाग्रा मध्यनम्रा च न प्रशस्ता समुन्नता ॥ १०७ ।
आकुञ्चितारुणाग्रा च वैधव्यक्लेशदायिनी ।
परप्रेष्या च चिपिटा ह्रस्वा दीर्घा कलिप्रिया ॥ १०८ ।
दीर्घायुःकृत्क्षुतं दीर्घं युगपद्द्वित्रिपिण्डितम् ।
ललनालोचने शस्ते रक्तान्ते कृष्णतारके ॥ १०९ ।
गोक्षीरवर्णविशदे सुस्निग्धे कृष्णपक्ष्मणी ।
उन्नताक्षी न दीर्घायुर्वृत्ताक्षी कुलटा भवेत् ॥ ११० ।

हसितस्य शुभलक्षणमाह । अलक्षितेत्येकेन ॥ १०६ ।

नासिकायाः शुभाशुभे लक्षणे आह । समवृत्तपुटेति द्वयेन । समे दीर्घादिवैषम्यरहिते वृत्ते वर्तुले पुटे पार्श्वे समौ वृत्तपुटौ संचारमार्गौ वा यस्याः सा तथा ॥१०७-१०८।

क्षुतस्य शुभलक्षणमाह । दीर्घायुःकृदित्यर्धेन । द्वित्रिपिण्डितं द्विवारं त्रिवारं चेत्यर्थः । अक्ष्णोः शुभाशुभे लक्षणे आह । ललनेति सार्धैश्चतुर्भिः ॥ १०९ ।

कृष्णपक्ष्मणी श्यामनेत्रतारके ॥ ११० ।

रमणियों का वही स्मित (मुसकराहट-हँसना) उत्तम होता है, जिसमें कुछ दन्तावली अलक्षित रहे और नेत्र ढ़प न जावें तथा गण्डस्थल (गाल) कुछ प्रफुल्ल हो उठे ॥ १०६ ।

नासिका के पुट दोनों ही ओर एक समान गोले हों और छेद छोटा हो, तो शुभसूचक होते हैं । जिसकी नाक का अग्रभाग मोटा और मध्य में धँसा तथा ऊँचा हो, वह उत्तम नहीं होती ॥ १०७ ।

टेढ़ा, मुड़ा हुआ और अरुणवर्ण नासिका का अग्रभाग होने से वैधव्य-क्लेश का दायक होता है । जिसकी नासिका चिपटी हो, तो वह पराये की दासी होती है । छोटी या बड़ी नासिका हो, तो कर्कशा (झगड़ालू) होती है ॥ १०८ ।

जिस स्त्री का क्षुत (छींक) दीर्घ और एक साथ ही दो, तीन बार हो, वह दीर्घायु होती है । ललनाओं के लोचन (आँखें) कोने में रक्तवर्ण, तारका (पुतली) कृष्णवर्ण, गोदुग्ध के समान स्वच्छ श्वेत, अति चिकने और काली बरौनी से युक्त हों तो प्रशस्त होते हैं । जो स्त्री उन्नतनेत्रा हो, तो वह अल्पायु और जिसकी आँखें गोली हों, वह कुलटा होती है ॥ १०९-११० ।

मेषाक्षी महिषाक्षी च केकराक्षी न शोभना।
कामगृहोला नितरां गोपिङ्गाक्षी सुदुर्वृत्ता ॥ १११ ।
पारावताक्षी दुःशीला रक्ताक्षी भर्तृघातिनी।
कोटरा नयना दुष्टा गजनेत्रा न शोभना ॥ ११२ ।
पुंश्चली वामकाणाक्षी वन्ध्या दक्षिणकाणिका।
मधुपिङ्गाक्षी रमणी धनधान्यसमृद्धिभाक् ॥ ११३ ।
पक्ष्मभिः सुघनैः स्निग्धैः कृष्णैः सूक्ष्मैः सुभाग्यभाक्।
कपिलैर्विरलैः स्थूलैर्निन्द्या भवति भामिनी ॥ ११४ ।
भ्रुवौ सुवर्तुले तन्व्याः स्निग्धे कृष्णे असंहते।
प्रशस्ते मृदुरोमाणौ सुभ्रुवः कार्मुकाकृती ॥ ११५ ।

गृहोला गृद्धिनी ॥ १११ ।

कोटरानयना कोटरवद् वृक्षछिद्रवदासामन्तान्नयने यस्या, सा तथा, निम्ननेत्रेत्यर्थः ॥ ११२ ।

पक्ष्मणः शुभाशुभे लक्षणे आह। पक्ष्मभिरित्येकेन ॥ ११४ ।

अवयवसंख्या ६०। भ्रुवः शुभाशुभे लक्षणे आह। भ्रुवाविति द्वयेन। कार्मुकाकृती धनुराकारे। शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः तस्या सुभ्रुवः ॥ ११५ ।

जिस नारी के नेत्र मेढ़ा, भैंसा या केकड़ा की आँखों के तुल्य हों, तो वे उत्तम नहीं हैं। जिसके नयन गो के समान पिङ्गलवर्ण हों, वह स्त्री अत्यन्त दुश्चरित्रा कामगृद्धिनी होती है ॥ १११ ।

जिसकी आँखें कबूतर की तरह हों, वह दुःशीला और रक्तनेत्र होने से भर्तृघातिनी होती हैं। जिसकी आँखें खोंढराई-सी हों, वह दुष्टा एवं गजनेत्रा अशोभना होती है ॥ ११२ ।

बाईं आँख की कानी स्त्री पुंश्चली और दाहिनी आँख की कानी बाँझ होती है। जिस रमणी के नेत्र मधु के (शहद के) समान पिङ्गल हों, वह धन-धान्य की समृद्धि से पूर्ण होती है ॥ ११३ ।

जिसके पक्ष्म (बरौनी) अति घने, चिकने, काले और पतले हों, वह सौभाग्यवती होती है और जिसके पक्ष्म विरल, कपिल (भूरे) और मोटे हों, वह नारी निन्दनीय है ॥ ११४ ।

सुभ्रू की दोनों भ्रू (भौं) गोली, चिकनी, काली, कोमल रोमवाली, धनुषाकार और परस्पर असमिलित होने से ही प्रशस्त होती हैं ॥ ११५ ।

खररोमा च पृथुला विकीर्णा सरला स्त्रियाः ।
न भ्रूः प्रशस्ता मिलिता दीर्घरोमा च पिङ्गला ॥ ११६ ।
लम्बौ कर्णौ शुभावर्तौ सुखदौ च शुभप्रदौ ।
शष्कुलीरहितौ निन्द्यौ शिरालौ कुटिलौ कृशौ ॥ ११७ ।
भालः शिराविरहितो निर्लोमार्धेन्दुसन्निभः ।
अनिम्नस्त्र्यङ्गुलो नार्याः सौभाग्यारोग्यकारणम् ॥ ११८ ।
व्यक्तस्वस्तिकरेखं च ललाटं राज्यसम्पदे ।
प्रलम्बं मस्तकं यस्या देवरं हन्ति सा ध्रुवम् ॥ ११९ ।
रोमशेन शिरालेन प्रांशुना रोगिणी मता ॥ १२० ।
सीमन्तः सरलः शस्तो मौलिः शस्तः समुन्नतः ।
गजकुम्भनिभो वृत्तः सौभाग्यैश्वर्यसूचकः ॥ १२१ ।

कर्णयोः शुभाशुभे लक्षणे आह । लम्बावित्येकेन ॥ ११७ ।

भालस्य शुभाशुभे लक्षणे आह । भाल इति सार्धद्वयेन ॥ ११८ ।

प्रांशुना उच्चेन । प्रांशुला रोगिणीति क्वचित्पाठः ॥ १२० ।

क्रममनादृत्य सीमन्तस्य शुभलक्षणमाह । सीमन्त इति पादेन । मौलेः शुभाशुभे लक्षणे आह । मौलिरिति पादोनद्वयेन ॥ १२१ ।

कड़े रोम और बड़े रोम वाली, बहुत मोटी, विरल, सीधी, भूरी और एक दूसरे में मिली (जुटी) हुई स्त्रियों की भौंहे उत्तम नहीं होतीं ॥ ११६ ।

शुभावर्तयुक्त, लम्बे दोनों ही कर्ण सुखप्रद और शुभसूचक होते हैं। शष्कुली (गेंडुरी) रहित, नसों से युक्त, टेढ़े और छोटे कान प्रशंसनीय नहीं होते ॥ ११७ ।

जिस नारी का भालस्थल (लिलार) नसों से हीन, निर्लोम, अर्धचन्द्राकार, उन्नत और तीन अङ्गुल का हो, तो वह सौभाग्य और आरोग्य का कारण होता है ॥ ११८ ।

स्वस्तिक रेखा जिसमें स्पष्ट हो, वह ललाट राज्यसम्पत्ति का सूचक होता है और जिसका (माथा) लम्बा होता है, वह स्त्री अवश्य ही देवर को मारती है ॥११९।

जिसका मस्तक ऊँचा, रोमश और शिराल (नसैल) हो, वह स्त्री रोगिणी होती है ॥ १२० ।

सीमन्त (माँग, जहाँ सिन्दूर लगाया जाता है) सीधा ही उत्तम होता है और मौलि (सिर) अति उन्नत और गजकुम्भ के सदृश तथा गोल होने से सौभाग्य और ऐश्वर्य का सूचक होता है ॥ १२१ ।

स्थूलमूर्धा च विधवा दीर्घशीर्षा च बन्धकी ।
विशालेनापि शिरसा भवेद्दौर्भाग्यभाजनम् ॥ १२२ ।
केशा अलिकुलच्छायाः सूक्ष्माः स्निग्धाः सुकोमलाः ।
किञ्चिदाकुञ्चिताग्राश्च कुटिलाश्चातिशोभनाः ॥ १२३ ।
परुषाः स्फुटिताग्राश्च विरलाश्च शिरोरुहाः ।
पिङ्गला लघवो रुक्षा दुःखदारिद्र्यबन्धदाः ॥ १२४ ।
भ्रुवोरन्तर्ललाटे वा मशको राज्यसूचकः ।
वामे कपोले मशकः शोणो मिष्टान्नदः स्त्रियाः ॥ १२५ ।
तिलकं लाञ्छनं वाऽपि हृदि सौभाग्यकारणम् ।
यस्या दक्षिणवक्षोजे शोणे तिलकलाञ्छने ॥ १२६ ।

मौलिजानां शुभाशुभे लक्षणे आह । केशा इति द्वयेन । अलिकुलच्छाया भ्रमरकदम्बश्यामाः ॥ १२३ ।

लघवो ह्रस्वाः ॥ १२४ ।

अङ्गानि ६६ । एवं षट्षष्टीनामङ्गानां शुभाशुभे लक्षणे उक्त्वा प्रसङ्गान्मशकतिलकलाञ्छनानामपि ते आह । भ्रुवोरित्यष्टभिः । तत्र मशको मशकाकारश्चिह्नविशेषः चिपिटाकार इति वा ॥ १२५ ।

तिलकस्तिलकाकारः पिप्लुतिरिति वा । "तिलकस्तिलकाकारो मशकश्चिपिटो मतः । जडुलः कालकः पिप्लुस्तिलकस्तिलकालकः" इति वचनात् । लाञ्छनं पद्मवज्राङ्कुशध्वजत्रिशूलादि ॥ १२६ ।

जिस स्त्री का शिर भारी हो, वह विधवा, जिसका शिर लम्बा हो, वह वेश्या और जिसका शिर बड़ा हो, वह भी दौर्भाग्यभाजन होती है ॥ १२२ ।

केश-कलाप भ्रमरकुल के समान काले, सूक्ष्म (पतले), चिकने, अत्यन्त कोमल, आगे की ओर सिकुड़े और टेढ़े हों तो अत्यन्त ही शोभन होते हैं ॥ १२३ ।

कड़े, आगे की ओर फटे, विरल, पिङ्गलवर्ण (भूरे), छोटे और रूखे केश दुःख, दारिद्र्य और बन्ध के सूचक होते हैं ॥ १२४ ।

स्त्रीलोगों के दोनों भ्रू के मध्य में या ललाट में मशक (मसा) हो, तो वह राज्यसूचक होता है, एवं बाएँ गाल पर यदि शोणमशक (लाल मसा) हो, तो मिष्टान्न भोग की सूचना देता है ॥ १२५ ।

स्त्री के हृदय पर तिलक, तिल अथवा लाञ्छन (लच्छन) हो, तो सौभाग्यसूचक होता है । जिसके दाहिने स्तन पर रक्ततिल या लच्छन हो, तो उसे चार कन्या

कन्याचतुष्टयं सूते सूते सा च सुतत्रयम् ।
तिलकं लाञ्छनं शोणं यस्या वामे कुचे भवेत् ॥ १२७ ।
एकं पुत्रं प्रसूयादौ ततः सा विधवा भवेत् ।
गुह्यस्य दक्षिणे भागे तिलकं यदि योषितः ॥ १२८ ।
तदा क्षितिपतेः पत्नी सूते वा क्षितिपं सुतम् ।
नासाग्रे मशकः शोणो महिष्या एव जायते ॥ १२९ ।
कृष्णः स एव भर्तृघ्न्याः पुंश्चल्याश्च प्रकीर्तितः ।
नाभेरधस्तात्तिलकं मशको लाञ्छनं शुभम् ॥ १३० ।
मशकस्तिलकं चिह्नं गुल्फदेशे दरिद्रकृत् ।
करे कर्णे कपोले वा कण्ठे वामे भवेद्यदि ॥ १३१ ।
एषां त्रयाणामेकं तु प्राग्गर्भे पुत्रदं भवेत् ।
भालगेन त्रिशूलेन निर्मितेन स्वयम्भुवा ॥ १३२ ।
नितम्बिनी सहस्राणां स्वामित्वं योषिदाप्नुयात् ।
सुप्ता परस्परं या तु दन्तान् किटिकिटायते ॥ १३३ ।

महिष्याः कृताभिषेकाया राज्ञ्याः ॥ १२९ ।

सर्वलक्षणसम्पन्नाऽपि दोषविशेषेण त्याज्येत्याह । सुप्तेत्येकेन । किटिकिटायते दन्तघर्षणजं शब्दं करोतीत्यर्थः ॥ १३३ ।

और तीन पुत्र उत्पन्न होते हैं, जिसके वाम स्तन पर रक्त (लाल) तिल या लच्छन हो, वह प्रथमतः एक पुत्र प्रसव करके फिर विधवा हो जाती है। यदि स्त्री के गुह्यस्थान के दक्षिण भाग में तिल हो, तो वह राजपत्नी अथवा राजमाता होती है और लाल मसा हो, तो (राजा की) पटरानी होती है। नासिका के अग्रभाग में यदि तिल या लाल मसा रहता है, तो वह भी शुभसूचक है ॥ १२६-१२९ ।

वही नासिका के अग्रभाग वाला मसा काला हो, तो वह नारी भर्तृघातिनी और व्यभिचारिणी होती है। नाभि के नीचे तिल, मसा और लच्छन, ये सब शुभ-सूचक होते हैं ॥ १३० ।

गुल्फदेश (पैर की घुट्ठी) पर मसा, तिल या लच्छन होने से दरिद्रता होती है। जिस स्त्री के बाएँ हाथ, कान, गाल या कण्ठ, इन तीनों पर तिल, मसा या लच्छन में से एक भी कोई हो, तो उसके पहले गर्भ में पुत्र ही उत्पन्न होता है। जिस नारी के माथे पर विधिलिखित त्रिशूल रेखा हो, वह सहस्रों स्त्रियों पर आधिपत्य प्राप्त करती है। जो स्त्री सो जाने पर (निद्रावस्था में) दाँतों को किटकिटाती है अथवा प्रलाप करती है (बयाती हो), तो वह सुलक्षणा होने पर भी विवाह करने के योग्य

सुलक्ष्माऽपि न सा शस्ता या किञ्चित्प्रलपेत्तथा ।
पाणौ प्रदक्षिणावर्तो धर्म्यो वामो न शोभनः ॥ १३४ ।
नाभौ श्रुतावुरसि वा दक्षिणावर्त ईडितः ।
सुखाय दक्षिणावर्तः पृष्ठवंशस्य दक्षिणे ॥ १३५ ।
अन्तःपृष्ठं नाभिसमो बह्वायुः पुत्रवर्धनः ।
राजपत्न्याः प्रदृश्येत भगमौलौ प्रदक्षिणः ॥ १३६ ।
स चेच्छकटभङ्गः स्याद् बह्वपत्यसुखप्रदः ।
कटिगो गुह्यवेधेन पत्यपत्यनिपातनः ॥ १३७ ।
स्यातामुदरवेधेन पृष्ठावर्तौ न शोभनौ ।
एकेन हन्ति भर्तारं भवेदन्येन पुंश्चली ॥ १३८ ।

वपुषः शुभाशुभे लक्षणे अभिधाय क्रमप्राप्तस्यावर्तस्य ते आह । पाणावित्यारभ्य सुलक्षणेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । प्रदक्षिणावर्तो रोम्णामिति शेषः । धर्म्यो धर्म्यार्हः । वामो वामावर्तः ॥ १३४ ।

श्रुतौ कर्णे । ईडितः स्तुतः ॥ १३५ ।

अन्तःपृष्ठं पृष्ठमध्ये । नाभिसमः नाभिवर्तुलाकारः । भगमौलौ योनेरुपरिभागे । भगमूल इति क्वचित् ॥ १३६ ।

स प्रदक्षिणावर्तः । शकटभङ्गः शकटतुल्यः । गुह्यवेधेन तत्पर्यन्तेन ॥ १३७ ।

उदरवेधेन उदरपर्यन्तं प्राप्तेन ॥ १३८ ।

नहीं है । हाथ पर यदि रोमसमूह दक्षिणावर्त (दाहिनी भँवरी) हों, तो धर्मसूचक और वामावर्त होने से अशुभसूचक होते हैं ॥ १३१-१३४ ।

नाभि, कान, और छाती पर दक्षिणावर्त (भँवरी) हो, तो वह नारी दीर्घायु और पुत्रवती होती है। राजपत्नी की योनि के ऊपर दक्षिणावर्त (भँवरी) रहती है ॥ १३५ ।

वही भँवरी यदि शकट (छकड़ा) के सदृश हो, तो बहुत से सन्तान और सुखों को देती है। जो भँवरी कटि (कमर) से लेकर गुह्यस्थानपर्यन्त चली जाये, वह पति और सन्तान का नाश कर डालती है ॥ १३६-१३७ ।

पीठ पर की दोनों ही भँवरियाँ यदि उदरपर्यन्त पहुँच जायें, तो अच्छी नहीं हैं। उनमें से एक भँवरी हो, तो स्त्री का स्वामी मर जाता है और दूसरी के होने से वह नारी पुंश्चली हो जाती है ॥ १३८ ।

कण्ठगो दक्षिणावर्तो दुःखवैधव्यहेतुकः ।
सीमन्तेऽथ ललाटे वा त्याज्यो दूरात्प्रयत्नतः ॥ १३९ ।
सा पतिं हन्ति वर्षेण यस्या मध्ये कृकाटिकम् ।
प्रदक्षिणो वा वामो वा रोम्णामावर्तकः स्त्रियाः ॥ १४० ।
एको वा मूर्धनि द्वौ वा वामे वामगतौ यदि ।
आदशाहं पतिघ्नौ तौ त्याज्यौ दूरात्सुबुद्धिना ॥ १४१ ।
कटयावर्ता च कुलटा नाभ्यावर्ता पतिव्रता ।
पृष्ठावर्ता च भर्तृघ्नी कुलटा वाऽथ जायते ॥ १४२ ।

स्कन्द उवाच—

सुलक्षणाऽपि दुःशीला कुलक्षणाशिरोमणिः ।
अलक्षणाऽपि सा साध्वी सर्वलक्षणभूस्तु सा ॥ १४३ ।

मध्येकृकाटिकं कृकाटिकामध्ये ॥ १४० ।

[1]गन्धादीनां षण्णां शुभाशुभलक्षणानि रतिशास्त्रादौ द्रष्टव्यानि । तथा च—

पद्मिनी पद्मगन्धा च मीनगन्धा च चित्रिणी ।
शंखिनी क्षारगन्धा च मदगन्धा च हस्तिनी ॥

जिसके कण्ठ (गला), सीमन्त (माँग), ललाट (लिलार-माथे) पर दक्षिणावर्त (भँवरी) हो, उस स्त्री को दुःख और वैधव्य भोगना पड़ता है, अतएव ऐसी स्त्री का परित्याग प्रयत्नपूर्वक दूर से ही करना चाहिए ॥ १३९ ।

जिस स्त्री के गलघाँटी (कण्ठ) के बीच में रोमों की दाहिनी वा बायीं भँवरी हो, वह एक वर्ष के भीतर ही पति को मार डालती है ॥ १४० ।

जिसके मस्तक पर एक अथवा वामभाग में दो बायीं (ओर घुमी हुई) भँवरियाँ हों, तो वे दोनों दश दिन के बीच में पति को मार डालती हैं। इसलिए बुद्धिमान् जन इन भँवरी वाली स्त्रियों का दूर से ही परित्याग कर दे ॥ १४१ ।

कटि में भँवरी होने से स्त्री कुलटा होती है और नाभि पर भँवरी हो, तो पतिव्रता होती है। यदि (कहीं) पीठ में भँवरी हुई तो वह भर्तृघातिनी अथवा व्यभिचारिणी होती है ॥ १४२ ।

स्कन्द कहने लगे—

जो स्त्री सुलक्षणा होने पर भी दुःशीला हो, वह कुलक्षणाओं की शिरोमणि है एवं कुलक्षणा होकर जो साध्वी हो, वही स्त्री समस्त (सु) लक्षणों की भूमि होती है ॥ १४३ ।

---

१. अध्यायारम्भे द्वितीयश्लोकोक्तानामवशिष्टानाम् ।

सुलक्षणा सुचरित्रा स्वाधीना पतिदेवता ।
विश्वेशाऽनुग्रहादेव गृहे योषिदवाप्यते ।। १४४ ।
अलङ्कृता स्ववासिन्यो याभिः प्राक्तनजन्मनि ।
नानाविधैरलङ्कारैस्ताः स्वरूपा भवन्ति हि ।। १४५ ।
सुतीर्थेषु वपुर्याभिः क्षयितं वा विहायितम् ।
ता लावण्यतरङ्गिण्यो भवन्तीह सुलक्षणाः ।। १४६ ।

हंसपुन्नागवर्णाभा या नारी रक्तलोचना ।
अष्टौ जनयते पुत्रान् प्राप्नोति परमं सुखम् ।।
काकस्वरा काकजंघा तथैवोध्वंस्वरा तथा ।
लम्बोष्ठी लम्बवदना तां कन्यां परिवर्जयेत् ।।
हंसतुल्यगतिर्नारी राजपत्नी च सा भवेत् ।
यस्यागमनमात्रेण भूमिकम्पः प्रजायते ।।
सा स्त्री दैन्यकरी ज्ञेया सामुद्रवचनं यथा ।
आवर्तः प्रजने यस्या मध्ये चैव प्रदक्षिणः ।।
एकं सा जनयेत्पुत्रं राजानं पृथिवीपतिम् ।। इत्यादीनीति ।।१४३।

ननु तर्हि सुलक्षणत्वादिगुणविशिष्टा साध्वी स्त्री कस्माल्लभ्यते तत्राह । सुलक्षणेति ।। १४४ ।

स्त्रीणां सुरूपत्वलावण्यसुचारित्र्यस्वाधीनभर्तृत्वप्राप्तौ हेतूनाह । अलङ्कृता इति त्रिभिः । ऊढा अनूढा वा पितृगृहे सयौवनाः स्त्रियः । स्ववासिन्यः । स्वेषु ज्ञातिषु वस्तुं शीलं यासामिति व्युत्पत्तेः । सुवासिन्य इति पाठेऽपि स एवार्थः । चिरंट्य इत्यर्थः । "स्ववासिनी चिरण्टी स्याद् द्वितीयवयसि स्त्रियाम्" इति रुद्रः । चिरिण्टी तु सुवासिनीति चामरः ।। १४५ ।

सुतीर्थेषु प्रयागादिषु । क्षयितं क्षयं नीतम् । क्षालितमिति पाठे स्नापितमित्यर्थः । विहायितं त्यक्तम् । लावण्यतरङ्गिण्यः अङ्गसौष्ठवोर्मिमत्यः । नद्य इवेत्यर्थः ।। १४६ ।

विश्वेश्वर के अनुग्रह से ही सुलक्षणा, सच्चरित्रा, स्ववशवर्तिनी और पतिव्रता नारी गृहस्थाश्रम में पायी जा सकती है ।। १४४ ।

पूर्वजन्म में जिन स्त्रियों ने सुवासिनियों को नानाविध भूषणों से अलङ्कृत किया है, वे ही इस जन्म में सुन्दर, रूपवती होती हैं ।। १४५ ।

जिन स्त्रियों ने पूर्व जन्म में किसी पुण्य तीर्थ में स्नान अथवा शरीरत्याग किया है, वे ही इस जन्म में सुलक्षणा और लावण्यवती होती हैं ।। १४६ ।

अर्चिता जगतां माता याभिर्मृडवधूरिव ।
ता भवन्ति सुचारित्रा योषाः स्वाधीनभर्तृकाः ॥ १४७ ।

स्वाधीनपतिकानां च सुशीलानां मृगीदृशाम् ।
स्वर्गापवर्गावत्रैव सुलक्षणफलं हि तत् ॥ १४८ ।

सुलक्षणैः सुचरितैरपि मन्दायुषं पतिम् ।
दीर्घायुषं प्रकुर्वन्ति प्रमदाः प्रमदास्पदम् ॥ १४९ ।

अतः सुलक्षणा योषा परिणेया विचक्षणैः ।
लक्षणानि परीक्ष्यादौ हित्वा दुर्लक्षणान्यपि ॥ १५० ।

मृडवधूरिवेत्यत्रेवकारोऽवधारणार्थः । इहेति वा पाठः । शोभनं चारित्र्यं पातिव्रत्यादिलक्षणं यासां ताः सुचारित्राः । स्वाधीनः शुश्रूषादिभिर्वशीकृतः सन्तोषितो न तु स्त्रीजितो भर्ता यासां तास्तथा ॥ १४७ ।

सुलक्षणवतीनां फलं दर्शयति । स्वाधीनेति ॥ १४८ ।

किं सुलक्षणैरिति । तर्हि किं तमुपजीव्योपपतिभिः सह रमितुमित्याशंक्य पतिं विशिनष्टि । प्रमदास्पदं प्रकृष्टहर्षाश्रयम् । प्रसिद्धञ्चैतद्वनपर्वणि पतिव्रतया सावित्र्या सत्यवतो दीर्घायुष्यं प्रहर्षाश्रयत्वं च ॥ १४९ ।

लक्षणविचारप्रयोजनमाह । अत इति । यतोऽल्यायुषं पतिं सुलक्षणाः स्त्रियश्चिरञ्जीविनं कुर्वन्ति अत इत्यर्थः । सुलक्षणाः परिणेया इत्यस्य व्यावर्त्यमाह । हित्वेति । अपीति निश्चये ॥ १५० ।

जिन स्त्रियों ने जगदम्बिका का पूजन किया है, वे ही भगवती-भवानी के समान सच्चरित्रा होती हैं। उनका पति उनके वश में रहता है ॥ १४७ ।

स्वाधीनपतिका, सुशीला मृगनयनियों को स्वर्ग और अपवर्ग का सुख यहीं पर ही प्राप्त हो जाता है; क्योंकि सुलक्षण का यही तो फल है ॥ १४८ ।

प्रमदाएँ अपने सुन्दर लक्षण और सच्चरित्रों से अल्पायु पति को भी दीर्घायु और आनन्दभाजन बना देती हैं ॥ १४९ ।

अतएव पण्डितजनों को उचित है कि प्रथमतः समस्त लक्षणों की परीक्षा कर और दुर्लक्षणों को छोड़, सुलक्षणा स्त्री से विवाह करें ॥ १५० ।

लक्षणानि मयोक्तानि सुखाय गृहमेधिनाम् ।
विवाहानपि वक्ष्यामि तन्निबोध घटोद्भव ॥ १५१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे स्त्रीलक्षणवर्णनं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ।

उक्तानुवादपूर्वकमुत्तराध्यायार्थं प्रस्तावयति । लक्षणानीति ॥ १५१ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ।

हे घटोद्भव ! गृहस्थों के सुखार्थ इन (स्त्रियों के) लक्षणों का मैंने वर्णन किया, अब विवाहों को कहता हूँ, उन्हें भी सुन, समझ लीजिए ॥ १५१ ।

नारी नख सिख अङ्ग के, सामुद्रिक अनुसार ।
गुन अवगुन लच्छन कहे, परिखिय व्याह विचार ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां स्त्रीलक्षणसामुद्रिक-वर्णनं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ।

अथाष्टत्रिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

विवाहा ब्राह्मदैवार्षाः प्राजापत्याऽसुरौ तथा ।
गान्धर्वो राक्षसश्चापि पैशाचोऽष्टम उच्यते ॥ १ ॥

अथाऽष्टत्रिंशके धर्म्येऽध्यायेऽतीव सुशोभने ।
क्रियते समुदाचारात्सद्धर्मपरिवर्णनम् ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते विवाहान्वक्ष्यामीत्युक्तमतस्तानेव दर्शयति । विवाहा इति । ब्राह्मदेवार्षा विवाहा उच्यन्ते, प्राजापत्याऽसुरौ च विवाहावुच्येते इति वचनं विपरिणमय्य उच्यत इत्यस्याः क्रियाया एवाऽनुषङ्गः । तत्र ब्राह्मो वरमाहूय दानम् । दैव ऋत्विजे दानम् । आर्षो गोमिथुनादानेन दानम् । प्राजापत्यः सहोभौ चरतां धर्ममित्यभिधाय दानम् । आसुरः शुल्कं गृहीत्वा दानम् । गान्धर्वः समयान्मिथः । राक्षसो भित्त्वा च्छित्त्वा हरणम् । पैशाचः सुप्तायां मत्तायां वा गमनम् । तथा च मानवानि वचनानि—

आच्छाद्य चार्हयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य तु ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायाश्चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥
इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥
हत्वा च्छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टमः ॥ इति ॥ १ ॥

(गृहस्थाश्रम-धर्म)

स्कन्द बोले—

(मुनिराज ब्राह्म,!) देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये ही आठ प्रकार के विवाह (शास्त्र में) कहे जाते हैं ॥ १ ॥

स ब्राह्मो वरमाहूय यत्र कन्या स्वलङ्कृता ।
दीयते तत्सुतः पूयात् पुरुषानेकविंशतिम् ।। २ ।
यज्ञस्थायर्त्विजे दैवस्तज्जः पाति चतुर्दश ।
वरादादाय गोद्वन्द्वमार्षस्तज्जः पुनाति षट् ।। ३ ।
सहोभौ चरतां धर्ममित्युक्त्वा दीयतेऽर्थिने ।
यत्र कन्या प्राजापत्यस्तज्जो वंशान् पुनाति षट् ।। ४ ।
चत्वार एते विप्राणां धर्म्याः पाणिग्रहाः स्मृताः ।
आसुरः क्रयणाद्द्रव्यैर्गान्धर्वोऽन्योन्यमैत्रतः ।। ५ ।
प्रसह्य कन्याहरणाद्राक्षसो निन्दितः सताम् ।
छलेन कन्याहरणात् पैशाचो गर्हितोऽष्टमः ।। ६ ।

एतानेव लक्षणतो विवृण्वन् यस्य वर्णस्य यो विवाहो धर्म्यो यस्य विवाहस्य यौ गुणदोषौ तत्तद्विवाहोत्पन्नाऽपत्येषु च ये गुणा अगुणाश्च तत्सर्वं दर्शयति । स ब्राह्म इत्यादिना सवर्ण इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ।। २-३ ।

यत्र विवाहे कन्या दीयते, स विवाहः प्राजापत्य इत्यर्थः ।। ४ ।

(उन विवाहों में) वर को बुलाकर अलङ्कारादि के सहित सत्कृत करके जो कन्यादान किया जाता है, वह ब्राह्म-विवाह होता है। इस ब्राह्म-विधि से विवाहित कन्या का पुत्र इक्कीस पुरुषों (पीढ़ियों) को पवित्र करता है ।। २ ।

यज्ञ-कर्म में स्थित ऋत्विज को कन्या दे देने से दैवविवाह होता है। इसका पुत्र चौदह पुरुषों को पवित्र करता है। वर से एक जोड़ा गाय या बैल लेकर कन्या देने से आर्षविवाह होता है। इसका सन्तान छः पुरुषों का उद्धार करता है ।। ३ ।

"तुम दोनों एक साथ होकर गृहस्थाश्रम के धर्म का आचरण करो" यह कहकर अर्थी वर को जो कन्यादान किया जाय, वह प्राजापत्य-विवाह होता। इसका पुत्र भी छः पुरुषों को पवित्र कर देता है ।। ४ ।

ये चारों ही प्रकार के विवाह ब्राह्मणों के धर्मानुसार कहे गये हैं। धन देकर क्रय करने से आसुर-विवाह और परस्पर के अनुराग से कामभाव से कृत विवाह गान्धर्व-विवाह और बलपूर्वक कन्याहरण कर लेने से राक्षस-विवाह होता है। ये तीनों विवाह सज्जनों में निन्दित होते हैं। छल करके कन्याहरण करने से जो विवाह होता है, वह पैशाच-विवाह होता है। वह तो बहुत ही गर्हित कहा जाता है ।। ५-६ ।

प्रायः क्षत्रविशोरुक्ता गान्धर्वाऽसुरराक्षसाः ।
अष्टमस्त्वेष पापिष्ठः पापिष्ठानां च सम्भवेत् ॥ ७ ।
सवर्णया करो ग्राह्यो धार्यः क्षत्रियया शरः ।
प्रतोदो वैश्यया धार्यो वासोऽन्तः पज्जया तथा ॥ ८ ।
असवर्णस्त्वेष विधिः स्मृतो दृष्टश्च वेदने ।
सवर्णाभिस्तु सर्वाभिः पाणिर्ग्राह्यस्त्वयं विधिः ॥ ९ ।
धर्म्यैर्विवाहैर्जायन्ते धर्म्या एव शतायुषः ।
अधर्म्यैर्धर्मरहिता मन्दभाग्यधनायुषः ॥ १० ।

प्राय इति । क्षत्रियस्य राक्षस एव धर्म्यः, वैश्यशूद्रयोरासुर एव धर्म्यः, प्राजापत्यः क्षत्रियादीनां जघन्यः, गान्धर्वः चतुर्णां जघन्यः, राक्षसो वैश्यशूद्रयोर्जघन्य इत्यादि सर्वं प्रायोग्रहणेन सूच्यते । तथा च मनुः—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ ७ ।

सवर्णयेति । चतुर्णामपि वर्णानां विवाहेषु सवर्णया भार्यया करो ग्राह्यः । क्षत्रियपाणिग्रहणस्थाने ब्राह्मणविवाहेषु क्षत्रियया शरो ब्राह्मणहस्तपरिगृहीतदण्डैकदेशो ग्राह्य इत्यर्थः । वैश्यया ब्राह्मणक्षत्रियविवाहे ब्राह्मणक्षत्रियविधृतप्रतोदैकदेशो ग्राह्यः । शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवस्त्रदशा ग्राह्या ॥ ८ ।

असवर्ण इति । असवर्णोऽसवर्णसम्बन्धी एषविधिः धार्यः, क्षत्रियया शर इत्यादि प्रकार एव । वेदने विवाहे विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदनं शास्त्रं तस्मिन्निति वा । स्मृतो दृष्टश्चेत्यर्थः । असवर्णास्त्वेष इति क्वचित् । सवर्णया करो ग्राह्य इत्युक्तं स्पष्टयति । सवर्णाभिस्त्विति ॥ ९ ।

मन्दानि भाग्यधनायूंषि येषां ते तथा ॥ १० ।

इन विवाहों में गान्धर्व, आसुर और राक्षस—ये तीनों प्रकार के विवाह तो क्षत्रिय और वैश्यों में प्रायः प्रचलित कहे जाते हैं; परन्तु यह आठवाँ पापमय पैशाच-विवाह केवल पापियों के ही बीच में होता है ॥ ७ ।

सजातीय स्त्री के साथ होने वाले विवाह-काल में हाथ पकड़ना चाहिए; किन्तु क्षत्रियकन्या को बाण, वैश्यकन्या को प्रतोद (चाबुक) और शूद्रकन्या को वस्त्र अञ्चल पकड़ना उचित है ॥ ८ ।

यह विधि असवर्ण विवाह में ही देखी और कही गयी है । अपनी जाति के विवाह में सभी को पाणिग्रहण ही करना चाहिए । यही विधि है ॥ ९ ।

धर्मसङ्गत विवाह करने से धर्मिष्ठ और शतवर्षजीवी सन्तान उत्पन्न होते हैं । अधर्मानुसार विवाह करने से अधार्मिक, हतभाग्य, निर्धन और अल्पायु सन्तान होते हैं ॥ १० ।

ऋतुकालाऽभिगमनं धर्मोऽयं गृहिणः परः ।
स्त्रीणां वरमनुस्मृत्य यथाकाम्यथवा भवेत् ।। ११ ।
दिवाऽभिगमनं पुंसामनायुष्यं परं मतम् ।
श्राद्धाऽहः सर्वपर्वाणि यत्नात्त्याज्यानि धीमता ।। १२ ।
तत्र गच्छन् स्त्रियं मोहाद्धर्मात्प्रच्यवते परात् ।। १३ ।
ऋतुकालाऽभिगामी यः स्वदारनिरतश्च यः ।
स सदा ब्रह्मचारी च विज्ञेयः सद्गृहाश्रमी ।। १४ ।

ऋत्विति । स्त्रीणां वरं गर्भानुपघातसंभोगम् । तदुक्तं भागवते—

"शश्वत्कामवरेणाहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः" ।

तथा च मनुः—

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतोरतिकाम्यया ॥ इति ।

यथा यथावत् । यथाऽभिलषितमित्यर्थः ॥ ११ ।

तत्रापि निषेधविशेषमाह । सर्वपर्वाणीति । तदुक्तम्—

कुहूपूर्णेन्दुसंक्रान्तिचतुर्दश्यष्टमीषु च ।
नरश्चाण्डालयोनिः स्यात् स्त्रीतैलमांससेवनात् ॥ इति ॥ १२ ।

ऋतुकालेऽभिगन्तुं शीलं यस्य स तथा । तथा च श्रुतिः—"ऋतौ भार्यामुपेयात्" इति ॥ १४ ।

ऋतुकाल में स्वपत्नी-गमन गृहस्थों का परम धर्म है, अथवा स्त्रियों के वर को स्मरण कर (या स्मरण दिलाकर) कामनानुसार सम्भोग करना भी धर्म ही है ॥ ११ ।

दिन में स्त्रीगमन करना पुरुषों का परम आयुष्यनाशक होता है । अतएव बुद्धिमान् जन प्रयत्नपूर्वक दिनभाग श्राद्धदिन और समस्त पर्वों के दिन सम्भोग न करें ॥ १२ ।

इन समयों में मोहवश स्त्रीगमन करने से पुरुष परम धर्म से पतित (भ्रष्ट) हो जाता है ॥ १३ ।

जो पुरुष ऋतुकाल में ही सम्भोग करे और अपनी स्त्री में ही निरत हो, उसे उत्तम गृहाश्रमी होने पर भी सर्वदा ब्रह्मचारी ही जानना चाहिए "एक नारी ब्रह्मचारी" ॥१४।

ऋतुः षोडशयामिन्यश्चतस्रस्तासु गर्हिताः ।
पुत्रास्तास्वपि या युग्मा अयुग्माः कन्यकाप्रजाः ॥ १५ ।
त्यक्त्वा चन्द्रमसं दुस्थं मघां पौष्णं विहाय च ।
शुचिः सन्निविशेत्पत्नीं पुन्नामर्क्षे विशेषतः ।
शुचिं पुत्रं प्रसूयेत पुरुषार्थप्रसाधकम् ॥ १६ ।
आर्षे विवाहे गोद्वन्द्वं यदुक्तं तन्न शस्यते ।
शुल्कमण्वपि कन्यायाः कन्याविक्रयपापकृत् ॥ १७ ।
अपत्यविक्रयी कल्पं वसेद्विट्कृमिभोजने ।
अतो नाण्वपि कन्याया उपजीवेत् पिता धनम् ॥ १८ ।

कन्यकाः प्रजाः याभ्यस्तास्तथा ॥ १५ ।

दुस्थं राहुणा ग्रस्तम् । पुन्नामर्क्षं श्रवणहस्तपुनर्वसुमूलपुष्यमृगशीर्षाणि ॥ १६ ।

आर्षं इति । आर्षे विवाहे गोद्वन्द्वं गोमिथुनं शुल्कं यदुक्तं कैश्चित्तन्न शस्यते प्रशस्यते । यतः कन्याया अण्वपि अपिशब्दाद् बह्वपि शुल्कं कन्याविक्रये यत्पापं तत्कुर्यादेवेत्यर्थः । नन्वेवं चेत् स्वमतपरमतयोर्लक्षणैक्याद् विरोधापत्तिः, न, आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचरूपमित्यन्येषां मतम् । स्कन्दस्य तु नेदं मतम्, किन्त्वार्षविवाहसम्पत्त्यै अवश्यकर्तव्ययागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेतद् गृह्यत इति । अत एवार्षलक्षणमापद्ये तज्जः पुनाति षडित्युक्तम् ॥ १७ ।

स्त्रियों का ऋतुकाल सोलह रात्रि तक रहता है । उनमें से प्रथम चार रात्रियाँ वर्जित हैं । अवशिष्ट (बाकी) युग्म रात्रियों में समागम करने से पुत्र और अयुग्म रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती है ॥ १५ ।

दुःस्थ (अनिष्ट स्थान के ग्रह) चन्द्र और मघा, मूल नक्षत्रों को छोड़कर विशेषतः पुंनक्षत्र में पवित्र होकर पत्नी से सम्भोग करे । (क्योंकि) ऐसा करने से पुरुषार्थसाधक पवित्र पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १६ ।

आर्षविवाह के विधान में जो एक जोड़ा गोरू (गाय या बैल) लेने की बात कही गयी है, वह कुछ प्रशंसा के योग्य नहीं होती; क्योंकि कन्या के सम्बन्ध में कुछ (थोड़ा) भी शुल्क (धन) लेने से कन्याविक्रय का पाप हो ही जाता है ॥ १७ ।

अपत्यविक्रयी जन कल्प भर विट्कृमि-भोजन-नामक नरक में वास करता है । इसलिए पिता को कन्या का अणुमात्र भी धन लेकर (अपनी) जीविका-निर्वाह नहीं करना चाहिए ॥ १८ ।

स्त्रीधनान्युपजीवन्ति ये मोहादिह बान्धवाः ।
न केवलं निरयगास्तेषामपि हि पूर्वजाः ॥ १९ ।
पत्या तुष्यति यत्र स्त्री तुष्येद्यत्र स्त्रिया पतिः ।
तत्र तुष्टा महालक्ष्मीर्निवसेद्दानवाऽरिणा ॥ २० ।
वाणिज्यं नृपतेः सेवा वेदानध्यापनं तथा ।
कुविवाहः क्रियालोपः कुले पतनहेतवः ॥ २१ ।
कुर्याद्वैवाहिके वह्नौ गृह्यं कर्मान्विहं गृही ।
पञ्चयज्ञक्रियां चापि पक्तिं दैनन्दिनीमपि ॥ २२ ।
गृहस्थाश्रमिणः पञ्च सूनाकर्म दिने दिने ।
कण्डनी पेषणी चुल्ली ह्युदकुम्भस्तु मार्जनी ॥ २३ ।

वाणिज्यमिति । वेदानध्यापनं वेदानामपाठनम् । वेदानध्ययनं तथेति क्वचित् । विवाहप्रकरणं समाप्तम् ॥ २१ ।

इदानीं वैवाहिकाऽग्निसम्पाद्यं महायज्ञानुष्ठानमाह । कुर्यादिति । विवाहे भवो वैवाहिकः, तस्मिन्नग्नौ गृह्यं गृह्योक्तं कर्म सायं प्रातर्होमाष्टकादि अग्नि सम्पाद्य पञ्चयज्ञान्तर्गतवैश्वदेवाद्यनुष्ठानं प्रतिदिनसम्पाद्यं च पाकं गृहस्थः कुर्यादित्यर्थः ॥ २२ ।

गृहस्थेति । पशूवधस्थानं सूना सूनेवसूना हिंसास्थानत्वगुणयोगात् । कण्डन्यादयः पञ्च गृहस्थस्य बीजादिहिंसास्थानानि । कण्डनी उलूखलमुसले । पेषणी दृषदुपलयुगलात्मिका । चुल्ली उन्धानम् । उदकुम्भो जलाधारकलशः । मार्जनी वर्धन्यपरपर्यायगृहोपकरणसंमार्जनादिकर्त्री ॥ २३ ।

जो बान्धवगण इस लोक में मोहवश स्त्री-धनों को लेकर उपजीविका करते हैं, वे केवल अपने ही नहीं, वरन् उनके पूर्वज पुरुष भी नरक में जा पड़ते हैं ॥ १९ ।

जहाँ पर पति से पत्नी सन्तुष्ट और पत्नी से पति सन्तुष्ट हो, वहाँ पर सन्तुष्ट चित्त से विष्णु के सहित महालक्ष्मी निवास करती हैं ॥ २० ।

वाणिज्य, राजसेवा, वेदाध्ययन का त्याग, कुविवाह और कर्मलोप, इन्हीं कारणों से कुल का अधःपतन होता है ॥ २१ ।

गृहस्थ को प्रतिदिन वैवाहिक अग्नि में गृह्यकर्म, पञ्चयज्ञ और नित्य की पाकक्रिया (रसोई) का सम्पादन करना चाहिए ॥ २२ ।

गृहस्थाश्रमी को कँडनी (कूटना—ओखली-मूसर से), पेषणी (पीसना-जाँता से), चुल्ली (चूल्हा), उदकुम्भ (जल का घड़ा) और मार्जनी (झाड़ू), ये ही पाँचों सूनाकर्म (जीवहिंसा के स्थान) प्रतिदिन करने पड़ते हैं ॥ २३ ।

तासां च पञ्च सूनानां निराकरणहेतवः ।
क्रतवः पञ्च निर्दिष्टा गृहिश्रेयोऽभिवर्धनाः ॥ २४ ।
पाठनं ब्रह्मयज्ञः स्यात्तर्पणं च पितृक्रतुः ।
होमो दैवो बलिर्भौतोऽतिथ्यर्चा नृक्रतुः क्रमात् ॥ २५ ।
पितृप्रीतिं प्रकुर्वाणः कुर्वीत श्राद्धमन्वहम् ।
अन्नोदकपयोमूलैः फलैर्वाऽपि गृहाश्रमी ॥ २६ ।
गोदानेन च यत्पुण्यं पात्राय विधिपूर्वकम् ।
सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षां दत्वा तत्फलमाप्नुयात् ॥ २७ ।
तपोविद्यासमिद्दीप्ते हुतं विप्रास्यपावके ।
तारयेद् विघ्नसंघेभ्यः पापाब्धेरपि दुस्तरात् ॥ २८ ।
अनर्चितोऽतिथिर्गेहाद् भग्नाशो यस्य गच्छति ।
आजन्मसञ्चितात्पुण्यात्क्षणात्स हि बहिर्भवेत् ॥ २९ ।

तासामिति । [1]तासां कण्डन्यादिसूनानां यथाक्रमं निष्कृत्यर्थं तदुत्पन्नपापानाश-नार्थं गृहीणां पञ्चमहायज्ञामन्वादिभिरनुष्ठेयतया निर्दिष्टाः ॥ २४ ।

तानेव पञ्चयज्ञान्निर्दिशति । पाठनमिति । पाठनमध्यापनम् । होमो दैवो देव-क्रतुः । बलिर्भौतो भूतक्रतुः । अतिथ्यर्चाऽतिथीनां सत्कारो नृक्रतुः मनुष्ययज्ञः । क्रमात् कण्डन्यादीनां पञ्चसूनानां क्रमेण पञ्चपापनिवर्तका इमे पञ्चयज्ञा इत्यर्थः । चतुर्थे पादे नृयज्ञोऽतिथिसत्क्रियेति क्वचित्पाठः ॥ २५ ।

अन्नमदनीयम् । अर्थमिति क्वचित् । अर्घ्येति क्वचित् ॥ २६ ।

इन पाँचों सूना दोषों को दूर करने के लिए ही गृहस्थों के कल्याणवर्धक ये पाँचों यज्ञ निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ २४ ।

१. पाठन ब्रह्मयज्ञ, २. तर्पण पितृयज्ञ, ३. हवन देवयज्ञ, ४. बलि (वैश्वदेव) भूतयज्ञ और ५. अतिथिपूजन नरयज्ञ, क्रम से कहे गये हैं ॥ २५ ।

गृहस्थ पितरों के प्रीत्यर्थ अन्न, जल, दुग्ध, मूल और फलादि के द्वारा प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥ २६ ।

सुपात्र को विधिपूर्वक गोदान करने से जो पुण्य प्राप्त होता है, भिक्षुक को आदर सहित भिक्षा देने में भी वही फल मिलता है ॥ २७ ।

तपस्या और विद्यारूप ईंधन से प्रज्वलित ब्राह्मण के मुखरूपी अग्नि में आहुति देने से (गृहस्थ) दुस्तर पापसमुद्र और विघ्नराशियों से निस्तार पा जाता है ॥ २८ ।

जिसके गृह से अतिथि सम्मान के न पाने से हताश होकर चला जाता है, उसी क्षण वह (गृहस्थ) जन्मभर के सञ्चित पुण्य से भी विरहित हो जाता है ॥ २९ ।

१, तासामित्यादेरर्थतो व्याख्यानमेतत् ।

सान्त्वपूर्वाणि वाक्यानि शय्यार्थे भूस्तृणोदके ।
एतान्यपि प्रदेयानि सदाऽभ्यागततुष्टये ।। ३० ।
गृहस्थः परपाकादी प्रेत्य तत्पशुतां व्रजेत् ।
श्रेयः परान्नपुष्टस्य गृह्णीयादन्नदो यतः ।। ३१ ।
आदित्योढोऽतिथिः सायं सत्कर्तव्यः प्रयत्नतः ।
असत्कृतोऽन्यतो गच्छन् दुष्कृतं भूरि यच्छति ।। ३२ ।
भुञ्जानोऽतिथिशेषान्नमिहायुर्धनभाग् भवेत् ।
प्रणोद्यातिथिमन्नाशी किल्बिषी च गृहाश्रमी ।। ३३ ।
वैश्वदेवान्तसम्प्राप्तः सूर्योढो वाऽतिथिः स्मृतः ।
न पूर्वकाल आयातो न च दृष्टचरः क्वचित् ।। ३४ ।

परपाकान्नमत्तुं शीलं यस्य परपाकस्यान्नस्यादोऽदनं वाऽस्याऽस्तीति परपाकादी । तत्पशुतां यस्य पाकमत्ति तस्य पशुतामित्यर्थः ।। ३१ ।

आदित्योढ आदित्येनास्तमितेन सहोढः प्राप्त इत्यर्थः ।। ३२ ।

प्रणोद्य त्यक्त्वा दूरीकृत्येति यावत् ।। ३३ ।

अतिथेर्लक्षणमाह । वैश्वदेवेत्येकेन ।। ३४ ।

यदि कुछ भी न हो सके, तो भी अभ्यागत (अतिथि) के सन्तोषार्थ मधुर वचन और शयनार्थं विश्राम-स्थान, तृण (चटाई आदि) एवं जल तो अवश्य ही देना चाहिए ।। ३० ।

जो गृहस्थ (आतिथ्यलोभ से) परान्न भोजन करता है, वह मरने पर अन्नदाता का पशु होता है; क्योंकि इस परान्नपुष्ट का पुण्य वही अन्नदाता ले लेता है ।।३१।

यदि सूर्यास्त हो जाने पर सायंकाल में कोई अतिथि आ जाय, तो उसका प्रयत्नपूर्वक आदर-सत्कार करना चाहिए, नहीं तो यदि वह असत्कृत होकर अन्यत्र चला जाय, तो गृहस्थ बड़े पाप का भागी होता है ।। ३२ ।

जो गृहस्थ अतिथि को खिलाकर अवशिष्ट अन्न भोजन करता है, वह इस लोक में दीर्घायु और धनवान् होता है और जो अतिथि को हटाकर अन्न खाता है, वह पापग्रस्त हो जाता है ।। ३३ ।

वैश्वदेव बलि के अनन्तर अथवा सायंकाल में जो आ जाय, वही अतिथि कहलाता है और जो कोई उसके पूर्व ही आवे, अथवा प्रथम ही कहीं पर दिखलाई पड़ा हो, वह अतिथि नहीं हो सकता ।। ३४ ।

बलिपात्रकरे विप्रे यद्यन्योतिथिरागतः ।
अदत्वा तं बलिं तस्मै यथाशक्त्याऽन्नमर्पयेत् ॥ ३५ ।
कुमाराश्च [1]स्ववासिन्यो गर्भिण्योऽतिरुजान्विताः ।
अतिथेरादितोऽप्येते भोज्या नात्र विचारणा ॥ ३६ ।
पितृदेवमनुष्येभ्यो दत्वाऽस्नात्यमृतं गृही ।
स्वार्थं पचन्नघं भुङ्क्ते केवलं स्वोदरम्भरिः ॥ ३७ ।
माध्याह्निकं वैश्वदेवं गृहस्थः स्वयमाचरेत् ।
पत्नी सायं बलिं दद्यात् सिद्धान्नैर्मन्त्रवर्जितम् ॥ ३८ ।
एतत्सायन्तनं नाम वैश्वदेवं गृहाश्रमे ।
सायं प्रातर्भवेदेवं वैश्वदेवं प्रयत्नतः ॥ ३९ ।
वैश्वदेवेन ये हीना आतिथ्येन विवर्जिताः ।
सर्वे ते वृषला ज्ञेयाः प्राप्तवेदा अपि द्विजाः ॥ ४० ।

बलिपात्रकरे भूतबलिपात्रहस्त इत्यर्थः ॥ ३५ ।
स्ववासिन्यः चिरिण्ट्यः ॥ ३६ ।
अघं अघहेतुत्वात् । तथा चोक्तं भगवता—"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" इति । स्वार्थं पचन्नित्यस्यार्थमाह । केवलमिति ॥ ३७ ।

जब कि ब्राह्मण बलिपात्र को हाथ में लिये हो, उसी वेला यदि कोई दूसरा भी अतिथि आ जाय, तो उस बलि को विना दिए ही उस अतिथि को ही यथाशक्ति अन्न समर्पण करे ॥ ३५ ।

नवविवाहिता पुत्रवधू (पतोहू), बेटी इत्यादि स्त्रियाँ, बालक, गर्भिणी और अतिरोगियों को अतिथि के भोजन से पूर्व ही खिला देवे, इसमें कुछ भी विचार नहीं करना चाहिए ॥ ३६ ।

गृहस्थ पितर, देव और मनुष्यों को देकर शेष भोजन करने से अमृत ही खाता है। जो कोई केवल अपना ही पेट भरने के लिए पाक बना करके खाता है, वह तो पाप ही भोजन करता है ॥ ३७ ।

गृहस्थ मध्याह्नकाल का वैश्वदेव तो आप ही करे, पर सन्ध्याकाल का वैश्वदेव-बलि उसकी पत्नी सिद्ध (पके हुए) अन्नों से विना मन्त्रों के ही कर दे ॥ ३८ ।

गृहस्थाश्रम में इसी का नाम सायन्तन वैश्वदेव है। इसी प्रकार से प्रयत्नपूर्वक सायंकाल और प्रातः काल बलिवैश्वदेव होता है ॥ ३९ ।

जो द्विजाति वैश्वदेव और आतिथ्यसत्कार से हीन हों, तो वेदाध्यायी होने पर भी उन सबको शूद्र ही समझना चाहिए ॥ ४० ।

1. सुवासिन्य इत्यपि पाठः ।

अकृत्वा वैश्वदेवं तु भुञ्जते ये द्विजाधमाः ।
इह लोकेऽन्नहीनाः स्युः काकयोनिं व्रजन्त्यथ ॥ ४१ ।
वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नुयात्सद्गतिं पराम् ॥ ४२ ।
षष्ठ्यष्टम्योर्वसेत्पापं तैले मांसे सदैव हि ।
पञ्चदश्यां चतुर्दश्यां तथैव च भगे क्षुरे ॥ ४३ ।
उदयन्तं न चेक्षेत नास्तंयन्तं न मध्यगम् ।
न राहुणोपसृष्टं च नाम्बुसंस्थं दिवाकरम् ॥ ४४ ।
न वीक्षेतात्मनो रूपमाशु धावेन्न वर्षति ।
नोल्लङ्घयेद् वत्सतन्त्रीं न नग्नो जलमाविशेत् ॥ ४५ ।
देवतायतनं विप्रं धेनुं मधु मृदं घृतम् ।
जातिवृद्धं वयोवृद्धं विद्यावृद्धं तपस्विनम् ॥ ४६ ।

ते इति पाठे ये इत्यर्थात् । ये इति पाठे ते इति । अथ जन्मान्तरे ॥ ४१ ।
भगे योनौ ॥ ४३ ।
उपसृष्टं ग्रस्तम् ॥ ४४ ।
न वीक्षेतेति । असकृदिति ज्ञेयम् । वत्सतन्त्री बन्धनेन वत्ससम्बद्धां रज्जुं वत्ससम्बन्धनरज्जुमात्रमिति वा ॥ ४५ ।
मृदं गोपीचन्दनादिरूपाम् ॥ ४६ ।

जो द्विजाधम बलि (वैश्वदेव) के विना किये ही भोजन करते हैं, वे इस लोक में अन्नहीन और मरने पर काकयोनि को प्राप्त करते हैं ॥ ४१ ।

द्विजोत्तम को चाहिए कि वह आलस्यरहित होकर प्रतिदिन अपना वेदविहित कर्म सम्पादन करे; क्योंकि यथाशक्ति उसके करने से अत्युत्तम सद्गति को पाता है ॥ ४२ ।

षष्ठी को तेल में, अष्टमी को मांस में, चतुर्दशी को छूरा में (क्षौर कर्म में) और अमावस्या, पूर्णिमा तिथि को योनि में पाप का नियत निवास रहता है। (अतः उक्त दिनों में क्रमशः पूर्वोक्त के संपर्क से बचना चाहिए।) ॥ ४३ ।

उदय और अस्त होते हुए, आकाश के मध्य में प्राप्त, राहुग्रस्त और जल में प्रतिबिम्बित सूर्य को नहीं देखना चाहिए ॥ ४४ ।

(बारंबार अथवा जल में) अपना रूप न देखे। वर्षा के समय शीघ्रता से न दौड़े। बछवा के बाँधने की डोरी (पगहा) न लांघे। नग्न होकर (वापी-तड़ाग-नदी आदि के) जल में न पैठे ॥ ४५ ।

देवता का मन्दिर, ब्राह्मण, गौ, मधु (शहद), मिट्टी का ढेर, घृत, जाति में श्रेष्ठ, अवस्था में बड़े, भारी विद्वान्, तपस्वी, पिप्पलवृक्ष, चैत्य (प्रसिद्ध या सीमा,

अश्वत्थं चैत्यवृक्षं च गुरुं जलभृतं घटम् ।
सिद्धान्नं दधि सिद्धार्थं गच्छन् कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥ ४७ ।
रजस्वलां न सेवेत नाऽश्नीयात्सह भार्यया ।
एकवासा न भुञ्जीत न भुञ्जीतोत्कटासने ॥ ४८ ।
नाऽश्नन्तीं स्त्रीं समीक्षेत तेजस्कामो द्विजोत्तमः ।
असन्तर्प्य पितृन्देवान्नाद्यादन्नं नवं क्वचित् ॥ ४९ ।
पक्वान्नं चापि नो मांसं दीर्घकालं जिजीविषुः ।
न मूत्रं गोव्रजे कुर्यान्न वल्मीके न भस्मनि ॥ ५० ।
न गर्तेषु ससत्वेषु न तिष्ठन्न व्रजन्नपि ।
गोविप्रसूर्यवाय्वग्निचन्द्रर्क्षाऽम्बुगुरूनपि ॥ ५१ ।

चैत्यवृक्षम् आतपादिसमये सेव्यमानं वृक्षम्, पूज्यं वृक्षं वा यस्याऽधस्तात्पूजा क्रियते तं वृक्षं वा । सिद्धार्थं सर्षपम् ॥ ४७ ।

पीठाद्यन्तरेणासनमुत्कटासनं तस्मिन् ॥ ४८ ।

अश्नन्तीं भोजनं कुर्वतीम् ॥ ४९ ।

पक्वान्नं लड्डुकादिकम् । नो मांसमिति पृथग्वाक्यम् । दीर्घकालं जिजीविषुः पितृनभ्यर्च्यानभ्यर्च्य वा मांसं नो अद्यादित्यर्थः । पश्विष्टिं च विनेति पाठे पश्वालम्भनं यागं विना दीर्घं कालं जिजीविषुर्देवान् पितृन् सन्तर्प्याऽसन्तर्प्य वा मांसं नाऽद्यादित्यन्वयः । वल्मीके वामलूरोद्धृतमृत्पुञ्जे ॥ ५० ।

ससत्वेषु प्राणिव्याप्तेषु । तिष्ठन्नुत्तिष्ठन् ॥ ५१ ।

मरु ?) वृक्ष, गुरुजन, जल से पूर्ण घट, सिद्धान्न, (पका भोजन या सीधा) दधि और सरसो, इन सबको चलते समय दाहिनी ओर करता जाय ॥ ४६-४७ ।

रजस्वला स्त्री से सम्भोग न करे। भार्या के साथ (एक ही पात्र में) भोजन न करे। एक ही वस्त्र धारण किये अथवा (पीढा इत्यादि छोड़) उत्कट आसन पर बैठकर भोजन न करे ॥ ४८ ।

तेजस्वी होने का अभिलाषी द्विजोत्तम खाती हुई स्त्री को (कभी) न देखे। जो बहुत दिन जीवन चाहे, वह कभी नवान्न, पकवान और मांस देवता और पितरों को समर्पण किये विना न भोजन करे ॥ ४९ ।

गोशाला, विमौड़, भस्म और जिसमें जीव वर्तमान हों, वैसे गड्ढों में तथा खड़े होकर अथवा चलता हुआ भी मूत्रत्याग (पेशाब) न करे। गो, ब्राह्मण, सूर्य, वायु, अग्नि, चन्द्रमा, तारागण, जल और गुरुजनों को देखता हुआ मल-मूत्र का त्याग (दिसा-पेशाब) न करे। ईंटा (ढेला), लकड़ी का पत्ता या तृण इत्यादि से भूमि को

अभिपश्यन्न कुर्वीत मलमूत्रविसर्जनम् ।
तिरस्कृत्यावनिं लोष्टकाष्ठपर्णतृणादिभिः ॥ ५२ ।
प्रावृत्य वाससा मौलिं मौनी विण्मूत्रमुत्सृजेत् ।
यथासुखमुखो रात्रौ दिने छायान्धकारयोः ॥ ५३ ।
भीतिषु प्राणबाधायां कुर्यान्मलविसर्जनम् ।
मुखेनोपधमेन्नाग्निं नग्नां नेक्षेत योषितम् ॥ ५४ ।
नांघ्री प्रतापयेदग्नौ न वस्त्वशुचि निक्षिपेत् ।
प्राणिहिंसा न कुर्वीत नाऽश्नीयात्सन्ध्ययोर्द्वयोः ॥ ५५ ।
न संविशेत सन्ध्यायां प्रत्यक्सौम्यशिरा अपि ।
विण्मूत्रष्ठीवनं नाऽप्सु कुर्याद्दीर्घं जिजीविषुः ॥ ५६ ।

मलमूत्रयोर्विसर्जनं त्यागम् । मलोच्चारेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । तिरस्कृत्या-च्छाद्य । अवनिं पृथ्वीम् ॥ ५२ ।

मौलिं मस्तकम् ॥ ५३ ।

मलविसर्जनं मलेत्युपलक्षणं मलमूत्रयोर्विसर्जनमित्यर्थः । मुखेनोपधमेन्मुखवायुना-प्रज्वालयेत् । एतत्तु लौकिकाग्निविषयं न वैदिकाग्निविषयम् । "न शूर्पेण धमेदग्निं न वस्त्रेण न पाणिना । मुखेनोपधमेदग्निं मुखादग्निरजायत" इति वचनात् ॥ ५४-५५ ।

संविशेत् स्वपेत् । प्रत्यक् सौम्यशिराः पश्चिमोत्तरमस्तकः । प्रत्यग्याम्यशिरा इति पाठश्चिन्त्यः । विण्मूत्रादीनामेकवद्भावः । ष्ठीवनं थूत्कृत्यश्लेष्मविक्षेपः ॥ ५६ ।

ढाँपकर एवं वस्त्र से शिर को बाँधकर मौनावलम्बी हो (चुप मारकर) मल-मूत्र का परित्याग करे । रात्रिकाल में अथवा दिन में भी जहाँ पर छाया या अँधेरा हो, वहाँ भय के स्थानों में और प्राणपीड़ा में चाहे किसी ओर मुख करके मल-मूत्र का त्याग कर सकता है ॥ ५०-५३ ।

अग्नि को मुख से न फूँके और नग्न स्त्री को न देखे ॥ ५४ ।

अग्नि में दोनों पैर न सेंके और उसमें अशुद्ध वस्तु न डाले । प्राणिहिंसा न करे एवं दोनों सन्ध्याओं में भोजन न करे ॥ ५५ ।

सन्ध्याकाल में अथवा पश्चिम ओर शिर करके न सोए । दीर्घजीवनेच्छु जल में मल-मूत्र और ष्ठीवन (थूक) न डाले ॥ ५६ ।

नाचक्षीत धयन्तीं गां नेन्द्रचापं प्रदर्शयेत् ।
नैकः सुप्यात् क्वचिच्छून्ये न शयानं प्रबोधयेत् ॥ ५७ ।
पन्थानं नैकलो यायान्न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।
न दिवोद्धृतसारं च भक्षयेद्दधि नो निशि ॥ ५८ ।
स्त्रीधर्मिण्या नाभिवदेन्नाद्यादातृप्ति रात्रिषु ।
तौर्यत्रिकप्रियो न स्यात्कांस्ये पादौ न धावयेत् ॥ ५९ ।
श्राद्धं कृत्वा परश्राद्धे योऽश्नीयाज्ज्ञानवर्जितः ।
दातुः श्राद्धफलं नास्ति भोक्ता किल्बिषभुग्भवेत् ॥ ६० ।
न धारयेदन्यभुक्तं वासश्चोपानहावपि ।
नाभिन्नभाजनेऽश्नीयान्नासीताग्न्यादिदूषिते ॥ ६१ ।

नाचक्षीत न कथयीत । धयन्तीं भक्षयन्तीं पिबन्तीं वा । शयानं ज्येष्ठं न प्रबोधयेत् ॥ ५७ ।

अञ्जलिना करपुटेन । उद्धृतसारं दूरीकृतनवनीतादि उद्धृतसारं गतस्नेहं पिण्याकादीति वा ॥ ५८ ।

तौर्यत्रिकप्रियः गीतनृत्यवाद्यप्रियः । न धावयेन्न क्षालयेत् ॥ ५९ ।

नासीत नोपविशेत् ॥ ६१ ।

(बछड़े को) पिलाती हुई गौ को किसी से न कहे, किसी को न बताए । इन्द्रधनुष किसी को न दिखाए, किसी भी सूने स्थान में अकेला न सोवे । निद्रित जन को न जगाए ॥ ५७ ।

अकेला मार्ग में न चले । अँजुरी (अञ्जलि) से जल न पिए । दिन में जिस वस्तु का सत्त्व निकाल लिया गया हो, उसे और रात्रि में दही का भोजन न करे ॥ ५८ ।

रजस्वला स्त्री से बातें न करें । रात्रि में आकण्ठ (चम्प) भोजन न करे । नाच, गीत और बाजा में लीन न होवे । काँसे के बर्तन में पैरों को न धोए ॥ ५९ ।

जो ज्ञानहीन जन स्वयं श्राद्ध करके पीछे दूसरे के श्राद्ध में खावे, तो वह भोक्ता पाप का ही भोजन करता है और दाता को भी श्राद्ध का फल नहीं होता ॥ ६० ।

दूसरे का पहना हुआ वस्त्र और उपानह (पनही-जूता) न पहने । फूटे बरतन में न खाए और अग्नि इत्यादि से दूषित स्थान पर न बैठे ॥ ६१ ।

आरोहणं गवां पृष्ठे प्रेतधूमं सरित्तरम् ।
बालातपं दिवा स्वापं त्यजेद्दीर्घं जिजीविषुः ॥ ६२ ।
स्नात्वा न मार्जयेद्गात्रं विसृजेन्न शिखां पथि ।
हस्तौ शिरो न धुनुयान्नाकर्षेदासनं पदा ॥ ६३ ।
नोत्पाटयेल्लोमनखं दशनेन कदाचन ।
करजैः करजच्छेदं तृणच्छेदं विवर्जयेत् ॥ ६४ ।
शुभाय न यदायत्यां त्यजेत्तत्कर्म यत्नतः ।
अद्वारेण न गन्तव्यं स्ववेश्मपरवेश्मनोः ॥ ६५ ।

प्रेतधूमं शवदाहधूमम् । सरित्तरं नदीतरणं बाहुभ्यामिति शेषः । न बाहुभ्यां नदीं तरेदिति मनूक्तेः । बालातपं प्रातःकालीनसूर्यातपम् ॥ ६२ ।

स्नात्वा न मार्जयेद् गात्रं करस्नानवस्त्राभ्यामिति शेषः । करेण नोत्सृजेद् गात्रं स्नानवस्त्रेण वा पुनः । शुनोच्छिष्टं भवेद्गात्रं पुनः स्नानेन शुद्ध्यतीति वचनात् । तर्पणात्पूर्वमित्येकेनाकर्षेदुपवेशनार्थं नानयेदित्यर्थः ॥ ६३ ।

करजैर्नखैः करजच्छेदं नखच्छेदं च । दन्तैश्छेदं विवर्जयेदिति पाठे दन्तैश्चेत्यर्थः । करेणैव विवर्जयेदिति पाठे करेणापीत्यर्थः ॥ ६४ ।

आयत्यां उत्तरकाले । स्ववेश्मपरवेश्मनोरद्वारेण मुख्यद्वारं विहाय द्वारान्तरेण न गन्तव्यमित्यर्थः । परवेश्म चेति क्वचित्पाठः ॥ ६५ ।

बैल की पीठ पर चढ़ना, चिता का धूम, (तैरकर) नदी का पार करना (न बाहुभ्यां नदीं तरेदिति मनुः), प्रातःकाल का घाम और दिन का सोना दीर्घायु चाहने वाला मनुष्य—इस सबको न करे ॥ ६२ ।

स्नान करके फिर देह न मले, टीका-प्रमाण—

"करेणोत्सृजेद्गात्रं स्नानवस्त्रेण वा पुनः ।
शुनोच्छिष्टं भवेद्गात्रं पुनस्स्नानेन शुद्ध्यति ॥

मार्ग में शिखा का (बार) न फेंके । दोनों हाथ और शिर को न धुने (कँपावे), पैर से आसन न खींचे ॥ ६३ ।

दाँत से लोम अथवा नख कभी न उखाड़े । नखों से ही नख का काटना और तृण का कुपुटना (अग्रभाग का नोंचना) छोड़ देना चाहिए ॥ ६४ ॥

जिस कर्म का अन्त अच्छा नहीं है (अथवा जिसका अन्त ठीक न हो), उसे प्रयत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए । अपना घर हो, चाहे दूसरे का घर हो, उसके भीतर द्वार से भिन्न अन्य प्रकार के मार्ग से नहीं जाना चाहिए ॥ ६५ ।

क्रीडेन्नाक्षैः सहासीत न धर्मघ्नैर्न रोगिभिः ।
न शयीत क्वचिन्नग्नः पाणौ भुञ्जीत नैव च ॥ ६६ ॥
आर्द्रपादकरास्योऽश्नन् दीर्घकालं च जीवति ।
संविशेन्नार्द्रचरणो नोच्छिष्टः क्वचिदाव्रजेत् ॥ ६७ ॥
शयनस्थो न चाश्नीयान्न पिबेन्न जपेद् द्विजः ।
सोपानत्कश्च नाचामेन्न तिष्ठन् धारया पिबेत् ॥ ६८ ॥
सर्वं तिलमयं नाद्यात् सायं शर्माभिलाषुकः ।
न निरीक्षेत विण्मूत्रे नोच्छिष्टः संस्पृशेच्छिरः ॥ ६९ ॥
नाधितिष्ठेत्तुषाङ्गारभस्मकेशकपालिकाः ।
पतितैः सह संवासः पतनायैव जायते ॥ ७० ॥

पाणाविति यत्यन्यविषयम् ।

करे कर्पटके चैव आयसे ताम्रभाजने ।
भुञ्जन् भिक्षुः न लिप्येत लिप्यन्ते गृहमेधिनः ॥ इति वचनात् ॥६६॥

आर्द्राणि पादकरास्यानि यस्य सः । संविशेत् स्वपेत् ॥ ६७ ॥

शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं शय्या तत्रस्थः । सोपानत्कः उपानद्भ्यां पादुकाभ्यां युक्तः । चः समुच्चये । न तिष्ठन्नित्यनेन सम्बध्यते । तिष्ठंश्च उत्तिष्ठन् । धारया हस्ताभ्यां पानपात्रधारणमन्तरेण धारया पानपात्रमुखधारयेति वा ॥ ६८ ॥

सर्वं तिलमयं यत्किञ्चित्तिलसम्बद्धं कृसरमोदकादीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

तुषादिकं च नाधितिष्ठेन्न स्पृशेत् । तुषादीनधिष्ठाय न तिष्ठेदिति वा । कपालिकाभग्नखर्परादिखण्डाः ॥ ७० ॥

जूआ न खेले । अधार्मिक अथवा रोगियों के साथ एकत्र न बैठे । कहीं भी नग्न होकर शयन न करे । हाथ पर लेकर भोजन भी नहीं करना चाहिए ॥ ६६ ।

जो कोई हाथ, पैर और मुख को गीला करके अर्थात् धोकर भोजन करता है, वह चिरञ्जीवी होता है; परन्तु गीले पैर सोना नहीं चाहिए । जूठे मुख कहीं चले भी नहीं जाना चाहिए ॥ ६७ ।

शय्या पर बैठकर द्विज को कुछ भी खाना, पीना और जप भी नहीं करना चाहिए, पादुका (जूता) पहिन कर आचमन (कुल्ला) न करे और खड़ा होकर धारा-जल (गल्ला) नहीं पीना चाहिए ॥ ६८ ।

सुखाभिलाषी जन सन्ध्या हो जाने पर तिल का बना हुआ कोई भी पदार्थ न खाये । मल-मूत्र को न देखे और जूठे मुंह शिर को न छुये ॥ ६९ ।

भूसा, कोयला, राखी, केश और पखपडा ठिकडा पर न बैठे । पतित जनों का साथ पतित ही बना देता है (अतएव उनका साथ न करे) ॥ ७० ।

श्रावयेद्वैदिकं मन्त्रं न शूद्राय कदाचन ।
ब्राह्मण्याद्धीयते विप्रः शूद्रो धर्माच्च हीयते ॥ ७१ ।
धर्मोपदेशः शूद्राणां स्वश्रेयः प्रतिघातयेत् ।
द्विजशुश्रूषणं धर्मः शूद्राणां हि परो मतः ॥ ७२ ।
कण्डूयनं हि शिरसः पाणिभ्यां न शुभं मतम् ।
आताडनं कराभ्यां च क्रोशनं केशलुञ्चनम् ॥ ७३ ।
अशास्त्रवर्तिनो भूपाल्लुब्धात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
ब्राह्मणः सान्वयो याति नरकानेकविंशतिम् ॥ ७४ ।
अकालविद्युत्स्तनिते वर्षर्तौ पांसुवर्षणे ।
महावातध्वनौ रात्रावनध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥ ७५ ।
उल्कापाते च भूकम्पे दिग्दाहे मध्यरात्रिषु ।
सन्ध्ययोर्वृषलोपान्ते राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ७६ ।

वैदिकं मन्त्रं न श्रावयेदित्यनेन तन्त्राद्युक्तं श्रावयेदित्यभ्यनुजानाति ॥ ७१ ।

धर्मोपदेशो ब्राह्मणकर्तृकः शूद्रकर्तृको वा । स्वश्रेय इत्यत्र स्वशब्द उपदेष्टृपरः । द्वितीये श्रोतृपरोऽपि ॥ ७२ ।

कराभ्यामित्यस्याग्रेऽपि सम्बन्धः ॥ ७३ ।

सान्वयो वंशसहितः ॥ ७४ ।

अकालविद्युत्स्तनिते वर्षर्त्वतिरिक्तकाले मेघगर्जिते विद्युत्सहितगर्जित इति वा ॥ ७५ ।

वृषलस्याधार्मिकस्य वा उपान्ते समीपे । राज्ञो राहोश्च सूतके नृपस्य सूतके राहोश्च सूतके ग्रहण इत्यर्थः ॥ ७६ ।

शूद्र को कदापि वेद का मन्त्र न सुनावे । ऐसा करने से ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से और शूद्र अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाता है ॥ ७१ ।

शूद्रों को धर्म का उपदेश देने से अपने ही कल्याण की हानि होती है; क्योंकि शूद्रों का परम धर्म द्विजगण का सेवन करना ही शास्त्र में कहा गया है ॥ ७२ ।

दोनों हाथों से शिर का खुजलाना अथवा पीटना और चिल्लाना या बाल नोचना अच्छा नहीं हैं ॥ ७३ ।

लोभवश शास्त्र के विरुद्ध बर्ताव करने वाले राजा से दान लेकर ब्राह्मण अपने वंश के सहित इक्कीसों नरकों में गमन करता है ॥ ७४ ।

(वेदवेदाङ्ग पढ़ाने के) ये सब अनध्याय कहे गये हैं—विना वर्षा के बिजली गर्जने पर, वर्षा में, धूर गिरे तो और रात्रि में जो वायु का बड़ा हाहाकार शब्द हो, तब, लूक गिरे, भूडोल हो, बड़ी आग लगे, आधी रात की वेला, दोनों सन्ध्याएँ, शूद्र के

दर्शाष्टकासु भूतायां श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ।
प्रतिपद्यपि पूर्णायां गजोष्ट्राभ्यां कृतान्तरे ॥ ७७ ।
खरोष्ट्रक्रोष्टृविरुते समवाये रुदत्यपि ।
उपाकर्मणि चोत्सर्गे नाविमार्गे तरौ जले ॥ ७८ ।
आरण्यकमधीत्याऽपि बाणसाम्नोरपि ध्वनौ ।
अनध्यायेषु चैतेषु नाधीयीत द्विजः क्वचित् ॥ ७९ ।
कृतान्तरायो न पठेद् भेकाखुश्वाहिबभ्रुभिः ।
भूताष्टम्योः पञ्चदश्योर्ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ८० ।
अनायुष्यकरं चैव परदारोपसर्पणम् ।
तस्मात्तद्दूरतस्त्याज्यं वैरिणां चोपसेवनम् ॥ ८१ ।
पूर्वर्धिभिः परित्यक्तमात्मानं नावमानयेत् ।
सदोद्यमवतां यस्माच्छ्रियो विद्या न दुर्लभाः ॥ ८२ ।

श्राद्धिकं श्राद्धनिमन्त्रणं श्राद्धसम्बन्धिद्रव्यं वा । पूर्णायां षड्दण्डपरिमितायां प्रतिपद्यपि न तु न्यूनायाम् ॥ ७७ ।

उत्सर्गे ऋगादीनाम् ॥ ७८ ।

बाणसाम्नोः शरसामवेदयोर्ध्वनौ श्रूयमाणे । अपिशब्दादार्तस्वनेऽपि ॥ ७९ ।

बभ्रुर्नकुलः, भूता चतुर्दशी । पञ्चदश्योः पूर्णिमामावास्ययोः ॥ ८० ।

समीप, राजा का सूतक, (चन्द्र-सूर्य का) ग्रहण, प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा तिथियाँ एवं श्राद्ध का नेवता लेकर अथवा हाथी और ऊँट के बीच में पड़ जाने पर, गर्दभ, ऊँट और सियार के बोलने पर, सब लोगों के एक साथ रोने पर, उपाकर्म और उत्सर्ग विधि के होने (वेद के प्रारम्भ और विसर्जन के दिन), नौका पर, मार्ग में वृक्ष पर और जल में वेद के आरण्यक भाग को पढ़कर और जहाँ बाण एवं सामवेद की ध्वनि सुनाई पड़े, इन सब अनध्यायों में द्विज कभी अध्ययन न करे ॥ ७५-७९।

जब कि गुरु-शिष्य के बीच में मेढक, चूहा, कुक्कुर, सर्प और नेउर (नेवला) (कोई भी) आ जाय, तो फिर न पढ़े। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा तिथियों में सर्वदा ब्रह्मचर्य करना चाहिए ॥ ८० ।

परस्त्रीगमन बहुत ही आयुष्यनाशक है। अतएव उसे दूर से त्याग देना चाहिए। शत्रु की सेवा न करे ॥ ८१ ।

पूर्व की सम्पत्ति नष्ट हो जाने से अपना तिरस्कार कभी न करे, क्योंकि उद्योगी पुरुषों को सम्पत्ति और विद्या कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ८२ ।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो घटोद्भव ॥ ८३ ॥
भद्रमेव वदेन्नित्यं भद्रमेव विचिन्तयेत् ।
भद्रैरेवेह संसर्गो नाभद्रैश्च कदाचन ॥ ८४ ॥
रूपवित्तकुलैर्हीनान् सुधीर्नाधिक्षिपेन्नरान् ।
पुष्पवन्तौ न चेक्षेत त्वशुचिर्ज्योतिषां गणम् ॥ ८५ ॥
वाचोवेगं मनोवेगं जिह्वावेगं च वर्जयेत् ।
उत्कोचद्यूतदौत्यार्तद्रव्यं दूरात्परित्यजेत् ॥ ८६ ॥
गोब्राह्मणाग्नीनुच्छिष्टपाणिना नैव संस्पृशेत् ।
न स्पृशेदनिमित्तेन खानि स्वानि त्वनातुरः ॥ ८७ ॥
गुह्यजान्यपि लोमानि तत्स्पर्शादशुचिर्भवेत् ।
पादधौतोदकं मूत्रमुच्छिष्टान्नोदकानि च ॥ ८८ ॥

इह मनुष्ययोनौ । संसर्गः कार्य इति शेषः ॥ ८४ ।
पुष्पवन्तौ चन्द्रसूर्यौ । सूर्यासोमाविति क्वचित्पाठः ॥ ८५ ।
उत्कोचद्रव्यं नामभयादिकं प्रदर्श्य यद् गृह्यते ॥ ८६ ।

हे घटोद्भव ! सत्य बोले और प्रिय बोले, पर अप्रिय सत्य भी हो, तो न कहे और मिथ्या (झूठा) प्रियवचन भी न कहे, यह धर्म है। (मनु के अनुसार हो है, सनातन का सम्बोधन है।)

यथा—"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (धर्मो घटोद्भवः) ॥८३।

सर्वदैव भद्र (भला-अच्छा) ही कहे। भद्र की ही चिन्ता भी करे। इस लोक में भद्र (पुरुषों) के ही साथ व्यवहार करे। अभद्रों (नीचों-बुरों) से कुछ सम्बन्ध न रखे ॥ ८४ ।

बुद्धिमान् जन (अपने से) रूप, धन और कुल में जो लोग हीन हों, उनका अपमान न करे। अशुद्ध रहे, तो चन्द्र, सूर्य और तारागण को न देखे ॥ ८५ ।

वचन का वेग, मन का वेग और जिह्वा का वेग रोकना उचित है एवं घूस, जूआ, दौत्य (दलाली) और आर्तजन का द्रव्य दूर से ही त्याग देना चाहिए ॥ ८६ ।

गौ, ब्राह्मण और अग्नि को जूठे हाथ से न छुवे। विना आतुरता के अकारण ही अपने (इन्द्रिय) छिद्रों को भी नहीं छूना चाहिए ॥ ८७ ।

एवं गुह्य स्थान के रोमों को भी स्पर्श करने से अपवित्र हो जाता है। पैर का धोवन जल, मूत्र, जूठा अन्न-जल, थूक और कफ (खँखार)—इन सब को घर से

निष्ठीवनं च श्लेष्माणं गृहाद्दूरं विनिक्षिपेत् ।
अहर्निशं श्रुतेर्जाप्याच्छौचाचारनिषेवणात् ।
अद्रोहवत्या बुद्ध्या च पूर्वं जन्म स्मरेद्द्विजः ॥ ८९ ।
वृद्धान् प्रयत्नाद्वन्देत दद्यात्तेषां स्वमासनम् ।
विनम्रधमनिस्तस्मादनुयायात्ततश्च तान् ॥ ९० ।
श्रुतिभूदेवदेवानां नृपसाधुतपस्विनाम् ।
पतिव्रतानां नारीणां निन्दां कुर्यान्न कर्हिचित् ॥ ९१ ।
न मनुष्यस्तुतिं कुर्यान्नात्मानमपमानयेत् ।
अभ्युद्यतं न प्रणुदेत्परमर्माणि नोच्चरेत् ॥ ९२ ।
अधर्मादेधते पूर्वं विद्वेष्टॄनपि संजयेत् ।
सर्वतोभद्रमाप्यापि ततो नश्येच्च सान्वयः ॥ ९३ ।
उद्धृत्य पञ्च मृत्पिण्डान् स्नायात्परजलाशये ।
अनुद्धृत्य च तत्कर्तुरेनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ ९४ ।

विनम्रधमनिः प्रणतनाडिकः । विनम्रकन्धर इति क्वचित् । विनम्रधर्मनिष्ठः स्यादिति चान्यत्र । यस्मादयं विनम्रधमन्यादिर्भवेत्तस्मात्ताननुयायादित्यन्वयः ॥ ९० ।

सान्वयो वंशसहितः ॥ ९३ ।

दूर पर फेंकना चाहिए। द्विज दिन-रात वेद के जप और शौच, आचार के सेवन से एवं द्रोहरहित बुद्धि के द्वारा पूर्वजन्म को स्मरण कर पाता है ॥ ८८-८९ ।

वृद्ध लोगों को प्रयत्नपूर्वक प्रणाम करे। उनको अपना आसन (छोड़) दे, आप नम्र होकर नीचे बैठे और जाने की वेला उनके पीछे-पीछे चले ॥ ९० ।

वेद, ब्राह्मण, देवता, राजा, साधु, तपस्वी और पतिव्रता स्त्रियों की निन्दा कभी न करे ॥ ९१ ।

मनुष्यों की स्तुति (बड़ाई) न करे। अपना अपमान न करे, प्राप्त वस्तु का परित्याग न करे। दूसरे का मर्म (दूसरों की गुप्त बातें) न कहे ॥ ९२ ।

अधर्म करने से प्रथम तो वृद्धि, शत्रुओं से विजय और सब ओर से अच्छा ही अच्छा होता है; परन्तु अन्त में (अधर्मी का) सवंश नाश हो जाता है ॥ ९३ ।

दूसरे के जलाशय में नहाना हो तो पहले पाँच पिंड़िया मिट्टी निकाल दे, नहीं तो उसके बनवाने वाले के पाप का चतुर्थांश उस नहाने वाले को लग जाता है ॥ ९४ ।

श्रद्धया पात्रमासाद्य यत्किञ्चिद्दीयते वसु ।
देशे काले च विधिना तदानन्त्याय कल्पते ॥ ९५ ।
भूप्रदो मण्डलाधीशः सर्वत्र सुखिनोऽन्नदाः ।
तोयदाता सदा तृप्तो रूपवान् रूप्यदो भवेत् ॥ ९६ ।
प्रदीपदो निर्मलाक्षो गोदाताऽर्यमलोकभाक् ।
स्वर्णदाता च दीर्घायुस्तिलदः स्यात्तु सुप्रजाः ॥ ९७ ।
वेश्मदोऽत्युच्चसौधेशो वस्त्रदश्चन्द्रलोकभाक् ।
हयप्रदो दिव्ययानो लक्ष्मीवान् वृषभप्रदः ॥ ९८ ।
सुभार्यः शिबिकादाता सुपर्यङ्कप्रदोऽपि च ।
धान्यैः समृद्धिमान्नित्यमभयप्रद ईशिता ॥ ९९ ।
ब्रह्मदो ब्रह्मलोकेज्यो ब्रह्मदः सर्वदो मतः ।
उपायेनापि यो ब्रह्म दापयेत्सोऽपि तत्समः ॥ १०० ।
श्रद्धया प्रतिगृह्णाति श्रद्धया यः प्रयच्छति ।
स्वर्गिणौ तावुभौ स्यातां पततोऽश्रद्धयात्यधः ॥ १०१ ।

सुप्रजाः शोभनपुत्रः ॥ ९७ ।
शिबिका नरयानम् । पर्यङ्कः खट्वा । ईशिता शास्ता ईश्वर इत्यर्थः ॥ ९९ ।
अत्यधः अतिशयेनाऽधः ॥ १०१ ।

देश, काल और सत्पात्र पाकर यदि कुछ भी द्रव्य श्रद्धा से दान किया जाय, तो उसका फल अनन्त हो जाता है ॥ ९५ ।

जो कोई भूमिदान करता है, वह मण्डलाधीश राजा होता है । अन्न के दाता लोग सर्वत्र ही सुखी होते हैं । जल देने से सदा सन्तुष्ट और रूपा देने से रूपवान् होता है ॥ ९६ ।

दीपदान करने वाला निर्मल-दृष्टि, गोदानकर्ता सूर्यलोकभागी, सुवर्णदान से चिरजीवी, तिल देने से सुसन्तानवाला, गृहप्रद अत्युच्च सौध का स्वामी, वस्त्रदाता चन्द्रलोकवासी, घोड़ा देने से दिव्य विमानगामी, वृषभदान से लक्ष्मीवान्, पालकी और पलँग के दान करने से सुन्दर भार्य्या वाला, धान्य देने से समृद्धिमान्, अभयदान करने से ऐश्वर्यशाली और वेददान से ब्रह्मलोक में पूजित होता है । जो वेददाता हो, वह सर्वस्वदाता माना गया है, जो कि किसी उपाय से वेद दान करवाता (पढ़वाता) है, वह भी दाता के ही समान फल पाता है ॥ ९७-१०० ।

जो श्रद्धापूर्वक दान देता है और जो उसे वैसी ही श्रद्धा से लेता है, वे दोनों ही स्वर्गगामी होते हैं, पर विना श्रद्धा के देने और लेने वाले दोनों अधःपतित होते हैं ॥ १०१ ।

अनृतेन क्षरेद्यज्ञस्तपो विस्मयतः क्षरेत् ।
क्षरेत्कीर्तनतो दानमायुर्विप्रापवादतः ॥ १०२ ।
गन्धपुष्पकुशान् शय्यां शाकं मांसं पयो दधि ।
मणिमत्स्यगृहं धान्यं ग्राह्यमेतदुपस्थितम् ॥ १०३ ।
मधूदकं फलं मूलमेधांस्यभयदक्षिणा ।
अभ्युद्यतानि ग्राह्याणि त्वेतान्यपि निकृष्टतः ॥ १०४ ।
दासनापितगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः ।
भोज्यान्नाः शूद्रवर्गेऽमी तथात्मविनिवेदकः ॥ १०५ ।
इत्थमानृण्यमासाद्य देवर्षिपितृजादृणात् ।
माध्यस्थमाश्रयेद् गेहे सुते विष्वग् विसृज्य च ॥ १०६ ।
गेहेऽपि ज्ञानमभ्यस्येत् काशीं वाऽथ समाश्रयेत् ।
सम्यग् ज्ञानेन वा मुक्तिः किं वा विश्वेशवेश्मनि ॥ १०७ ।

विस्मयतो गर्वात् ॥ १०२ ।

ग्राह्यं निकृष्टत इत्यग्रिमेणाऽन्वयः ॥ १०३ ।

अर्धसीरिणोऽर्धहालिकाः । आत्मनिवेदकोऽत्यन्तभक्तः ॥ १०५ ।

माध्यस्थ्यमौदासीन्यमाश्रयेत् । किं कृत्वा । विष्वक् सर्वतो गृहव्यापारान् सुते विसृज्य चकाराद्भार्यादींश्च । आश्रयेद्देहीति क्वचित्पाठः । सुते भारमिति काशीवासं चेति शेषः ॥ १०६ ।

उभयत्र क्रमेण हेतुमाह । सम्यगिति ॥ १०७ ।

असत्य से यज्ञ, विस्मय (आश्चर्य) से तपस्या, वर्णन करने से दान और ब्राह्मणों को निन्दा करने से आयुष्य नष्ट हो जाता है ॥ १०२ ।

गन्ध, पुष्प, कुश, शय्या, साग, मांस, दूध, दही, मणि, मछली, गृह और धान्य—ये सब जिससे भी प्राप्त हों, ले लेना चाहिए ॥ १०३ ।

मधु, जल, फल, मूल, इंधन (जलावन) और अभयदक्षिणा—इन सबको भी यदि विना माँगे हो मिल जायँ, तो निकृष्ट जन से भी ले ले ॥ १०४ ।

शूद्रों में भी दास, नापित (नाऊ), ग्वाला (अहीर) वंश का मित्र, हरवाहा और जो बड़ा भक्त हो, उसका अन्न भोजन किया जा सकता है ॥ १०५ ।

इस प्रकार से देव, ऋषि और पितरों के ऋण से छुट्टी पाकर और पुत्र के ऊपर घर का भार रख आप उदासीनता (वानप्रस्थ आश्रम) का अवलम्बन करे ॥ १०६ ।

गृह में रहे, तो भी ज्ञान का अभ्यास करे अथवा काशी का आश्रय करे; क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान होने से ही मुक्तिलाभ होता है । किं वा काशी में ही मुक्ति प्राप्त हो सकती हे ॥ १०७ ।

सम्यग्ज्ञानं भवेत्पुंसां कुत एकेन जन्मना ।
वाराणस्यां ध्रुवा मुक्तिः शरीरत्यागमात्रतः ॥ १०८ ।
अद्य श्वो वा परश्वो वा कालाद्वाऽथ परःशतात् ।
सत्वरो गत्वरो देहः काश्यां चेदमृतीभवेत् ॥ १०९ ।
सा च वाराणसी लभ्या सदाचारवता सदा ।
मनसाऽपि सदाचारमतो विद्वान्न लङ्घयेत् ॥ ११० ।
आकर्ण्येति ततोऽगस्त्यः पुनः प्राह षडाननम् ।
पुनः काशीं समाचक्ष्व सदाचारेण याप्यते ॥ १११ ।
कानि कानि च लिङ्गानि स्कन्द ज्ञानप्रदानि च ।
वाराणस्यां परिब्रूहि तानि मे परिपृच्छतः ॥ ११२ ।
विना काशीं न मे प्रीतिर्विना काशीं न मे रतिः ।
चित्रपुत्रकवच्चाऽस्मि विना काशीं षडानन ॥ ११३ ।

अन्तिमपक्षस्य सुलभत्वेनाधिक्यमाह । सम्यगिति ॥ १०८ ।

शतात्परं परःशतं तस्माच्चेन्म्रियत इति शेषः ॥ १०९ ।

सदाचारनिरूपणफलमाह । सा चेति । यस्यां शरीरत्यागमात्रतो ध्रुवा मुक्तिः, सेत्यर्थः ॥ ११० ।

मनुष्यों को एक ही जन्म में सम्पूर्ण ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो सकता है; परन्तु काशी में तो केवल शरीरत्याग से ही निश्चय मुक्ति मिल जाती है ॥ १०८ ।

आज, कल, परसों, चाहे सौ वर्ष में (एक न एक दिन तो यह) शरीर अवश्य ही छूट जायगा, जो कहीं यह घटना काशी में हो, तो मुक्ति (अनायास ही) मिल जाती है ॥ १०९ ।

फिर यह काशी सब किसी को नहीं मिलती, जो कोई नित्य ही सदाचार करता है, उसी को प्राप्त होती है । अतएव विद्वान् जन (लोक में) इस सदाचार के लंघन को मन में भी स्थान न दें ॥ ११० ।

इसके अनन्तर अगस्त्य मुनि ने यह सुनकर फिर स्वामिकार्तिक से कहा—"आप पुनः उसी काशी का वर्णन कीजिये, जो सदाचार के द्वारा ही प्राप्त होती है ॥ १११ ।

हे स्कन्द ! मैं आपसे यह पूछता हूँ कि काशी में कौन-कौन से लिङ्ग ज्ञान-दायक हैं ? आप उनको बताएँ ॥ ११२ ।

हे षडानन ! मुझे विना काशी के (अन्यत्र) न तो सुख है और न प्रीति ही है । मैं तो केवल "काशी"—इन्हीं दो अक्षर रूप अमृत को पीता रहता हूँ, विना काशी के

न निद्रामि न जागर्मि नाऽश्नामि न पिबाम्यपः ।
काशीद्व्यक्षरपीयूषं पिबामि हि च केवलम् ।। ११४ ।
इति श्रुत्वा वचः स्कन्दो मैत्रावरुणिभाषितम् ।
अविमुक्तस्य माहात्म्यं वक्तुं समुपचक्रमे ।। ११५ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सदाचारवर्णनं नामाऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।

काशीति यद् द्व्यक्षरं तदेव पीयूषं केवलं पिबामि । हीति निश्चये । चकारोऽवधारणे । पीयूषाधारो जीवामीति क्वचित् ।। ११४ ।

।। इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।

न तो मैं सोता हूँ, न जागता हूँ, न कुछ खाता हूँ और न जलपान ही करता हूँ। मेरी दशा तो चित्रपुत्रक (कठपुतरी या चित्रलिखित) खिलौना के समान हो रही है" ।। ११३-११४ ।

अगस्त्य ऋषि का यह कथित वचन सुनकर स्कन्द जी ने अविमुक्त क्षेत्र (काशी) की महिमा का वर्णन करना प्रारम्भ किया ।। ११५ ।

विविध गृहाश्रम धर्म जे बरने हैं एहि माँहि ।
मिलत मनुस्मृति से बहुत वचन विचारे जाँहि ।।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां गृहस्थाश्रमधर्मनिरूपणं नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

श्रृण्वगस्त्य महाभाग कथां पापप्रणाशिनीम् ।
नैःश्रेयस्याः श्रियाहेतुमविमुक्तसमाश्रयाम् ॥ १ ।

परं ब्रह्म यदाम्नातं निष्प्रपञ्चं निरात्मकम् ।
निर्विकल्पं निराकारमव्यक्तं स्थूलसूक्ष्मवत् ॥ २ ।

तदेतत्क्षेत्रमापूर्य स्थितं सर्वगमप्यहो ।
किमन्यत्र न शक्तोऽसौ जन्तून् मोचयितुं भवात् ॥ ३ ।

त्रिंशे नवाधिके पुण्येऽध्यायेऽत्यन्तमनोरमे ।
वाराणसीदिवोदासाविमुक्तमहिमोच्यते ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्तेऽविमुक्तस्य माहात्म्यं वक्तुं समुपचक्रमे इत्युक्तमतस्तदेव प्रस्तावयति । श्रृण्वगस्त्येति । नैःश्रेयस्याः मोक्षरूपायाः ॥ १ ।

काश्या महिमानमाह । परमिति । यत्परं ब्रह्म वेदान्तेष्वाम्नातं तदेतत्क्षेत्रमापूर्य स्थितमित्यग्रेण सम्बन्धः । निरात्मकं शरीरद्वयरहितम् । निर्विकल्पम्, भेदरहितम् । निष्प्रपञ्चमित्यादीनां यथेष्टं हेतुमत्त्वम् । स्थूलसूक्ष्मवत् कार्यकारणरूपम् ॥ २ ।

अहो आश्चर्ये हर्षे वा । काश्यामेव मोचयति नाऽन्यत्रेत्यभिनयपूर्वकं दर्शयति । किमन्यत्रेति । भवात् संसारात् । भवेदिति क्वचित् ॥ ३ ।

(अविमुक्तेश्वर की कथा)

स्कन्द कहने लगे—

"हे महाभाग अगस्त्य ! पापपुञ्जनाशिनी मुक्तिसम्पत्तिदायिनी काशी की कथा सुनो" ॥ १ ।

अहो ! कैसा आश्चर्य है ! (शास्त्रों में) जिसे निष्प्रपञ्च, निरात्मक, निर्विकल्प, निराकार, अव्यक्त, कार्यकारणरूप, परब्रह्म कहते हैं, सर्वव्यापी होने पर भी वही इस क्षेत्र भर में विराजमान रहता है । क्या वह अन्यत्र भवबन्धन से मोचन कर देने में कुछ असमर्थ है ? ऐसा नहीं ॥ २-३ ।

भवो ध्रुवं यदत्रैव मोचयेत्तं निशामय।
महत्यायोगयुक्त्या वा महादानैरकामिकैः ॥ ४ ॥
सुमहद्भिस्तपोभिर्वा शिवोऽन्यत्र विमोचयेत्।
योगयुक्तिं न महतीं न दानानि महान्ति च ॥ ५ ॥
न तपांस्यतिदीर्घाणि काश्यां मुक्त्यै शिवोऽर्थयेत्।
वियुनक्ति न यत्काश्या उपसर्गे महत्यपि ॥ ६ ॥
अयमेव महायोग उपयोगस्त्विहाऽपरः।
नियमेन तु विश्वेशे पुष्पं पत्रं फलं जलम् ॥ ७ ॥
यद्दत्तं सुमनोवृत्त्या महादानं तदत्र वै।
मुक्तिमण्डपिकायां च क्षणं यत्स्थिरमास्यते ॥ ८ ॥
स्नात्वा गङ्गाऽमृते शुद्धे तप एतदिहोत्तमम्।
सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा यत्काश्यां परिदीयते।
तुलापुरुष एतस्याः कलां नार्हति षोडशीम् ॥ ९ ॥

अकामिकैर्निष्कामैरित्युभयत्र सम्बध्यते ॥ ४ ।

अतिदीर्घकालमारभ्य कृतानि अतिदीर्घाणि। अतितीव्राणीति क्वचित्। अर्थयेत् प्रार्थयेत् किमिति न प्रार्थयेत्, अन्यथैव तत्त्रितयस्य जातत्वादित्याह। वियुनक्तीति। उपसर्गे पीडायाम्। काश्याः सकाशान्न वियुनक्ति पृथग्भवतीति यदयमेव महायोग इत्यन्वयः। काशीमिति क्वचित् ॥ ६ ।

सुमनोवृत्त्या निष्कामेन विश्वेश्वरबुद्ध्या वा ॥ ८ ।

परन्तु वे जो यहाँ पर ही स्थिर मुक्ति देते हैं, उसका कारण श्रवण करो। अन्य स्थानों में वे ही परब्रह्म भगवान् शिव महायोग, निष्काम-महादान अथवा महातपस्या के द्वारा मुक्त करते हैं; परन्तु इस काशी में वे ही न तो उस महायोग, न उस महादान और न उस महातपस्या को ही मुक्ति के लिए चाहते हैं। बहुत बड़े उत्पात के उपस्थित होने पर भी जो काशी को न छोड़े, वही यहाँ महायोग है। यहाँ पर और सब तो उप-योग है। नियमपूर्वक सुष्ठु मन से विश्वनाथ के ऊपर पत्र, पुष्प, फल, जल, जो कुछ भी चढ़ा दिया जाय, वही यहाँ का महादान है। पवित्र गङ्गाजल में स्नान करके मुक्तिमण्डप में जो क्षण भर स्थिरता से बैठ जाता है, यहाँ पर यही महातपस्या है। काशीक्षेत्र में जो सत्कारपूर्वक (एक) भिक्षुक को भिक्षा दी जाती है, इसकी षोडशी कला को भी तुलापुरुष (दान) नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ४-९ ।

हृदि सञ्चिन्त्य विश्वेशं क्षणं यद्विनिमील्यते ।
देवस्य दक्षिणे भागे महायोगोऽयमुत्तमः ॥ १० ॥
इदमेव तपोऽत्युग्रं यदिन्द्रियविलोलताम् ।
निषिध्य स्थीयते काश्यां क्षुत्तापाद्यवमन्य च ॥ ११ ॥
मासि मासि यदाप्येत व्रताच्चान्द्रायणात्फलम् ।
अन्यत्र तदिहाप्येत भूतायां नक्तभोजनात् ॥ १२ ॥
मासोपवासादन्यत्र यत्फलं समुपार्ज्यते ।
श्रद्धयैकोपवासेन तत्काश्यां स्यादसंशयम् ॥ १३ ॥
चातुर्मास्यव्रतात्प्रोक्तं यदन्यत्र महाफलम् ।
एकादश्युपवासेन तत्काश्यां स्यादसंशयम् ॥ १४ ॥
षण्मासान्नपरित्यागाद्यदन्यत्र फलं लभेत् ।
शिवरात्र्युपवासेन तत्काश्यां जायते ध्रुवम् ॥ १५ ॥
वर्षं कृत्वोपवासानि लभेदन्यत्र यद्व्रती ।
तत्फलं स्यात्त्रिरात्रेण काश्यामविकलं मुने ॥ १६ ॥

भूतायां चतुर्दश्याम् ॥ १२ ।

वर्षमिति । यद्व्रतीत्यत्र यत्फलमिति क्वचित्पाठः । तत्फलमित्युत्तरार्धेऽपि स्फुटं स्यात् शिवरात्रौ तत्काश्यामविकलं फलमिति च ॥ १६ ।

हृदय में विश्वेश्वर का ध्यान कर जो क्षणमात्र भगवान् के दक्षिण भाग में नेत्रनिमीलन किया जाता है, यही यहाँ का सर्वोत्तम महायोग है ॥ १० ।

क्षुधा-पिपासा को कुछ भी न मान और इन्द्रियों की चंचलता को रोककर जो काशी में रह जाय, यही बड़ी घोर तपस्या है ॥ ११ ।

अन्य स्थानों में प्रतिमास चान्द्रायण व्रत करने से जो फल मिलता है, यहाँ पर वही फल केवल चतुर्दशी तिथि में नक्त भोजन से प्राप्त होता है ॥ १२ ।

दूसरे स्थान में एक मास उपवास करने से जो फल उपार्जित होता है, काशी में श्रद्धापूर्वक केवल एक दिन ही उपवास करने से निस्सन्देह वही फललाभ हो जाता है ॥ १३ ।

अन्यत्र चातुर्मास्य व्रत का जो बड़ा फल कहा गया है, इस काशी में एकादशी के उपवास मात्र से वह (फल) निश्चय ही प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ।

छह मास पर्यन्त अन्नत्याग करने से अन्यत्र जो पुण्य होता है, वही काशी में एक शिवरात्रि व्रत से ही अवश्य प्राप्त होता है ॥ १५ ।

व्रतीजन अन्यत्र एक वर्ष उपवास करके जो फललाभ करता है, काशी में केवल त्रिरात्रव्रत से ही वह फल ज्यों का त्यों प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ।

मासि मासि कुशाग्राऽम्बु पानादन्यत्र यत्फलम् ।
काश्यामुत्तरवाहिन्यामेकेन चुलुकेन तत् ॥ १७ ।
अनन्तो महिमा काश्याः कस्तं वर्णयितुं प्रभुः ।
विपत्तिमिच्छतो जन्तोर्यत्र कर्णेजपः शिवः ॥ १८ ।
शम्भुस्तत्किञ्चिदाचष्टे म्रियमाणस्य जन्मिनः ।
कर्णेऽक्षरं यदाकर्ण्य मृतोऽप्यमृततां व्रजेत् ॥ १९ ।
स्मारं स्मारं स्मररिपोः पुरीं त्वमिव शङ्करः ।
अदुनोन्मन्दरं यातो बहुशस्तदवाप्तये ॥ २० ।

अगस्त्य उवाच—

स्वकार्यनिपुणैः स्वामिन् गीर्वाणैरतिदारुणैः ।
त्याजितोऽहं पुरीं काशीं हरोऽत्याक्षीत्कुतः प्रभुः ॥ २१ ।

चुलुकेन गण्डूषेण ॥ १७ ।
विपत्तिमिच्छतो मरणं प्राप्नुवतः ॥ १८ ।
कर्णेजपमेवाभिनयपूर्वकं फलसहितं दर्शयति । शम्भुस्तदिति ॥ १९ ।
अविमुक्तमहिमवर्णनार्थमेव दिवोदासमहिमानं वक्तुं प्रस्तावयति । स्मारं स्मारमिति । स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ २० ।
विश्वेश्वरस्य काशीं विहायाऽन्यत्र गमनं सुष्ठु दुर्घटमिति मन्वानः पृच्छति । स्वकार्येति द्वाभ्याम् ॥ २१ ।

हे मुने ! (कहाँ तक कहें) अन्य स्थान में प्रतिमास कुशाग्र भाग के जलपान से जो पुण्य प्राप्त होता है, काशी में उत्तरवाहिनी गङ्गा का एक चुल्लू जल पीने से वही फल मिल जाता है ॥ १७ ।

काशी की महिमा अनन्त है । (भला !) उसका वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ! यहाँ पर भगवान् शिव स्वयं मरण चाहने वाले जन्तु के कान में (तारक) मन्त्र दे देते हैं ॥ १८ ।

अहा ! मरते हुए प्राणी से भगवान् शम्भु ऐसा कुछ कह देते हैं कि जिस अक्षर को कान से सुनते ही अमृतपद को मृतजन्मी प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ।

मन्दराचल पर जाकर स्मररिपु शङ्कर भी बारम्बार अपनी काशीपुरी को स्मरण करते हुए तुम्हारे ही सदृश पुनः उसकी प्राप्ति के लिए सन्तप्त हुए थे ॥ २० ।

अगस्त्य ने कहा—

"स्वामिन् ! भला मुझसे तो स्वकार्यसाधक अतिकठिन देवताओं ने काशी छोड़वा (छुड़वा) दी; परन्तु परमसमर्थ शिव ने उसे क्यों त्याग दिया ? ॥ २१ ।

पराधीनोऽहमिव किं देवदेवः पिनाकवान् ।
काशिकां सोऽत्यजत्कस्मान्निर्वाणमणिराशिकाम् ॥ २२ ।

स्कन्द उवाच—

मित्रावरुणसम्भूत कथयामि कथामिमाम् ।
तत्याज च यथा स्थाणुः काशीं विध्युपरोधतः ॥ २३ ।
प्रार्थितस्त्वं यथा लेखैः परोपकृतये मुने ।
द्रुहिणेन तथा रुद्रः स्वरक्षणविचक्षणः ॥ २४ ।

अगस्त्य उवाच—

कथं स भगवान् रुद्रो द्रुहिणेन कृपाम्बुधिः ।
प्रार्थितोऽभूत्किमर्थं च तन्मे ब्रूहि षडानन ॥ २५ ।

स्कन्द उवाच—

पाद्मे कल्पे पुरावृत्ते मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
अनावृष्टिरभूद्विप्र सर्वभूतप्रकम्पिनी ॥ २६ ।

उक्तमेव स्पष्टयति । परेति । पिनाकवान् आजगववान् । पिनाकधृगिति क्वचित् । एवंविधनिर्वाणाऽभिप्रायेण काशिकामित्युक्तम् ॥ २२ ।

विध्युपरोधतो हिरण्यगर्भप्रार्थनया ॥ २३ ।

लेखैर्देवैः । स्वरक्षणविचक्षणो भक्तरक्षणचतुरः । स्वांशभूतानां जीवानां मोक्षदानेन रक्षणविचक्षण इति वा ॥ २४-२५ ।

पाद्मे कल्पे विष्णोर्नाभिपद्मे भूरादिलोकत्रयकल्पनासृष्टौ मनोरन्तरे । कथम्भूते ? स्वायम्भुवे स्वायम्भुवमनुसम्बन्धिनि स्वायम्भुवस्य मनोरन्तर इत्यर्थः । प्रकम्पिनी प्रचालिनी इतस्ततो नेत्रीत्यर्थः ॥ २६ ।

क्या पिनाकधारी महादेव भी मेरे ही समान पराधीन थे ? नहीं तो उन्होंने मुक्तिमणिराशि काशी को कैसे छोड़ दिया" ? ॥ २२ ।

स्कन्द बोले—

"हे मित्रावरुणतनय ! मुने ! देवताओं द्वारा प्रार्थना करने से जैसे तुमने परोपकार के लिए काशी का त्याग किया, वैसे ही निजरक्षणचतुर चतुरानन (ब्रह्मा) की प्रार्थना से भगवान् महादेव ने भी (कुछ दिन के लिए) काशी छोड़ दी थी । इस कथा को कहता हूँ, सुनो" ॥ २३-२४ ।

अगस्त्य ने पूछा—

"हे षडानन ! ब्रह्मा ने दयासागर भगवान् रुद्र से किस निमित्त प्रार्थना की थी, वह मुझे बताइए" ॥ २५ ।

स्कन्द ने कहा—

"विप्रवर ! व्यतीत पाद्म कल्प के स्वायम्भुव मन्वन्तर में साठ वर्ष की सर्वलोकभयङ्करी (बड़ी भारी) अनावृष्टि हुई थी । उसके द्वारा समस्त प्राणिगण परमपीड़ित

तया तु षष्टिहायिन्या पोडिताः प्राणिनोऽखिलाः ।
केचिदम्बुधितोरेषु गिरिद्रोणीषु केचन ॥ २७ ।
महानिम्नेषु कच्छेषु मुनिवृत्त्या जनाः स्थिताः ।
अरण्यान्यवनिर्जाता ग्रामखर्वटवर्जिता ॥ २८ ।
क्रव्यादा एव सर्वेषु नगरेषु पुरेषु च ।
आसन्नभ्रंलिहो वृक्षाः सर्वत्र क्षोणिमण्डले ॥ २९ ।
चौरा एव महाचौरैरुल्लठ्यन्त इतस्ततः ।
मांसवृत्त्योपजीवन्ति प्राणिनः प्राणरक्षिणः ॥ ३० ।
अराजके समुत्पन्ने लोकेऽत्याहितशंसिनि ।
प्रयत्नो विफलस्त्वासीत्सृष्टेः सृष्टिकृतस्तदा ॥ ३१ ।

कच्छेषु पर्वतप्रान्तेषु । मुनिवृत्त्या फलमूलाद्याहारेण । अरण्यानी महारण्यम् । ग्रामा भृगुप्रोक्ताः—

विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यत्र चैव वसन्ति ते ।
स तु ग्राम इति प्रोक्तः शूद्राणां वास एव च ॥ इति ।

खर्वटा गिरितटग्रामा भृगुप्रोक्ता वा—

एकतो यत्र तु ग्रामो नगरं चैकतः स्थितम् ।
मिश्रं तु खर्वटं नाम नदीगिरिसमाश्रयम् ॥ इति ॥ २८ ।

क्रव्यादा मांसात्तारः । अभ्रंलिहो मेघपर्यन्तमुच्चाः । तेऽपि शुष्का इति शेषः ॥ २९ ।

उल्लुठ्यन्ते उदुच्चैर्लुंठ्यन्ते निःस्वीक्रियन्त इत्यर्थः ॥ ३० ।

अत्याहितमत्यनिष्टं भयं तच्छंसिनि । सृष्टेः प्रयत्न इति सम्बन्धः । सृष्टिसम्बन्धीत्यर्थः ॥ ३१ ।

हो गये थे । उस काल में कोई तो समुद्र के तीर पर, कोई पहाड़ों की गुफाओं में, कोई-कोई जन बहुत नीचे जलप्राय देशों में जाकर मुनिवृत्ति से दिन काटने लगे । समस्त भूमि ग्राम और नगर से शून्य होकर वन बन गयी थी ॥ २६-२८ ।

सम्पूर्ण नगर और पुरों में मांसभोजी गण ही फैल गये । पृथिवीमण्डल में सर्वत्र केवल आकाशस्पर्शी वृक्ष ही रह गये ॥ २९ ।

इधर उधर से बड़े-बड़े लुटेरे आकर डाकुओं को ही लूटने लगे । प्राणरक्षा के लिए प्राणी लोग मांसभोजन से ही जीवन-धारण करते थे ॥ ३० ।

उस वेला समस्त अराजक लोक में बड़े अनिष्ट की सूचना होने पर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की सृष्टि का प्रयत्न व्यर्थ होने लगा ॥ ३१ ।

---

१. संक्षोणप्राया इति पुस्तकान्तरेषु पाठः ।

चिन्तामवाप महतीं जगद्योनिः प्रजाक्षयात् ।
प्रजासु क्षीयमाणासु क्षीणयज्ञादिकाः क्रियाः ॥ ३२ ।

तासु क्षीणासु संक्षीणाः सर्वे यज्ञभुजोऽभवन् ।
ततश्चिन्तयता स्रष्ट्रा दृष्टो राजर्षिसत्तमः ॥ ३३ ।

अविमुक्ते महाक्षेत्रे तपस्यन्निश्चलेन्द्रियः ।
मनोरन्वयजो वीरः क्षात्रो धर्म इवोदितः ॥ ३४ ।

रिपुञ्जय इति ख्यातो राजाऽपरपुरञ्जयः ।
अथ ब्रह्मा तमासाद्य बहुगौरवपूर्वकम् ॥ ३५ ।

उवाच वचनं राजन् रिपुञ्जय महामते ।
इलां पालय भूपाल ससमुद्राद्रिकाननाम् ॥ ३६ ।

नागकन्यां नागराजः पत्न्यर्थं ते प्रदास्यति ।
अनङ्गमोहिनीं नाम्ना वासुकिः शीलभूषणाम् ॥ ३७ ।

मनोः स्वायम्भुवस्य । क्षात्रः क्षत्रियजात्यधिष्ठितः ॥ ३४ ।

रिपुञ्जयाख्यायां हेतुमाह । परपुरमिति । परमधार्मिक इति क्वचित् ॥ ३५ ।

इलां पृथ्वीम् । इमामिति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ ३६ ।

अनङ्गमोहिनीं कामस्याऽपि क्षोभकर्त्रीमिति सान्वयसंज्ञाऽभिप्रायेण ॥ ३७ ।

तब जगद्योनि (ब्रह्मा) प्रजाओं का क्षय देखकर बड़ी चिन्ता करने लगे कि "इन प्रजागण के क्षय हो जाने से समस्त यज्ञादि क्रियाएँ भी लुप्त होती जा रही हैं और उन क्रियाओं के नष्ट हो जाने से समस्त यज्ञभोजी देवता लोग भी क्षीण हो चले हैं"। सृष्टिकर्ता यही सोच (विचार) रहे थे। इसी अवसर में उन्होंने राजर्षि-सत्तम, वीर, क्षात्रधर्म की तरह उदित, मनुवंश में उत्पन्न, परपुरञ्जय, विख्यात राजा रिपुञ्जय को अविमुक्त महाक्षेत्र में निश्चलेन्द्रिय होकर तपस्या करते देखा। इसके अनन्तर ब्रह्मा उसके निकट जाकर बड़े गौरव के साथ (आदर के साथ) यह वचन बोले—"हे महामते ! राजन् ! रिपुञ्जय ! तुम इस समुद्र, पर्वत और कानन-भूषित भूमण्डल का पालन करो ॥ ३२-३६ ।

हे भूपाल ! नागराज वासुकि तुमको शीलभूषणसम्पन्ना अनङ्गमोहिनी नाम की नागकन्या देंगे ॥ ३७ ।

दिवोऽपि देवा दास्यन्ति रत्नानि कुसुमानि च ।
प्रजापालनसन्तुष्टा महाराज प्रतिक्षणम् ॥ ३८ ।
दिवोदास इति ख्यातमतो नाम त्वमाप्स्यसि ।
मत्प्रभावाच्च नृपते दिव्यं सामर्थ्यमस्तु ते ॥ ३९ ।
परमेष्ठिवचः श्रुत्वा ततोऽसौ राजसत्तमः ।
वेधसं बहुशः स्तुत्वा वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ४० ।

राजोवाच—

पितामह महाप्राज्ञ जनाकीर्णे महीतले ।
कथं नान्ये च राजानो मां कथं कथ्यते त्वया ॥ ४१ ।

ब्रह्मोवाच—

त्वयि राज्यं प्रकुर्वाणे देवो वृष्टिं विधास्यति ।
पापनिष्ठे च वै राज्ञि न देवो वर्षते पुनः ॥ ४२ ।

रिपुञ्जयस्य सान्वयं भाविसंज्ञान्तरं सन्दिशति । दिवोऽपीति सार्धेन ॥ ३८ ।

वेधसं ब्रह्माणम् । स्तुत्वा स्तोत्रेण सन्तोष्य ॥ ४० ।

कथं किं किमर्थम् ॥ ४१ ।

हे महाराज ! स्वर्ग के (देवता) लोग भी तुम्हारे प्रजापालन से सन्तुष्ट होकर प्रतिक्षण रत्न और पुष्पादिक देते रहेंगे ॥ ३८ ।

इसी कारण से तुम्हारा दिवोदास नाम प्रसिद्ध होगा । हे नरपाल ! मेरे स्वभाव से तुमको दिव्य सामर्थ्य होगा ॥ ३९ ।

तदनन्तर उस राजसत्तम ने ब्रह्मदेव का वचन सुन, उनकी बड़ी स्तुति करते हुए यह वाक्य कहा ॥ ४० ।

राजा बोला—

"हे महाविज्ञ ! पितामह ! इस जनाकीर्ण महीतल में क्या और दूसरे राजा लोग नहीं हैं ? फिर आप मुझे ही क्यों (ऐसा) कहते हैं" ? ॥ ४१ ।

ब्रह्मा ने कहा—

"(राजन् !) तुम्हारे राज्य करने से देव बरसेगा और यदि राजा पापनिष्ठ होगा, तो फिर कदापि वृष्टि न होगी" ॥ ४२ ।

राजोवाच—

पितामह महामान्य त्रिलोकीकरणक्षम ।
महाप्रसाद इत्याज्ञां त्वदीयां मूर्ध्न्युपाददे ॥ ४३ ।
किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽहं तन्मदर्थं करोषि चेत् ।
ततः करोम्यहं राज्यं पृथिव्यामसपत्नवत् ॥ ४४ ।

ब्रह्मोवाच—

अविलम्बेन तद्ब्रूहि कृतं मन्यस्व पार्थिव ।
यत्ते हृदि महाबाहो तवाऽदेयं न किञ्चन ॥ ४५ ।

राजोवाच—

यद्यहं पृथिवीनाथः सर्वलोकपितामह ।
तदा दिविषदो देवा दिवि तिष्ठन्तु मा भुवि ॥ ४६ ।
देवेषु दिवि तिष्ठत्सु मयि तिष्ठति भूतले ।
असपत्नेन राज्येन प्रजा सौख्यमवाप्स्यति ॥ ४७ ।

दिविषद इति साभिप्रायं विशेषणम् । अतो न पौनरुक्त्यम् ॥ ४६ ।

एतावन्निर्बन्धे प्रयोजनं दर्शयति । देवेष्विति ॥ ४७ ।

राजा फिर कहने लगा—

"हे त्रैलोक्यसर्जनसमर्थ ! महामान्य ! पितामह ! यह आपका महान् अनुग्रह है। अतएव आपकी आज्ञा शिर-माथों पर धारण करता हूँ ॥ ४३ ।

परन्तु मैं आपसे कुछ प्रार्थना किया चाहता हूँ। यदि आप मेरे लिए उसे कर दें, तो मैं पृथिवी पर निष्कण्टक राज्य कर सकूंगा" ॥ ४४ ।

ब्रह्मा ने कहा—

"पार्थिव ! जो कुछ भी तुम्हारे हृदय में हो, उसे झटपट कह दो और उसे हुआ ही समझो। हे महाबाहो ! तुमको अदेय कुछ भी नहीं है" ॥ ४५ ।

राजा ने कहा—

"हे सर्वलोकपितामह ! जब मैं ही पृथिवी का नाथ होऊँ, तब देवता लोग स्वर्ग में ही रहा करें। इस पृथिवी पर नहीं रहें ॥ ४६ ।

क्योंकि देवताओं के स्वर्ग में रहने से और मेरे भूतल पर रहने से राज्य निष्कण्टक रहेगा और उसी से प्रजागण को सुख मिलेगा" ॥ ४७ ।

तथेति विश्वसृक् प्रोक्तो दिवोदासो नरेश्वरः ।
पटहं घोषयाञ्चक्रे दिवं देवा व्रजन्त्विवति ॥ ४८ ॥
मागचछन्त्विह वै नागा नराः स्वस्था भवन्त्वितः ।
मयि प्रशासति क्षोणीं सुराः स्वस्था भवन्त्विवति ॥ ४९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा विश्वेशं प्रणिपत्य ह ।
यावद्विज्ञप्तुकामोऽभूत्तावदीशोऽब्रवीद्विधिम् ॥ ५० ॥
लोकेश्वर समायाहि मन्दरो नाम भूधरः ।
कुशद्वीपादिहागत्य तपस्तप्येत दुष्करम् ॥ ५१ ॥
यावत्तस्मै वरं दातुं बहुकालं तपस्यते ।
इत्युक्त्वा पार्वतीनाथो नन्दिभृङ्गिपुरोगमः ॥ ५२ ॥
जगाम वृषमारुह्य मन्दरो यत्र तिष्ठति ।
उवाच च प्रसन्नात्मा देवदेवो वृषध्वजः । ॥ ५३ ॥

पटहं ढक्काम् । व्रजन्तु इति शब्दमुच्चार्य । व्रजन्त्विवत इति पाठे इति शब्दोऽध्याहर्तव्यः ॥ ४८ ॥

नराः सर्वे प्राणिनः । प्रजा इति क्वचित् । इतोऽन्यत्र । उभयत्र साटोपं हेतुमाह । मयीति । सुरा इति नागानामुपलक्षणम् । स्वस्थाः स्वर्गस्था इति पातालस्थानाम् । स्वस्थाने स्थिता इति वा ॥ ४९-५० ।

कुशद्वीपात्तृतीयाद्द्वीपात् । तप्येत करोति इत्यर्थः ॥ ५१ ।

तपस्यते तपः कुर्वते ॥ ५२ ।

ब्रह्मा ने दिवोदास से "तथास्तु" कह दिया । तब उस नरेश्वर ने डंका बजाकर यह घोषणा (मुनादी) करा दी कि "देवता लोग स्वर्ग में चले जाँय ॥ ४८ ।

मेरे राज्यशासनकाल में देवगण स्वर्ग में ही रहें और नागगण यहाँ न आवें । आज से मनुष्य लोग स्वस्थ होकर रहें" ॥ ४९ ।

इसके अनन्तर ब्रह्मा विश्वेश्वर को प्रणाम कर ज्यों हो यह निवेदन किया चाहते थे, त्यों ही भगवान् ने ब्रह्मा से कहा ॥ ५० ।

आइए लोकनाथ ! मन्दरनामक एक पर्वत, कुशद्वीप से आकर यहाँ पर घोरतर तपस्या कर रहा है ॥ ५१ ।

उसे तप करते हुए बहुत दिन बीत गये । सो चलिए । उसे वरदान कर आवें । ऐसा कहकर पार्वतीनाथ ने नन्दी और भृङ्गी को आगे करके वृषभ पर चढ़ मन्दराचल जहाँ तपस्या कर रहा था, वहाँ पर गमन किया । (और वहाँ पहुँचने पर) देवाधिदेव वृषभध्वज ने प्रसन्न चित्त से कहा ॥ ५२-५३ ।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते वरं ब्रूहि धरोत्तम।
सोऽथ श्रुत्वा महेशानं देवदेवं त्रिलोचनम् ॥ ५४ ।
प्रणम्य बहुशो भूमावद्रिरेतद् व्यजिज्ञपत्।
लीलाविग्रहभृच्छम्भो प्रणतैककृपानिधे ॥ ५५ ।
सर्वज्ञोऽपि कथं नाम न वेत्थ मम वाञ्छितम्।
शरणागतसंत्राण सर्ववृत्तान्तकोविद ॥ ५६ ।
सर्वेषां हृदयानन्द शर्व सर्वग सर्वकृत्।
यदि देयो वरो मह्यं स्वभावाद् दृषदात्मने ॥ ५७ ।
याचकायातिशोच्याय प्रणतार्तिप्रभञ्जक ।
ततोऽविमुक्तक्षेत्रस्य साम्यं ह्यभिलषाम्यहम् ॥ ५८ ।
कुशद्वीप उमासार्धं नाथाऽद्य सपरिच्छदः।
मन्मौलौ विहितावासः प्रयात्वेष वरो मम ॥ ५९ ।

लीलाविग्रहं क्रीडाशरीरं बिभर्ति गृह्णातीति तथा। कृदिति क्वचित् ॥ ५५ ।

अविमुक्तसाम्यमेव दर्शयति। कुशद्वीप इति। उमासार्धं पार्वत्या सह। कुशद्वीपे मया सार्धमिति पाठे उकारलोप आर्षः। श्रीगौर्योरभेदान्माशब्दस्य मायावाचकत्वान्मायात्मकत्वाच्च मया पार्वत्येति यथाश्रुत एव वाऽर्थः। प्रयातु यातु भवानिति यावत् ॥ ५९ ।

"हे पर्वतश्रेष्ठ ! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। वर माँगो। यह सुनते ही वह पर्वत देवदेव त्रिलोचन महेश्वर को अनेक बार भूमि पर प्रणाम करके यह प्रार्थना करने लगा—"हे लीलाविग्रहधारक ! प्रणतजनकृपानिधे ! शम्भो ! आप सर्वज्ञ होने पर भी मेरा वाञ्छित (मनरथ) क्यों नहीं जानते ? हे शरणागतरक्षक ! आप सब बातों के ज्ञाता है ॥ ५४-५६ ।

आप ही सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वकर्ता और सर्व हैं। हे प्रणतार्तिभञ्जक ! यदि आप स्वभावकठिन, प्रस्तरदेही, अतिशोचनीय मुझ याचक को वर दिया चाहते हैं, तो मैं अविमुक्तक्षेत्र के समान होने की अभिलाषा करता हूँ ॥ ५७-५८ ।

हे नाथ ! कुशद्वीप में मेरे मस्तक के ऊपर पार्वती और परिवार के सहित आप आज से निवास करें। यही वर मैं चाहता हूँ" ॥ ५९ ।

सर्वेषां सर्वदः शम्भुः क्षणं यावद्विचिन्तयेत् ।
विज्ञाताऽवसरो ब्रह्मा तावच्छम्भुं व्यजिज्ञपत् ।
प्रणम्याऽग्रेसरो भूत्वा मौलौ बद्धकरद्वयः ॥ ६० ।

ब्रह्मोवाच—

विश्वेश जगतां नाथ त्वया व्यापारितोऽस्म्यहम् ।
कृतप्रसादेन विभो सृष्टिं कर्तुं चतुर्विधाम् ॥ ६१ ।
प्रयत्नेन मया सृष्टा सा सृष्टिस्त्वदनुज्ञया ।
अवृष्ट्या षष्टिहायिन्या तत्र नष्टाः प्रजा भुवि ॥ ६२ ।
अराजकं महच्चासीद् दुरवस्थमभूज्जगत् ।
ततो रिपुञ्जयो नाम राजर्षिर्मनुवंशजः ॥ ६३ ।
मयाऽभिषिक्तो राजर्षिः प्रजाः पातुं नरेश्वरः ।
चकार समयं सोऽपि महावीर्यो महातपाः ॥ ६४ ।

व्यजिज्ञपत् विज्ञापयामास ॥ ६० ।

व्यापारितो नियुक्तः । चतुर्विधां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपाम् ॥ ६१ ।

इदं जगन्महद्यथा स्यात्तथाऽराजकमासीदत एव दुरवस्थमतीवदुःस्थितमभूदित्यन्वयः ॥ ६३ ।

(यह सुनकर) सब किसी के सर्वाभीष्टदाता भगवान् शम्भु ज्यों ही कुछ विचार करने लगे, त्यों ही अवसर जान ब्रह्मा ने अग्रसर हो, प्रणामपूर्वक माथे पर दोनों हाथों को जोड़कर यह निवेदन किया ॥ ६० ।

ब्रह्मा ने कहा—

"हे त्रिलोकीनाथ ! विभो ! विश्वेश्वर ! आपने ही प्रसन्न होकर मुझे चतुर्विध सृष्टि करने पर नियुक्त किया है। मैंने भी आपकी आज्ञानुसार प्रयत्नपूर्वक उस सृष्टिकार्य का सम्पादन किया; परन्तु भूलोक में साठ वर्ष के अवर्षण से समस्त प्रजागण नष्ट हो गये। बड़ी भारी अराजकता फैल गई। समग्र संसार घोर दुःख में डूबने लगा। यह देखकर मैंने मनुवंशोत्पन्न, राजर्षिप्रवर रिपुञ्जय नामक नराधिपति की प्रजापालन करने के लिए राज्याभिषेक कर दिया; परन्तु उस परमतपस्वी महावीर्य ने मुझसे एक प्रतिज्ञा करा ली है ॥ ६१-६४ ।

तवाज्ञया चेत्स्थास्यन्ति सर्वे दिविषदो दिवि ।
नागलोके तथा नागास्ततो राज्यं करोम्यहम् ॥ ६५ ।
तथेति च मया प्रोक्तं प्रमाणीक्रियतां तु तत् ।
मन्दराय वरो दत्तो भवेदेवं कृपानिधे ॥ ६६ ।
तस्य राज्ञः प्रजास्त्रातुं भूयाच्चैष मनोरथः ।
मम नाडीद्वयं राज्यं तस्यापि च शतक्रतोः ॥ ६७ ।
मर्त्यानां गणना क्वेह निमेषार्धनिमेषिणाम् ।
देवोऽपि निर्मलं मत्वा मन्दरं चारुकन्दरम् ॥ ६८ ।
विधेश्च गौरवं रक्षंस्तथोरीकृतवान् हरः ।
जम्बूद्वीपे यथा काशी निर्वाणपददा सदा ॥ ६९ ।
तथा बहुतिथं कालं द्वीपोऽभूत्सोऽपि मन्दरः ।
यियासुना च देवेन मन्दरं चित्रकन्दरम् ॥ ७० ।

नाडीद्वयं घटिकाद्वयम् ॥ ६७ ।

निमेषार्धनिमेषिणां मम निमेषार्धं निमेषितुं शीलं येषां ते तथा तेषाम् ॥ ६८ ।

विधेश्च ब्रह्मणोऽपि ॥ ६९ ।

(उस प्रतिज्ञा के अनुसार) यदि आप की आज्ञा से देवगण स्वर्ग में और नागगण पाताल में रहा करें, तब तो मैं राज्य करूँगा, नहीं तो नहीं (करूँगा)" ॥ ६५ ।

मैंने उससे "तथास्तु" कह दिया। अब उस बात का निर्वाह होना चाहिए। अतएव हे कृपानिधे ! मन्दराचल को इस प्रकार का वरदान कीजिए (स्थायी रूप से यहाँ ही रहने का वर दीजिए) ॥ ६६ ।

जिससे वह राजा प्रजाओं का पालन करे और इसका (मन्दर का) मनोरथ सिद्ध हो। (विचार कर देखिये) मेरी दो ही घड़ी भर तो इन्द्र का और उसका भी राज्य रहेगा ॥ ६७ ।

मेरे आधे ही निमेषमात्र में आँखें मूँद लेने वाले मर्त्य लोगों को यहाँ कौन गिनती है"। (यह सुनकर) भगवान् हर ने ब्रह्मा के गौरव की रक्षा करते हुए और सुन्दर कन्दराओं से शोभित मन्दराचल को भी निर्मल समझकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इस जम्बूद्वीप में जैसे काशी सर्वदा मोक्षदायिनी है, उसी प्रकार कुशद्वीप में मन्दराचल भी बहुत दिनों तक मोक्षदाता बन गया था। जबकि भगवान् विश्वेश्वर विचित्र कन्दरावाले मन्दराचल को जाने लगे, तब साधक लोगों को समस्त सिद्धि और

निजमूर्तिमयं लिङ्गमविज्ञातं विधेरपि ।
स्थापितं सर्वसिद्धीनां स्थापकेभ्यः समर्पितुम् ॥ ७१ ।
विपन्नानाञ्च जन्तूनां दातुं नैःश्रेयसीं श्रियम् ।
सर्वेषामिह संस्थानां क्षेत्रं चैवाभिरक्षितुम् ॥ ७२ ।
मन्दराद्रिं गतेनापि क्षेत्रं नैतत्पिनाकिना ।
विमुक्तं लिङ्गरूपेण अविमुक्तमतः स्मृतम् ॥ ७३ ।
पुरा नन्दवनं नाम क्षेत्रमेतत् प्रकीर्तितम् ।
अविमुक्तं तदारभ्य नामाऽस्य प्रथितं भुवि ॥ ७४ ।
नामाऽविमुक्तमभवदुभयोः क्षेत्रलिङ्गयोः ।
एतद्द्वयं समासाद्य न भूयो गर्भभाग्भवेत् ॥ ७५ ।
अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं दृष्ट्वा क्षेत्रेऽविमुक्तके ।
विमुक्त एव भवति सर्वस्मात्कर्मबन्धनात् ॥ ७६ ।

सर्वसिद्धीनामणिमादीनाम् । कर्मणि षष्ठी । समर्पितुम् दातुम् । समर्पकमिति क्वचित् ॥ ७१ ।

नैःश्रेयसीं निर्वाणसम्बन्धिनीम् । इह काश्यां संस्थानां सम्यक् स्थितानां सदाचाराणामित्यर्थः । संज्ञानामिति पाठे सम्यग् ज्ञानं यस्मादिति क्षेत्रविशेषणम् ॥७२।

काश्यामविमुक्तनामनिर्वचनमाह । मन्दराद्रिमिति द्वयेन ॥ ७३ ।

लिङ्गेऽपि तन्नामातिदिशति । नामाविमुक्तमिति ॥ ७५ ।

(काशी में) मरे हुए जन्तुवों को मोक्ष-सम्पत्ति देने के लिए एवं यहाँ रहने वालों के और क्षेत्र के रक्षणनिमित्त, ब्रह्मा के भी अगोचर निजमूर्तिमय एक लिङ्ग को प्रतिष्ठित कर दिया था ॥ ६८-७२ ।

सुतरां पिनाकपाणि ने मन्दराचल चले जाने पर भी, इस क्षेत्र को नहीं छोड़ा, वरन् लिङ्गरूप से बने ही रहे । इसी से इसका नाम "अविमुक्त" पड़ा ॥ ७३ ।

पूर्वकाल में इस क्षेत्र का नाम "आनन्दवन" था; परन्तु तभी से इसका 'अविमुक्त' नाम भूतल में विख्यात हुआ ॥ ७४ ।

इसी प्रकार से इस क्षेत्र और लिङ्ग—दोनों का नाम अविमुक्त ही पड़ गया । इन दोनों को ही प्राप्त करके मनुष्य फिर कभी गर्भभागी नहीं होता ॥ ७५ ।

जो कोई अविमुक्त क्षेत्र में अविमुक्तेश्वर लिङ्ग का दर्शन करता है, वह समस्त कर्मबन्धन से विमुक्त ही हो जाता है ॥ ७६ ।

अर्चन्ति विश्वे विश्वेशं विश्वेशोऽर्चति विश्वकृत् ।
अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं भुवि मुक्तिप्रदायकम् ॥ ७७ ॥
पुरा न स्थापितं लिङ्गं कस्यचित्केनचित्क्वचित् ।
किमाकृति भवेल्लिङ्गं नैतद्वेत्त्यपि कश्चन ॥ ७८ ॥
आकारमविमुक्तस्य दृष्ट्वा ब्रह्माऽच्युतादयः ।
लिङ्गं संस्थापयामासुर्वसिष्ठाद्यास्तथर्षयः ॥ ७९ ॥
आदिलिङ्गमिदं प्रोक्तमविमुक्तेश्वरं महत् ।
ततो लिङ्गान्तराण्यत्र जातानि क्षितिमण्डले ॥ ८० ॥
अविमुक्तेश नामाऽपि श्रुत्वा जन्मार्जितादघात् ।
क्षणान्मुक्तो भवेन्मर्त्यो नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ८१ ॥
अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं स्मृत्वा दूरगतोऽपि च ।
जन्मद्वयकृतात्पापात् क्षणादेव विमुच्यते ॥ ८२ ॥
अविमुक्ते महाक्षेत्रेऽविमुक्तमवलोक्य च ।
त्रिजन्मजनितं पापं हित्वा पुण्यमयो भवेत् ॥ ८३ ॥

विश्वे सर्वे । भुवीत्युपलक्षणम् । भुक्तीति क्वचित् ॥ ७७ ॥

इस विश्व में सभी लोग विश्वेश्वर की पूजा करते हैं; परन्तु वही विश्वकर्ता विश्वेश्वर मुक्तिदायक अविमुक्तेश्वर लिङ्ग का पूजन करते हैं ॥ ७७ ।

पूर्वकाल में किसी ने भी कहीं पर किसी का लिङ्ग-स्थापन नहीं किया था और न तो कोई यही जानता था कि लिङ्ग का आकार ही कैसा होता है ॥ ७८ ।

अविमुक्तेश्वर का ही आकार (रूप) देखकर ब्रह्मा और विष्णु आदि देवताओं ने तथा वशिष्ठ-प्रभृति ऋषियों ने भी लिङ्ग की स्थापना की है ॥ ७९ ।

क्षितिमण्डल में यह अविमुक्तेश्वर लिङ्ग ही प्रथम महालिङ्ग कहा गया है। इसके पीछे और सब लिङ्ग स्थापित हुए हैं ॥ ८० ।

अविमुक्तेश्वर का केवल नाम ही सुनने से मनुष्य आजन्म सञ्चित पापों से क्षणमात्र में मुक्त हो जाता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ८१ ।

जो कोई (इस लिङ्ग से) दूर चला गया हो, तो (वह भी) अतिमुक्तेश्वर लिङ्ग का स्मरण करने से ही दो जन्म के किये हुए पाप से उसी क्षण मुक्त हो जाता है ॥ ८२ ।

जो मनुष्य 'अविमुक्त' महाक्षेत्र में अविमुक्तेश्वर लिङ्ग का दर्शन करता है, वह तीन जन्म के जनित पाप को त्याग कर पुण्यमय हो जाता है ॥ ८३ ।

यत्कृतं ज्ञानविभ्रंशादेनः पञ्चसु जन्मसु ।
अविमुक्तेशसंस्पर्शात्तत्क्षयेदेव नान्यथा ॥ ८४ ॥
अर्चयित्वा महालिङ्गमविमुक्तेश्वरं नरः ।
कृतकृत्यो भवेदत्र न च स्याज्जन्मभाक्कुतः ॥ ८५ ॥
स्तुत्वा नत्वाऽर्चयित्वा च यथाशक्ति यथामति ।
अविमुक्ते विमुक्तेशं स्तूयते नम्यतेऽर्च्यते ॥ ८६ ॥
अनादिमदिदं लिङ्गं स्वयं विश्वेश्वरार्चितम् ।
काश्यां प्रयत्नतः सेव्यमविमुक्तं विमुक्तये ॥ ८७ ॥
सन्ति लिङ्गान्यनेकानि पुण्येष्वायतनेषु च ।
आयान्ति तानि लिङ्गानि माघीं प्राप्य चतुर्दशीम् ॥ ८८ ॥
कृष्णायां माघभूतायामविमुक्तेशजागरात् ।
सदा विगतनिद्रस्य योगिनो गतिभाग् भवेत् ॥ ८९ ॥

कुतः कदाचिदपि । पुनरिति क्वचित् ॥ ८५ ।

स्तुत्वेति । अविमुक्ते काश्याम् । यथाशक्ति यथामति स्तुत्वाऽर्चयित्वा नत्वा नरस्तिष्ठति स स्तूयतेऽर्च्यते नम्यते देवैरिति शेष इत्यर्थः ॥ ८६-८७ ।

चतुर्दशीं कृष्णाम् ॥ ८८ ।

भूतायां चतुर्दश्याम् ॥ ८९ ।

अविमुक्तेश्वर के स्पर्श करने से पाँच जन्मों में जो पाप अज्ञानवश किया गया हो, वह सब क्षय हो जाता है, इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है ॥ ८४ ।

इस लोक में जो नर "अविमुक्तेश्वर" महालिङ्ग की पूजा करता है, वही कृत-कृत्य है । (क्योंकि) उसे फिर कभी जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ८५ ।

जो कोई यथाशक्ति, यथाबुद्धि काशी में अविमुक्तेश्वर की स्तुति, प्रणति और पूजा करता है, वह सर्वत्र ही स्तुत, वन्दित और पूजित होता है ॥ ८६ ।

स्वयं विश्वेश्वर का पूजित यह अनादिसिद्ध अविमुक्तेश्वर लिङ्ग, अविमुक्त-क्षेत्र में मुक्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक सेवनीय है ॥ ८७ ।

कितने ही पवित्र तीर्थस्थानों में कितने ही लिङ्ग हैं। वे सब लिङ्ग माघ मास की कृष्णचतुर्दशी को (सम्भवतः महाशिवरात्रि के दिन इस अविमुक्तेश्वर लिङ्ग के पास) चले आते हैं ॥ ८८ ।

जो कोई इस अविमुक्तेश्वर के समीप माघकृष्ण चतुर्दशी की रात्रि (शिवरात्रि) में जागरण करता है, वह सदा जागरूक योगिजन की गति का भागी होता है ॥ ८९ ।

नानायतनलिङ्गानि चतुर्वर्गप्रदान्यपि ।
माघकृष्णचतुर्दश्यामविमुक्तमुपासते ॥ ९० ॥
किं बिभेति नरो धीरः कृतादघशिलोच्चयात् ।
अविमुक्तेशलिङ्गस्य भक्तिवज्रधरो यदि ॥ ९१ ॥
क्वाविमुक्तं महालिङ्गं चतुर्वर्गफलोदयम् ।
क्व पापिपापशैलोऽल्पो यः क्षयेन्नामसम्भृतः ॥ ९२ ॥
अविमुक्ते महाक्षेत्रे विश्वेशसमधिष्ठिते ।
यैर्न दृष्टं विमूढास्तेऽविमुक्तं लिङ्गमुत्तमम् ॥ ९३ ॥
द्रष्टारमविमुक्तस्य दृष्ट्वा दण्डधरो यमः ।
दूरादेव प्रणमति प्रबद्धकरसम्पुटः ॥ ९४ ॥
धन्यं तन्नेत्रनिर्माणं कृतकृत्यौ तु तौ करौ ।
अविमुक्तेश्वरं येन [1]याभ्यामैक्षिष्ट यः स्पृशेत् ॥ ९५ ॥

यः पापिपापशैलो नाम सम्भृतो नाम्ना नाशाय सम्भृतो लक्षीकृतः क्षयेन्नाशं गच्छेत्, स क्वेत्यर्थः । अनादिपापेति पाठे एक एव क्वशब्द उभयत्र योजनीयः । नामसम्भृत इत्यत्र नाम्नि संस्मृत इति क्वचित्पाठः ॥ ९२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ।

नाना तीर्थों के लिङ्गगण चतुर्वर्ग-फलदायक होने पर भी माघकृष्ण (फाल्गुन-कृष्ण ?) चतुर्दशी को अविमुक्तेश्वर की उपासना करते हैं ॥ ९० ।

जिस धीर पुरुष ने अविमुक्तेश्वर की दृढ़ भक्तिरूप वज्र को धारण कर लिया है, भला वह सञ्चित पापरूपी पर्वत से क्यों डरेगा ? ॥ ९१ ।

चतुर्वर्ग फल देने के लिए उदयप्राप्त अविमुक्तेश्वर महालिङ्ग कहाँ ? और नाम लेते ही क्षय हो जाने वाला छोटा-सा पापियों का पाप-पहाड़ कहाँ ? ॥ ९२ ।

विश्वेश्वर के पीठस्थान इस अविमुक्त महाक्षेत्र में जिन लोगों ने परमोत्तम अविमुक्तेश्वर लिङ्ग का दर्शन नहीं किया, वे सब बड़े ही मोहान्ध हैं ॥ ९३ ।

और अविमुक्तेश्वर के दर्शकजन को देखकर, दण्डधर यमराज दूर से ही दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं ॥ ९४ ।

जिसने अविमुक्तेश्वर का दर्शन और स्पर्शन किया, उसका वह नेत्र-निर्माण धन्य है, जिससे उसने (अविमुक्तेश्वर लिङ्ग को) देखा और वे दोनों हस्त भी कृतार्थ हो गये, जिनसे उसने स्पर्श किया ॥ ९५ ।

---

१. याम्यां प्रैक्षिष्टेति क्वचित्पाठः ।

त्रिसन्ध्यमविमुक्तेशं यो जपेन्नियतः शुचिः ।
दूरदेशविपन्नोऽपि काशीमृतफलं लभेत् ॥ ९६ ।
अविमुक्तं महालिङ्गं दृष्ट्वा ग्रामान्तरं व्रजेत् ।
लब्ध्वाशु कार्यसंसिद्धि क्षेमेण प्रविशेद् गृहम् ॥ ९७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे अविमुक्तेशाविर्भावो नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ।

जो कोई पवित्र होकर नियमपूर्वक त्रिसन्ध्य अविमुक्तेश्वर को जपे, वह दूर देश में मृत्यु प्राप्त होने पर भी काशी में ही मरने का फल पाता है ॥ ९६ ।

मनुष्य यदि अविमुक्तेश्वर महालिङ्ग का दर्शन करके कहीं दूसरे ग्राम (स्थान) में जाता है, तो शीघ्र ही कार्यसिद्धि करके सकुशल अपने घर लौट आता है ॥ ९७ ।

जो महिमा अविमुक्त की, षण्मुख सके न भाषि ।
लेखि सके किमि लेखनी, फटी जीभ मुख राखि ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायामविमुक्तेश्वरकथावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ।

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

अविमुक्तेशमाहात्म्यं वर्णितं तेऽग्रतो मया।
अथो किमसि शुश्रूषुः कथयिष्यामि तत्पुनः ॥ १ ॥

अगस्त्य उवाच—

अविमुक्तेशमाहात्म्यं श्रावं श्रावं श्रुती मम।
अतीव सुश्रुते जाते तथापि न धिनोम्यहम् ॥ २ ॥

अविमुक्तेश्वरं लिङ्गं क्षेत्रं चाप्यविमुक्तकम्।
एतयोस्तु कथं प्राप्तिर्भवेत् षण्मुख तद् वद ॥ ३ ॥

चत्वारिंशेति विस्तीर्णे ईशप्रीतिकराः शुभाः।
गृहस्थधर्मा वर्ण्यन्ते निषेधविधिगोचराः ॥ १ ॥

उक्तानुवादपूर्वकं श्रवणाऽन्तरेऽगस्त्यं स्वच्छन्दयति। अविमुक्तेशेति ॥ १ ॥

श्रुतानुवादपूर्वकमात्मनस्तृप्त्यभावमावेदयन् पृच्छति। अविमुक्तेशेति द्वाभ्याम्। श्रावं श्रावं श्रुत्वा श्रुत्वा। सुश्रुते शोभने श्रवणेन्द्रिये। न धिनोमि अलं प्रत्ययं न यामि ॥ २-३ ॥

(गृहस्थों के कर्तव्याकर्तव्य का वर्णन)

स्कन्द ने कहा—

(मुनिवर) अविमुक्तेश्वर का माहात्म्य तो मैंने तुम्हारे आगे वर्णन किया, यदि और कुछ भी सुनना चाहते हो, तो फिर भी कहने के लिये मैं प्रस्तुत हूँ ॥ १ ॥

अगस्त्य बोले—

षण्मुख ! अविमुक्तेश्वर की महिमा सुन-सुनकर यद्यपि मेरे कान कृतार्थ हो गये, तथापि सन्तोष नहीं होता ॥ २ ॥

(भला) यह तो बताइए कि अविमुक्तेश्वर लिंग और अविमुक्तेश्वर क्षेत्र, इन दोनों की प्राप्ति किस उपाय से हो सकती है ? ॥ ३ ॥

स्कन्द उवाच—

श्रृणु कुम्भज वक्ष्यामि यथा प्राप्तिर्भवेदिह ।
स्वश्रेयो दातुरेतस्याविमुक्तस्य महामते ॥ ४ ।
समीहितार्थसंसिद्धिर्लभ्यते पुण्यभारतः ।
तच्च पुण्यं भवेद् विप्र श्रुतिवर्त्मसभाजनात् ॥ ५ ।
श्रुतिवर्त्मजुषः पुंसः संस्पर्शान्नश्यतो मुने ।
कलिकालावपि सदा छिद्रं प्राप्य जिघांसतः ॥ ६ ।
वर्जितस्य विधानेन प्रोक्तस्याकरणेन वै ।
कलिकालावपि हतो ब्राह्मणं रंन्ध्रदर्शनात् ॥ ७ ।

स्वश्रेयः कैवल्यम् । सुश्रेय इति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः । अविमुक्तस्येत्यनेन तन्त्रेण लिङ्गक्षेत्रयोर्ग्रहणम् ॥ ४ ।

पुण्यभारतः पुण्यगौरवात् पुण्यसमूहाद्वा । श्रुतिवर्त्मसभाजनत्वेदमार्गसंसेवनात् । वेदधर्मेति क्वचित् ॥ ५ ।

श्रुतीति । छिद्रं पापावसरं प्राप्य यौ कलिकालौ प्राणिनो जिघांसतो नाशयतस्तौ वेदमार्गं सेवमानस्य पुंसः संस्पर्शनान्नश्यत इत्यन्वयः । [1]पाठान्तरे वेदमार्गं सेवमानस्य कैवल्यं फलमुक्त्वा स्मृतिवर्त्मजुषः पुंसः फलमाह । स्मृतीति । प्रथमपाठे श्रुतिमूलत्वात् स्मृतेस्तस्याः पृथगनुल्लेख इति भावः ॥ ६ ।

उत्तरार्धं विवृणोति । वर्जितस्येति । चः समुच्चये । वै इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । अकरणे यत इति पाठे तु सहेतुकं व्यतिरेकमाह । वर्जितस्येति । हतो नाशयतः । रन्ध्रदर्शनात् छिद्रदर्शनात् ॥ ७ ।

स्कन्द कहने लगे—

महामते ! कुम्भज ! जिस प्रकार से इस लोक में निज कल्याणदायक अविमुक्त की प्राप्ति हो सकती है, उसे कहता हूँ, श्रवण करो ॥ ४ ।

इच्छित मनोरथ को सिद्धि बड़े ही पुण्यों से प्राप्त होती है; परन्तु, हे विप्रवर ! वह पुण्य केवल वेदोक्तमार्ग के सेवन करने ही से लाभ हो सकता है ॥ ५ ।

हे मुने ! छिद्र पाकर सदा नाश करने वाले कलि और काल भी वैदिक पथ पर चलने वाले पुरुष के स्पर्श से ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ।

ये दोनों ही कलि और काल, निषिद्ध कर्मों के करने और विहित विधियों के छोड़ देने से ही छिद्र देखकर ब्राह्मण को भी नष्ट कर डालते हैं ॥ ७ ।

---

१. स्मृतिवर्त्मजुष इत्येवंरूपे ।

निषिद्धाचरणं तस्मात् कथयिष्ये तवाऽग्रतः ।
तद्दूरतः परित्यज्य नरो न निरयी भवेत् ॥ ८ ॥
पलाण्डुं विड्वराहं च शेलुं लशुनगृञ्जने ।
गोपीयूषं तण्डुलीयं वर्ज्यं च कवकं सदा ॥ ९ ॥
व्रश्चनान् वृक्षनिर्यासान् पायसापूपशष्कुलीः ।
अदेवपित्र्यं पललमवत्सागोपयस्त्यजेत् ॥ १० ॥
पय एकशफं हेयं तथा कामेलकाविकम् ।
रात्रौ न दधि भोक्तव्यं दिवा न नवनीतकम् ॥ ११ ॥

पलाण्डुं रक्तलशुनभेदं 'प्याज' इति प्रसिद्धम् । विड्वराहं पुरीषभुजं ग्राम्यसूकरम् । शेलुं बहुवारकं श्लेष्मातकफलमित्यर्थः । लशुनं 'शुक्लवर्णं' प्रसिद्धमेव । गृञ्जनं हरितमूलकं 'गाजर' इति लोके प्रसिद्धम् । गोः पीयूषम् अनिर्दशाया गोक्षीरं पीयूषमिति मन्वादौ दृश्यते । तण्डुलीयं विष्ठाप्रभवमल्पमारिषम् । तण्डुलीयोऽल्पमारिष इत्यमरः । तथा च मनुः—"अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च" इति । विड्जातानीति याज्ञवल्क्यवचनाच्च । कवकं छत्राकं गौडे प्राकृतैर्यस्य शाकः क्रियते ॥ ९ ॥

व्रश्चनान् व्रश्चनं छेदनं तत्प्रभवानित्यर्थः । तथा च मनुः—"लोहितान् वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा" इति । पायसाऽपूपशष्कुलीः । अदेवपित्र्या इत्यग्रिमपदस्य विभक्तिं विपरिणमय्याऽनुषङ्गः । तत्र पायसं परमान्नम् । अपूपा मण्डकादयः । शष्कुल्यस्तैलपक्वविशेषाः । देवेभ्यः पितृभ्यश्च साधु उपकल्पितं यन्न भवति तद्देवपित्र्यम् । पललं मांसम् ॥ १० ॥

एकशफं अश्वाद्येकखुरसम्बन्धि । कामेलकमुष्ट्रसम्बन्धि । आविकं मेषसम्बन्धि । दिवा दिवसे । नवनीतं नवोद्धृतम् ॥ ११ ॥

अतएव पहले तुमसे निषिद्ध आचरणों को ही कहता हूँ। मनुष्य इसे दूर से ही त्याग देने पर नरकभागी नहीं होता ॥ ८ ।

(गृहस्थजन को) प्याज, विष्ठाभोजी ग्रामसूकर, लसोड़ा, लहसुन, गाजर, गौ का पेंहुस (व्याने पर पहिला दूध), चौंराई का साग और छत्राक (छत्ता-कुकुरमुत्ता)—इन सबको कभी न खाना चाहिए ॥ ९ ।

वृक्ष के काटने से निकलने वाले गोंद इत्यादि, देवता और पितरों को विना निवेदन किया हुआ—खीर, मालपूआ, पूरी (कचौरी) और मांस, एवं जिसका बछवा न होवे, उस गौ का दूध—ये सब त्याज्य हैं ॥ १० ।

(अश्वादिक) एक खुरवाले पशुओं का दूध, ऊँट और भेड़ी का दूध नहीं पीना चाहिए। रात्रि की वेला में दही और दिन में नवनीत (मक्खन) नहीं खाना चाहिए ॥ ११ ।

टिट्टिभं कलविङ्कं च हंसं चक्रं प्लवम्बकम् ।
त्यजेन्मांसाशिनः सर्वान् सारसं कुक्कुटं शुकम् ।। १२ ।
जालपादान् खञ्जरीटान् बुडित्वा मत्स्यभक्षकान् ।
मत्स्याशी सर्वमांसाशो तन्मत्स्यान् सर्वथा त्यजेत् ।। १३ ।
हव्यकव्यनियुक्तौ तु भक्ष्यौ पाठीनरोहितौ ।
मांसाशिभिस्त्वमी भक्ष्याः शशशल्लककच्छपाः ।। १४ ।
श्वाविद्गोधे प्रशस्ते च ज्ञाताश्च मृगपक्षिणः ।
आयुष्कामैः स्वर्गकामैस्त्याज्यं मांसं प्रयत्नतः ।। १५ ।

टिट्टिभं पक्षिविशेषम् । कलविङ्कं चटकम् । हंसं श्वेतगरुतम् । चक्रं चक्रवाकम् । प्लवं जलकुक्कुटम् । बकं कङ्कम् । मांसाशिनः मांसादान् । सारसं पुष्कराह्वयम् । कुक्कुटं चरणायुधम् । शुकं कीरम् ।। १२ ।

जालपादान् हंसविशेषान् । शरीरप्रभृतीनिति मनुटीकाकारः । खञ्जरीटान् खञ्जनान् । बुडित्वा मत्स्यभक्षकान् बुडित्वा जले निमज्ज्य ये मत्स्यान् खादन्ति, तान् मद्गुप्रभृतीनित्यर्थः । तथा च मनुः—"निमज्जतश्च मत्स्यादान्" इति । तत्तस्मात् ।।१३।

हव्यानि कव्यानि च देवानां पितॄणां चान्नानि तेषु नियुक्तौ विहितौ पाठीनरोहितौ पाठीनः सहस्रदंष्ट्रो वोपाल इति गौडे प्रसिद्धः । रोहितो मत्स्यभेदः प्रसिद्धः तौ । शशो मृगभेदः । शल्लकः श्वावित् । कच्छपः कूर्मः ।। १४ ।

श्वाविदिति । [1]सम्बोधलक्षणार्थं श्वाविधः पुनर्ग्रहणम् । ज्ञाताः शिष्टपरम्परया अभक्ष्यत्वेन प्रख्याता हरिणकपिञ्जलादयः प्रशस्ताः ।। १५ ।

टिटिहरी, गौरैया, हंस, चकवा, जलकौआ (दरियाई मुर्ग), बकुला, सारस, कुक्कुट (मुर्गा), सुग्गा, खिडरिच, जालपाद (जिनके पैर में अंगुलियाँ झिल्ली-से जुटी हों, जैसे आडिल इत्यादि), मांस खाने वाले (बाज इत्यादि) और बुडकी (डुबकी) मारकर मछली खाने वाले—इन सब पक्षियों का भोजन नहीं करना चाहिए । मछली खानेवाला सब जीवों का मांसभोजी होता है । अतएव मछली को सर्वथा त्याग देना चाहिए ।। १२-१३ ।

देवता और पितरों के कर्म में लगाये गये पहिना और रोहू मछली खाये जा सकते हैं और जो लोग मांस खाते हैं, वे खरहा (खरगोस), साही और कछुआ का भोजन करें ।। १४ ।

साही और गोह ये दोनों प्रशस्त हैं, और भी जो मृग अथवा पक्षी जाने हों, वे भक्षणीय हो सकते हैं । (परन्तु) यदि दीर्घायु होने अथवा स्वर्ग पाने की जिन्हें इच्छा हो, वे लोग प्रयत्नपूर्वक मांस (भोजन) त्याग देवें ।। १५ ।

---

१. प्राशस्त्यार्थमिति पुस्तकान्तरे पाठः, अयमेव युक्त इति भाति ।

यज्ञार्थं पशुहिंसा या सा स्वर्ग्या नेतरो क्वचित् ।
त्यजेत् पर्युषितं सर्वमखण्डस्नेहवर्जितम् ॥ १६ ।
प्राणात्यये क्रतौ श्राद्धे भेषजे विप्रकाम्यया ।
अलौल्यमित्थं पललं भक्षयन्नैव दोषभाक् ॥ १७ ।
न तादृशं भवेत्पापं मृगयावृत्तिकाङ्क्षिणः ।
यादृशं भवति प्रेत्य लौल्यान्मांसोपसेविनः ॥ १८ ।
मखार्थं ब्रह्मणा सृष्टाः पशुद्रुममृगौषधीः ।
निघ्नन्न हिंसको विप्रस्तासामपि शुभा गतिः ॥ १९ ।
पितृदेवक्रतुकृते मधुपर्कार्थमेव च ।
तत्र हिंसाप्यहिंसा स्याद्धिंसाऽन्यत्र सुदुस्तरा ॥ २० ।

अखण्डस्नेहवर्जितं निःशेषस्नेहरहितमित्यर्थः । पाठान्तरे खण्डस्नेहाभ्यां निर्मितं यन्न भवति तदखण्डस्नेहनिर्मितम् ॥ १६ ।

भेषजे औषधे । अलौल्यं अलोभं यथा स्यात्तथा । पललं मांसम् ॥ १७ ।

मधुपर्कार्थं गृह्योक्तकर्मविशेषार्थम् ॥ २० ।

क्योंकि केवल यज्ञ के लिये ही जो पशुहिंसा होती है, वह तो स्वर्ग के अनुकूल है, दूसरे कार्यों में कदापि नहीं हो सकती । जिसमें खाँड़ इत्यादि मीठा और घृतादि चिकना न पड़ा हो, वह सब वस्तुएँ पर्युषित (बासी) हो जावे, तो नहीं खानी चाहिए ॥ १६ ।

(मांस तो कदापि न खावे, पर) प्राण निकल जाने का डर हो तब और श्राद्ध में, औषध में ब्राह्मण की आज्ञा से एवं विना लोभ के—इन प्रकारों से यदि मांस खाना पड़े तो दोषभागी नहीं होता ॥ १७ ।

मृगया से जीविका चाहने वाले (शिकारी) को भी मरने पर वैसा पाप नहीं होता, जैसा कि लोभवश मांस खाने वाले को होता है ॥ १८ ।

ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये ही पशु, वृक्ष, मृग, औषधियों को बनाया है । अतएव ब्राह्मण उन सबके मारने से हिंसक नहीं होता, वरन् उन सबों की सद्गति हो जाती है ॥ १९ ।

पितर, देवता, यज्ञ और मधुपर्क (आतिथ्य) कर्म के लिये जो हिंसा होती है, वह हिंसा नहीं है । पर हाँ, इससे भिन्न अन्यत्र हिंसा करने से निस्तार नहीं हो सकता है ॥ २० ।

यो जन्तूनात्मपुष्टचर्थं हिनस्ति ज्ञानदुर्बलः ।
दुराचारस्य तस्येह नामुत्रापि सुखं क्वचित् ॥ २१ ।
भोक्ताऽनुमन्ता संस्कर्ता क्रयिविक्रयिहिंसकाः ।
उपहर्ता घातयिता हिंसकाश्चाष्टधा स्मृताः ॥ २२ ।
प्रत्यब्दमश्वमेधेन शतं वर्षाणि यो यजेत् ।
अमांसभक्षको यश्च तयोरन्त्यो विशिष्यते ॥ २३ ।
यथैवात्मापरस्तद्वद् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता ।
सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे ॥ २४ ।
सुखं वा यदि वा चान्यद्यत्किञ्चित् क्रियते परे ।
तत्कृतं हि पुनः पश्चात्सर्वमात्मनि सम्भवेत् ॥ २५ ।
न क्लेशेन विना द्रव्यमर्थहीने कुतः क्रियाः ।
क्रियाहीने कुतो धर्मो धर्महीने कुतः सुखम् ॥ २६ ।
सुखं हि सर्वैराकाङ्क्ष्यं तच्च धर्मसमुद्भवम् ।
तस्माद्धर्मोऽत्र कर्तव्यश्चातुर्वर्ण्येन यत्नतः ॥ २७ ।

स्मृता विद्वद्भिरिति शेषः । अष्टधाऽधमा इति वा पाठः ॥ २२ ।
चतुर्वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं तेन ॥ २७ ।

जो ज्ञानहीन जन, अपनी पुष्टि के लिये प्राणियों को मारता है, उस दुराचारी को इस लोक और परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिल सकता ॥ २१ ।

भोजन करने वाला, सम्मति देने वाला, शस्त्र से काटने, बनाने वाला, बेंचने वाला, मोल लेनेवाला, ले आने वाला, मारने वाला और मरवाने वाला—ये आठों प्रकार के लोग, हिंसक कहलाते हैं ॥ २२ ।

जो कोई सौ वर्षपर्यन्त प्रतिवर्ष अश्वमेध-यज्ञ करे और दूसरा कोई मांस न खाता हो, तो उन दोनों में पिछला ही जन श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ २३ ।

सुख चाहने वाले को अपने ही समान दूसरे को भी देखना योग्य है; क्योंकि सुख और दुःख जैसे अपने ऊपर पड़ते हैं, वैसे ही दूसरे के लिए भी होते हैं ॥ २४ ।

चाहे सुख हो अथवा अन्य कुछ भी हो, जो दूसरे के हेतु किया जाता है, वह सब कुछ (कर्म) सम्भव है कि पीछे फिर अपने ऊपर आ पड़े ॥ २५ ।

(संसार में) विना क्लेश उठाये द्रव्य नहीं मिलता और द्रव्यहीन जन किसी क्रिया को कहाँ से कर सकता है ? जो क्रियाहीन है, उसमें धर्म कहाँ से आवे ? और धर्महीन को सुख कहाँ है ? ॥ २६ ।

यद्यपि सुख को सभी लोग चाहते हैं; परन्तु वह तो धर्म से ही उत्पन्न होता है । अतएव चारों वर्णों को उद्योग करके इस लोक में धर्म का ही उपार्जन करना चाहिए ॥२७।

न्यायागतेन द्रव्येण कर्तव्यं पारलौकिकम् ।
दानं च विधिना देयं काले पात्रे च भावतः ॥ २८ ।
विधिहीनं तथाऽपात्रे यो ददाति प्रतिग्रहम् ।
न केवलं हि तद्याति शेषं तस्य च नश्यति ॥ २९ ।
व्यसनार्थे कुटुम्बार्थे यदृणार्थे च दीयते ।
तदक्षयं भवेदत्र परत्र च न संशयः ॥ ३० ।
मातापितृविहीनं यो मौञ्जीपाणिग्रहादिभिः ।
संस्कारयेन्निजैरर्थैस्तस्य श्रेयस्त्वनन्तकम् ॥ ३१ ।
अग्निहोत्रैर्न तच्छ्रेयो नाग्निष्टोमादिभिर्मखैः ।
यच्छ्रेयः प्राप्यते मर्त्यैर्द्विजे चैके प्रतिष्ठिते ॥ ३२ ।
यो ह्यनाथस्य विप्रस्य पाणिं ग्राहयते कृती ।
इह सौख्यमवाप्नोति सोऽक्षयं स्वर्गमाप्नुयात् ॥ ३३ ।

भावतो भक्तितः ॥ २८ ।
शेषमन्यदपि पुण्यम् ॥ २९ ।
अक्षयं बहुकालस्थायि तत्फलं भवतीत्यर्थः ॥ ३० ।
श्रेयः पुण्यम् ॥ ३१ ।
पाणिं ग्राहयते विवाहं कारयति ॥ ३३ ।

न्यायपूर्वक प्राप्त धन से परलोकसम्बन्धी कर्म सम्पादन करना उचित है। इसी भाँति काल और सत्पात्र पाकर विशुद्ध भाव से विधिपूर्वक दान करना चाहिए ॥ २८ ।

विधिहीन तथा कुपात्र को जा कोई दान करता है, उसका केवल वही (दान) विफल नहीं होता, वरन् अवशिष्ट पुण्य भी नष्ट हो जाता है ॥ २९ ।

विपत्ति से उद्धार, कुटुम्ब के पालन और ऋण के मोचन करने के लिये जो कुछ दान किया जाता है, वह निःसन्देह इस लोक और परलोक में अक्षय होता है ॥ ३० ।

जो कोई अपने धन के द्वारा माता-पिता से हीन किसी (अनाथ) का यज्ञोपवीत अथवा विवाहादि संस्कार कर देता है, उसका पुण्य तो अनन्त हो जाता है ॥ ३१ ।

एक भी द्विज को प्रतिष्ठित कर देने से जो पुण्य होता है, वह (पुण्य) अनेक अग्निहोत्र और अग्निष्टोमादिक यज्ञ कर देने से भी लोगों को नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ३२ ।

जो कोई अनाथ ब्राह्मण (कुमार) का विवाह करा देता है, वह इस लोक में सुख और परलोक में अक्षय स्वर्ग को प्राप्त होता है ॥ ३३ ।

पितृगेहे तु या कन्या रजः पश्येदसंस्कृता ।
भ्रूणहा तत्पिता ज्ञेयो वृषली साऽपि कन्यका ॥ ३४ ।
यस्तां परिणयेन्मोहात् स भवेद् वृषलोपतिः ।
तेन सम्भाषणं त्याज्यमपाङ्क्ते येन सर्वदा ॥ ३५ ।
विज्ञाय दोषमुभयोः कन्यायाश्च वरस्य च ।
सम्बन्धं रचयेत्पश्चादन्यथा दोषभाक् पिता ॥ ३६ ।
स्त्रियः पवित्राः सततं नैता दुष्यन्ति केनचित् ।
मासि मासि रजस्तासां दुष्कृतान्यपकर्षति ॥ ३७ ।
पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।
भुञ्जते मानुषाः पश्चान्नैता दुष्यन्ति केनचित् ॥ ३८ ।
स्त्रीणां शौचं ददौ सोमः पावकः सर्वमेध्यताम् ।
कल्याणवाणीं गन्धर्वास्तेन मेध्याः सदा स्त्रियः ॥ ३९ ।

भ्रूणहा श्रेष्ठब्राह्मणहन्ता । गर्भस्थब्राह्मणबालहन्तेति वा । वृषली शूद्री ॥ ३४ ।
पश्चाद्रजोदर्शनस्यार्वाक् पूर्वमित्यर्थः ॥ ३६ ।

पूर्वं स्त्रिय इति । भुक्ता विवाहानन्तरं क्रमेण त्रिषु दिवसेषु । तथा च श्रुतिः—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ॥ इत्यादि ॥ ३८ ।

पिता के गृह में जो कन्या विना विवाह के ही रजस्वला हो जावे, तो उसके पिता को भ्रूणहत्या का पाप लगता है। साथ ही वह कन्या भी वृषली (शूद्रा) हो जाती है ॥ ३४ ।

जो कोई मोहवश उस कन्या से विवाह कर लेता है, वह वृषलीपति हो जाता है। उसके साथ सम्भाषण और पंक्तिभोजन कदापि न करना चाहिए ॥ ३५ ।

कन्या और वर दोनों का ही दोष जानकर तब उसके पीछे सम्बन्ध-रचना करे, नहीं तो पिता ही दोषभागी होता है ॥ ३६ ।

स्त्रियाँ सर्वदैव पवित्र रहती हैं, इनको कोई भी दूषित नहीं कर सकता; क्योंकि मास-मास में जो उनका रजोधर्म होता है, वही (उनके) पापों को दूर हटा देता है ॥ ३७ ।

स्त्रियों को पहले अग्नि, चन्द्र और गन्धर्व भोग कर लेते हैं, तब उनके पीछे मनुष्य भोग करते हैं: परन्तु इन सबको कोई दूषित नहीं कर सकता ॥ ३८ ।

सोम ने स्त्रियों को शुचिता, अग्नि ने सर्वमेध्यता और गन्धर्वों ने कल्याण-वाणी दी है। इसी से वे सदा पवित्र रहती हैं ॥ ३९ ।

कन्यां भुङ्क्ते रजःकालेऽग्निः शशी लोमदर्शने ।
स्तनोद्भेदेषु गन्धर्वास्तत्प्रागेव प्रदीयते ॥ ४० ।
दृश्यरोमा त्वपत्यघ्नी कुलघ्न्युद्गतयौवना ।
पितृघ्न्याविष्कृतरजास्ततस्ताः परिवर्जयेत् ॥ ४१ ।
कन्यादानफलप्रेप्सुस्तस्माद्दद्यादनग्निकाम् ।
अन्यथा न फलं दातुः प्रतिग्राही पतेदधः ॥ ४२ ।
कन्यामभुक्तां सोमाद्यैर्ददद्दानफलं लभेत् ।
देवभुक्तां ददद्दाता न स्वर्गमधिगच्छति ॥ ४३ ।
शयनासनयानानि कुणपं स्त्रीमुखं कुशाः ।
यज्ञपात्राणि सर्वाणि न दुष्यन्ति बुधाः क्वचित् ॥ ४४ ।
वत्सः प्रस्रवणे मेध्यः शकुनिः फलपातने ।
नार्यो रतिप्रयोगेषु श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ ४५ ।

अनग्निकां अग्न्यादिनाऽभुक्तां रज आदिकाल इत्यर्थः । कन्यां भुङ्क्ते रजःकाल इति पूर्वमुक्तेः ॥ ४२ ।

कुणपं कुणपशब्देन खड्गपात्रादि । स्त्रीमुखं भोगकाले । तथा च मनुः— "नित्यमास्यं शुचिस्त्रीणाम्" इति । न दुष्यन्ति न दूषयन्ति दुष्टबुद्ध्या न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ।

रज के समय अग्नि, रोम निकलती वेला चन्द्रमा और स्तन के उद्भेदकाल में गन्धर्व लोग कन्या का भोग करते हैं। अतएव उसके पूर्व ही उसका दान कर दिया जाता है ॥ ४० ।

रोमदर्शन काल में (विवाह होने से स्त्री) सन्ताननाशिनी और यौवन फूटने पर कुलघातिनी, एवं रज प्रकट हो जाने से पिता की मृत्युकारिणी होती है। इस कारण से उन सब का परित्याग करे ॥ ४१ ।

इसीलिए कन्यादान के फल का अभिलाषी जन रजोदर्शन के पूर्व ही उसे दान कर डाले। नहीं तो दाता को कुछ फल नहीं होता। कन्यादान लेने वाला भी अधःपतित होता है ॥ ४२ ।

चन्द्रादि देवताओं के भोग करने के पूर्व ही कन्यादान कर देने से (उसका) फल होता है और देवभुक्ता कन्या को दान कर दाता स्वर्ग को नहीं जा सकता ॥ ४३ ।

पण्डितगण शय्या, आसन, सवारी (वाहन), कम्बल, स्त्री का मुख, कुश और समस्त यज्ञपात्रों को कभी दूषित नहीं कहते ॥ ४४ ।

गौ के दुहने में बछवा, फल के काट गिराने में पक्षी, रतिकाल में सब स्त्री और मृग पकड़ने में कुत्ता का मुख पवित्र रहता है ॥ ४५ ।

अजाऽश्वयोर्मुखं मेध्यं गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः ।
पादतो ब्राह्मणा मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः ॥ ४६ ।
बलात्कारोपभुक्ता वा चोरहस्तगताऽपि वा ।
न त्याज्या दयिता नारी नाऽस्यास्त्यागो विधीयते ॥ ४७ ।
आम्लेन ताम्रशुद्धिः स्याच्छुद्धिः कांसस्य भस्मना ।
संशुद्धी रजसा नार्यास्तटिन्या वेगतः शुचिः ॥ ४८ ।
मनसापि हि यानेह चिन्तयेत्पुरुषान्तरम् ।
सोमया सह सौख्यानि भुङ्क्ते चात्रापि कीर्तिभाक् ॥ ४९ ।
पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ ५० ।
अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।
स्वयं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ॥ ५१ ।

त्यागो न विधीयते । पोषणावेक्षणे कार्ये इति भावः । यथा श्रुतेऽर्थे गृह्यमाणे रावणहस्तगताया बलात्कारोपभोगशङ्किताया लक्ष्म्या विष्णुना त्यागायोगात् ॥ ४७ ।

रजसा संशुद्धिर्मनोव्यभिचारे सतीत्यर्थः । यथाश्रुतमिति तैर्भुक्तास्तत्र रजसा स्त्री मनो दुष्टेति याज्ञवल्क्यवचनविरोधात् । शुचिः शुचित्वम् । तटिनीति वा पाठः ॥ ४८ ।

उमया पार्वत्या । चकारो भिन्नक्रमे । अत्रापि चेत्यर्थः ॥ ४९ ।

सकुल्यः समानकुलोत्पन्नः प्रकृतिस्थः स्वभावस्थः ॥ ५० ।

बकरा और घोड़ा का मुख, गौओं का पृष्ठभाग, ब्राह्मणों का चरण और स्त्रियों का सर्वांग शुद्ध होता है ॥ ४६ ।

बलात्कारपूर्वक भोग करने अथवा चोर के हस्तगत हो जाने से दयिता नारी का त्याग नहीं कर देना चाहिए, न इसके छोड़ देने को कोई विधि है ॥ ४७ ।

खटाई से ताम्रपात्र, राखी से काँसे के बर्तन, रजोधर्म से स्त्री और (प्रवाह के) वेग से नदी की शुद्धि हो जाती है ॥ ४८ ।

जो स्त्री संसार में मन से भी परपुरुष का चिन्तन नहीं करती, वह इस लोक में कीर्तिभागिनी और परलोक में पार्वती देवी के साथ सुखों को भोगती है ॥ ४९ ।

पिता, पितामह (आजा), भ्राता, सकुल्य और माता—ये सब एक के न होने पर दूसरे कन्यादान के अधिकारी होते हैं ॥ ५० ।

दान न कर देने से प्रतिऋतुकाल में भ्रूणहत्या का पातक लगता है । यदि कोई भी दान करनेवाला न होवे, तो कन्या आप ही स्वयंवर करे ॥ ५१ ।

हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ।
परिभूतामधःशय्यां वासयेद् व्यभिचारिणीम् ॥ ५२ ॥
व्यभिचाराद्दृतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।
गर्भभर्तृवधादौ तु महत्यपि च कल्मषे ॥ ५३ ॥
शूद्रस्य भार्या शूद्रैव सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञस्तु ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ ५४ ॥
आरोप्य शूद्रां शयने विप्रो गच्छेदधोगतिम् ।
उत्पाद्य पुत्रं शूद्रायां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ ५५ ॥
दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
देवाद्यास्तन्न चाश्नन्ति स च स्वर्गं न गच्छति ॥ ५६ ॥

परिभूतां तिरस्कृताम् । अधःशय्यां शय्याया बहिः ॥ ५२ ।

व्यभिचारान्मानसव्यभिचारात् । महति कल्मषे महापातके ॥ ५३ ।

शूद्रस्येति शूद्रैव भार्या भवति न तूत्कृष्टा वैश्यादयस्तिस्रः । विशो वैश्यस्य शूद्रा वैश्या च भार्या मन्वादिभिः स्मृतेः । क्षत्रियस्य वैश्याशूद्रे क्षत्रिया च । ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वैश्या शूद्रा ब्राह्मणी च ॥ ५४ ।

आरोप्य शूद्रामिति । सवर्णामपरिणीय दैवाच्छूद्रां परिणेतुर्ब्राह्मणस्य गमननिषेधोऽयम् । जनयित्वा सुतं तस्यामिति ऋतुकालनिषेधपरम् । ब्राह्मण्यादेव हीयत इति दोषभूयस्त्वार्थम् । दैवेति । यदि कथञ्चित् सवर्णोत्क्रमणेन वा शूद्रा परिणीयते तदा भार्यात्वेन प्रसक्तानि तत्कर्तृकाणि देवादीत्यनेन निषिध्यन्ते । दैवं होमादि । पित्र्यं श्राद्धादि । आतिथेयमतिथिभोजनादिव्रतानि यस्य शूद्रासम्पाद्यानि तद्धव्यं कव्यं पितृदेवा नाश्नन्ति, न च तेनातिथ्येन स गृही स्वर्गं याति ॥ ५५-५६ ।

यदि स्त्री व्यभिचारिणी हो तो सब अधिकार छीन, मैला कपड़ा पहनाकर पिण्डमात्र जीने खाने को देकर, घृणितरूप से शय्या के नीचे वास करावे ॥ ५२ ।

ऋतु होने पर व्यभिचार से शुद्ध हो जाती है; परन्तु (अन्य से) गर्भधारण, गर्भपात और भर्तृवधादिक बड़े पाप करने पर परित्याग ही कर दिया जाता है ॥ ५३ ।

शूद्र केवल शूद्रा से, वैश्य वैश्या और शूद्रा से, क्षत्रिय क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा से, एवं ब्राह्मण ब्राह्मणी और उन तीनों जातियों की कन्या से विवाह कर सकता है ॥ ५४ ।

ब्राह्मण शूद्रा को शय्या पर चढ़ाकर अधोगति को प्राप्त होता है और उसके गर्भ में पुत्र का उत्पादन करने से तो अपने ब्राह्मणत्व को ही खो बैठता है ॥ ५५ ।

जिसका होम, श्राद्ध और आतिथ्यसत्कार, उसी (शूद्रा) की ही प्रधानता से होता है, देवता, पितर और अतिथिगण उसका अन्न नहीं भोजन करते हैं और न वह स्वर्ग ही प्राप्त कर सकता है ॥ ५६ ।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
कृत्याभिर्निहतानीव नश्येयुस्तान्यसंशयम् ॥ ५७ ।
तदभ्यर्च्याः सुवासिन्यो भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५८ ।
यत्र नार्यः प्रमुदिता भूषणाच्छादनाशनैः ।
रमन्ते देवतास्तत्र स्युस्तत्र सफलाः क्रियाः ॥ ५९ ।
यत्र तुष्यति भर्त्रा स्त्री स्त्रिया भर्ता च तुष्यति ।
तत्र वेश्मनि कल्याणं सम्पद्येत पदे पदे ॥ ६० ।
अहुतं च हुतं चैव प्रहुतं प्राशितं तथा ।
ब्राह्मं हुतं[1] पञ्चमं च पञ्च यज्ञा इमे शुभाः ॥ ६१ ।

जामय इति यानि गेहानि जामयो ज्ञातिभार्या भगिनी पत्नी दुहितृस्नुषादया अपूजिताः सत्योऽभिशपन्ति, इदमनिष्टमेषामस्त्विति, तान्यभिचारहतानीव धनपश्वादि-सहितानि नश्यन्ति यस्मात् ॥ ५७ ।

तदभ्यर्च्या इति । तत्तस्मात् सत्कारेषु कौतुकादिषु उत्सवेषूपनयनादिष्वाभ्यु-दयिकेषु सुवासिन्यो जामयः सदा पूजनीयाइति ॥ ५८ ।

यत्रेति । भर्त्रा स्त्रीति हेतौ तृतीया । यत्र वेश्मनि भार्या स्वामिना प्रीता भवति, कलहादिकं न करोति, भार्यया च भर्ता प्रीतो भवति, स्त्र्यन्तराऽभिलाषं न करोति, तस्मिन् गृहे क्षणे क्षणे कल्याणं सम्पद्यते । गृहग्रहणान्न केवलं भार्यापती; किन्तु तद्गेहे पुत्रपौत्रादिसन्ततिरपि श्रेयोभागिनी भवतीत्यर्थः ॥ ६०-६१ ।

जिन घरों में भगिनी इत्यादि कुलस्त्रियाँ आदर न पाकर शाप देती हैं, वे सब धन, पशु इत्यादि के सहित अवश्य ही ध्वंस हो जाते हैं ॥ ५७ ।

अतएव सम्पत्ति चाहने वालों को सुवासिनियों का भोजन, वस्त्र और भूषणादि के द्वारा अवश्यमेव उत्सव तथा मांगलिक कार्यों में पूजन करना चाहिए ॥ ५८ ।

जहाँ पर स्त्रियाँ भोजन, वस्त्र और भूषणों से प्रसन्न रहती हैं, वहाँ पर देवता लोग विहार करते हैं और सभी क्रियाकलाप सफल होते हैं ॥ ५९ ।

जिस गृह में भर्ता से स्त्री और स्त्री से भर्ता सन्तुष्ट रहता है, वहाँ पद-पद में कल्याण ही होता है ॥ ६० ।

(१) अहुत, (२) हुत, (३) प्रहुत, (४) प्राशित और (५) ब्राह्महुत—ये पाँचों यज्ञ शुभ हैं ॥ ६१ ।

---

१. हुतं च सर्वत्रेति क्वचित्पाठः ।

जपो हुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
प्राशितं पितृसन्तृप्तिर्हुतं ब्राह्मं द्विजार्चनम् ॥ ६२ ।
पञ्च यज्ञानिमान् कुर्वन् ब्राह्मणो नाऽवसीदति ।
एतेषामननुष्ठानात् पञ्चसूना अवाप्नुयात् ॥ ६३ ।
ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेद् बाहुजातमनामयम् ॥
वैश्यं सुखं समागम्य शूद्रं सन्तोषमेव च ॥ ६४ ।
जातमात्रः शिशुस्तावद्यावदष्टौ समाः स्मृताः ।
भक्ष्याऽभक्ष्येषु नो दुष्येद्यावन्नैवोपनीयते ॥ ६५ ।
भरणं पोष्यवर्गस्य दृष्टादृष्टफलोदयम् ।
प्रत्यवायो ह्यभरणे भर्तव्यस्तत्प्रयत्नतः ॥ ६६ ।
माता पिता गुरुः पत्नी त्वपत्यानि समाश्रिताः ।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्गा अमी नव ॥ ६७ ।

अहुतं चेति श्लोकं व्याचष्टे । जपोऽहुत इति । अहुतशब्देन ब्रह्मयज्ञाख्यो जप उच्यते । हुतशब्देन देवयज्ञाख्यो होमः । प्रहुतशब्देन भूतयज्ञाख्यो बलिः । ब्राह्महुतशब्देन मनुष्ययज्ञाख्या ब्राह्मणस्याऽर्चा । प्राशितशब्देन पितृयज्ञाख्यं नित्यश्राद्धम् ॥ ६२ ।

एतेषां पञ्चयज्ञानाम् । एतस्या इति पाठे पञ्चेष्टेरित्यर्थः । पञ्चसूनाः पञ्चानां हिंसाः वधानित्यर्थः ॥ ६३-६४ ।

जप का नाम अहुत, होम का नाम हुत, भूतबलि का नाम प्रहुत, पितृतर्पण का नाम प्राशित और ब्राह्मणपूजन का नाम ब्राह्महुत कहा गया है ॥ ६२ ।

इन पांचों यज्ञों के करते रहने से ब्राह्मण विनष्ट नहीं होता; परन्तु (हाँ) इन सब का अनुष्ठान न करे, तो पंचसूना का दोष उसे लगता है ॥ ६३ ।

(उसके यहाँ जावे अथवा वह जब अपने यहाँ आवे तब) ब्राह्मण से कुशल, क्षत्रिय से नीरोगता, वैश्य से सुख और शूद्र से सन्तोष, पूँछना चाहिए ॥ ६४ ।

उत्पन्न होने से लेकर आठ वर्ष तक शिशु कहा जाता है । अत: जब तक यज्ञोपवीत न हो जावे, तब तक भक्ष्याभक्ष्य का दोष नहीं होता ॥ ६५ ।

पालन योग्य लोगों का भरण-पोषण करने से दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार का फल मिलता है । अतएव उद्योग करके उन सब का प्रतिपालन करे, नहीं तो दोष होता है ॥ ६६ ।

माता, पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, आश्रित दासगण, अभ्यागत, अतिथि और अग्नि—ये नवों पोष्यवर्ग में गिने जाते हैं ॥ ६७ ।

स जीवति पुमान्योऽत्र बहुभिश्चोपजीव्यते ।
जीवन्मृतोऽथ विज्ञेयः पुरुषः स्वोदरम्भरिः ।। ६८ ।
दीनानाथविशिष्टेभ्यो दातव्यं भूतिकाम्यया ।
अदत्तदाना जायन्ते परभाग्योपजीविनः ।। ६९ ।
विभागशीलसंयुक्तो दयावांश्च क्षमायुतः ।
देवताऽतिथिभक्तस्तु गृहस्थो धार्मिकः स्मृतः ।। ७० ।
शर्वरीमध्ययामौ यौ हुतशेषं च यद्धविः ।
तत्र स्वपंस्तदश्नंश्च ब्राह्मणो नाऽवसीदति ।। ७१ ।
न वै तानि गृहस्थस्य कार्याण्यभ्यागते सदा ।
सुधाव्ययानि यत्सौम्यं वाक्यं चक्षुर्मनोमुखम् ।। ७२ ।

स्वोदरम्भरिः स्वीयोदरमात्रपूरकः ।। ६८ ।

परभाग्योपजीविनः परान्नाद्युपजीविन इत्यर्थः ।। ६९ ।

विभागो विभजनं शीलं सदाचारः सत्स्वभावो वा ताभ्यां संयुक्तः ।। ७० ।

सुधाव्ययानि सुधातुल्यान्यव्ययानि कुशलानीत्येकम् । यत्सौम्यम् इति वाक्यादीनां विशेषणम् ।। ७२ ।

संसार में वही पुरुष जीता है, जिसके आश्रय से बहुत लोगों का जीवन-निर्वाह होता है, नहीं तो उस मनुष्य को, जो कि केवल अपना ही पेट भरता है, जीते जी मृतक ही समझना चाहिए ।। ६८ ।

ऐश्वर्य पाने की कामना से दीन, अनाथ और विशिष्ट लोगों को कुछ देना चाहिए; क्योंकि जो दान नहीं करते, वे लोग परभाग्योपजीवी होकर जन्म लेते हैं ।। ६९ ।

जो गृहस्थ (घर में सब का उचित) विभाग करे, सुशील, दयावान् और क्षमाशील होवे, एवं देवता और अतिथि का भक्त हो, वही धार्मिक कहलाता है—

दोहा—करै विभाग सुशील हो, दया क्षमा उर राखि ।
देव अतिथि पूजै गृही, धार्मिक सो जग भाखि ।। ७० ।

जो ब्राह्मण रात्रि में मध्य के दोनों प्रहरों में ही शयन करता है और हुतशेष घृतादि वस्तु को भोजन करता है, उसका कदापि नाश नहीं होता ।। ७१ ।

यदि कोई गृह आ जावे, तो गृहस्थ को ये नौ काम अवश्य करने चाहिए—(१) सुधातुल्य कुशलप्रश्न, (२) मधुर वचन, (३) सौम्यदृष्टि, (४) स्थिरचित्त,

अभ्युत्थानमिहायात सस्नेहं पूर्वभाषणम् ।
उपासनमनुव्रज्या गृहस्थोन्नतिहेतवे ॥ ७३ ।
तथैषद्व्ययुक्तानि कार्याण्येतानि वै नव ।
आसनं पादशौचं च यथाशक्त्याशनं क्षितिः ॥ ७४ ।
शय्यातृणजलाभ्यक्तदीपा गार्हस्थ्यसिद्धिदाः ।
तथा नव विकर्माणि[1] त्याज्यानि गृहमेधिनाम् ॥ ७५ ।
पैशुन्यं परदाराश्च द्रोहः क्रोधानृताऽप्रियम् ।
द्वेषो दम्भश्च माया च स्वर्गमार्गार्गलानि हि ॥ ७६ ।
नवावश्यककर्माणि कार्याणि प्रतिवासरम् ।
स्नानं सन्ध्या जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम् ॥ ७७ ।

इहायात आगच्छतेति स्नेहपूर्वं भाषणमित्येकम् । उपासनं पादसंवाहनादि । गृहस्थानामुन्नतिहेतवे वृद्धिहेतवे ॥ ७३ ।

तथेति । एतानि वक्ष्यमाणानि । यथाशक्त्येति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ७४ ।

तृणस्योपयोगः शय्याया अधस्तादास्तरणेऽग्नितापने वेति ज्ञातव्यम् ॥ ७५ ।

पैशुन्यं क्रौर्यम् । द्रोहो हिंसा । क्रोधादीनां द्वन्द्वैक्यम् । द्वेषः परोत्कर्षाऽसहनम् । दम्भो धर्मध्वजित्वम् । माया कपटम् । स्वर्गमार्गार्गलानि स्वर्गमार्गनिषेधकानीत्यर्थः ॥ ७६ ।

नवेति । स्वाध्यायो वेदाध्ययनम् ॥ ७७ ।

---

(५) प्रसन्नमुख, अभ्युत्थान (उठकर खड़ा हो जाना), (६) यहाँ आइये, (७) स्नेहपूर्वक भाषण, (८) अपने समीप में बैठाना और (९) पीछे चलना, ये सब गृहस्थों की उन्नति के कारण हैं ॥ ७२-७३ ।

यों ही थोड़े ही व्यय में हो जाने वाले इन नौ कार्यों को भी यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिए—(१) आसन, (२) पैर धोने को जल, (३) जो बन पड़े भोजन कराना, (४) स्थान, (५) शय्या, (६) ईंधन, (७) पीने को जल, (८) तेल और (९) दीप (रोशनी)—इन सब से गृहस्थों की अभीष्टसिद्धि होती है। वह भी गृहस्थों के लिए उचित है कि निम्नोक्त नौ कुकर्मों का त्याग कर देवे ॥ ७४-७५ ।

(१) पिशुनता (क्रूरता-चुगुलखोरी), (२) परस्त्रीगमन, (३) वैर, (४) क्रोध, (५) असत्य, (६) अप्रियवचन, (७) डाह, (८) पाखण्ड और (९) कपट—ये सब स्वर्गद्वार के प्रतिबन्धक अगरी (अर्गला) के समान हैं ॥ ७६ ।

(ग्रहस्थ को) इन नौ आवश्यक कर्मों को प्रतिदिन करना चाहिए—(१) स्नान, (२) संध्या, (३) जप, (४) होम, (५) वेदपाठ, (६) देवपूजन, (७) (बलि) वैश्वदेव,

---

१. विकार्याणीति क्वचित्पाठः ।

वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यं नवमं पितृतर्पणम् ।
नव गोप्यानि यान्यत्र मुने तानि निशामय ॥ ७८ ॥
जन्मर्क्षं मैथुनं मन्त्रो गृहच्छिद्रं च वञ्चनम् ।
आयुर्धनाऽपमानं स्त्रो न प्रकाश्यानि सर्वथा ॥ ७९ ॥
नवैतानि प्रकाश्यानि रहःपापमकुत्सितम् ।
प्रायोग्यमृणशुद्धिश्च सान्वयः क्रयविक्रयौ ।
कन्यादानं गुणोत्कर्षो नान्यत्केनापि कुत्रचित् ॥ ८० ॥
पात्रमित्रविनीतेषु दीनाऽनाथोपकारिषु ।
मातापितृगुरुष्ट्वेतन्नवकं दत्तमक्षयम् ॥ ८१ ॥

जन्मर्क्षं जन्मनो नक्षत्रम् । धनं चापमानञ्चेति द्वन्द्वैक्यम् ॥ ७९ ।

अकुत्सितं [1]सध्रोचीनम् । प्रायोग्यं प्रयोगसम्बन्धि । ऋणशुद्धिरधमर्णस्थानि-त्वापाकरणमित्यर्थः ॥ ८० ।

पात्रेति । पात्रादिषु नवसु दत्तं यदेतन्नवकं नवसंख्यापरिमितं द्रव्यं तदक्षय-मित्यर्थः । यदि लवकमिति पाठः स्यात्तदाल्पमपीत्यर्थः ॥ ८१ ।

---

(८) अतिथिसत्कार और (९) पितृतर्पण । हे मुने ! अब उन नो को भी सुनो, जिन्हें गुप्त रखना चाहिए ॥ ७७-७८ ।

वे हैं—(१) जन्म का नक्षत्र, (२) मैथुन, (३) मन्त्र, (४) गृहच्छिद्र (घर का भेद), (५) वंचना, (६) आयु, (७) धन, (८) अपमान और (९) स्त्री—इन सबों को कदापि प्रकाशित न करे ॥ ७९ ।

इन नौ कर्मों को प्रकाशित करना चाहिए—(१) छिपा हुआ (गुप्त) पाप, (२) निष्कलंकता, (३) ऋणदान, (४) ऋणशुद्धि, (५) निज-वंश, (६) क्रय, (७) विक्रय, (८) कन्यादान और (९) गुण की बड़ाई—इनसे भिन्न और कुछ कहीं पर भी किसी से न कहे ॥ ८० ।

आगे बताए हुए 'नौ' को दान देने से अक्षय फल प्राप्त होता है—(१) सत्पात्र, (२) मित्र, (३) विनीत, (४) दीन, (५) अनाथ, (६) उपकारीजन, (७) माता, (८) पिता और (९) गुरु ॥ ८१ ।

---

१. समीचीनमित्यपि पाठः ।

निष्फलं नवसूत्सृष्टं चाटचारणतस्करे।
कुवैद्ये कितवे धूर्ते शठे मल्ले च वन्दिनि ॥ ८२ ।
आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि सर्वथा।
अन्वये सति सर्वस्वं दारांश्च शरणागतान् ॥ ८३ ।
न्यासाधी कुलवृत्ति च निक्षेपं स्त्रीधनं सुतम्।
यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्तैर्विशुद्धयति ॥ ८४ ।
एतन्नवानां नवकं ज्ञात्वा प्रियमवाप्नुयात्।
अन्यच्च नवकं वच्मि सर्वेषां स्वर्गमार्गदम् ॥ ८५ ।
सत्यं शौचमहिंसा च क्षान्तिर्दानं दया दमः।
अस्तेयमिन्द्रियाकोचः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ ८६ ।

निष्फलमिति। चाटो वाचालः, चारणः स्तुतिपाठकः, तस्करः चोरः, त्रयाणां द्वन्द्वेकवद्भावः। चाटचारणाभ्यां सहितस्तस्कर इति वा। कितवे वञ्चके। धूर्ते धृष्टे। शठे दुष्टे। वन्दिनि प्रस्तावसदृशोक्तावमलप्रज्ञे ॥ ८२ ।

आपत्स्विति। अन्वये सन्ततौ ॥ ८३ ।

आ समन्ताद्ध्रियत इत्याधिर्बन्धकः। न्यासश्चाधिश्चेति न्यासाधी। तत्र न्यासोऽल्पकालस्थायीनिक्षेपश्चिरस्थायीति भेदः ॥ ८४ ।

एतदिति। नवानां पूर्वोक्तानां मध्ये। प्रियं सुखम्। श्रियमिति क्वचित्पाठः ॥८५।

सत्यमिति। दम इन्द्रियनिग्रहः। कथञ्चिद् विषयेषु परापततामिन्द्रियाणां प्रत्याहरणमिन्द्रियाणामाकोचः प्रत्याहार इत्यर्थः ॥ ८६ ।

इस प्रकार इन नौ को देने से वह दान निष्फल होता है—(१) बतोलिया, (२) कथक, (३) चोर, (४) कुवैद्य, (५) वंचक, (६) धूर्त, (७) दुष्ट, (८) मल्ल (पहलवान) और (९) भाट ॥ ८२ ।

निम्नोक्त नौ वस्तुओं को अनेक आपत्तियाँ पड़ने पर भी वंश रहते कदापि नहीं देना चाहिए—(१) (अपना) सर्वस्व, (२) पत्नी, (३) शरणागत जन, (४) थाती, (५) बंधक का द्रव्य, (६) कुलवृत्ति, (७) धरोहर (जो किसी का रक्खा हो), (८) स्त्रियों का धन और (९) पुत्र। जो मूढ़ात्मा इन सबको दे डालता है, प्रायश्चित्त करने पर तब उसकी शुद्धि होती है ॥ ८३-८४ ।

जो कोई इन नौ नवकों को (अर्थात् एक्यासी बातों को) जान लेता है, उसे सुख प्राप्त होता है। एक और भी नवक कहता हूँ, जो सब किसी को स्वर्गमार्ग का देने वाला है ॥ ८५ ।

(१) सत्य, (२) शौच, (३) अहिंसा, (४) क्षमा, (५) दया, (६) दम, (७) अतस्करता, (८) विद्या (?) और (९) इन्द्रियगण का निग्रह—ये तो सभी के धर्मसाधन हैं ॥ ८६ ।

अभ्यस्य नवतिं चैतां स्वर्गमार्गप्रदीपिकाम् ।
सतामभिमतां पुण्यां गृहस्थो नाऽवसीदति ।। ८७ ।
जिह्वा भार्या सुतो भ्राता मित्रदाससमाश्रिताः ।
यस्यैते विनयाढ्याश्च तस्य सर्वत्र गौरवम् ।। ८८ ।
पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगृहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ।। ८९ ।
समर्घं धान्यमुद्धृत्य महर्घं यः प्रयच्छति ।
स हि वार्धुषिको नाम तस्यान्नं नैव भक्षयेत् ।। ९० ।
अग्रे माहिषिकं दृष्ट्वा मध्ये च वृषलीपतिम् ।
अन्ते वार्धुषिकं चैव निराशाः पितरो गताः ।। ९१ ।
महिषीत्युच्यते नारी या च स्याद्व्यभिचारिणी ।
तां दुष्टां कामयेद्यस्तु स वै माहिषिकः स्मृतः ।। ९२ ।

दशभिर्नवकैर्मिलित्वा नवतिम् ।। ८७ ।
समर्घमल्पमूल्यम् । महर्घं बहुमूल्यम् । उभयत्र यकारवान् पाठो दृश्यते ।। ९० ।
अग्र इति । अग्रे मध्ये अन्ते च दृष्ट्वेति सर्वेषां सम्बन्धः । श्राद्धे इति शेषः ।।९१।
स्वयमेव व्याचष्टे । महिषीतिद्वयेन । कामयते तस्या दूषणमनादृत्य तामुपगच्छतीत्यर्थः । यद्वा, कामयतेऽभिलाषमात्रं करोतीत्यर्थः ।। ९२ ।

जो गृहस्थ स्वर्गमार्गप्रकाशिनी (मसाल) सज्जनों की अभिमत और पवित्र इन नब्बे बातों का अभ्यास करता है, वह कभी नष्ट नहीं होता है ।। ८७ ।

जिस किसी की जिह्वा, भार्या, पुत्र, भ्राता, मित्र, सेवक और आश्रितजन—ये सब विनयशील होते हैं, उसका सर्वत्र ही गौरव होता है ।। ८८ ।

(मद्यादि का) पान, दुर्जन की संगति, पति का विरह, स्वेच्छाचारी भ्रमण करना, अन्य के घर में रहना, अथवा (रात्रि में) सोना—स्त्रियों के ये छहों दोष (व्यभिचार के कारण होते) हैं ।। ८९ ।

जो कि अल्पमूल्य (कम दाम = सस्ता) पर अन्न का क्रय करके फिर उसे बहुत मूल्य (ज्यादा दाम = महँगा) पर बेंचता है, उसका नाम वार्धुषिक है । ऐसे जन का अन्न न खावे ।। ९० ।

आगे माहिषिक, मध्य में वृषलीपति, और अन्त में वार्धुषिक को देख पितर लोग निराश होकर चल देते हैं ।। ९१ ।

व्यभिचारिणी स्त्री को महिषी (भैंस ?) कहा जाता है, और जो पुरुष उस दुष्टा से कामना करता है, वही माहिषिक कहलाता है ।। ९२ ।

स्ववृषं या परित्यज्य परवृषे वृषायते ।
वृषली सा हि विज्ञेया न शूद्री वृषली भवेत् ॥ ९३ ।
यावदुष्णं भवत्यन्नं यावन्मौनेन भुज्यते ।
तावदश्नन्ति पितरो यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ ९४ ।
विद्याविनयसम्पन्ने श्रोत्रिये गृहमागते ।
क्रीडन्त्यौषधयः सर्वा यास्यामः परमां गतिम् ॥ ९५ ।
भ्रष्टशौचव्रताचारे विप्रे वेदविवर्जिते ।
रोदित्यन्नं दीयमानं किं मया दुष्कृतं कृतम् ॥ ९६ ।
यस्य कोष्ठगतं चान्नं वेदाभ्यासेन जीर्यति ।
स तारयति दातारं दशपूर्वान् दशापरान् ॥ ९७ ।
न स्त्रीणां वपनं कार्यं न च गाः समनुव्रजेत् ।
न च रात्रौ वसेद् गोष्ठे न कुर्याद्वैदिकीं श्रुतिम् ॥ ९८ ।

---

[1]स्ववृषं स्वपतिम् । परवृषे परपतौ वृषायते परपतिं वाञ्छतीत्यर्थः । तथा च मनुः—"वृषस्यन्ती तु कामुकीति" ॥ ९३ ।

यस्येति । दशपूर्वान् दशापरान् दातुरिति शेषः ॥ ९७ ।

न स्त्रीणामिति । न च गाः समनुव्रजेद् गोरक्षणवृत्तिर्न भवेदित्यर्थः ॥ ९८ ।

अपने वृष (पति) को छोड़कर जो दूसरे वृष (पुरुष) से वरदाती है, उसी को वृषली कहते हैं। कुछ शूद्रों की ही स्त्री वृषली नहीं होतीं, अन्य भी वृषली होती हैं । ॥ ९३ ।

अन्न जब तक उष्ण रहे और मौन होकर भोजन किया जावे, एवं जब तक हवि (भोजन) का गुण इत्यादि न कहा जावे, तभी तक पितृगण भोजन करते हैं ॥९४।

विद्या और विनय से संपन्न श्रोत्रिय, यदि गृह पर आ जावे तो समस्त औषधियाँ (अन्नादिक) इसलिये परमानन्दित होती हैं कि, हम सब परमगति को प्राप्त हो जावेंगी ॥ ९५ ।

इसी प्रकार शौच और व्रताचार से भ्रष्ट, और वेदवर्जित ब्राह्मण के आने पर दान किया जाता हुआ अन्न यह (कहकर) रोता है कि, मैंने ऐसा कौन पाप किया (जो इसके पेट में जा रहा हूँ) ? ॥ ९६ ।

अन्न जिसके उदर (कोठा) में जाकर वेदाभ्यास के परिश्रम से पकता है, वह दाता के दश-पुरुष ऊपर और दश-पुरुष नीचे तार देता है ॥ ९७ ।

स्त्रियों का सर्वमुण्डन नहीं करना चाहिए। गोरू का अनुगमन न करे (हल न जोते)। रात्रि के समय गोशाला में न रहे और न वेदमन्त्रों को सुने ॥ ९८ ।

---

१. पुस्तकान्तरे स्ववृषं स्वपतिं स्वशुक्रं वा परवृषे परपतौ परकीये वा वृषायते परपुरुषं तद्रेतो वा वाञ्छतीत्यर्थं इति पाठः ।

सर्वान् केशान् समुद्धृत्य च्छेदयेदङ्गुलद्वयम् ।
एवमेव तु नारोणां शिरसो मुण्डनं भवेत् ॥ ९९ ।
राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः ।
अकारयित्वा वपनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ १०० ।
केशानां रक्षणार्थाय द्विगुणं व्रतमादिशेत् ।
द्विगुणा दक्षिणा देया ब्राह्मणे वेदपारगे ॥ १०१ ।
योऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ।
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथा पाको हि स स्मृतः ॥ १०२ ।
दाराग्निहोत्रदीक्षां च कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १०३ ।

तर्हि किं नारीणां वपनं नास्त्येव तत्राह । सर्वानिति ॥ ९९ ।

राजा वेति । अधिराजेति पाठेऽधिराजपुत्रो महाराजपुत्रः । तान् वपनम् अकारयित्वा ॥ १०० ।

योऽगृहीत्वेत्यत्राकारप्रश्लेषः ॥ १०२ ।

दाराग्निहोत्रेति । अग्निहोत्रशब्दोऽयमग्निहोत्राद्याधानपरः । यः सोदर्ये ज्येष्ठ भ्रातरि अनूढेऽनग्निके च दारपरिग्रहणं श्रौतस्मार्ताऽग्निग्रहणं च कुरुते, स परिवेत्ता । पूर्वजो ज्येष्ठः परिवित्तिर्भवति ॥ १०३ ।

स्त्रियों के शिर का मुण्डन यों ही होता है कि, समस्त केशों को बटोर कर दो अंगुल कटवा देवे (और केश रहने देवे) ॥ ९९ ।

राजा हो वा राजपुत्र हो, अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण ही हो, (चाहे जो हो) जो कि मुण्डन न करावे, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ १०० ।

केश की रक्षा करने के लिये द्विगुण व्रत (प्रायश्चित्त) करे, और वेदपारंगत ब्राह्मण को दूनी दक्षिणा भी देनी उचित है ॥ १०१ ।

जो कोई विना विवाहाग्नि के ग्रहण किये ही अपने को गृहस्थ मानने लगे, उसका अन्न भोजन करने के योग्य नहीं होता; क्योंकि वह तो वृथा पाक कहा जाता है ॥ १०२ ।

(अनग्निक और अविवाहित) जेठे भाई के वर्तमान रहते जो कोई विवाह और अग्निहोत्र की दीक्षा को कर लेता है, उसे परिवेत्ता और उसके बड़े भाई को परिवित्ति समझना चाहिए ॥ १०३ ।

परिवृत्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १०४।
क्लीबे देशान्तरस्थे च मूके प्रव्रजिते जडे।
कुब्जे सर्वे च पतिते न दोषः परिवेदने ॥ १०५।
वेदाक्षराणि यावन्ति नियुञ्ज्यादर्थकारणे।
तावतीर्वै भ्रूणहत्या वेदविक्रयकृल्लभेत् ॥ १०६।
यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा सेवते मैथुनं पुनः।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥ १०७।
शूद्रान्नं शूद्रसम्पर्कः शूद्रेण च सहासनम्।
शूद्राद् विद्यागमः कश्चिज्ज्वलन्तमपि पातयेत् ॥ १०८।

प्रसङ्गात् परिवेदनसम्बन्धिनां पञ्चानामप्यनिष्टं फलमाह। **परिवित्तिरिति।** परिवित्तिः परिवेत्ता यया च कन्यया परिवेदनं क्रियते, सा कन्याप्रदाता याजकश्च तद्विवाहहोमकर्ता स पञ्चमो येषां ते सर्वे नरकं यान्ति ॥ १०४।

परिवेदने विवाहे ॥ १०५।

अर्थकारणेऽर्थादिप्राप्त्यर्थम् ॥ १०६।

प्रसङ्गात् स्त्रीलम्पटं भिक्षुं निन्दति। **यस्त्विति** ॥ १०७।

परिवेत्ता, परिवित्ति, जिस नारी का विवाह होवे, वह और उस कन्या का दाता एवं याजक (विवाह कराने वाला पुरोहित), ये सब पाँचों नरक में जाते हैं ॥ १०४।

(ज्येष्ठ भ्राता यदि) नपुंसक (हिजड़ा) हो, देशान्तरस्थ हो, गूँगा हो, संन्यासी हो, जड़ हो, कुबड़ा और बौना अथवा पतित होवे, तो ऐसे विवाह में कोई दोष नहीं है ॥ १०५।

जो कोई धन के लोभ से जितने वेद के अक्षरों का प्रयोग करता है, उस वेद के बेचने वालों को उतनी ही भ्रूणहत्या लगती है ॥ १०६।

जो पुरुष संन्यास ग्रहण करके फिर भी मैथुन का सेवन करता है, वह साठ सहस्र वर्षों तक विष्ठा में कृमि होकर रहता है ॥ १०७।

शूद्र का अन्न, शूद्र का सहवास, शूद्र के साथ एक आसन पर बैठना, अथवा शूद्र से कोई विद्या सीखना—ये सब (कर्म) ज्वलन्त ब्राह्मणों को भी पतित ही बना डालते हैं ॥ १०८।

शूद्रादाहृत्य निर्वापं ये पचन्त्यम्बुधा द्विजाः ।
ते यान्ति नरकं घोरं ब्रह्मतेजोविवर्जिताः ॥ १०९ ।
माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् ।
हस्तदत्तानि भुक्तानि दिनमेकमभोजनम् ॥ ११० ।
हस्तदत्ताश्च ये स्नेहा लवणं व्यञ्जनानि च ।
दातारं नोपतिष्ठन्ते भोक्ता भुङ्क्ते तु किल्बिषम् ॥ १११ ।
आयसेनैव पात्रेण यदन्नमुपदीयते ।
भोक्ता तद्विट्समं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ॥ ११२ ।
अङ्गुल्या दन्तकाष्ठं च प्रत्यक्षं लवणं च यत् ।
मृत्तिकाभक्षणं यच्च समं गोमांसभक्षणैः ॥ ११३ ।

शूद्रान्नमानीयते न निर्वापं पचन्ति । निरूप्यत इति निर्वापं चरुपुरोडाशादिकम् ॥ १०९ ।

विट्समं पुरीषतुल्यम् ॥ ११२ ।

अङ्गुल्या दन्तकाष्ठं केवलयाऽङ्गुल्यैव दन्तशोधनमित्यर्थः, तर्ज्जन्या वा—

शणशाकं मृतं मांसं करेण मथितं दधि ।
तर्जनी दन्तधावश्च सद्यो गोमांसभक्षणम् ॥ इति वचनात् ।

जो अज्ञानान्ध ब्राह्मण शूद्र से दान लेकर पकाते हैं, वे सब ब्रह्मतेज से भ्रष्ट होकर घोर नरक में जाते हैं ॥ १०९ ।

माक्षिक (मांछी की सहत), राब (ऊख का मीठा), साग, गोरस, लवण (नोन), और घृत, इन वस्तुओं को हाथ से देने पर भोजन कर लेवे तो एक दिन उपवास करे ॥ ११० ।

घृतादिक चिकने पदार्थ, लवण, व्यञ्जन, हाथ से न देवे, नहीं तो दाता को कुछ फल नहीं होता और भोक्ता भी पाप का ही भोजन करता है ॥ १११ ।

लोहे के बर्तन से जो अन्न दिया जाता है, उसका खानेवाला तो विष्ठा के समान भोजन करता है। परोसने वाला भी नरकगामी होता है ॥ ११२ ।

(तर्जनी) अँगुली से दन्तधावन, प्रत्यक्ष (केवल) लवण का भोजन, (जो किसी में मिला न हो) और मृत्तिका-भक्षण—ये सब (कर्म) गोमांस-भोजन के समान होते हैं ॥ ११३ ।

पानीयं पायसं भैक्षं घृतं लवणमेव च ।
हस्त दत्तं न गृह्णीयात्तुल्यं गोमांसभक्षणैः ॥ ११४ ।
अग्रतो निवसेन्मूर्खो दूरतश्च गुणान्वितः ।
गुणान्विताय दातव्यं नास्ति मूर्खे व्यतिक्रमः ॥ ११५ ।
ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति विप्रे वेदविवर्जिते ।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य न हि भस्मनि हूयते ॥ ११६ ।
सन्निकृष्टमधीयानं ब्राह्मणं यो व्यतिक्रमेत् ।
भोजने चैव दाने च दहेदासप्तमं कुलम् ॥ ११७ ।
गोरक्षकान् वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ ११८ ।

प्रत्यक्षलवणं केवललवणं चक्षुर्दृश्यलवणमिति केचित् । मृत्तिकाभक्षणमपक्वमृद्-भक्षणं सामान्यमृद्भक्षणं वा । मृत्तिकाया भक्षणमिति ॥ ११३ ।

अग्रतो निवसेदित्येतदेव हेतुत उपपादयति । ब्राह्मणेति ॥ ११६ ।

सन्निकृष्टमिति । च-एव-शब्दो भिन्नक्रमौ दहेदित्यस्यानन्तरं यथासंख्यं योजनीयौ ॥ ११७ ।

कारवः कटादि क्रियोपजीविनः । कुशीलवा बुद्ध्युपजीविनो मूल्यकर्मकारास्तान् कारुकुशीलवान् ॥ ११८ ।

जल, पायस (खीर), भिक्षा की वस्तु, घृत और लवण इन सबको हाथ से देने पर नहीं लेना चाहिए; क्योंकि वे सब गोमांस के तुल्य अभक्षणीय होते हैं ॥ ११४ ।

यदि कोई मूर्ख आगे रहे और गुणी पुरुष दूर पर हो तो, उस गुणवान् को ही देना उचित है । ऐसा करने से मूर्ख का कोई व्यतिक्रम नहीं होता ॥ ११५ ।

वेदज्ञानहीन ब्राह्मण का अतिक्रम करने से कोई दोष नहीं होता; क्योंकि प्रज्वलित अग्नि को छोड़कर कभी भस्म में हवन नहीं किया जाता ॥ ११६ ।

जो कोई समीप में ही (वेद का) अध्ययन करते हुए ब्राह्मण के भोजन अथवा दान के विषय में व्यतिक्रम करता है, उसका सात पुरुष (पीढ़ी) पर्यन्त वंश दग्ध हो जाता है ॥ ११७ ।

गोपालन, वाणिज्य, शिल्पजीवन, कत्थकी, सेवा, वार्धुषिक (सूदखोरी)—इन वृत्तियों के करने वाले ब्राह्मणों के साथ शूद्र के समान व्यवहार करे ॥ ११८ ।

देवद्रव्यविभागेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ११९ ॥
मा देहीति च यो ब्रूयाद् गवाग्निब्राह्मणेषु च ।
तिर्यग्योनिशतं गत्वा चाण्डालेष्वभिजायते ॥ १२० ॥
वाचा यच्च प्रतिज्ञातं कर्मणा नोपपादितम् ।
ऋणं तद्धर्मसंयुक्तमिहलोके परत्र च ॥ १२१ ॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
यज्ञशेषोऽमृतं भुक्तशेषं तु विघसं विदुः ॥ १२२ ॥
सव्यादंसात् परिभ्रष्टे नाभिदेशे व्यवस्थिते ।
वस्त्रे स एकवासास्तं दैवे पित्र्ये च वर्जयेत् ॥ १२३ ॥
यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन् स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव सर्वमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ १२४ ॥

देवेति विभागेन विभज्याग्रहणेन ॥ ११९ ।

मा देहीति । [1]गवाग्नीति छान्दसम् ॥ १२० ।

विघसाशीत्यर्धं स्वयं व्याचष्टे । यज्ञशेष इत्यर्धेन ॥ १२२ ।

देवधन के विभाग, ब्रह्मस्व के छीन लेने और ब्राह्मण के व्यतिक्रम करने से कुल बहुत शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है ॥ ११९ ।

गौ, ब्राह्मण और अग्नि के विषय में जो "मत दो" ऐसा कहे, वह जन सौ बार तिर्यक् योनि में जन्म लेकर चांडालों में उत्पन्न होता है ॥ १२० ।

बात से जिसकी प्रतिज्ञा करके कर्म के द्वारा उसे संपादन न करे, जो कहकर न करे, तो वह इस लोक और परलोक में जाने पर भी धर्मसंगत ऋण बना ही रहता है ॥ १२१ ।

यज्ञशेष अन्न को अमृत और (अतिथि) भोजन के शेष को विघस कहते हैं। (गृहस्थ को) नित्य (प्रति) अमृतभोजी और विघसाहारी होना चाहिए ॥ १२२ ।

जिसका वस्त्र बायें कंधे से गिरकर नाभि देश में आ रहे, उसे एक वस्त्र हो जाने से देवकर्म तथा पितृकर्म में छोड़ देना चाहिए ॥ १२३ ।

जो द्विजोत्तम स्नान करके जल से ही पितरों का तर्पण कर देता है, उसी से समस्त पितृयज्ञ (श्राद्धादि) क्रियाओं का फल उसे प्राप्त हो जाता है ॥ १२४ ।

---

१. व्यन्तस्य पूर्वनिपाताकरणात् ।

हस्तौ प्रक्षाल्य गण्डूषं यः पिबेद् भोजनोत्तरम् ।
दैवं पित्र्यं तथात्मानं त्रयं स उपघातयेत् ॥ १२५ ।
गणान्नं गणिकान्नं च यदन्नं ग्रामयाजके ।
स्त्रीणां प्रथमगर्भेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १२६ ।
पक्षे वा यदि वा मासे यस्य गेहेऽस्ति न द्विजः ।
भुक्त्वा दुरात्मानस्तस्य चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥ १२७ ।
सत्रिणां दीक्षितानां च यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
एतेषां सूतकं नास्ति ऋत्विजां कर्म कुर्वताम् ॥ १२८ ।
अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमेव विधीयते ॥ १२९ ।
चैत्यवृक्षं चितिं यूपं शिवनिर्माल्यभोजिनम् ।
वेदविक्रयिणं स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥ १३० ।

गणान्नं बहुभिरेकत्र बहुभिरेकत्र पक्वं भक्तम् । गणिकान्नं वेश्यान्नम् । स्त्रीणां प्रथमगर्भेषु सीमन्तोन्नयनादिषु ॥ १२६ ।

अजीर्णेऽभ्युदिते जाते ॥ १२९ ।

चैत्यवृक्षं ग्राम्यजनपूज्यं तरुम् । शिवनिर्माल्यभोजिनमिति बाणादिलिङ्ग व्यतिरेकेण बोद्धव्यम् ॥ १३० ।

भोजन करने के अनन्तर दोनों हाथों को धोकर जो कुल्ला का जल पी जावे, वह देवकर्म, पितृकर्म और अपने को भी नाश कर डालता है ॥ १२५ ।

गण (चन्दा) का अन्न, वेश्या का अन्न, ग्रामयाचक (पुरोहित) का अन्न, और स्त्रियों के गर्भाधानादि कर्मों में जो भोजन करे, उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिए ॥ १२६ ।

जिस (गृहस्थ) के घर में पक्ष अथवा मास के मध्य एक भी ब्राह्मण भोजन न करे, उस दुरात्मा का अन्न भोजन करने से भी (वही) चान्द्रायण व्रत करना चाहिए ॥ १२७ ।

यज्ञकर्ता (सदावर्त वाले), यज्ञ में दीक्षित, संन्यासी, ब्रह्मचारी और कर्मकारी ऋत्विज लोगों को सूतक नहीं लगता है ॥ १२८ ।

अजीर्ण का प्रकाश, वमन, क्षौरकर्म, मैथुन, दुःस्वप्नदर्शन और दुर्जन के स्पर्श होने पर स्नान आवश्यक कर्तव्य है ॥ १२९ ।

चैत्यवृक्ष (जो चिता के स्थान पर लगाया गया हो, चिता और श्मशान-यूप (जैसे सती या ब्रह्म इत्यादि का चौरा), एवं शिवनिर्माल्यभोजी और वेदविक्रयी जन को छूकर वस्त्र के सहित जल में प्रवेश करे (जो कपड़ा पहन रखा हो उसके सहित सचैल स्नान करना चाहिए) ॥ १३० ।

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ ।
स्वाध्याये भोजने पाने पादुके वै विसर्जयेत् ॥ १३१ ।
खलक्षेत्रगतं धान्यं कूपवापीषु यज्जलम् ।
अग्राह्यादपि तद्ग्राह्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥ १३२ ।
यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १३३ ।
यातुधानाः पिशाचाश्च राक्षसाः क्रूरकर्मिणः ।
हरन्ति रसमन्नस्य मण्डलेन विवर्जितम् ॥ १३४ ।
ब्रह्माद्याश्च सुराः सर्वे वसिष्ठाद्या महर्षयः ।
मण्डलं चोपजीवन्ति ततः कुर्वीत मण्डलम् ॥ १३५ ।
ब्राह्मणे चतुरस्रं स्यात्त्र्यस्रं वै बाहुजन्मनः ।
वर्तुलं च विशः प्रोक्तं शूद्रस्याभ्युक्षणं स्मृतम् ॥ १३६ ।

यातुधाना इति । मण्डलेन विवर्जितं भोजनं यदि स्यादिति शेषः । यद्वा मण्डलेन विवर्जितं यदन्नं तस्यान्नस्य रसं हरन्तीत्यर्थः ॥ १३४ ।

अग्नि रहने के गृह में, गौओं की शाला में, देवता और ब्राह्मण के समीप, वेदाध्ययन, भोजन और पान के समय पादुका (जूता-खराऊँ) को त्याग देना चाहिये ॥ १३१ ।

खेत-खलिहान का अन्न, कूँवा, बावली का जल और गोशाला (गोठे) का दूध, यह सब अग्राह्य लोगों से भी लिया जा सकता है ॥ १३२ ।

शिर बाँधकर, दक्षिणमुख हो, और जोड़ा (जूता) पहिनकर जो कुछ खाया जाता है, उसे राक्षस लोग ही भोजन कर जाते हैं ।

"टोपी देकर माथ पै, अरु दक्षिण मुँह बैठि ।
जूता पहिने खाय जो, सो राकस मुख पैठि" ॥ १३३ ।

विना मंडल किये दैत्य, पिशाच और राक्षसादिक क्रूरकर्मीगण (भोजन के) अन्न का रस हर ले जाते हैं ॥ १३४ ।

ब्रह्मा इत्यादि देवता और वसिष्ठ प्रभृति ऋषिगण मंडल का आश्रय करते हैं । अतएव (भोजन-के समय) मंडल करना चाहिए ॥ १३५ ।

ब्राह्मण को चौकोन, क्षत्रिय को त्रिकोण, वैश्य को गोला और शूद्र को अभ्युक्षण (छिरका हुआ) मंडल करना कहा गया है ॥ १३६ ।

नोत्संगे भोजनं कृत्वा नो पाणौ नैव कर्पटे ।
नासने न च शय्यायां भुञ्जीत न मलार्दितः ।। १३७ ।
धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः ।
क्रीडार्थमपि यद्ब्रूयुः स धर्मः परमः स्मृतः ।। १३८ ।
रात्रौ धानावदधियुतं धर्मकामो न भक्षयेत् ।
अश्नतो धर्महानिः स्याद्व्याधिभिश्चोपपीड्यते ।। १३९ ।
फाणितं गोरसं तोयं लवणं मधु काञ्जिकम् ।
हस्तेन ब्राह्मणो दत्वा कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत् ।। १४० ।
गन्धाभरणमाल्यानि यः प्रयच्छति धर्मवित् ।
स सुगन्धिः सदा हृष्टो यत्र यत्रोपजायते ।। १४१ ।
नीलीरक्तं तु यद्वस्त्रं दूरतः परिवर्जयेत् ।
स्त्रीणां क्रीडार्थसंयोगे शयनीये न दुष्यति ।। १४२ ।

धानावधियुतं लाजदधिभ्यां मिश्रितमन्नादोत्यर्थः ।। १३९ ।

फाणितं फेणीति प्रसिद्धम् । कञ्जिकैव काञ्जिका मधु च काञ्जिका च मधुकाञ्जिकमित्येकवद्भावः । यद्वा काञ्जिकं काञ्जिका सम्बन्धिद्रव्यान्तरं यदा यो ब्राह्मणो वा दद्यात्तदा स कृच्छ्रं चान्द्रायणं कुर्यादित्यर्थः ।। १४० ।

पलथी पर, हाथ ही पर, जीर्णशीर्ण में रखकर, आसन (बिछौना) पर रख, खटिया के ऊपर और मल से जब दूषित रहे, ऐसी स्थितियों में भोजन नहीं करना चाहिए ।। १३७ ।

धर्मशास्त्ररूपी रथ पर चढ़े और वेदरूपी खड्ग को धारण किये हुए ब्राह्मण लोग क्रीडार्थ भी जो कुछ कह देवें, वही परम धर्म कहलाता है ।। १३८ ।

धर्माभिलाषी जन रात्रि में दही के साथ कोई भूँजा दाना (लावा) न खावे, क्योंकि उसके भोजन करने से धर्म की हानि और व्याधियों से पीड़ा होती है ।। १३९ ।

जो ब्राह्मण राब, गोरस, जल, लवण, मधु और मट्ठा, हाथ से ही देता है उसे कृच्छ्र चान्द्रायण का व्रत करना चाहिए ।। १४० ।

जो धर्मज्ञ पुरुष, गन्ध, भूषण, मालादिक दान करता है, वह जन जिस-जिस योनि में जन्म लेता है, वहाँ पर सर्वदा हृष्ट और सुगंधयुक्त बना रहता है ।। १४१ ।

नील से रँगे हुए कपड़े को दूर से ही त्याग देवे; परन्तु स्त्रियों के क्रीडार्थ संयोग में और शय्या के बिछावन में उस नील से रँगे वस्त्र के प्रयोग में कोई दोष नहीं होता ।। १४२ ।

पालनाद्विक्रयाच्चैव तद्वृत्तेरुपजोवनात् ।
अपवित्रो भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति ॥ १४३ ।

स्नानं दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
वृथा तस्य महायज्ञा नीलीवासो बिभर्ति यः ॥ १४४ ।

नीलीरक्तं यदा वस्त्रं विप्रः स्वाङ्गेषु धारयेत् ।
तन्तुसन्ततिसंख्याके नरके स वसेद्ध्रुवम् ॥ १४५ ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ १४६ ।

नीलीरक्तेन वस्त्रेण यदन्नमुपकल्पयेत् ।
भोक्ता विष्ठासमं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ॥ १४७ ।

अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम् ।
वैश्यस्य चान्नमेवान्नं शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥ १४८ ।

पालनान्नील्या इत्यर्थात् । तद्वृत्तेर्नीलीक्रयणवृत्तेरित्यर्थः ॥ १४३ ।

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि । जप इति क्वचित् ॥ १४४ ।

नीली के पालन, विक्रय और उसी की वृत्ति से जोविका निर्वाह करने (गोदाम आदि चलाने) से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है। और फिर विना तीन कृच्छ्र-व्रत किये शुद्ध नहीं हो सकता ॥ १४३ ।

जो कोई नील का रँगा वस्त्र पहन कर स्नान, दान, तप, होम, वेदाध्ययन, पितृतर्पण और पाँचों महायज्ञ आदि कुछ भी करता है, तो उसका सब वृथा हो जाता है ॥ १४४ ।

जो ब्राह्मण नीली वस्त्र को अपने शरीर पर धारण करे, वह उस वस्त्र में जितने डोरे हों, उतने ही काल नरक में निश्चय वास करता है ॥ १४५ ।

(नीली वस्त्र पहिने तो) रात्रि-दिन उपवास करके पञ्चगव्य से ही शुद्ध होता है ॥ १४६ ।

नील से रँगे हुए वस्त्र को पहिन कर जो अन्न परोसा जावे, उसका भोजन करने वाला विष्ठा के समान खाता है और दाता नरक में जाता है ॥ १४७ ।

ब्राह्मण का अन्न अमृत, क्षत्रिय का अन्न पय (दूध), वैश्य का अन्न अन्न, और शूद्र का अन्न रुधिर कहलाता है ॥ १४८ ।

वैश्वदेवेन होमेन देवताभ्यर्चनैर्जपैः ।
अमृतं तेन विप्रान्नमृग्यजुःसामसंस्कृतम् ।। १४९ ।
व्यवहारानुरूपेण न्यायेन तु यदर्जनम् ।
क्षत्रियस्य पयस्तेन प्रजापालनतो भवेत् ।। १५० ।
प्रहरानड्वाहाद्यदन्नमुत्पाद्य यच्छति ।
सीतायज्ञविधानेन वैश्यान्नं तेन संस्कृतम् ।। १५१ ।
अज्ञानतिमिरान्धस्य मद्यपानरतस्य च ।
रुधिरं तेन शूद्रान्नं वेदमन्त्रविवर्जितम् ।। १५२ ।
न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरोत्तमः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह विनश्यति ।। १५३ ।

अमृतमिति । यतः ऋग्यजुः साम संस्कृतं विप्रान्नं तेन हेतुना च तदमृतमित्यन्वयः ॥ १४९ ।

व्यवहारेति । तेनार्जनेन क्षत्रियस्यान्नमिति शेषः । पयः पयोवत् पवित्रमित्यर्थः ॥ १५० ।

प्रहरमात्रमभिव्याप्य आ सम्यग्व्यवहारेण कर्षणार्थमानड्वाद्बद्धाद्वाहाद् बलीवर्दात् सीतालाङ्गलपद्धतिः तत्सम्बन्धियज्ञविधानेनान्नमुत्पादयतो यच्छति वैश्यस्तेत हेतुना तदन्नं संस्कृतं पवित्रमित्यर्थः ॥ १५१ ।

वैश्वदेवकर्म, होम, देवतापूजन, जप और ऋक् , यजु और सामवेदों के संस्कार से पवित्र होने के कारण ब्राह्मण का अन्न अमृत होता है ॥ १४९ ।

व्यवहार के अनुरूप, न्यायपूर्वक उपार्जित किया हुआ क्षत्रिय का अन्न प्रजापालन करने से पय (दूध) कहाता है ॥ १५० ।

प्रहर भर जोते हुए बैल से हल चलाना रूप यज्ञविधान से जो अन्न उत्पन्न कर के दान करता है, उस वैश्य का अन्न शुद्ध होने से अन्न कहा जाता है ॥ १५१ ।

अज्ञानरूप तिमिर से अन्ध और मद्यपान में तत्पर शूद्र का अन्न वेदमन्त्रों से वर्जित होने के ही कारण से रुधिर कहलाता है ॥ १५२ ।

नरोत्तम साधारण प्रयोजन में भी वृथा शपथ न करे; क्योंकि वृथा शपथ करने से उसका यह लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं ॥ १५३ ।

कामिनीषु विवाहे च गवां भुक्ते धनक्षये।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथैर्नास्ति पातकम् ॥ १५४ ।
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ १५५ ।
अग्निं वा हारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
स्पर्शयेत्पुत्रदाराणां शिरां स्येनं च वा पृथक् ॥ १५६ ।
न यमं यममित्याहुरात्मा वै यम उच्यते।
आत्मा संयमितो येन तं यमः किं करिष्यति ॥ १५७ ।
न निस्त्रिंशस्तथा तीक्ष्णः फणी वा दुरतिक्रमः।
रिपुर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथात्मा दुरधिष्ठितः ॥ १५८ ।
एकः क्षमावतां दोषो न द्वितीयः कथञ्चन।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ १५९ ।

एनं शूद्रम् ॥ १५६ ।

दुरधिष्ठितोऽवशः ॥ १५८ ।

स्त्रियों के विषय में, विवाह-कार्य में, गौओं के भोजन कर जाने के सम्बन्ध में, सर्वधन के क्षयकाल में और ब्राह्मण के उपकार-स्थल में, शपथ करने से पाप नहीं होता ॥ १५४ ।

ब्राह्मण को सत्य के प्रमाण से, क्षत्रिय को वाहन और आयुधों के स्पर्श से, वैश्य को गो, बीज और सुवर्ण के द्वारा और शूद्र को समस्त पातकों से शपथ कराना चाहिए ॥ १५५ ।

इसे (शूद्र को) अग्नि का अङ्गार लिलावे वा जल में डुबोये (निगलाना चाहिए, जल में डुबाना चाहिए) अथवा स्त्री-पुत्रादि का शिर पृथक्-पृथक् छुलाना चाहिए ॥१५६।

यमराज को यम नहीं कहते, यम तो आत्मा को ही कहा जाता है। जिस किसी ने इस आत्मा का संयम कर लिया है, उसका यम क्या कर सकता है ? ॥ १५७ ।

तेज तलवार, बड़ा विषधर सर्प अथवा नित्य प्रति क्रुद्ध (बिगड़ैल) शत्रु—ये सब वैसे भयदाता नहीं हैं, जैसा असंयत आत्मा भयप्रद होता है ॥ १५८ ।

क्षमाशील लोगों में एक ही दोष लगता है, दूसरा कदापि नहीं हो सकता कि लोग इस क्षमाशाली जन को असमर्थ समझने लगते हैं ॥ १५९ ।

न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चैव रम्यावसथप्रियस्य ।
न भोजनाच्छादनतत्परस्य न लोकवित्तग्रहणे रतस्य ॥ १६० ।
एकान्तशीलस्य सदैव तस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य ।
स्वाध्याययोगे गतमानसस्य मोक्षो ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य ॥ १६१ ।
क्वैकान्तशीलत्वमिहास्ति पुंसः क्व चेन्द्रियप्रीतिनिवृत्तिरस्ति ।
क्व योगयुक्तिः क्व च दैवतेज्या काश्यां विनैभिः सहजेन मुक्तिः ॥ १६२ ।
विश्वेश संशोलनमेव योगस्तपश्च विश्वेशपुरीनिवासः ।
व्रतानि दानं नियमा यमाश्च स्नानं द्युनद्यां यदुदग्वहायाम् ॥ १६३ ।

स्कन्द उवाच—

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपीह मुच्यते ॥ १६४ ।

वित्तग्रहणे धनादाने । चित्तग्रहण इति पाठे चित्तानुरञ्जन इत्यर्थः ॥ १६१ ।
न्यायेति । इह जगति जन्मनि वा मुच्यते । सत्त्वशुद्धिद्वारेणेत्यर्थः ॥ १६४ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ।

शब्दशास्त्रपरायण, शोभनीय गृह के प्रिय, भोजनाच्छादन में तत्पर और संसार में धनोपार्जन ही करने वाले जन का मोक्ष नहीं हो सकता ॥ १६० ।

जो एकान्त सेवन का प्रेमी, समस्त इन्द्रियों की प्रीति का निवर्तक, स्वाध्याय योग में दत्तचित्त और सर्वदा अहिंसक होता है, निःसन्देह उसी को मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १६१ ।

इस संसार में पुरुष की एकान्तशीलता कहाँ है ? और इन्द्रियों की प्रीति से निवृत्ति कहाँ होती है ? एवं योगयुक्ति और देवतार्चन विधि कहाँ बन पड़ती है ? तब (हाँ) इन सब के विना ही काशी में मुक्ति सहज ही मिल जाती है ॥ १६२ ।

विश्वेश्वर का सेवन ही योगाभ्यास और विश्वनाथ की काशीपुरी का निवास ही तपस्या एवं उत्तरवाहिनी गंगा का स्नान ही नियम, यम, दान और व्रत, सब कुछ है ॥ १६३ ।

स्कन्द बोले—

"जो न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करता है, तत्त्वज्ञान में निष्ठा रखता है, अतिथियों की सेवा में तत्पर रहता है, श्राद्ध करता है, और सत्यवचन बोलता है, वह गृहस्थ भी (काशी में) मुक्त हो जाता है ॥ १६४ ।

दीनान्धकृपणार्थिभ्यो दत्वाऽन्नानि विशेषतः ।
कृत्वा गार्ह्याणि कर्माणि गृहस्थः श्रेय आप्नुयात् ।। १६५ ।

इत्थमाचरतां पुंसां काशीप्राप्तिस्तु मोक्षकृत् ।
काशीनाथप्रसादेन काशी येन निषेविता ।। १६६ ।

स सर्वतीर्थसुस्नातः स सर्वक्रतुदीक्षितः ।
स दत्तसर्वदानस्तु काशी येन निषेविता ।। १६७ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गृहस्थधर्माख्यानं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।

(काशी में) गृहस्थ, दीन, अन्ध, कृपण और भिक्षुकों को विशेषतः अन्नदान करने से और गृहस्थोचित सब कर्मों के आचरण से मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है ।। १६५ ।

इस प्रकार के आचारनिष्ठ मनुष्यों के ऊपर काशीनाथ प्रसन्न रहते हैं और उन्हीं विश्वेश्वर के प्रसाद से काशी की प्राप्ति हो जाने पर मोक्ष भी हो जाता है ।। १६६ ।

जिस किसी ने इस काशी का सेवन किया, वह समस्त तीर्थों में स्नान, अशेष यज्ञों की दीक्षा और सर्वविध दानों को कर चुका ।। १६७ ।

दोहा—सब गृहस्थ के धर्महित, विधि-निषेधमय कर्म ।
वरने स्मृति के मर्म बहु, करिय यथामति धर्म ।। १ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे गृहस्थानां कर्तव्याकर्तव्यवर्णनं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।

●

अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

उषित्वैवं गृहे विप्रो द्वितीयादाश्रमात्परम् ।
वलीपलितसंयुक्तस्तृतीयाश्रममाविशेत् ॥ १ ॥
अपत्यापत्यमालोक्य ग्राम्याहारान् विसृज्य च ।
पत्नीं पुत्रेषु सन्त्यज्य पत्न्या वा वनमाविशेत् ॥ २ ॥
वसानश्चर्मचीराणि साग्निर्मुन्यन्नवर्तनः ।
जटी सायंप्रगेस्नायी श्मश्रुलोनखलोमभृत् ॥ ३ ॥

एकेनाधिकचत्वारिंशकेऽध्याये सुशोभने ।
उच्यन्ते विविधा योगा धर्माश्च यतिवानगाः ॥ १ ॥

क्रमप्राप्तान् वनस्थधर्मानाह । उषित्वैवमिति । वली त्वचः श्लथता पलितं जरसा शौक्ल्यम्, ताभ्यां युतः ॥ १ ॥

अपत्येति । वनवासमनिच्छन्तीं भार्यां पुत्रेषु समर्प्य इच्छन्त्या तु सह वनं गच्छेदित्यर्थः ॥ २ ॥

प्रगे प्रातः । स्नानद्वयं माध्याह्निकस्नानस्योपलक्षणम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमिति मनुवचनात् ॥ ३ ॥

(वानप्रस्थ और संन्यासियों के धर्म तथा योगाभ्यास का कीर्तन)

स्वामिकार्तिक ने कहा—

इस प्रकार से ब्राह्मण गृहस्थाश्रम के सदाचारों का प्रतिपालन करके जब अपने शरीर के चमड़े में सिकुड़न और मस्तक के केशों को पकता हुआ देखे, तब तृतीय वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लेवे ॥ १ ॥

गृहस्थ जब पुत्र को भी पुत्रवान् देख लेवे, तो अपनी पत्नी के रक्षणावेक्षण का भार पुत्रों पर ही धर कर, अथवा सपत्नीक ग्राम्य भोगों को छोड़ वन में चला जावे ॥ २ ॥

वहां पर चर्म का वस्त्र पहिनकर और मुनियों के अन्न (तिन्नी इत्यादि) से उसको अपना वर्ताव (जीवन-निर्वाह) करना चाहिए। प्रातःकाल और सन्ध्यासमय दोनों ही वेला स्नान करे और शिर की जटा और दाढ़ी रक्खे रहे एवं नख और लोमों को न कटावे ॥ ३ ॥

शाकमूलफलैर्वापि पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेद् भिक्षुकाऽतिथीन् ॥ ४ ।
अनादाता च दाता च दान्तः स्वाध्यायतत्परः ।
वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ॥ ५ ।
मुन्यन्नैः स्वयमानीतैः पुरोडाशांश्च निर्वपेत् ।
स्वयं कृतं च लवणं खादेत्स्नेहं फलोद्भवम् ॥ ६ ।
वर्जयेच्छेलुशिग्रू च कबकं पललं मधु ।
मुन्यन्नमाश्विने मासि त्यजेद्यत्पूर्वसञ्चितम् ॥ ७ ।
ग्राम्याणि फलमूलानि फालजान्नं च सन्त्यजेत् ।
दन्तोलूखलको वा स्यादश्मकुट्टोऽथवा भवेत् ॥ ८ ।

अनादाताऽगृहीता । गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारो वितानं तद्भवं वैतानिकम् ॥ ५ ।

मुन्यन्नैर्नीवारादिभिः ॥ ६ ।

शेलुशिग्रू शेलुश्च शिग्रुश्च शोभाञ्जनस्तौ । कबकं छत्राकम् । पललं मांसम् । शेलुकबकादीनां द्विजातिविषये पूर्वाध्याये निषेधे सत्यपि पुनर्निषेधः समप्रायश्चित्तविधानार्थः ॥ ७ ।

फालजान्नम् उत्सृष्टमपि फालकृष्टप्रदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि व्रीह्यादि संत्यजेन्नाद्यात् ॥ ८ ।

साग्निक रहकर, साग, मूल वा फलादिक से पञ्चयज्ञों को करता जावे और भिक्षुक और अतिथियों का जो कुछ जल, फल, मूल वा भिक्षा इत्यादि मिले, उसी से परितोष करे ॥ ४ ।

किसी का दान न लेवे, स्वयं जो बन पड़े, दे देवे । जितेन्द्रिय होकर वेदाध्ययन में तत्पर रहे एवं वैतानिक अग्निहोत्र (विवाह के अग्नि में) यथाविधि हवन करे ॥५।

अपने ही लाये हुए मुनियों के नीवारादि अन्न (वा फलादि) से पुरोडाश (बलिवैश्वदेव) कर देवे । अपना बनाया हुआ लवण और फलों से निकाला हुआ चिकना भोजन करे ॥ ६ ।

लिसोड़ा-सहेजन (बथुआ का साग), कुकुरमुत्ता (छत्ता), मांस और मधुर को त्याग दे । पूर्वसञ्चित जो कुछ मुन्यन्न (तिन्नी इत्यादि) हो, उसे छोड़ दे ॥ ७ ।

गांव में उत्पन्न हुए फल-मूलादिक और फार (हल के फल से) से उपजे हुए अन्न को न खावे । जो भोजन करे, उसे दांतों से ही कूंच डाले अथवा पत्थर से कूट लेवे (अर्थात् जांत का पीसा वा ओखरी का कूटा न खावे) ॥ ८ ।

सद्यः प्रक्षालको वा स्यादथवा माससञ्चयी ।
त्रिषड्द्वादशमासान्नफलमूलादिसंग्रही ॥ ९ ॥
नक्ताश्येकान्तराशी वा षष्ठकालाशनोऽपि वा ।
चान्द्रायणव्रती वा स्यात्पक्षभुग्वाऽथ मासभुक् ॥ १० ॥
वैखानसतस्थस्तु फलमूलाशनो[1]ऽपि वा ।
तपसा शोषयेद्देहं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् ॥ ११ ॥
अग्निमात्मनि चाधाय विचरेदनिकेतनः ।
भिक्षयेत्प्राणयात्रार्थं तापसान् वनवासिनः ॥ १२ ॥
ग्रामादानीय वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वसन् वने ।
इत्थं वनाश्रमी विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ १३ ॥

सद्यः प्रक्षालक एकाहमेव जीवनोचितमात्रसंग्राहक इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अशक्तं वैराग्यहीनं प्रत्याहाग्निमिति । श्रौतमग्निं वैखानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिना स्वात्मनि समारोप्यानिकेतनो लौकिकाग्निवद् गृहशून्यो विचरेत् । भिक्षयेदिति । तापसान् वानप्रस्थान् तदभावेऽन्यान् वा वनवासिनो गृहस्थान् द्विजान् ॥ १२ ॥

तदभावे ग्रामादानीय ग्राम्यस्याऽन्नस्याऽष्टौ ग्रासान् पर्णपुटेन शरावादिखण्डेन वा पाणिनैव वा गृहीत्वा वानप्रस्थो भुञ्जीत । तथा च मनुः—

एक ही दिन, एक ही मास, तीन मास, छः मास अथवा एक वर्ष के भोजन योग्य अन्न, फल वा मूलादिक का संग्रह करना उचित है ॥ ९ ॥

चाहे रात्रि में खावे, वा एक दिन का अन्तर देकर दूसरे दिन भोजन करे अथवा दिन के तीसरे पहर में आहार करे । एवं चान्द्रायणव्रत वा पक्षभोजन किंवा मासान्त भोजन करे ॥ १० ॥

वैखानस वृत्ति का अवलम्बन करके केवल फल वा मूल का आहार करता हुआ तपस्या से देह को सुखा देना चाहिए और देवता-पितरों का सन्तोष-साधन करना चाहिए ॥ ११ ॥

अग्नि को आत्मा में ही स्थापन करके विना गृह के घूमता रहे, एवं प्राणयात्रा के लिये तापस वा वनवासी द्विजों से भिक्षा ले लेवे ॥ १२ ॥

अथवा वन में ही वास करता हुआ ग्राम से माँग लाकर आठ कवर भोजन करे । इस प्रकार (के आचरण करने) से वानप्रस्थाश्रमी ब्राह्मण ब्रह्मलोक में भी पूजित होता है ॥ १३ ॥

---

१. शनोप्यथेति क्वचित्पाठः ।

अतिवाह्यायुषो भागं तृतीयमिति कानने ।
आयुषस्तु तुरीयांशे त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ १४ ।
ऋणत्रयमसंशोध्यस्त्वनुत्पाद्य सुतानपि ।
तथा यज्ञाननिष्ट्वा च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ १५ ।
मनागपि न भूतानां यस्मादुत्पद्यते भयम् ।
सर्वभूतानि तस्येह प्रयच्छन्त्यभयं सदा ॥ १६ ।

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहवासिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥
ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ इति ।

आश्रमधर्मानुष्ठानफलमाह । इत्थमिति । ब्रह्मलोके तपोलोके ॥ १३ ।

शक्तं विरक्तं प्रत्याहाऽतिवाह्येति । इत्येवं प्रकारेण ॥ १४ ।

आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रित्याह । ऋणत्रयमिति । ऋषिपितृदेवानां ऋणत्रयमसंशोध्य । एतदेव विवृण्वन् ऋणत्रयमेव दर्शयति । अनुत्पाद्येति । अपिशब्दाद्वेदाननधीत्य । तथा च मनुः—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ इति ।

एतदप्यसमंजसमेव ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदित्यादिश्रुतिविरोधात् । तथा च सुरेश्वरवार्तिकम्—"ब्रह्मचर्यादेवेत्यादिवाक्यानि शतशः श्रुतौ श्रूयन्ते तु ऋणवचोविरोधात् स्यादपस्मृतिः" इत्यादि । अथवैतदुभयं स्मृतिवाक्यमविरक्तपरम् ॥ १५-१६ ।

इसी विधान से जीवन का तृतीय भाग वन में बिताकर आयुष्य के चतुर्थांश लगते ही सर्वविध संगों को त्याग कर, संन्यास ग्रहण करे ॥ १४ ।

देवता, ऋषि और पितरों के तीनों ऋणों से यज्ञानुष्ठान (वेदाध्ययन) और पुत्रोत्पादन के द्वारा विना उद्धार पाये ही जो संन्यास धारण करना चाहता है, उसकी अधोगति होती है ॥ १५ ।

जो व्यक्ति संन्यास लेकर किसी भी प्राणी को भय नहीं उत्पन्न होने देता, समस्त जीवगण सदैव उसको अभयदान करते रहते हैं ॥ १६ ।

एक एव चरेन्नित्यमनग्निरनिकेतनः ।
सिद्ध्यर्थमसहायः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ १७ ।

जीवितं मरणं वाऽथ नाऽभिकाङ्क्षेत् क्वचिद्यतिः ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ १८ ।

सर्वत्र ममताशून्यः सर्वत्र समतायुतः ।
वृक्षमूलनिकेतश्च मुमुक्षुरिह शस्यते ॥ १९ ।

ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता ।
यतेश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते ॥ २० ।

वार्षिकांश्चतुरो मासान् विहरेन्न यतिः क्वचित् ।
बीजाङ्कुराणां जन्तूनां हिंसा तत्र यतो भवेत् ॥ २१ ।

अनग्निः लौकिकाग्निरहितः । शास्त्रीयाग्नित्यागस्य पूर्वमुक्तत्वात् । अनिकेतनो गृहशून्यः । सिद्ध्यर्थं मोक्षार्थमसहायः सहायशून्यः ॥ १७ ।

यतिः संन्यासी । यमीति पाठश्चिन्त्यः । प्रकृत्यन्तरं वा । किन्तु कालमेव स्वकर्माधीनं मरणकालमेव प्रतीक्षेत । निर्दिश्यत इति निर्देशो भृतिस्तत्परिशोधनकालमिव भृतकः कर्मकारः ॥ १८-१९ ।

संन्यासी को अग्नि और गृह से रहित होकर मोक्ष सिद्धि के लिये निःसहाय और अकेला ही रहकर सदा विचरण करना चाहिए। वह केवल भोजन के लिए ही ग्राम में जा सकता है ॥ १७ ।

संन्यासी को जीने अथवा मरने की कुछ भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। भृत्य जैसे स्वामी को आज्ञा की बाट जोहता रहता है, वैसे ही संन्यासी को केवल काल की ही प्रतीक्षा करती रहनी चाहिए ॥ १८ ।

लोक में जो संन्यासी सभी पर ममताशून्य और सर्वत्र ही समदर्शी एवं वृक्ष की जड़ पर पड़ा रहता है, वही मुमुक्षु प्रशंसित होता है ॥ १९ ।

ध्यान, शौच, भिक्षा और निर्जनस्थान में वास, इन चारों कर्मों को छोड़कर संन्यासी का पाँचवाँ कोई कर्म नहीं है ॥ २० ।

वर्षा-ऋतु के चारों मासों में संन्यासी कहीं भी गमन न करे; क्योंकि उस समय में गमनागमन करने से अनेक बीजों के अंकुर और जन्तुओं की हिंसा हो जाती है ॥ २१ ।

गच्छेत्परिहरन् जन्तून् पिबेत्कं वस्त्रशोधितम् ।
वाचं वदेदनुद्वेगां न क्रुध्येत्केनचित् क्वचित् ॥ २२ ।
चरेदात्मसहायश्च निरपेक्षो निराश्रयः ।
नित्यमध्यात्मनिरतो नीचकेशनखो वशी ॥ २३ ।
कुसुम्भवासा दण्डाढ्यो भिक्षाशी ख्यातिवर्जितः ।
अलाबुदारुमृद्वेणुपात्रं शस्तं न पञ्चमम् ॥ २४ ।
न ग्राह्यं तैजसं पात्रं भिक्षुकेन कदाचन ।
वराटके संगृहीते तत्र तत्र दिने दिने ॥ २५ ।
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ।
हृदि सस्नेहभावेन चेद्द्रक्षेत् स्त्रियमेकदा ॥ २६ ।

कं जलम् ॥ २२ ।

अध्यात्मरतो ब्रह्मध्यानपर इत्यर्थः । नीचकेशनखः असंस्कृतकेशनख इत्यर्थः ॥ २३ ।

कुसुम्भवासाः कुसुम्भाक्तवासाः । गैरिकाद्यक्तवस्त्रादेरुपलक्षणमेतत् । ख्यातिवर्जितः श्रैष्ठ्याख्यापकः । वेणुपात्रं वंशादिदलखण्डनिर्मितम् ॥ २४ ।

वराटके कपर्दमात्रे ॥ २५ ।

हृदि अन्तःकरणे स्नेहभावेन कामुकतया एकदाऽपि यो यतिः स्त्रियं द्रक्षेत् स संन्यासी कोटिद्वयब्रह्मकल्पं कुम्भीपाके नरकविशेषे पच्यत इति तथाविधस्तिष्ठतीति शेष इत्युत्तरेणाऽन्वयः । सस्नेहभावेन कामसहितेनाभिप्रायेणेति वा । कोटिद्वयं ब्राह्मकल्पमिति पाठे ब्राह्मकल्पं ब्रह्मकल्पभवं कोटिद्वयं युगानामिति शेषः ॥ २६ ।

संन्यासी को उचित है कि, जब मार्ग में चले तो पैर के नीचे जन्तुओं को (दबाने से) बचाता चले। वस्त्र से छान कर जल पीवे। घबराहट करने वाली बातों को न बोले और कहीं पर किसी से भी क्रोध (झगड़ा) न करे ॥ २२ ।

किसी की भी अपेक्षा न रख और नियत निवासरहित हो, केवल आत्मा ही को सहाय बना, जितेन्द्रियतापूर्वक केश और नखों को बढ़ाकर सर्वदैव ब्रह्मध्यान में वह तत्पर रहे ॥ २३ ।

संन्यासी कुसुम का रंगा हुआ वस्त्र पहने, दण्ड धारण किये रहे, केवल भिक्षा का अन्न भोजन करे ओर अपनी प्रसिद्धि न चाहे। तुंबा-काठ-मट्टी और बांस को छोड़कर पाँचवें अन्य किसी वस्तु का पात्र न ग्रहण करे ॥ २४ ।

भिक्षुक को कदापि धातु का पात्र नहीं ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई संन्यासी (होकर) कौड़ी भी ग्रहण करता है, तो उसे प्रतिदिन सहस्र गोवध करने का पाप लगता है। यह सनातन श्रुति है। एवं यदि कोई स्त्री को स्नेहभाव से पूर्ण

कोटिद्वयं ब्रह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः ।
एककालं चरेद् भैक्षं न कुर्यात्तत्र विस्तरम् ॥ २७ ।
विधूमे सन्नमुसले व्यंगारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं चरेद्यतिः ॥ २८ ।
अल्पाहारो रहःस्थायी त्विन्द्रियार्थेष्वलोलुपः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो भिक्षुर्मोक्षाय कल्पते ॥ २९ ।
आश्रमे तु यतिर्यस्य मुहूर्तमपि विश्रमेत् ।
किं तस्यानेकतन्त्रेण कृतकृत्यः स जायते ॥ ३० ।

एककालमिति । एककालमेकवारं प्राणधारणार्थं भैक्षं चरेत् । तत्रापि विस्तरं प्रचुरभिक्षाप्रसक्तिं न कुर्यात् । यतो बहुभक्षणे सक्तो यतिश्चरमधातुवृद्धयास्त्र्यादि-विषयेष्वपि प्रसज्जतीत्यर्थः । तथा च मनुः—

एककालं चरेद्भैक्षं प्रसज्जेत्तु न विस्तरे ।
भैक्षप्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ इति ।

अत्र त्वर्धपद्यमेव दृश्यते । एतत्तु कुटीचकबहूदकादिविषयम् । एकवारं द्विवारं वा भुञ्जीत परहंसकः । येन केन प्रकारेण ज्ञानाभ्यासो भवेत्सदेति वचनात् ॥ २७ ।

विधूम इति । विधूमे विगतपाकधूमे सन्नमुसले निवृत्तावहननकुट्टनदण्डे भुक्त-वज्जने गृहस्थपर्यन्ते जने भुक्तवति वृत्ते शरावसंपाते भोजनोच्छिष्टशरावे त्यक्ते सर्वदा यतिर्भिक्षां चरेत् । एतच्च दिनशेषमुहूर्तत्रयरूपसायाह्नोपलक्षणम् । तदाह याज्ञवल्क्यः – "अप्रसक्तश्चरेद् भैक्षं सायाह्नेनाभिसन्धितः" इति ॥ २८ ।

अनेकतन्त्रेणाऽनेकशास्त्रोक्तविधानेनेत्यर्थः ॥ ३० ।

होकर एकबार भी देख लेता है, तो दो करोड़ ब्रह्मकल्प भर वह कुम्भीपाक नरक में वास करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । संन्यासी को अहोरात्रि (दिन-रात) में केवल एक ही बार भोजन करना चाहिए । उसमें भी(वस्तु)विस्तार न करे ॥२५-२७ ।

जब कि गृहस्थ का घर (रसोई के) धूम से रहित, मुशल के शब्द से शून्य, (पाकयोग्य) अंगारों से हीन हो जावे और लोगों के भोजनोत्तर जूठे (कसोरे) फेंक दिये जावें, उस वेला (अर्थात् तीसरे पहर के अनन्तर) नित्य ही भिक्षा करे ॥ २८ ।

जो स्वल्पाहारी, एकान्तवासी, जितेन्द्रिय और रागद्वेषादि से रहित होता है, वही भिक्षुक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ॥ २९ ।

जिसके स्थान में यति क्षणमात्र भी विश्राम कर लेता है, तो फिर उसे और सब विधानों का कौन प्रयोजन है । वह तो (उसी से) कृतकृत्य हो जाता है ॥ ३० ।

सञ्चितयद् गृहस्थेन पापमामरणान्तिकम् ।
निर्धक्ष्यति हि तत्सर्वमेकरात्रोषितो यतिः ॥ ३१ ।
दृष्ट्वा जराभिभवनमसह्यं रोगपीडितम् ।
देहत्यागं पुनर्गर्भं गर्भक्लेशं च दारुणम् ॥ ३२ ।
नानायोनिनिवासं च वियोगं च प्रियैः सह ।
अप्रियैः सह संयोगमधर्माद्दुःखसम्भवम् ॥ ३३ ।
पुनर्निरयसंवासं नानानरकयातनाः ।
कर्मदोषसमुद्भूता नृणां गतिरनेकधा ॥ ३४ ।
देहेष्वनित्यतां दृष्ट्वा नित्यतां परमात्मनः ।
कुर्वीत मुक्तये यत्नं यत्र यत्राश्रमे रतः ॥ ३५ ।
करपात्रीति विख्याता भिक्षापात्रविवर्जिताः ।
तेषां शतगुणं पुण्यं भवत्येव दिने दिने ॥ ३६ ।

निर्धक्ष्यति भस्मसात्करिष्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ।

दृष्ट्वेत्यादि द्वितीयान्तपदानां दृष्ट्वा मुक्तये यत्नं कुर्वीतेत्यग्रिमेणाऽन्वयः ॥ ३२ ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण नृणामनेकधागति फलतो दृष्ट्वेत्यर्थः । गतीर्नृणामनेकधेति पाठश्चेत्तर्हि ऋजुरेवार्थः दृष्ट्वेतिपदस्यावृत्तिः सर्वत्रान्वयार्था ॥ ३४ ।

यों ही जिस गृहस्थ के घर में यति एक रात्रि मात्र वास करे, उसके आजन्म संचित पाप को भस्म कर देता है ॥ ३१ ।

चाहे किसी भी आश्रम में (क्यों न) हो; परन्तु देह में वार्धक्य का विकार, असहनीय रोगों की पीड़ा, मरण, पुनः गर्भ में प्रवेश, गर्भ के उत्कट क्लेश, अनेक योनियों में वास, प्रियजनों के साथ वियोग, अप्रियों के सहित संयोग, अधर्म से ही दुःखों की उत्पत्ति, फिर नरकनिवास, बहुत-सी नरकयातनाओं का भोग, (अपने-अपने) कर्मदोषों से हो उत्पन्न अनेक प्रकार की गति, एवं शरीर की अस्थिरता—इन सबको देख और एकमात्र परमात्मा ही की नित्यता को विचार कर मुक्ति के लिये उद्योग करते रहना चाहिए ॥ ३२-३५ ।

जो यती भिक्षा के पात्र को त्याग कर हाथ में ही भिक्षा लेते हैं (करपात्री बन जाते हैं), उन लोगों को दिन-दिन सो गुना पुण्य प्राप्त होता है ॥ ३६ ।

आश्रमांश्चतुरस्त्वेवं क्रमादासेव्य पण्डितः ।
निर्द्वन्द्वस्त्यक्तसङ्गश्च ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३७ ।
असंयतः कुबुद्धीनामात्मा बन्धाय कल्पते ।
धीमद्भिः संयतः सोऽपि पदं दद्यादनामयम् ॥ ३८ ।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां विद्योपनिषदस्तथा ।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित् ॥ ३९ ।
वेदानुवचनं ज्ञात्वा ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ ४० ।

प्रकृतमुपसंहरति । आश्रमानिति ॥ ३७ ।

असंयत इति । आत्मा आत्मोपाधिर्देहेन्द्रियादिसंघातः । धीमद्भिर्विवेकिभिः । संयतो वशीकृतः । पदं कैवल्यम् । अनामयं सर्वोपद्रवशून्यम् ॥ ३८ ।

श्रुतीति । श्रुतिस्मृत्यादीनि यानि स्वातन्त्र्यं यथा स्यादात्मनो ज्ञानहेतवो वर्तन्ते, तानि सर्वाणि ज्ञात्वा प्रसिद्ध आत्मा सर्वैराश्रमवर्तिभिः विजिज्ञास्यो विचारणीय इति तृतीयेनाऽन्वयः । यज्ञा[1] इति पाठे श्रुत्यादयो ये ज्ञानहेतवस्तैः सर्वैर्विजिज्ञास्य इत्यर्थः । तत्र विद्या उपासना । वाङ्मयं वात्स्यायनादिप्रणीतं शास्त्रम् अपि वात्स्यायनादीनां ब्रह्मण्येव समन्वय इति वचनात् ॥ ३९ ।

वेदानुवचनं वेदपाठः । वेदान्तवचनमिति पाठे उपनिषत्स्वेव कश्चिद्भाग विशेषः ॥ ४० ।

पंडितजन इसी प्रकार से क्रमपूर्वक चारों आश्रमों का सेवन कर अन्त में निर्द्वन्द्व और निःसंग होकर ब्रह्म के सायुज्य को प्राप्त करता है ॥ ३७ ।

कुबुद्धिलोगों के जो आत्मा संयमहीन होते हैं, उससे ही वे उनको माया-बंधन में डाल देती है। बुद्धिमानों के द्वारा वशीभूत हो जाने पर वही (आत्मा) समस्त उपद्रवों से रहित होकर मोक्षपद का दाता हो जाता है ॥ ३८ ।

श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र भाष्य और जो कुछ वाङ्मय शास्त्र तथा विद्याएँ हैं, एवं वेद के अनुवचन (आज्ञा) का ज्ञान, ब्रह्मचर्य, तप, दम, श्रद्धा, व्रत और स्वतन्त्रता (अर्थात् किसी में आसक्त न होना), ये सब आत्मज्ञान के ही कारण होते हैं ॥ ४० ।

---

१. चत्वारिंशे श्लोके ज्ञात्वेत्यत्र ।

स हि सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्मैवाश्रमवर्तिभिः ।
श्रोतव्यस्त्वथ मन्तव्यो द्रष्टव्यश्च प्रयत्नतः ॥ ४१ ।
आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगादृते न हि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिध्यति ॥ ४२ ।
नारण्यसंश्रयाद्योगो न नानाग्रन्थचिन्तनात् ।
न दानैर्न व्रतैर्वापि न तपोभिर्न वा मखैः ॥ ४३ ।
न च पद्मासनाद्योगो न वा घ्राणाग्रवीक्षणात् ।
न शौचेन न मौनेन न मन्त्राराधनैरपि ॥ ४४ ।
अभियोगात्सदाऽभ्यासात्तत्रैव च विनिश्चयात् ।
पुनः पुनरनिर्वेदात् सिद्धयद्योगो न चान्यथा ॥ ४५ ।

विचारमेव श्रवणपरं साङ्गं दर्शयन्नुपलक्षणत्वेनोपनिषदं दर्शयति । **श्रोतव्य इत्यर्धेन** । अस्याऽयमर्थः । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो दर्शनार्हो दर्शनविषयमापादयितव्यः । श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यत आगमतश्च । पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतस्ततो निदिध्यासितव्यो निश्चयेन ध्यातव्य इति ॥ ४१ ।

कलौ तत्त्वज्ञानसाधनानां योगादीनां दुःसम्पाद्यत्वान्मुक्त्येकसाधनस्याऽविमुक्ते देहत्यागस्याप्तये वाराणसी समाश्रयणीयेति वक्तुं ज्ञानसाधनभूतान् योगान् दर्शयति । **आत्मज्ञानेनेत्यारभ्यैकेन** जन्मनेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ४२ ।

व्यतिरेकमाह । **नारण्येति** ॥ ४३ ।

चिरं कालमभ्यासादिति विवृणोति । **अभियोगादिति** त्रयेण । अभियोगादध्यवसायात् । सदाभ्यासात्सदानुष्ठानात् । ब्रह्मण आसमन्तादभ्यासादिति वा । पुनः पुनरनिर्वेदादवैराग्यादवैतृष्ण्यादित्यर्थः ॥ ४५ ।

वही महात्मा समस्त आश्रम वालों का प्रयत्नपूर्वक जिज्ञास्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और द्रष्टव्य है ॥ ४१ ।

आत्मज्ञान होने से ही मुक्ति होती है; परन्तु वह आत्मज्ञान विना योग के प्राप्त नहीं हो सकता और वह योग भी बहुत कालपर्यन्त अभ्यास करने से ही सिद्ध होता है ॥ ४२ ।

अरण्यनिवास, अनेक ग्रन्थों के चिन्तन, दान, उपवास, तपस्या, यज्ञ, पद्मासन-बन्धन, नासिकाग्रभागदर्शन, शौच, मौनव्रत अथवा विविधमन्त्रों के जपादि करने से योग की सिद्धि कदापि नहीं होती ॥ ४३-४४ ।

किन्तु उस विषय में बारंबार विफल हो जाने पर भी विरक्त न होकर, सानुरोध उसी पर दृढ़ निश्चय करके सदा अभ्यास करते रहने से ही योग सिद्ध होता है । इसका दूसरा उपाय नहीं है ॥ ४५ ।

आत्मक्रीडस्य सततं सदात्ममिथुनस्य च ।
आत्मन्येव सुतृप्तस्य योगसिद्धिर्न दूरतः ॥ ४६ ।
अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति ।
आत्मारामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह ॥ ४७ ।
संयोगस्त्वात्ममनसोर्योग इत्युच्यते बुधैः ।
प्राणापानसमायोगो योग इत्यपि केचन ॥ ४८ ।
विषयेन्द्रियसंयोगो योग इत्यप्यपण्डितैः ।
विषयासक्तचित्तानां ज्ञानं मोक्षश्च दूरतः ॥ ४९ ।
दुर्निवारा मनोवृत्तिर्यावत् सा न निवर्तते ।
किं वदन्त्यपि योगस्य तावन्नेदीयसो कुतः ॥ ५० ।

आत्ममिथुनस्य परमात्मैक्यभावमापन्नस्य ॥ ४६ ।

जीवपरमात्मनोरैक्यमेव मुख्यो योगशब्दार्थ इति वक्तुं मुख्यादियोगत्रयमाह । संयोगस्त्विति । तथा च कथयन्ति—आत्मा मनसा संयुज्यत इति । समायोगो मेलनं कुम्भक इत्यर्थः ॥ ४८ ।

अर्थपण्डितैरिति पाठे अर्थविषये विषयभोगविषये पण्डितैरित्यर्थः । तर्ह्येतैरेव ज्ञानं मोक्षश्च स्यात्, तथा च श्रुतिः—"कामोऽकार्षीत्कामः करोति कामः कर्ता कामः कारयिता" इत्यादिरित्याशंक्याऽन्तिमपक्षस्य तयोरसाधकत्वमाह । विषयेत्यर्धेन ॥ ४९ ।

पूर्वयोस्तत्साधकत्वमाह । दुर्निवारेत्येकेन । दुर्निवारा या मनोवृत्तिः सा यावन्न निवर्तते तावद्योगस्य जीवब्रह्मणोरैक्यलक्षणस्य नेदीयसी निकटवर्तिनी अल्पाऽपि किंवदन्ती वार्ता कुत इत्यन्वयः ॥ ५० ।

यदि कोई आत्मा से ऐक्य को प्राप्त कर सर्वदा आत्मा से ही क्रीड़ा करे, आत्मा में रमण करे और उसी (आत्मा) पर ही आत्मरति हो, सन्तुष्ट रह सके, तो उससे योगसिद्धि कुछ दूर नहीं रहती ॥ ४६ ।

जो कोई इस संसार में आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं देखता, वही योगीन्द्र आत्माराम होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ ४७ ।

पंडित लोग आत्मा और मन के संयोग को ही योग कहते हैं । कोई-कोई (तो) प्राण और अपान वायु के संयोग को ही योग कहते हैं ॥ ४८ ।

परन्तु मूर्खगण विषयों में इन्द्रियों के संयोग को ही योग कहते हैं । इन विषयासक्तचित्त लोगों को ज्ञान वा मुक्ति का मिल जाना बहुत ही कठिन है ॥ ४९ ।

जब तक (इस) चंचल मनोवृत्ति की रुकावट नहीं हो जाती, तब तक योग की किंवदन्ती (अफवाह) भी समीप कहाँ से आ सकती है ? ॥ ५० ।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञे परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते ॥ ५१ ।
बहिर्मुखानि सर्वाणि कृत्वा स्वान्यन्तराणि वै ।
मनस्येवेन्द्रियग्रामं मनश्चात्मनि योजयेत् ॥ ५२ ।
सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्धयानं च योगश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ५३ ।
यन्नास्ति सर्वलोकेषु तदस्तीति विरुध्यते ।
कथ्यमानं तदन्यस्य हृदयेनावतिष्ठते ॥ ५४ ।

मुख्यं योगशब्दार्थमाह । वृत्तिहीनमिति । क्षेत्रज्ञे शोधितत्वं पदार्थस्वरूपे परमात्मनिवृत्तिहोनं मन एकीकृत्य तदात्मनैव प्रविलाप्ययो विमुच्येत मुक्तो भवति स योगयुक्तो मुख्ययोग युगुच्यत इत्यर्थः ॥ ५१ ।

एतदेव विवृणोति । बहिर्मुखानीति द्वाभ्याम् । बहिर्मुखानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि बहिरिन्द्रियाणीत्यर्थः । अन्तराणि खानि बुद्धयहंकारचितान्यन्तरिन्द्रियाणि च मनस्येव कृत्वा विषयेभ्य प्रत्याहृत्य तत इन्द्रियग्रामं बहिरन्तरिन्द्रियसमुदायं मनश्च आत्मनि योजयेत् प्रत्यगात्मनि क्षेत्रज्ञे प्रविलापयेदित्यर्थः ॥ ५२ ।

तं क्षेत्रज्ञं सर्वभावविनिर्मुक्तं साक्षित्वद्रष्टृत्वप्रत्यक्त्वादिसर्वविकाररहितं शुद्धं त्वंपदार्थं ब्रह्मणि शुद्धे तत्पदार्थे सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहिते परमानन्दस्वरूपे न्यसेदेकीकुर्यादित्यर्थः । उपसंहरति । एतद्धयानमिति ॥ ५३ ।

ननु यद्येतादृशं ध्यानं योगश्च वर्तते, तर्हि सर्वेषां चेतसि किमिति न भायात्त-त्राह । यन्नास्तीति । सर्वलोकेषु यत्प्रत्यग् ब्रह्मैक्यं नास्ति, न स्फुरति तदस्तीति तत्त्वज्ञेन कथ्यमानं विरुध्यते मूर्खेषु अतस्तदन्यस्य प्राकृतस्य हृदयेनावतिष्ठते नोल्लसतीत्यर्थः । तथा चाहुः प्राकृताः—

जो मन को अपने व्यापार-विषयों से रहित कर, क्षेत्रज्ञ परमात्मा में एकाकार बना देवे, वही मुक्त हो सकता है और वही योगी भी कहा जा सकता है ॥ ५१ ।

प्रथमतः बाहरी इन्द्रियों की वृत्ति को शून्य करके भीतर की ओर करे, फिर समग्र इन्द्रियों को मन में और मन को आत्मा में लगावे ॥ ५२ ।

तत्पश्चात् सर्वभावरहित क्षेत्रज्ञ आत्मा को परमात्मा ब्रह्म में मिला देवे । इसी का नाम ध्यान और योग है । इससे भिन्न (शेष) जो कुछ है, वह ग्रन्थों का विस्तार मात्र ही है ॥ ५३ ।

जिस किसी के हृदय में ब्रह्म का स्फुरण नहीं होता, लोग उसके अस्तित्ववाद में भी विरोध करने लगते हैं और कहे जाने पर भी वह दूसरे के मन में कभी नहीं बैठ सकता ॥ ५४ ।

स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारो स्त्रीसुखं यथा।
अयोगी नैव तद्वेत्ति जात्यन्ध इव वर्तिकाम् ॥ ५५ ।
नित्याभ्यसनशीलस्य स्वसंवेद्यं हि तद्भवेत्।
तत्सूक्ष्मत्वादनिर्देश्यं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ५६ ।
क्षणमप्येकमुदकं यथा न स्थिरतामियात्।
वाताहतं यथा चित्तं तस्मात्तस्य न विश्वसेत् ॥ ५७ ।

बाधितमर्थं वेदोऽपि न बोधयति कञ्चन।
असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षं दृश्यते यदि ॥
शिला तरति पानीयं गीतं गायति वानरः ॥ इत्यादि ॥ ५४ ।

एतदेव सदृष्टान्तं स्पष्टयति। **स्वसंवेद्यमिति**। तत्प्रत्यग् ब्रह्म स्वसंवेद्यं पुण्यकर्मादिना शुद्धान्तःकरणे योगाभ्यासेन योगिभिः स्वयमेव ज्ञेयम्। तत्र दृष्टान्तः। कुमारीस्त्रीसुखं यथेति। कुमारी यथा स्त्रीसुखं भर्तृसङ्गजं स्त्रीभिः कथ्यमानमपि स्वसंवेद्यत्वान्न जानाति तथा तत्स्वसंवेद्यं प्रत्यग्ब्रह्मयोगी नैव वेत्ति जानाति। अत्रापि दृष्टान्तः। जात्यन्धो वर्तिकां दीपदशामिवेति। वर्णिकामिति पाठे चित्रिकामिवेत्यर्थः ॥ ५५ ।

ननु योगाभ्यासवन्तोऽपि सर्वे तन्न जानन्तीति दृश्यते तत्राह। **नित्येति**। यदा कदाचिदभ्यासवता न लभ्यत इति भावः। तत्किमित्याकांक्षायामाह। **तत्सूक्ष्मत्वादिति**। तत्परं ब्रह्म एकं क्षणमपि स्थिरतां नेयान्न गच्छेदित्यन्वयः। तत्र हेतुरनिर्देश्यं वागादिभिर्निर्देष्टुमशक्यम्। वाङ्मनसयोरविषय इत्यर्थः। तत्रापि हेतुः सूक्ष्मत्वादिति ॥ ५६ ।

बहिरन्तरङ्गभावेनास्थिरत्वे दृष्टान्तद्वयमाह। वाताहतमुदकं यथा यथाचित्तमिति च। तस्मात्तस्य ब्रह्मणो न विश्वसेत्तद्वत्तत्प्रति विश्वासं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ५७ ।

जैसे अविवाहिता कुमारी पुरुष के संगम-सुख को नहीं जान सकती, अथवा जन्मान्ध मनुष्य जैसे जलती हुई बत्ती को नहीं देख सकता, वैसे ही ब्रह्म भी केवल योगाभ्यास आदि से ही जाना जा सकता है, किसी के समझा देने से उसका ज्ञान नहीं होता ॥ ५५ ।

नित्य ही (योग का) अभ्यास करने वाले को वह सनातन ब्रह्म आप से आप सुझाई पड़ने लगता है; परन्तु वचन और मन के अगोचर (अतिसूक्ष्म) होने से दूसरा कोई उसे कभी समझा नहीं सकता ॥ ५६ ।

जैसे वायु लगते रहने से जल एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार से चित्त भी अस्थिर बना रहता है, अतएव उसका विश्वास नहीं करना चाहिए ॥ ५७ ।

अतोऽनिलं निरुन्धीत चित्तस्य स्थैर्यहेतवे।
मरुन्निरोधनार्थाय षडङ्गं योगमभ्यसेत् ॥ ५८ ।
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ५९ ।
आसनानीह तावन्ति यावन्त्यो जीवयोनयः।
सिद्धासनमिदं प्रोक्तं योगिनो योगसिद्धिदम् ॥ ६० ।

किञ्चाऽचलस्यापि ब्रह्मणोऽस्थिरत्वं चित्ताधीनं यतोऽतश्चित्तस्य स्थैर्यार्थं वायुं स्थिरीकुर्यात्तस्य च स्थिरीकरणार्थं षट् आसनादीन्यङ्गानि यस्य तं योगं समभ्यसेत्, आवृत्त्या कुर्यादिति ॥ ५८ ।

तान्येवाऽङ्गानि दर्शयति। आसनमिति ॥ ५९ ।

आसनानीति। यावन्त्यो जीवयोनयो जीवोत्पादनकारणानि तावन्त्येवासनानि सिद्धासनस्य योनिघटितत्वाद्यावन्त्यो जीवयोनयस्तावन्त्येव सिद्धासनानीत्यर्थः। एतदेव विनिर्दिशति। सिद्धासनमिति। तथा चोक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

योनिद्वारकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये धृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशापश्यद्भ्रुवोरन्तर-
मेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥

मतान्तरे तु—

मेढ्रादुपरि विन्यस्य वामगुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥

पूर्वोक्तमेव मत्स्यासनम्—

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः।
मुक्तासनं वदन्त्यन्ये प्राहुर्गुह्यासनं परे ॥ इति।

सिद्धासनं च पद्माख्यमिति पाठे पद्मासनमेव सिद्धासनम्। तथा सत्यासनानीह तावन्ति यावन्त्यो जीवयोनय इत्यासनानामानन्त्यमात्रमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ६० ।

फिर चित्त को स्थिर करने के लिये प्राणवायु का निरोध करना आवश्यक है। वायुनिरोध करने के हेतु षडंग योग का अभ्यास करना भी आवश्यक है ॥ ५८ ।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये ही छहों योग के अंग हैं ॥ ५९ ।

संसार में जितनी जीवों की योनियाँ हैं, उतने ही प्रकार के आसन भी होते हैं, (अर्थात् चौरासी लाख आसन भी हैं)। (टीका—शिश्न के ऊपर बायीं एड़ी रक्खे और फिर उसके ऊपर दहिनी एड़ी जमा देवे) यह सिद्धासन योगियों को योग का

एतदभ्यसनान्नित्यं वर्ष्मदार्ढ्यमवाप्नुयात् ॥ ६१ ।
दक्षिणं चरणं न्यस्य वामोरूपरि योगवित् ।
याम्योरूपरि वामं च पद्मासनमिदं विदुः ॥ ६२ ।
कराभ्यां धारयेत्पश्चादङ्गुष्ठौ दृढबन्धवित् ।
भवेत्पद्मासनादस्मादभ्यासाद्दृढविग्रहः ॥ ६३ ।
अथवा ह्यासने यस्मिन् सुखमस्योपजायते ।
स्वस्तिकादौ तदध्यास्य योगं युञ्जीत योगवित् ॥ ६४ ।

सिद्धासनस्याऽवान्तरफलमाह । एतदिति ॥ ६१ ।

पद्मासनस्वरूपमाह । दक्षिणमिति द्वयेन । याम्योरूपरि दक्षिणोरूपरि ॥ ६२।

अस्य फलमाह । भवेदिति । दृढविग्रहो व्याधिरहितदेहो भवेदित्यर्थः । एतदप्युक्तं तस्यामेव—

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशनं च पद्मासनं प्रोच्यते ॥

मतान्तरे तु—

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणीकृत्वा ततो दृशौ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूलं च जिह्वया ।
उत्तभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं योगिनां सर्वसिद्धिदम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ इति ॥ ६३ ।

योगाभ्यासे आसने नियमाभावमाहाऽथवेति । यस्मिन् स्वस्तिकादाविति सम्बन्धः । आदिशब्देन वीरासनकूर्मासनकुक्कुटासनधनुरासनमत्स्यासनादीनि गृह्यन्ते । एतेषामपि लक्षणानि तस्यामेवोक्तानि—

सिद्धिदाता कहा गया है । इसके नित्य अभ्यास करते रहने से शरीर में बड़ी दृढ़ता आ जाती है ॥ ६०-६१ ।

दाहिने चरण को बायें ऊरु (जंघा) पर और बायें पैर को दाहिने ऊरु पर रख कर बैठने को पद्मासन कहते हैं ॥ ६२ ।

इसी पद्मासन में बैठकर पीछे की ओर दोनों हाथों से यदि दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़े, तो इस बद्ध-पद्मासन के अभ्यास द्वारा शरीर व्याधियों से रहित हो जाता है ॥ ६३ ।

अथवा स्वस्तिक इत्यादि आसनों के मध्य जिस किसी में योगी को सुख मिले, उसी के अनुसार बैठ कर योग-साधन करे ॥ ६४ ।

न तोयवह्निसामीप्ये न जीर्णारण्यगोष्ठयोः ।
न दंशमशकाकीर्णे न चैत्ये न च चत्वरे ॥ ६५ ।

केशभस्मतुषाङ्गारकीकसादिप्रदूषिते ।
नाभ्यसेत्पूतिगन्धादौ न स्थाने जनसंकुले ॥ ६६ ।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फन्तु सव्ये पार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणे तु तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥

एकपादं तथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥

पद्मासनं तु संयोज्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्यकन्धराम् ।
भवेत्कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ॥

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षणं कृत्वा धनुरासनमीरितम् ॥

वामोरुमूलार्पितदक्षजानुरन्तर्बहिर्वेष्टितदक्षदोर्भ्याम् ।
प्रगृह्य तिष्ठन् परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥

इत्यादीनि ॥ ६४ ।

निषेधमुखेन योगस्थानं निर्दिशति । न तोयेति द्वयेन । दंशो मक्षिकाकारस्ततः स्थूलः कीटविशेषः । चैत्ये ग्रामस्थपूज्यवृक्षे । महावृक्षाश्रयदेवकुल इत्यर्थः । चत्वरे प्रांगणे ॥ ६५ ।

कीकसमस्थि, आदिपदेन शोणितादीनि गृह्यन्ते ॥ ६६ ।

जल और अग्नि के सन्निकट, जीर्ण अरण्य और गोशाला, जहाँ पर डंस और मसे लगते हों (वहाँ), गाँव के पूजा वाले वृक्ष के नीचे, वा चौक में, अथवा केश, भस्म, भूसा, कोइला, अस्थि इत्यादि से दूषित, वा दुर्गन्धमय, किंवा बहुत लोगों से भरे हुए स्थान में, योगाभ्यास न करे ॥ ६५-६६ ।

सर्वबाधाविरहिते सर्वेन्द्रियसुखावहे ।
मनःप्रसादजनने स्रग्धूपामोदमोदिते ॥ ६७ ।
नातितृप्तः क्षुधार्तो न न विण्मूत्रप्रबाधितः ।
नाध्वखिन्नो न चिन्तार्तो योगं युञ्जीत योगवित् ॥ ६८ ।
ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम् ।
उत्तानं किञ्चिदुन्नम्य वक्त्रं विष्टभ्य चोरसा ॥ ६९ ।
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत् ।
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ ७० ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः ।
मध्यमं चोत्तमं चाथ प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ ७१ ।

निषेधमुखेनोक्त्वा विधिमुखेनाप्याह । सर्वेत्येकेन ॥ ६७ ।

किंविशिष्टो योगं कुर्यादिति पृच्छायां योगिनं निर्दिशति । नातितृप्त इति ॥६८।

आसनस्थानाधिकारिणो निरूप्य एवंभूतः सन् प्राणायामं कुर्यादित्याह । ऊरुस्थेति त्रयेण । ऊरुस्थौ उत्तानौ चरणौ यस्य सः । सव्ये ऊराविति शेषः । उत्तानमूर्ध्वीकृताङ्गुलम्, उत्तानं किञ्चिदुन्नमय्येति वा । विष्टभ्य संयोज्य ॥ ६९ ।

निमीलिते मुद्रिते अक्षिणी येन सः । तालुस्था ककुत्स्था अचला जिह्वा यस्य सः ॥ ७० ।

मध्यमं चोत्तमं चेति चकाराल्लघुं च । तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे—

लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः ।
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तरीय उदाहृतः ॥ इति ।

अत्राऽप्यग्रे वक्ष्यति ॥ ७१ ।

जहाँ पर किसी प्रकार की बाधा न हो और समस्त इन्द्रियों को सुख बोध होवे, एवं मन की प्रसन्नता जहाँ उत्पन्न हो, ऐसे स्थान को माला वा धूपादि से सुगन्धित कर उस स्थान पर (बैठे) ॥ ६७ ।

(योगसाधना के समय) अति भोजन के उपरान्त, क्षुधार्त, मलमूत्र के वेग से बाधित, मार्ग चलने से थकी हुई स्थिति में अथवा चिन्ताग्रस्त अवस्था जब नहीं रहे, तब योगी योग का अभ्यास करे ॥ ६८ ।

दोनों जंघाओं पर दोनों ही पैरों को उतान रखकर और दहिनी जंघा पर बायाँ हाथ कुछ उभड़ा हुआ उतान ही लगाकर, एवं मुख को छाती से सटाकर दोनों आँखें मूंद, सत्त्वगुण में स्थित हो, दाँतों से दाँतों को विना छुलाये, जीभ को तालु में स्थिर कर, मुख को बन्द करके, निश्चल हो, समग्र इन्द्रियों को वृत्तियों को रोक, अति नीचे वा अत्यन्त ऊँचे आसन पर विना बैठे, (अर्थात् सम आसन पर बैठ) उत्तम, मध्यम, वा लघु प्राणायाम को प्रारम्भ करे ॥ ६९-७१ ।

चलेऽनिले चलं सर्वं निश्चले तत्र निश्चलम् ।
स्थाणुत्वमाप्नुयाद्योगी ततोऽनिलनिरुन्धनात् ॥ ७२ ।
यावद्देहे स्थितः प्राणो जीवितं तावदुच्यते ।
निर्गते तत्र मरणं ततः प्राणं निरुन्धयेत् ॥ ७३ ।
यावद् बद्धो मरुद्देहे यावच्चेतो निराश्रयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ७४ ।
कालसाध्वसतो ब्रह्मा प्राणायामं सदा चरेत् ।
योगिनः सिद्धिमापन्नाः सम्यक् प्राणनियन्त्रणात् ॥ ७५ ।
मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रा लघ्वक्षरा मता ।
मध्यमो द्विगुणः पूर्वादुत्तमस्त्रिगुणस्ततः ॥ ७६ ।

चल इति । अनिले चले चञ्चले सति सर्वशरीरं चञ्चलं भवति । तच्च तस्मिन्निश्चले निश्चलं भवति । ततो वायुनिरोधाद्योगी स्थिरतां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७२ ।

यावद्देह इति । प्राणो वायुः । तत्र तस्मिन् प्राणे ॥ ७३ ।

यावदिति । मरुत् पवनः । निराश्रयं बाह्यविषयाकारशून्यम् ॥ ७४ ।

अत्र शिष्टाचारं प्रमाणयति । कालेति । साध्वसतो भयात् । ब्रह्मा चतुराननः । उक्तं च—

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासयोगतः ।
तेन सिद्धिं गतास्ते च तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ इति ।

योगिन उद्दालकवीतहव्यभुशुण्डप्रभृतयः सनकादयो वा ॥ ७५ ।

मध्यममिति यदुक्तं तद्दर्शयति । मन्द इति । लघ्वक्षरा ह्रस्वाक्षराः । ततः पूर्वात् ॥ ७६ ।

वायु के चंचल होने से समस्त देह चल हो जाता है । वायु के निश्चल होने पर सभी स्थिर रहता है । अतएव योगी वायु को रोकने से स्थिरता को प्राप्त करता है॥७२।

जब तक शरीर में प्राण रहता है, तभी तक वह जीवित कहा जाता है और उसी के निकल जाने पर मरण कहलाता है । इसलिये प्राण का ही रोक(निरोध)करना चाहिए ॥ ७३ ।

जब तक शरीर में प्राण बँधा है और जब तक चित्त बाह्यविषयों के आकार से शून्य होकर स्थिर होता है, एवं यावत् दृष्टि दोनों भ्रुवों के मध्य में लगी रहती है, तब तक काल का भय कहाँ है ? ॥ ७४ ।

ब्रह्मा भी काल के भय से नित्य ही प्राणायाम करते रहते हैं । बहुत से योगियों ने भी इसी प्राणायाम के द्वारा पूर्ण सिद्धि को प्राप्त किया है ॥ ७५ ।

लघु अक्षर की मात्रा होती है। द्वादश मात्राओं का प्राणायाम मन्द और उसका द्विगुण मध्यम और त्रिगुण उत्तम होता है ॥ ७६ ।

स्वेदं कम्पं विषादं च जनयेत्क्रमशस्त्वसौ ।
प्रथमेन जयेत्स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुम् ॥ ७७ ॥
विषादं हि तृतीयेन सिद्धः प्राणोऽथ योगिनः ।
भवेत्क्रमात्सन्निरुद्धः सिद्धः प्राणोऽथ योगिना ।
क्रमेण सेव्यमानोऽसौ नयते यत्र चेच्छति ॥ ७८ ॥
हठान्निरुद्धप्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् ।
देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ७९ ॥
तत्प्रत्याययितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् ।
वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् ॥ ८० ॥

स्वेदमिति । क्रमशो यथासंख्यम् । असौ त्रिविधः प्राणायामः । तदुक्तम्—

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमप्राणबन्धे पद्मासने दृढः ॥ इति ।

प्रथमतो यैः प्राणायामैर्ये स्वेदादयो जायन्ते, तैरेव शनैस्तेषां जयः कर्तव्य इत्याह । प्रथमेनेति पादत्रयेण ॥ ७७ ॥

यथाऽनन्तरं सिद्धः प्राणो योगिनः क्रमात् सन्निरुद्धो निश्चलो भवति, अथाऽनन्तरं योगिना क्रमेण सेव्यमानः सिद्धः प्राणो यत्रासौ योगी गन्तुमिच्छति, तं तत्र नयते प्रापयत्येवेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अयं च प्राणसंरोधः शनैः शनैरनुष्ठेयो नातिप्रागित्याह । हठादिति । निःसरेद् निर्गच्छेत् । निःसरन्निति क्वचित् ॥ ७९ ॥

तत्तस्मादसौ प्राणः प्रत्याययितव्यो लालयितव्यः क्रमेण संरोध्य इति यावत् । उपलक्षणीकृत्य अरण्यहस्तिवदिति दृष्टान्तं विवृणोति । वन्य इति । गजारिः सिंहः ॥ ८० ॥

प्राणायाम करने से क्रमपूर्वक स्वेद, कंप और विषाद उत्पन्न होता है; किन्तु नियम से प्राणायाम करता जावे, तो मन्द प्राणायाम से स्वेद, मध्यम से कम्प और और उत्तम से विषाद को जीतकर तब योगी का प्राण सिद्ध हो जाता है और फिर क्रमशः निश्चल होता है । तदनन्तर क्रमपूर्वक अभ्यास करने से वह वायुयोगी जहाँ कहीं गमन करना चाहता है, वहाँ (आप ही) पहुँचा देता है ॥ ७७-७८ ।

इस प्राणवायु को यदि हठपूर्वक रोक देवें, तो रोम-कूपों में से (वह) निकल पड़ता है । देह को फार (फाड़) डालता है और कुष्ठ इत्यादि रोगों को भी उत्पन्न करता है ॥ ७९ ।

अतएव बनैले हाथी की तरह इसे धीरे-धीरे परचाना चाहिए । जैसे वन का हाथी वा सिंह, जब क्रमशः मृदुता को प्राप्त हो जाता है, तब शासक को भी मानने

करोति शास्तृनिर्देशं न च तं परिलङ्घयेत् ।
तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिना क्रमयोगतः ।
गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रम्भमुपगच्छति ।। ८१ ।
षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
सव्यापसव्यमार्गेण प्रयाणात्प्राण उच्यते ।। ८२ ।
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रमनाकुलम् ।
तदैव जायते योगी क्षमः प्राणनिरोधने ।। ८३ ।

मृदुतायां सत्यां यद्भवति तदाह । **करोतीति** । शास्ता यन्ता हस्तिपक इत्यर्थः । तस्य निर्देशं शास्तृनिर्देशं तदाज्ञामित्यर्थः । तं निर्देशं शास्तारं वा । परिलङ्घयेद् आक्रमयेत् । दार्ष्टान्तिकमाह । **तथेति** ।। ८१ ।

वायोः प्राणनाम निर्वक्ति । **षडिति** । हंसो वायुर्बहिः प्रयाणं कुरुते, अत एव सव्याऽपसव्यमार्गेण इडापिङ्गलानाडीभ्यां बहिः प्रयाणाद् गमनात् प्राण उच्यते कथ्यते । शरीराद् बहिः प्रयाणावधिं दर्शयन् हंसं विशिनष्टि । षट्त्रिंशदङ्गुलः षड्भिरधिकास्त्रिंशदङ्गुलाः शरीराद् बहिर्गम्यप्रदेशा यस्य सः । तत्र रेचकपूरककुम्भकानां प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बहिर्व्यापनात् षट्त्रिंशदङ्गुलत्वं प्राणस्य ज्ञातव्यम् । तदुक्तं वासिष्ठे—

द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमणं ततः ।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ।।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसम्मुखे ।
व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ।।
यत्तदन्तर्मुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ।
तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ।। इति ।। ८२ ।

अधिकारार्थं भूतिशुद्धिं सूचयति । **शुद्धिमेतीति** । सा यथा । वामनासापुटे यमिति वायुबीजं धूम्रवर्णं ध्यात्वा यं बीजोत्थवायुना समस्तं शरीरं बीजस्यैव षोडशवारजपेन प्रपूर्यते, नैव वायुना समस्तं शरीरं संशोध्य दक्षिणनासापुटेन यं बीजस्यैव

लगता है और उसकी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता । इसी प्रकार से हृदयस्थित प्राण भी क्रमशः योगाभ्यास से गृहीत और सेव्यमान होने पर विश्वस्त हो (परच) जाता है ।। ८०-८१ ।

यह वायु दक्षिण और वाम नासिका के रंध्रमार्ग से होकर छत्तीस अंगुल पर्यन्त बांहर को प्रयाण (गमन) करता है । इसी प्रयाण के ही कारण प्राण कहा जाता है ।। ८२ ।

जब कि समस्त नाडीचक्र अनाकुल भाव से शुद्ध हो जाता है, तभी योगी भी प्राण का निरोध करने में समर्थ हो सकता है ।। ८३ ।

दृढासनो यथाशक्ति प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
रेचयेदथ सूर्येण प्राणायामोऽयमुच्यते ।। ८४ ।
स्रवत्पीयूषधारौघं ध्यायंश्चन्द्रसमन्वितम् ।
प्राणायामेन योगीन्द्रः सुखमाप्नोति तत्क्षणात् ।। ८५ ।
रविणा प्राणमाकृष्य पूरयेदौदरीं दरीम् ।
कुम्भयित्वा शनैः पश्चाद्योगी चन्द्रेण रेचयेत् ।। ८६ ।

द्वात्रिंशद्वारजपेन बहिर्वायुं रेचयेत् । ततो दक्षिणनासापुटेन निलीनमारुतं रमिति वह्निबीजं रक्तवर्णं विचिन्त्य दक्षिणनासापुटेन रमित्यस्यैव वह्निबीजस्य षोडशवारजपेन वायुं पूरयित्वा रं बीजोत्थवह्निना समस्त शरीरं दग्ध्वा रं बीजस्यैव द्वात्रिंशद्वार-जपेन वामनासाभस्मना सह बहिर्वायुं रेचयेत् , ततो वामनासापुटे वमिति शुक्लवर्णं चन्द्रबीजं संस्मृत्य वमित्यस्य षोडशवारजपेन वं बीजरूपं चन्द्रं ललाटचन्द्रं नयेत् । तस्माल्ललाटचन्द्राद् वमित्यस्य चतुःषष्टिवारजपेन कुंभकयोगेनामृतवृष्टिमकारादि-क्षकारान्तमयीमुत्पाद्य तेनामतेन समस्तं शरीरं पुनरुत्पन्नं विचिन्त्य तेनैवाऽम्भसा संप्लाव्य लमिति पृथ्वीबीजेन पीतवर्णेन समस्तं शरीरं दृढं चिन्तयेदिति ।। ८३ ।

प्राणायामं दर्शयति । दृढेति । चन्द्रेण चन्द्रदेवतेनेडाख्येन मार्गेण पूरयेत् पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्यात् । रेचयेद् रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्यात् । सूर्येण सूर्यदैवतेन पिङ्गलाख्येन मार्गेण प्राणायामो रेचकपूरकाख्यद्विविधोऽयं अनन्तरोक्त उच्यते कथ्यते । वामायाम इति पाठे शोभनप्राणायाम इत्यर्थः ।। ८४ ।

कुम्भकाख्यप्राणायाममाह । स्रवदिति । योगीन्द्रः प्राणायामेन कुम्भकाख्येन तत्क्षणात् सुखं प्राप्नोति । किं कुर्वन् ? स्रवन्तीनां पीयूषधाराणामोघं चिन्तयन् । कथ-म्भूतम् ? चन्द्रसमन्वितं चन्द्रेण तद्बीजेन वा उकारेण लकारेण वा संयुक्तम् । वामाया-मेनेति क्वचित्पाठः ।। ८५ ।

पूर्वं रेचकपूरककुम्भकक्रमेण प्राणायामा उक्ताः, इदानीं पूरककुम्भकरेचक-क्रमेण मार्गवैपरीत्येनैव तानाह । रविणेति श्लोकेन ।। ८६ ।

प्रथमतः दृढ़ासन होकर यथाशक्ति चन्द्र की इड़ा नाड़ी (वाम) से प्राण को पूरण करे, फिर सूर्य को पिंगला नाड़ो (दक्षिण) के द्वारा रेचन करे । यही प्राणायाम कहलाता है ।। ८४ ।

योगीन्द्र, चन्द्र-बोज-संयुत, झरते हुए अमृतधारा समूह का ध्यान करता हुआ, प्राणायाम के द्वारा तुरत ही परम सुख का अनुभव करने लगता है ।। ८५ ।

सूर्यनाड़ी से प्राणवायु को खींचकर उससे उदाररूपी दरी को परिपूर्ण करना चाहिए । इस विधि से कुंभक किया जाता है । उसके हो जाने के पीछे योगी शनैः शनैः चन्द्रनाड़ो के द्वारा रेचन कर देवे ।। ८६ ।

ज्वलज्ज्वलनपुञ्जाभं शीलयन्नुष्मगुं हृदि ।
अनेन याम्यायामेन योगीन्द्रः शर्मभाग्भवेत् ॥ ८७ ।
इत्थं मासत्रयाभ्यासादुभयायामसेवनात् ।
सिद्धनाडीगणो योगी सिद्धप्राणोऽभिधीयते ॥ ८८ ।
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाऽभिव्यक्तिरारोग्यं भवेन्नाडीविशोधनात् ॥ ८९ ।

ध्येयं दर्शयन् ध्यानमेतत् त्रिविधप्राणायामस्य च फलं दर्शयति । ज्वलदिति । प्रदीप्तवह्निराशिसदृशमुष्मगुं सूर्याधिष्ठानं श्रीविश्वेश्वरं नारायणं वा ।

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योमवायुरग्निर्जलं मही ।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्येकादशैव ते ॥

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ॥ इति वचनात् ।

हृदिस्थे सूर्यमण्डले शीलयंश्चिन्तयन् योगीन्द्रोऽनेनाऽनन्तरोक्तेन यम्यन्त इति याम्याः प्राणास्तेषामायामेनेत्यर्थः । शर्मभाग् ब्रह्मानन्दभाग् भवेदित्यर्थः ॥ ८७ ।

इत्थमिति । इत्थं भूतशुद्धिपूर्वकं पूर्वोक्तप्रकारेण मासत्रयं व्याप्याऽभ्यासो यस्मिंस्तस्मादुभयायामसेवनाद् दृढासनो यथाशक्तीत्यादिनोक्तद्विविधप्राणायामसेवनाच्छुद्धनाडीसमूहो योगी सिद्धप्राणो वशीकृतवायुरभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः । सिद्धनाडीति क्वचित् तत्रापि स एवाऽर्थः ॥ ८८ ।

नाडीविशोधनस्य फलमाह । यथेष्टमिति । नाडीनां विशोधनाद् वायोर्यथेष्टं धारणं स्वेच्छया धारणम् अनलस्य जाठरस्य प्रदीपनम्, नादाऽभिव्यक्तिराधारचक्रस्थायाः वाचः श्रवणम् । तथा च श्रुतिः—"चत्वारि वाक्परिमिता पदानीत्यादिः" (ऋ० सं० १।१६४।४५)। आरोग्यं रोगाभावश्च भवेदित्यर्थः । [1]पाठान्तरे डलयोरेकत्वमित्युन्नेयम् ॥ ८९ ।

प्रज्वलित अग्नि के राशितुल्य सूर्य को हृदय में ध्यान करते रहने वाला योगिराज इस (दक्षिण और वाम) प्राणायाम के द्वारा ब्रह्मसुख का भागी होता है ॥ ८७ ।

इस प्रकार से तीन मास पर्यन्त (दक्षिण और वाम) दोनों प्रकार के प्राणायामों का अभ्यास करते रहने से योगी के नाड़ीगण शुद्ध हो जाते हैं और वह योगी सिद्धप्राण हो जाता है ॥ ८८ ।

नाड़ियों के विशोधन हो जाने से योगी यथेष्ट वायु को धारण कर सकता है, उसका जठरानल प्रदीप्त होता है । उसे आधार चक्रस्थित परावाणी सुनाई पड़ने लगती है और (उसका) शरीर भी रोगरहित हो जाता है ॥ ८९ ।

---

१. नालीविशोधनादित्येवं रूपे ।

प्राणो देहगतो वायुरायामस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निरुच्यते ॥ ९० ॥
प्राणायामेऽधमे घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठेदुत्तमे देहो बद्धपद्मासनो मुहुः ॥ ९१ ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् प्रत्याहारेण पातकम् ।
मनोधैर्यं धारणया ध्यानेनेश्वरदर्शनम् ॥ ९२ ॥
समाधिना लभेन्मोक्षं त्यक्त्वा धर्मं शुभाशुभम् ।
आसनेन वपुर्दार्ढ्यं षडङ्गमिति कीर्तितम् ॥ ९३ ॥

प्रकारान्तरेण प्राणायामनाम निर्वक्ति । **प्राण इति** । तन्निबन्धनं प्राणघटितं प्राणनियन्त्रणं वा । तदेवाह—एकश्वासमयी मात्रेति । **मात्रा ह्रस्वाक्षरोच्चार्यमाणः कालः** ॥ ९० ।

प्राणायाम इति । उत्तिष्ठेद् भूमिं परित्यज्याऽन्तरिक्षं गच्छेदित्यर्थः । तथा चोक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासने दृढः ॥ इति ॥ ९१ ।

फलसहितं षडङ्गं दर्शयति । **प्राणायामैरिति** द्वयेन ॥ ९२ ।

धर्मं शुभाशुभम् । धर्मेत्यधर्मस्योपलक्षणम् । धर्माऽधर्मे पुण्यपापे शुभाऽशुभे तज्जन्यशुभाऽशुभे दृष्टे च त्यक्त्वेत्यर्थः । कर्मेति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः । षडङ्गमिति जातावेकवचनम् ॥ ९३ ।

शरीरस्थित वायु का नाम प्राण है और उसी प्राण की रुकावट को आयाम कहा जाता है, वही एक श्वासमयी मात्रा (के उच्चारण का काल) प्राणायाम के नाम से व्यवहृत है ॥ ९० ।

अधम प्राणायाम में स्वेद, मध्यम में कम्प और उत्तम में बद्ध-पद्मासन शरीर का बारंबार (भूमि पर से ऊपर को) उत्थान होता है ॥ ९१ ।

प्राणायामों के करने से शारीरिक दोष और प्रत्याहार से संचित पातक भस्म हो जाते हैं एवं धारणा के बल से मन में धैर्य, और ध्यान के द्वारा साक्षात् ईश्वर का दर्शन प्राप्त होने लगता है ॥ ९२ ।

समाधि-साधन करने से शुभ और अशुभ कर्मों के (और उनके फलबन्धन के) छूट जाने से मोक्ष-लाभ होता है । आसन के बल से शरीर की दृढ़ता होती है । यही षडंग योग कहा गया है ॥ ९३ ।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः ।
प्रत्याहारैर्द्वादशभिर्धारणा परिकीर्तिता ॥ ९४ ॥
भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ ९५ ॥
समाधेः परतो ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकाण्डं यातायातं निवर्तते ॥ ९६ ॥
पवने व्योमसम्प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां ततः सिद्धिरदूरतः ॥ ९७ ॥

प्रत्याहारादीनां पारिभाषिकीः संज्ञा दर्शयति। **प्राणायामेति** द्वाभ्याम्। द्विषट्केन द्वादशभिः। प्रत्याहारैर्द्वादशभिश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्राणायामैरित्यर्थः॥९४॥

ईश्वरसंगत्यै ब्रह्माप्त्यै द्वादशधारणं अष्टाविंशत्यधिकशतोत्तरसहस्रं प्राणायामा यस्मिंस्तद्ध्यानं भवेत्। ध्यानद्वादशकेन षट्त्रिंशदधिकसप्तशतोत्तरविंशतिसहस्रेण प्राणायामात्मकेन ॥ ९५ ।

षडङ्गयोगप्राप्यं दर्शयति। **समाधेरिति**। ज्योतिः स्फुरद्रूपं ब्रह्म अनन्तं मृत्युरहितं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं वा स्वप्रकाशकं स्वयमेव भासमानम्। अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिरिति श्रुतेः। पुरुषार्थतामाह। **तस्मिन्निति**। क्रियाकाण्डं तत्प्रतिपाद्यं कर्म। यातायातं यातं स्वर्गादिगमनमायातं मनुष्यादावागमनम्। यद्वा यातं मरणम्, आयातं जन्म तच्च निवर्तते ॥ ९६ ।

पवन इति। पवने प्राणवायौ व्योमब्रह्मरन्ध्रं सम्प्राप्ते सति घण्टादीनां प्रकृष्टवाद्यानां महान् ध्वनिरुत्पद्यते ततो ध्वनेरनन्तरमदूरतो निकट एव सिद्धिर्योगफलमित्यर्थः ॥ ९७ ।

बारह प्राणायामों का एक प्रत्याहार होता है, बारह प्रत्याहारों की एक धारणा कही जाती है ॥ ९४ ।

बारह धारणाओं का एक ध्यान होता है और इसी से ईश्वर का साक्षात्कार भी हो जाता है। बारह ध्यानों की एक समाधि कही जाती है ॥ ९५ ।

समाधि के परे स्वप्रकाशक अनन्त ज्योति लक्षित होती है। इसके देख पाने पर समस्त क्रियाकाण्ड और संसार में आवागमन समाप्त हो जाता है ॥ ९६ ।

जब कि प्राणवायु आकाशतत्त्व अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में प्राप्त हो जाता है, तब घंटादिक वाद्यों की बड़ी ध्वनि (अनाहत नाद) सुनाई पड़ने लगती है। फिर तो सिद्धि समीप ही रह जाती है ॥ ९७ ।

प्राणायामेन युक्तेन सर्वव्याधिक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वव्याधिसमुद्भवः ॥ ९८ ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥ ९९ ।
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादित्थं सिध्यति योगवित् ॥ १०० ।
इन्द्रियाणां हि चरतां विषयेषु यदृच्छया ।
यत्प्रत्याहरणं युक्त्या प्रत्याहारः स उच्यते ॥ १०१ ।

प्राणायामेनेति । युक्तेन यथावदनुष्ठितेन । अयुक्ताभ्यासयोगेनासम्यगनुष्ठितेनाम्रेडितेन प्रयोगेण व्युत्क्रमाभ्यासेन योगेन वेति वा । तदुक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वपापपरिक्षयः ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ इति ॥ ९८ ।

उक्तं विवृणोति । हिक्केति । हिक्का उत्काशिका । व्यतिक्रमादयुक्ताभ्यासात् ॥ ९९ ।

तर्हि कीदृशं योगमभ्यस्यन् सिद्ध्यति, तमाह । युक्तं युक्तमिति । युक्तं युक्तं परिमितं परिमितमित्यर्थः । बध्नीयात् स्थिरीकुर्यात् कुम्भयेदित्यर्थः । तथा च हठयोगप्रदीपिकायाम्—"यावत्त्रयं यथाश्लोकमेव एवं सिद्धिमवाप्नुयात्" इति ॥ १०० ।

प्रत्याहारादीनां पारिभाषिकीः संज्ञाः प्रदर्शयित्वा इदानीं सान्वयाः संज्ञा दर्शयति । इन्द्रियाणामिति । प्रत्याहरणं व्यावर्त्यानियनम् । युक्त्या, विषयदोषदर्शनेन ॥ १०१ ।

प्राणायाम का यथोक्त अनुष्ठान करने से योगी की समस्त व्याधियों का क्षय हो जाता है । उसी प्राणायाम के अनुचित अभ्यास-योग से अशेष व्याधियों की उत्पत्ति भी होती है ॥ ९८ ।

हिचकी, सांस फूलना, खाँसी, शिर, कान और आँखों में पीड़ा इत्यादि अनेक दोष (एक) वायु के व्यतिक्रम से उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ९९ ।

अतएव परिमित रूप से (थोड़ा-थोड़ा) वायु का त्याग करे और यों ही (थोड़ा-थोड़ा) पूरण करे, एवं इसी विधि से (थोड़ा-थोड़ा) बन्धन करे । इस प्रकार से योगी सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ १०० ।

स्वेच्छानुसार समस्त विषयों में घूमती हुई इन्द्रियों को युक्तिपूर्वक लौटाने को 'प्रत्याहार' कहते हैं ॥ १०१ ।

प्रत्याहरति यः स्वानि कूर्मोऽङ्गानीव सर्वतः।
प्रत्याहृतिविधानेन स स्याद्विगतकल्मषः ॥ १०२ ।
नाभिदेशे वसेद् भानुस्तालुदेशे च चन्द्रमाः।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसेदूर्ध्वमुखो रविः ॥ १०३ ।
करणं तच्च कर्तव्यं येन सा प्राप्यते सुधा।
ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणं विपरीताख्यमभ्यासादेव जायते ॥ १०४ ।

प्रत्याहारस्य फलमाह। प्रत्याहरतीति। प्रत्याहृतिविधानेन विषयेषु दोषाद्यनुसन्धानेन ॥ १०२ ।

महामुद्रादीनां दशमुद्राणां मध्ये विपरीताख्यां करणीं मुद्रां वक्तुं प्रस्तावयति। नाभीति। तदुक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

महामुद्रा महाबन्धो बन्धो जालंधराभिधः।
करणी विपरीताख्या वज्रोलीशक्तिचालनम् ॥
एतद्धि मुद्रादशकं जरामरणवर्जितम् ॥ इति।

वर्षति सुधामिति शेषः। एवं ग्रसेदित्यत्रापि। तदुक्तं तस्यामेव—

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपि च।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन तस्य विनाशिता ॥ इति ॥ १०३ ।

तद्योगशास्त्रे प्रसिद्धं करणं विपरीताख्यम्। तदुक्तं तस्यामेव—

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखबन्धनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रस्य कोटिभिः ॥ इति।

यथावत् स्थितस्य नाभ्यादेर्वैपरीत्येनावस्थानं विपरीताख्यं करणमित्यर्थः। एतदपि तस्यामुक्तम्। पादद्वयं यथाश्लोकमेव "करणीविपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते" इति ॥ १०४ ।

जो अपने समस्त अंगों को कच्छप की तरह चारों ओर से सिकोड़ (बटोर) लेता है, वह (योगी) इस प्रत्याहार के विधान करने से निष्पाप हो जाता है ॥१०२।

चन्द्रमा तालुदेश में स्थित होकर अधोमुख (से) अमृत की वृष्टि करता है। नाभिदेशस्थित सूर्य ऊर्ध्वमुख होकर उसका ग्रास करता है ॥ १०३ ।

अतः वैसी ही क्रिया करनी चाहिए, जिसमें ऊपर नाभि और नीचे तालु रहे। ऐसा हो जाने से ऊर्ध्वदेश में सूर्य और अधोदेश में चन्द्र रक्खा जा सकता है। यह विपरीतकरण अभ्यास के द्वारा ही हो सकता है (अन्यथा नहीं) ॥ १०४ ।

काकचञ्चुवदास्येन शीतलं शीतलं पिबेत्।
प्राणं प्राणविधानज्ञो योगी भवति निर्जरः॥ १०५॥
रसनां तालुविवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम्।
धयन्निर्जरतां गच्छेदाषण्मासान्न संशयः॥ १०६॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥ १०७॥
सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्तर्बिलं महत्।
ध्यात्वा सुधामयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्॥ १०८॥
अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात्।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयम्॥ १०९॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥ ११०॥

विपरीताख्यं तत्करणविशेषमेव तत्फलसहितं दर्शयति। काकेत्यारभ्यासनेनेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। काकचञ्चुवदास्येन काकत्रोटितुल्येन मुखेन। शीतलं शीतलमत्यन्तशीतलमित्यर्थः। प्राणविधानज्ञः प्राणायामानुष्ठानज्ञानवान्॥ १०५।

धयन् पिबन्। लिहन्निति क्वचित्॥ १०६।

सम्पीड्येति। राजदीप्तिमत्। अन्तर्बिलं जिह्वाया मूलभागस्थं च्छिद्रम्॥१०८।

अमृतेति। अणिमादिगुणानामुदयो यस्मात्तद्रेतस्तथा। अणिमादिगुणोदयं यथा स्यादिति क्रियाविशेषणं वा॥ १०९।

प्राणायाम के विधान का वेत्ता योगी काकचंचु के समान अपने मुख से अत्यन्त शीतल प्राणवायु पीकर निर्जर हो जाता है॥ १०५।

तालु के छिद्र में जिह्वा को लगाकर ऊर्ध्वमुख में अमृत के पान करने से निःसन्देह छः मास के भीतर ही निर्जरता प्राप्त हो जाती है॥ १०६।

जो योगी स्थिर रूप से ऊर्ध्वजिह्व होकर अमृतपान करता है, वह एक ही पक्ष में मृत्यु को जीत लेता है॥ १०७।

और जिह्वा के अग्रभाग से उसके मूलदेशस्थ बड़े छिद्र को दबाकर सुधामयी देवी का ध्यान करने से छः मास में कवि हो जाता है॥ १०८।

जिस योगी का शरीर अमृतपान से पूर्ण हो जाता है, वह दो-तीन वर्ष के भीतर ही ऊर्ध्वरेता और अणिमादि सिद्धियों से सम्पन्न हो सकता है॥ १०९।

नित्य ही अमृत-पूर्ण-शरीरधारी योगी को यदि तक्षक सर्प भी डँस लेवे, तो उसे विष नहीं चढ़ता॥ ११०।

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणामथ चाभ्यसेत् ॥ १११ ।

हृदये पञ्चभूतानां धारणं यः पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साऽभिधीयते ॥ ११२ ।

हरितालनिभां भूमिं सलकारां सवेधसम् ।
चतुष्कोणां हृदि ध्यायेदेषा स्यात्क्षितिधारणा ॥ ११३ ।

कण्ठेऽम्बुतत्त्वमर्धेन्दुनिभं विष्णुसमन्वितम् ।
वकारबीजं कुन्दाभं ध्यायन्नम्बु जयेदिति ॥ ११४ ।

तालुस्थमिन्द्रगोपाभं त्रिकोणं रेफसंयुतम् ।
रुद्रेणाधिष्ठितं तेजो ध्यात्वा वह्निं जयेदिति ॥ ११५ ।

धारणायाः पारिभाषिकलक्षणान्तरमाह । हृदय इत्येकेन ॥ ११२ ।

तामेव धारणां दर्शयति । हरितालेति पञ्चभिः । सलकारां पृथ्वीबीजेन लकारेण सहिताम् । सवेधसं ब्रह्मदैवताम् ॥ ११३ ।

कण्ठ इति । अम्बुतत्त्वं जलपदार्थम् । वकारो बीजं यस्य तत्तथा अम्बु जयेज्जलतत्त्वविलक्षणमात्मानं भावयेदेवमग्रेऽपि । यद्वा, जलादिष्वप्रतिहतगतित्वं क्लेशाद्यभावं चाप्नुयादित्यर्थः ॥ ११४ ।

तालुस्थमिति । इन्द्रगोपाभं वर्षर्तौ दृश्यमानरक्तवर्णकीटविशेषाभम् । रेफेण संयुतं वह्निबीजेन सहितम् ॥ ११५ ।

प्रथम आसन को दृढ़ करके प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिए । तदनन्तर प्रत्याहार से सम्पन्न हो जाने पर धारणा का अभ्यास करना चाहिए ॥ १११ ।

मन को स्थिर करके हृदय में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् धारण करना ही धारणा कही जाती है ॥ ११२ ।

हरिताल के समान पीतवर्ण, चतुष्कोण, लकार-बीज, ब्रह्मदैवत, पृथिवीतत्त्व का हृदय में ध्यान करना, यही क्षितिधारणा होती है ॥ ११३ ।

कुन्द पुष्प के सदृश श्वेतवर्ण, अर्धचन्द्राकार, वकारबीज, विष्णुदैवत, जलतत्त्व का कण्ठदेश में ध्यान करना यही जलधारणा है ॥ ११४ ।

बीरवहूटी की तरह रक्तवर्ण, त्रिकोण, रकार-बीज, रुद्रदैवत, अग्नितत्त्व का तालुस्थान में ध्यान करने से अग्निधारणा होती है ॥ ११५ ।

वायुतत्त्वं भ्रुवोर्मध्ये वृत्तमञ्जनसन्निभम् ।
यं बीजमीशदैवत्यं ध्यायन् वायुं जयेदिति ।। ११६ ।
आकाशं च मरीचिवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विनोय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभो धारणा ।। ११७ ।
स्तम्भनी प्लावनी चैव दहनी भ्रामणी तथा ।
शमनी च भवन्त्येता भूतानां पञ्च धारणाः ।। ११८ ।
ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुश्चिन्तातत्त्वे सुनिश्चला ।
एतद्ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा ।। ११९ ।

आकाशं चेति । एषा नभोधारणा प्रोक्तेत्यन्वयः । का सेत्याकांक्षायामाह । आकाशं यद्वर्तते तत्र प्राणं विनीय विशेषेण नीत्वा धारयेदिति । यत्कीदृशम् ? मरीचिवारिसदृशं सूर्यसदृशम्, सदाशिवेनेश्वरेण सहितं शान्तं निरुपद्रवम्, बीजत्वेन हकारमक्षरं यत्र तत्तथा, तत्राकाशतत्त्वे पञ्चघटिकं कालं यथा स्यादभिव्याप्येति वा । यद्वा, पञ्चघटिकं पञ्चात्मकं चित्तान्वितं मनःसहितम् । चिन्तान्वितमिति पाठे आत्मानुसन्धानसहितमित्यर्थः । कीदृशी धारणा ? मोक्षकपाटपाटनपटुः मोक्षद्वारे पिहितं यत्कपाटं तस्य पाटनमुद्घाटनं तत्र पटुर्दक्षा ।। ११७ ।

उक्तानां धारणानां नामविशेषानाह । स्तम्भनीत्येकेन ।। ११८ ।

ध्यानस्वरूपमाह । ध्या इति । ध्यै धातुश्चिन्तायां स्मृतः कथितः । तथा च पठन्ति । ध्यै चिन्तायामिति । चिन्तातत्त्वे पदार्थे सुनिश्चला एकाग्रतारूपा एतद्ध्यानमपि रूपाऽरूपभेदेन समन्त्राऽमन्त्रभेदेन वा द्विविधमित्याह । एतद्ध्यानमिति सार्धेन ।। ११९ ।

अंजन के तुल्य श्यामवर्ण, गोलाकार, यकार-बीज, ईश-दैवत, वायुतत्त्व का दोनों भौंवों के मध्यभाग में ध्यान करने से वायुधारणा होती है ।। ११६ ।

तत्पश्चात् किरण जल के समान (वर्णशून्य), शान्त, (निराकार) हकार-बीज, सदाशिव-दैवत, आकाशतत्त्व का ब्रह्मरंध्र में स्थित ध्यान करना चाहिए, यही आकाश-धारणा है । इसमें पाँच घड़ी पर्यन्त प्राण को ध्यानासक्त करने से यह (आकाश) धारणा मोक्षद्वार के कपाटरूप विघ्नों को खोलने में समर्थ कही गई है ।। ११७ ।

यही पाँचों भूतों की धारणाएँ (फलरूप से क्रमशः) स्तंभनी, प्लावनी, दहनी, भ्रामणी और शमनी होती हैं ।। ११८ ।

'ध्यै' धातु चिन्ता अर्थ में कहा गया है । अतः तत्त्व-विषय में (एकाग्रता-पूर्वक) स्थिरता ही चिन्ता है । (इस योगशास्त्र में) इसी को निर्गुण और सगुण भेद से द्विविध ध्यान कहा है ।। ११९ ।

सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं मतम् ।
समन्त्रं सगुणं विद्धि निर्गुणं मन्त्रवर्जितम् ।। १२० ।
अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरवस्थाप्य सुखासनम् ।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रातिसिद्धिदा ।। १२१ ।
नाश्वमेधेन तत्पुण्यं न च वै राजसूयतः ।
यत्पुण्यमेकध्यानेन लभेद्योगी स्थिरासनः ।। १२२ ।
शब्दादीनां च तन्मात्रा यावत्कर्णादिषु स्थिता ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं स्यात्समाधिरतः परम् ।। १२३ ।
धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् ।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिरिह भण्यते ।। १२४ ।

वर्णभेदेन रूपभेदेन । केवलं रूपादिरहितम् ॥ १२० ।

ध्यानमुद्रामाह अन्तश्चेत इति । सुखासनं शरीरस्य समत्वं चावस्थाप्य चेतोऽन्तर्नीयते चक्षुश्च बहिः क्रियत इति यदेषाऽतिसिद्धिदा ध्यानमुद्रेत्यर्थः ॥ १२१ ।

ध्यानफलमाह । नाश्वमेधेनेत्येकेन । तथा चोक्तम्—

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
यतिस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥ इति ॥ १२२ ।

ध्यानसमाध्योर्विभागमाह । शब्दादीनां चेति । तन्मात्रा सूक्ष्मावस्था । अतः परं तन्मात्रोपलब्धेः परम् ॥ १२३ ।

धारणाध्यानसमाधीनां कालकृतविभागमप्याह । धारणेति । पञ्चनाड्यः पञ्चदशलघूनि अवच्छेदककालो यस्याः सा धारणा पञ्चनाडिका । नद्यृतश्चेत्यनेन कप् । षष्टिर्नाड्योऽवच्छेदककालो यस्मिंस्तद्ध्यानं तथा इह योगमार्गे शास्त्रे वा ॥ १२४ ।

वर्णभेद से युक्त मन्त्रसहित ध्यान सगुण और केवल (निराकार) मन्त्ररहित ध्यान निर्गुण होता है ॥ १२० ।

भीतर चित्त और बाहर नेत्र को अवस्थित (ठिकाने) कर, सुखद आसन से बैठ शरीर को समता ध्यानमुद्रा है । यह अत्यन्त सिद्धिप्रदा होती है ॥ १२१ ।

योगी स्थिरासन होकर एक ही ध्यान से जो पुण्यलाभ करता है, वह पुण्य अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ करने से भी नहीं प्राप्त होता ॥ १२२ ।

जब तक कर्ण इत्यादि में शब्दादिकों की कुछ भी मात्रा स्थित रहती है, तभी तक ध्यान कहा जाता है । इसके ऊपर समाधि की अवस्था हो जाती है ॥ १२३ ।

पाँच घड़ी की धारणा, साठ घड़ी का ध्यान और बारह दिन की समाधि—इस शास्त्र में कही जाती है ॥ १२४ ।

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते ॥ १२५ ।
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं यत्स समाधिरिहोच्यते ॥ १२६ ।
यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥ १२७ ।
नात्मानं न परं वेत्ति न शीतं नोष्ममेव च।
समाधियुक्तो योगीन्द्रो न सुखं न सुखेतरत् ॥ १२८ ।
काल्यते नैव कालेन लिप्यते नैव कर्मणा।
भिद्यते न शस्त्रास्त्रैर्योगी युक्तः समाधिना ॥ १२९ ।

एवं प्रसङ्गागतं कालकृतं धारणादीनां विभागमभिधाय स्यात्समाधिरतः परमित्यत्रोक्तं समाधिं दर्शयति। जलसैन्धवयोरिति त्रिभिः। सिन्धौ भवः सैन्धवो लवणखण्डः जलसैन्धवयोः यथायोगतो मेलनात् साम्यमैक्यं भवति तथात्ममनसोरैक्यं साम्यं बहिर्विषयं परित्यज्यात्मन्येव लग्नं सन्मनस्तिष्ठतीति यत्तत्समाधिरिह भण्यते। अथवाऽऽत्मा परो मनो मन उपाधिर्जीवस्तयोरैक्यमिति ॥ १२५ ।

यदेति। मानसं मनः। समरसत्वमेकरसं परमानन्दत्वमर्थाद्योगिनः। "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति" इति (तै० उ० २।७।१) ॥ १२६ ।

तत्र प्रथमश्लोकेन ससाधनयोस्तत्त्वंपदार्थयोरैक्यमुक्तं द्वितीयेन निषेधमुखेन तृतीयेन विधिमुखेनेति द्रष्टव्यम् ॥ १२७ ।

समाधिफलमाह। नात्मानमिति द्वाभ्याम्। आत्मानं स्वदेहम्। सुखं विषयजम्। सुखेतरद् दुःखम् ॥ १२८ ।

काल्यते नीयते चाल्यत इत्यर्थः। कम्पत इति पाठे कालेन हेतुना न कम्पते भीतो न भवतीत्यर्थः ॥ १२९ ।

जैसे जल और सेंधा नोन दोनों ही मिला देने से एक समान हो जाते हैं, उसी प्रकार से आत्मा और मन की एकता का ही नाम समाधि कहा जाता है ॥ १२५ ।

जिस समय प्राण क्षीण और मन लवलीन हो जाता है, उसी वेला की एकरसता को समाधि कहते हैं ॥ १२६ ।

इस शरीर में जीवात्मा और परमात्मा की जब समानता हो जाती है, तब कोई भी मानसिक कर्म नहीं रह जाते। यही समाधि की दशा कही जाती है ॥ १२७।

समाधि-स्थित योगीन्द्र न अपने को, न पराये को, न शीत को, न उष्ण को, न सुख को, न दुःख को ही—कुछ भी नहीं जानता ॥ १२८ ।

जब योगी समाधि लगा लेवे, तब उसे न तो काल हिला सकता है, न कर्म ही लिप्त कर सकता है और न अस्त्र-शस्त्रों से ही वह काटा जा सकता है ॥ १२९ ।

युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टो हि कर्मसु ।
युक्तनिद्रावबोधश्च योगी तत्त्वं प्रपश्यति ॥ १३० ।
तत्त्वं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
हेतुदृष्टान्तरहितं वाङ्मनोभ्यामगोचरम् ॥ १३१ ।
तत्र योगी निरालम्बे निरातङ्के निरामये ।
षडङ्गयोगविधिना परे ब्रह्मणि लीयते ॥ १३२ ।
यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि तद्भवेत् ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्र तन्मयतां व्रजेत् ॥ १३३ ।

योगिनो भोजनविहारादिनियमं दर्शयन् योगफलं दर्शयति । **युक्ताहारेत्येकेन ।** **युक्तशब्दोऽत्र परिमितवाची** । तदुक्तं भगवता—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ इति ।
(गी० ६।१७) ॥ १३० ।

तत्त्वशब्दार्थमाह । **तत्त्वमिति** । विज्ञानं विशिष्टज्ञानं स्वप्रकाशं चैतन्यमित्यर्थः । प्रपञ्चितमिति शेषः, **प्रपञ्चितमेतद् बालबोधिनीटीकायामस्माभिः ।** आनन्दं सुखम्, ब्रह्म बृहद्देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं हेतुः कारणं दृष्टान्तो निदर्शनं तद्रहितम् । वाङ्मनोभ्यामगोचरं तयोरविषयम् एतादृशं वस्तुतत्त्वं तत्त्वशब्दवाच्यं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुरित्यर्थः । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (छा० उ० ३।१८।१) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्यादिश्रुतेः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिरिति स्मृतेश्च ॥ १३१ ।

तत्रेति । निरातङ्के निर्भये ॥ १३२ ।

यथेति । तत्र ब्रह्मणि ॥ १३३ ।

(यथा गीतायाम्)—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥"

जो योगी परिमित आहार-विहार और निद्रा, जागरण एवं समस्त कर्मों में परिमित ही चेष्टा को करता है, वह (सहज ही में) तत्त्व को देखने लगता है ॥ १३० ।

ब्रह्मज्ञानी लोग, हेतु और दृष्टान्त से रहित, वचन और मन से अगोचर, विज्ञानरूप, आनन्दमय ब्रह्म को ही तत्त्व समझते हैं ॥ १३१ ।

योगी षडंग योगाभ्यास के द्वारा निरालम्ब, निरातंक, निरामय उसी परब्रह्म में लीन हो जाता है ॥ १३२ ।

जैसे घृत में यदि घृत ही डाल दिया जावे, तो वह भी घृत ही हो जाता है, एवं क्षीर में भी क्षीर डाल देने से क्षीर ही हो जाता है, उसी रीति से परब्रह्म में लीन योगी भी तन्मय (ब्रह्ममय) हो जाता है ॥ १३३ ।

अनसञ्जातपानीयैर्विदध्यादङ्गमर्दनम् ।
त्यजेत्कदुष्णं लवणं क्षीरभोजी सदा भवेत् ॥ १३४ ।
ब्रह्मचारी जितक्रोधो जितलोभो विमत्सरः ।
अब्दमित्थं सदाभ्यासात्स योगीति निगद्यते ॥ १३५ ।
महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धन्तु यो वेत्ति स योगी योगसिद्धिभाक् ॥ १३६ ।
शोधनं नाडीजालस्य घटनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं सम्यङ्महामुद्राऽभिधीयते ॥ १३७ ।

अनसंजातपानीयैः न संजातं पानीयं येषु विभूत्यादिषु तैर्द्रव्यैः शरीरमर्दनं विदध्यात् । **नकारश्रवणमार्षम्** । यद्वा, न संजातानि नासंजातानि अनसंजातानि प्राणायामश्रमोत्पन्नानीत्यर्थः । यानि पानीयानि तैरङ्गमर्दनं विदध्यादिति । श्रमसंजातपानीयैरिति क्वचित् । **कदुष्णम्** ईषदुष्णम् । यद्वा, कदुष्णं कुत्सितोष्णमत्युष्णमत्यल्पमुष्णं चेत्यर्थः । क्षीरभोजी पायसभोजी दुग्धभोजीति वा ॥ १३४ ।

योगिमात्रस्य लक्षणमाह । **ब्रह्मचारीति** । **अष्टविधमैथुनपरित्यागी** । तदुक्तम्—

दर्शनं स्पर्शनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाऽत्र कीर्तितम् ॥ इति ।

विमत्सरो परगुणासहिष्णुत्वहीनः ॥ १३५ ।

सिद्धिभाजो योगिनः स्वरूपमाह । **महामुद्रामिति** । एतासां पञ्चानां लक्षणं स्वयमेवाऽनन्तरं वक्ष्यति । **महामुद्रां** खेचरीमुद्राम् ॥ १३६ ।

तत्र महामुद्राया लक्षणमाह । **शोधनमिति** । नाडीजालस्य पूरककुम्भकरेचकैः शोधनम् । घटनं योजनम् । प्राणाऽपानाभ्यां सह । रसानां विकारहेतूनाम् ॥ १३७ ।

जलरहित भस्मादिक द्रव्यों से अंगमर्दन करे और अत्युष्ण वस्तु या लवण भोजन न करे, हां दुग्ध भोजन करे ॥ १३४ ।

जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता हुआ क्रोध, लोभ और मत्सरता को छोड़ एक वर्षपर्यन्त ऐसा ही अभ्यास करने से मनुष्य योगी के नाम से कहा जाता है ॥ १३५ ।

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालंधर और मूलबन्ध को जो योगी जानता है, वही योगसिद्धियों का भागी होता है ॥ १३६ ।

नाड़ीजाल का शोधन, चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी का संघटन और अच्छी रीति से रसों का शोषण ही महामुद्रा कहलाती है ॥ १३७ ।

योनिं वामांघ्रिणाऽऽपीड्य कृत्वा वक्षस्थले हनुम् ।
हस्ताभ्यां प्रसृतं पादं धारयेद्दक्षिणं चिरम् ॥ १३८ ।
प्राणेन कुक्षिमापूर्य चिरं संरेचयेच्छनैः ।
एषा प्रोक्ता महामुद्रा महाघौघविनाशिनी ॥ १३९ ।
चन्द्राङ्के तु समभ्यस्य सूर्याङ्के पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १४० ।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि घोरं विषं पीतं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १४१ ।

लक्षणान्तरमाह । योनिमिति द्वाभ्याम् । वामांघ्रिणा वामपादेन योनिं शिश्नमापीड्य धृत्वा वक्षस्थले हृदये हनुं चिबुकं कृत्वा हस्ताभ्यां प्रसृतं प्रसारितं दक्षिणं पादं चिरं धारयेत् ॥ १३८ ।

प्राणेन वायुना कुक्षिमुदरमापूर्य पश्चाच्छनैः संरेचयेदिति यदेषा श्रीमहामुद्रा प्रोक्ता । कथंभूता ? सर्वपापप्रणाशिनी ॥ १३९ ।

मुद्रायास्त्यागावधिमाह । चन्द्राङ्कमिति । एवं प्रथमतश्चन्द्राङ्के इडायां समभ्यस्य पश्चात्सूर्याङ्के पिङ्गलायां पुनरभ्यसेत् । यावत्संख्या मात्रातुल्या । यस्य प्राणस्य यावती मात्रा संख्या विहिता भवेत्, तावती वा स्यात् । पूरककुम्भकरेचकाणां तुल्या मात्रा संख्या यावत् स्यात् तावत्पर्यन्तमित्यर्थः । ततो मुद्रां विसर्जयेत् त्यजेत् ॥ १४० ।

महामुद्राऽभ्यासस्य फलमाह । न हीति द्वाभ्याम् । एतां मुद्रामभ्यसतः पथ्यमपथ्यं वा नास्ति । यत् किञ्चिद् भुज्यते तत्सर्वं पथ्यमित्यर्थः । विकारहेतवो ये रसास्ते सर्वेऽपि नीरसा इत्यर्थः ॥ १४१ ।

वामपाद से मूत्रेन्द्रिय को दबाकर और वक्षःस्थल में चिबुक (दाढ़ी या ठुड्ढी)को सटाय, दोनों हाथों से फैले हुए दक्षिणचरण को चिरकाल तक धारण किये रहे, फिर प्राणवायु से कोंख को परिपूर्ण कर धीरे-धीरे रेचन करे। यही महापापपुंजविनाशिनी महामुद्रा करने की विधि कही गई है ॥ १३८-१३९ ।

प्रथमतः चन्द्रनाड़ी (इड़ा) में (प्राणायामों का) अभ्यास करके तब पुनः सूर्यनाड़ी (पिंगला) में अभ्यास करे, जब कि पूरक इत्यादि की संख्या समान हो जावे, तब मुद्रा को छोड़ देवे ॥ १४० ।

इस महामुद्रा के अभ्यास करने में पथ्य-अपथ्य का विचार नहीं है और समस्त नीरस (पदार्थ) भी रसपूर्ण हो जाते हैं। यदि महाघोर विष भी पिया जावे, तो वह भी अमृत के समान पच जाता है ॥ १४१ ।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥ १४२ ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ १४३ ।
न पीड्यते शरौघेण न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ १४४ ।

क्षयेति । गुदावर्तोऽर्शः । तदुक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडय दक्षिणम् ।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखम् ॥
कण्ठे रन्ध्रं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धतः ।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तथाऽसौ मरणाऽवस्थां हरते द्विपुटाश्रयाम् ॥
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥
चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे तु समभ्यसेत् ।
क्षयः कुष्ठो गुदावर्तो गुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।
कथितेयं महामुद्रां जरामृत्युविनाशिनी ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ इति ॥ १४२ ।

नभोमुद्रायाः स्वरूपमाह । कपालेति । कपालकुहरे कपालस्याऽभ्यन्तरे छिद्रे विपरीतगा विपर्यस्ता विपरीतं गता सती प्रविष्टा जिह्वा दृष्टिश्च भ्रुवोरन्तर्गता यदा तदा खेचरीमुद्रा भवति । तथा चोक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—"कपालकुहरे" इत्यादि यथाश्लोकमेव ॥ १४३ ।

एतन्मुद्राज्ञानस्य फलमाह । न पीड्यत इति । एतदपि स्फुटं तस्यामेव । पीड्यते नेत्यादि यथाश्लोकमेव ॥ १४४ ।

जो महामुद्रा का अभ्यास करता है, उसके क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त (बवासीर या भगन्दर), गुल्म (वायुगोला), पिलही, अजीर्ण प्रभृति रोगों के दोष क्षय हो जाते हैं ॥ १४२ ।

कपालकुहर (बिल) में जिह्वा को विपरीतगामिनी रख करके दोनों भौंवों के बीच में दृष्टि को स्थिर करने से खेचरी मुद्रा होती है ॥ १४३ ।

जो कोई इस खेचरी मुद्रा को जान लेता है, वह न तो बाणसमूह से पीड़ित होता है, न कर्मविपाक में पड़ता है और न काल की बाधा को प्राप्त होता है ॥१४४।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरोनाम मुद्रा सिद्धैर्निषेविता ।। १४५ ।
यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद् बद्धा नभोमुद्रा तावद् बिन्दुर्न गच्छति ।। १४६ ।
उड्डीनं कुरुते यस्मादहोरात्रं महाखगः ।
उड्डीयानं ततः प्रोक्तं तत्र बन्धो विधीयते ।। १४७ ।
जठरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च धारयेत् ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धो मृत्योरपि भयं त्यजेत् ।। १४८ ।

नभोमुद्राया एव खेचरी नाम निर्वक्ति । चित्तं चरतीति । एतदपि तस्यामेवोक्तम् । चित्तमित्यादि यथाश्लोकमेव । तेन स्मृतेति विशेषः ।। १४५ ।

परम्परया खेचरीमुद्राया मरणाभावहेतुतामाह । यावद्बिन्दुरिति । बिन्दुश्चरमो धातुः ।। १४६ ।

उड्डीयानं बन्धं वक्तुमादौ तन्नाम निर्वक्ति । उड्डीनमिति । महाखगो महाप्राणः । महत्त्वं देहेन्द्रियाधारकत्वम् ।। १४७ ।

तत्र उड्डीयानबन्धमेवाह । जठर इति । पश्चिमं तानं हस्ताग्राभ्यां मध्ये धृत्वा प्रसारितस्य पादद्वयस्य मध्यं यथा भवति तथा जठरे नाभेरूर्ध्वं च धारयेदिति यदेष उड्डीयानबन्धः । अस्माद् बन्धान्मृत्योरपि भयं त्यजेत् । तदेतदुक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।।
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।। इति ।। १४८ ।

इसके अभ्यासकाल में चित्त और जिह्वा आकाश में प्राप्त होकर विचरण करती है । अतएव इस मुद्रा का नाम खेचरी है । सिद्धगण इसका बहुत सेवन करते हैं ।। १४५ ।

जब तक बिन्दु शरीर में स्थिररूप से वर्तमान रहता है, तब तक मृत्यु का भय कहाँ है ? जब तक यह नभोमुद्रा (खेचरी) बद्ध रहती है, तब तक बिन्दु कदापि नहीं निकल सकता ।। १४६ ।

दिन-रात महाप्राण उड़ा करता है । अतः उसके बन्धन-विधान को उड्डीयान (मुद्रा) कहा गया है ।। १४७ ।

पेट पर (दोनों हाथों के अग्रभाग से) फैले हुए दोनों पैरों के मध्यभाग को नाभि के ऊपर धारण करे । इसी को उड्डीयानबन्ध कहते हैं, इसके साधन से भी मृत्यु का भय नहीं रहता ।। १४८ ।

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम्।
एष जालन्धरो बन्धः कण्ठे दुःखौघनाशनः॥ १४९॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति॥ १५०॥
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते॥ १५१॥
अपानप्राणयोरैक्ये क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥ १५२॥

निर्वचनपूर्वकं जालन्धरबन्धमाह। बध्नातीति। बध्नाति धारयति। शिराजालं नाडीसमूहम्। नभोजलं शरीराऽन्तर्गतच्छिद्रजलम्॥ १४९॥

अस्य बन्धस्य फलान्तरमाह। जालन्धर इति। कण्ठसंकोचलक्षणे कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापनलक्षणेऽर्थाद् द्वयोः पीयूषममृतं ललाटस्थचन्द्रमण्डले स्थितम्। अग्नौ जाठरे प्रधावति प्रकुप्यति। तदेतदुक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया।
बन्धो जालंधराख्योऽयममृताख्योपकारकः॥
बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभो जले।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठे दुःखौघनाशनः॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति॥ इति॥ १५०॥

मूलबन्धस्वरूपमाह। पार्ष्णिभागेनेति। पार्ष्णिभागेन पादमूलभागेन। आकुञ्चयेत् संकोचयेत्॥ १५१॥

अस्य बन्धस्य फलमाहाऽपानेति। सततं सर्वदा मूलबन्धनाद्धेतोरपानप्राणयोरैक्यादपो भवन्तीत्यर्थः। अपानप्राणयोरैक्ये इति क्वचित्। तदेतदुक्तं हठयोगप्रदीपिकायाम्—

जिसके द्वारा अधोगामी शरीरान्तर्गत छिद्र-जलादि को कण्ठ-देश में नाड़ी-जाल से बाँध दिया जाय, तो यही जालन्धर बन्ध दुःखसमूह का नाशक होता है॥ १४९॥

कण्ठ के संकोचसूचक इस जालन्धरबन्ध के अभ्यास हो जाने से (ललाट-सम्भूत) अमृत (जहर के) अग्नि में नहीं गिरने पाता और न (शरीरस्थ) वायु चलता है॥ १५०॥

पार्ष्णिभाग (एड़ी) से योनि को दबाकर गुदस्थान का संकोच कर देवे, फिर अपानवायु को ऊपर खींच ले जाने से मूलबन्ध सम्पादित होता है॥ १५१॥

इस मूलबन्ध से सर्वदा अपान और प्राणवायु की एकता हो जाती है और उसके द्वारा वृद्ध भी युवा हो सकता है॥ १५२॥

प्राणाऽपानवशो जीव ऊर्ध्वाऽधः परिधावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलो न स्थितिं लभेत् ।। १५३ ।
गुणबद्धो यथा पक्षी गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणैर्बद्धस्तथा जीवः प्राणायामेन कृष्यते ।। १५४ ।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाऽधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ।। १५५ ।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।।
अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते हठात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं तु योगिनः ।।
गुदं पार्ष्ण्यानुसम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं तथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नाऽत्र संशयः ।।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।। इति ।। १५२ ।

नन्वात्मनः कूटस्थत्वाद् विकाराभावाद् योगेन किं क्रियते तत्राह । प्राणाऽपानेति । प्राणाऽपानवशस्तदायत्तस्तदुपाधिरित्यर्थः । वामदक्षिणमार्गेण इडापिङ्गलानाडीद्वयेन । अत एव चञ्चलः सन् स्थितिं न लभेन्न भजेत् । अयमेव वा पाठः ।। १५३।

सदृष्टान्तमाह । गुणबद्ध इति । गुणेन रज्ज्वा गुणकार्यया वा रज्ज्वा बद्ध इत्यर्थः । गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिस्तत्कार्यैर्वा कार्यकरणसंघातैः ।। १५४ ।

अतो योगविज्जीवस्य निश्चलतयाऽवस्थानार्थं प्राणाऽपानयोरैक्यं करोतीत्याह । अपान इति ।। १५५ ।

जीव प्राण और अपान वायु के वश में पड़कर दाहिने-बाँयें मार्ग से ऊपर नीचे दौड़ा करता है, और वह नियत रूप से चंचल होने के कारण तनिक स्थिर नहीं हो सकता ।। १५३ ।

डोरे में बँधा हुआ पक्षी जैसे उड़ जाने पर भी फिर खिंच आता है, उसी प्रकार से सत्त्वादिगुणों द्वारा बद्ध जीव भी प्राणायाम से आकर्षित कर लिया जाता है ।। १५४ ।

अपान वायु से प्राणवायु और प्राण से अपान दोनों ही परस्पर खींचे जाते हैं। ये दोनों वायु ऊपर और नीचे विद्यमान रहते हैं। इनको योगी ही मिला सकता है ।। १५५ ।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यतो मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ १५६ ।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ १५७ ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ १५८ ।

हकारेणेति । हकारेणाकाशबीजेन बहिर्गच्छतीति । यद्वा, हकारेण पुरुषबीजेन सकारेण प्रकृतिबीजेन पुनर्विशेत् । पुंप्रकृत्यात्मकौ हंसाविति शारदातिलकवचनात् । अतो हेतोर्हंस-हंसेति मन्त्रं जीवः सर्वदा जपति । तथा च श्रुतिः—"हंस हंसेति सदा यः सर्वदेहेषु व्याप्तो वर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तैलमिव विदित्वा न मृत्युमेति" इति । लैङ्गे च ब्रह्मणो वचनम्—

एवं व्याहृत्य विश्वात्मा स्वरूपमकरोत्तदा ।
वाराहमहमप्याशु हंसत्वं प्राप्तवान् सुराः ॥
तदा प्रभृति मामाहुर्हंसो हंसो विराडिति ।
हंस हंसेति यो ब्रूयान्मां हंसः स भविष्यति ॥ इति ।

भागवते च—"हंसस्वरूप्यवदच्युतमात्मयोगम्" इति । अस्य मन्त्रस्य च ऋष्यादयः श्रुतावेवोक्ताः । तथा हि—अस्य हंस ऋषिरव्यक्तं छन्दः परमहंसो देवता भवतीति ॥ १५६ ।

रात्रिदिनमध्ये कियद्वारं जपतीति पृच्छायामाह । षट्शतानीति । सर्वदा दिवारात्रौ च षट्शतान्येकविंशतिसहस्राणि च या संख्या भवति एतत्संख्यान्वितं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्यान्वितं मन्त्रं हंस हंसेति स्वरूपं जीवो जपतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—षट्संख्याऽहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शताधिकानि भवन्तीति । अस्याऽयमर्थः—मन्त्रजपसंख्यामाह । षट्संख्या षष्टिघटिकात्मको हि दिवसः षोढाभिन्नः षट्संख्या तस्मिन् संवत्सराऽहोरात्राणां प्रतिघटिकं गणनया संख्या षट्संख्याघटिकादशके त्रिसहस्रं षट्शताधिकं भवतीत्यर्थः । किं बहुना, अहोरात्रयोः अहनि रात्रौ च एकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि स्पष्टम् । अतो न श्रुतिविरोधः ॥ १५७ ।

अस्य मन्त्रस्य नाम कथयति । अजपेति ॥ १५८ ।

जीव हकार से बाहर जाता है और सकार के द्वारा फिर प्रवेश करता है । अतएव वह "हंस हंस" इस मन्त्र को सर्वदा जपता रहता है ॥ १५६ ।

एक अहोरात्र में जीव इक्कीस सहस्र छः सौ बार इस मन्त्र का नित्य ही जप करता है ॥ १५७ ।

इसे योगियों की मुक्तिप्रदा 'अजपा' नाम गायत्री कहते हैं । इसके संकल्प मात्र से मनुष्य के समस्त पाप छूट जाते हैं ॥ १५८ ।

अन्तराया भवन्तीह योगिनो योगहानिदाः ।
श्रूयते दूरगा वार्ता दूरस्थं दृश्यते पुरः ॥ १५९ ।
योजनानां शतं यातुं शक्तिः स्यान्निमिषार्धतः ।
अचिन्तितानि शास्त्राणि कण्ठपाठी भवन्ति हि ॥ १६० ।
धारणाशक्तिरत्युग्रा महाभारो लघुर्भवेत् ।
क्षणं कृशः क्षणं स्थूलः क्षणमल्पः क्षणं महान् ॥ १६१ ।
परकायं प्रविशति तिरश्चां वेत्ति भाषितम् ।
दिव्यगन्धं तनौ धत्ते दिव्यां वाणीं प्रवक्ति च ॥ १६२ ।
प्रार्थ्यते दिव्यकन्याभिर्दिव्यं धारयते वपुः ।
इत्यादयोऽन्तरायाः स्युर्योगसंसिद्धिसूचकाः ॥ १६३ ।
यद्येभिरन्तरायैर्न क्षिप्यतेऽस्येह मानसम् ।
तदग्रे तत्समाप्नोति पदं ब्रह्मादि दुर्लभम् ॥ १६४ ।

योगं युञ्जतो योगिनो विघ्नरूपाः सिद्धय आयान्ति, ता उपेक्ष्य ब्रह्मण्येव मनो धेयमित्याहाऽन्तराया इत्यारभ्य यत्प्राप्येत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । अन्तरायानेव संक्षेपतो दर्शयति । श्रूयत इति चतुर्भिः । पुरोऽग्रतः ॥ १५९-१६० ।

तिरश्चां पश्वादीनाम् ॥ १६२ ।

दिव्यकन्याभिरप्सरोभिः ॥ १६३ ।

क्षिप्यते क्षोभ्यते । अस्य योगिनः । इह भोगभूमौ । तद् ब्रह्म । तदेव मुमुक्षुभिः पद्यते ज्ञायते इति पदम् ॥ १६४ ।

इस योगसाधना में योगियों को बाधा पहुँचानेवाले कारक सब विघ्न उपस्थित होते हैं । दूर की बातें सुनाई पड़ती हैं । दूर के पदार्थ आगे ही दिखाई देने लगते हैं॥१५९।

अर्धनिमेषमात्र में एक सौ योजन चलने की शक्ति हो जाती है । अपठित समग्र शास्त्र कण्ठाग्र हो जाते हैं ॥ १६० ।

धारणा शक्ति बहुत ही बढ़ जाती है । बड़ा भारी बोझ लघु (हलका) हो जाता है । जब चाहे दुर्बल या स्थूल (दुबला वा मोटा) और बड़ा या छोटा बन जा सकता है ॥ १६१ ।

दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है । पशु और पक्षियों की बोली समझने लगता है । शरीर में स्वर्गीय गन्ध आने लगती है । देवभाषा बोलने लगता है ॥१६२।

स्वर्ग की कन्याएँ प्रार्थना करने लग जाती हैं और दिव्य शरीर को धारण कर लेता है । ये सब विघ्न योगसिद्धि के संसूचकरूप से प्राप्त होते हैं ॥ १६३ ।

यदि योगी का चित्त इन सब विघ्नरूप सिद्धियों में फँसने नहीं पाता, तो उसके आगे ही वह ब्रह्मादिदेवताओं के दुर्लभ परम पद को प्राप्त करता है ॥ १६४ ।

यत्प्राप्य न निवर्तेत यत्प्राप्य न च शोचति।
तल्लभ्यते षडङ्गेन योगेन कलशोद्भव ॥ १६५ ।
एकेन जन्मना योगः कथमित्थं प्रसिद्ध्यति।
ऋते च योगसंसिद्धेः कथं मुक्तिरिहाप्यते ॥ १६६ ।
उभे एव हि निर्वाणवर्त्मनी किल कुम्भज।
किं वा काश्यां तनुत्यागः किं वा योगोऽयमीदृशः ॥ १६७ ।
चञ्चलेन्द्रियवृत्तित्वात् कलिकल्मषजृम्भणात्।
अल्पायुषां तथा नृणां क्वेह योगमहोदयः ॥ १६८ ।
अत एव हि जन्तूनां महोदयपदप्रदः।
सदैव स दयावार्धिः काश्यां विश्वेश्वरः स्थितः ॥ १६९ ।
काश्यां सुखेन कैवल्यं यथा लभ्येत जन्तुभिः।
योगयुक्त्याद्युपायैश्च न तथाऽन्यत्र कुत्रचित् ॥ १७० ।
काश्यां स्वदेहसंयोगः सम्यग् योग उदाहृतः।
मुच्यते नेह योगेन क्षिप्रमन्येन केनचित् ॥ १७१ ।

तदेव पदं दर्शयन् योगफलमुपसंहरति । यत्प्राप्येति ॥ १६५ ।

दयावार्धिः कृपासमुद्रः ॥ १६९ ।

काश्यामिति । सदा सर्वदा । इह संसारे । स इति पृथक् पदं वा । अन्तिमकालीन इत्यर्थः । समो व्यावर्त्यमाह । मुच्यते नेहेति ॥ १७१ ।

जिसे पाकर फिर संसार में न तो लौटना पड़े और न किसी का शोच ही करना पड़े—ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है । हे कुंभज ! वह (पद) षडंग योगाभ्यास ही के बल से पाया जा सकता है ॥ १६५ ।

एक ही जन्म में ऐसा योग कैसे सिद्ध हो सकता है ? और बिना योगासिद्धि के इस लोक में मुक्ति ही क्यों कर मिल सकती है ? ॥ १६६ ।

हे घटयोने ! मुक्ति के तो दो ही मार्ग हैं, एक तो काशी में शरीरत्याग, दूसरा उक्त प्रकार का योगाभ्यास ॥ १६७ ।

इन्द्रियवृत्तियों के चंचल होने से और कलिकाल में पापों के बढ़ने से तथा मनुष्यों की आयुष्य थोड़ी होने से इस भोगभूमि में योगसिद्धि कैसे हो सकती है?॥१६८।

इसीलिये वे दयासागर भगवान् विश्वेश्वर जन्तुवों के मोक्षदाता होकर सर्वदैव काशीपुरी में निवास करते हैं ॥ १६९ ।

जन्तुगण काशी में जैसे सुख से मोक्ष प्राप्त करते हैं, अन्यत्र कहीं भी योगादिक नाना उपायों से वैसी मुक्ति नहीं पा सकते ॥ १७० ।

काशी में अपने देह का संयोग ही सम्पूर्ण योग कहलाता है । संसार में इस योग के द्वारा जैसा शीघ्र मोक्ष प्राप्त होता है, वैसा दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १७१ ।

विश्वेश्वरो विशालाक्षी द्युनदी कालभैरवः ।
श्रीमान् ढुण्ढिर्दण्डपाणिः षडङ्गो योग एष वै ।। १७२ ।
एतत् षडङ्गं यो योगं नित्यं काश्यां निषेवते ।
सम्प्राप्य योगनिद्रां स दीर्घाममृतमश्नुते ।। १७३ ।
ओंकारः कृत्तिवासाश्च केदारश्च त्रिविष्टपः ।
वीरेश्वरोऽथ विश्वेशः षडङ्गोऽयमिहाऽपरः ।। १७४ ।
पादोदकासिसम्भेदज्ञानोदमणिकर्णिकाः ।
षडङ्गोऽयं महायोगो ब्रह्मधर्मह्रदावपि ।। १७५ ।
षडङ्गसेवनादस्माद्वाराणस्यां नरोत्तम ।
न जातु जायते जन्तुर्जननीजठरे पुनः ।। १७६ ।

ननु योगेनाऽन्ते तनुं त्यजेत् , योगः चित्तवृत्तिनिरोधः, शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन इत्यादिवचनाद्योगादेव कैवल्यं मन्यन्ते, तत्कथं काश्यां देहत्याग-मात्रेण मुक्तिरित्याशङ्कायां 'तुष्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन सुखसाध्यमन्यमेव षडङ्गयोगं दर्शयति। **विश्वेश्वर इति** ।। १७२ ।

योगः समाधिस्तद्रूपां निद्रां बहिर्वृत्त्यभावसाम्यताम् ।। १७३ ।

द्वितीयं षडङ्गं दर्शयति—**ओंकार इति** । **त्रिविष्टपः त्रिलोचनः** ।। १७४ ।

तृतीयषडङ्गमाह । **पादोदकेति** । **पादोदकं** वरणा । **सम्भेदः संगमः** । **ज्ञानोदं** ज्ञानवापी । ब्रह्मधर्मह्रदौ ब्रह्मह्रदो ब्रह्मनालं ब्रह्मेश्वरसमीपे ब्रह्मकुण्डं [1]धर्मह्रदः पाञ्चनदे धूतपापाशापेन धर्मस्यैव ह्रदत्वात् । ब्रह्मावर्तेति पाठे आवर्तोऽपि ह्रदविशेषो ज्ञातव्यः ।। १७५ ।

काशी में विश्वेश्वर, विशालाक्षी, गंगा, कालभैरव, ढुंढिराज और दण्डपाणि—ये ही छहों योग के अंगस्वरूप हैं ।। १७२ ।

यहाँ पर (काशी में) इसी षडंगयोग के नित्य सेवन करते रहने से महायोगनिद्रा के प्राप्त होने पर मोक्षलाभ हो जाता है ।। १७३ ।

काशी में ओंकारेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, केदारेश्वर, त्रिलोचन (आत्मा), वीरेश्वर और विश्वेश्वर—यह दूसरा षडंगयोग है ।। १७४ ।

वरुणासंगम, असीसंगम, ज्ञानवापी, मणिकर्णिका, ब्रह्मकुण्ड और धर्मनद (पंचगंगा) ये भी छहों अन्यविध योग के अंग हैं ।। १७५ ।

हे नरोत्तम ! काशी में इस षडंगयोग के सेवन से जन्तु फिर कभी माता के उदर में उत्पन्न नहीं होता ।।१७६ ।

---

१. धर्मह्रदो धर्मकूपः पञ्चनदं वा इति पुस्तकान्तरे ।

गङ्गास्नानं महामुद्रा महापातकनाशिनी ।
एतन्मुद्राकृताभ्यासोऽप्यमृतत्वमवाप्नुयात् ॥ १७७ ।
काशीवीथिषु सञ्चारो मुद्रा भवति खेचरी ।
खेचरो जायते नूनं खेचर्या मुद्रयाऽनया ॥ १७८ ।
उड्डीय सर्वतो देशाद्यानं वाराणसीं प्रति ।
उड्डीयानो महाबन्ध एष मुक्त्यै प्रकल्पते ॥ १७९ ।
जलस्य धारणं मूर्ध्नि विश्वेशस्नानजन्मनः ।
एष जालन्धरो बन्धः समस्तसुरदुर्लभः ॥ १८० ।
वृतो विघ्नशतेनापि यत्र काशीं त्यजेत्सुधीः ।
मूलबन्धः स्मृतो ह्येष दुःखमूलनिकृन्तनः ॥ १८१ ।
इति योगः समाख्यातो मया ते द्विविधो मुने ।
सषडङ्गः समुद्रश्च मुक्तये शम्भुभाषितः ॥ १८२ ।

तथा सुखसाध्या अन्या एव मुद्रा दर्शयति । गङ्गास्नानमिति ॥ १७७ ।

काशीवीथिषु काश्या मार्गेषु खे ब्रह्मणि चरतीति खेचरो ब्रह्मनिष्ठः । "कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति" श्रुतेः ॥ १७८ ।

द्विविधं योगमुपसंहरति ॥ इति योग इति । समुद्रो मुद्रासहितः ॥ १८२ ।

काशी में तो गंगास्नान ही महापातकनाशिनी महामुद्रा है, इसी मुद्रा के अभ्यास से मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १७७ ।

काशी की गलियों में भ्रमण करने का ही नाम खेचरी मुद्रा है। इस खेचरी मुद्रा के साधन से अवश्य खेचर (अर्थात् देवता) हो जाता है ॥ १७८ ।

सभी देशों में उड़कर वाराणसी के प्रति गमन करने को ही उड्डीयानबन्ध कहते हैं। इस महाबन्ध के अभ्यास से मुक्ति की सिद्धि मिलती है ॥ १७९ ।

विश्वेश्वर के स्नानोदक को लेकर मस्तक पर धारण करने को ही समस्त देव-दुर्लभ जालन्धरबन्ध जानना चाहिए ॥ १८० ।

सैकड़ों विघ्न पड़ने पर भी बुद्धिमान् जन जो काशी को नहीं छोड़ते, इसी का नाम मूलबन्ध है। इसके द्वारा अशेष दुःखों का मूलोच्छेद हो जाता है ॥ १८१ ।

मुनिवर ! महादेव का भाषित और मुक्ति का साधन तथा छहों अंग और मुद्राओं के सहित, यह दोनों प्रकार का योगाभ्यास मैंने तुमसे बता दिया ॥ १८२ ।

यावन्नेन्द्रियवैक्लव्यं यावद्व्याधिर्न बाधते ।
यावत्कालविलम्बोऽस्ति तावद्योगरतो भवेत् ॥ १८३ ।
उभयोर्योगयोर्मध्ये काशीयोगोऽयमुत्तमः ।
काशीयोगं समभ्यस्य प्राप्नुयाद्योगमुत्तमम् ॥ १८४ ।
आधिव्याधिसहायिन्या जरया मृत्युलिङ्गया ।
कालं निकटतो ज्ञात्वा काशीनाथं समाश्रयेत् ॥ १८५ ।
काशीनाथं समाश्रित्य कुतः कालभयं नृणाम् ।
क्रुद्धोऽपि जीवहृत्कालस्तच्च काश्यां सुमङ्गलम् ॥ १८६ ।
आतिथ्येऽनेहसि यथा प्रतीक्षेताऽतिथिं कृती ।
काश्यां कालं तथाऽऽयान्तं भाग्यवान् सम्प्रतीक्षते ॥ १८७ ।

उत्तमं योगं जीवब्रह्मणोरैक्यलक्षणम् ॥ १८४ ।

कालं मरणकालम् ॥ १८५ ।

आतिथ्येऽनेहसि अतिथिसमर्चनवेलायाम् । कालं मरणसमयम् । आयान्तम् आगच्छन्तम् ॥ १८७ ।

जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं हो जातीं, जब तक व्याधियों की बाधा नहीं ग्रस लेती और जितना ही मृत्यु में विलम्ब हो, उसी काल के बीच योगाभ्यास में तत्पर हो जाना चाहिए ॥ १८३ ।

इन दोनों योगों में यह काशीयोग ही उत्तम है, इस योग के अभ्यास कर लेने से वह श्रेष्ठयोग सहज में ही प्राप्त हो जाता है ॥ १८४ ।

मृत्यु की चिह्नरूपा, आधि-व्याधि-सहायिनी जरा (वृद्धता) के द्वारा काल को निकटवर्ती जानकर काशीनाथ का आश्रयण करना चाहिए ॥ १८५ ।

काशीपति के शरणागत हो जाने पर मनुष्य को फिर काल का भय कहाँ से हो सकता है ? क्योंकि काल तो कुपित होकर जीव ही लेता है, सो वह भी काशी में परममंगल का विषय है ॥ १८६ ।

धार्मिक-जन अतिथिपूजन की वेला जैसे अतिथि की बाट जोहता रहता है, काशी में भाग्यशाली पुरुष भी वैसे ही आने वाले काल की भी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ १८७ ।

कलिः कालः कृतं कर्म त्रिकण्टकमितीरितम् ।
एतत्त्रयं न प्रभवेदानन्दवनवासिनाम् ॥ १८८ ।
अन्यत्राऽर्तर्कितः कालः कलयिष्यत्यसंशयम् ।
कालादभयमिच्छेच्चेत्ततः काशीं समाश्रयेत् ॥ १८९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे योगाख्यानं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ।

त्रिकण्टकं कण्टकवत् कण्टकं संसाराऽनर्थदायीत्यर्थः ॥ १८८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ।

कलि, काल और कृतकर्म यही त्रिकंटक कहलाता है; परन्तु काशीवासियों के ऊपर इन तीनों का ही कुछ भी नहीं बसाता (चलता) ॥ १८८ ।

अन्य स्थान में तो अतर्कित भाव से आकर काल अवश्य ही ग्रस लेता है; परन्तु जिस किसी को काल से अभय प्राप्त करने की इच्छा हो, वह काशी का ही आश्रयण करे ॥ १८९ ।

दोहा—मुक्ति हेतु कलिकाल में, कठिन योग अभ्यास ।
सूधो साधन एक यह, करिये काशीवास ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां वानप्रस्थसंन्यासधर्म-योगाभ्यासकीर्तनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अगस्तिरुवाच —

कथं निकटतः कालो ज्ञायते हरनन्दन।
तानि चिह्नानि कतिचिद् ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥ १ ।

कुमार उवाच —

वदामि कालचिह्नानि जायन्ते यानि देहिनाम्।
मृत्यौ निकटमापन्ने मुने तानि निशामय ॥ २ ।
याम्यनासापुटे यस्य वायुर्वाति दिवानिशम्।
अखण्डमेव तस्यायुः क्षयत्यब्दत्रयेण हि ॥ ३ ।
द्व्यहोरात्रं त्र्यहोरात्रं रविर्वहति सन्ततम्।
अब्दमेकं च तस्येह जीवनावधिरुच्यते ॥ ४ ।

द्विचत्वारिंशकेऽध्याये काशीमाहात्म्यमिश्रिताः।
कालस्य वञ्चनोपाया उच्यन्तेऽतिसुखप्रदाः ॥ १ ।

कालं निकटतो ज्ञात्वा काशीनाथं समाश्रयेदित्युक्तं तत्र पृच्छति। कथमिति। कतिचित् कियन्ति ॥ १ ।

याम्यनासापुटे दक्षिणनासाछिद्रे। अखण्डं निश्छिद्रम् ॥ ३ ।

रविर्दक्षिणनाडी। तस्यां वायुर्वहतीत्यर्थः ॥ ४ ।

(कालवञ्चनोपाय-वर्णन)

अगस्त्य ने पूछा—

'हे हरनन्दन ! निकटवर्ती मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है ? और उसके कौन-कौन से चिह्न हैं ? यह सब मुझे बतला दीजिये' ॥ १ ।

स्कन्द बोले—

मुनिवर ! मृत्यु के निकट आ जाने पर शरीरधारियों को जो काल के लक्षण प्रकट हो जाते हैं, उन सब को मैं कहता हूँ, उन्हें श्रवण करो ॥ २ ।

जिसके केवल दक्षिण नासिकाछिद्र से रात्रि-दिन श्वासवायु चलता रहे, वह पूर्ण आयुष्य होने पर भी तीन वर्ष के मध्य में मर जाता है ॥ ३ ।

दो अथवा तीन दिन-रात जिसका निःश्वास दक्षिण नाड़ी से बहता रहे, उसके जीवन की अवधि एक वर्ष ही कही जाती है ॥ ४ ।

वहेन्नासापुटयुगे दशाहानि निरन्तरम् ।
वातश्चेत् सहसंक्रान्तिस्तया जीवेद्दिनत्रयम् ।। ५ ।
नासावर्त्मद्वयं हित्वा मातरिश्वामुखाद् वहेत् ।
शंसेद्दिनद्वयादर्वाक् प्रयाणं तस्य चाध्वनि ।। ६ ।
अकस्मादेव यत्काले मृत्युः सन्निहितो भवेत् ।
चिन्तनीयः प्रयत्नेन स कालो मृत्युभीरुणा ।। ७ ।
सूर्ये सप्तमराशिस्थे जन्मर्क्षस्थे निशाकरे ।
पौष्णः स कालो द्रष्टव्यो यदा याम्ये रविर्वहेत् ।। ८ ।
अकस्माद् वीक्षते यस्तु पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।
तस्मिन्नेव क्षणेऽरूपं स जीवेद्वत्सरद्वयम् ।। ९ ।

कथंभूतो वातः सहसंक्रान्तिः सम्यक् क्रान्तिः संक्रान्तिरुत्क्रान्तिरित्यर्थः । तया सह वर्तमानः । तया संक्रान्त्या । तदेति वा पाठः ।। ५ ।

नासेति । मुखान्मुखद्वारा । अध्वनि यममार्गे ।। ६ ।

एतदेव स्पष्टयति । अकस्मादिति ।। ७ ।

सूर्य इति श्लोकद्वयं वाक्यम् । पौष्णः सूर्यदेवताकः । याम्ये दक्षिणनासापुटे । रविर्वायुः ।। ८ ।

तस्मिन्नेव पौष्णकाल एव । अरूपं रूपान्तरमुक्तम् ।। ९ ।

निरन्तर दश दिन लों जिसके दोनों ही नासापुटों से श्वास चलता रहे और वायु एक साथ मिल जावे, तो उसका जीवन तीन दिन मात्र रह जाता है ।। ५ ।।

नासिका के दोनों ही मार्गों को छोड़कर जिसका श्वास मुख से चलने लगे, उसे दो दिन के भीतर ही यमराज के मार्ग की यात्रा करनी पड़ती है ।। ६ ।

जिस काल में अचानक मृत्यु आ पहुँचे, मृत्यु से डरने वाले को उसी काल की चिन्ता प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ।। ७ ।

सूर्य जब सप्तम राशि पर हों और चन्द्रमा जन्मनक्षत्र में रहें, तभी दक्षिण-नासापुट से श्वास चलने लगता है । इस सूर्याधिष्ठित काल पर विशेष लक्ष्य करना चाहिए ।। ८ ।

इसी वेला में यदि कोई अकस्मात् कृष्ण वा पिंगलवर्ण के पुरुष को देखे और कुछ ही क्षण में रूपान्तर देखे, तो वह मनुष्य केवल दो वर्ष जी सकता है ।। ९ ।

यस्य बीजं मलं मूत्रं क्षुतं मूत्रं मलं तु वा।
इहैकदा पतेद्यस्य अब्दं तस्यायुरिष्यते ॥ १० ।
इन्द्रनीलनिभं व्योम्नि नागवृन्दं य ईक्षते।
इतस्ततः प्रसृमरं षण्मासं न स जीवति ॥ ११ ।
व्यभ्रेऽह्नि वारिपूर्णास्यः पृष्ठीकृत्य दिवाकरम्।
फूत्कृत्याशिवन्द्रचापं न पश्येत्षण्मासजीवितः ॥ १२ ।
अरुन्धतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च।
आसन्नमृत्युर्नो पश्येच्चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥ १३ ।
अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमुच्यते।
विष्णोः पदानि भ्रूमध्ये नेत्रयोर्मातृमण्डलम् ॥ १४ ।
वेत्ति नीलादिवर्णस्य कट्वम्लादिरसस्य हि।
अकस्मादन्यथाभावं षण्मासेन स मृत्युभाक् ॥ १५ ।

यस्येति। बीजं शुक्रम्, मलं पुरीषम्, मूत्रमेतत्त्रितयं वा। इह संसारे। सहेति पाठे अत्यव्यवहित समय इत्यर्थः ॥ १० ।

इन्द्रेति। प्रसृमरम् इतस्ततो गमनशीलम् ॥ ११ ।

व्यभ्रे इति। फूत्कृत्य फूत्कारशब्दं कृत्वेति पूर्वेणान्वयः। पूत्कृत्येति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १२ ।

अरुन्धतीमिति श्लोकं स्वयमेव व्याचष्टे। अरुन्धती भवेदिति ॥ १४ ।

वेत्तीति। अकस्माच्चक्षुर्दोषज्वरादिकं विनेत्यर्थः ॥ १५ ।

जिस किसी का वीर्य, मल और मूत्र अथवा छींक, मल और मूत्र एक साथ ही निकल पड़े, उसकी आयुष्य एक ही वर्ष कही जा सकती है ॥ १० ।

जो कोई आकाश में इन्द्रनील के समान इधर-उधर विचरण करते हुए नागवृंद को देखने लगता है, वह छः मास नहीं जीता ॥ ११ ।

यों ही जो मुख में जल लेकर सूर्य को पिछउँड (पीठ की ओर) करके फुहारा छोड़े और इन्द्रधनुष को न देखे, तो उसका जीवन वही छः मास का होता है ॥ १२ ।

जिसकी मृत्यु निकट हो जाती है, वह अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद और मातृ-मण्डल—इन चारों को नहीं देखता ॥ १३ ।

जिह्वा को अरुन्धती, नासिका के अग्रभाग को ध्रुव, भ्रूमध्य को विष्णुपद और नेत्रों के मध्यभाग को मातृमण्डल कहते हैं ॥ १४ ।

जो कि नील इत्यादि वर्ण और कडुआ, खट्टा आदि रसों का कुछ दूसरा ही रंग वा स्वाद समझता है, वह मृत्यु का भागी होता है ॥ १५ ।

षण्मासमृत्योर्मर्त्यस्य कण्ठोष्ठरसनारदाः ।
शुष्यन्ति सततं तद्वद्विच्छायास्तालुपञ्चमाः ॥ १६ ।
रेतः करजनेत्रान्ता नीलिमानं भजन्ति चेत् ।
तर्हि कीनाशनगरीं षष्ठे मासि व्रजेन्नरः ॥ १७ ।
सम्प्रवृत्ते निधुवने मध्येऽन्ते क्षौति चेन्नरः ।
निश्चितं पञ्चमे मासि धर्मराजाऽतिथिर्भवेत् ॥ १८ ।
द्रुतमारुह्य सरठस्त्रिवर्णो यस्य मस्तके ।
प्रयाति याति तस्यायुः षण्मासेन परिक्षयम् ॥ १९ ।
सुस्नातस्यापि यस्याशु हृदयं परिशुष्यति ।
चरणौ च करौ वापि त्रिमासं तस्य जीवितम् ॥ २० ।
प्रतिबिम्बं भवेद्यस्य पदं खण्डपदाकृति ।
पांसौ वा कर्दमे वापि पञ्चमासान् स जीवति ॥ २१ ।

षण्मासेति। षण्मासान्मृत्युर्यस्य तस्य मर्त्यस्य कण्ठश्च ओष्ठश्च रसना जिह्वा च रदा दन्ताश्च तालु पञ्चमा एते शुष्यन्ति तद्वत्तथा विच्छायाश्च भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ।

रेत इति । कीनाशोऽत्र यमः ॥ १७ ।

सम्प्रवृत्त इति । निधुवने मैथुने। क्षौति क्षुतं करोति ॥ १८ ।

द्रुतमिति । सरठः कृकलासः । त्रयो नीलरक्तपीतवर्णा यस्य स त्रिवर्णः ॥ १९ ।

प्रतिबिम्बमिति । खण्डपदाकृति अर्द्धादिचरणाकारम् ॥ २१ ।

जिस मनुष्य की आयुष्य छः मास ही अवशिष्ट रह जाती है, उसका कण्ठ, ओष्ठ, जिह्वा, दन्त और तालु विच्छाय (बदरंग) होकर सदा सूखने लग जाते हैं ॥ १६ ।

यों ही जिसका वीर्य, हाथ के नख और नेत्रकोण काले पड़ जावें, तो वह भी छः मास में यमपुरगामी हो जाता है ॥ १७ ।

जो कोई मैथुन के समय वा उसके अन्त में छींकता है, वह मनुष्य पाँचवें मास में अवश्य ही यमराज का अतिथि बन जाता है ॥ १८ ।

तीन रंग का गिरगिटान (गिर्गिट) वेग से जिसके मस्तक पर चढ़कर चला जावे, उसके आयुष्य का छः मास में परिक्षय हो जाता है ॥ १९ ।

यदि अच्छी रीति से स्नान करने पर भी जिसका हृदय, दोनों हाथ और चरण शीघ्र ही सूख जावें, तो वह तीन मास से अधिक नहीं जी सकता ॥ २० ।

जिसके पैर का चिह्न धूल वा कीचड़ में कटे पैर के ऐसा पड़े, वह भी पांच मास से अधिक नहीं चल सकता ॥ २१ ॥

छाया प्रकम्पते यस्य देहबन्धेऽपि निश्चले ।
कृतान्तदूता बध्नन्ति चतुर्थे मासि तं नरम् ॥ २२ ।
निजस्य प्रतिबिम्बस्य नीराज्यमुकुरादिषु ।
उत्तमाङ्गं न यः पश्येत्स मासेन विनश्यति ॥ २३ ।
मतिर्भ्रंश्येत् स्खलेद्वाणी धनुरैन्द्रं निरीक्षते ।
रात्रौ चन्द्रद्वयं चापि दिवा द्वौ च दिवाकरौ ॥ २४ ।
दिवा च तारकाचक्रं रात्रौ व्योमवितारकम् ।
युगपच्च चतुर्दिक्षु शाक्रं कोदण्डमण्डलम् ॥ २५ ।
भूरुहे भूधराग्रे च गन्धर्वनगरालयम् ।
दिवा पिशाचनृत्यं च एते पञ्चत्वहेतवः ॥ २६ ।
सर्वेष्वेतेषु चिह्नेषु यद्येकमपि वीक्षते ।
तदा मासावधि मृत्युः प्रतीक्षेत न चाधिकम् ॥ २७ ।

निजस्येति । नीराज्यमुकुरादिषु दृष्टिप्रतिबन्धकरहितजलघृतदर्पणादिषु ॥२३।
मतिरिति श्लोकत्रयं वाक्यम् ॥ २४ ।

तारकचक्रमित्यनेन एकस्य द्वयोर्वा दर्शने नास्ति दोष इति ध्वनितम् ।
शाक्रमिन्द्रसम्बन्धिकोदण्डमण्डलं धनुःसमूहः ॥ २५ ।

गन्धर्वनगरालयम् आकाशेऽकस्माद्दृश्यमानं नगराकारमाश्रयम् । पञ्चत्व-हेतवो मृत्युहेतवः । हेतवे इति क्वचित् ॥ २६ ।

शरीर के निश्चल रहने पर भी जिसकी छाया (परछाँही) हिलती हो, वह चौथे मास में यमदूतों द्वारा बाँधा जाता है ॥ २२ ।

जल, घृत, दर्पण इत्यादि में जो कि अपने प्रतिबिम्ब का मस्तक नहीं देखता, वह तो मास भर में ही मर जाता है ॥ २३ ।

मति का भ्रंश, वचन का लड़खड़ाना, अनायास इन्द्रधनुष का देखना, रात्रि में दो चन्द्रमा और दिन में दो सूर्य और तारामण्डल एवं रात्रि में ताराहीन आकाश, वा एक साथ ही चारों दिशाओं में इन्द्रधनुष, वृक्ष पर वा पर्वत के ऊपर गन्धर्व-नगरालय और दिन में पिशाचों का नृत्य—इन सब का देखना ही मृत्यु का कारण होता है ॥ २४-२६ ।

इन सब लक्षणों के मध्य से यदि एक भी चिह्न दिखाई पड़े, तो एक मास से अधिक मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती ॥ २७ ।

करावरुद्धश्रवणः शृणोति न यदा ध्वनिम् ।
स्थूलः कृशः कृशः स्थूलस्तदा मासान्निवर्तते ॥ २८ ।
यः पश्येदात्मनश्छायां दक्षिणाशासमाश्रिताम् ।
दिनानि पञ्च जीवित्वा पञ्चत्वमुपयाति सः ॥ २९ ।
प्रोह्यते भक्ष्यते वापि पिशाचासुरवायसैः ।
भूतैः प्रेतैः श्वभिर्गृध्रैर्गोमायुखरसूकरैः ॥ ३० ।
रासभैः करभैः कोशैः श्येनैरश्वतरैर्बकैः ।
स्वप्ने स जीवितं त्यक्त्वा वर्षान्ते यममीक्षते ॥ ३१ ।
गन्धपुष्पांशुकैः शोणैः स्वां तनुं भूषितां नरः ।
यः पश्येत्स्वप्नसमये सोऽष्टौ मासाननित्यहो ॥ ३२ ।
पांसुराशिं च वल्मीकं यूपदण्डमथापि वा ।
योऽधिरोहति वै स्वप्ने स षष्ठे मासि नश्यति ॥ ३३ ।

प्रोह्यत इति श्लोकद्वयं वाक्यम् । प्रोह्यते पृष्ठादौ स्थापयित्वा नीयते । गोमायुः शृगालः ॥ ३० ।

करभैरुष्ट्रैः । कोशैर्वानरैः । श्येनैः शीचान इति प्रसिद्धैः पक्षिविशेषैः अश्वतरैर्गर्दभैः ॥ ३१ ।

गन्धेति । शोणै रक्तवर्णैः । अनिति जीवतीत्यर्थः । अहो इत्यगस्त्यसम्बोधनम् ॥ ३२ ।

पांस्विति । वल्मीकं वामलूरम् ॥ ३३ ।

हाथ से कानों को बन्द करके जो कुछ भी न सुन सके, अथवा हठात् मोटे से दुबला वा दुबले से मोटा हो जावे, तो वह एक मास के आगे नहीं बच सकता ॥ २८ ।

जो अपनी छाया को दक्षिण दिशा में समाश्रित देखता है, वह तो पाँच ही दिन जीकर पंचत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ।

जो कोई स्वप्न में पिशाच, असुर, काक, भूत, प्रेत, कुक्कुर, गिद्ध, सियार, खर, सूकर, गर्दभ, ऊँट, वानर, श्येन (बाजपक्षी), खच्चर और बकुला के पीठ पर चढ़कर उनका भक्ष्य बने, वह जीवन छोड़कर एक वर्ष में यमराज का दर्शन पावे ॥ ३०-३१ ।

जो मनुष्य रक्तवर्ण के गन्ध (चन्दन), पुष्प और वस्त्रादि से अपने शरीर को भूषित होता हुआ स्वप्नावस्था में देखे, वह आठ मास जीता है ॥ ३२ ।

यों ही स्वप्न-समय में जो अपने को धूलि के ढेर, बिमौड़ वा बलिदान के खम्भे पर चढ़ता हुआ (देख) पावे, वह भी छह मास में मर जाता है ॥ ३३ ।

रासभारूढमात्मानं तैलाभ्यक्तं च मुण्डितम् ।
नीयमानं यमाशां यः स्वप्ने पश्येत्स्वपूर्वजान् ।। ३४ ।
स्वमौलौ स्वतनौ वापि यः पश्येत्स्वप्नगो नरः ।
तृणानि शुष्ककाष्ठानि षष्ठे मासि न तिष्ठति ।। ३५ ।
लोहदण्डधरं कृष्णं पुरुषकृष्णवाससम् ।
स्वयं योऽग्रे स्थितं पश्येत्सत्रीन् मासान्न लंघयेत् ।। ३६ ।
काली कुमारी यं स्वप्ने बध्नीयाद् बाहुपाशकैः ।
स मासेन समीक्षेत नगरीं शमनोषिताम् ।। ३७ ।
नरो यो वानरारूढो यायात् प्राचीं दिशं स्वपन् ।
दिनैः स[1] पञ्चभिरेव पश्येत्संयमिनीं पुरीम् ।। ३८ ।
कृपणोऽपि वदान्यः स्याद्वदान्यः कृपणो यदि ।
प्रकृतेर्विकृतिश्चेत्स्यात्तदा पञ्चत्वमृच्छति ।। ३९ ।

स्वमौलाविति । स्वप्नगः स्वप्नभूमिष्ठः । स्वप्नत इति पाठे स्वप्न इत्यर्थः ।।३५।
कालीति । बध्नीयाद् आलिङ्गेत् । शमनोषितां यमेनाधिष्ठिताम् ।। ३७ ।
नर इति । स्वप्नन् स्वप्नं पश्यन् सन् ।। ३८ ।
कृपण इति । वदान्य उदारो दातेति यावत् । प्रकृतेर्विकृतिः स्वभावस्य त्याग इत्यर्थः ।। ३९ ।

जो अपने को गर्दभ पर चढ़ा, तेल लगाये, माथ मुँड़ाये दक्षिण दिशा में जाता हुआ स्वप्न में देखता है, अथवा अपने-(मृत) पूर्व पुरुषों को, अपने मस्तक पर, वा अपने शरीर पर तृण किं वा सुखठा (सूखे) काठों को उसी स्वप्नावस्था में देखता है, वह मनुष्य छठवें मास में नहीं रह जाता ।। ३४-३५ ।

जो अपने आगे काला वस्त्र पहिने और लोहे का डंडा लिये हुए काले पुरुष को खड़ा देखता है, वह अपने जीवन का तीन मास नहीं लाँघ (पार कर) सकता ।। ३६ ।

जिसे स्वप्न में श्यामवर्ण कुमारी बाहुपाश से आलिंगन करे, वह एक ही मास में यमपुरी को देख लेता है ।। ३७ ।

स्वप्नावस्था में जो वानर पर चढ़कर पूर्व दिशा में जावे, वह तो पाँच ही दिन में यमराज की नगरी का पथिक बन जाता है ।। ३८ ।

यदि कोई कृपण एकाएक दाता हो जावे, अथवा कोई दाता ही हठात् कृपण हो जावे, किं वा किसी प्रकार से अकस्मात् स्वभाव पलट जावे, तो वह (कदापि) नहीं बच सकता ।। ३९ ।

---

१. स पञ्चमैरेवेत्यपि पाठः ।

एतानि कालचिह्नानि सन्त्यन्यानि बहून्यपि ।
ज्ञात्वाऽभ्यसेन्नरो योगमथवा काशिकां श्रयेत् ॥ ४० ॥
न कालवञ्चनोपायं मुनेऽन्यमवयाम्यहम् ।
विना मृत्युञ्जयं काशीनाथं गर्भावरोधकम् ॥ ४१ ॥
तावद् गर्जन्ति पापानि तावद् गर्जेद्यमो नृपः ।
यावद्विश्वेशशरणं नरो न निरतो व्रजेत् ॥ ४२ ॥
प्राप्तविश्वेश्वरावासः पीतोत्तरवहापयाः ।
स्पृष्टविश्वेशसल्लिङ्गः कश्च याति न वन्द्यताम् ॥ ४३ ॥
करिष्येत् कुपितः कालः किं काशीवासिनां नृणाम् ।
काले शिवः स्वयं कर्णे यत्र मन्त्रोपदेशकः ॥ ४४ ॥

कालचिह्नान्युपसंहरन् कालवञ्चनोपाये द्वे गती आह । एतानीति ॥ ४० ॥

तत्राऽप्यन्तिमगतेः श्रेष्ठत्वमाह । न कालेति ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठत्वमेव दर्शयति । तावदिति । विश्वेशमेव शरणं रक्षितारं विश्वेशस्य शरणमावासमविमुक्तमिति यावदिति वा । निरतो नितरां रतः । नियत इति वा पाठः ॥ ४२ ॥

प्राप्तेति । पीतमुत्तरवहाया गङ्गायाः पयो येन स पीतोत्तरवहापयाः । वन्द्यतां देवादीनामिति शेषः । कस्येति पाठे कस्य देवादेर्वन्द्यतां नायाति; अपि तु सर्वस्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥

ननु स्वाधिकारोल्लंघनेन कालोऽरिष्टं करिष्यति नेत्याह । करिष्येदिति । यद्वा काल एव भजनीयो मारकत्वात्तत्राह । करिष्येदिति । [1]करिष्येत् करिष्यति । काले मरणाऽव्यवहितसमये ॥ ४४ ॥

ये ही सब काल के चिह्न हैं और अन्य भी बहुत से चिह्न होते हैं, इन सबको समझकर मनुष्य योगाभ्यास करे अथवा काशीवास करे ॥ ४० ॥

हे मुने ! दुःसह गर्भदुःख के निवारक, मृत्युंजय, काशीश्वर से भिन्न दूसरा कोई काल का छलने वाला उपाय मैं नहीं जानता ॥ ४१ ॥

मनुष्य जब तक भगवान् विश्वेश्वर का नियत शरणागत नहीं हो जाता, तभी लौं (तक) पापपुंज और यमराज उसके प्रति गरजते रहते हैं ॥ ४२ ॥

काशीधाम में निवास पाकर, उत्तरवाहिनी गंगा का जलपान कर और विश्वेश्वर के श्रेष्ठ लिंग का स्पर्श करने पर कौन नहीं पूजनीय होता ? ॥ ४३ ॥

जिस काशी में स्वयं सदाशिव अन्तकाल में सभी जीवों के कर्ण में मन्त्र का उपदेश कर देते हैं, भला, काल वहाँ के अधिवासी मनुष्यों का कुपित होकर भी क्या कर लेवेगा ? ॥ ४४ ॥

१. छान्दसम् ।

यथा प्रयाति शिशुता कौमारं च यथागतम् ।
सत्वरं गत्वरं तद्वद्यौवनं चापि वार्धकम् ॥ ४५ ।
यावन्न हि जराक्रान्तिर्यावन्नेन्द्रियवैक्लवम् ।
तावत्सर्वं फल्गुरूपं हित्वा काशीं श्रयेत्सुधीः ॥ ४६ ।
अन्यानि काललक्ष्माणि तिष्ठन्तु कलशोद्भव ।
जरैव प्रथमं लक्ष्म चित्रं तत्रापि भीर्न हि ॥ ४७ ।
पराभूतो हि जरया सर्वैश्च परिभूयते ।
हृततारुण्यमाणिक्यो धनहीनः पुमानिव ॥ ४८ ।
सुता वाक्यं न कुर्वन्ति पत्नी प्रेमापि मुञ्चति ।
बान्धवा नैव मन्यन्ते जरसा श्लेषितं नरम् ॥ ४९ ।

सानुभवं प्रकृतं सारमुपसंहरति । यथेति द्वाभ्याम् ॥ ४५ ।

सर्वं पुत्रकलत्रादि । फल्गु रूपम् अनिर्वचनीयरूपं तुच्छरूपं वा ॥ ४६ ।

अहो भाग्यं लोकानामित्यनुक्रोशति । अन्यानीति लक्ष्माणि चिह्नानि । लक्षाणीति वा पाठः । एवमग्रेऽपि ॥ ४७ ।

जराकृतान् दोषानाह । पराभूत इति त्रिभिः । हृतं तारुण्यमेव माणिक्यं यस्य सः ॥ ४८ ।

रहः सम्बन्धस्तु दूरे प्रेमाऽपि मुञ्चतीत्यर्थः ॥ ४९ ।

जैसे थोड़े दिनों में बाल्य और कौमार अवस्थाएँ बीत गईं, वैसे ही यौवन और वार्धक्य भी शीघ्र ही निकल जाता है ॥ ४५ ।

अतएव जब तक जरा नहीं धर दबाती और इन्द्रियाँ विकल नहीं हो जातीं, तब तक समस्त तुच्छ विषयों को त्यागकर बुद्धिमान् जन को काशी का आश्रित हो जाना चाहिए ॥ ४६ ।

हे अगस्त्य ! मृत्यु के और सब चिह्न तो दूर रहें, प्रथम चिह्न तो जरा ही है; परन्तु जरा हो जाने पर भी लोगों को कुछ भय नहीं होता, यही बड़ा आश्चर्य है ॥४७।

जब पुरुष जरा से परिभूत होता है, तो सभी से पराभव पाने लगता है। जैसे कोई अपनी जवानीरूप मानिक खोके दरिद्री हो गया हो ॥ ४८ ।

जराग्रस्त नर के पुत्र भी आज्ञा नहीं मानते, पत्नी भी प्रेम त्याग देती है और बन्धुगण भी उसे कुछ नहीं लगाते (समझते) ।

"पुत्रहु बातें ना सुनैं, पत्नी करे न नेह ।
बान्धव जन मानैं नहीं, ग्रसे जरा जब देह ॥ ४९ ।

आश्लिष्टं जरया दृष्ट्वा परयोषिद्विशङ्किता।
भवेत्पराङ्मुखी नित्यं प्रणयिन्यपि कामिनी ॥ ५० ॥
न जरासदृशो व्याधिर्न दुःखं जरया समम्।
कारयित्र्यपमानस्य जरैव मरणं नृणाम् ॥ ५१ ॥
न जीयते तथा कालस्तपसा योगयुक्तिभिः।
यथा चिरेण कालेन काशीवासाद् विजीयते ॥ ५२ ॥
विना यज्ञैर्विना दानैर्विना व्रतजपादिभिः।
विनाऽतिपुण्यसम्भारैः कः काशीं प्राप्तुमीहते ॥ ५३ ॥
काशीप्राप्तिरयं योगः काशीप्राप्तिरिदं तपः।
काशीप्राप्तिरिदं दानं काशीप्राप्तिः शिवैकता ॥ ५४ ॥

एतदेव सोत्प्रेक्षं प्रपञ्चयति। आश्लिष्टमिति ॥ ५० ॥

जरानिन्दामुपसंहरति। न जरेति ॥ ५१ ॥

ननु तर्ह्यन्यत्र स्थित्वैव कालजयः कर्तव्यस्तत्राह। न जीयत इति। चिरेण देहत्यागपर्यन्तेन। अचिरेणेति पदच्छेदे काशीवासान्मरणपर्यन्तादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

ननु तर्हि सर्वोऽपि लोकः किमिति वार्धके काश्यां नायाति तत्राह। विना यज्ञैरिति ॥ ५३ ॥

अतो महता प्रयत्नेन काश्यां मरणमेव सम्पादनीयमित्याह। काशीप्राप्तिरिति। योगादीनां यत्फलं तद्दातृत्वात्काशीप्राप्तेः काश्यां मरणमेव योगादिरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

पुरुष को जरा से लिपटे हुए देखते ही प्रणयिनी भी कामिनी परस्त्री के ऐसी विशंकित होकर नित्य ही पराङ्मुखी हो जाती है। इसी अभिप्राय का यह पुराना दोहा प्रसिद्ध है— "श्वेत श्वेत सब ही भले, भले श्वेत नहिं केश।
रमनी रमै न रिपु डरै, नहि आदरै नरेश" ॥ ५० ॥

जरा के समान न तो कोई व्याधि है और न कोई दुःख ही है, सब से अपमान करवाने वाली यह जरा ही तो मनुष्यों की मृत्यु है—

"जरा जरा आई जरा, जरा गई सब देह।
सब व्याधिन को पींजरा, जरा मौत को गेह" ॥ ५१ ॥

काल, तपस्या और योगाभ्यास के द्वारा वैसे नहीं जिताता, जैसा कि अल्प-समय में काशीवास द्वारा जीत लिया जा सकता है ॥ ५२ ॥

नानाविध यज्ञ, दान, व्रत, जप, और बड़े पुण्यसंभार के विना काशी पाने की चेष्टा कौन कर सकता है ? ॥ ५३ ॥

काशी की प्राप्ति ही योग, काशीलाभ ही तपस्या, काशीवास ही दान और काशी में मरण ही शिव की एकता है ॥ ५४ ॥

कः कलिः कोऽथवा कालः का जरा किञ्च दुष्कृतम् ।
का रुजः केऽन्तराया वा श्रिता वाराणसी यदि ॥ ५५ ।
कलिस्तानेव बाधेत कालस्तांश्च जिघांसति ।
एनांसि तांश्च बाधन्ते ये न काशीं समाश्रिताः ॥ ५६ ।
काशी समाश्रिता यैश्च यैश्च विश्वेश्वरोऽर्चितः ।
तारकं ज्ञानमासाद्य ते मुक्ताः कर्मपाशतः ॥ ५७ ।
धनिनो न तथा सौख्यं प्राप्नुवन्ति नराः क्वचित् ।
यथा निधनतः काश्यां लभन्ते सुखमव्ययम् ॥ ५८ ।
वरं काशीसमावासी नासीनो द्युसदां पदम् ।
दुःखान्तं लभते पूर्वः सुखान्तं लभते परः ॥ ५९ ।

ननु काश्यामाश्रितायामपि कलिप्रभृतयो विघ्नान् करिष्यन्ति नेत्याह । **कः कलिरिति** । यदि वाराणसी श्रिता मरणावध्याश्रिता तदा कालादयः के वराका इत्यर्थः ॥ ५५ ।

एतदेवाह । **कलिस्तानिति** ॥ ५६ ।

न केवलं काश्याश्रितानां कलिकालादीनां बाधाद्यभावमात्रं किन्तु मोक्षोऽपि तेषां सुलभ एवेत्याह । **काशीति** ॥ ५७ ।

इतोऽपि हेतोः, काशी समाश्रयणीयेत्याह । **धनिन इति द्वाभ्याम्** ॥ ५८ ।

वरमिति । काश्यां सम्यग् यथाशास्त्रमावासः स्थितिर्यस्याऽस्ति स नरश्रेष्ठो वरमित्ययं श्रेष्ठवाची । द्युसदां देवानां पदं स्वर्गमासीन आश्रितो यः स नरो न वरमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह । पूर्वः काशीसमावासी यः स दुःखान्तं मोक्षं लभते, परो द्युसदां पदमासीनो यः, स सुखस्यान्तं नाशं लभते ॥ ५९ ।

यदि काशी में आश्रयण करते बन पड़े, तो क्या कलि, क्या काल, क्या जरा, क्या पाप, क्या रोग और क्या विघ्नगण—ये सब तुच्छ कुछ भी नहीं कर सकते ॥५५।

जो लोग काशी का सेवन नहीं करते, उन्हीं को कलि बाधता है और काल भी मार डालता है एवं पापसमूह भी (उन्हीं को) दुःख दे सकते हैं ॥ ५६ ।

जिन लोगों ने काशी में निवास किया और विश्वेश्वर का पूजन कर लिया, वे तो तारक ज्ञान को पाकर कर्मबन्धन से मुक्त ही हो जाते हैं ॥ ५७ ।

वाराणसी में निधन (मरण) हो जाने से जैसा अनन्त सुख-लाभ हो सकता है, संसार में कहीं भी बड़े-बड़े धनिकों को वह सौख्य नहीं मिल सकता ॥ ५८ ।

शास्त्रविधि के अनुसार काशी में निवास करने वाला मनुष्य (सर्वथा) अच्छा है; परन्तु स्वर्ग में देवता के पद पर बैठने वाला कदापि श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि प्रथम तो दुःख के अन्तरूप मोक्ष को पाता है और सुख के अन्त ही को प्राप्त करता है, अर्थात् पुनर्जन्म लेता है ॥ ५९ ।

स्थितोऽपि भगवानीशो मन्दरं चारुकन्दरम्।
काशीं विना रतिं नाऽऽप दिवोदासनृपोषिताम् ।। ६० ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे कालवञ्चनोपायो नाम
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।

विश्वनाथस्याऽपि काशी परमानन्दजनिका किमुताऽन्येषामित्याह । स्थितोऽपीति ।। ६० ।

।। इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।

वस्तुतः यह प्राचीन लोकोक्ति बहुत ठीक जान पड़ती है—

"चना चबैना गंगजल, जो पुरवँहि करतार ।
काशी कबहुँ न छाँड़िये, विश्वनाथ दरबार ।।"

भगवान् विश्वेश्वर, सुन्दरकन्दरावाले मन्दराचल पर विराजमान होकर भी दिवोदास नृपाल से अधिष्ठित काशीपुरी के विना प्रसन्नतालाभ नहीं कर सके ।। ६० ।

जीव बटोही, बटपरा, काल सबै ठगि लेत ।
देह चिह्न लखि सेइये, मुक्ति काशि ही देत ।। १ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां कालवञ्चनोपायवर्णनं नाम
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अगस्तिरुवाच—

दिवोदासं नरपतिं कथं देवस्त्रिलोचनः ।
काशीं सन्त्याजयामास कथमागाच्च मन्दरात् ॥ १ ।
एतदाख्यानमाख्याहि श्रोतॄणां प्रमुदे भगो ।

स्कन्द उवाच—

मन्दरं गतवान् देवो ब्रह्मणो वाक्यगौरवात् ।
तपसा तस्य सन्तुष्टो मन्दरस्यैव भूभृतः ॥ २ ।

त्रिचत्वारिंशकेऽध्याये नानाश्चर्यसुधालये[1] ।
दिवोदासस्य भूजानेः प्रतापस्तावदुच्यते ॥ १ ।

स्थितोऽपि भगवानीशो मन्दरं चारुकन्दरम् ।
काशीं विना रतिं नाऽऽप दिवोदासनृपोषिताम् ॥

इत्यनन्तरश्लोके मन्दरे रत्यभावाद्दिवोदासं नृपतिं च्यावयित्वा भगवान् काश्यामगादित्यर्थादुक्तं तत्र पृच्छति दिवोदासमिति । सार्धश्लोकं वाक्यम् । भगो हे पूज्य ॥ १ ।

तत्र प्रथमतो भगवतो मन्दरगमने कारणमाह । मन्दरमिति श्लोकेन । तस्य शाकद्वीपस्थस्य ॥ २ ।

(राजा दिवोदास का प्रताप-वर्णन)

अगस्त्य ने कहा—

"हे स्कन्द ! भगवान् त्रिलोचन ने राजा दिवोदास से काशी कैसे छोड़वायी (छुड़वायी) ? और स्वयं मन्दराचल से फिर किस प्रकार से काशी में लौट आये ॥ १ ।

श्रोताओं की प्रसन्नता के लिये आप इस आख्यान का वर्णन करें ।"

स्कन्द बोले—

"महादेव ने ब्रह्मा की बात मानकर एवं उस मन्दराचल की तपस्या से सन्तुष्ट होकर वहाँ पर गमन किया ॥ २ ।

---

१. सुधाकरे इत्यपि पाठः ।

गते विश्वेश्वरे देवे मन्दरं गिरिसुन्दरम् ।
गिरिशेन समं जग्मुरपि सर्वे दिवौकसः ॥ ३ ।
क्षेत्राणि वैष्णवानीह त्यक्त्वा विष्णुरपि क्षितेः ।
प्रयातो मन्दरं यत्र देवदेव उमाधवः ॥ ४ ।
स्थानानि गाणपत्यानि गणेशोऽपि ततोऽव्रजत् ।
हित्वाऽहमपि विप्रेन्द्र गतवान्मन्दरं प्रति ॥ ५ ।
सूरः सौराणि सन्त्यज्य गतश्चायतनादरम् ।
स्वं स्वं स्थानं क्षितौ त्यक्त्वा ययुरन्येऽपि निर्जराः ॥ ६ ।
गतेषु देवसंघेषु पृथिव्याः पृथिवीपतिः ।
चकार राज्यं निर्द्वन्द्वं दिवोदासः प्रतापवान् ॥ ७ ।
विधाय राजधानीं स वाराणस्यां सुनिश्चलाम् ।
एधाञ्चक्रे महाबुद्धिः प्रजाधर्मेण पालयन् ॥ ८ ।

न केवलं भगवानेव गतवान्; अपि तु सर्वे देवा इत्याह । गत इति । गिरिसुन्दरं पर्वतेषु मध्ये मनोहरम् । चारुकन्दरमिति क्वचित् ॥ ३ ।

एतदेव प्रपञ्चयति । क्षेत्राणीति त्रिभिः । इह काश्यां काशीतोऽन्यत्र क्षितेरपि क्षेत्राणि । सर्वत्राऽत्र क्षितिशब्दो जम्बूद्वीपविषयः ॥ ४ ।

सूरः सूर्यः । अरमत्यर्थम् । निर्जरा देवाः । आयतनात् स्वस्थानात् । परमिति पाठे परं मन्दरं विश्वेश्वरं वा ॥ ६ ।

ततश्च गतेष्विति ॥ ७ ।

सुनिश्चलां सुस्थिराम् । सुनिश्चलमिति पाठे क्रियाविशेषणम् । धर्मेण पालयन् प्रजा एधाञ्चक्रे वर्धयामास ॥ ८ ।

भगवान् विश्वेश्वर के सुन्दर मन्दरगिरि पर चले जाने से उन्हीं के साथ समस्त देवतागण भी वहीं चले गये ॥ ३ ।

नारायण भी अशेष विष्णु क्षेत्रों को त्यागकर उसी मन्दराचल पर, जहाँ देवाधिदेव उमापति विराजमान थे, चले गये ॥ ४ ।

गणेश और सूर्य ने भी अपने-अपने स्थानों को छोड़कर वहाँ पर ही गमन किया एवं अन्यान्य समस्त देवगण भूतल में अपने स्थानों को शून्य कर वहाँ की ही यात्रा करने लगे । हे विप्रेन्द्र ! उस घड़ी मैं भी (इस पर्वत को) त्याग कर वहीं चला गया था ॥५-६।

इस प्रकार से देवतागण के चले जाने पर, प्रतापशाली भूपाल दिवोदास निर्द्वन्द्व होकर पृथिवी का राज्य करने लगा ॥ ७ ।

वाराणसी पुरी को अपनी स्थिर राजधानी बनाकर और प्रजाओं का धर्मपूर्वक पालन करता हुआ वह महाबुद्धिमान् राजा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा, महान् होने लगा ॥ ८ ।

सूर्यवत् स प्रतपिता दुर्हृदां हृदि नेत्रयोः ।
सोमवत् सुहृदामासीन्मानसेषु स्वकेष्वपि ॥ ९ ।
अखण्डमाखण्डलवत् कोदण्डं कलयन् रणे ।
पलायमानैरालोकि शत्रुसैन्यबलाहकैः ॥ १० ।
स धर्मराजवज्जातो धर्माऽधर्मविवेचकः ।
अदण्डयान् मण्डयन् राजा दण्डयांश्च परिदण्डयन् ॥ ११ ।
धनञ्जय इवाऽधाक्षीत् परारण्यान्यनेकशः ।
पाशीव पाशयाञ्चक्रे वैरिचक्रं विदूरगः ॥ १२ ।

सूर्यादीनां दशलोकपालानां साधर्म्यमाह । सूर्यवदिति षड्भिः प्रतपिता[1] प्रकृष्टतापकर्ता । तताप सूर्य इव स क्वचित्पाठः ॥ ९ ।

अखण्डमिति । स राजा शत्रुसैन्यान्येव बलाहका मेघा वृष्टिवच्छरप्रक्षेपकास्तैरालोकि दृष्टः । कथंभूतैः । पलायमानैः पलायनं कुर्वद्भिः । किं कुर्वन् दृष्टः । अखण्डं समग्रम् अवैकल्यं वा यथा स्यात् लीलयेत्येतद् । तथा कोदण्डं धनुः कलयन् टङ्कारयम् विस्फूर्जयन्नित्यर्थः । कीदृशं धनुः ? आखण्डलवत् इन्द्रधनुरिवेत्यर्थः ॥ १० ।

स इति । स राजा धर्मराजवज्जात इत्यन्वयः ॥ ११ ।

धनञ्जयोऽग्निः । अधाक्षीद्दाह । परे शत्रव एवाऽरण्यानि पराऽरण्यानि । पाशी वरुणः । पाशयाञ्चक्रे बबन्ध । विदूरगोऽतिदूरस्थोऽपि ॥ १२ ।

सूर्य के समान तेजस्वी होकर वह दुष्टों के हृदय और नेत्रों में अत्यन्त तपने लगा और सज्जन तथा आत्मीय लोगों के चित्त में सोम की तरह सौम्यदर्शन हो जाता था ॥ ९ ।

इन्द्र के समान अखण्ड धनुर्मण्डल का टङ्कार करते ही संग्राम में उसके शत्रु भाग खड़े होते थे, शत्रुसैन्यरूपी वायु के झोकों से भागते हुए मेघरूपी शत्रु उसे परम शक्तिशाली रूप में देखते थे ॥ १० ।

यों ही सज्जनों का और दुर्जनों का शासन करता हुआ धर्माधर्मविवेचक वह राजा साक्षात् धर्मराज हो गया ॥ ११ ।

उसने अनेक बार अर्जुन की तरह अपने शत्रुरूपी वन को जला डाला और दूरस्थ होने पर भी वरुण के समान रिपुमण्डल को फाँस लेता था ॥ १२ ।

---

१. आर्षमेतत् ।

सोऽभूत्पुण्यजनाधीशो रिपुराक्षसवर्धनः ।
जगत्प्राणसमानश्च जगत्प्राणनतत्परः ॥ १३ ॥
राजराजः स एवाऽभूत् सर्वेषां धनदः सताम् ।
स एव रुद्रमूर्तिश्च प्रैक्षिष्ट रिपुभी रणे ॥ १४ ॥
विश्वेषां स हि देवानां तपसा रूपधृग् यतः ।
विश्वेदेवास्ततस्तं तु स्तुवन्ति च भजन्ति च ॥ १५ ॥
असाध्यः स हि साध्यानां वसुभ्यो वसुनाधिकः ।
ग्रहाणां विग्रहधरो दस्रतोऽजस्ररूपभाक् ॥ १६ ॥
मरुद्गणा न गणयंस्तुषितांस्तोषयन्गुणैः ।
सर्वविद्याधरो यस्तु सर्वविद्याधरेष्वपि ॥ १७ ॥

पुण्यजना धार्मिका जनास्तेषामधीशः श्रेष्ठः । पक्षान्तरे पुण्यजना राक्षसास्तेषामधीशो निर्ऋतिः । रिपवो राक्षसाः, तेषां वर्धनच्छेदकः । वृधु च्छेदन इति धातुः । पक्षान्तरेऽरिष्विति वा छेदः । तेषां वर्धनो वृद्धिकारकः । श्लेषाऽलङ्कारोऽयम् । जगत्प्राणो वायुस्तत्समानः । तत्र हेतुः जगत्प्राणनतत्पर इति । वायुरपि तथा ॥ १३ ॥

राजराजः कुबेरः । प्रैक्षिष्ट दृष्टः ॥ १४ ॥

अन्येभ्यो देवेभ्य आधिक्यमाह । असाध्योऽजेयः । साध्यानां देवानाम् । वसुभ्यो देवेभ्यः । वसुना धनेन । विग्रहधरः संग्रामकर्ता अनिष्टकरणे निवारक इत्यर्थः । शरीरधर इति वा । दस्रतोऽश्विनीकुमाराभ्याम् । अजस्ररूपभाक् अधिकरूपभागित्यर्थः । दस्रयोश्च स्वरूपभागिति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ १६ ॥

वह शत्रुरूप राक्षसों का उच्छेदक बन पुण्यजनेश्वर (कुबेर) और जगत् के प्राणरक्षण में तत्पर हो जगत्प्राण (वायु) के समान हो गया ॥ १३ ॥

सभी सज्जनों के धनदाता होने के कारण वही राजराज (कुबेर) हो गया। रण में रिपुगण उसी को रुद्रमूर्ति धारण किये देखते थे ॥ १४ ॥

वह अपने तपोबल से समस्त देवताओं का रूप धारण कर लेता था, अतएव विश्वदेवगण उसकी स्तुति और भजन करने लगे ॥ १५ ॥

वह साध्य देवताओं से असाध्य था । वसुगण से भी अधिक धनवान् था। ग्रहगण का रूप धारण करने वाला वह राजा अश्विनीकुमारों से भी अत्यन्त रूपवान् था ॥ १६ ॥

समस्त विद्याधरों से भी अधिक विद्याधर हो, वह मरुद्गणों को बिना गिने ही अपने गुणों से तुषित देवताओं को सन्तुष्ट करता था ॥ १७ ॥

अगर्वानिव गन्धर्वान्यश्चक्रे निजगीतिभिः ।
ररक्षुर्यक्षरक्षांसि तद्दुर्गं स्वर्गसोदरम् ।। १८ ।

नागानागांसिचक्रुश्च तस्य नागबलीयसः ।
दनुजामनुजाकारं कृत्वा तं च सिषेविरे ।। १९ ।

जाता गुह्यचरा यस्य गुह्यकाः परितो नृषु ।
संसेविष्यामहे राजन्नसुरास्त्वां स्ववैभवैः ।। २० ।

वयं यतस्त्वद्विषये सुरावासोऽपि दुर्लभः ।
अशिक्षयत् क्षितिपतेरिह यस्य तुरङ्गमान् ।
आशुगश्चाशुगामित्वं पावमाने पथि स्थितः ।। २१ ।

निजगीतिभिः स्वकीयैर्गीतैः । स्वर्गसोदरं स्वर्गसमानम् ॥ १८ ।

नागबलीयसो गजेभ्यः सर्पेभ्यो वा बलिष्ठस्य । दनुजा दनोः पुत्रा दानवा इत्यर्थः ॥ १९ ।

गुह्यचरा रहस्यकार्येषु चराः । गुह्यतरा इति पाठेऽपि स एवार्थः । गुह्यका देवयोनिविशेषाः । समिति हे राजन् वयमसुराः स्ववैभवैस्त्वां संसेविष्याम इति यं प्रोचुरिति शेषः ॥ २० ।

स्वर्गं विहायाऽत्र स्थित्वा किमिति मां सेविष्यथ तत्राह । यत इति । यतस्त्वद्राष्ट्रे सुराणामप्यावासः स्थितिर्दुर्लभा कुतस्तत्राऽस्माकमिति भावः । आशुगो वायुः पावमाने पथि अश्वगतिशिक्षारूपे शास्त्रे पावमाने वायुमार्गे स्थितोऽपीति वा ॥ २१ ।

जिसने अपने गीतों से गन्धर्वों को भी गर्वरहित कर डाला, उसके स्वर्गोपम दुर्ग की रक्षा यक्ष और राक्षस लोग ही करते थे ॥ १८ ।

उसका पराक्रम देखकर, नागगण भी कभी अपराध नहीं करते थे । दानवगण मानवरूप धारण कर उसकी सेवा में लगे रहते थे ॥ १९ ।

गुह्यक लोग मनुष्यों में चारों ओर से उसी के गुप्तचर हो गये थे और असुरगण यह कहा करते थे कि—"हे राजन् ! हम लोग अपने-अपने विभव के अनुसार आपकी सेवा करेंगे ॥ २० ।

क्योंकि आपने अपने राज्य में देवताओं का रहना भी दुर्लभ कर दिया है" । इस भूमि पर जिस क्षितिपाल के घोड़ों को अश्वगति की शिक्षाशास्त्र के शिक्षकपद पर बैठकर (शालहोत्री बन) स्वयं वायु शीघ्रगति की शिक्षा देता था ॥ २१ ।

अगजान्यस्य तु गजान्नगवर्ष्मसु वर्ष्मणः ।
अजस्रदानिनो दृष्ट्वा भवन्नन्येऽपि दानिनः ।। २२ ।
सदोजिरे च बोद्धारो योद्धारश्चरणाजिरे ।
न यस्य शास्त्रैर्विजिता न शस्त्रैः केनचित्क्वचित् ।। २३ ।
न नेत्रविषये जाता विषये यस्य भूभृतः ।
सदा नष्टपदा द्वेष्यास्तदाऽनष्टपदाः प्रजाः ।। २४ ।
कलावानेक एवाऽस्ति त्रिदिवेऽपि दिवौकसाम् ।
तस्य क्षोणिभृतः क्षोण्यां जनाः सर्वे कलालयाः ।। २५ ।
एक एव हि कामोऽस्ति स्वर्गे सोऽप्यङ्गवर्जितः ।
साङ्गोपाङ्गाश्च सर्वेषां सर्वे कामा हि तद्भुवि ।। २६ ।

अगजान् पर्वतजान् । न विद्यन्ते प्रतिपक्षभूता गजा येषां तानिति वा । नगवर्ष्म सुवर्ष्मणः पर्वतदेहेभ्योऽपि शोभनदेहान् स्थूलदेहानित्यर्थः । अजस्रदानिनो निरन्तरमदस्राविणः ।। २२ ।

बोद्धारो विचारकाः । यस्य सदोजिरे सभाङ्गणे रणाङ्गणे च बोद्धारो योद्धारश्च शास्त्रैः शस्त्रैश्च यथासंख्यं न केनचित् कुत्राऽपि न विजिता इत्यर्थः ।। २३ ।

न नेत्रेति । यस्य भूभृतो विषये राज्ये सदा सर्वदा नष्टपदा नष्टाश्रया नष्टत्राणा वा केनचिद् द्वेष्याश्च प्रजाश्चक्षुर्गोचरे न जाताः; किन्तु तदा तस्मिन् राजनि अनष्टपदा अद्वेष्या एव प्रजा जाताः ।। २४ ।

कलावांश्चन्द्रः । कलालयाश्चतुःषष्टिकलाश्रयाः ।। २५ ।

साङ्गोपाङ्गाः अङ्गानि मुख्याऽवयवा उपाङ्गानि च तदवयवास्तत्सहिताः । पक्षान्तरे साङ्गोपाङ्गाः समग्राः ।। २६ ।

इसके पर्वत समान स्थूलदेही पर्वतजात हस्तियों को सर्वदा दान (मदजल)-सम्पन्न देखकर दूसरे लोग भी दानियाँ (दान-दाता) बन गये। उसके सभा प्रांगण में विद्वान् लोग शास्त्रों से और योद्धागण रणभूमि में शस्त्रों द्वारा कभी किसी से पराजित नहीं हुए ।। २२-२३ ।

इस राजा के राज्य में कोई भी प्रजा सर्वदा आश्रयहीन अथवा द्वेष करने वाली नहीं दिखलायी पड़ती थी, प्रत्युत सभी लोग प्राप्तपद और द्वेषरहित हो गये थे ।। २४ ।

स्वर्ग में देवताओं के मध्य केवल एक ही कलावान् (चन्द्र) है; परन्तु इस राजा के समय में पृथिवी पर सभी लोग समस्त कलाओं के आलय हो गये थे ।। २५ ।

स्वर्ग में तो एक ही काम है, सो भी अनंग है; परन्तु उसके राज्य में सभी लोगों के समस्त काम सांगोपांग शोभित रहते थे ।। २६ ।

तस्योपवर्तनेऽप्येको न श्रुतो गोत्रभित्क्वचित् ।
स्वर्गे स्वर्गसदामीशो गोत्रभित्परिकीर्तितः ॥ २७ ।
क्षयी च तस्य विषये कोऽप्याकर्णि न केनचित् ।
त्रिपिष्टपे क्षपानाथः पक्षे पक्षे [1]क्षयीष्यते ॥ २८ ।
नाके नवग्रहाः सन्ति देशास्तस्याऽनवग्रहाः ॥ २९ ।
हिरण्यगर्भः स्वर्लोकेऽप्येक एव प्रकाशते ।
हिरण्यगर्भाः सर्वेषां तत्पौराणामिहालयाः ॥ ३० ।
सप्ताश्व एकः स्वर्लोके नितरां भासतेंऽशुमान् ।
सदंशुकाः प्रतिदिनं बह्वश्वास्तत्पुरौकसः ॥ ३१ ।
सदप्सरा यथा स्वर्भूस्तत्पुर्यपि सदप्सराः ।
एकैव पद्मा वैकुण्ठे तस्य पद्माकराः शतम् ॥ ३२ ।

उपवर्तन्तेऽस्मिन्नित्युपवर्तनं राज्यं तस्मिन् ॥ २७ ।
आकर्णि श्रुतः । दृष्टस्य का वार्तेति भावः ॥ २८ ।
अनवग्रहाः वृष्टिप्रतिघातशून्याः ॥ २९ ।
सदंशुकाः सन्तोंऽशवः कान्तयो येषां ते तथा । प्रतिदिनं सर्वदा । प्रतिगृहमिति वा पाठः ॥ ३१ ।
यथा स्वर्भूः सदप्सराः सन्त्योऽप्सरसो यस्यां सा तथा तत्पुरी अपि किं सदप्सराः; अपि तु ताभ्योऽप्यधिकसदप्सरोभिर्मण्डितेत्यर्थः । पद्माकरा लक्ष्म्यालयाः । पक्षान्तरे पद्माकराः तडागाः ॥ ३२ ।

उसके राज्य में कहीं पर कोई एक जन भी गोत्रनाशक नहीं सुना जाता था, जबकि स्वर्ग में तो स्वयं देवराज ही गोत्रभिद् नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ २७ ।
स्वर्ग में चन्द्रमा प्रति कृष्णपक्ष में क्षय हो जाता है । पर उसके राज्य में कहीं पर किसी ने क्षयी का (क्षय रोगी का) नाम भी नहीं सुनाया ॥ २८ ।
स्वर्गलोक में यद्यपि नवों ग्रह रहते हैं, पर उस राजा के समस्त देश में कभी सूखा नहीं पड़ता था ॥ २९ ।
स्वर्ग में एक ही हिरण्यगर्भ दिखाई पड़ते हैं, परन्तु भूलोक में उस राजा के सभी पुरवासियों के गृह हिरण्यगर्भ (सुवर्ण से पूर्ण) ही बने रहते थे ॥ ३० ।
स्वर्लोक में तो एकमात्र अंशुमान् (सूर्य) ही सात घोड़े वाले भासित होते हैं, पर उसके सभी पुरवासी जन सदंशुक (खुशपोशाक) और बहुत घोड़े वाले थे ॥ ३१ ।
जैसे स्वर्ग अप्सराओं से पूर्ण रहता है, वैसे इसकी नगरी भी सुन्दर अप्सराओं से भरपूर ही रहती थी । यों ही वैकुण्ठ में तो एक ही पद्मा रहती है । पर उसके राज्य में तो सैकड़ों ही पद्माकर (लक्ष्मी के घर अथवा कमलपुष्प से भरे जलाशय) पड़े थे ॥३२।

१. क्षयिष्यत इत्यपि क्वचित्पाठः ।

अनीतयश्च तद्ग्रामा ना राजपुरुषाः क्वचित् ।
गृहे गृहेऽत्र धनदा नाके एकोऽलकापतिः ॥ ३३ ।
दिवोदासस्य तस्यैवं काश्यां राज्यं प्रशासतः ।
गतं वर्षं दिनप्रायं शरदामयुताऽष्टकम् ॥ ३४ ।
गीर्वाणा विप्रतीकारमथ तस्य चिकीर्षवः ।
गुरुणा मन्त्रयाञ्चक्रुर्धर्मवर्त्माऽनुयायिनः ॥ ३५ ।
भवादृशामिव मुने प्रायशो धर्मचारिणाम् ।
विबुधा विदधत्येव महतीरापदांततीः ॥ ३६ ।
यद्यप्यसौ धराधीशो व्याधिनो दुर्धराध्वरैः ।
तानध्वरभुजोऽत्यन्तं तथापि सुहृदो न ते ॥ ३७ ।

न विद्यन्ते ईतयोऽतिवृष्ट्यनावृष्टिशलभमूषकशुकस्वचक्रप्रतिकुलराजलक्षणा येषु ते ग्रामास्तथा । धनदा धनदातारः । नाके स्वर्गे । अलकापतिः कुबेरः । सर्वत्राऽयं शब्दश्लेषालङ्कारः ॥ ३३ ।

प्रस्तुतमाह । **दिवोदासस्येति** । तस्य पूर्वोक्तगुणवतः शरदामयुताष्टकं अशीति-सहस्रं वर्षं दिनप्रायं दिनमात्रप्रायं गतमेव । एकदिनप्रायमिति क्वचित् ॥ ३४ ।

विप्रतीकारमपकारम् । गुरुणा बृहस्पतिना सह ॥ ३५ ।

प्रत्यक्षसिद्धदृष्टान्तमाह । **भवादृशामिवेति** । ततीः परम्पराः ॥ ३६ ।

व्याधिनोत् आराधितवान् पूजितवानित्यर्थः । सुहृदो न तस्येति शेषः ॥ ३७ ।

उस राजा के सभी ग्राम (अनावृष्टि इत्यादि) ईति के भय से रहित थे। पर रक्षक राजपुरुष से कोई भी रहित नहीं थे। स्वर्ग में तो केवल एक अलकानाथ ही धनद हैं, पर उसके राज्य में तो घर-घर धनद (धन-दानदाता) ही भरे रहते थे ॥३३।

इस प्रकार से काशीपुरी में उस दिवोदास राजा ने राज्य का पूर्ण शासन करते हुए अस्सी सहस्र वर्ष को एक दिन की तरह विना प्रयास बिता दिया ॥ ३४ ।

इसके अनन्तर देवतागण, धर्ममार्गानुगामी उस राजा का अपकार करने के अभिप्राय से बृहस्पति के सहित मन्त्रणा (विचार) करने लगे ॥ ३५ ।

"हे मुनिवर ! देवतागण प्रायशः आपके ही ऐसे धार्मिक लोगों पर अपनी विपत्तियों की परम्परा रख देते हैं ॥ ३६ ।

यद्यपि इस भूपाल दिवोदास ने अनेक दुष्कर यज्ञों से यज्ञभुक् देवताओं को अत्यन्त सन्तुष्ट कर दिया था, पर वे लोग इसके सुहृद् (मित्र संतुष्ट-हृदय) नहीं हुए ॥ ३७ ।

स्वभाव एव द्युसदां परोत्कर्षासहिष्णुता ।
बलिबाणदधीचाद्यैरपराद्धं किमत्र तैः ॥ ३८ ।
अन्तराया भवन्त्येव धर्मस्यापि पदे पदे ।
तथापि न निजो धर्मो धर्मधीभिर्विमुच्यते ॥ ३९ ।
अधर्मिणः समेधन्ते धनधान्यसमृद्धिभिः ।
अधर्मादेव च परं समूलं यान्त्यधोगतिम् ॥ ४० ।
प्रजाः पालयतस्तस्य पुत्रानिव निजौरसान् ।
रिपुञ्जयस्य नाऽल्पोऽपि बभूवाऽधर्मसंग्रहः ॥ ४१ ।
षाड्गुण्यवेदिनस्तस्य त्रिशक्त्यूर्जितचेतसः ।
चतुरोपायवित्तस्य न रन्ध्रं विविदुः सुराः ॥ ४२ ।

पूजकेऽसुहृद्भावे हेतुमाह । स्वभाव इति । हेतुमेव तर्केण साधयति । बलीति । अत्र एषु देवेषु ॥ ३८ ।

तर्हि विघ्नशङ्कया धर्मस्त्याज्य एव नेत्याह । अन्तराया इति । श्रेयांसि बहुविघ्नानीति न्यायादित्यर्थः ॥ ३९ ।

विपक्षे बाधकमाह । अर्धमिण इति । परं केवलं पश्चादिति वा ॥ ४० ।

षाड्गुण्यवेदिन इति । सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसंश्रयाः षड्गुणाः, तेषां भावः षाड्गुण्यं तद्वेदिनः । बुद्धिबलतेजोरूपास्तिस्रः शक्तयस्ताभिरूर्जितं महत्तरं चेतो यस्य तस्य । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणामुपायेषु वित्तं ज्ञानं यस्य तस्य । वेदनं वित्तं भावे निष्ठा उकारस्थाने ओकारश्रवणमार्षम् । चतुराणां निपुणानामुपायानां वित्तं यस्येति वा ॥ ४२ ।

अथवा यह तो देवताओं का स्वभाव ही है, जो वे पराये की बढ़ती नहीं सह सकते । अन्यथा बालि, बाणासुर और दधीचि इत्यादि ने इनका क्या बिगाड़ा था]?॥३८।

यद्यपि धर्म के अनुष्ठान में पद-पद पर विघ्न पड़ते ही रहते हैं; परन्तु धार्मिक जन कभी अपने धर्म को नहीं त्यागते ।

दोहा—"धरम करत पग पग परत, विघन अनेकन आय ।
पै नहिं त्यागहिं धर्म निज, धार्मिक जन समुदाय ॥ ३९ ।

यद्यपि अधर्मीगण प्रथम धन-धान्य की संपत्तियों से बढ़ने लग जाते हैं, तथापि अधर्म के ही प्रभाव से अन्त में समूल नष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ।

अपने औरस पुत्र के समान प्रजागण का पालन करते हुए उस रिपुंजय राजा को अल्पमात्र भी अधर्म नहीं छू सका था ॥ ४१ ।

देवता लोग सन्धि-विग्रहादिक (सन्धि, विग्रह, यान = चढ़ाई, प्रयाण, आश्रयण = संश्रयण और द्वैधीभाव = भेद) छहों गुणों के वेत्ता और प्रभावोत्साहादि प्रभुशक्ति, मन्त्र-शक्ति, तीनों शक्तियों से स्वस्थचित्त एवं धर्मार्थादि (धर्म, अर्थ, काम,

बुद्धिमन्तोऽपि विबुधा विप्रतीकर्तुमुद्यताः ।
मनागपि न संशेकुरपकर्तुं तदीशितुः ॥ ४३ ।
एकपत्नीव्रताः सर्वे पुमांसस्तस्य मण्डले ।
नारीषु काचिन्नैवासीदपतिव्रतधर्मिणी ॥ ४४ ।
अनधीतो न विप्रोऽभूदशूरो नैव बाहुजः ।
वैश्योऽनभिज्ञो नैवासीदर्थोपार्जनकर्मसु ॥ ४५ ।
अनन्यवृत्तयः शूद्रा द्विजशुश्रूषणं प्रति ।
तस्य राष्ट्रे समभवन् दिवोदासस्य भूपतेः ॥ ४६ ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यास्तद्राष्ट्रे ब्रह्मचारिणः ।
नित्यं गुरुकुलाधीना वेदग्रहणतत्पराः ॥ ४७ ।
आतिथ्यधर्मप्रवणा धर्मशास्त्रविचक्षणाः ।
नित्यं साधु समाचारा गृहस्थास्तस्य सर्वतः ॥ ४८ ।

विप्रतीकर्तुमपकर्तुम् । तदीशितुः काशीपतेर्दिवोदासस्येत्येतत् । स चासौ ईशिता च तत्तदेति वा ॥ ४३ ।

पुनरपि तद्राष्ट्रगुणाननुवर्णयति । एकपत्नीत्यारभ्य इत्थमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । एकस्यां पत्न्यां पाणिगृहीतायां व्रतं संकल्पो येषां ते तथा । परस्त्रीषु विमुखा इत्यर्थः ॥ ४४ ।

मोक्ष) चारों पुरुषार्थों के उपायनिष्ठ, उस राजा के किसी भी छिद्र को (त्रुटि को) प्रयत्नों के बाद भी नहीं जान सके ॥ ४२ ।

बुद्धिमान् होने पर भी देवतागण अपकार करने पर उद्यत हो गये; परन्तु उस राजा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके ॥ ४३ ।

उस राजा के राज्यमण्डल में सभी पुरुष एकपत्नीव्रत नियम में तत्पर थे । यों ही स्त्रियों में भी ऐसी कोई नहीं थीं, जो पतिव्रता धर्म का पालन न करती हों ॥ ४४ ।

उस दिवोदास भूपति के राष्ट्र में कोई भी ब्राह्मण अपठित, क्षत्रिय शूरताहीन, वैश्य अर्थोपार्जनकर्मों में अनभिज्ञ और शूद्रगण भी द्विजवर्ग की सेवा छोड़कर दूसरी जीविका में आसक्त नहीं होते थे ॥ ४५-४६ ।

उसके शासनकाल में ब्रह्मचारीगण शुद्ध-ब्रह्मचर्य से नित्य ही गुरुकुल के अधीन रहकर वेदाध्ययन करने में तत्पर होते थे ॥ ४७ ।

गृहस्थ लोग, अतिथि-सेवन धर्म में सोत्साह और धर्मशास्त्र के मर्मवेत्ता एवं नित्य ही सत्कर्मों के अनुष्ठानों में आसक्त रहते थे ॥ ४८ ।

तृतीयाश्रमिणो यस्मिन् वनवृत्तिकृतादराः ।
निःस्पृहा ग्रामवार्तासु वेदवर्त्मानुसारिणः ॥ ४९ ॥
सर्वसङ्गविनिर्मुक्ता निर्मुक्ता निष्परिग्रहाः ।
वाङ्मनःकर्मदण्डाढ्या यतयो यत्र निःस्पृहाः ॥ ५० ॥
अन्येऽनुलोमजन्मानः प्रतिलोमभवा अपि ।
स्वपारम्पर्यतो दृष्टं मनाग् वर्त्म न तत्यजुः ॥ ५१ ॥
अनपत्यो न तद्राष्ट्रे धनहीनोऽपि कोऽपि न ।
अवृद्धसेवी नो कश्चिदकाण्डमृतिभाक् च न ॥ ५२ ॥
न चाटा नैव वाचाटा वञ्चका नो न हिंसकाः ।
न पाषण्डा न वै भण्डा न रण्डा न च शौण्डिकाः ॥ ५३ ॥
श्रुतिघोषो हि सर्वत्र शास्त्रवादः पदे पदे ।
सर्वत्र सुभगालापा मुदा मङ्गलगीतयः ॥ ५४ ॥
वीणावेणुप्रवादाश्च मृदङ्गा मधुरस्वनाः ।
सोमपानं विनाऽन्यत्र पानगोष्ठी न कर्णगाः ॥ ५५ ॥

वनवृत्तिकृतादराः वनवृत्तावरण्यवर्तने कृत आदरो यैस्ते ॥ ४९ ।

अनुलोमजन्मानः मूर्धावसिक्तांबष्ठकरणाः । प्रतिलोमभवाः सूतमागधवैदेहाः॥५१।

चाटाः चञ्चलाः। वाचाटाः बहुभाषिणः। भण्डा भण्डकाः। शौण्डिका मद्यविक्रेतारः ॥ ५३ ।

श्रुतिघोषो वेदघोषः । पदे पदे क्षणे क्षणे ॥ ५४ ।

सोमेति, सोमपानं विनाऽन्यत्र पानगोष्ठी मद्यादिपानवार्ता न कर्णगा श्रोत्रेन्द्रियं न प्राप्तेत्यर्थः । कर्मगा इति पाठे कर्मणि क्रियमाणे न जायत इत्यर्थः ॥ ५५ ।

वानप्रस्थाश्रमी जन भी वेदमार्गानुसारी होकर सर्वदा वनवृत्ति का ही आदर करते हुए ग्रामवार्ताओं में निस्पृह रहा करते थे ॥ ४९ ।

यों ही संन्यासीगण भी सब लोगों का संग त्यागकर, वचन, मन और कर्म के तीन दण्डों को धारण किये हुए, निष्परिग्रह, निस्पृह और निर्मुक्त होकर रहते थे ॥५०।

और दूसरे सब अनुलोम-प्रतिलोम जाति के (वर्णसंकर) लोग (अम्बष्ठ, सूत, मागध इत्यादि, वर्णसंकट इत्यादि) भी कदापि अपने परम्परागत कुलमार्ग को नहीं त्यागते थे ॥ ५१ ।

उसके राज्य-शासन समय में कोई भी पुत्रहीन अथवा दरिद्री नहीं था। सभी लोग वृद्धसेवक और यथाकाल मृत्युगत होते थे ॥ ५२ ।

उस वेला में चिबिल्ले, बकवादी, वंचक, हिंसक, पाखण्डी, भाँड़, रंडी और शौण्डिक (मद्यविक्रेता) लोग नहीं रह गये थे ॥ ५३ ।

सर्वत्र पद-पद पर वेदध्वनि, शास्त्रालाप, अच्छो से अच्छी वार्तायें, सहर्ष

मांसाशिनः पुरोडाशे नैवाऽन्यत्र कदाचन ।
न दुरोदरिणो यत्र नाऽधमर्णा न तस्कराः ॥ ५६ ।
पुत्रस्य पित्रोः पदयोः पूजनं देवपूजनम् ।
उपवासो व्रतं तीर्थं देवताराधनं परम् ॥ ५७ ।
नारीणां भर्तृपदयोरर्चनं तद्वचः श्रुतिः ।
समर्चयन्ति सततं मनुजा निजमग्रजम् ॥ ५८ ।
सपर्ययन्ति मुदिता भृत्याः स्वामिपदाम्बुजम् ।
हीनवर्णैरग्रवर्णो वर्ण्यते गुणगौरवैः ॥ ५९ ।
वरिवस्यन्ति भूयोऽपि त्रिकालं काशिदेवताः ।
सर्वत्र सर्वे विद्वांसः समर्च्यन्ते मनोरथैः ॥ ६० ।

यज्ञस्य प्रथमसमये पुरोडाशेऽग्निपक्वे मांसखण्डे हूयमाने मांसाशिनः । अन्यत्र पुरोडाशं विहाय नैवेत्यर्थः । दुरोदरिणो द्यूतकराः । अधमर्णः ऋणग्रहीता ॥ ५६ ।

अग्रजं ज्येष्ठभ्रातरम् ॥ ५८ ।

सपर्ययन्ति पूजयन्ति ॥ ५९ ।

वरिवस्यन्तीत्येतस्यापि स एवार्थः । काशिदेवताः काशीं तद्देवताश्चेत्यर्थः । भूमिदेवता इति पाठे ब्राह्मणानित्यर्थः । समर्च्यन्ते पूज्यन्ते साधारणै र्जनैः । अस्याः क्रियाया अग्रेऽपि सम्बन्धः ॥ ६० ।

मंगलगीत एवं वीणा, वंशी और मृदंग के मधुर स्वन हुआ ही करते थे। उस राज्य में यज्ञ के सोमपान से भिन्न दूसरी पानगोष्ठी नहीं सुनी जाती थी ॥ ५४-५५ ।

और न यज्ञ में पुरोडाश से भिन्न मांस-भोजन ही कोई करता था । उस राज्य में जुआड़ी, ऋणग्राही और चोर भी नहीं थे ॥ ५६ ।

पुत्र पिता के चरणों की सेवा को ही देवपूजन, उपवास, व्रत, तीर्थसेवन और परम (इष्ट) देवताराधन मानता था ॥ ५७ ।

स्त्रियाँ भी पति के पैरों की सेवा और उसके वचन के श्रवण करने से भिन्न कुछ भी नहीं जानती थीं, सभी मनुष्य अपने बड़े भ्राता की सदा सेवा करते थे ॥ ५८ ।

भृत्यवर्ग प्रसन्न-चित्त से स्वामियों के पदसरोज को सेवते थे। नीचजाति के लोग ऊँची जातिवालों के गुणों की बड़ाई का वर्णन करते थे ॥ ५९ ।

लोग त्रिकाल बारंबार काशी और उसके देवताओं का पूजन करते थे। सभी स्थान पर विद्वान् लोगों के मनोरथों की पूर्ति से सम्मान होता था ॥ ६० ।

विद्वद्भिश्च तपोनिष्ठास्तपोनिष्ठैर्जितेन्द्रियाः ।
जितेन्द्रियैर्ज्ञाननिष्ठा ज्ञानिभिः शिवयोगिनः ॥ ६१ ।
मन्त्रपूतं महार्हं च विधियुक्तं सुसंस्कृतम् ।
वाडवानां मुखाग्नौ च हूयतेऽहर्निशं हविः ॥ ६२ ।
वापीकूपतडागानामारामाणां पदे पदे ।
शुचिभिर्द्रव्यसम्भारैः कर्तारो यत्र भूरिशः ॥ ६३ ।
यद्राष्ट्रे हृष्टतुष्टाश्च दृश्यन्ते सर्वजातयः ।
अनिन्द्यसेवासम्पन्ना विना मृगयुसौनिकान् ॥ ६४ ।
इत्थं तस्य महीजानेः सर्वत्र शुचिवर्तिनः ।
उन्मिषन्तोऽप्यनिमिषा मनाक् छिद्रं न लेभिरे ॥ ६५ ।

शिवयोगिनः शिवैकशरणाः पाशुपता इति केचित् ॥ ६१ ।

वाडवानां ब्राह्मणानाम् ॥ ६२ ।

मृगयुसौनिकान् मृगयवो लुब्धकाः सौनिकाः पशुघातकाश्च, तान् ॥ ६४ ।

इत्थमिति । इत्थं तस्य समनन्तरवर्णितं गुणवतो दिवोदासस्य महीजानेर्मही- जानिर्भार्या यस्य स तथा तस्य सर्वत्र शुचिरूपेण प्रवर्तमानस्य । अनिमिषा निमेष- रहिता देवा उन्मिषन्तोऽपि उच्चैर्मिषन्तोऽप्युन्मेषपूर्वकं विचारयन्तोऽपीत्यर्थः । ईषदप्यवकाशं छिद्रं न लेभिरे इति ॥ ६५ ।

पण्डितगण तपस्वियों का, तपस्वी लोग जितेन्द्रियों का, जितेन्द्रिय लोग ज्ञानियों का और ज्ञानिगण शिवयोगियों का आदर करते थे ॥ ६१ ।

दिवोदास के राज्य में रात्रिदिन मन्त्रों से पवित्र, बहुमूल्य, विधिपूर्ण उत्तम रीति से संस्कार की हुई (विधिविधान से पकाया हुआ) हवि का ब्राह्मणों के मुखरूपी अग्नि में हवन किया जाता था ॥ ६२ ।

उसके राज्य में पद-पद पर वापी, कूप, तड़ाग और वाटिकाओं को शुद्ध बहुत-सा द्रव्य लगाकर बनवा देने वाले लोगों की अत्यन्त प्रचुरता रहा करती थी ॥ ६३ ।

वहाँ पर सभी जाति के लोग हृष्ट-पुष्ट दिखलाई देते थे और केवल बहेलिया और कसाई को छोड़कर सभी लोग प्रशंसनीय सेवादि कार्यों से सम्पन्न रहते थे ॥६४।

इस प्रकार से सर्वत्र शुद्ध वर्ताव करने वाले उस राजा के विषय में पर्याप्त छानबीन (अनुसन्धान) करते रहने पर भी देवतागण ने तनिक भी अपकार करने का अवसर नहीं पाया ॥ ६५ ।

अथोवाचाऽमरगुरुर्देवानपचिकीर्षुकान् ।
तस्मिन् राजनि धर्मिष्ठे वरिष्ठे मन्त्रवेदिषु ॥ ६६ ।

गुरुरुवाच—

सन्धिविग्रहयानास्तिसंश्रयं द्वैधभावनम् ।
यथा स राजा संवेत्ति न तथाऽत्रापि कश्चन ॥ ६७ ।
उपायोऽप्येक एवाऽस्ति चतुर्ष्विह दिवौकसः ।
भेदो नाम स चेत् सिध्येत् तपोबलिनि तत्र हि ॥ ६८ ।
तेन यद्यपि भूभर्त्रा भूमेर्देवा विवासिताः ।
तथापि भूरिशस्तत्र सन्त्यस्मत्पक्षपातिनः ॥ ६९ ।
कालो निमिषमात्रोऽपि यान् विना न सुखं व्रजेत् ।
अस्माकमपि तस्याऽपि सन्ति ते तत्र मानिताः ॥ ७० ।
अन्तर्बहिश्चरा नित्यं सर्वविश्रम्भभूमयः ।
समागतेषु तेष्वत्र सर्वं नः सेत्स्यति प्रियम् ॥ ७१ ।

अथेति । अपचिकीर्षुकान् अपकारं कर्तुमिच्छुकान् । मन्त्रवेदिषु मध्ये वरिष्ठे॥६६।

सन्धिश्च विग्रहश्च यानं च आस्तिरासनं च संश्रयं चेति पञ्चानामेकवद्भावः ॥ ६७ ।

चतुर्षु सामदानभेददण्डेषु मध्ये ॥ ६८ ।

अनन्तर देवगुरु बृहस्पति देवताओं को उस मन्त्रवेत्ताओं में वरिष्ठ, धर्मिष्ठ, श्रेष्ठ राजा के विषय में अपकार करने का अभिलाषी देखकर कहने लगे ॥ ६६ ।

बृहस्पति बोले—

"(देवगण !) जैसा कि वह राजा सन्धि, विग्रह, प्रयाण, आसन, संश्रय और भेद—इन छहों नीतियों को समझता है, यहाँ भी वैसा जानने वाला कोई नहीं है ॥६७।

उस तपोबलशाली राजा के विषय में साम, दान, दण्ड और भेद—इन चारों उपायों में यदि किसी के कुछ सिद्धि की सम्भावना है, तो वह केवल भेद ही है ॥६८।

यद्यपि उस भूपति ने सभी देवताओं को पृथिवी पर से निष्कासित कर दिया है, तथापि वहाँ पर हमलोगों के पक्षपाती भी बहुत-से बने ही रहते हैं ॥ ६९ ।

जिनके विना निमेषमात्र काल भी चाहे हम लोगों का हो अथवा उस राजा का ही क्यों न हो, पर सुख से नहीं बीत सकता, वे लोग वहाँ पर सभी के विश्वासपात्र तथा अन्तश्चर और बहिश्चर रूप धर कर सर्वदैव सादर निवास कर रहे हैं। यदि वे लोग वहाँ से चले आवें, तो हम लोगों का सब अभीष्ट सिद्ध हो जावेगा" ॥ ७०-७१ ।

समाकर्ण्य च ते सर्वे त्रिदशा गोष्पतीरितम् ।
निर्णीतवन्तस्तस्यार्थं तस्मादन्तर्बहिश्चरान् ।
अभिनन्द्याऽथ तं सर्वे प्रोचुरित्थं भवेदिति ॥ ७२ ।
ततः शक्रः समाहूय वीतिहोत्रं पुरःस्थितम् ।
ऊचे मधुरया वाचा बहुमानपुरःसरम् ॥ ७३ ।
हव्यवाहन या मूर्तिस्तव तत्र प्रतिष्ठिता ।
तामुपसंहर क्षिप्रं विषयात्तस्य भूपतेः ॥ ७४ ।
समागतायां तन्मूर्तौ सर्वा नष्टाऽग्नयः प्रजाः ।
हव्यकव्यक्रियाशून्या विरजिष्यन्ति राजनि ॥ ७५ ।
प्रजासु च विरक्तासु राज्यकामदुघासु वै ।
कृच्छ्रेणोपार्जितोऽपार्थो राजशब्दो भविष्यति ॥ ७६ ।

समाकर्ण्येति सार्धं वाक्यं बृहस्पतीरित वाक्यं समाकर्ण्य ते देवास्तस्माद्देववाक्यात्तस्य वाक्यस्यार्थं निर्णीतवन्तः । अर्थमेवाह । अन्तर्बहिश्चरानिति । अथाऽनन्तरमभिनन्द्य इत्थं भवेदिति प्रोचुः । यदा ह्यन्तरिति पाठे तदेत्यर्थात् ॥ ७२ ।

वीतिहोत्रम् अग्निम् ॥ ७३ ।

हव्येति । तत्र पृथिव्याम् । तां मत्त इति पाठे मत्तो मन्निमित्तान्मद्गौरवादित्यर्थः ॥ ७४ ।

ततः किं तदाह । समागतायामिति ॥ ७५ ।

ततोऽपि किं तत्राह । प्रजास्विति । अपार्थोऽपगतोऽर्थोऽस्येत्यपार्थोऽर्थशून्य इत्यर्थः ॥ ७६ ।

देवताओं ने बृहस्पति का वचन सुनकर उसके अर्थानुसार भीतर और बाहर रहने वालों का निर्णय करके और उनकी बड़ाई गाते हुए, यह कहा कि—"ऐसा ही किया जावे" ॥ ७२ ।

तब तो इन्द्र समीप में ही अवस्थित अग्नि को बड़े ही आदर से बुलाकर मधुर वचनों से कहने लगे ॥ ७३ ।

"हे हव्यवाहन ! आपका जो रूप भूमि पर प्रतिष्ठित है, उसे आप उस भूपति के राज्य भर से शीघ्र ही हटा दीजिये ॥ ७४ ।

जबकि आपकी मूर्ति वहाँ से चली आवेगी, तो सभी प्रजागण अग्नि के न रहने से हव्यकव्यादि क्रियाओं से शून्य होकर उस राजा के प्रति विराग करने लग जावेंगे ॥ ७५ ।

राज्य की कामधेनु प्रजाओं के विरक्त हो जाने पर बड़े कष्ट से उपार्जित राजा शब्द भी व्यर्थ ही हो जावेगा ॥ ७६ ।

प्रजानां रञ्जनाद्राजा येयं रूढिरुपार्जिता ।
तस्यां रूढ्यां प्रनष्टायां राज्यमेव विनङ्क्ष्यति ॥ ७७ ।
प्रजाविरहितो राजा कोशदुर्गबलादिभिः ।
समृद्धोऽप्यचिरान्नश्येत्कूलसंस्थ इव द्रुमः ॥ ७८ ।
त्रिवर्गसाधनाहेतुः प्राक् प्रजैव महीपतेः ।
क्षीणवृत्त्यां प्रजायां वै त्रिवर्गः क्षीयते स्वयम् ॥ ७९ ।
क्षीणे त्रिवर्गे संक्षीणा गतिर्लोकद्वयात्मिका ॥ ८० ।
इतीन्द्रवचनाद् वह्निरह्नाय क्षोणिमण्डलात् ।
आचकर्ष निजां मूर्ति योगमायाबलान्वितः ॥ ८१ ।

अस्तु तथा तावता किं स्यात् तत्राह । प्रजानामिति ॥ ७७ ।

मास्तु प्रजानामनुरागस्तावता किम् ? यद्वा राज्यनाशेऽपि किम् ? तत्राह । प्रजेति ॥ ७८ ।

किञ्च । त्रिवर्गेति । साधना इति स्त्रीत्वमार्षम् । त्रिवर्गसाधने आ हेतुः सम्यग्घेतुरिति वा । त्रिवर्गं साधयतीति त्रिवर्गसाधनाऽत एव हेतुरिति वा । साधन इति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ७९ ।

प्रघट्टकार्थमुपसंहरति । क्षीण इत्यर्धेन ॥ ८० ।

अह्नाय शीघ्रम् । तथेति स्वीकृत्येति वा । अव्ययोऽयं शब्दः, मूर्ति तैजसीम् ॥८१।

प्रजाओं के (मन) रंजन करने से यह जो भूपतियों को राजा कहा जाता है,[१] वह जब कि प्रजा के विरक्त हो जाने पर नष्ट हो गया, तो साथ ही राज्य भी विध्वंस हो जावेगा ॥ ७७ ।

जिस राजा के प्रजावर्ग विरुद्ध होकर छोड़ दें, वह चाहे कोश, दुर्ग, सेना, (अमात्य, बल) इत्यादि से समृद्ध हो, तो भी बहुत ही शीघ्र नदी के कूलस्थित वृक्ष के समान नष्ट हो जाता है ॥ ७८ ।

प्रजा ही राजा के धर्म, अर्थ और काम के प्रधान कारण हैं । पर जब प्रजावर्ग क्षीणवृत्ति हो जाते हैं, तब तो राजा का त्रिवर्ग आप ही क्षय हो जाता है ॥ ७९ ।

और जब किसी का त्रिवर्ग ही बिगड़ गया, तो फिर उसके इस लोक और परलोक की दोनों ही गतियों का ठिकाना नहीं लगता ॥ ८० ।

इन्द्रदेव के ऐसा कहने से अग्निदेव ने तुरत पृथिवीमण्डल से अपनी मूर्ति को योगमाया के बल से खींच लिया ॥ ८१ ।

---

१. तुलना करें—यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो 'राजा' प्रकृतिरञ्जनात् ॥
—कालिदास–रघुवंश, सर्ग ४ श्लो० १२ ।

निन्ये न केवलं त्रेतां जाठराग्निमपि प्रभुः ।
वज्रिणो वचसा वह्निर्निजशक्तिसमन्वितम् ॥ ८२ ॥
वह्नौ स्वर्लोकमापन्ने जाते मध्यन्दिने नृपः ।
कृतमाध्याह्निकस्तूर्णं प्राविशद् भोज्यमण्डपम् ॥ ८३ ॥
महानसाधिकृतयो वेपमानास्ततो मुहुः ।
क्षुधार्तमपि भूपालमिदं मन्दं व्यजिज्ञपन् ॥ ८४ ॥

सूपकारा ऊचुः—

अत्यहस्करतेजस्क प्रतापविजितानल ।
किञ्चिद्विज्ञप्तुकामा स्मोऽप्यकाण्डे रणपण्डित ॥ ८५ ॥
यदि विश्राणयेद्राजन् भवानभयदक्षिणाम् ।
तदा विज्ञापयिष्यामः प्रबद्धकरसम्पुटाः ॥ ८६ ॥

त्रेतां आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निरूपामित्यर्थः । निजशक्तिः पाकार्हामन्नादीनां दाहिकाशक्तिस्तत्समन्वितम् ॥ ८२ ।

महानसेऽधिकृतिरधिकारो वर्तते येषां ते तथा पाकशालाऽधिकारिण इत्यर्थः । क्षुधार्तमपि तस्मिन् समये विज्ञापनानर्हमपीत्यर्थः । अत एवाप्यकाण्ड इति वक्ष्यति । व्यजिज्ञपन् विज्ञापयामासुः ॥ ८४ ।

अत्येति श्लोकद्वयं वाक्यम् । अत्यतिक्रान्तमहस्करस्य सूर्यस्य तेजसो येन तत्सम्बोधनं हे अत्यहस्करतेजस्क । अकाण्डेऽनवसरेऽपि ॥ ८५ ।

विश्राणयेत् प्रयच्छेत् ॥ ८६ ।

उन्होंने केवल आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक इन्हीं तीनों रूपों का आकर्षण नहीं किया, वरन् अपनी पाचनशक्ति के सहित जठरानल को भी इन्द्र के कहने से खींच लिया ॥ ८२ ।

इस प्रकार से अग्नि के स्वर्ग में चले जाने पर मध्याह्नकाल में तात्कालिक उपासनादि को समाप्त कर भोजन-मण्डप में ज्यों ही राजा ने प्रवेश किया –रसोइयाँ लोग बारंबार काँपते हुए, राजा को क्षुधित जानकर भी धीरे से यह निवदन करने लगे ॥ ८३-८४ ।

पाककर्ताओं ने कहा—

"हे सूर्य से भी अधिक तेजस्वी और प्रताप से अग्नि के जीतने वाले, रणपण्डित महाराज ! हम लोग विना अवसर के भी कुछ निवेदन किया चाहते हैं ॥ ८५ ।

यदि आप हम सबको अभयदान करें, तो हमलोग हाथ जोड़कर अपनी प्रार्थना निवेदन करें" ॥ ८६ ।

भ्रूसंज्ञया कृतादेशाः प्रशस्तास्येन भूभुजा ।
मृदु विज्ञापयाञ्चक्रुः पाकशालाऽधिकारिणः ॥ ८७ ।
न जानीमो वयं नाथ त्वत्प्रतापभयार्दितः ।
कुसृत्याथ कयाविद्वान्नष्टो वैश्वानरः पुरात् ॥ ८८ ।
कृशानौ कृशतां प्राप्ते कथं पाकक्रिया भवेत् ।
तथापि सूर्यपाकेन सिद्धा पक्तिर्हि काचन ॥ ८९ ।
प्रभोरादेशमासाद्य तामिहैवानयामहे ।
मन्यामहे च भूजाने पक्तिरद्यतनी शुभा ॥ ९० ।
श्रुत्वान्धसिकवाक्यं स महासत्वो महामतिः ।
नृपतिश्चिन्तयामास देवानां वै कृतं त्विदम् ॥ ९१ ।
क्षणं संशीलयंस्तत्र ददर्श तपसो बलात् ।
न केवलं जहौ गेहं हुतभुक् चौदरोदरीः ॥ ९२ ।

कुसृत्याथ कया कयाऽपि कुसृत्येत्यर्थः । आविद्वान् मूर्खः, तव महिमानमजानन्निति वा ॥ ८८ ।

कृशानौ वह्नौ कृशतां क्षीणतां नाशमिति वा ॥ ८९ ।

मन्यामह इत्यर्धं वाक्यम् । दिनान्तरे वह्निपाके न या पक्तिस्तस्याः सकाशात् सूर्यपाकेन जाताऽद्यतनी पक्तिः शुभोत्कृष्टेति वयं मन्यामह इत्यर्थः ॥ ९० ।

अन्धसाऽन्नेन व्यवहरन्तीत्यान्धसिकाः पाककर्तारस्तेषां वाक्यम् । विरुद्धाकृतिर्विकृतिस्तस्यां जातं वैकृतमिदं गेहादग्नेर्गमनम् । वै इति पृथक् पदम् । कृतं कर्म ॥९१।

क्षणमिति सार्धश्लोकं वाक्यम् । संशीलयन् ध्यायन् । गेहं पाकादिगृहम् । औदरीरुदरसम्बन्धिनीर्दरीर्गुहाश्चेति चकारस्याऽन्वयः ॥ ९२ ।

इसके अनन्तर सौम्यमुख राजा के भ्रूसंकेत से आज्ञा पाकर पाकशाला के अधिकारी लोग कहने लगे ॥ ८७ ।

"नाथ ! नहीं जानते आपके प्रताप-भय से अर्दित होकर अथवा किसी कुचाल से मूर्ख अग्नि ने नगर ही छोड़ दिया ॥ ८८ ।

फिर अग्नि के न रहने से पाक की क्रिया कैसे की जावे । पर तो भी हम लोगों ने कुछ थोड़ा सा पदार्थ सूर्य के ही तेज में पकाया है ॥ ८९ ।

यदि महाराज को आज्ञा पावें, तो उसे हो यहाँ पर ले आवें । भूप ! हम लोगों की समझ में आज का पाक अच्छा हो होगा" ॥ ९० ।

वह महाबली और परम बुद्धिमान् राजा रसोइयों को बात सुनकर विचारने लगा कि यह सब देवताओं का ही खेलवाड़ है ॥ ९१ ।

फिर उस राजा ने क्षणमात्र ध्यान करके तपोबल से देखा कि, अग्नि ने केवल रसोइयों का घर ही नहीं छोड़ दिया, पर जठर-विवर को भी त्याग दिया है ॥ ९२ ।

अप्यहासोदितो लोकाज्जगाम च सुरालयम् ।
भवत्विह हि का हानिरस्माकं ज्वलने गते ॥ ९३ ॥
तेषामेव विचाराच्च हानिरेषा सुपर्वणाम् ।
तद्बलेन च किं राज्यं मयेदमुररीकृतम् ॥ ९४ ॥
पितामहेन महतो गौरवात् प्रतिपादितम् ।
इति चिन्तयतस्तस्य मध्यलोकशतक्रतोः ॥ ९५ ॥
पौराः समागता द्वारि सह जानपदैर्नरैः ।
द्वास्थेन चाज्ञया राज्ञस्ततस्तेऽन्तः प्रवेशिताः ॥ ९६ ॥
दत्त्वोपदं यथार्हन्ते प्रणेमुः क्षोणिवज्रिणम् ।
केचित्संभाषिता राज्ञा दरसोदरया गिरा ॥ ९७ ॥
केचिच्च समुदा दृष्टया केचिच्च करसंज्ञया ।
विसर्जितासना राज्ञा बहुमानपुरःसरम् ॥ ९८ ॥

विचाराद्यज्ञाद्यकरणेन तेषामेव क्षतेः । सुपर्वणां देवानाम् । तद्बलेन देवानां बलेन । उररीकृतं स्वीकृतम् ॥ ९४ ।

महता सर्वोत्तमेन । महत इति पाठे गौरवविशेषणम् । मध्यलोकशतक्रतोः धरातलेन्द्रस्य ॥ ९५ ।

पौराः पुरसम्बन्धिनः । जानपदैर्देशस्थैः ॥ ९६ ।

उप समीपे दीयत इत्युपदमुपढौकनम् । उपदामिति पाठेऽपि स एवार्थः । आदरस्य सोदरया समानगर्भया दरसोदरया शंखध्वनितुल्ययेति वा ॥ ९७ ।

समुदा हर्षसहितया । विसर्जितेति श्लोकद्वयं वाक्यम् ॥ ९८ ।

और वह इस भूलोक का परित्याग कर स्वर्ग में चला गया है । अच्छा तो इससे हमारी कौन हानि है, यदि अग्नि चला गया तो इस विचार से उन्हीं देवताओं ही की हानि हो सकती है, क्या मैंने उन्हीं सबों के भरोसे पर इस राज्य का भार उठाया है ? ॥ ९३-९४ ।

मैंने तो ब्रह्मदेव से बड़े गौरव के साथ इसे पाया है—राजा इसी प्रकार से सोच रहा था ॥ ९५ ।

इसी में देशवासियों के सहित नागरिकगण राजद्वार पर जा पहुँचे । अनन्तर पहरावाले ने राजा की आज्ञा से उन सबको भीतर ले जाकर उपस्थित कर दिया ॥९६।

उन सब लोगों ने यथायोग्य उपायन (नजर) देकर राजा को प्रणाम किया । राजा ने भी किसी से सादर बोलकर, किसी को प्रसन्न दृष्टि से देखकर एवं किसी को हाथ का संकेत कर बड़े ही आदर के साथ बैठने को आसन दिया ॥ ९७-९८ ।

तेऽजिरे भेजिरे सर्वे रत्नार्चिः परिसेविते ।
विजितामोदसन्दोहे सुरानोकहसौरभैः ।
राज्ञः[1] शतशलाकस्य च्छत्रस्य च्छायया शुभे ॥ ९९ ।
विशाम्पतिरथोवाच तन्मुखच्छाययेरितम् ।
विज्ञाय तदभिप्रायमलं भीत्या पुरौकसः ॥ १०० ।
विकारकारिभिर्लेखैर्यदि नीतोऽनलो भुवः ।
एतावतैव किं सिद्ध्येन्मयि तेषां पराभवः ॥ १०१ ।
चिकीर्षुरहमेवासं पौराः कार्यमिदं पुरा ।
परं ह्युपेक्षितप्रायं दिष्टचा तैः स्मारितं चिरात् ॥ १०२ ।

ते पौरजानपदा भेजिरेऽधिष्ठिता आसनानीत्यर्थः । विसर्जितासना इति पूर्व-मुक्तत्वात् । कुत्र ? अजिरे प्राङ्गणे । अजिरं विशिनष्टि । रत्नार्चिरिति सपादेन श्लोकेन । सुरानोकहसौरभैः सुरद्रुमामोदैः कृत्वा विजितामोदसंदोहे तिरस्कृतान्यगन्धसमूहे । यद्वा ते अन्तःप्रवेशिता इत्युक्तं तदेवाऽन्तःपुरं विशिनष्टि । रत्नार्चिरिति । शेषं समानम् । अभे अजिरे इति वा पदच्छेदः । न विद्यते भा दीप्तिर्यस्मात्तस्मिन्नत्युज्ज्वले इत्यर्थः । भेजिरेऽभेजिरे इति पाठो यद्यप्यपपाठस्तथापि व्याख्यायते । भेजिरे शिरसाऽभिवन्दनात् । अभेजिरे इति च्छेदः । अशब्दो निषेधे । न भेजिरे साक्षादनधिष्ठितत्वात् ॥ ९९ ।

विशामिति । विशांपतिः राजा तदभिप्रायं तेषां पौरादीनामभिप्रायं ज्ञात्वोवाच । अभिप्रायज्ञाने हेतुगर्भं विशेषणमाह । तन्मुखच्छाययेरितं तेषां मुखकान्त्या सूचितम् । किमुवाच तदाह । अलं भीत्येति ॥ १०० ।

विकारकारिभिरपकारकारिभिर्लेखैर्देवैः । तेषां पराभवस्तैः कृतोऽभिभव इत्यर्थः ॥ १०१ ।

स्मारितं तु तदिति वा पाठः ॥ १०२ ।

वे सब लोग रत्नों की चमक से शोभायमान और देववृक्षों के भी सुगन्धों से अधिक सौरभ से भरे हुए एवं राजा के सौ तिल्ली वाले छाता की छाया से विभूषित उस राजा के आँगन में (आसन पर) बैठ गये ॥ ९९ ।

तब राजा ने उन सबों की मुखाकृति से ही सूचित उनके अभिप्राय को समझ-कर कहा, हे पुरवासी प्रजागण ! कोई डर नहीं है ॥ १०० ।

क्या बिगाड़ करने वाले देवताओं ने अग्नि को भूमि पर से हटा दिया, तो इसी से मेरा पराभव सिद्ध हो जावेगा ? ॥ १०१ ।

प्रजागण ! मैंने तो पूर्व में ही इस कार्य को करना चाहा था, पर उपेक्षा ही करता रहा । आज बहुत दिनों के पीछे उन लोगों ने स्मरण करा दिया ॥ १०२ ।

---

१. तस्य राजशशाङ्कस्येत्यपि पाठः ।

गतोऽनलोऽभवद्भद्रं जगत्प्राणोऽपि यात्वितः ।
वरुणः पुष्पवन्ताभ्यामविलम्बं प्रयात्वितः ॥ १०३ ।
अहमेव हि पर्जन्यो भविष्यामि तपोबलात् ।
मुदे जनपदानां च सर्वसस्यसमृद्धिदः ॥ १०४ ।
तपोयोगबलेनाहमात्मानं परिकल्प्य च ।
त्रिधा वह्निस्वरूपेण पक्तीष्टिव्युष्टिकृत्तमः ॥ १०५ ।
अन्तर्बहिश्च यो द्वेधा नभस्वत्पदवीं दधत् ।
सर्वेषामेव वेत्स्यामि स्वन्तःकरणचेष्टितम् ॥ १०६ ।
विधाय चाम्भसीं मूर्ति सर्वजीवैकजीवनीम् ।
प्रजाः संजीवयिष्यामि किं जडैर्विषये मम ॥ १०७ ।

जगत्प्राणो वायुः । पुष्पवन्ताभ्यां चन्द्रसूर्याभ्यां सह ॥ १०३ ।

पर्जन्य इन्द्रः ॥ १०४ ।

पक्तीष्टिव्युष्टिकृत्तमः पाकयज्ञदाहकृत्तमः । तत्र पाको महानसादौ, यज्ञोऽग्निहोत्रादिरूपः, दाहः शीतापनयनादौ ॥ १०५ ।

अन्तरिति । अन्तर्बहिश्च यो द्वेधा वर्तते तस्य नभस्वतो वायोः पदवीं दधत् सन्नित्यर्थः । अन्तर्बहिश्चर इति पाठे अन्तर्बहिश्चरो द्वेधा भूत्वा नभस्वतो वायोः पदवीं दधत् सन्नित्यर्थः ॥ १०६ ।

आम्भसीं जलाधिष्ठात्रीं वारुणीमित्यर्थः । जडैर्जाड्यगुणयुक्तैर्जलैरित्यर्थः । जडैर्जलैरिति वा, डलयोरेकत्वात् ॥ १०७ ।

अग्नि चला गया तो अच्छा ही हुआ । वायु भी चला जावे और वरुण, चन्द्र, सूर्य के संग ही यहाँ से अभी प्रस्थान कर देवें ॥ १०३ ।

मैं देशवासियों के आनन्दार्थ, समस्त धान्यादिकों का समृद्धिदाता इन्द्र होकर अपने तपोबल से वृष्टि करूँगा ॥ १०४ ।

मैं स्वयं अपने को ही तपस्या और योग के बल से अग्नि का तीन रूप बनाकर पाक, यज्ञ और दाहकर्म का सम्पादन करूँगा ॥ १०५ ।

मैं अन्तश्चर और बहिश्चर द्विविध वायु होकर सब लोगों के अन्तःकरण की चेष्टा को भी जान लूँगा ॥ १०६ ।

मैं ही जीवों के जीवन की एकमात्र रक्षा करने वाले जल की मूर्ति धारण करके प्रजाओं को जिलाऊँगा । भला इस जड़रूप जल का मेरे राज्य में कौन प्रयोजन है ॥ १०७ ।

यदा खे तमसा पौरा ग्रस्येते शशिभास्करौ।
तदा न किं विना ताभ्यां जीवामः क्षितिमण्डले ॥ १०८ ।
श्रियं चान्द्रमसीं प्राप्य ह्लादयिष्याम्यहं प्रजाः।
निशाचरेण किमिह क्षयिणा च कलङ्किना ॥ १०९ ।
अस्मत्कुले मूलभूतो भास्करो मान्य एव नः।
स तिष्ठतु सुखेनाऽत्र यातायातं करोतु च ॥ ११० ।
स एको जगतामात्मा विशेषात्कुलदेवता।
सोपकर्तुं न वेत्त्येव तस्येदं व्रतमुत्तमम् ॥ १११ ।

यदेति। खे आकाशे। अग्र इति पाठे अग्रे सम्मुखे प्रत्यक्षमित्यर्थः। तमसा राहुणा नैहारादिरूपेणाऽन्धकारेण वा। पौरा इति प्राधान्यात् केषांचित् सम्बोधनम् ॥ १०८।

निशाचरेण चन्द्रेण। शब्दच्छलेन राक्षससादृश्यं ध्वनितम्। किं च क्षयिणा दक्षशापात् क्षयरोगवता। कलङ्किना गुर्वङ्गनागमनकलङ्कवता च ॥ १०९।

एवं सामान्यतः कोपावेशेन सर्वेषामेव स्वविषयाद् गमनमनुज्ञाय पश्चाद्विमृश्य कस्यचिदन्यथयति। अस्मदिति ॥ ११०।

ननु तथाभूतोऽपि स यद्यनिष्टकारी तर्हि कथं स्थापनीयस्तत्राह। स एक इति। सर्वेषामात्मत्वाद्विशेषात् कुलदैवतत्वाच्च सोऽपकर्तुं न जानात्येव। किञ्च, तस्येदमपकारकरणाज्ञानमुत्तमं व्रतं परमः संकल्पः ॥ १११।

पुरवासियों ! जब कि चन्द्र-सूर्य को राहु ग्रस लेता है, तो क्या उस समय हम लोग उनके विना भूमण्डल में जीवित नहीं रहते ? ॥ १०८।

मैं आप ही चन्द्रसदृशी शोभा से प्रजाओं को आह्लादित करूँगा। इस क्षयरोगी, कलंकी, निशाचर से कौन फल (लाभ) है ? ॥ १०९।

केवल सूर्यदेव मेरे वंश के मूल पुरुष होने से माननीय हैं। वे अकेले यहाँ रहें और सुख से गमनागमन करें ॥ ११०।

क्योंकि वे एकमात्र जगत् (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च—यजुर्वेद) के आत्मा हैं, और विशेष करके हमारे कुलदेवता हैं। वे कदापि किसी का अपकार नहीं करते, यही उनका उत्तम व्रत है ॥ १११।

इति नरपतिवाक्सुधारसौघं
श्रुतिपुटकैः परिपीय पौरवर्गः ।
विकसितवदनाम्बुजो जगाम
निजनिजमालयमाधिमुक्तचित्तः ॥ ११२ ।

क्षितिपतिरपि तत्तथा विधाय तपसोऽ-
साध्यमिहास्ति किं त्रिलोक्याम् ।
अतिवह्न्यर्कमसौ दधच्च तेजो
द्युसदां शल्यमिवोच्चकैर्बभूव ॥ ११३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दिवोदासप्रतापवर्णनं
नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ।

इतीति । पौरवर्ग इत्युपलक्षणम् । आधिमुक्तचित्तो मानस्या व्यथया रहितान्तः-करणः ॥ ११२ ।

क्षितिपतिरिति । तदग्न्यादिकर्म । तथा पूर्ववत् । अतिवह्न्यर्कं वह्न्यर्कौ अतिक्रम्य वर्तत इत्यतिवह्न्यर्कम् । द्युसदां देवानाम् । शल्यं कीलकं हृदीति शेषः॥११३।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

पुरवासी प्रजागण इस प्रकार के राजा के वचनामृत को कर्णपुटों द्वारा पीकर विकसित मुख-कमल हो प्रसन्न मन से अपने-अपने घर चले गये ॥ ११२ ।

राजा ने भी जैसा कहा था, वैसा ही 'अग्नि और सूर्य से भी अधिक तेजस्वी होकर, देवतागण के हृदय में और भी बड़ा भारी कील ठोंक दिया । अहो ! इस त्रैलोक्य में तपोबल के द्वारा क्या असाध्य है ? ॥ ११३ ।

दोहा—का नहिं जग में करि सके, जाहि तपोबल होय ।
दिवोदास आपुहि भयो, अनिल, अनल, शशि, तोय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां दिवोदासनृपति-प्रतापवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ।

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

अथ मन्दरकन्दरोदरोल्लसदसमद्युतिरत्नमन्दिरे ।
परितः समधिष्ठितामरे निजशिखरैर्वसनोकृताम्बरे ॥ १ ॥
निवसन् जगदीश्वरो हरः कृशरजनीशकलामनोहरः ।
लभते स्म न शर्म शङ्करः प्रसरत् काशिवियोगजज्वरः ॥ २ ॥
विरहानलशान्तये तदा समलेपि त्रिपुरारिणाऽपि यः ।
मलयोद्भवपङ्क एष सम्प्रतिपेदे ह्यधुनापि पांसुताम् ॥ ३ ॥

चतुर्भिरधिके चत्वारिंशकेऽध्याय उत्तमे ।
विश्वेशविरहान्तस्थं काशीवर्णनमुच्यते ॥ १ ॥

कथमागाच्च मन्दरादिति प्रश्नस्योत्तरं वक्ष्यन्नागमनकारणं काशीवियोगजातमानन्दाभावमीश्वरस्य दर्शयति । अथेति । श्लोकद्वयं वाक्यम् । अथ बहुकालस्थित्यनन्तरं शङ्करः शर्म सुखं न लभते स्म नाऽलभत् । किं कुर्वन् ? निवसन् निवासं कुर्वन् । क्व ? मन्दरस्य पर्वतस्य कन्दरोदरे उल्लसन्ति उच्चरन्ति स्फुरन्तीति यावत् । असमद्युतीनि न विद्यते समाना द्युतिः कान्तिर्येषां तानि रत्नानि यस्मिंस्तस्मिन् मन्दकन्दरोदरोल्लसदसमद्युतिरत्नं तच्च तन्मन्दिरं चेति तस्मिन् । परितः सर्वतः सम्यगधिष्ठिता अमरा यस्मिन् । वसनीकृतं वस्त्रीकृतमम्बरं यस्मिन् अत्युच्चे इत्यर्थः ॥ १ ॥

जगदीश्वरस्य प्रलयकाले सर्वहरस्य वा बालचन्द्रकलया मनोहरस्यापि । शर्मालभने हेतुमाह । प्रसरदिति । प्रसरन्नुद्गच्छन् काशीवियोगजो ज्वरो यस्य सः ॥ २ ॥

भगवद्गात्रसंलग्नं पांसुमुत्प्रेक्षमाणः काशीविरहज्वरस्य तीव्रतामाह । विरहेति । तदा त्रिपुरहरेण विरहाग्निशान्त्यर्थं सचन्दनरसः स्वगात्रे सम्यग् अलेपि लिप्तः स एवाऽधुनाऽपि पांसुतां धूलितां भस्मतां वा प्रतिपेदे प्रापेत्यर्थः ॥ ३ ॥

(विश्वेश्वर का काशी-विरह और योगिनियों का प्रस्थान)

कार्तिकेय बोले—

"(इधर) विश्वेश्वर, मन्दराचल की सुन्दर कन्दराओं के भीतर अनुपम रत्नद्युति से शोभायमान और चारों ओर देवताओं से वेष्टित एवं निज-शिखरों से आकाशस्पर्शी मन्दिर में निवास करते रहने पर भी काशी के वियोगजनित सन्ताप से व्याकुल होकर, बालचन्द्र की कला को धारण किये रहने पर भी सुख-शान्ति को नहीं पा सके ॥ १-२ ॥

त्रिपुरान्तक भगवान् ने विरहानल के शान्त्यर्थ शरीर में जो मलयाचल के चन्दन का लेप किया, वह उसी घड़ी सूखकर धूल हो गया ॥ ३ ॥

परितापहराणि पद्मिनीनां मृदुलान्यपि कङ्कणीकृतानि ।
गदितानि यदीश्वरेण सर्पास्तदभूत्सत्यमहो महेश्वरेच्छा ॥ ४ ।

यदु दुग्धनिधिं निमथ्य देवैर्मृदुसारः समकर्षि पूर्णचन्द्रः ।
स बभूव कृशो वियोगतप्तेश्वरमूर्धोष्मपरिच्छरच्छरीरः ॥ ५ ।

यददीधरदेष जाततापः पृथुले मौलिजटानिकुञ्जकोणे ।
परितापहरां हरस्तदानीं द्युनदीं तामधुनापि नोज्जिहीते ॥ ६ ।

भगवद्गात्रस्थिताः सर्पा उत्प्रेक्ष्यन्ते । परितापेति । कङ्कणीकृतानि यानि पद्मिनीनां मृणालानि इति शेषः । कथं भूतानि ? परितापहराणि मृदुलानि कोमलान्यपि तानि यद्यस्मात् सर्पा इति ईश्वरेण गदितानि तत्तस्मात्कारणात्सत्यं यथा स्यात्तथा तान्येव सर्पाः अभूवन्नित्यर्थः । ईश्वरेण सर्पा इति गदितानि यत् तद् गदनमेव सत्यमभूदिति वा । अहो खेदे आश्चर्ये वा । तत्र हेतुमाह । महेश्वरेच्छेति । तदुक्तम्—

"विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया" इति ॥ ४ ।

यदु दुग्धनिधिमिति । यद् यः उ विस्मये, देवैर्दुग्धनिधिं निमथ्य मृदुसारः शीतलः पूर्णचन्द्रः समकर्षि आकृष्ट उद्धृत इति यावत् । स कृशः कलामात्रावशिष्टो बभूव । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । काशीवियोगतप्तस्य ईश्वरस्य मस्तके तापेन क्षीणशरीरः ॥ ५ ।

यददीधरदिति । यद्यत एष हरः काशीवियोगात् जाततापः संस्तदानीं परितापहरां द्युनदीं मौलिजटा एव निकुञ्जस्तस्य कोणे विस्तीर्णे दधार, तत एव हेतोरधुनाऽपि नोज्जिहीते न त्यजति । यद् यामिति वा ॥ ६ ।

जो सन्तापहारी, अतिकोमल मृणाल हाथ में कंकण बनाये गये, उनको महेश्वर ने कहा, ये तो सर्प ऐसे जान पड़ते हैं । (सो वे सब आज तक सर्प होकर उनके हाथ में पड़े हैं) सत्य है, ईश्वर की जो इच्छा होती है, उसके होने में कौन आश्चर्य है ॥ ४ ।

देवताओं ने क्षीरसागर को मथकर जिस कोमल और शीतल कलापूर्ण चन्द्र को निकाला था, वह वियोग से सन्तप्त महेश्वर के मस्तक पर उष्णता से अपना देह सुखवाकर अत्यन्त कृश हो गया ॥ ५ ।

शिव ने अत्यन्त सन्तापित होकर उस वेला अपने मस्तक पर बड़े भारी जटाजूट में जिस परितापहारिणी सुरनदी को धारण किया था, आज तक उसे उतारते नहीं हैं ॥ ६ ।

महतो विरहस्य शङ्करः प्रसभं तस्य वशी वशंगतः ।
विविदे न सुरैः सदो गतैरपि संवीतसुतापवेष्टितः ॥ ७ ।
अतिचित्रमिदं यदात्मना शुचिरप्येष कृपीटयोनिना ।
स्वपुरीविरहोद्भवेन वै परिताप्येत जगत्त्रयेश्वरः ॥ ८ ।
निजभालतलं कलानिधेः कलया नित्यमलङ्करोति यः ।
स तदीश्वरमप्यतापयद् विधुरेको विपरीत एव तु ॥ ९ ।
गरलं गलनालिकातले विलसेदस्य न तेन तापितः ।
अमृतांशुतुषारदीधितिप्रचयैरेव तु तापितोऽद्भुतम् ॥ १० ।

महत इति । तस्य महतो विरहस्य शङ्करो वश्यपि वशंगतः सन् सभास्थैरपि सुरैर्न विविदे न ज्ञातः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । संवीतसुतापवेष्टितः अप्रकटात्यन्ततापव्याप्तः । काशीविरहजन्यत्वमेव तापस्य शोभनत्वम् ॥ ७ ।

अतिचित्रमिति । इदमतिचित्रम् । किं तत् ? जगत्त्रयेश्वरोऽपि शुचिः पवित्रोऽपि । यद्वा प्रलयकाले सर्वसंतापकोऽपि संकर्षणमुखानलोत्थकालाग्निरुद्ररूपत्वात् परिताप्येतेति यत् । परितप्येतेति क्वचित् । केन ? कृपीटयोनिना वह्निना । कथम्भूतेन ? आत्मना स्वस्यैव मूर्त्या । अष्टमूर्तित्वान्महेश्वरस्य । पुनः कथम्भूतेन ? काशीवियोगादुत्थितेन ॥ ८ ।

निजभालतलमिति । यथा कलानिधेश्चन्द्रस्य कलया रेखया य ईश्वरो निजभालतलमलङ्करोति, स कलानिधिस्तदीश्वरमपि स चासावीश्वरश्चेति तदीश्वरस्तमप्यतापयत् सन्तप्तं चकार, अत एक एव विधुर्विपरीतः । त्वित्याश्चर्ये । कलानिधिरिति पाठे तस्येत्यर्थात् ॥ ९ ।

गरलमिति । एतदद्भुतम् । किं तत् ? अस्य गलनालिकातले कण्ठे गरलं कालकूटं विलसेत् स्फुरेत्, तेनाऽयं न तापितस्तापं न प्रापितः । अमृतांशुतुषारदीधितिप्रचयैश्चन्द्रशीतलरश्मिसमूहैस्त्वेष तापित इति ॥ १० ।

वशी शंकर अनायास उस बड़े वियोग के वशीभूत हो गये । पर गुप्तसन्ताप से भरे रहने पर भी उनके सभासद् देवगण कुछ भी नहीं जान सके ॥ ७ ।

इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा कि स्वयं त्रैलोक्यनाथ पवित्र रहने पर भी अपने ही रूप अग्नि के द्वारा, जो अपनी ही पुरी के वियोग से उत्पन्न हुई, उससे स्वयं सन्तप्त होने लगे ॥ ८ ।

जो सर्वदा अपने भालदेश को कलानिधि की कला से ही विभूषित करते हैं, आज वही शीतल चन्द्र अपने आश्रयदाता ईश्वर को भी सन्तापित कर रहा है। सच है, दुःख के समय कौन नहीं विरुद्ध हो जाता ? "(अपने भी बेगाने हो जाते हैं)" ॥ ९ ।

कैसी अद्भुत बात है, जिसके कण्ठदेश में विष के रहने पर भी कुछ सन्ताप नहीं हुआ, उसे सुधाकर के अतिशीतल किरणों से ही सन्तप्त होना पड़ा ॥ १० ।

विलसद्धरिचन्दनोदकच्छटया तद्विरहापनुत्तये ।
हृदयाहितयाप्यदूयत प्रसरद्भोगिफटाभवैर्न तु ॥ ११ ।
सकलं भ्रममेष नाशयेत् स्रगहित्वाद्यपदेशजं हरः ।
इदमद्भुतमस्य यद्भ्रमः स्फुटमाल्येऽपि महाहिसम्भवः ॥ १२ ।
स्मृतिमात्रपथं गतोऽपि यस्त्रिविधं तापमपाकरोत्यलम् ।
स हि काशिवियोगतापितः स्वगतं किञ्चिदजल्पदित्यजः ॥ १३ ।
अपि काशिसमागतोऽनिलो यदि गात्राणि परिष्वजेन्मम ।
दवथुः परिशान्तिमेति तन्न हिमानीपरिगाहनैरपि ॥ १४ ।

अन्यच्चाद्भुतं शृण्वित्याह । विलसदिति । तद्विरहापनुत्तये काश्या विरहनाशाय हृदयाहितया वक्षःस्थलार्पितया विलसद्धरिचन्दनोदकच्छटयाप्येषोऽदूयत तापमनुभूतवान्, प्रसरद्भोगिफटाभवैः प्रस्फुरत् सर्पफणाजातैर्विषैरिति शेषः । न दूयत इति ॥ ११ ।

सकलं भ्रममिति । एष विश्वेश्वरः सकलभ्रमं जगद्भ्रमं नाशयेत् । कथम्भूतम् ? स्रगहित्वाद्यपदेशजं स्रक् सर्पत्वादिदृष्टान्तसिद्धम् । तथा च प्रयोगः । जगद्भ्रमरूपं दृश्यत्वात् स्रक्सर्पादिवदिति । आदिपदेन शुक्तिरजतस्थाणुपुरुषादयो गृह्यन्ते । एतादृशस्यास्य स्फुटमाल्ये स्पष्टमालायामपि महाहेः सम्भवरूपो भ्रम इति यदिदमद्भुतमिति ॥ १२ ।

स्मृतिमात्रपथमिति । स्मृतिमात्रपथं स्मरणैकविषयं गतोऽपि यस्त्रिविधमाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापमपाकरोति नाशयति, स हि स एव काशीवियोगात् तप्तः सन् किञ्चिद्वक्ष्यमाणलक्षणमजल्पद् व्यलपत् । अजो जन्मादिषड्भावविकारशून्य इत्यर्थः ॥ १३ ।

विलापमेवाहापीति षड्भिः । काशीस्पर्शनं तावद् दूरे तिष्ठतु, काशीतः समागतोऽनिलोऽपि यदि मम गात्राणि परिष्वजेदालिङ्गेत्तदा मे दवथुः विरहकम्पः शान्तिमेति । अन्यथा हिमानी हिमसंहतिस्तस्याः परिगाहनैः संस्पर्शैरपि शान्तिं नैतीत्यर्थः ॥ १४ ।

जो प्रतिक्षण शरीरस्थित सर्पों के फन से निकलते हुए विषमय फूत्कार से तनिक भी क्लेशित नहीं होते, इस घड़ी वे ही शिव, तापशान्त्यर्थ हृदय पर लगाये गए हरिचन्दन के लेप से और भी सन्तापित होने लगे ॥ ११ ।

जिसकी कृपा से जीव संसार के समस्त भ्रमजाल से छुटकारा पा जाता है, उस घड़ी उन्हीं भगवान् विश्वेश्वर को पुष्प की माला पर भी बड़े भारी सर्प का भ्रम होने लगा । यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥ १२ ।

स्मरण करने मात्र से जो जीवों के त्रिविध ताप को अत्यन्त दूर भगा देते हैं, आज वे ही अनादिदेव काशी के वियोग से व्याकुल होकर आप ही आप यह कहने लगे ॥ १३ ।

'यदि काशी से आया हुआ वायु भी मेरे शरीर में लग जाता, तो यह विरह का कम्प (ज्वर काँप) शान्त होता, नहीं तो इस हिमराशि के लपेटने से भी कुछ नहीं हो सकता ॥ १४ ।

अगमिष्यदहो कथं स तापो ननु दक्षाङ्गजयाय एधितः ।
मम जीवातुलता झटित्यलं ह्यभविष्यन्न हिमाद्रिजा यदि ।। १५ ।
न तथोज्झितदेहयातथा मम दक्षोद्भवया मनोऽदुनोत् ।
अविमुक्तवियोगजन्मना परिदूयेत यथा महोष्मणा ।। १६ ।
अयि काशि मुदा कदा पुनस्तव लप्स्ये सुखमङ्गसङ्गजम् ।
अतिशीतलितानि येन मेऽद्भुतगात्राणि भवन्ति तत्क्षणात् ।। १७ ।
अयि काशि विनाशिताघसंघे तव विश्लेषज आशुशुक्षणिः ।
अमृतांशुकलामृदुद्रवैरतिचित्रं हविषेव वर्धते ।। १८ ।

अगमिष्यदिति । अहो इति खेदे । मम दक्षाङ्गजया सत्या दक्षरोषात्त्यक्तदेहया यस्ताप एधितो वर्धितः, स तापो यदि झटिति हिमाद्रिजा पार्वती हि निश्चितं नाभविष्यन्न जाता च स्यात्तदा कथमगमिष्यत् कथं गतः स्यान्न कथञ्चिदित्यर्थः। कथम्भूता दक्षाङ्गजा पार्वती वा, मम जीवातुलता जीवनौषधिरूपा लता ।। १५ ।

किन्तु न तथेति दक्षोद्भवया मम मनस्तथा नाऽदुनोदुपतप्तमभूत् । कथम्भूतया ? उज्झितदेहया त्यक्तशरीरया । अविमुक्तस्य वियोगेन जन्म यस्य तेन महोष्मणा महाविरहाग्निना यथा परिदूयेत परितप्येत हुतभुग् हुतदेहया ययेति पाठे तयेत्यर्थात् । हुतभुजि हुतो देहो यया सा तथा तया ।। १६-१७ ।

अमृतांशुश्चन्द्रस्तत्कलातो मृदुद्रवैः शीतलामृतैः ।। १८ ।

जिस दक्षसुता ने पिता के मुख से पति की निन्दा सुनकर देह का त्याग कर दिया, उसके लिये जो मुझे असह्य सन्ताप हुआ था, वह यदि शीघ्र ही सती पार्वती मेरी जीवनौषधिरूपी न हो गई होतीं, तो कैसे दूर होता ? ।। १५ ।

दक्षतनया सतीदेवी के शरीरत्याग करने से भी मेरा मन ऐसा व्याकुल नहीं हुआ था, जैसा कि इस काशी के विरहानल से परितप्त हो रहा है ।। १६ ।

अयि काशि ! अब फिर मैं कब तुम्हारे अंगसंग से उत्पन्न सुख को हर्ष से पाऊँगा ? जिसके द्वारा यह मेरा सन्तप्त शरीर तुरत अत्यन्त शीतल हो जाता ।। १७ ।

अयि पापपुञ्जविनाशिनि ! काशि ! तुम्हारे वियोग से उत्पन्न अग्नि तो विचित्र ही है, जो सुधाकर की कलाओं के कोमल छिड़काव से घृत पाने के समान और भी बढ़ता जाता है ।। १८ ।

अंगमन्मम दक्षजावियोगजो दवथुः प्राग्हिमवत्सुतौषधेन ।
अधुना खलु नैव शान्तिमोयां यदि काशीं न विलोकयेऽहमाशु ॥ १९ ।
मनसेति गृणंस्तदा शिवः सुतरां संवृततापवैकृतः ।
जगदम्बिकया धियां जनन्या कथमप्येष वियुक्त इत्यमानि॥ २० ।
प्रियया वपुषोऽर्धयाऽनयाप्यपरिज्ञातवियोगकारणः ।
वचनैरुपचर्यते स्म स प्रणतप्राणिनिदाघदारणः ॥ २१ ।

श्रीपार्वत्युवाच—

तव सर्वग सर्वमस्ति हस्ते विलसद्योगवियोग एव कस्ते ।
तव भूतिरहो विभूतिदात्री सकलापत्कलिकाऽपि भूतधात्री ॥ २२ ।

तर्ह्यधुनाऽपि काशीवियोगजतापशान्त्यर्थमन्यदेवोपायान्तरं चिन्त्यतां तत्राहाऽगमदिति । हिमवत्सुतैवौषधं तेन सतीवियोगजः कम्पो मेऽगमत् प्राक्, अधुना यदि काशीं न पश्यामि तर्हि काशीविरहाऽनलस्य शान्ति नैवेयां न प्राप्नोमीत्यर्थः ॥ १९ ।

मनसेति । तदा जगदम्बिकया जगतां मात्रा पार्वत्या धियां समष्टिव्यष्टिबुद्धीनां जनन्या साक्षिण्या परदेवतया कथमपि केनापि पदार्थेन एषोऽहं वियुक्तो विरहित इत्यमानि अलक्षित ज्ञात इत्यर्थः । कीदृशः ? मनसेति गृणन् पूर्वोक्तं विलपन् । शिवः सुखस्वरूपः । सुतरामतिशयेन संवृतोऽस्पष्टो यः तापस्तेन वैकृतः विकृतिं नीत इत्यर्थः । विमुक्त इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ २० ।

एवं सामान्यविरहकारणज्ञानानन्तरं यत्कृतं तदाह । प्रिययेति । अनया प्रियया वपुषोऽर्धरूपयाऽपि न परिज्ञातं विशेषतो वियोगस्य कारणं यस्य स तथा । प्रणतस्य प्राणिमात्रस्य निदाघदारणः सन्तापनाशनः । एतादृशः स शिवः तथैव प्रियया उपचर्यते स्म सेवित इत्यर्थः ॥ २१ ।

तदेव परिचरणमाह । तवेति चतुर्भिः । हे सर्वग हे विलसद्योग विलसन् योगो यस्य तत्सम्बोधनं तथा तव हस्ते सर्वमस्त्येव त्वदधीनमेव सर्वमित्यर्थः । अतस्ते तव

पूर्व में जैसे मेरा सती का विरहानल पार्वतीरूप औषध से शान्त हो गया, वैसे इस घड़ी यदि तुरन्त काशी का दर्शन न पाऊँगा, तो कभी मेरी शान्ति नहीं हो सकती ॥ १९ ।

इस प्रकार से गुप्त-सन्ताप में निमग्न और मन ही मन ऐसा विलाप करते हुए शिव को बुद्धिजननी जगदम्बिका ने किसी विधि से जान लिया कि ये (शिव) किसी के वियोगी हुए हैं ॥ २० ।

परन्तु शिव ने तो इस रूप से अपने विरह को गुप्त कर रक्खा था कि साक्षात् अर्द्धांगिनी होने पर भी पार्वतीदेवी को वियोग का कुछ भी कारण नहीं समझाई पड़ा । अन्ततः भक्तजन के सन्तापहारी भगवान् विश्वेश्वर की सेवा-शुश्रूषा करती ही रहीं॥२१।

(एक दिन) पार्वती देवी ने कहा—

"हे सर्वव्यापक ! योगेश्वर ! प्रभो ! सब कुछ तो आप ही के हाथ में है, फिर

त्वदनीक्षणतः क्षणाद् विभो प्रलयं यान्ति जगन्ति शोच्यवत् ।
च्यवते भवतः कृपालवादितरोऽपीश न यस्त्वयोङ्कृतः ॥ २३ ।
भवतः परितापहेतवो न भवन्तीन्दुदिवाकराग्नयः ।
नयनानि यतस्त्रिनेत्र तेऽमी प्रणयिन्यस्ति लसज्जला च मौलौ ॥ २४ ।
भुजगा भुजगाः सदैव तेऽमी न विषं संक्रमते च नीलकण्ठ ।
अहमस्मि च वामदेव वामा तव वामं वपुरत्र चित्तयुक्ता ॥ २५ ।

को वियोगो विरहः । विलसद्योगेन कृत्वा वियोगस्ते क इति वाऽन्वयः । अहो आश्चर्ये । तव भूतिर्विभूतिर्ब्रह्मादीनां विभूतिदात्री । भूतधात्री प्राणिमात्रस्य धारिका सर्वापत्कलिका सर्वासामापदां नाशिकाऽपीत्यर्थः ॥ २२ ।

त्वदिति । हे विभो ! त्वदनीक्षणतस्तव करुणादृष्ट्यभावात् क्षणादेव जगन्ति प्रलयं यान्ति । हे ईश ! कृपालवात् कृपालेशेन यस्त्वया नोङ्कृतः सेवकत्वेन न स्वीकृतः, स भवत इतरोऽपि त्वत्प्रतियोगी ब्रह्मादिरपि च्यवते भ्रश्यते संसरतीत्यर्थः ॥ २३ ।

तापहेत्वभावादपि तव तापो न सम्भवतीत्याह । भवत इति । हे त्रिनेत्र ! इन्द्वादयस्तव परितापहेतवो न भवन्ति, यतस्तेऽमी तव नयनानि प्रणयिनी प्रिया च गङ्गा मौलौ मस्तकेऽस्ति । कथम्भूता ? लसज्जला लसत्कमनीयं ब्रह्मजलं यस्याः सा तथा । तथा चोक्तम्—योऽसावित्यादि । शोभनजला वा ॥ २४ ।

भुजगा इति । ते प्रसिद्धा अमी भुजगाः शेषादयस्ते भुजगा हस्तगाः अङ्गदादिरूपेण स्थितत्वात् । अतस्तेषां विषं न संक्रमते त्वयि न प्रभवति । नीलकण्ठेति सम्बोधनस्यायं भावः । कालकूटभक्षणेऽपि तव शोभैव जाता न काचिद्धानिरतो वराकाणामेषां विषैस्तव किमिति । हे वामदेव ! तव वामं वपुर्वामशरीरमहमस्मि । कथम्भूता ? वामा शोभना । रामेति सुन्दरीत्यर्थः । चित्तयुक्ता चित्ताऽनुसारिणी ॥२५।

यह आपको किस का वियोग है ? अहो ! आपकी ही विभूति तो ब्रह्मादि देवताओं को भी ऐश्वर्य देती है और प्राणिमात्र की रक्षिणी तथा सभी आपदों की नाशिनी है ॥२२।

हे नाथ ! ये सब संसार आपकी दृष्टि फिर जाने से क्षण भर में प्रलय होकर शोचनीय हो जाते हैं, हे ईश ! जिसे आप कृपालेश से सेवक न स्वीकार कर लेवें, वह भ्रष्ट ही हो जाता है ॥ २३ ।

हे त्रिलोचन ! चन्द्र, सूर्य और अग्नि, ये तीनों तो नेत्ररूप होकर आपके शरीर में सदा बने ही रहते हैं; अतएव यह सब तो सन्ताप के कारण हो ही नहीं सकते, फिर आपके मस्तक पर प्रीतिमती शोभनजलवाली गंगा ही विराजमान हैं ॥ २४ ।

हे (विषभक्षक !) नीलकण्ठ ! ये सब सर्प तो सदैव आपके हस्तभूषण ही बने रहते हैं । भला इनका विष आपका क्या कर ले सकता है ? हे वामदेव ! आपकी वाम-अर्द्धांगिनी मैं चित्तानुसारिणी दासी ही हूँ (पर आपके सन्ताप का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई पड़ता)" ॥ २५ ।

इति संसृतिसंबीजजनन्याऽभिहिते हिते ।
गिरां निगुम्फे गिरिशो वक्तुमप्याददे गिरम् ॥ २६ ।

ईश्वर उवाच—

अयि काशीत्यष्टमूर्तिर्भवो भावाष्टकोऽभवत् ।
सत्वरं शिवयाऽज्ञायि ध्रुवं काश्या हृतो हरः ॥ २७ ।

अथ बालसखीभूततत्तत्काननवीरुधम् ।
शिवा प्रस्तावयाञ्चक्रे विमुक्तां मुक्तिदां पुरीम् ॥ २८ ।

इति संसृतिसंबीजजनन्या संसृतेः सम्यग् बीजं मूलकारणमज्ञानं महत्तत्त्वं वा तज्जननी अभक्तानां तदुत्पादयित्री तया । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारं यथा स्यात्तथा हितेऽभिहिते सति गिरिशोऽथाऽनन्तरं गिरं वक्तुमाददे उपक्रमं कृतवान् । कथम्भूते हिते ? गिरां निगुम्फे गिरां वचसां नितरामतिशयेन गुम्फो गुम्फनं ग्रथनं यत्र तस्मिन् । वक्तुमपीत्यत्र गद्‌गदामिति क्वचित्पाठः ॥ २६ ।

तामेव गिरं दर्शयति । अयीति । अयि हे काशि ! त्वया काश्या हरोऽहं हृतो वियोगद्वारा सन्तापित इति शिवया पार्वत्याऽज्ञायि ज्ञातः । कीदृशो हरोऽष्टमूर्तिः पञ्चभूतचन्द्रसूर्यात्मानो मूर्तयो यस्य सः । भवत्यस्मादिति भवः । भाव्यन्ते जायन्ते पदार्था एभिरिति भावाः, प्रमाणानि भावाश्च तेऽष्टौ च प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यैतिह्यानुपलब्धिसम्भवा इति भावाऽष्टौ तत्स्वरूपो भावाष्टकः । तथा चोक्तं ब्रह्मविद्भिः—वृत्त्यारूढः प्रमाणमिति । भवत्सद्रूप एतादृशोऽपीत्यर्थः ॥ २७ ।

काश्या हृतो हर इति भगवन्मुखादेवाकर्ण्य पार्वती भवस्याऽग्रे काशीं प्रस्तावितवतीत्याह । अथेति । अथाऽनन्तरं बालकाले सखीभूताः तत्तत्काननसम्बन्धिन्यो वीरुधो लता यस्यां ताम् ॥ २८ ।

इस प्रकार से संसार की मूल जननी पार्वती देवी के अतिहितकर वचन बोलने पर भगवान् गिरीश कहने लगे ॥ २६ ।

ईश्वर बोले—

"अयि काशि ! अष्टमूर्ति होकर संसार में प्रमाणस्वरूप महादेवी की भी तुम्हारे विरह में ऐसी दशा हो गई है" तुरन्त पार्वती ने जान लिया कि काशी के ही विरह से भगवान् हर हरे गये हैं ॥ २७ ।

अनन्तर पार्वती ने बालकाल की सखीरूपा उस वन की लताओं से शोभायमान मुक्तिदात्री काशीपुरी का प्रस्ताव आरम्भ कर दिया ॥ २८ ।

पार्वत्युवाच—

गगनतलमिलितसलिले प्रलयेऽपि भवत्रिशूलपरिविधृताम् ।
कृतपुण्डरीकशोभां स्मरहर काशीं पुरीं यावः ॥ २९ ।

धराधरेन्द्रस्य धराति सुन्दरा
न मां तथा स्यापि धिनोति धूर्जटे ।
धरागतापीह न या ध्रुवं धरा
पुरी धुरीणा तव काशिका यथा ॥ ३० ।

न यत्र काश्यां कलिकालजं भयं
न यत्र काश्यां मरणात्पुनर्भवः ।
न यत्र काश्यां कलुषोद्भवं भयं
कथं विभो सा नयनाऽतिथिर्भवेत् ॥ ३१ ।

प्रस्तावनमेवाह। गगनतलमित्यारभ्य प्रमथाधिपेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। हे स्मरहर ! आवां काशीं पुरीं यावो गच्छाव इत्यन्वयः। कथम्भूताम् ? कृतपुण्डरीकशोभाम् उत्पादितपद्मशोभाम्। गगनतले मिलितं सलिलं यस्मिंस्तस्मिन् दैनन्दिनप्रलये त्रिशूलस्योपरि विशेषेण धृताम्। उकारलोपश्छान्दसः। त्रिशूलेन परि सर्वतो विधृतामिति वा। अपिशब्दात् प्राकृतप्रलयादावपि ॥ २९ ।

धरेति। पूर्वोऽपिशब्दो भिन्नक्रमे। अस्य धराधरेन्द्रस्यापि धरारूपतां प्राप्ताऽपि या धरा न भवति; किन्तु ध्रुवं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ३० ।

न यत्रेति। हे विभो ! कथं सा काशी नयनातिथिर्नेत्रविषयः स्यात्। कीदृशी ? यस्यां कलिकालजं भयं नास्ति, कलेरत्राऽप्रवेशात्। प्रवेशे वा तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्। यत्त्विदानीं कलिधर्मा दृश्यन्ते तेषां रूपाणां काश्येकनिवासानां प्रारब्धत्वात्। न यत्र काश्यां मरणात्पुनर्भवः जन्ममरणाव्यवहितसमये तत्त्वज्ञानेन कैवल्यप्राप्तेः। न यत्र काश्यां कलुषोद्भवं भयं पापस्यात्र फलानुत्पादकत्वात्। तथा च श्रूयते—"ऊषरः

पार्वती ने कहा—

"स्मरहर ! जो प्रलयकाल में जब (समुद्र का) जल गगनतल से मिल जाता है, उस वेला में भी आपके त्रिशूल पर (जो काशी) कमल की शोभा को पाती है, उसी काशीपुरी में हम दोनों हो जन अभी चलें ॥ २९ ।

हे धूर्जटे ! जो पृथिवी पर होकर भी कभी भूमि पर नहीं है, वह आपकी श्रेष्ठ काशीपुरी जैसा सुख देती है, वैसा आनन्द मेरे पिता हिमालय तथा इस मन्दरपर्वत की भूमि पर भी कहीं नहीं है ॥ ३० ।

हे विभो ! जहाँ पर न कलि और न काल का भय है, न जहाँ पाप का ही कोई डर है एवं जिस काशी में मर जाने से ही फिर पुनर्जन्म का दुःख भी नहीं भोगना पड़ता, वह काशीपुरी फिर कब इन आँखों को कृतार्थ करेगी ? ॥ ३१ ।

किमत्र नो सन्ति पुरः सहस्रशः
पदे पदे सर्वसमृद्धिभूमयः ।
परं न काशी सदृशी दृशोः पदं
क्वचिद्गता मे भवता शपे शिव ॥ ३२ ।

पुण्यपापानां धन्या वाराणसी पुरी" इति । लैङ्गे च—

नाविमुक्ते नरः कश्चिन्नरकं याति किल्बिषी ।
ईश्वरानुग्रहादेव सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥ इति ।

न च कालभैरवयातनाशास्त्रविरोधस्तस्याः पश्चाद्भाविल्वात् । तथा च ब्रह्मवैवर्ते काशीविश्वेश्वरयोर्वाक्यानि—

प्रतिज्ञा मम देवेश स्थावरा जङ्गमा जनाः ।
तारणीयाः सर्वतो मे सा गच्छति कलौ शुभा ॥
तत्रापि मनुजा देव धर्माऽधर्माधिकारिणः ।
न चान्ये त्रिविधा जीवाः पूर्वकर्मोपजीविनः ॥
परदाररताः केचित् केचिद्द्रव्यपरायणाः ।
परापवादपैशुन्यपरद्रोहरताः खलाः ॥
केचिद्गोवधकर्तारः केचिन्मद्यपरायणाः ।
केचित्पाखण्डकुशला वञ्चकाः सूचकाः परे ॥
तीर्थद्रोहकरा लिङ्गविष्णुब्राह्मणविड्गवाम् ।
द्रोहिणो निवसन्त्येव द्वापरान्ते कलौ तथा ॥
अन्यान्यपि च पापानि [1]बहूनि सुमहान्त्यपि ।
कुर्वन्त्येवं नराः सर्वे [2]मय्येव च विशेषतः ॥
अद्य यावत्तारितास्ते प्रतिज्ञारक्षणाय मे ।
अतः परं त्वच्छरणं गताऽस्मि शिवशङ्कर ॥

विश्वेश्वरवाक्यम् । पुण्यं कृत्वा काशि ये काशिकां त्वां प्राप्तास्ते तु तद्वस्तु नित्यं पापं कृत्वा क्षेत्रमध्ये ये तेषां मुक्तिर्यातनान्ते भवेद्धि धर्मः काश्यां शुद्धिहेतुः प्रदिष्टः पापं पुनर्दुःखमालादिमूलम् । तस्मात्प्रतिज्ञा तव सिद्धरूपा मुक्तिर्भवत्येव मलावसाने इत्यादि । यद्वा, उभयत्र मोक्षप्रतिबन्धनिमित्तं भयमिति वाऽर्थः ॥ ३१ ।

किमत्रेति । पदे पदे स्थाने स्थानेऽत्र पृथिव्यां सहस्रशोऽसंख्याताः पुरः किं न सन्ति; अपि तु सन्त्येव । कथम्भूताः ? सर्वसमृद्धिभूमयः सर्वैश्वर्यस्थानानि । परं केवलं

इस पृथिवी पर ठौर-ठौर धन-धान्य से समृद्ध सहस्रशः नगरियाँ क्या नहीं पड़ी हैं ? परन्तु हे शिव ! मैं आपकी ही शपथ करती हूँ, मैंने तो काशी के समान दूसरी कोई भी पुरी नहीं देखी है ("कासी समान दुतिया पुर ब्रह्मादिक सब ध्यान लगावत") ॥ ३२ ।

१. लघूनि इत्यपि पाठः । २. वयोऽल्पाश्च विशेषत इति पाठः ।

त्रिविष्टपे सन्ति न किं पुरः शतं
समस्तकौतूहलजन्मभूमयः ।
तृणीभवन्तीह च ताः पुरः पुरः
पदं पुरारे भवतो भवद्विषः ॥ ३३ ।

न केवलं काशिवियोगजो ज्वरः
प्रबाधते त्वां तु तथा यथाऽत्र माम् ।
उपाय एषोऽत्र निदाघशान्तये
पुरी तु सा वा मम जन्मभूरथ ॥ ३४ ।

मया न मेने मम जन्मभूमिका
वियोगजन्मा परिदाघ ईशितः ।
अवाप्य काशीं परितः प्रशान्तिदां
समस्तसन्तापविघातहेतुकाम् ॥ ३५ ।

किन्तु वा काशीसदृशी पुरी मे दृशोर्नेत्रयोः पदं विषयं न गता न याता। हे शिव! अस्मिन्नर्थे भवता शपे। एतच्चेदहं मिथ्या वदेत्तदा भवतः शपथं करोमीत्यर्थः ॥ ३२।

ननु तर्हि स्वर्गे एतादृक् पूः स्थास्यति तत्राह। त्रिविष्टप इति। त्रिविष्टपे स्वर्गे शतं पुरः अनेकाः पुर्यः किं न सन्ति; अपि तु सन्त्येव। कथम्भूताः? समस्तेति। समस्ताश्चर्योत्पत्तिस्थानानि; किन्तु हे पुरारे! भवद्विषः संसारद्वेष्टुर्भवत इहः पुरः काश्याः पदमेकमपि प्रदेशमासाद्येति शेषः। ताः पुरस्तृणीभवन्ति चकारान्नश्यन्ति च। पुरः पुरः पुर इति पाठे भवतः पुरः पुर्याः पुरः पुरस्तात्। शेषं पूर्ववत् ॥ ३३।

न केवलमिति। न केवलं काशीवियोगजो ज्वरस्त्वामेव प्रबाधते; किन्त्वत्र मन्दरे यथा त्वां प्रबाधते तथा मामपीति योजना; किन्तु निदाघशान्तये काशीवियोगजज्वरनाशायाऽत्र जगत्येष उपायः। कोऽसौ? पुरी तु सा वा अथ अथवा मम जन्मभूरिति ॥ ३४।

किञ्च। मयेति। हे ईशितः! हे नियन्तः! मया निजजन्मभूमिकाया वियोगाज्जन्म यस्य स परिदाघस्तापो न मेने, न ज्ञातो नानुभूत इति यावत्। तत्र हेतुमाहाऽ-

---

हे त्रिपुरान्तक! स्वर्ग में भी अनेक नगर हैं, जिनके देखते ही हृदय में बड़ा कौतूहल उत्पन्न होने लगता है; परन्तु वे सभी भवभयनाशिनी आपकी काशीपुरी के आगे तृण के समान ज्ञात होते हैं ॥ ३३।

हे नाथ! यहाँ पर काशी का विरहज्वर केवल आपको ही दुःख नहीं देता, प्रत्युत मुझे तो और भी अधिक सन्ताप दे रहा है। इस घोर विरहानल की शान्ति का उपाय तो केवल काशी ही है, अथवा मेरी जन्मभूमि हिमालय है ॥ ३४।

हे प्रभो! पूर्वकाल में मैं समस्त सन्ताप-विनाशिनी, परमशान्तिदायिनी काशी में आकर; अपनी जन्मभूमि के वियोग का भी सन्ताप भूल ही गई थी ॥ ३५।

न मोक्षलक्ष्म्योऽत्र समक्षमीक्षिता-
स्तनुभृता केनचिदेव कुत्रचित् ।
अवैम्यहं शर्मद सर्वशर्मदा
सरूपिणी मुक्तिरसौ हि काशिका ॥ ३६ ।

न मुक्तिरस्तीह तथा समाधिना
स्थिरेन्द्रियत्वोज्झिततत्समाधिना ।
क्रतुक्रियाभिर्न न वेदविद्यया
यथा हि काश्यां परिहाय विग्रहम् ॥ ३७ ।

न नाकलोके सुखमस्ति तादृशं
कुतस्तु पातालतलेऽतिसुन्दरे ।
वार्तापि मर्त्ये सुखसंश्रया क्व वा
काश्यां हि यादृक् तनुमात्रधारिणी ॥ ३८ ।

वाप्येति । परितः सर्वतः प्रशान्तिदामिह लोके जीवन्मुक्तिदां परलोके विदेहमुक्तिदा-मित्यर्थः । अत एव समस्तानामाध्यात्मिकाऽधिदैविकाऽधिभौतिकानां सन्तापानां विघाते नाशे हेतुकां कारणभूताम् ॥ ३५ ।

न मोक्षेति । हे शर्मद ! आनन्दद ! केनचिदपि तनुभृता कुत्रचिदपि मोक्ष-लक्ष्म्योऽत्र जगति समक्षं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथा नेक्षिता न दृष्टा नाऽनुभूता इत्यर्थः; किन्तु सर्वेषां शर्मदा सरूपिणी मूर्तिमती काशिका हि निश्चितमसौ प्रत्यक्षा मुक्तिरित्यहमवैमि जानामीति योजना ॥ ३६ ।

न मुक्तिरिति । यथा काश्यां विग्रहं शरीरं परिहाय मुक्तिरस्ति, न तथा इह जगति समाध्यादिना मुक्तिरिति योजना । कथम्भूतेन ? समाध्यादिना अस्थिरेन्द्रियत्वेन चञ्चलेन्द्रियवृत्त्या उज्झितस्त्यक्तस्तत्समाधिर्ब्रह्मसमाधानं यस्मिंस्तेन समाधिना समा-ध्यभावेनेत्यर्थः । क्रतुक्रियाभिर्यज्ञाद्यनुष्ठानैः । वेदविद्यया उपासनादिरूपया ॥ ३७ ।

न नाकेति । काश्यां तनुमात्रधारिणी देहभृन्मात्रे यादृक् सुखं तादृक् सुखं

हे शर्मप्रद ! इस संसार में किसी शरीरधारी ने कहीं पर भी साक्षात् मोक्ष-लक्ष्मी को नहीं देखा है; परन्तु मैं समझती हूँ, सब किसी के कल्याण के लिये यह काशी ही मुक्ति का रूप धारण कर बैठी है ॥ ३६ ।

काशी में शरीरत्याग करने से जैसी मुक्ति अनायास प्राप्त होती है, वैसी मुक्ति इन्द्रियों की चंचलता से नष्ट समाधिवाले योगाभ्यास वा यज्ञानुष्ठान अथवा वेदविद्या से भी अन्यत्र कहीं पर नहीं मिल सकती ॥ ३७ ।

काशी में शरीरधारी जीवमात्र को जो अपूर्व सुख प्राप्त होता है, वह सुख न

क्षेत्रे त्रिशूलिन् भवतोऽविमुक्ते
विमुक्तिलक्ष्म्या न कदापि मुक्ते।
मनोऽपि यः प्राणिवरः प्रयुङ्क्ते
षडङ्गयोगं स सदैव युङ्क्ते ॥ ३९ ।

षडङ्गयोगान्न हि तादृशी नृभिः
शरीरसिद्धिः सहसाऽत्र लभ्यते।
सुखेन काशीं समवाप्य यादृशी
दृशौ स्थिरीकृत्य शिव त्वयि क्षणम् ॥ ४० ।

नाकलोके स्वर्लोके नास्ति। अतोऽतिसुन्दरेऽपि पातालतले। स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः प्राह, स्वर्गसदां मध्ये पातालेभ्यो गतो दिवीत्यादि दर्शनात्। कुतस्तादृक् सुखम्? यदा स्वर्गे पाताले च तादृक् सुखं नास्ति, तदा मर्त्ये मनुष्यलोके सुखसंश्रया वार्ताऽपि क्व वा? वाशब्दः कटाक्षे। न क्वापीत्यर्थः ॥ ३८ ।

क्षेत्र इति। हे त्रिशूलिन्! भवतोऽविमुक्ते क्षेत्रे तत्राऽन्यत्र वा स्थितो यो मनोऽपि युङ्क्ते मनोवृत्तिमात्रमपि प्रयच्छति, स सदैव षडङ्गयोगं युङ्क्ते युनक्ति। मनः संयोजने हेतुः प्राणिवरोऽतीव पुण्यकृदित्यर्थः। अविमुक्तनाम निर्वक्ति। विमुक्तिलक्ष्म्येति ॥ ३९ ।

किञ्च। षडङ्गेति। हे शिव! नृभिः नरैस्तादृशी शरीरेण सिद्धिः षडङ्गयोगसिद्धिर्निश्चितमत्र लोके न लभ्यते। काशीं समवाप्य त्वयि क्षणं दृशौ नेत्रे स्थिरीकृत्य सुखेन यादृशी लभ्यते इति ॥ ४० ।

तो अत्यन्तरमणीय स्वर्ग में है, न पाताल में ही है। रहा मर्त्यलोक, सो उसमें तो सुखसम्बन्धी बात भी कहाँ है? ॥ ३८ ।

हे त्रिशूलिन्! मोक्षलक्ष्मी जिसे कभी नहीं छोड़ती, आपके उस अविमुक्त-क्षेत्र में जो पुण्य प्राणी केवल मनोयोग भर दे देता है, उसे सदैव षडंग योगाभ्यास का फल प्राप्त होता है—

दोहा—'जहाँ मुक्ति विलसै सदा, सो तव काशी धाम।
जो वहि सुमिरै देह मन, कौन जोग से काम' ॥ ३९ ॥

हे नाथ! काशी में पहुँचकर आप पर क्षणमात्र दृष्टि को स्थिर करके सुख से जो देह की सिद्धि तुरन्त मिल जाती है, इस लोक में मनुष्यों को षडंग योगसाधन करने पर भी वह कभी नहीं प्राप्त होती ॥ ४० ।

वरं हि तिर्यक्त्वमबुद्धिवैभवं
न मानवत्वं बहुबुद्धिभाजनम् ।
अकाशिसंदर्शननिष्फलोदयं
समन्ततः पुष्करबुद्बुदोपमम् ॥ ४१ ।

दृशौ कृतार्थे कृतकाशिदर्शने
तनुः कृतार्था शिव काशिवासिनी ।
मनः कृतार्थं धृतकाशिसंश्रयं
मुखं कृतार्थं कृतकाशिसम्मुखम् ॥ ४२ ।

वरमिति । हि निश्चितम् । अपीति वा । तिर्यक्त्वं पशुत्वमपि वरं श्रेष्ठम् । कीदृशम् ? न विद्यते बुद्धेर्वैभवमात्मानात्मविवेकविस्तारो यस्मिंस्तत् । बह्वीनां बुद्धीनां भाजनं योग्यमपि मानवत्वं न वरम् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । अकाशिसंदर्शन-निष्फलोदयं काशीदर्शनाऽभावेन फलोदयशून्यम् । ननु काशीसन्दर्शनं विनापि यत्र कुत्रापि सुखेन स्थातव्यं ततः समयान्तरे दर्शनादिकं विधेयं तत्राह । पुष्करबुद्बुदोपमं पुष्करशब्देनाऽत्र पद्मपत्रं लक्ष्यते । बुद्बुदशब्देन जललवः । तथा चोक्तमाचार्यैः—"नलिनीदलगतजललवतरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्" इति । पुष्करं जल-मिति वा ॥ ४१ ।

अदर्शनेऽकृतार्थतामुक्त्वा दर्शने कृतार्थतामाह । दृशाविति । कृतं काश्या दर्शनं याभ्यां ते दृशौ नेत्रे कृतार्थे कृतेऽर्थः पुरुषार्थो याभ्यां ते तथा । शिवा चासौ काशी च शिवकाशी, तस्यां वस्तुं शीलं यस्याः सा तनुः शरीरं कृतार्था । शिवेति सम्बोधनं वा । यत्र कुत्रापि गमनं परित्यज्य धृतः काश्येव संश्रय आश्रयो येन तन्मनः कृतार्थम् । कृता काशी सम्मुखा येन तन्मुखं कृतार्थमिति ॥ ४२ ।

जो कोई जीव बुद्धिभाजन मनुष्य का जन्म पाकर काशी के दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त करता, उसका पद्मपत्र के ऊपर जल के बुल्ले ऐसा क्षणमात्र स्थिर रहने वाला जन्म अत्यन्त निष्फल है, वरन् उससे तो बुद्धिहीन पशु-पक्षीगण ही बहुत अच्छे हैं ॥ ४१ ।

हे शिव ! काशी के दर्शन करने वाले दोनों ही नेत्र, काशी में निवास करने वाली देह (शरीर), इधर-उधर के भ्रमण को छोड़कर काशी में ही आश्रयण करने वाला मन एवं काशी के सम्मुख हुआ मुख—ये ही सब कृतार्थ होते हैं ॥ ४२ ।

वरं हि तत्काशिरजोऽतिपावनं
रजस्तमोध्वंसि शशिप्रभोज्ज्वलम् ।
कृतप्रणामैर्मणिकर्णिकाभुवे
ललाटगं यद् बहु मन्यते सुरैः ॥ ४३ ।

न देवलोको न च सत्यलोको
न नागलोको मणिकर्णिकायाः ।
तुलां व्रजेद्यत्र महाप्रयाणकृ-
च्छ्रुतिर्भवेद् ब्रह्मरसायनास्पदम् ॥ ४४ ।

महामहोभूर्मणिकर्णिकास्थलो
तमस्ततिर्यत्र समेति संक्षयम् ।
परःशतैर्जन्मभिरेधिताऽपि या
दिवाकराग्नीन्दुकरैरनिग्रहा ॥ ४५ ।

वरमिति । तत्काश्या रजो धूलिर्वरं श्रेष्ठम् । श्रेष्ठत्वे हेतवः । हि यस्मादतिपावनम् रजस्तमसी ध्वंसितुं शीलं यस्य तत्तथा । शशिप्रभोज्ज्वलं चन्द्रतेजोवच्छुक्लम्, अत एव मणिकर्णिकाभुवे कृतप्रणामैः सुरैः स्वकीयललाटगं यद् बहु मन्यते, तत्सर्वोत्कृष्टं मन्यते । यद्वा, कृता ये प्रणामा तैः कृत्वा काशीस्थानां ललाटगम् । यद्वा, षष्ठ्यर्थे तृतीया । मणिकर्णिकाभुवे कृतप्रणामानां ललाटगं सुरैर्यद् बहु मन्यत इति ॥ ४३ ।

न देवेति । देवलोकादिर्मणिकर्णिकायास्तुलां साम्यं न व्रजेद् न गच्छेत् । कुतः ? यत्र यस्यां मणिकर्णिकायां महाप्रयाणकृच्छ्रुतिर्मरणकृतां श्रवणेन्द्रियं ब्रह्मेव रसायनं रसरूप आश्रयस्तदास्पदं तदाश्रयम् । यद्वा, अयते ज्ञायते ब्रह्मरसोऽनेनेत्ययनं प्रणवः षडक्षररामयन्त्रराजो वा ब्रह्मरसायनस्य प्रणवस्य राममन्त्रराजस्य वाऽऽस्पदमाश्रयो भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ।

महेति । मणिकर्णिकास्थलो महामहाभूः परिपूर्णतेजःस्थानम् । कुतः ? यत्र यस्यां मणिकर्णिकास्थल्यां सा तमस्ततिरन्धकारपरम्परा आवरकत्वसाम्यदज्ञानपरम्प-

---

अत्यन्त पावन, रजस्तमोगुणनाशक, चन्द्रप्रभा के समान परमोज्ज्वल, उस काशी की रज सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि जिसे मणिकर्णिका की भूमि पर देवगण प्रणाम करके अपने ललाट में लगाकर (अपने को) सर्वोत्कृष्ट मानने लगते हैं ॥ ४३ ।

देवलोक, सत्यलोक, अथवा नागलोक, ये सब कदापि मणिकर्णिका की तुलना के योग्य नहीं हैं; क्योंकि वहाँ पर मरनेवालों का कान तो ब्रह्मरसायन का स्थान ही हो जाता है ॥ ४४ ।

मणिकर्णिका तो अद्भुत तेजोमय स्थान है । वहाँ पर सैकड़ों जन्म के संचित और सूर्य-अग्नि-चन्द्रादिकों से अनिवार्य, अज्ञानरूप अन्धकार की परम्परा स्वयं क्षय हो जाती है ॥ ४५ ।

किमु निर्वाणपदस्य भद्रपीठं मृदुलं तल्पमथो नु मोक्षलक्ष्म्याः ।
अथवा मणिकर्णिकास्थली परमानन्दसुकन्दजन्मभूमिः ।। ४६ ।
समतीतविमुक्तजन्तुसंख्या क्रियते यत्र जनैः सुखोपविष्टैः ।
विलसद्द्युतिसूक्ष्मशर्कराभिः स्ववपुः पातमहोत्सवाऽभिलाषैः ।। ४७ ।

स्कन्द उवाच—

अपर्णा परिवर्ण्येति पुरीं वाराणसीं मुने ।
पुनर्विज्ञापयामास काशीप्राप्त्यै पिनाकिनम् ।। ४८ ।

रेत्यर्थः । संक्षयं समेति । समुपसर्गाभ्यामत्यन्तं नाशं प्राप्नोतीति सूचितम् । सा का ? या परःशतैः शतात्परैरसंख्यातैर्जन्मभिरेधिता वर्द्धिता घनीभूतेत्यर्थः । साधनान्तरैर-विनाशतामाह । दिवाकरेति । अनिग्रहाऽविनाशा । यस्यां जीवतामेवाज्ञानसन्ततिर्नश्यति किं पुनर्मृतानां श्रीरुद्रोपदेशेनेति भावः ।। ४५ ।

किम्विति । किं प्रश्ने उ वितर्के । उत्प्रेक्षायां वा किमुशब्दः । निर्वाणं कैवल्य-मेव पदं स्थानं यस्य तस्य परमेश्वरस्य । अथवा निर्वाणस्य कैवल्यस्य चक्रवर्तिनः पदस्य पादस्य भद्रपीठं सिंहासनं किमु मणिकर्णिकास्थलीति सर्वत्राऽन्वेति । अथो अथवा नु निश्चितम् । मोक्षलक्ष्म्या मृदुलं तल्पं कोमला शय्या । अथवा परमानन्द एव सुकन्दः शोभनं मूलं कारणम् । परमानन्दस्य वा सुकन्दः शोभनं मूलं कारणं तारकोपदेशस्तस्य जन्मनो भूः स्थानमिति ।। ४६ ।

समतीतेति । यत्र यस्यां मणिकर्णिकास्थल्यां सुखोपविष्टैर्जनैः समतीता ये विमुक्ता जन्तवस्तेषां संख्यागणना क्रियते । कथम्भूतैः ? स्ववपुःपात एव महोत्सवस्तत्रैवाऽभि-लाषो येषां तैः । तथा चाऽत्रैवोक्तम्—"यत्र सर्वे प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवाऽतिथिम्" इति । कैः ? विलसन्ती द्युतिर्यासां ता विलसद्द्युतयश्च ताः सूक्ष्मशर्कराश्च क्षुद्रपाषाणा-स्ताभिः ।। ४७ ।

अपर्णेति । अपर्णेत्यनेन शुद्धसत्त्वायास्तस्याः काशीगुणवर्णनेऽधिकारोऽस्तीति ध्वन्यते । पार्वतीति क्वचित् ।। ४८ ।

अहा ! क्या तो यह निर्वाणराज्य का सिंहासन है ! वा मोक्षलक्ष्मी की कोमल शय्या है ! किंवा परमानन्दस्वरूप सुन्दरकन्द की भूमि है ! अथवा मणिकर्णिका की स्थली है ! ।। ४६ ।

जिस स्थान पर सुख से बैठकर लोग अपने मरणमहोत्सव की अभिलाषा से प्रथम मरकर मुक्त हुए जन्तुओं की गणना चमकती हुई छोटी-छोटी सिटकियों (कंकड़ियों) से किया करते हैं, (वह मणिकर्णिका धन्य है)—

'दोहा—'अद्यावधि शवदाह लगि, मणिकर्णिका पर आय ।
बैठि अठारह गोटियां, खेलि सबै गृह जाय' ।। ४७ ।

स्कन्द ने कहा—

हे अगस्त्य ! पार्वतीदेवी इस प्रकार से काशीपुरी का वर्णन कर फिर वहाँ जाने के लिये महादेव से प्रार्थना करने लगीं ।। ४८ ।

श्रीपार्वत्युवाच—

प्रमथाधिप सर्वेश नित्यस्वाधीनवर्तन ।
यथाऽऽनन्दवनं यायां तथा कुरु वरप्रद ॥ ४९ ॥
जितपीयूषमाधुर्यां काशीस्तवनसुन्दरीम् ।
अथाऽऽकर्ण्याऽऽह मुदितो गिरिशो गिरिजां गिरम् ॥ ५० ॥

श्रीदेवदेव उवाच—

अयि प्रियतमे गौरि त्वद्वागमृतसीकरैः ।
आप्यायितोऽस्मि नितरां काशीप्राप्त्यै यतेऽधुना ॥ ५१ ॥
त्वं जानासि महादेवि मम यत्तन्महद्व्रतम् ।
अभुक्तपूर्वमन्येन वस्तूपाश्नामि नेतरत् ॥ ५२ ॥

प्रमथाधिपेत्यादिसम्बोधनचतुष्टयेन तव किमप्यशक्यं नास्तीति सूचयति ॥४९॥

जितेति । गिरिश एवम्भूतां पूर्वोक्तां गिरमाकर्ण्य मुदितः सन् अथाऽनन्तरं गिरिजां प्राहेत्यन्वयः । कथम्भूताम् ? जितं पीयूषस्याऽमृतस्य माधुर्यं यया सा तथा ताम् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । काशीस्तवने सुन्दरीं शोभनाम् ॥ ५० ॥

अयीति सम्बोधने । त्वद्वागमृतसीकरैस्तव वचनपीयूषकणैः । यते यत्नं करोमि ॥ ५१ ॥

त्वमिति । उपाश्नामि भुञ्जे सेवे इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीपार्वती ने कहा—

'हे प्रमथनाथ ! सर्वेश्वर ! आप तो सर्वदा स्वाधीनवृत्ति ही रहते हैं, हे वरदायक ! जिसमें आनन्दवन में चल सकें, वही (उपाय) कर दीजिये' ॥ ४९ ॥

महादेव, इस प्रकार से अमृत की मधुरता को जीतनेवाली तथा काशी के गुणगान से मनोहर, गिरिजा देवी की वाणी सुन अत्यन्त मुदित होकर कहने लगे ॥५०॥

श्रीभगवान् शिव ने कहा—

अयि प्रिये ! मैं तुम्हारे इन वचनामृत के फुहारों से बहुत ही तृप्त हो गया। अब काशी चलने का उद्योग करता हूँ ॥ ५१ ॥

परन्तु हे महादेवी ! तुम तो मेरे इस कठोर व्रत को भलीभाँति जानती हो कि मैं दूसरे की उपभुक्त वस्तु का कभी उपभोग नहीं करता (यतः काशी का दिवोदास उपभोग कर रहा है, अतः परोपभुक्ता काशी का वासरूप उपभोग मैं कैसे करूँगा ?) ॥ ५२ ॥

पितामहस्य वचनाद्दिवोदासे महीपतौ ।
धर्मेण शासति पुरीं क उपायो विधीयताम् ।। ५३ ।
कथं स राजा धर्मिष्ठः प्रजापालनतत्परः ।
वियोज्यते पुरः काश्या दिवोदासो महीपतिः ।। ५४ ।
अधर्मवर्तिनो यस्माद् विघ्नः स्यान्नेतरस्य तु ।
तस्मात्कं प्रेषयामीशे यस्तं काश्या वियोजयेत् ।। ५५ ।
धर्मवर्त्माऽनुसरतां यो विघ्नं समुपाचरेत् ।
तस्यैव जायते विघ्नः प्रत्युत प्रेमवर्धिनि ।। ५६ ।
विना छिद्रेण तं भूपं नोत्सादयितुमुत्सहे ।
मयैव हि यतो रक्ष्याः प्रिये धर्मधुरन्धराः ।। ५७ ।

तर्हि काश्या अन्यैराधिपत्येनानाश्रितत्वात् सिद्धं नः समीहितं नेत्याह । पितामहस्येति ।। ५३ ।

तर्हि बलान्निःसारणीयस्तत्राह । कथमिति ।। ५४ ।

तर्हि विघ्नमुत्पाद्योत्कृष्टव्यो नेत्याह । अधर्मेति । तस्माद् हे ईशे ! येन केनापि प्रकारेण यस्तं वियोजयेत्, तं कं प्रेषयामीति योजना ।। ५५ ।

ननु विघ्नमुत्पाद्य निःसरणे को दोषस्तत्राह । धर्मेति ।। ५६ ।

तर्हि च्छिद्रं विनैव बहिर्नेतव्यो नेत्याह । विनेति । तत्र हेतुर्मयैवेति । धर्मरूपां धुरं भारं धरन्तीति धर्मधुरन्धराः ।। ५७ ।

ब्रह्मा के कहने से वह राजा दिवोदास धर्मपूर्वक काशी का शासन कर रहा है, (फिर वहाँ चलने का) कौन उपाय किया जावे ? ।। ५३ ।

और प्रजापालन में तत्पर, धर्मनिष्ठ, भूपाल वह राजा दिवोदास काशीपुरी से क्योंकर हटाया जा सकता है ? ।। ५४ ।

हे देवि ! जो पापी होता है, उसी पर विघ्न पड़ता है, धार्मिक का तो उससे कुछ हो ही नहीं सकता । अतएव वहाँ किसे भेजें, जो जाकर उसे काशी से पृथक कर देवे ।। ५५ ।

हे प्रेमवर्द्धिनि ! धर्ममार्गानुसारी जनों पर जो विघ्न डालता है, वह विघ्न उस कर्ता के ही ऊपर पड़ जाता है (धार्मिक लोगों का उससे कुछ भी नहीं बिगड़ सकता) ।। ५६ ।

मैं जब तक उस राजा में कोई धर्म का छिद्र नहीं पाऊँगा, तब तक वहाँ से उसे नहीं निकाल दिया चाहता; क्योंकि हे प्रिये ! धर्मधुरन्धरों की रक्षा तो मुझी को करनी उचित है ।। ५७ ।

न जरा तमतिक्रामेन्न तं मृत्युर्जिघांसति ।
व्याधयस्तं न बाधन्ते धर्मवर्त्मभृदत्र यः ॥ ५८ ।

इति सञ्चिन्तयन् देवो योगिनीचक्रमग्रतः ।
ददर्शाऽतिमहाप्रौढं गाढकार्यस्य साधनम् ॥ ५९ ।

अथ देव्या समालोच्य व्योमकेशो महामुने ।
योगिनीवृन्दमाहूय जगौ वाक्यमिदं हरः ॥ ६० ।

सत्वरं यात योगिन्यो मम वाराणसीं पुरीम् ।
यत्र राजा दिवोदासो राज्यं धर्मेण शास्त्यलम् ॥ ६१ ।

किञ्च । न जरेति । धर्मवर्त्म धर्ममार्गं बिभर्तीति धर्मवर्त्मभृत् । अत्र कर्मभूमौ । तथा च मनुः—"आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति" इति ॥ ५८ ।

इति पूर्वोक्तम् । योगिनीनां चक्रं समूहम् । अतिमहाप्रौढमतिशयेन दक्षमत एव गाढकार्यस्य दृढक्रियायाः साधनकारणम् ॥ ५९ ।

अथ देव्या समालोच्येत्यस्याऽयं भावः । यद्यप्यन्यद्वारा स्वधर्मच्यावनमप्यन्याय्यम्, तथापि सर्वः स्वार्थं समीहते, [1]स्वकार्यमुद्धरेत्प्राज्ञ इत्यादिन्यायात् काशीप्राप्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या च स्वधर्मादन्यद्वारा व्युत्थाप्य काशीं त्याजयित्वा सह गणेनावाभ्यां तत्र गन्तव्यमिति देव्या सह पर्यालोचनं कृत्वेति । जगौ उवाच । इदं वक्ष्यमाणम् ॥ ६०-६१ ।

इस संसार में धार्मिक लोगों को जरा अतिक्रमण नहीं कर सकती, न मृत्यु ही मार सकती है और न व्याधियाँ ही उसे कोई बाधा पहुँचा सकती है ॥ ५८ ।

महादेव यह कहते हुए सोच-विचार कर ही रहे थे, इसी बीच में बड़े कठिन कार्यों के साधन में परम-प्रौढ़, योगिनीमण्डल उन्हें अपने सम्मुख दिखलाई पड़ा। उसके दिखलाई पड़ने पर भगवती से परामर्श कर भगवान् व्योमकेश ने योगिनीगण को बुलाया। हे मुने ! तदनन्तर शिव ने यह कहा ॥ ६० ।

हे योगिनीगण ! तुम लोग अभी मेरी वाराणसी पुरी चली जाओ। वहाँ पर राजा दिवोदास धर्मपूर्वक राज्य का शासन कर रहा है ॥ ६१ ।

---

१. स्वकार्यं साधयेदित्यपि पाठः ।

स्वधर्मविच्युतः काशीं यथा तूर्णं त्यजेन्नृपः।
तथोपचरत प्राज्ञा योगमायाबलान्विताः ॥ ६२ ।
यथा पुनर्नवीकृत्य पुरीं वाराणसीमहम् ।
इतः प्रयामि योगिन्यस्तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ ६३ ॥
इति प्रसादमासाद्य शासनं शिरसा वहन् ।
कृतप्रणामो निर्यातो योगिनीनां गणस्ततः ॥ ६४ ।
ययुराकाशमाविश्य मनसोऽप्यतिरंहसा ।
परस्परं भाषमाणा योगिन्यस्ता मुदान्विताः ॥ ६५ ।
अद्य धन्यतराः स्मो वै देवदेवेन यत्स्वयम् ।
कृतप्रसादाः प्रहिताः श्रीमदानन्दकाननम् ॥ ६६ ।
अद्य सद्यो महालाभावभूतां नोऽतिदुर्लभौ ।
त्रिनेत्रराजसम्मानस्तथा काशीविलोकनम् ॥ ६७ ।

उपचरत समाचरत । तस्माद् बिभीम इति चेत्तत्राह । योगेति ॥ ६२ ।

ततो मन्दरात् । आज्ञाऽनन्तरं वा ॥ ६४ ।

अतिरंहसाऽतिशयितवेगेन ॥ ६५ ।

परस्परं भाषणमेवाह । अद्येति द्वाभ्याम् ॥ ६६ ।

सो तुम लोग स्वयं जानकार हो, वहाँ जाकर योग और माया के बल से जिसमें वह राजा स्वधर्म से भ्रष्ट होकर शीघ्र ही काशी को छोड़ दे, ऐसा उपाय करना ॥६२।

हे योगिनीगण ! जैसे हो सके, मैं वाराणसी पुरी को फिर से नई बनाकर यहाँ से चल दूँ। यह प्रबन्ध शीघ्र ही होना चाहिए ॥ ६३ ।

योगिनीगण ने इस प्रकार से महादेव का प्रसाद पाय, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर, प्रणाम करने के उपरान्त वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ६४ ।

वे सब बड़े आनन्द से परस्पर वार्तालाप करती हुईं आकाशमार्ग में मन की तरह अत्यन्त वेग से उड़ चलीं ॥ ६५ ।

वे सब मार्ग में यही बतियाती जाती थीं (बात करती चल रही थीं) कि आज हम लोग परमधन्य हैं, जो स्वयं देवदेव ने अनुग्रह करके हम सबको श्रीमती काशीपुरी में भेज दिया है ॥ ६६ ।

आज हम लोगों को ये दोनों ही अतिदुर्लभ महालाभ प्राप्त हुए—एक तो भगवान् का राजसम्मान और दूसरा काशी का दर्शन ॥ ६७ ।

इति मुदितमनाः स योगिनीनां निकुरम्बस्त्वथ मन्दराद्रिकुञ्जात् ।
नभसि लघुकृतप्रयाणवेगो नयनातिथ्यमलम्भयत् पुरीं ताम् ॥ ६८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे काशीवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ।

इतीति । इतीत्थं परस्परं संकथयन् । तु सम्भ्रमे । अथाऽनन्तरं स योगिनीनां निकुरम्बः समूहस्तां पुरीं नयनातिथ्यं नेत्रगोचरमलम्भयत् प्रापदित्यन्वयः । मुदितं मनो यस्य सः । मन्दराद्रिरेव कुञ्जस्तस्मिन् वा यः कुञ्जस्तस्मात् ॥ ६८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ।

इस रीति से प्रसन्नचित्त वह योगिनीगण मन्दराचल के कुञ्जभवन से निकल कर आकाशपथ में बड़े वेग से उड़ती हुई अल्प समय में दूर से ही उस पुरी को अपने नयनों की पाहुनी (अतिथि) बनाने लगी ॥ ६८ ।

दोहा—होय वियोगी योगिवर, विश्वेश्वर महाराज ।
बोलि योगिनीमण्डलहि, पठये साधन काज ॥ १ ॥

काशीवियोगानलतप्तचेता विश्वेश्वरोऽभूद्यदि योगिराजः ।
अस्मादृशां पामरपुङ्गवानां कथा वृथा स्यादिह सर्वथैव ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां विश्वेश्वरकाशीविरह-योगिनीगणप्रस्थानवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ।

●

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

अथ तद्योगिनीवृन्दं दूराद्दृष्टिं प्रसार्य च ।
स्वनेत्रदैर्घ्यनिर्माणं प्रशशंस फलान्वितम् ॥ १ ॥
दिव्यप्रासादमालानां पताकाश्चलपल्लवाः ।
सादरं दूरमार्गस्थान् पान्थानाह्वयतीरिव ॥ २ ॥
चञ्चत्प्रासादमाणिक्यैर्विजृम्भितमरीचिभिः ।
सुनीलमपि च व्योम वीक्ष्यमाणं सुनिर्मलम् ॥ ३ ॥

चत्वारिंशेऽथ पञ्चमोर्ध्वेऽध्यायेऽतीवसुशोभने ।
योगिनीनां समूहस्यागमनं वर्ण्यते स्फुटम् ॥ १ ॥

पूर्वाऽध्यायान्ते योगिनीनां निकुरम्बस्तां पुरीं नयनातिथ्यमलम्भयदित्युक्तं तदनन्तरं किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह । अथेति । अथ पुर्या नेत्रविषयप्राप्त्यनन्तरं तद्योगिनीनां वृन्दं दूरादेव दृष्टिं प्रसार्य स्वचक्षुषो दैर्घ्यनिर्माणं फलान्वितं प्रशशंसेत्यन्वयः ॥१॥

दिव्यप्रासादमालानां पताकाश्च प्रशशंसेत्यनुषज्जते । कथम्भूताः ? चलाश्चपलाः पल्लवा अग्राणि यासां तास्तथा । ता उत्प्रेक्षन्ते । सादरमिति । सादरं यथा स्यात्तथा दूरमार्गस्थान् पान्थान् पथिकानाह्वयतीराकारयतीरिवेति ॥ २ ॥

चञ्चदिति । सुनीलं तमालश्यामलमपि व्योमाकाशं सुनिर्मलं शुक्लभास्वरं तेजोभास्वरं वा वीक्ष्यमाणं दृश्यमानं प्रशशंसेति पूर्वक्रिययैव सम्बन्धः । कैः ? चञ्चतः स्फुरन्तो ये प्रासादास्तत्रस्थैर्माणिक्यैः कृत्वा विजृम्भिता देदीप्यमाना ये मरीचयस्तैरित्यर्थः ॥ ३ ॥

(योगिनी-मण्डल का काशी में प्रवेश)

कार्तिकेय बोले—

इसके अनन्तर योगिनीगण ने दूर से ही दृष्टि को फैलाकर काशी के दर्शन से सफल अपने-अपने नेत्रों के बड़प्पन को बड़ाई का वर्णन किया ॥ १ ॥

(फिर देखा कि वह काशी) अत्यन्त ऊँची अटारियों की पंक्ति के ऊपर उड़ती हुई पताकाओं के हिलते हुए अग्रभाग से मानो अपने दूरदेशस्थित पथिकों को सादर बुला रही है ॥ २ ॥

और उन अटारियों में लगे हुए मणि-माणिक्यों के चमकीले किरणों से अत्यन्त नीले आकाशमण्डल को भी जगमगाकर निर्मल किये दे रही है ॥ ३ ॥

देवत्वं माययाच्छाद्य वेषं कार्पटिकोचितम् ।
विधाय काशीमविशद्योगिनीचक्रमक्रमम् ॥ ४ ॥
काचिच्च योगिनीभूता काचिज्जाता तपस्विनी ।
काचिद् बभूव सैरन्ध्री काचिन्मासोपवासिनी ॥ ५ ॥
मालाकारवधूः काचित् काचिन्नापितसुन्दरी ।
सूतिकर्मविचारज्ञाऽपरा भैषज्यकोविदा ॥ ६ ॥
वैश्या च काचिदभवत् क्रयविक्रयचञ्चुरा ।
व्यालग्राहिण्यभूत् काचिद्दासी धात्री च काचन ॥ ७ ॥
एका च नृत्यकुशला त्वन्या गानविशारदा ।
अपरा वेणुवादज्ञाऽपरा वीणाधराऽभवत् ॥ ८ ॥
मृदङ्गवादनज्ञाऽन्या काचित्तालकलावती ।
काचित्कार्मणतत्त्वज्ञा काचिन्मौक्तिकगुम्फिका ॥ ९ ॥

देवत्वमिति । रक्तवस्त्रादिधारिणः तपस्विविशेषाः कार्पटिकास्तेषां वेषं विधायाऽक्रमं यथा स्यात्तथा योगिनीचक्रं काशीमविशदित्यन्वयः ॥ ४ ॥

एवं प्रथमतः प्रविश्य पश्चान्नानारूपं कृतवदित्याह । काचिदित्यादिना । योगिनी अष्टाङ्गयोगयुक्ता कापालिकी वा । तपस्विनी चान्द्रायणादिव्रतपरा । सैरन्ध्री परवेश्मस्था ॥ ५ ॥

भैषज्यकोविदा वैद्यकर्मणि निपुणा ॥ ६ ॥

क्रयविक्रयविषये चञ्चुरा दक्षा । व्यालः सर्पस्तद्ग्राहिणी । धात्री उपमाता ॥७॥

वीणाधनेति पाठे वीणैव धनं धनसाधनं यस्याः सा तथा वीणावादनपरा इत्यर्थः ॥ ८ ॥

ताल एव कला विद्या तद्वती । कर्मणतत्त्वज्ञा वशीकरणकर्मतत्त्वज्ञेत्यर्थः । मौक्तिकगुम्फिका मुक्तामालाग्रथिका ॥ ९ ॥

ऐसी काशी को देखती हुईं वे सब योगिनियाँ मायाबल से अपने-अपने देवता रूप को छिपाकर बनौआ (बनावटी) योगिनी का वेष धरकर इधर-उधर से उस नगरी में प्रवेश करने लगीं ॥ ४ ॥

कोई जोगिन, कोई तपस्विनी, कोई परगृहवासिनी, कोई एक मास का चान्द्रायण व्रत करने वाली, कोई मालिन, कोई नाइन, कोई दाई, कोई चिकित्सावाली, कोई क्रय-विक्रय में निपुण बनियाँइन, कोई साँप पकड़ने वाली (मदारिन), कोई धाय, कोई दासी, कोई नर्तकी, कोई कथकिन, कोई बाँसुरी बजाने वाली, कोई वीणा में प्रवीण, कोई मृदंगवादिनी, कोई ताल की कला में चतुरा, कोई टोटका (टोना)

गन्धभागविधिज्ञाऽन्या काचिदक्षकलालया ।
आलापोल्लासकुशला काचिच्चत्वरचारिणी ॥ १० ।
वंशाधिरोहणे दक्षा रज्जुमार्गेण चेतरा ।
काचिद् वातुलचेष्टाऽभूत् पथि चीवरवेष्टना ॥ ११ ।
अपत्यदाऽनपत्यानां परा तत्र पुरेऽवसत् ।
काचित्कराङ्घ्रिरेखाणां लक्षणानि चिकेति न ॥ १२ ।
चित्रलेखननैपुण्यात् काचिज्जनमनोहरा ।
वशीकरणमन्त्रज्ञा काचित्तत्र चचार ह ॥ १३ ।
गुटिकासिद्धिदा काचित् काचिदञ्जनसिद्धिदा ।
धातुवादविदग्धाऽन्या पादुकासिद्धिदा परा ॥ १४ ।

गन्धभागविधिज्ञा गन्धविभागप्रकारज्ञा । अक्षकलालया द्यूतविद्याश्रयभूता । आलापस्योल्लासे विलासे चातुर्य इति यावत् । कुशला । चत्वरचारिणी भिक्षुकीरूपेण प्राङ्गणचारिणी ॥ १० ।

वंशस्य ऊर्ध्वीकृत्य धृतस्योपर्यधिरोहणे दक्षा । इतरा उभयपार्श्वे ऊर्ध्वीकृत्य बद्धाया रज्ज्वा मार्गेण तदुपरि गमने इतरा दक्षेति दक्षेतरपदयोः परस्परमुभयत्राऽन्वयः । पथि चीवरवेष्टना पथि पतितं यच्चीवरं वस्त्रखण्डं तत्परिधानेत्यर्थः ॥ ११ ।

पराऽन्येत्युभयत्र सम्बध्यते । लक्षणानि सामुद्रिकोक्तानि । चिकेति जानाति । कथयति वेत्यर्थः । कि ज्ञान इति किधातो रूपमिदम् ॥ १२ ।

नैपुण्याद् दाक्ष्यात् ॥ १३ ।

पुरुषस्य स्त्रिया स्त्रिया वा पुरुषेण रहः सम्बन्धे जायमाने यया वीर्यं न क्षरति सा गुटिका । गुटिका तत्सिद्धिदा काचित् । चक्षुषोरञ्जनस्पर्शमात्रेणाभीष्टदेशप्राप्त्या दर्शनादिसिद्धिरञ्जनसिद्धिस्तद्दा काचित् । धातुवादे सुवर्णादिसिद्धिकथनेऽन्या विदग्धा निपुणा । पादुकायाः पादस्पर्शमात्रेणाभीष्टदेशप्राप्तिः पादुकासिद्धिः तद्दा परा ॥ १४ ।

करने वाली, कोई मोती गूँथने में निपुण पटहारिन, कोई सुगन्ध बेचने वाली गांधिन, कोई पांसा फेकने में दक्ष, कोई वार्तालाप में कुशल, कोई आँगन-आँगन घूमनेवाली अवधूतिन, कोई बाँस पर चढ़नेवाली अथवा रस्सी पर चलने वाली नटिन, कोई मार्ग में चिथड़ा लपेटकर पागल के ऐसी, कोई सन्तानहीन लोगों को पुत्र देने वाली, कोई हाथों की रेखायें देखकर फल बताने वाली, कोई चितेरी (मुसब्बिरा = चित्र बनाने वाली) होने से लोगों की मनोहारिणी, कोई वशीकरण मन्त्र को जानने वाली, कोई गुटिकासिद्धि, कोई अंजनसिद्धि, कोई रसायनसिद्धि, कोई पादुकासिद्धि की दानियाँ,

अग्निस्तम्भं जलस्तम्भं वाक्स्तम्भं चाप्यशिक्षयत् ।
खेचरीत्वं ददौ काचिददृश्यत्वं परा ददौ ॥ १५ ॥
काचिदाकर्षणीं सिद्धिं ददावुच्चाटनं परा ।
काचिन्निजांगसौन्दर्ययुवचित्तविमोहिनी ॥ १६ ॥
चिन्तितार्थप्रदा काचित् काचिज्ज्योतिः कलावती।
इत्यादिवेषभाषाभिरनुकृत्य समन्ततः ॥ १७ ॥
प्रत्यङ्गणं प्रतिगृहं प्राविशद्योगिनीगणः ।
इत्थमब्दं चरन्त्यस्ता योगिन्योऽहर्निशं पुरि ॥ १८ ॥
न च्छिद्रं लेभिरे क्वापि नृपविघ्नचिकीर्षवः ।
ततः समेत्य ताः सर्वा योगिन्यो वन्ध्यवाञ्छिताः ।
तस्थुः सम्मन्त्र्य तत्रैव न गता मन्दरं पुनः ॥ १९ ॥

अग्निस्तम्भादिषु त्रिषु परेत्यनुषज्जते । खेचरीत्वमाकाशगामित्वम् । अदृश्यत्वं चक्षुष्मतः सम्मुखेऽपि दर्शनाऽनर्हत्वम् ॥ १५ ।

आकर्षणी सिद्धिर्नाम इच्छया स्त्रियाः पुरुषस्य बलादानयनम् । उच्चाटनं सुस्थस्यापि दौस्थ्यापादानम् । निजाङ्गस्य सौन्दर्येण लावण्येन यूनां चित्तस्य विमोहिनी क्षोभकर्त्री ॥ १६ ।

चिन्तितार्थप्रदाऽभीष्टार्थप्रदा । ज्योतिःकला ज्योतिर्विद्या तद्वती । उपसंहरति । इत्यादीति । अनुकृत्यात्मानं रचयित्वेत्यर्थः ॥ १७ ।

गणः समूहः । जन इति क्वचित् ॥ १८ ।

वन्ध्यं व्यर्थं वाञ्छितं यासां तास्तथा ॥ १९ ।

कोई अग्निस्तम्भ, कोई जलस्तम्भ, कोई वचनस्तम्भ की सिखाने वाली, कोई खेचरी मुद्रा देने वाली, कोई अदृश्य बनाने वाली, कोई आकर्षणसिद्धि की देनेवाली, कोई उच्चाटन कर देने वाली, कोई अपने अंगों की सुषमा से जवानों का चित्त चुराने वाली, कोई ज्योतिषकला में प्रवीण और कोई इच्छित अर्थ की देने वाली—इन सब वेषों को धारण कर तदनुरूप भूषा और भाषा से सुसज्जित हो गईं ॥ ५-१७ ।

वह योगिनीमण्डल, प्रत्येक गृहस्थ के घर-घर में जा घुसा (प्रवेश कर रहा था;) परन्तु इसी भाँति एक वर्षपर्यन्त उस काशी नगरी में अहर्निश विचरण करते रहने पर भी राजा दिवोदास के अनिष्ट-साधन के लिये कोई भी छिद्र न पा सका, पश्चात् वे सब योगिनियाँ वाञ्छितार्थ के व्यर्थ हो जाने से एकत्र हो, परस्पर विचार कर फिर मन्दराचल पर नहीं लौटीं, वरन् काशी में ही वास करने लगीं ॥ १८-१९ ।

प्रभुकार्यमनिष्पाद्य सदः सम्भावनैधितः ।
कः पुरः शक्नुयात् स्थातुं स्वामिनो क्षतविग्रहः ॥ २० ।
अन्यच्च चिन्तितं ताभिर्योगिनीभिरिदं मुने ।
प्रभुं विनापि जीवामो न तु काशीं विना पुनः ॥ २१ ।
प्रभू रुष्टोऽपि सद्भृत्ये जीविकामात्रहारकः ।
काशी हरेत् कराद्भ्रष्टा पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥ २२ ।
नाऽद्यापि काशीं सन्त्यज्य तदारभ्य महामुने ।
योगिन्योऽन्यत्र तिष्ठन्ति चरन्त्योऽपि जगत्त्रयम् ॥ २३ ।
प्राप्याऽपि श्रीमतीं काशीं यस्तितिक्षति दुर्मतिः ।
स एव प्रत्युत त्यक्तो धर्मकामार्थमुक्तिभिः ॥ २४ ।

प्रभ्विति । प्रभोः कार्यमनिष्पाद्याऽकृत्वा सदः सम्भावनैधितः सदसि सभायां सम्भावनया कार्यकरणे दक्षतया एधितो वर्धितोऽक्षतविग्रहः सन् जीवन् सन्नित्यर्थः। स्वामिनोऽग्रे कः स्थातुं शक्नुयान्न कोऽपीत्यर्थः ॥ २० ।

किञ्चाऽन्यच्चेति । इदं शब्दार्थमेवाह । प्रभुं विनापीति सार्धेन ॥ २१ ।

सद्भृत्यत्वं नाम यथाशक्तिकार्यकारित्वम् ॥ २२ ।

नाऽद्यापीति स्कन्दोक्तिः । हे महामुने ! तदारभ्य तं कालमारभ्य जगत्त्रयं चरन्त्योऽपि योगिन्योऽद्यापि काशीं विहायाऽन्यत्र नैव तिष्ठन्ति । यत्र कुत्राऽपि गत्वा काश्यामेवागत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ २३ ।

पुनरपि तासामेव चिन्तितमाह । प्राप्यापीति पञ्चभिः । तितिक्षति त्यक्तुमिच्छति । किं पुनर्यस्त्यजति त्यक्तवान् वा य इति ॥ २४ ।

कारण यह कि, राजसभा में क्रियाचतुर कहाकर लब्धसम्मान ऐसा कौन जन है, जो स्वामी का कार्य विना सम्पन्न किये जीते जी उसके सन्मुख अपना मुख कर सके ॥ २० ।

हे मुनिवर! उन योगिनियों ने और भी एक बात विचारी कि, हम सब प्रभु के पास न रहकर भी जी सकती हैं, पर विना काशी के प्राण बचना (अब) कठिन है ॥२१।

क्योंकि स्वामी तो रुष्ट होकर सेवक की केवल जीविका को ही छोर (छीन) ले सकता है; पर काशी हाथ से छूट गई, तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चारों ही पुरुषार्थ हिरा गये (लुप्त हो जायंगे) ॥ २२ ।

हे मुनिनाथ ! वे सब उसी दिन से त्रैलोक्य भर में भ्रमण करते रहने पर भी काशी को छोड़कर आज तक कहीं अन्यत्र नहीं रहतीं (वह योगिनीमण्डल काशीवासी हो गया) ॥ २३ ।

जो दुर्बुद्धिजन एक बार श्रीमती काशीपुरी को पाकर फिर छोड़ दिया चाहता है, वह स्वयं (आप ही) चतुर्वर्ग से त्याग दिया जाता है ॥ २४ ।

कः काशीं प्राप्य दुर्बुद्धिरपरत्र यियासति ।
मोक्षनिक्षेपकलशीं तुच्छश्रीकृतमानसः ॥ २५ ।
विमुखोऽपीश्वरोऽस्माकं काशीसेवनपुण्यतः ।
सम्मुखो भविता पुण्यं कृतकृत्याः स्म तद्वयम् ॥ २६ ।
दिनैः कतिपयैरेव सर्वज्ञोऽपि समेष्यति ।
विना काशीं न रमते यतोऽन्यत्र त्रिलोचनः ॥ २७ ।
शम्भोः शक्तिरियं काशी काचित्सर्वैरगोचरा ।
शम्भुरेव हि जानीयादेतस्याः परमं सुखम् ॥ २८ ।
इति निश्चित्य मनसि शम्भोरानन्दकानने ।
अतिष्ठद्योगिनीवृन्दं कयाचिन्माययावृतम् ॥ २९ ।

व्यास उवाच—

इत्थं समाकर्ण्य मुनिः पुनः पप्रच्छ षण्मुखम् ।
कानि कानि च नामानि तासां तानि वदेश्वर ॥ ३० ।

मोक्षरूपस्य निक्षेपस्य कलशीमाश्रयमित्यर्थः ॥ २५ ।

विमुखोऽपीश्वरो यदाऽस्माकं सम्मुखो भविता, तदा वयं कृतकृत्याः स्मेत्यन्वयः । कथम्भूत ईश्वरः ? पुण्यं पुण्यहेतुः पुण्यस्वरूपो वा ॥ २६ ।

कुतो न रमते तत्राह । शम्भोरिति ॥ २८ ।

इत्थमिति श्लोकद्वयेन प्रश्नचतुष्टयम् ॥ ३० ।

कौन-सा मूर्ख तुच्छ लक्ष्मी के वशीभूत होकर मोक्ष रखने की कलसीरूपा काशी को छोड़कर अन्यत्र जाना चाहता है ? ॥ २५ ।

परमेश्वर हम लोगों से विमुख होने पर भी काशी-सेवन के पुण्य-बल से अवश्य ही सम्मुख हो जावेंगे; फिर तो हम सब कृतकृत्य ही हैं ॥ २६ ।

थोड़े ही दिनों में सर्वान्तर्यामी भगवान् त्रिलोचन भी यहाँ ही आ जावेंगे; क्योंकि विना काशी के अन्यत्र कहीं भी उनको आनन्द नहीं मिलता है ॥ २७ ।

यह काशीक्षेत्र भगवान् शिव की कोई अलौकिक शक्ति है । इसे सब कोई गोचर नहीं कर सकते; क्योंकि इसके यथार्थसुख का अनुभव केवल शंकर ही कर सकते हैं ॥ २८ ।

इस रूप से मन में निश्चय कर वह योगिनीगण बड़ी माया से आवृत होकर महादेव के उस आनन्दवन में निवास करने लगा ॥ २९ ।

व्यास ने कहा—

'इन सब बातों को सुनकर अगस्त्य ऋषि ने फिर स्वामिकार्तिकेय से पूछा, कि हे भगवन् ! उन योगिनियों के कौन-कौन से नाम हैं ? उन्हें कहिये और यह भी

भजनाद्योगिनीनां च काश्यां किं जायते फलम् ।
कस्मिन्पर्वणि ताः पूज्याः कथं पूज्याश्च तद्वद ।। ३१ ।
श्रुत्वेति प्रश्नमौमेयो योगिनीसंश्रयं ततः ।
प्रत्युवाच मुने वच्मि शृणोत्ववहितो भवान् ।। ३२ ।

स्कन्द उवाच—

नामधेयानि वक्ष्यामि योगिनीनां घटोद्भव ।
आकर्ण्य यानि पापानि क्षयन्ति भविनां क्षणात् ।। ३३ ।
गजानना सिंहमुखी गृध्रास्या काकतुण्डिका ।
उष्ट्रग्रीवा हयग्रीवा वाराही शरभानना ।। ३४ ।
उलूकिका शिवारावा मयूरी विकटानना ।
अष्टवक्त्रा कोटराक्षी कुब्जा विकटलोचना ।। ३५ ।

सर्वेषां प्रश्नानां प्रत्युत्तरं प्रत्यभिज्ञापयति भगवान् व्यासः । श्रुत्वेति ।। ३२ ।

फलसहितं प्रथमप्रश्नप्रत्युत्तरं प्रतिजानाति स्कन्दो **नामधेयानीति**। क्षयन्ति नश्यन्ति ।। ३३ ।

नामान्याह । **गजाननेत्यष्टभिः**। तत्र प्रचण्डा चण्डविक्रमेति सविशेषणमेकं नाम । तापनी शोषणीदृष्टिरिति नामद्वयम् । तापनीदृष्टिः शोषणीदृष्टिरिति वा । तापनीशोषण्यौ दृष्टी यस्याः सा तापनीशोषणीदृष्टिरिति चैकं नाम । तदा प्रचण्डा चण्डविक्रमेति नामद्वयम् । पूर्वस्मिन्पक्षे प्रतिश्लोकमष्टावष्टौ नामानि । अपरस्मिन् पक्षे चतुर्थश्लोके नव नामानि । सप्तमश्लोके सप्तेति विशेषः ।। ३४ ।

अष्टौ अवयवा वक्रा यस्याः सा तथा । अष्टवक्रेति क्वचित् । कोटरे इवाक्षिणी यस्याः सा तथा ।। ३५ ।

बतलाइये कि काशी में उन योगिनियों के पूजन करने से कौन फल प्राप्त होता है ? एवं किस पर्व में उनकी पूजा अवश्य करनी चाहिए ? तथा उनकी पूजा की क्या विधि है ? ।। ३०-३१ ।

इस प्रकार से योगिनियों के विषय में अगस्त्य ऋषि का प्रश्न सुनकर पार्वती-नन्दन स्कन्द ने उत्तर दिया, 'हे मुनिवर ! यह सब मैं कहता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें' ।। ३२ ।

षडानन ने कहा—

'हे कुम्भज ! मैं योगिनियों के नाम कहता हूँ, जिनके सुनने से जन्मधारी लोगों के पाप (आप से आप) तुरत ही क्षय हो जाते हैं ।। ३३ ।

(१) गजानना, (२) सिंहमुखी, (३) गृध्रास्या, (४) काकतुंडिका, (५) उष्ट्रग्रीवा, (६) हयग्रीवा, (७) वाराही, (८) शरभानना, (९) उलूकिका, (१०) शिवारावा, (११) मयूरी, (१२) विकटानना, (१३) अष्टवक्त्रा, (१४) कोटराक्षी, (१५) कुब्जा,

शुष्कोदरी ललज्जिह्वा श्वदंष्ट्रा वानरानना।
ऋक्षाक्षी केकराक्षी च बृहत्तुण्डा सुराप्रिया ॥ ३६ ।
कपालहस्ता रक्ताक्षी शुकी श्येनी कपोतिका।
पाशहस्ता दण्डहस्ता प्रचण्डा चण्डविक्रमा ॥ ३७ ।
शिशुघ्नी पापहन्त्री च काली रुधिरपायिनी।
वसाधया गर्भभक्षा शवहस्तान्त्रमालिनी ॥ ३८ ।
स्थूलकेशी बृहत्कुक्षिः सर्पास्या प्रेतवाहना।
दन्दशूककरा क्रौञ्ची मृगशीर्षा वृषानना ॥ ३९ ।
व्यात्तास्या धूमनिःश्वासा व्योमैकचरणोर्ध्वदृक्।
तापनी शोषणीदृष्टिः कोटरी स्थूलनासिका ॥ ४० ।
विद्युत्प्रभा बलाकास्या मार्जारी कटपूतना।
अट्टाट्टहासा कामाक्षी मृगाक्षी मृगलोचना ॥ ४१ ।
नामानीमानि यो मर्त्यः चतुःषष्टि दिने दिने।
जपेत्त्रिसन्ध्यं तस्येह दुष्टबाधा प्रशाम्यति ॥ ४२ ।

वसाधया वसां धयति पिबतीति वसाधया मेदःपायिनीत्यर्थः ॥ ३८ ।

दन्दशूककरा सर्पहस्ता सर्पाकारहस्तेति वा ॥ ३९ ।

कोटरी कोटरवद् गभीरा स्थूलदरेत्यर्थः। पुरुषोत्तमदेशे प्रसिद्धा देव्या मूर्तिविशेषरूपा वा ॥ ४० ।

---

(१६) विकटलोचना, (१७) शुष्कोदरी, (१८) लोलजिह्वा, (१९) स्वदंष्ट्रा, (२०) वानरानना, (२१) ऋक्षाक्षी, (२२) केकराक्षी, (२३) बृहत्तुण्डा, (२४) सुराप्रिया, (२५) कपालहस्ता, (२६) रक्तनेत्रा, (२७) शुकी, (२८) श्येनी, (२९) कपोतिका, (३०) पाशहस्ता, (३१) दण्डहस्ता, (३२) प्रचण्डा, (३३) चण्डविक्रमा, (३४) शिशुघ्नी, (३५) पापहन्त्री, (३६) काली, (३७) रुधिरपायिनी, (३८) वसाधया, (३९) गर्भभक्षा, (४०) शवहस्ता, (४१) अन्त्रमालिनी, (४२) स्थूलकेशी, (४३) बृहत्कुक्षी, (४४) सर्पास्या, (४५) प्रेतवाहना, (४६) दंदशूककरा, (४७) क्रौंची, (४८) मृगशीर्षा, (४९) वृषानना, (५०) व्यात्तास्या, (५१) धूमनिःश्वासा, (५२) व्योमैकचरणा, (५३) ऊर्ध्वदृक्, (५४) तापनी, (५५) शोषणीदृष्टि, (५६) कोटरी, (५७) स्थूलनासिका, (५८) विद्युत्प्रभा, (५९) बलाकास्या, (६०) मार्जारी, (६१) कटपूतना, (६२) अट्टाट्टहासा, (६३) कामाक्षी, मृगाक्षी, (६४) मृगलोचना ॥ ३४-४१ ।

जो मनुष्य चौंसठों नामों को प्रतिदिन त्रिकाल जप करे, उसकी दुष्टबाधा शान्त हो जाती है ॥ ४२ ।

न डाकिन्यो न शाकिन्यो न कूश्माण्डा न राक्षसाः ।
तस्य पीडां प्रकुर्वन्ति नामानीमानि यः पठेत् ।। ४३ ।
शिशूनां शान्तिकारोणि गर्भशान्तिकराणि च ।
रणे राजकुले वापि विवादे जयदान्यपि ।। ४४ ।
लभेदभीप्सितां सिद्धिं योगिनीपीठसेवकः ।
मन्त्रान्तराण्यपि जपंस्तत्पीठे सिद्धिभाग्भवेत् ।। ४५ ।
बलिपूजोपहारैश्च धूपदीपसमर्पणैः ।
क्षिप्रं प्रसन्ना योगिन्यः प्रयच्छेयुर्मनोरथान् ।। ४६ ।
शरत्काले महापूजां तत्र कृत्वा विधानतः ।
हवींषि हुत्वा मन्त्रज्ञो महतीं सिद्धिमाप्नुयात् ।। ४७ ।
आरभ्याश्वयुजः शुक्लां तिथिं प्रतिपदं शुभाम् ।
पूजयेन्नवमीं यावन्नरश्चिन्तितमाप्नुयात् ।। ४८ ।
कृष्णपक्षस्य भूतायामुपवासो नरोत्तमः ।
तत्र जागरणं कृत्वा महतीं सिद्धिमाप्नुयात् ।। ४९ ।

डाकिन्यः शाकिन्यश्च दुष्टग्रहविशेषाः । कूश्माण्डा गणविशेषाः ।। ४३ ।

भूतायां चतुर्दश्याम् ।। ४९ ।

इन सब नाम के पाठ करने से डाकिनी, शाकिनी, कूश्माण्ड और राक्षसगण किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकते हैं ।। ४३ ।

ये सब (चौसठों) नाम बालकों के शान्तिकारक, गर्भोपद्रवों के निवारक एवं रण, राजसभा तथा विवाद में विजयदायक होते हैं ।। ४४ ।

जो कोई योगिनीपीठ का सेवन करता है, उसके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं एवं उस योगिनीपीठ में यदि दूसरे मन्त्र को जपे, तो वह भी शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त होवे ।। ४५ ।

धूप, दीप, बलि और उपहारादि के द्वारा योगिनियों की पूजा करने से वे सब शीघ्र ही प्रसन्न होकर मनोरथों को पूर्ण कर देती हैं ।। ४६ ।

जो मन्त्रवेत्ता योगिनीपीठ पर शरत्काल में विधानपूर्वक महापूजा करके घृत का हवन करे, उसे बड़ी सिद्धि प्राप्त होती है ।। ४७ ।

आश्विन मास के शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ कर नवमी तिथि पर्यन्त जो नर योगिनियों का पूजन करे, वह अपने चिन्तित सिद्धि को पा जाता है ।। ४८ ।

जो उत्तम जन वहाँ पर कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को उपवासी होकर रात्रि में जागरण करता है, उसके सभी अभीष्ट सिद्ध होते हैं ।। ४९ ।

प्रणवादिचतुर्थ्यन्तैर्नामभिर्भक्तिमान्नरः ।
प्रत्येकं हवनं कृत्वा शतमष्टोत्तरं निशि ।। ५० ।
सर्सपिषा गुग्गुलुना लघुकोलिप्रमाणतः ।
यां यां सिद्धिमभीप्सेत तां तां प्राप्नोति मानवः ।। ५१ ।
चैत्रकृष्णप्रतिपदि तत्र यात्रा प्रयत्नतः ।
क्षेत्रविघ्नप्रशान्त्यर्थं कर्तव्या पुण्यकृज्जनैः ।। ५२ ।
यात्रां च सांवत्सरिकीं यो न कुर्यादवज्ञया ।
तस्य विघ्नं प्रयच्छन्ति योगिन्यः काशिवासिनः ।। ५३ ।
अग्रे कृत्वा स्थिताः सर्वास्ताः काश्यां मणिकर्णिकाम् ।
तन्नमस्कारमात्रेण नरो विघ्नैर्न बाध्यते ।। ५४ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे चतुःषष्टियोगिन्यागमनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।

लघुकोलिप्रमाणतः सूक्ष्मबदरीफलप्रमाणेन ।। ५१ ।

।। इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।

जो भक्तिमान् नर इन सब नामों के आदि में प्रणव और अन्त में चतुर्थी विभक्ति लगाकर रात्रि काल में झरवैरिया के फलसमान घृतसहित गुग्गुल से प्रत्येक (नाम) पर अष्टोत्तरशत हवन करता है, वह जो-जो सिद्धि चाहे, सो-सो (वह-वह) सब प्राप्त कर सकता है ।। ५०-५१ ।

चैत्रमास की कृष्ण-प्रतिपदा में क्षेत्र की विघ्नशान्ति के लिये पुण्यात्मा जन को प्रयत्नपूर्वक यात्रा करनी चाहिए ।। ५२ ।

जो काशीवासी अनादर करके चतुःषष्टि योगिनियों की इस वार्षिक यात्रा को नहीं करता, वे सब उसे विघ्न देती हैं ।। ५३ ।

योगिनीगण काशी में मणिकर्णिका को आगे करके अवस्थान करती हैं, मनुष्य उन सबों के नमस्कार मात्र से विघ्नबाधा में नहीं पड़ता है ।। ५४ ।

दोहा— श्रीचौंसट्ठी घाट पर, धुरहड्डी (धूलिकोत्सव = होली) के पर्व ।
दरस परस कीन्हें कटै, पाप विघ्न दुःख सर्व ।। १ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां योगिनीमण्डल-काशीप्रवेशवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

गतेऽथ योगिनीवृन्दे देवदेवो घटोद्भव ।
काशीप्रवृत्तिं जिज्ञासुः प्राहिणोदंशुमालिनम् ॥ १ ।

देवदेव उवाच—

सप्ताश्व त्वरितो याहि पुरीं वाराणसीं शुभाम् ।
यत्राऽस्ति स दिवोदासो धर्ममूर्तिर्महीपतिः ॥ २ ।
तस्य धर्मविरोधेन यथा तत्क्षेत्रमुद्वसेत् ।
तथा कुरुष्व भो क्षिप्रं मावमंस्थाश्च तं नृपम् ॥ ३ ।
धर्ममार्गप्रवृत्तस्य क्रियते याऽवमानना ।
सा भवेदात्मनो नूनं महदेनश्च जायते ॥ ४ ।

षट्चत्वारिंशकेऽध्याये सर्वपापैकनाशने ।
लोलार्कमहिमा तावद्वर्ण्यतेऽतिमनोहरः ॥ १ ।

काशीस्थान् द्वादशादित्यान् वक्तुं प्रस्तावयति । गतेऽथेति । अंशुमालिनं सूर्यम् ॥ १ ।

उद्वसेदुच्छिन्नं भवेत् ॥ ३ ।

एनः पापम् ॥ ४ ।

(लोलार्क की कथा)

कार्तिकेय बोले—

'हे घटयोने ! योगिनीगण के चले जाने पर महादेव ने फिर भी काशी के समाचार जानने की इच्छा से सूर्यदेव को भेजा ॥ १ ।

देवदेव ने कहा—

"हे दिवाकर ! धर्मावतार राजा दिवोदास जहाँ पर राज्य कर रहा है, उसी पवित्र वाराणसी पुरी में तुम शीघ्र ही गमन करो ॥ २ ।

ऐसा करो जिसमें उसी राजा के धर्मविरोध से वह क्षेत्र उजाड़ हो जावे, ऐसा ही प्रयत्न शीघ्र करो, परन्तु उस राजा का अपमान न होने पावे ॥ ३ ।

क्योंकि धर्ममार्गानुसारी जन का अनादर कर देने से स्वयं अपना ही अपमान हो जाता है और तब भारी पाप का बोझ उठाना पड़ता है ॥ ४ ।

तव बुद्धिविकासेन च्यवते चेत् स धर्मतः ।
तदा सा नगरी भानो त्वयोद्वास्याऽसहैः करैः ॥ ५ ॥
कामक्रोधौ लोभमोहौ मत्सराऽहङ्कृती अपि ।
ते तत्र न भवेतां यत्तत्कालोऽपि न तं जयेत् ॥ ६ ॥
यावद्धर्मे स्थिरा बुद्धिर्यावद्धर्मे स्थिरं मनः ।
तावद् विघ्नोदयः क्वाऽस्ति विपद्यपि रवे नृषु ॥ ७ ॥
सर्वेषामिह जन्तूनां त्वं वेत्सि ब्रध्न चेष्टितम् ।
अत एव जगच्चक्षुर्व्रज त्वं कार्यसिद्धये ॥ ८ ॥
रविरादाय देवाज्ञां मूर्तिमन्यां प्रकल्प्य च ।
नभोध्वगामहोरात्रं काशीमभिमुखोऽभवत् ॥ ९ ॥

असहैः दुःसहैः करै रश्मिभिः । पक्षान्तरे मूर्तिभेदेन करैः हस्तैः ॥ ५ ।

कामक्रोधाविति । यद्यस्मात्तत्र राजनि ते प्रसिद्धे मत्सराऽहङ्कृती तौ कामक्रोधौ तौ लोभमोहौ च न भवेतां न सम्भवत इत्यर्थः । तत्तस्मात्कालोऽपि न तं जयेदित्यन्वयः ॥ ६ ।

विपद्यपि आपत्कालेऽपि ॥ ७ ।

ब्रध्न ! हे सूर्य ! यस्मात्त्वं सर्वेषां चेष्टितं वेत्सि, अत एव जगच्चक्षुर्जगत्प्रकाशको धर्माऽधर्मबोधक इति वा कार्यसिद्धये व्रज ॥ ८ ।

देवस्याज्ञां रविरादाय नभोऽध्वानमाकाशमार्गं गच्छतीति नभोऽध्वगामन्यां मूर्तिं प्रकल्प्याऽहोरात्रं दिननक्तमभिव्याप्य काशीमभिमुखोऽभवत् काशीं प्राप्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥ ९ ।

हे भानो ! यदि तुम्हारे बुद्धिबल से वह राजा किसी प्रकार से धर्मच्युत हो सके, तो तुम अपने दुःसह किरणों से उस नगरी को उजाड़ कर देना ॥ ५ ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, ये सब कोई भी उसे अपने वश में नहीं कर सकते । और को कौन कहे, स्वयं काल भी उसे नहीं जीत सकता ॥ ६ ।

जब तक मनुष्यों की बुद्धि और मन धर्म में स्थिर रहता है, तब तक विपत्ति-काल में भी उन लोगों पर विघ्न नहीं पड़ सकता ॥ ७ ।

हे सूर्य ! तुम तो संसार में सभी जन्तुवों की चेष्टाओं को जानते हो । इसी से तुम जगच्चक्षु कहे जाते हो । अतः तुम (मेरे) इस कार्यसिद्धि के लिये (वहाँ) जाओ" ॥ ८ ।

इसके अनन्तर सूर्य ने महादेव की आज्ञा पाकर व्योमचारिणी अपनी दूसरी मूर्ति रात्रि-दिन के लिये बनाकर काशी की ओर गमन किया ॥ ९ ।

मनसाऽतीवलोलोऽभूत् काशीदर्शनलालसः ।
सहस्रचरणोऽप्यैच्छत्तदा खे नैकपादताम् ॥ १० ॥
हंसत्वं तस्य सूर्यस्य तदा सफलतामगात् ।
सदा नभोध्वनीनस्य काशीं प्रति यियासतः ॥ ११ ॥
अथ काशीं समासाद्य रविरन्तर्बहिश्चरन् ।
मनागपि न तद्भूपे धर्मध्वस्तिमवैक्षत ॥ १२ ॥
विभावसुर्वसन् काश्यां नानारूपेण वत्सरम् ।
क्वचिन्नाऽवसरं प्राप तत्र राज्ञि सुधर्मिणि ॥ १३ ॥
कदाचिदतिथिर्भूतो दुर्लभं प्रार्थयन् रविः ।
न तस्य राज्ञो विषये दुर्लभं किञ्चिदैक्षत ॥ १४ ॥

त्वरया काश्यभिमुखत्वे हेतुमाह । मनसेति । लोलः क्षुब्धः आकुल इति यावत् । आनन्दित इति वा । नैकपादतां बहुपादतामित्यर्थः ॥ १० ।

हंसत्वमिति । तस्य सदा सर्वदा नभोध्वनीनस्य नभोमार्गगामिनः सूर्यस्य, हंसत्वं हन्ति गच्छतीति हंसस्तस्य भावो हंसत्वं सफलतामगात् । फलवज्जातमित्यर्थः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । काशीं प्रति यियासतो गन्तुमिच्छतः ॥ ११ ।

अथेत्यानन्तर्ये मङ्गले वा । धर्मध्वस्ति धर्मलोपम् ॥ १२ ।

विभावसुः सूर्यः । अवसरं छिद्रम् । स्वधर्मिणि स्वधर्मनिष्ठे । सुधर्मिणीति क्वचित् ॥ १३ ।

नानारूपमेव दर्शयति । कदाचिदित्यादिना ॥ १४ ।

उस वेला वे काशी की दर्शन-लालसा से अत्यन्त उत्सुक होकर (सूर्य) सहस्र-चरण होने पर भी असंख्यचरण होने के अभिलाषी हो गये ॥ १० ।

काशी के प्रति यात्रा करने की इच्छा करते हुए, सर्वदा आकाशमार्ग के पथिक सूर्यनारायण का "हंस" यह नाम उसी समय सफल (सार्थक) हुआ ॥ ११ ।

इसके पश्चात् सूर्यदेव काशी में पहुँच कर भीतर और बाहर दोनों ही ओर विचरण करते रहने पर भी उस राजा के विषय में तनिक भी अधर्म नहीं देख सके ॥ १२ ।

सूर्यभगवान् अनेक रूप धारण करके काशी में रहते हुए उस धर्मिष्ठ राजा में एक वर्षपर्यन्त कोई भी अवसर नहीं पा सके ॥ १३ ।

अन्ततोगत्वा एक बार अतिथि होकर दुर्लभ वस्तु की उस राजा से प्रार्थना करने लगे; परन्तु उस राजा के राज्य में कुछ भी दुर्लभ नहीं देख सके ॥ १४ ।

कदाचिद्याचको जातो बहुदोऽपि कदाप्यभूत् ।
कदाचिद्दीनतां प्राप्तः कदाचिद् गणकोऽप्यभूत् ॥ १५ ॥
वेद बाह्यां क्रियां चापि कदाचित् प्रत्यपादयत् ।
कदाचित्स्थापयामास दृष्टप्रत्ययमैहिकम् ॥ १६ ।
कदाचिज्जटिलो जातः कदाचिच्च दिगम्बरः ।
स कदाचिज्जाङ्गलिको विषविद्याविशारदः ॥ १७ ।
सर्वपाखण्डधर्मज्ञः कदाचिद् ब्रह्मवाद्यभूत् ।
ऐन्द्रजालिक आसीच्च कदाचिद् भ्रामयन् जनान् ॥ १८ ।
नानाव्रतोपदेशैश्च कदाचित् स पतिव्रताः ।
क्षोभयामास बहुशः सदृष्टान्तकथानकैः ॥ १९ ।

दीनतां दरिद्रताम् ॥ १५ ।

वेदबाह्यां पाषण्डात्मिकाम् । दृष्टः प्रत्ययो ज्ञानं यस्य तद्दृष्टप्रत्ययं प्रत्यक्षज्ञान-विषयमैहिकमेव वस्तुजातम् । चार्वाकाणां मतं स्थापयामासेत्यर्थः । तथा च श्रूयते—"प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः" इति ॥ १६ ।

जटिलः पाशुपतो जटामात्रधारी वा । जाङ्गलिको वैद्यविशेषः । एतस्यैवार्थ-माह । विषविद्याविशारद इति ॥ १७ ।

सर्वः श्रीरुद्रस्तेन निर्मितः पाषण्डधर्मो वेदविरुद्धशैवागमोक्तधर्मस्तं जानातीति सर्वपाषण्डधर्मज्ञः । तथा च पाद्मे—"स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु" इति भगवद्वचनम् । ब्रह्मवादी वेदवादी । इन्द्रजालं कुहकम्, तेन व्यवहरतीत्यैन्द्र-जालिकः ॥ १८ ।

सदृष्टान्तकथानकैर्दृष्टान्तसहिताभिः कथाभिः ॥ १९ ।

सूर्यदेव कभी भिक्षुक बनते, कभी दाता हो जाते, कभी स्वयं दीन होकर विचरण करते, किसी दिन ज्योतिषी बन जाते ॥ १५ ।

वे कभी-कभी (लोगों से शास्त्र का कुटिल अर्थ कर के) वेद के विरुद्ध क्रिया का प्रतिपादन करते । किसी समय सूर्य नास्तिकों के समान केवल ऐहिक प्रत्यक्ष-ज्ञान के विषयवस्तुओं का ही समर्थन करते ॥ १६ ।

कभी वे जटाधारी होते । किसी वेला वे दिगम्बर बन जाते । कभी दिवाकर विषविद्याविशारद जांगलिक (विष झाड़ने वाला मँदारी) हो जाते ॥ १७ ।

किसी समय वे बड़े ही पाखण्ड धर्म के ज्ञाता बनते । कभी ब्रह्मवादी होकर आदित्यदेव ब्रह्म का निरूपण करने लग जाते । कभी ऐन्द्रजालिक बनकर वे लोगों का मनमोहन करते ॥ १८ ।

कभी कभी सूर्य नानाविध व्रतों के उपदेश तथा अनेक दृष्टान्त सहित कथाओं

कापालिकव्रतधरः कदाचिच्चाऽभवद्द्विजः ।
कदाचिदपि विज्ञानी धातुवादी कदाचन ॥ २० ।

क्वचिद्विप्रः क्वचिद्राजपुत्रो वैश्योऽन्त्यजः क्वचित् ।
ब्रह्मचारी क्वचिदभूद् गृही वनचरः क्वचित् ॥ २१ ।

यतिः कदाचिदिति स रूपैरभ्रामयञ्जनान् ।
सर्वविद्यासु कुशलः सर्वज्ञश्चाऽभवत् क्वचित् ॥ २२ ।

इति नानाविधै रूपैश्चरन् काश्यां ग्रहेश्वरः ।
न कदापि जने क्वापि छिद्रं प्राप कदाचन ॥ २३ ।

ततो निनिन्द चात्मानं चिन्तार्तः कश्यपात्मजः ।
धिक् परप्रेष्यतां यस्यां यशो लभ्येत न क्वचित् ॥ २४ ।

कापालिकः शैवविशेषो लोके योगीति प्रसिद्धस्तद्व्रतधरः । द्विजः पक्षी । द्विजो ब्राह्मणः सन् कापालिकव्रतधर इति वा । विज्ञानी ब्रह्मज्ञानी । धातुवादी स्वर्णादि-सिद्धिवादी ॥ २० ।

अथवा कदाचिदभवद्द्विज इत्येतत्प्रपञ्चयति । क्वचिद्विप्र इति सार्धपदेन ॥ २१ ।

अभ्रामयत् भ्रामयामास ॥ २२ ।

चिन्तयार्तः पीडितः ॥ २४ ।

से पतिव्रता स्त्रियों को क्षोभित कर देते, कभी अघोरी होते, कभी ब्राह्मण बनकर अनुष्ठान करते, किसी वेला ब्रह्मज्ञानी बन जाते, कभी रसायन सिद्ध करते, कभी ब्राह्मण, कभी राजकुमार, कहीं व्यापारी वैश्य, कहीं अंन्त्यज, कहीं गृहस्थ, कहीं वान-प्रस्थ, कभी संन्यासी, कभी सर्वविद्यानिधान सर्वज्ञ बनकर लोगों को अपने रूपों से भ्रमजाल में डाल देते थे ॥ १९-२२ ।

इस प्रकार से ग्रहेश्वर सूर्य काशी में (रात्रि-दिन) अपने इन अनेकविध रूपों को बनाकर भ्रमण करते रहने पर भी कभी कहीं पर काशी के किसी मनुष्य में कोई भी दोष नहीं पा सके ॥ २३ ।

अन्ततोगत्वा कश्यपनन्दन चिन्ताग्रस्त होकर अपनी ही निन्दा करने लगे । वस्तुतः पराधीनता को धिक्कार ही है; क्योंकि उसमें कभी यश नहीं पाया जा सकता ॥ २४ ।

मार्तण्ड उवाच—

मन्दरं यदि याम्यद्य सद्यस्तत् क्रुध्यतीश्वरः ।
अनिष्पादितकार्यार्थे मयि सामान्यभृत्यवत् ॥ २५ ।
कोपमप्युररीकृत्य यदि यायां कथञ्चन ।
कथं तिष्ठे पुरस्तस्य तर्हि वै मूढभृत्यवत् ॥ २६ ।
अथोङ्कृत्यावहेलं वा यामि चेच्च कथञ्चन ।
क्रोधान्निरीक्षेत्त्र्यक्षो मां विषं पेयं तदा मया ॥ २७ ।
हरकोपानले नूनं यदि यातः पतङ्गताम् ।
पितामहोऽपि मां त्रातुं तदा शक्ष्यति न स्फुटम् ॥ २८ ।
स्थास्याम्यत्रैव तन्नित्यं न त्यक्ष्यामि कदाचन ।
क्षेत्रसंन्यासविधिना वाराणस्यां कृताश्रमः ॥ २९ ।

चिन्तामेवाह—मन्दरमिति चतुर्भिः । तत् तदा ॥ २५ ।

उररीकृत्य स्वीकृत्य । तस्य विश्वेश्वरस्य पुरः कथं तिष्ठे स्थास्यामि ॥ २६ ।

ओङ्कृत्य स्वीकृत्य । अवहेलमवज्ञाम् । च एवार्थे । यामि चेति सम्बध्यते ॥ २७।

पतङ्गतां शलभताम् ॥ २८ ।

यस्मादेवं तत्तस्मादत्रैव स्थास्यामीति । एवकारार्थमेवाह । न त्यक्ष्यामीति ॥ २९ ।

सूर्य ने कहा—

'यदि मैं अभी मन्दराचल पर चला जाऊँ, तो महेश्वर भगवान् सामान्य सेवक की तरह अपने कार्य को असाधित देखकर मुझ पर अवश्य क्रुद्ध होंगे ॥ २५ ।

इस पर भी यदि मैं उनका कोप अपने ऊपर ओढ़कर किसी प्रकार से वहाँ चला जाऊँ, तो उनके आगे अधम सेवक के समान कैसे खड़ा हो सकूँगा ? ॥ २६ ।

अथ चेत् (यदि) इस अपमान को भी सहकर मैं किसी प्रकार से जा रहूँगा, तो भी भगवान् त्रिलोचन एक बार भी क्रोध से मेरी ओर ताक देंगे, तो मुझे विष ही पीना पड़ेगा ॥ २७ ।

क्योंकि यदि मैं महादेव के कोपानल में पतंग बन जाऊँगा, तो उस घड़ी मुझे स्वयं विधाता भी नहीं बचा सकते । यह बात अत्यन्त स्पष्ट ही है ॥ २८ ।

अतएव अब तो यहाँ पर ही रह जाऊँगा और इसी काशी में आश्रम बनाकर क्षेत्र-संन्यास की रीति से इसे कभी नहीं छोड़ूँगा ॥ २९ ।

पुरः पुरारेः कार्यार्थमनिवेद्येह तिष्ठतः ।
यत्पापं भावि मे तस्य काशी पापस्य निष्कृतिः ॥ ३० ॥
अन्यान्यपि च पापानि महान्त्यल्पानि यानि च ।
क्षयन्ति तानि सर्वाणि काशीं प्रविशतां सताम् ॥ ३१ ॥
बुद्धिपूर्वं मया चैतन्न पापं समुपार्जितम् ।
पुरारिणैव हि पुराऽऽशासि धर्मो हि रक्ष्यताम् ॥ ३२ ॥
धर्मो हि रक्षितो येन देहे सत्वरगत्वरे ।
त्रैलोक्यं रक्षितं तेन किं कामार्थैः सुरक्षितैः ॥ ३३ ॥
रक्षणीयो यदि भवेत् कामः कामारिणा कथम् ।
क्षणादनङ्गतां नीतो बहूनां सुखकार्यपि ॥ ३४ ॥

तर्हि कार्याऽनिवेदने पापं स्यान्नेत्याह । पुर इति । कार्यरूपमर्थं कार्यार्थमगोचरयित्वा इह काश्यां तिष्ठतो मे यत्पापं भावि भविष्यति तस्य पापस्य काशी निष्कृतिः प्रायश्चित्तम् । काशीवास इति क्वचित्पाठः ॥ ३० ।

न केवलमेतस्यैव पापस्य काशी निष्कृतिः; किन्त्वन्येषामपीत्याह । अन्यान्यपीति सतामिति न प्रविशतां विशेषणम्; किन्तु काशीप्रविष्टानां तथात्वात्तथोक्तम् ॥ ३१ ।

किञ्च । बुद्धीति । आशासि शासितोऽहं किं धर्मो हि रक्ष्यतामिति । रक्षतेति पाठे धर्मं रक्षता त्रिपुरारिणा धर्मोऽशासि रक्षितव्य इत्युक्तमित्यर्थः ॥ ३२ ।

धर्मरक्षणेनापि किं तत्राह । धर्मो हीति । सुरक्षितैः शोभनप्रकारेण रक्षितैरपि कामार्थैः किं न किमपीत्यर्थः ॥ ३३ ।

कामार्थयोरक्षणाभावं तर्केणोपपादयति । रक्षणीय इति द्वयेन ॥ ३४ ।

एवं च त्रिपुरारि के निकट कार्य के सिद्ध अथवा असिद्ध होने का समाचार न सुनाकर यहाँ पर ही बैठे रह जाने से जो पाप होगा, उसे काशी ही विनष्ट कर सकती है ॥ ३० ।

क्योंकि सज्जनों के काशी में प्रवेश करते ही और सब पाप भी चाहे छोटे हों अथवा बड़े हों, आप ही क्षय हो जाते हैं ॥ ३१ ।

और फिर मैंने तो जानबूझ कर इस पाप को अपने मन से किया ही नहीं है; क्योंकि भगवान् शिव ने ही तो यह आज्ञा दी है कि प्रथम (अपने ही) धर्म की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३२ ।

जिसने इस क्षणभङ्गुर शरीर में धर्म की रक्षा की है, वह तो (मानो) त्रैलोक्य की रक्षा कर चुका । इन काम और अर्थादिकों के रक्षण से कौन फल है ? ॥ ३३ ।

यदि चेत् काम का ही प्रतिपालन करना उचित होता, तो बहुतों के सुख-साधन उस काम को स्वयं शंकर कामशत्रु होकर अनङ्ग क्यों बना देते ? ॥ ३४।

अर्थश्चेत्सर्वथा रक्ष्य इति केश्चिदुदाहृतम् ।
तत्कथं न हरिश्चन्द्रोऽरक्षत् कुशिकनन्दने ॥ ३५ ।
धर्मस्तु रक्षितः सर्वैरपि देहव्ययेन च ।
शिबिप्रभृतिभूपालैर्दधीचिप्रमुखैर्द्विजैः ॥ ३६ ।
अयमेव हि वै धर्मः काशीसेवनसम्भवः ।
रुषितादपि रुद्रान्मां रक्षिष्यति न संशयः ॥ ३७ ।
अवाप्य काशीं दुष्प्रापां को जहाति सचेतनः ।
रत्नं करस्थमुत्सृज्य काचं संजिघृक्षति ॥ ३८ ।

अरक्षदर्थमिति शेषः । कुशिकनन्दने विश्वामित्रे ॥ ३५ ।

एवं कामार्थयोररक्षणं तर्केणोपपाद्य धर्मस्य रक्षणं साधयति । धर्मस्त्विति । शिबिर्हि शरणागतकपोतत्राणाय स्वमांसं ददाविति भारते प्रसिद्धम् । दधीचिस्तु याचकेभ्यो देवेभ्यः स्वास्थीन्यददादिति च भागवते । प्रभृतिप्रमुखशब्दाभ्यां कर्ण-जीमूतवाहनादयो गृह्यन्ते । तथा च श्रूयते—

त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि किं न देयं महात्मना ॥ इति ॥ ३६ ।

नन्वेवमपि रुद्रस्य रोषादनिष्टं भविष्यति तत्राहाऽयमिति ॥ ३७ ।

ननु तथाप्येतावता निर्बन्धेनालमित्याशंक्य काशीमाहात्म्यं वर्णयन् काशीं प्राप्य प्राणिमात्रस्य गमनाभावं द्रढयति । अवाप्येति चतुर्भिः । संजिघृक्षति ग्रहीतु-मिच्छति ॥ ३८ ।

कोई-कोई कहते हैं कि अर्थ की सर्वथा रक्षा करनी चाहिए; परन्तु राजा हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र के विषय में क्यों नहीं अर्थ की रक्षा की ? ॥ ३५ ।

परन्तु दधीचि आदि ब्राह्मण तथा शिवि इत्यादि राजाओं ने अपना शरीर गँवाकर धर्म को ही रक्षित रक्खा—

श्लो०—"त्वचं कर्णः शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि किं न देयं महात्मनाम् (टीका) ॥ ३६ ।

यह काशीसेवनजनित धर्म ही मुझे गुरुदेव के कोपानल से बचावेगा । इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३७ ।

कौन सचेतन व्यक्ति परमदुर्लभ काशीधाम को पाकर फिर उसे छोड़ सकता है ? (भला) ऐसा कौन होगा, जो हाथ में धरे (रखे) हुए रत्न को फेंककर काँच लिया चाहेगा ? ॥ ३८ ।

वाराणसीं समुत्सृज्य यस्त्वन्यत्र यियासति ।
हत्वा निधानं पादेन सोऽर्थमिच्छति भिक्षया ॥ ३९ ।
पुत्रमित्रकलत्राणि क्षेत्राणि च धनानि च ।
प्रतिजन्मेह लभ्यन्ते काश्येका नैव लभ्यते ॥ ४० ।
येन लब्धा पुरी काशी त्रैलोक्योद्धरणक्षमा ।
त्रैलोक्यैश्वर्यदुष्प्रापं तेन लब्धं महासुखम् ॥ ४१ ।
कुपितोऽपि हि मे रुद्रस्तेजोहानिं विधास्यति ।
काश्यां च लप्स्ये तत्तेजो यद्वै स्वात्मावबोधजम् ॥ ४२ ।
इतराणीह तेजांसि भासन्ते तावदेव हि ।
खद्योताभानि यावन्नो जृम्भते काशिजं महः ॥ ४३ ।
इति काशीप्रभावज्ञो जगच्चक्षुस्तमोनुदः ।
कृत्वा द्वादशधात्मानं काशीपुर्यां व्यवस्थितः ॥ ४४ ।

यियासति गन्तुमिच्छति । किं पुनर्योगत इति भावः । निधानं निधिम् ॥ ४० ।

अनिष्टं स्वीकृत्यापि गमनाभावमाह । कुपित इति द्वाभ्याम् । स्वात्मावबोधजं स्वस्य आत्मना आत्मतत्त्वेनेति यावत् । योऽवबोधो ज्ञानं तस्माज्जातं स्वस्यात्मनो योऽवबोधो नित्यशुद्धमुक्तस्वरूपत्वेन ज्ञानं तस्माज्जातमिति वा ॥ ४२ ।

खद्योताभानि रात्रौ प्रकाशमानः क्षुद्रकीटविशेषः खद्योतो जुनीति गौडे प्रसिद्ध-स्तत् सदृशानि ॥ ४३ ।

जो कोई वाराणसी को त्याग कर अन्यत्र कहीं पर जाया चाहता है, वह तो मानो अमूल्य निधि को लात मार कर भिक्षा से अतिसंचय की इच्छा करता है ॥३९।

संसार में पुत्र, मित्र, कलत्र, क्षेत्र और धनादिक तो प्रत्येक जन्म में मिल सकते हैं; परन्तु एक काशी ही अनेक जन्मों में नहीं मिलती ॥ ४० ।

जिस भाग्यवान् जन ने त्रैलोक्य के उद्धार करने में समर्थ काशीपुरी को प्राप्त कर लिया, उसे त्रिभुवन के ऐश्वर्य में दुर्लभ महासुख ही हाथ लग गया ॥ ४१ ।

भगवान् क्रोधित होकर मेरे (बाहरी ही) तेज की हानि कर देंगे; परन्तु मैं यदि काशी में रह जाऊँगा, तो उस आत्मज्ञानजनित परमतेज को पा सकूँगा ॥४२ ।

जब तक काशी (सेवा) जनित प्रकाश का विकाश नहीं होता, तभी तक जुंगनू के समान दूसरे तेज टिमटिमाते रहते हैं ॥ ४३ ।

इस प्रकार से काशीप्रभाव के ज्ञाता, तमोध्वंसक सूर्यदेव अपनी बारह मूर्तियाँ बनाकर काशीपुरी में ही टिक गये (बस गये) ॥ ४४ ।

लोलार्क उत्तरार्कश्च साम्बादित्यस्तथैव च ।
चतुर्थो द्रुपदादित्यो मयूखादित्य एव च ।। ४५ ।
खखोल्कश्चारुणादित्यो वृद्धकेशवसंज्ञकौ ।
दशमो विमलादित्यो गङ्गादित्यस्तथैव च ।। ४६ ।
द्वादशश्च यमादित्यः काशिपुर्यां घटोद्भव ।
तमोऽधिकेभ्यो दुष्टेभ्यः क्षेत्रं रक्षन्त्यमी सदा ।। ४७ ।
तस्यार्कस्य मनो लोलं यदासीत्काशिदर्शने ।
अतो लोलार्क इत्याख्या काश्यां जाता विवस्वतः ।। ४८ ।
लोलार्कस्त्वसिसम्भेदे दक्षिणस्यां दिशि स्थितः ।
योगक्षेमं सदा कुर्यात्काशीवासिजनस्य च ।। ४९ ।
मार्गशीर्षस्य सप्तम्यां षष्ठ्यां वा रविवासरे ।
विधाय वार्षिकीं यात्रां नरः पापैः प्रमुच्यते ।। ५० ।

तमोऽधिकेभ्य आत्यन्तिकतामसेभ्यः ।। ४७ ।
लोलार्कनाम निर्वक्ति । तस्याऽर्कस्येति । लोलम् आनन्दितम् ।। ४८ ।

(उनके ये नाम हैं) (१) लोलार्क, (२) उत्तरार्क, (३) साम्बादित्य, (४) द्रुपदादित्य, (५) मयूखादित्य, (६) खखोल्कादित्य, (७) अरुणादित्य, (८) वृद्धादित्य, (९) केशवादित्य, (१०) विमलादित्य, (११) गंगादित्य और (१२) यमादित्य"। हे अगस्त्य ! ये बारहों आदित्य काशीपुरी में तामस दुष्ट पापियों से सदा क्षेत्र की रक्षा करते रहते हैं ।। ४५-४७ ।

आदित्य भगवान् का मन काशी के दर्शन में अत्यन्त लोल हो गया था । इसी से वहां पर सूर्य का नाम लोलार्क पड़ गया ।। ४८ ।

(क्षेत्र के) दक्षिण दिशा में असि-संगम के समीप ही लोलार्क विराजमान हैं। उनके द्वारा काशीवासियों का सदा योगक्षेम होता रहता है ।। ४९ ।

अगहन मास के किसी आदित्यवार को सप्तमी अथवा षष्ठी तिथि को लोलार्क की वार्षिकी यात्रा करके मनुष्य समस्त पापों से छुट्टी पा जाता है—

दोहा—"होत लोलारक छट्ठ जो, भादों के सित पच्छ ।
मूल चिन्तिये ताहि को, ग्रन्थनि ढूंढिय दच्छ ।। १ ।
प्रायः अगहन मास में, भानु सप्तमी होय ।
पर लोलारक छट्ठ सम, विदित न मेला सोय"[1] ।। २ ।।५० ।

---

१. काशी में भाद्रशुक्ल षष्ठी को लोलार्क का मेला लगता है । उसमें लाखों की भीड़ होती है । 'कजली' के दङ्गल आदि भी होते हैं । काशी की वाराङ्गनाएं उस दिन आदित्य-भक्ति से निःशुल्क गान करती हैं ।—सम्पादक

कृतानि यानि पापानि नरैः संवत्सरावधि ।
नश्यन्ति क्षणतस्तानि षष्ठयर्के लोलदर्शनात् ॥ ५१ ।
नरः स्नात्वासिसम्भेदे सन्तर्प्य पितृदेवताः ।
श्राद्धं विधाय विधिना पित्रानृण्यमवाप्नुयात् ॥ ५२ ।
लोलार्कसङ्गमे स्नात्वा दानं[1] होमं सुरार्चनम् ।
यत्किञ्चित्क्रियते कर्म तदानन्त्याय कल्पते ॥ ५३ ।
सूर्योपरागे लोलार्के स्नानदानादिकाः क्रियाः ।
कुरुक्षेत्राद्दशगुणा भवन्तीह न संशयः ॥ ५४ ।
लोलार्के रथसप्तम्यां स्नात्वा गङ्गासिसंगमे ।
सप्तजन्मकृतैः पापैर्मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥ ५५ ।
प्रत्यर्कवारं लोलार्कं यः पश्यति शुचिव्रतः ।
न तस्य दुःखं लोकेऽस्मिन् कदाचित्सम्भविष्यति ॥ ५६ ।

षष्ठ्यर्के षष्ठ्या युक्तेऽर्कदिने ॥ ५१ ।

लोलार्कसंगमे लोलार्कसमीपे संगमो लोलार्केण वा संगमः लोलार्कसंगमस्तस्मिन् । लोलार्कसम्भव इति पाठे लोलार्कस्य सम्भवो यस्मिन् संगमे तस्मिन्नित्यर्थः ॥ ५३ ।

रथसप्तम्यां माघशुक्लसप्तम्याम् ॥ ५५ ।

लोगों के एक वर्ष भर के संचित समस्त पाप इस भानुषष्ठी पर्व में लोलार्क के दर्शन करने से ही क्षणमात्र में विध्वंस हो जाते हैं ॥ ५१ ।

जो मनुष्य असिसंगम पर स्नान कर पितर और देवताओं का तर्पण तथा श्राद्ध करता है, वह पितृ-ऋण से छूट जाता है ॥ ५२ ।

लोलार्क (कुण्ड के समीप—असि) संगम पर स्नान, दान, होम और देवतापूजन इत्यादि जो कुछ कर्म किया जावे, वह सब अनन्त फलदायक होता है ॥ ५३ ।

सूर्यग्रहण के समय लोलार्क (कुण्ड) पर स्नान-दानादिक क्रियाओं के करने से कुरुक्षेत्र का दशगुना फल निःसन्देह प्राप्त होता है ॥ ५४ ।

माघ मास की शुक्ला सप्तमी के दिन गङ्गा और असि के संगम पर लोलार्क कुण्ड में स्नान करने से मनुष्य अपने सात जन्म के सञ्चित पापों से तुरन्त मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ।

जो कोई पवित्र व्रत धारणकर प्रति रविवार को लोलार्क का दर्शन करता है, उसे इस लोक में कभी कोई दुःख नहीं भोगना पड़ता ॥ ५६ ।

---

१. जपं दानमित्यपि पाठः ।

न तस्य दुःखं नोपामा न दद्रुर्न विर्चाचिका ।
लोलार्कमर्के यः पश्येत्तत्पादोदकसेवकः ॥ ५७ ।
वाराणस्यामुषित्वाऽपि यो लोलार्कं न सेवते ।
सेवन्ते तं नरं नूनं क्लेशाः क्षुद्व्याधिसंभवाः ॥ ५८ ।
सर्वेषां काशितीर्थानां लोलार्कः प्रथमं शिरः ।
ततोऽङ्गान्यन्यतीर्थानि तज्जलप्लावितानि हि ॥ ५९ ।
तीर्थान्तराणि सर्वाणि भूमोवलयगान्यपि ।
असिसम्भेदतीर्थस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६० ।
सर्वेषामेव तीर्थानां स्नानाद्यल्लभ्यते फलम् ।
तत्फलं सम्यगाप्येत नरैर्गङ्गासिसंगमे ॥ ६१ ।
नार्थवादोऽयमुदितः स्तुतिवादो न वै मुने ।
सत्यं यथार्थवादोऽयं श्रद्धेयः सद्भिरादरात् ॥ ६२ ।

पामाविर्चाचिकयोरवान्तरभेदः ॥ ५७ ।

आप्येत आप्यते ॥ ६१ ।

नन्वादित्यो वै यूपो यजमानः प्रस्तर इत्यादिवदर्थवादो भविष्यति नेत्याह । नाऽर्थवादोऽयमिति । यथाऽयमर्थवादो न भवति तथा पूर्वमेव व्याख्यातमिति ॥ ६२ ।

एवं प्रति रविवार को लोलार्क का दर्शन कर उनका पादोदक सेवन करने वाले को दाद और खुजली इत्यादि रोग तथा दुःख (कभी) नहीं होते ॥ ५७ ।

जो कोई काशी में रहकर भी लोलार्क का सेवन नहीं करता, उसे क्षुधा और व्याधियों से उत्पन्न अनेक क्लेश अवश्य ही भोगने पड़ते हैं ॥ ५८ ।

लोलार्क काशी के समस्त तीर्थों में प्रथम शिरोदेश भाग है और दूसरे तीर्थ अन्य अङ्गों के समान हैं; क्योंकि सभी (तीर्थ असि के) जल से धोये गये हैं ॥ ५९ ।

भूमण्डल के जितने ही दूसरे तीर्थ हैं, वे सब के सब इस असिसङ्गमतीर्थ के सोलह भाग में एक भाग के भी समान होने योग्य नहीं हैं ॥ ६० ।

समग्र तीर्थों के स्नान करने से जो फल पाया जाता है, इस गंगा और असि के संगम स्थल में नहाने से वही फल पूर्णरूप से मनुष्यों को प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

हे मुने ! यह न तो अर्थवाद है, और न स्तुतिवाद है। यह सत्य ही यथार्थवाद है। अतएव साधुजनों को सादर श्रद्धा करनी चाहिए ॥ ६२ ।

यत्र विश्वेश्वरः साक्षाद्यत्र स्वर्गतरङ्गिणी ।
मिथ्या तत्राऽनुमन्यन्ते तार्किकश्चानुसूयकाः ॥ ६३ ।
उदाहरन्ति ये मूढाः कुतर्कबलदर्पिताः ।
काश्यां सर्वेऽर्थवादोऽयं ते विट्कीटा युगे युगे ॥ ६४ ।
कस्यचित् काशितीर्थस्य महिम्नो महतस्तुलाम् ।
नाऽधिरोहेन्मुने नूनमपि त्रैलोक्यमण्डपः ॥ ६५ ।
नास्तिका वेदबाह्याश्च शिश्नोदरपरायणाः ।
अन्त्यजाताश्च ये तेषां पुरः काशी न वर्ण्यताम् ॥ ६६ ।
लोलार्ककरनिष्टप्ता असिधारविखण्डिताः ।
काश्यां दक्षिणदिग्भागे न विशेयुर्महामलाः[1] ॥ ६७ ।

अर्थवादवक्तॄणां दोषं स्वयमेवाह । उदाहरन्तीति ॥ ६४ ।

किञ्च । तस्यां दिशि दुष्टानां प्रवेशोऽप्यत्र नास्तीत्याह । लोलार्केति । लोलार्कस्य करै रश्मिभिर्निष्टप्ता दग्धा असिर्नदी तस्या धारया प्रवाहेण विखण्डिता गतिवैकल्यं प्रापिता महामला अपि काशीस्थद्वेषिणो वा न विशेयुर्न प्रविशन्ति—इति । पक्षान्तरे लोलार्काणां तत्सदृशानां तेजस्विनां शूराणां करैर्हस्तैर्निष्टप्ता नितरां ताडिता-

---

जहाँ पर साक्षात् विश्वनाथ विराजमान हैं और स्वयं स्वर्गतरंगिणी गंगा बह रही हैं, उस पुण्यक्षेत्र पर ईर्ष्या करने वाले कुतार्किक लोग ही व्यर्थ का अनुमान लड़ाते हैं ॥ ६३ ।

जो मूर्ख लोग अपने कुतर्क-बल के अभिमानी बनकर काशी के विषय में इन बातों को अर्थवाद ही समझते हैं, वे सब युग-युग तक विष्ठा के कृमि होकर रहते हैं और कदापि सद्गति नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ६४ ।

हे मुनिवर ! समस्त त्रैलोक्यमण्डल भी कदापि काशी के किसी तीर्थ की महिमा की तुला (तराजू) पर निश्चय ही नहीं चढ़ सकता है ॥ ६५ ।

अतएव नास्तिक, वेदनिन्दक, अन्त्यज इत्यादि अविधिकार्यकर्ता तथा शिश्नोदरपरायण लोगों के आगे कभी काशी की महिमा का वर्णन नहीं करना चाहिए ॥ ६६ ।

लोलार्क की किरणों से सन्तप्त तथा असि की धारा से बहुत ही खण्डित होने से बड़े-बड़े पाप काशी में दक्षिण ओर से कभी प्रवेश नहीं कर सकते ॥ ६७ ।

---

१. महाबला इत्यपि क्वचित्पाठः ।

महिमानमिमं श्रुत्वा लोलार्कस्य नरोत्तमः ।
न दुःखी जायते क्वापि संसारे दुःखसागरे ॥ ६८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे लोलार्कवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ।

स्तेषामेवाऽसिधारया खड्गधारया विखण्डिता विशेषेण खण्डिताः खड्गच्छेदं प्रापिता यथा न विशन्तीति शब्दश्लेषाऽलङ्कारोऽयम् ॥ ६७-६८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ।

उत्तम पुरुष, लोलार्क की इस महिमा के श्रवण करने से ही दुःखसागर संसार में कदापि दुःखभागी नहीं हो सकता है ॥ ६८ ।

दोहा—अजहुँ लोलारक कुण्ड में, प्रति रविवार नहाय ।
पावहिं इच्छित फल सबे, कुष्ठादिकहिं नसाय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां लोलार्ककथावर्णनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ।

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

अथोत्तरस्यामाशायां कुण्डमर्काख्यमुत्तमम् ।
तत्र नाम्नोत्तरार्केण रश्मिमाली व्यवस्थितः ॥ १ ।
तापयन् दुःखसंघातं साधूनाप्याययन् रविः ।
उत्तरार्को महातेजाः काशीं रक्षति सर्वदा ॥ २ ।
तत्रेतिहासो यो वृत्तस्तं निशामय सुव्रत ।
विप्रः प्रियव्रतो नाम कश्चिदात्रेयवंशजः ॥ ३ ।
आसीत्काश्यां शुभाचारः सदाऽतिथिजनप्रियः ।
भार्या शुभव्रता तस्य बभूवाऽतिमनोहरा ॥ ४ ।

चत्वारिंशेऽथ सप्तोर्ध्वेऽध्याये परमपावने ।
उत्तरार्कस्य माहात्म्यं वर्ण्यतेऽतिमनोहरम् ॥ १ ।

लोलार्क उत्तरार्कश्चेत्यादिना द्वादशादित्या उपक्षिप्तास्तत्र लोलार्कस्य सम्भवं माहात्म्यं चोक्त्वोत्तरार्कस्यापि ते आह—अथेति । रश्मिमाली सूर्यः ॥ १ ।

तस्य कृत्यमाह । तापयन्निति ॥ २ ।

शुभव्रता नाम्ना ॥ ४ ।

(उत्तरार्क का वर्णन, अर्थात् बकरिया कुण्ड की कथा)

स्कन्द ने कहा—

'काशी से उत्तर दिशा में जो उत्तम अर्ककुण्ड है, वहाँ पर उत्तरार्क नामक सूर्य भगवान् विराजमान हैं ॥ १ ।

वे महातेजस्वी उत्तरार्क सूर्य साधु लोगों के दुःखसंघात को दूर हटाकर परम आनन्द देते हुए सर्वदा काशी की रक्षा करते रहते हैं ॥ २ ।

हे सुव्रत अगस्त्य ! इन सूर्य के विषय में एक इतिहास कहता हूँ, सुनो । (पूर्व काल में) आत्रेयवंशोत्पन्न प्रियव्रत नामक कोई एक ब्राह्मण काशी में रहता था । वह सदाचारसम्पन्न और सर्वदा अतिथिजन का परमभक्त था । अत्यन्त सुन्दरी शुभव्रता उसकी धर्मपत्नी थी ॥ ३-४ ।

भर्तृशुश्रूषणरता गृहकर्मसु पेशला।
तस्यां स जनयामास कन्यामेकां सुलक्षणाम् ॥ ५ ।
मूलर्क्षप्रथमे पादे तथा केन्द्रे बृहस्पतौ।
ववृधे सा गृहे पित्रोः शुक्ले पक्षे यथा शशी ॥ ६ ।
सुरूपा विनयाचारा पित्रोश्च प्रियकारिणी।
अतीवनिपुणा जाता गृहोपस्करमार्जने ॥ ७ ।
यथा यथा समैधिष्ट सा कन्या पितृमन्दिरे।
तथा तथा पितुस्तस्याश्चिन्ता संववृधेतराम् ॥ ८ ।
कस्मै देया वरा कन्या सुरम्येयं सुलक्षणा।
अस्या अनुगुणो लभ्यः क्व मया वर उत्तमः ॥ ९ ।
कुलेन वयसा चापि शीलेनापि श्रुतेन च।
रूपेणार्थेन संयुक्तः कस्मै दत्ता सुखं लभेत् ॥ १० ।

सुलक्षणां नाम्ना ॥ ५ ।

मूलर्क्षस्य मूलनक्षत्रस्य प्रथमे पादे तथा बृहस्पतौ केन्द्रे लग्नचतुर्थदशमसप्तमान्यतमस्मिन् राशौ स्थिते सति ॥ ६ ।

समैधिष्ट अवर्धत ॥ ८ ।

कस्मै दत्ता सतीयं सुखं लभेत्। दत्वा सुखं लभ इति क्वचित् ॥ १० ।

वह भी भर्ता की शुश्रूषा को ही प्रधान धर्म मानकर सदा घर गृहस्ती (घर-गृहस्थी) के कामों में चतुरता के साथ वर्तती थी। कालानुसार अपने गर्भ से शुभव्रता ने सुलक्षणा नाम्नी एक कन्या को उत्पन्न किया ॥ ५ ।

उसका जन्म मूलनक्षत्र के प्रथम चरण में तथा बृहस्पति के चतुर्थादि केन्द्र-राशि स्थित होने पर हुआ था। फिर वह कन्या शुक्लपक्ष की चन्द्रकला के समान पिता के घर में बढ़ने लगी ॥ ६ ।

वह कन्या अत्यन्त रूपवती और विनय तथा आचार से पूर्ण होकर माता-पिता की प्रीतिकारिणी एवं घर के काम-धन्धा और झाड़ने-बुहारने में बहुत ही निपुण हो गई ॥ ७ ।

ज्यों-ज्यों वह कन्या पिता के गृह में बढ़ने लगी, त्यों-त्यों उसके पिता की चिन्ता भी बढ़ती ही चली गई ॥ ८ ।

इस परमसुन्दरी सुलक्षणा कन्या को किसे (व्याह) देवे ? कुलीन, युवा, सुशील, विद्वान्, रूपवान् और धनी—ऐसा सर्वगुणाधार वर इसके योग्य हो सकता है। वैसे वर के हाथ में पड़ने से यह सुखभागिनो होगी, पर वैसा सुपात्र वर मुझे कहाँ मिलेगा ? ॥ ९-१० ।

इति चिन्तयतस्तस्य ज्वरोऽभूदतिदारुणः ।
यश्चिन्ताख्यो ज्वरः पुंसामौषधैर्नापि शाम्यति ॥ ११ ।
तन्मूलर्क्षविपाकेन चिन्ताख्येन ज्वरेण च ।
स विप्रः पञ्चतां प्राप्तस्त्यक्त्वा सर्वं गृहादिकम् ॥ १२ ।
पितर्युपरते तस्याः कन्यायाः सा जनन्यपि ।
शुभव्रता परित्यज्य तां कन्यां पतिमन्वगात् ॥ १३ ।
धर्मोऽयं सहचारिण्या जीवताजीवतापि वा ।
पत्या सहैव स्थातव्यं पतिव्रतयुजा सदा ॥ १४ ।
नापत्यं पाति नो माता न पिता नैव बान्धवाः ।
पत्युश्चरणशुश्रूषा पायाद्धि केवलं स्त्रियम् ॥ १५ ।

तन्मूलर्क्षविपाकेन कन्याया मूलनक्षत्रफलेन। तत्तदेति वा। पञ्चतां मरणम् ॥१२।

पतिमन्वगाद्दत्ताग्नि पतिदहेमनु स्वयमग्नौ विवेशेत्यर्थः ॥ १३ ।

अनुगमने हेतुमाह । धर्मोऽयमिति ॥ १४ ।

पत्या सहैव स्थातव्यमित्यत्राऽपि हेतुमाह । नापत्यमिति ॥ १५ ।

इसी भाँति की चिन्ता करते-करते शुभव्रत अत्यन्त दारुण ज्वर से पीड़ित हो गया और पुरुषों का यह चिन्ताज्वर (कभी किसी भी) औषध से शान्त नहीं होता ॥ ११ ।

(अस्तु) कन्या के मूलनक्षत्र में जन्म लेने के फलरूप चिन्ताज्वर के हो जाने के कारण वह ब्राह्मण गृह इत्यादि सब कुछ छोड़कर परलोक का प्रवासी हो गया ॥१२ ।

पिता के मर जाने पर उस कन्या की माता भी स्नेहमयी कन्या को त्यागकर सतीधर्म के अनुसार पति की अनुगामिनी हो गयी ॥ १३ ।

सहचारिणी का तो यही धर्म है कि पति जीवित रहे अथवा मर जावे; परन्तु पतिव्रता नारी कदापि उसका साथ देने से हटती ही नहीं है ॥ १४ ।

क्योंकि स्त्रियों के धर्म की रक्षा न सन्तान ही करता है, न माता, पिता, अथवा दूसरे बन्धु-बान्धव ही कर सकते हैं। तब उसकी रक्षा केवल पति की चरण-शुश्रूषा ही करती है।

"मातु पिता भ्राता हितकारी। मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी !
अमितदान भर्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही" (तु.रा.) ॥१५।

सुलक्षणापि दुःखार्ता पित्रोः पञ्चत्वमाप्तयोः ।
और्ध्वदैहिकमापाद्य दशाहं विनिवर्त्य च ॥ १६ ।
चिन्तामवाप महतीमनाथा दैन्यमागता ।
कथमेकाकिनी पित्रा मात्रा हीना भवाऽम्बुधेः ॥ १७ ।
दुस्तरं पारमाप्स्यामि स्त्रीत्वं सर्वाभिभावि यत् ।
न कस्मैचिद्वरायाहं पितृभ्यां प्रतिपादिता ॥ १८ ।
तददत्ता कथं स्वैरमहमन्यं वरं वृणे ।
वृतोऽपि न कुलीनश्चेद् गुणवांश्च च शीलवान् ॥ १९ ।
स्वाधीनोऽपि न तत्तेन वृतेनापि हि किं भवेत् ।
इति सञ्चिन्तयन्ती सा रूपौदार्यगुणान्विता ॥ २० ।
युवभिर्बहुभिर्नित्यं प्रार्थिताऽपि मुहुर्मुहुः ।
न कस्यापि ददौ बाला प्रवेशं निजमानसे ॥ २१ ।

और्ध्वदैहिकम् । द्वादशाहपिण्डादि ॥ १६ ।
सर्वैरभिभवितुं शीलं यस्य तत्सर्वाभिभावि ॥ १८ ।
गुणावांश्च चेदित्यनुषज्यते ॥ १९ ।
तत् तदा ॥ २० ।

इसके अनन्तर उस (बेचारी) सुलक्षणा ने भी परमदुःख से कातर होकर मृत माता-पिता के और्ध्वदैहिक क्रिया को समाप्त कर ज्यों-त्यों करके दशाह भी बिताया ॥ १६ ।

इसके पीछे सुलक्षणा अनाथ होकर दीनता से रोदन करने लगी और बड़ी भारी चिन्ता में जा पड़ी। वह चिन्ता करने लगी कि मैं माता-पिता से हीन होकर जो अकेली हो गयी, तो अब इस दुस्तर संसार-सागर का पार कैसे पाऊँगी ? हाय ! यह स्त्रीत्व ही सबका माननाशक है ! माता-पिता भी मुझे किसी के हाथ में नहीं सौंप गये ॥ १७-१८ ।

(अब) इसी घड़ी उनके बिना दिये ही मैं स्वयं अपनी इच्छानुसार किसी को अपना वर कैसे बना लूं ? यदि मैं किसी से विवाह ही कर लूँ और वह कुलीन, गुणवान्, किंवा शीलवान् न हो, अथवा मेरे मन के साथ उसका अनैक्य होवे, तो फिर उसी को लेकर कैसे निर्वाह होगा ? इस प्रकार की चिन्ता में व्याकुल वह रूपौदार्य-गुणशालिनी सुलक्षणा अनेक नवयुवकों के प्रतिदिन बारंबार प्रार्थना करते रहने पर भी अपने हृदय में किसी को भी घुसने का अवसर न देती थी ॥ १९-२१ ।

पित्रोरुपरतिं दृष्ट्वा वात्सल्यं च तथाविधम् ।
निनिन्द बहुधात्मानं संसारं च निनिन्द ह ॥ २२ ।
याभ्यामुत्पादिता चाहं याभ्यां च परिपालिता ।
पितरौ कुत्र तौ यातौ देहिनो धिगनित्यताम् ॥ २३ ।
अहो देहोऽप्यहोऽङ्गत्वं यथा पित्रोः पुरो मम ।
इति निश्चित्य सा बाला विजितेन्द्रियमानसा ॥ २४ ।
ब्रह्मचर्यं दृढं कृत्वा तप उग्रं चचार ह ।
उत्तरार्कस्य देवस्य समीपे स्थिरमानसा ॥ २५ ।

तस्यां तपस्यमानायामेका च्छागी लघीयसी ।
तत्र प्रत्यहमागत्य तिष्ठेत्तत्पुरतोऽचला ॥ २६ ।
तृणपर्णादिकं किञ्चित्सायमभ्यवहृत्य सा ।
तत्कुण्डपीतपानीया स्वस्वामिसदनं व्रजेत् ॥ २७ ।

देहिनो धिगनित्यतां देहिनो जीवस्याऽनित्यतां प्रति धिगस्त्वित्यर्थः ॥ २३ ।

अहो इति । अहो खेदे । खेदातिशयार्थो वीप्सा । यथा मम पुरोऽग्रतः पित्रोरङ्गत्वं स्वप्रत्ययोऽत्राऽविवक्षितः । अङ्गमित्यर्थः तथा ममाऽपि देहो विनाशीत्यर्थः । अयं देहोऽप्यहो गन्तेति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः ॥ २४ ।

वह कन्या माता-पिता की मृत्यु को देख तथा उनकी स्नेहपूर्ण वत्सलता को स्मरण कर संसार को असार विचार बहुधा अपनी ही निन्दा करती थी ॥ २२ ।

हाय ! जिनसे मैं उत्पन्न हुई, और जिन ने मेरा प्रतिपालन किया, आज मेरे वे माता-पिता (मुझे छोड़कर) कहाँ चले गये ? ऐसे देहधारी की अनित्यता को धिक्कार है ॥ २३ ।

जिस प्रकार से मेरे ही आगे मेरी माता और पिता का शरीर नहीं रह गया, यही दशा मेरे भी इस देह की होगी । यही विचार निश्चित कर वह कन्या सुलक्षणा इन्द्रिय और मन को जीत, कठोर ब्रह्मचर्य को धारण कर, दृढ़चित्त से पूर्वोक्त उत्तरार्क सूर्य के समीप में घोर तपस्या करने लगी ॥ २४-२५ ।

उसके तपस्या आरम्भ करने के दिन से एक छोटी-सी बकरी प्रतिदिन वहाँ पर आकर निश्चल भाव से उसके सम्मुख खड़ी रहती थी ॥ २६ ।

फिर जब सन्ध्या होती, तब वह बकरी जो तृण वा पत्ता आदि अनायास मिल जाता, उसे खाय (खाकर) और उसी (समीपस्थ) कुण्ड का पानी पीकर अपने स्वामी के घर चली जाती थी ॥ २७ ।

तत इत्थं व्यतीतासु पञ्चषासु समासु च।
लीलया विचरन् देवस्तत्र गौर्या सहाऽऽगतः ॥ २८ ।
सन्निधावुत्तरार्कस्य तपस्यन्तीं सुलक्षणाम् ।
स्थाणुवन्निश्चलां स्थाणुरद्राक्षीत्तपसा कृशाम् ॥ २९ ।
ततो गिरिजया शम्भुर्विज्ञप्तः करुणात्मना ।
वरेणाऽनुगृहाणेमां बन्धुहीनां सुमध्यमाम् ॥ ३० ।
शर्वाणी गिरमाकर्ण्य ततः शर्वः कृपानिधिः ।
समाधिमीलिताक्षीं तामुवाच वरदो हरः ॥ ३१ ।
सुलक्षणे प्रसन्नोऽस्मि वरं वरय सुव्रते ।
चिरं खिन्नाऽसि तपसा कस्तेऽस्तीह मनोरथः ॥ ३२ ।
साऽपि शम्भोर्गिरं श्रुत्वा मुखपीयूषवर्षिणीम् ।
महासन्तापशमनीं लोचने उदमीलयत् ॥ ३३ ।
त्र्यक्षं प्रत्यक्षमावीक्ष्य वरदानोन्मुखं पुरः ।
देवीं च वामभागस्थां प्रणनाम कृताञ्जलिः ॥ ३४ ।

पञ्चषासु पञ्चषट्सु वा समासु वत्सरेषु ॥ २८ ।

करुणा आत्मनि यस्यास्तया दयास्वरूपयेति वा। या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थितेत्युक्तेः। करुणायुक्तात्मने व्यधिकरणं वा ॥ ३० ।

मुखपीयूषवर्षिणीम् आस्यामृतस्राविणीम्। उदमीलयत् व्यकासयत् ॥ ३३ ।

इस रीति से प्रायः पाँच-छः वर्ष बीत जाने पर एक बार भगवान् महेश्वर पार्वती देवी के सहित यदृच्छाक्रम से भ्रमण करते हुए वहाँ जा पड़े ॥ २८ ।

और वहीं पर उत्तरार्क के निकट तपस्या से अतिकृशशरीरा स्थाणु के समान निश्चल हो घोर तपस्या करती हुई उस सुलक्षणा को देखने लगे ॥ २९ ।

तदनन्तर उसे देखते ही भगवती पार्वती करुणार्द्रचित्त हो उस बन्धुहीना अनाथा कन्या को वरदान से अनुगृहीत करने के लिये अनुरोध करने लगीं ॥ ३० ।

कृपानिधान महादेव ने भी गिरिजा देवी की बात सुनकर वरदानोन्मुख हो समाधि से नयनों को मूँदो हुई सुलक्षणा के प्रति यह कहा ॥ ३१ ।

हे सुव्रते सुलक्षणे ! बहुत काल से तपस्या करते-करते तू खिन्न हो गयी है। यह देख मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। तेरा क्या मनोरथ है ? वह वर माँग ॥ ३२ ।

विश्वनाथ के ऐसे अमृतवर्षी और महासन्तापनाशक मधुरवचन को सुनकर उस सुलक्षणा ने भी अपने नेत्रों को उघार दिया (अपने नेत्रों को खोल दिया) ॥ ३३ ।

और देखा कि सन्मुख ही साक्षात् भगवान् त्रिलोचन और वामभाग में जगदम्बिका उसे वरप्रदान करने को उद्यत हैं। तुरन्त उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३४ ।

किं वृणे यावदित्थं सा चिन्तयेच्चारुमध्यमा ।
तावत्तया निरैक्षिष्ट वराकी वर्करी पुरः ॥ ३५ ।
आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः ।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥ ३६ ।
अनया मत्तपोवृत्तिसाक्षिण्या बह्वनेहसम् ।
असेव्यहं तदेतस्यै वरयामि जगत्पतिम् ॥ ३७ ।
परामृश्य मनस्येतत् प्राह त्र्यक्षं सुलक्षणा ।
कृपानिधे महादेव यदि देयो वरो मम ॥ ३८ ।
अजशावी वराक्येषा तर्हि प्रागनुगृह्यताम् ।
वक्तुं पशुत्वान्नो वेत्ति किञ्चिन्मद्भक्तिपेशला ॥ ३९ ।
इति वाचं निशम्येशः परोपकृतिशालिनीम् ।
सुलक्षणाया[1] नितरां तुतोष प्रणतार्तिहा ॥ ४० ।

निरैक्षिष्ट दृष्टा । वराकी तुच्छा । वर्करी च्छागी ॥ ३५ ।

बह्वनेहसं बहुकालम् । असेवि सेविता । अहं सुलक्षणा । तत् तस्मात् । एतस्यै एतदर्थम् ॥ ३७ ।

अजशावी च्छागसुता ॥ ३९ ।

फिर वह सुन्दरी कुमारी यह सोचने लगी कि "क्या वर माँगू" ? इसी समय उसकी दृष्टि आगे की ओर उस वराकी (बेचारी) बकरी पर जा पड़ी, (फिर उसने विचारा कि) इस संसार में ऐसा कौन मनुष्य है, जो अपने (प्रयोजन सिद्ध करने के) लिये जीवन नहीं धारण करता; परन्तु परोपकार के हेतु जो जीता है, उसी का जीवन सार्थक है ॥ ३५-३६ ।

इस बकरी ने मेरी तपस्या की साक्षिणी होकर बहुत समय तक मेरी सेवा की है, अतएव मुझे यही उचित है कि मैं जगत्पति से इसी को वरदान दिलवा दूँ ॥३७।

(बस) सुलक्षणा ने मन में यही स्थिर कर त्र्यम्बक ने कहा—'हे दयानिधे ! महादेव ! यदि आप मुझे वर देते हैं तो पहिले इस वराकी बकरी पर ही अनुग्रह कीजिये; क्योंकि यह मेरी भक्ति करने में बड़ी चतुर है। पर क्या करे, पशु होने के कारण (अपना मनोरथ) कुछ भी नहीं कह सकती ॥ ३८-३९ ।

भक्तभयभंजन भगवान् भूतभावन, सुलक्षणा की इस निःस्वार्थ और परोपकार से पूर्ण वाणी को श्रवण कर परम सन्तुष्ट हुए ॥ ४० ।

---

१. उपरि इति शेषः ।

देवदेवस्ततः प्राह देवि पश्य गिरीन्द्रजे ।
साधूनामीदृशी बुद्धिः परोपकरणोर्जिता ॥ ४१ ।
ते धन्याः सर्वलोकेषु सर्वधर्माश्रयाश्च ते ।
यतन्ते सर्वभावेन परोपकरणाय ये ॥ ४२ ।
सञ्चयाः सर्ववस्तूनां चिरं तिष्ठन्ति नो क्वचित् ।
सुचिरं तिष्ठते चैकं परोपकरणं प्रिये ॥ ४३ ।
धन्या सुलक्षणा चैषा योग्याऽनुग्रहकर्मणि ।
ब्रूहि देवि वरो देयः कोऽस्यै च्छाग्यै च कः प्रिये ॥ ४४ ।

श्रीदेव्युवाच—

सर्वसृष्टिकृतां कर्तः सर्वज्ञ प्रणतार्तिहन् ।
सुलक्षणा शुभाचारा सखी मेऽस्तु शुभोद्यमा ॥ ४५ ।
यथा जया च विजया यथा चैव जयन्तिका ।
शुभा नन्दा सुनन्दा च कौमुदी च यथोर्मिला ॥ ४६ ।

अनुग्रहकर्मणि अनुकूलकार्ये योग्या । अस्यै सुलक्षणायै ॥ ४४ ।
शुभायोद्यमो यस्याः सा शुभोद्यमा ॥ ४५ ।
जयति सर्वोत्कर्षेण तिष्ठतीति जया । विशेषेण जयति विजया । अन्यासामपि यथायथ नामनिर्वचनं ज्ञेयम् ॥ ४६ ।

तदनन्तर शंकर ने पार्वती से कहा, 'हे देवि ! गिरिजे ! देखो, साधु लोगों की बुद्धि ऐसी हो परोपकार से भरी रहती है ॥ ४१ ।

समस्त लोकों में वे ही लोग धन्य हैं और वे ही अशेष धर्मों के अवलम्बन स्वरूप हैं, जो सब प्रकार से परोपकार के लिये ही प्रयत्न करते हैं ।"

दोहा—"धन्य वही सब लोक में, सब धर्मन की खानि ।
करैं यत्न सब भाव ते, पर उपकारहि मानि ॥ ४२ ।

'हे प्रिये ! समस्त वस्तुवों के संचय कहीं भी चिरस्थायी नहीं होते; परन्तु केवल यह परोपकार (स्वरूप महत्पुण्य) ही बहुत दिनों तक बना रहता है ॥ ४३ ।

हे देवि ! यह सुलक्षणा तो परमधन्य और अत्यन्त अनुग्रह करने के योग्य है । हे प्रिये ! अब तुम ही कहो कि इसे और इस बकरी को कौन-सा वर देना चाहिए ॥ ४४ ।

पार्वती ने कहा—

हे समस्त सृष्टिकर्ताओं के विधाता ! सर्वज्ञाता ! भक्तार्तिहारी नाथ ! यह शुभोद्यमा सुलक्षणा तो शुभाचारवती होने के कारण वैसी मेरी सखी होवे, जैसी जया,

यथा चम्पकमाला च यथा मलयवासिनी ।
कर्पूरलतिका यद्वद्गन्धधारा यथा शुभा ॥ ४७ ।
अशोका च विशोका च यथा मलयगन्धिनी ।
यथा चन्दननिःश्वासा यथा मृगमदोत्तमा ॥ ४८ ।
यथा च कोकिलालापा यथा मधुरभाषिणी ।
गद्यपद्यनिधिर्यद्वदनुक्तज्ञा यथा च सा ॥ ४९ ।
दृगञ्चलेङ्गितज्ञा च यथा कृतमनोरथा ।
गानचित्तहरा यद्वत्तथाऽस्त्वेषा सुलक्षणा ॥ ५० ।
अतिप्रिया पवित्री मे यदबालब्रह्मचारिणी ।
अनेनैव शरीरेण दिव्यावयवभूषणा ॥ ५१ ।
दिव्याम्बरा दिव्यगन्धा दिव्यज्ञानसमन्विता ।
समया मां सदैवास्तां चञ्चच्चामरधारिणी ॥ ५२ ।
एषाऽपि काशिराजस्य कुमार्यस्त्विह वर्करी ।
अत्रैव भोगान् सम्प्राप्य मुक्तिं प्राप्स्यत्यनुत्तमाम् ॥ ५३ ।

समया मां मत्समीपे । चञ्चच्चामरधारिणी स्फुरद्वालव्यजनहस्ता ॥ ५२ ।

एषाऽपि वर्करीति सम्बन्धः । इह काश्याम् । अत्रैव काश्यामेवेतिशब्देनेश्वरीच्छया भगवत ईश्वरस्य वरदानाच्च काश्यां मृताया अपि वर्कर्याः देहसम्बन्ध इति द्योत्यते । न ह्यघटितघटनापटीयस्यास्तस्याः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य तस्य च न किमप्यशक्यमिति भावः । केनचिन्निमित्तेन क्षेत्राद्बहिर्निःसृत्य मृता सत्यत्रोत्पन्नेति वा ज्ञेयम् ॥ ५३ ।

विजया, जयन्ती, शुभानन्दा, सुनन्दा, कौमुदी, उर्मिला, चम्पकमाला, मलयवासिनी, कर्पूरलतिका, गन्धधारा, शुभा, अशोका, विशोका, मलयगन्धिनी, चन्दननिःश्वासा, मृगमदोत्तमा, कोकिलालापा, मधुरभाषिणी, गद्यपद्यनिधि, अनुक्तज्ञा, दृगंचलेंगितज्ञा, कृतमनोरथा और गानमनोहरा प्रभृति सखियाँ हैं। वैसी ही यह सुलक्षणा भी होवे ॥ ४५-५० ।

एवं यह बालब्रह्मचारिणी होने से मेरी बड़ी ही प्यारी होवेगी और यह इसी (पवित्र) शरीर से दिव्यांगा, दिव्यभूषणा, दिव्यवस्त्रा, दिव्यगन्धा और दिव्यज्ञान से परिपूर्णा होकर सदैव मेरे पास में ही चञ्चल-चामर धारण किये रहा करे ॥ ५१-५२ ।

और यह बकरी भी काशिराज की बेटी हो, इस लोक के समस्त भोगों को प्राप्त कर यहाँ पर ही उत्तम मुक्ति को पावेगी ॥ ५३ ।

अनया त्वर्ककुण्डेऽस्मिन् पुष्ये मासि रवेर्दिने।
स्नातं त्वनुदिते सूर्ये शीतादक्षुब्धचित्तया ॥ ५४ ॥
राजपुत्री ततः पुण्यादस्त्वेषा शुभलोचना।
वरदानप्रभावेण तव विश्वेश्वर प्रभो ॥ ५५ ॥
वर्करीकुण्डमित्याख्या त्वर्ककुण्डस्य जायताम्।
एतस्याः प्रतिमा पूज्या भविष्यत्यत्र मानवैः ॥ ५६ ॥
उत्तरार्कस्य देवस्य पुष्ये मासि रवेर्दिने।
कार्या सांवत्सरी यात्रा नतैः काशीफलेप्सुभिः ॥ ५७ ॥
मृडान्याभिहितं सर्वं कृत्वैतद् विश्वगो विभुः।
विश्वनाथो विवेशाऽथ प्रासादं स्वमतर्कितः ॥ ५८ ॥

स्कन्द उवाच—

लोलार्कस्य च माहात्म्यमुत्तरार्कस्य च द्विज।
कथितं ते महाभाग साम्बादित्यं निशामय ॥ ५९ ॥

अक्षुब्धचित्तया स्थिरान्तःकरणया ॥ ५४ ।

वर्करीकुण्डमिति। तुशब्देन कुण्डान्तरादस्य कुण्डस्याधिक्यं द्योत्यते। एतस्या वर्कर्याः ॥ ५६ ।

नतैर्नम्रैर्भक्तैरिति यावत्। नरैरिति वा पाठः ॥ ५७ ।

हे देव ! इस बकरी ने पौष मास के रविवार को अत्यन्त शीत पड़ते रहने पर भी स्थिरचित्त से सूर्योदय के पूर्व ही इस अर्ककुण्ड में स्नान किया है ॥ ५४ ।

हे विश्वेश्वर ! प्रभो ! आपके वरदान-प्रभाव से तथा उस स्नान के पुण्यबल से यह सुलोचना बकरी काशीराज की प्यारी (दुलरुई) बेटी होवे ॥ ५५ ।

और इस अर्ककुण्ड का नाम आज से "वर्करीकुण्ड" प्रसिद्ध होवे एवं सब लोग इस बकरी की मूर्ति की यहाँ पर पूजा करें ॥ ५६ ।

काशीफलाभिलाषी भक्तजन पौषमास के रविवार को इस कुण्ड पर उत्तरार्कदेव की वार्षिक यात्रा किया करें ॥ ५७ ।

इस प्रकार से भगवती पार्वती देवी के समस्त कथन को पूर्ण कर सर्वव्यापक भगवान् विश्वनाथ अपने प्रासाद में चले गये ॥ ५८ ।

स्कन्द बोले—

'हे महाभाग अगस्त्य ! यह तो मैंने लोलार्क और उत्तरार्क का माहात्म्य तुमसे कहा, अब साम्बादित्य का वर्णन करता हूँ, श्रवण करो ॥ ५९ ।

श्रुत्वैतत्पुण्यमाख्यानं शुभं लोलोत्तरार्कयोः ।
व्याधिभिर्नाभिभूयेत न दारिद्र्येण बाध्यते ॥ ६० ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे उत्तरार्कवर्णनं नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

श्रुत्वेति । एतदध्यायद्वयेनोक्तम् । लोलार्कस्याऽत्र कथनं श्रवणफलख्यापनाय॥६०॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

जो कोई इन लोलार्क और उत्तरार्क को पवित्र कथाओं को श्रवण करेगा, उसे व्याधिभय अथवा दरिद्रता की बाधा कभी न होवेगी ॥ ६० ॥

दोहा—"यहीं बकरियाकुण्ड पै, अन्त्यज तुरुक उछाह ।
होत जेठ रविवार को, (गाजीमीयाँ) व्याह"[1] ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां उत्तरार्कवर्णनं नाम
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

●

---

१. ज्येष्ठ मास के रविवार के दिन बकरियाकुण्ड के पास 'गाजीमियाँ के व्याह' का बड़ा भारी मेला होता है ।

अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

शृणुष्व मैत्रावरुणे द्वारवत्यां यदूद्वहः।
दानवानां वधार्थाय भुवो भारापनुत्तये ॥ १ ।
आविरासीत्स्वयं कृष्णः कृष्णवर्त्म प्रतापवान् ।
वासुदेवो जगद्धाम देवक्यां वसुदेवतः ॥ २ ।
साऽशीतिलक्षं तस्यासन् कुमारा अर्कवर्चसः ।
स्वर्गेऽपि तादृशा बालाः सुशीला न हि कुम्भज ॥ ३ ।
अतीवरूपसम्पन्ना अतीवसुमहाबलाः ।
अतीवशस्त्रशास्त्रज्ञा अतीवशुभलक्षणाः ॥ ४ ।

अष्टाऽधिकेऽस्य चत्वारिंशकेऽध्याये मनोरमे ।
साम्बादित्यस्य महिमा वर्ण्यतेऽति स्फुटः शुभः ॥ १ ।

साम्बादित्योत्पत्तिं वक्तुं श्रोतॄनभिमुखीकुर्वन्नुपोद्घातं रचयति । शृणुष्वेति । आत्मनेपदमार्षम् । श्लोकचतुष्टयं वाक्यम् । द्वारवत्यां स्वयं कृष्णः सदानन्दरूपो देवक्यां वसुदेवतः सकाशाद् वासुदेवनामा जगद्धाम जगतामाश्रय आविरासीत्तस्या साशीतिलक्षं अशीत्या सह लक्षं साशीतिलक्षं कुमारा आसन्नित्यन्वयः । एकषष्टिसहस्रं चान्यद् बोद्धव्यम् । किमर्थमाविरासीत्तदाह । दानवानामिति ॥ १ ।

कुमारान् विशिनष्टि । स्वर्गेऽपीति सार्धेन ॥ ३ ।

(साम्बादित्य की कथा)

स्कन्द कहने लगे—

हे मैत्रावरुणे ! श्रवण करो । द्वारकापुरी में यदुवंशप्रदीप, अग्निसमप्रतापवान् भगवान् कृष्ण दानवों का बध कर पृथिवी के भार उतारने के लिये देवकी के गर्भ में वसुदेव के पुत्र जगद्धाम वासुदेवरूप से स्वयं अवतार लेकर रहते थे ॥ १-२ ।

हे कुम्भज ! स्वर्गवासियों की अपेक्षा अधिक सुशील और अतिमनोहररूप, सौन्दर्य सम्पन्न, अतिशय महाबली, समस्त शास्त्रों में अत्यन्त निपुण, परमशुभ-लक्षण, अस्सी लाख उनके (सुकुमार) कुमार उत्पन्न हुए थे ॥ ३-४ ।

एक बार ब्रह्मा के मानस पुत्र, तपोविधि, वल्कल का कौपीन पहिने, काले मृगचर्म को लपेटे, ब्रह्मदण्ड को धारण किये, तेहरी मूँज की मेखला से युक्त, उरःस्थल पर तुलसी की माला से विभूषित, गोपीचन्दन को समस्त अंगों में लेपन किये,

तां द्रष्टुं मानसः पुत्रो ब्रह्मणस्तपसां निधिः ।
कृतवल्कलकौपीनो धृतकृष्णाजिनाम्बरः ॥ ५ ॥
गृहीतब्रह्मदण्डश्च त्रिवृन्मौञ्जी सुमेखलः ।
उरस्थलस्थतुलसीमालया समलङ्कृतः ॥ ६ ॥
गोपीचन्दननिर्यासलसदङ्गविलेपनः ।
तपसा कृशसर्वाङ्गो मूर्तोज्वलनवज्ज्वलन् ॥ ७ ॥
आजगामाऽम्बरचरो नारदो द्वारकां पुरीम् ।
विश्वकर्मविनिर्माणां जितस्वर्गपुरीश्रियम् ॥ ८ ॥
तं दृष्ट्वा नारदं सर्वे विनम्रतरकन्धराः ।
प्रबद्धमूर्धाञ्जलयः प्रणेमुर्वृष्णिनन्दनाः ॥ ९ ॥
साम्बः स्वरूपसौन्दर्यगर्वसर्वस्वमोहितः ।
न ननाम मुनिं तत्र हसंस्तद्रूपसम्पदम् ॥ १० ॥

यस्यां द्वारकायाम् आविरासीत्तां द्वारकां द्रष्टुं नारद आजगामेति चतुर्थेनाऽन्वयः। तानिति पाठे तान् बालकान् द्रष्टुमित्यर्थः। नारदं विशिनष्टि। मानसः पुत्रो ब्रह्मण इत्यादिना। तपसां निधिराश्रयः। कृतं वल्कलेन कौपीनं येन सः। कृतं कृष्णाजिनमेवाऽम्बरं येन सः ॥ ५ ॥

गृहीतो ब्रह्मदण्डो ब्रह्मचारियोग्यो दण्डो येन सः। त्रिवृत् त्रिगुणिता मौञ्जी मुञ्जनिर्मिता मेखला यस्य सः। उरःस्थले उरःस्थलेन वा लसन्ती या तुलसीमाला तया समलङ्कृतः। उरस्थलस्थेति क्वचित्पाठः। लसज्जलस्थेति पाठे लसन्ती या जलस्थाऽऽर्द्रा तुलसीमाला तयेत्यर्थः ॥ ६ ॥

गोपीचन्दननिर्यासेन रसेन गोपीचन्दननिर्यास एवासदङ्गविलेपनं यस्य सः। मूर्तश्चासावुत्कृष्टो ज्वलनश्चेति मूर्तोज्ज्वलनस्तद्वत्। मूर्तो ज्वलनवदिति पाठे तद्धितार्थोपसर्जनस्यापि ज्वलनस्य मूर्त इति विशेषणं च्छान्दसम् ॥ ७ ॥

तपश्चर्या से परम कृश शरीर, मूर्तिमान् अग्निसमान जाज्वल्यमान भगवान् नारद ऋषि आकाशमार्ग से विश्वकर्मा की (शिल्पनिपुणता से) निर्मित और स्वर्गपुरी की शोभा को जीतने वाली उस द्वारकापुरी में उन सब कुमारों को देखने के लिये आये ॥ ५-८ ॥

समस्त यादवनन्दनों ने देवर्षि नारद को देखते ही बड़े विनय के साथ झुक कर मस्तक पर अंजलि बांध प्रणाम किया ॥ ९ ॥

उन सबों में अपने रूप-सौन्दर्य के अभिमान से मोहित होकर एक साम्ब ने ही नारद के रूप-सम्पत्ति का उपहास करके प्रणाम नहीं किया ॥ १० ॥

साम्बस्य तमभिप्रायं विज्ञाय स महामुनिः ।
विवेश सुमहारम्यं नारदः कृष्णमन्दिरम् ॥ ११ ॥
कृष्णोऽथ दृष्ट्वाऽऽगच्छन्तं प्रत्युद्गम्य च नारदम् ।
मधुपर्केण सम्पूज्य स्वासने चोपवेशयत् ॥ १२ ॥
कृत्वा कथा विचित्रार्थास्तत एकान्तवर्तिनः ।
कृष्णस्य कर्णेऽकथयन्नारदः साम्बचेष्टितम् ॥ १३ ॥
अवश्यं किञ्चिदत्राऽस्ति यशोदानन्दवर्धन ।
प्रायशस्तन्न घटतेऽसम्भाव्यं नाऽथवा स्त्रियाम् ॥ १४ ॥
यूनां त्रिभुवनस्थानां साम्बोऽतीव सुरूपवान् ।
स्वभावचञ्चलाक्षीणां चेतोवृत्तिः सुचञ्चला ॥ १५ ॥

उपवेशयत् उपावेशयत् । अडभाव आर्षः ॥ १२ ।

अवश्यमिति । हे यशोदानन्दवर्धन ! अत्राऽन्तःपुरे किञ्चिदस्ति; किन्तु प्रायशः तन्न घटते । अथवा स्त्रियामसम्भाव्यं नाऽपि तु सर्वं सम्भाव्यमित्यर्थः ॥ १४ ।

किञ्चिच्छन्दोक्तमेव दर्शयति । यूनामिति द्वयेन । इवैवार्थे । शोभनरूपवानेवेत्यर्थः । सरूपवानिति पाठे स साम्बः ॥ १५ ।

मुनिराज नारद ने भी साम्ब के उस अभिप्राय को समझ कर (धीरभाव से) कृष्ण के परमरम्य मन्दिर में गमन किया ॥ ११ ।

भगवान् कृष्ण ने नारद को आते हुए देख अगवानी करके मधुपर्क-पूजाविधान के अनन्तर अपने सिंहासन पर बैठाया ॥ १२ ।

उनके साथ अनेक प्रकार के विचित्र वार्तालाप होने पर जब नारद ने देखा कि इस समय भगवान् के समीप और कोई भी नहीं है, तब (धीरे से) उनके कान में (इस भाँति) साम्ब की चेष्टा को कह सुनाया ॥ १३ ।

नारद ने कहा—

'हे यशोदा के आनन्दवर्धक ! यद्यपि इस बात की कोई सम्भावना नहीं है; परन्तु साम्ब का चरित्र और रूप-सौन्दर्य देखने से यही प्रतीत होता है कि यहाँ पर इन स्त्रियों की धर्मरक्षा होनी बड़ी ही कठिन है; क्योंकि स्त्रियाँ क्या नहीं कर डालती हैं ? "का नहिं अबला करि सकैं, का नहिं सिन्धु समाय" ॥ १४ ।

(इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि) साम्ब त्रैलोक्य के समस्त युवकों में सर्वापेक्षा अत्यन्त सुन्दर रूपवान् है और इन स्वभावतः चञ्चल-नयनियों की मनोवृत्ति भी बहुत ही चंचल होती है ॥ १५ ।

अपेक्षन्ते न मुग्धाक्ष्यः कुलं शीलं श्रुतं धनम् ।
रूपमेव समीक्षन्ते विषमेषु विमोहिताः ॥ १६ ॥
अथवा विदितं नो ते बल्लवीनां विचेष्टितम् ।
विनाष्टौ नायिकाः कृष्ण कामयन्तेऽबला ह्यमुम् ॥ १७ ॥
वामभ्रुवां स्वभावाच्च नारदस्य च वाक्यतः ।
विज्ञाताऽखिलवृत्तान्तस्तथ्यं कृष्णोऽप्यमन्यत ॥ १८ ॥
तावद्धैर्यं चलाक्षीणां तावच्चेतोविवेकिता ।
यावन्नार्थी विविक्तस्थो विविक्तेऽर्थिनि नान्यथा ॥ १९ ॥

विषमेषुः कामस्तेन मोहिताः ॥ १६ ॥

एवं सामान्येनोक्तं विशेषतोऽभिनयेन दर्शयति । बल्लव्योऽत्र नार्यः । अत एव गोपालस्तवराजे बल्लवीनन्दनमित्यत्र वल्लभामित्यपि केचन पठन्ति । अथवा गोपवेषधारित्वाद् बल्लवः श्रीकृष्णस्तत्पत्न्यो बल्लव्यस्तासां तव भार्याणामित्यर्थः । अष्टौ रुक्मिणी सत्यानाग्नजिती सुनन्दा मित्रविन्दा सुदक्षिणा जाम्बवती सुशीला नायिकाः पट्टमहिषीः । अमुं साम्बम् ॥ १७ ॥

वामभ्रुवामिति स्कन्दवाक्यम् ॥ १८ ॥

तावदिति श्लोकत्रयं वाक्यम् । विजनस्थो यावदर्थी प्रार्थको न भवेत्तावदेव धैर्यं चेतो विवेकिता च । विविक्तेऽर्थिनि सति तद्द्वयं न; किन्त्वन्यथा अधैर्यमविवेकित्वं चेत्यर्थः ॥ १९ ॥

ये सब सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियाँ कुल, शील, विद्या और धन को तनिक भी अपेक्षा (परवाह) नहीं करतीं, काम से मोहित होकर केवल रूप ही चाहती हैं ॥ १६ ॥

(बहुत क्या कहें) क्या आपको गोपियों की चेष्टा ज्ञात नहीं है ? हे कृष्ण ! आपकी आठों पटरानियों को छोड़कर सभी स्त्रियाँ इस (साम्ब) के रूप पर मोहित रहती हैं ॥ १७ ॥

इस प्रकार से नारद के कथन और कामिनियों के चंचल स्वभाव होने से समस्त वृत्तान्तों के परमविज्ञ होने पर भी कृष्ण ने (इस बात को) सत्य ही मान लिया ॥ १८ ॥

जब तक अपने प्रेमाभिलाषी पुरुष के साथ एकान्तस्थान में मिलन नहीं होता, तभी तक चंचलाक्षीगण के (मन में) धैर्य और विवेक की बुद्धि रहती है; परन्तु निर्जन में प्रार्थी के मिल जाने पर दूसरा कुछ नहीं हो सकता है ॥ १९ ॥

इत्थं विवेचयंश्चित्ते कृष्णः क्रोधनदीरयम् ।
विवेकसेतुनाऽऽस्तभ्य नारदं प्राहिणोत् सुधीः ॥ २० ।
साम्बस्य वैकृतं किञ्चित्क्वचित्कृष्णो न वैक्षत ।
गते देवमुनौ तस्मिन् वीक्षमाणोऽप्यहर्निशम् ॥ २१ ।
कियत्यपि गते काले पुनरप्यागयौ मुनिः ।
मध्ये लीलावतीनां च ज्ञात्वा कृष्णमवस्थितम् । २२ ।
बहिः क्रीडन्तमाहूय साम्बमित्याह नारदः ।
याहि कृष्णान्तिकं तूर्णं कथयाऽऽगमनं मम ॥ २३ ।
साम्बोऽपि यामि नो यामि क्षणमित्यथचिन्तयत् ।
कथं रहःस्थं पितरं यामि स्त्रैणसखं प्रति ॥ २४ ।
न यामि च कथं वाक्यादस्याहं ब्रह्मचारिणः ।
ज्वलदङ्गारसङ्काशस्फुरत्सर्वाङ्गतेजसः ॥ २५ ।

विवेचयन् चिन्तयन् । क्रोध एव नदी तस्या रयं वेगं विवेक एव सेतुबन्धस्तेनाऽऽस्तभ्य निवार्य ॥ २० ।

चिन्तामेवाह । कथमिति सार्धैश्चतुर्भिः । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणं स एव सखा यस्य तम् ॥ २४ ।

भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार से विवेचना कर विवेकरूप सेतु से क्रोधरूपा नदी के प्रबल वेग को रोक नारद ऋषि का विसर्जन (बिदा) किया ॥ २० ।

उस देवर्षि के चले जाने पर कृष्ण, रात्रिदिन अनुसन्धान लगाते रहने पर भी कहीं पर साम्ब का कोई भी दोष नहीं देख सके ॥ २१ ।

कुछ दिन बीत जाने पर फिर नारद मुनि द्वारका में आये और उस वेला कृष्ण को स्त्रियों के मध्य में क्रीड़ासक्त जानकर बाहर खेलते हुए साम्ब को बुलाकर यह कहने लगे कि—"अभी कृष्ण के पास जाओ और मेरा आगमन उनसे कह दो" ॥ २२-२३ ।

(यह सुनकर) साम्ब भी क्षणमात्र 'जाऊँ कि न जाऊँ' यह सोचने लगे—स्त्रियों को संग में लेकर एकान्त में विराजमान पिता के पास कैसे जाऊँ ॥ २४ ।

और इस जलते हुए अंगार के समान जाज्वल्यमान सर्वांग तेजःशाली, परम ब्रह्मचारी के कथनानुसार कैसे न जाऊँ ? ॥ २५ ।

प्रणमत्सु कुमारेषु व्रीडितोऽयं मयैकदा ।
इदानीमपि न यायामस्य वाक्यान्महामुनेः ॥ २६ ।
अत्याहितं तदस्तीह तदा गोद्वयदर्शनात् ।
पितुः कोपोऽपि सुश्लाघ्यो मयि नो ब्राह्मणस्य तु ॥ २७ ।
ब्रह्मकोपाग्निनिर्दग्धाः प्ररोहन्ति न जातुचित् ।
अपराग्निविनिर्दग्धा रोहन्ते दावदग्धवत् ॥ २८ ।
इति ध्यात्वा क्षणं साम्बोऽविशदन्तःपुरं पितुः ।
मध्ये स्त्रैणसभं कृष्णं यावज्जाम्बवतीसुतः ॥ २९ ।
दूरात्प्रणम्य विज्ञप्तिं स चकार सशङ्कितः ।
तावत्तमन्वगच्छच्च नारदः कार्यसिद्धये ॥ ३० ।

व्रीडित उपहसितः ॥ २६ ।

अत्याहितं महाभीतिस्तच्च तदा गोद्वयं चापराधद्वयं तद्दर्शनात् ॥ २७ ।

दावदग्धवद् वनाग्निदग्ध इव ॥ २८ ।

इतीति । इति क्षणं ध्यात्वा स साम्बः पितुरन्तःपुरमविशत् । ततो मध्ये स्त्रैणसभं स्त्रैणसभामध्ये कृष्णं यावद् विज्ञप्तिं चकार, तावन्नारदस्तं साम्बमन्वगच्छदिति द्वयोरन्वयः । स्त्रैणसखमिति क्वचित् ॥ २९ ।

सशङ्कितः शङ्कया युक्तः । कार्यसिद्धये साम्बस्य शापदानाय ॥ ३० ।

(क्योंकि) पहले ही एक बार जब यह आये थे और समस्त यादवकुमारों ने प्रणाम किया था, तो मैंने (इनको प्रणाम न करके बहुत) लजवाया था और इस अवसर पर भी यदि मैं इन महामुनि के कहने से न जाऊँगा, तो इन दोनों अपराधों के देखने से यह मेरा बड़ा भारी अनिष्ट कर देंगे। (इस समय पिता के पास जाने से उनके क्रोध करने की विशेष आशंका है; परन्तु) पिता का क्रोध भी श्लाघनीय है; किन्तु मुझ पर ब्राह्मण का कोप करना कभी अच्छा नहीं है ॥ २६-२७ ।

क्योंकि जो लोग ब्राह्मण के क्रोधानल से निर्दग्ध हो जाते हैं, वे फिर कभी अंकुरित नहीं हो सकते; परन्तु दूसरे अग्नि से जले हुए कभी-कभी दावानल के दग्ध-वन के ऐसे अंकुर फेंकते भी हैं—

"इन्द्र कुलिश मम शूल विशाला । ब्रह्म दण्ड हरिचक्र कराला ॥
इनकर मारा जो नहिं मरई । विप्र कोप पावक सो जरई" ॥ (तु.रा.)॥२८।

इस भाँति सोच-विचार करते हुए साम्ब ने अन्तःपुर में पिता के पास गमन किया और ज्यों ही जाम्बवतीनन्दन स्त्रियों की सभा के मध्य में विराजमान कृष्ण भगवान् को दूर से ही प्रणाम कर शंकितचित्त हो (देवर्षि का आगमन) जनाने लगे, त्यों ही नारद भी अपना कार्य सिद्ध करने के लिये पीछे लगे हुए वहाँ पर पहुँच गये ॥ २९-३० ।

ससम्भ्रमोऽथ कृष्णोऽपि दृष्ट्वा साम्बं च नारदम् ।
समुत्तस्थौ परिदधत्पीतकौशेयमम्बरम् ॥ ३१ ।
उत्थिते देवकीसूनौ ताः सर्वा अपि गोपिकाः ।
विलज्जिताः समुत्तस्थुर्गृह्णन्त्यः स्वं स्वमम्बरम् ॥ ३२ ।
महार्हशयनीये तं हस्ते धृत्वा महामुनिम् ।
समुपावेशयत्कृष्णः साम्बश्च क्रीडितुं ययौ ॥ ३३ ।
तासां स्खलितमालोक्य तिष्ठन्तीनां पुरो मुनिः ।
कृष्णलीलाद्रवीभूतवराङ्गानां जगौ हरिम् ॥ ३४ ।
पश्य पश्य महाबुद्धे दृष्ट्वा जाम्बवतीसुतम् ।
इमाः स्खलितमापन्नास्तद्रूपक्षुब्धचेतसः ॥ ३५ ।

गोपिका इति । गा इन्द्रियाणि पान्तीति गोपाः देवास्तदीया भोग्याः स्त्रियो गोपिकाः । अष्टावक्रस्य वरदानेन रुक्मिण्याद्यष्टमहिषीव्यतिरिक्तषोडशसहस्रैकशताप्सरसां भार्यात्वात् । प्रसिद्धं चैतद् विष्णुपुराणादिषु । द्वारकायां गोपस्त्रीणां कृष्णसङ्गत्यभावाच्च गोपिकाशब्दस्य यथोक्त एवार्थः ॥ ३२ ।

तासामिति । तासां स्खलितं वीर्यच्युतिमालोक्य नारदः कृष्णं जगावित्यन्वयः । तासां स्खलने हेतुगर्भं विशेषणमाह । कृष्णलीलेति । कृष्णेन सह लीलया क्रीडया द्रवीभूतानि आर्द्राणि जातानि वराङ्गानि योनयो यासां तासाम् ॥ ३४ ।

किमुक्तवांस्तदाह—पश्य पश्येति ॥ ३५ ।

कृष्ण भी साम्ब और नारद को (आते हुए) देखकर घबराहट के साथ अपने पीताम्बर को पहनते हुए उठकर खड़े हो गये ॥ ३१ ।

देवकीनन्दन के उठकर खड़े हो जाने पर वे सब नायिकाएं भी अत्यन्त लज्जित होकर अपना-अपना कपड़ा लेती (पहनतीं) हुईं उठ खड़ी हुईं ॥ ३२ ।

अनन्तर कृष्ण ने (आदर के साथ) उन महामुनि का हाथ पकड़ कर (अपने) बहुमूल्य शय्या पर बैठाया । (यह देखकर) साम्ब भी अपने क्रीड़ास्थान पर चले गये ॥ ३३ ।

इसी में नारद मुनि के आगे ही उठती हुई उन सब स्त्रियों के कृष्ण की लीला से द्रवीभूत योनियों के स्खलितरूप उस भाव को देखकर कृष्ण से कहने लगे ॥ ३४ ।

'हे महामते ! देखिये देखिये, ये सब स्त्रियाँ जाम्बवतीनन्दन को देखते ही उनके रूप से क्षुब्धहृदया होकर स्खलितभाव को प्राप्त हो गई हैं ॥ ३५ ।

कृष्णोऽपि साम्बमाहूय सहसैवाऽशपत्सुतम् ।
सर्वा जाम्बवतीतुल्याः पश्यन्तमपि दुर्विधेः ॥ ३६ ।
यस्मात्त्वद्रूपमालोक्य गोपाल्यः स्खलिता इमाः ।
तस्मात्कुष्ठी भव क्षिप्रमकाण्डाऽऽगमनेन च ॥ ३७ ।
वेपमानो महाव्याधिभयात्साम्बोऽपि दारुणात् ।
कृष्णं प्रसादयामास बहुशः पापशान्तये ॥ ३८ ।
कृष्णोऽप्यनेन संजानन् साम्बं स्वसुतमौरसम् ।
अब्रवीत्कुष्ठमोक्षाय व्रज वैश्वेश्वरीं पुरीम् ॥ ३९ ।
तत्र ब्रध्नं समाराध्य प्रकृतिं स्वामवाप्स्यसि ।
महैनसां क्षयोऽन्यत्र नास्ति वाराणसीं विना ॥ ४० ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षाद्यत्र स्वर्गापगा च सा ।
येषां महैनसां दृष्टा मुनिभिर्नैव निष्कृतिः ।
तेषां विशुद्धिरस्त्येव प्राप्य वाराणसीं पुरीम् ॥ ४१ ।

दुर्विधेः दुरदृष्टाद्धेतोः ॥ ३६ ।

गोपाल्य इत्यस्य पूर्ववदेवाऽर्थः । यद्वा, गोपालरूपस्य भगवतः पत्न्य इति तु बल्लवीनामित्यत्रैव व्याख्यातमिति । अकाण्डाऽऽगमनेन अनवसराऽऽगमनेन । चः समुच्चये ॥ ३७ ।

कृष्ण ने भी अपने पुत्र साम्ब को बुलाकर, अदृष्टवश तुरत शाप दे दिया—परन्तु साम्ब इस विषय में वस्तुतः निर्दोष थे; क्योंकि वह उन सब स्त्रियों को जाम्बवती के समान ही देखते थे ॥ ३६ ।

(कृष्ण ने साम्ब को यह शाप दिया) तुम्हारा रूप देखकर ये सब स्त्रियाँ विचलित भाव को प्राप्त हो गईं और तुम विना अवसर के चले आये । अतएव अभी कुष्ठी हो जावो ॥ ३७ ।

साम्ब भी इस भयंकर महाव्याधि के भय से काँपते हुए अपने अपराध की शान्ति के निमित्त कृष्ण की बारम्बार स्तुति करने लगे ॥ ३८ ।

कृष्ण ने भी अपने औरस पुत्र साम्ब को कर्मद्वारा निरपराध जानकर कहा कि, तुम कुष्ठ छोड़ाने के लिये विश्वनाथ की नगरी में चले जाओ ॥ ३९ ।

(क्योंकि) बड़े-बड़े पापों का नाश वाराणसीपुरी को छोड़कर दूसरे किसी स्थान पर हो ही नहीं सकता । अतएव वहाँ जाकर भगवान् सूर्यनारायण की सम्यक् प्रकार आराधना करने से अपने प्रकृतरूप का लाभ करोगे ॥ ४० ।

जिन-जिन महापापों से उद्धार होने के उपाय मुनियों को भी नहीं सुझाई पड़े, उन सब की विशुद्धि भी जहाँ पर साक्षात् भगवान् विश्वेश्वर एवं स्वर्गतरंगिणी गंगा विराजमान हैं, उसी वाराणसीपुरी में पहुँचते ही हो जाती है ॥ ४१ ।

न केवलं हि पापेभ्यो वाराणस्यां विमुच्यते।
प्राकृतेभ्योऽपि पापेभ्यो मुच्यते शङ्कराज्ञया ॥ ४२ ।
पुरापुरारिणा सृष्टमविमुक्तं विमुक्तये।
सर्वेषामेव जन्तूनां कृपयाऽन्ते तनुत्यजाम् ॥ ४३ ।
तत्रानन्दवने शम्भोस्तव शापनिराकृतिः।
साम्ब तत्त्वेरितं याहि नान्यथा शापनिर्वृतिः ॥ ४४ ।
ततः कृष्णं समापृच्छ्य कर्मनिर्मुक्तचेष्टितः।
नारदः कृतकृत्यः सन् ययावाकाशवर्त्मना ॥ ४५ ।
साम्बो वाराणसीं प्राप्य समाराध्यांऽशुमालिनम्।
कुण्डं तत्पृष्ठतः कृत्वा निजां प्रकृतिमाप्तवान् ॥ ४६ ।

प्राकृतेभ्यः प्रकृतिकार्येभ्यः ॥ ४२ ।

तत्त्वेरितं सत्यत्वेन कथितम्। त्वरितमिति क्वचित्। शापान्निमित्तान्निर्वृतिः सुखम्। शापनिष्कृतिरिति क्वचित् ॥ ४४ ।

तत इति। ततः कृष्णमनुज्ञाप्य नारदो व्योममार्गेण ययौ। कीदृशः? कृतं कृत्यं येन तथाविधः सन्नित्यर्थः। ननु परानिष्टकरणेन नारदस्य प्रत्यवायो भवेत्तत्राह। कर्मनिर्मुक्तचेष्टित इति। कर्मणा शुभाऽशुभाऽदृष्टेन निर्मुक्तानि चेष्टितानि यस्य सः। तस्य जीवन्मुक्तत्वादिति भावः ॥ ४५ ।

(कारण यह है कि) वाराणसी में केवल अपने किये हुए पापों से ही छुटकारा नहीं होता, वरन् महादेव की आज्ञा के बल से प्रकृतिजनित पापों से भी उद्धार हो जाता है ॥ ४२ ।

पूर्वकाल में भगवान् त्रिपुरारि ने अन्तावस्था में शरीरत्याग करने वाले समस्त जन्तुओं को मोक्ष पाने ही के लिए बड़ी कृपा करके उस अविमुक्त क्षेत्र की रचना की है ॥ ४३ ।

(अतएव) हे साम्ब! उसी महादेव के आनन्दवन में तुम्हारे पाप का निस्तार होगा—यह मैं सत्य कहता हूँ। तुम वहाँ चले जाओ। अन्यथा दूसरी रीति से तुम्हारे शाप का उद्धार नहीं हो सकता ॥ ४४ ।

इसके अनन्तर समस्त शुभाशुभ कर्मों की चेष्टाओं से रहित (जीवन्मुक्त) नारद-मुनि कृतकृत्य होकर कृष्ण से पूछकर आकाशमार्ग से चले गये ॥ ४५ ।

और साम्ब भी वाराणसीपुरी में प्राप्त हो वहाँ पर मन्दिर से पश्चिम ओर कुण्ड बनाकर सूर्यदेव की आराधना करने से फिर पूर्ववत् अपनी प्रकृति को प्राप्त हुए ॥ ४६ ।

साम्बादित्यस्तदारभ्य सर्वव्याधिहरो रविः ।
ददाति सर्वभक्तेभ्योऽनामयाः सर्वसम्पदः ।। ४७ ।
साम्बकुण्डे नरः स्नात्वा रविवारेऽरुणोदये ।
साम्बादित्यं च सम्पूज्य व्याधिभिर्नाऽभिभूयते ।। ४८ ।
न स्त्री वैधव्यमाप्नोति साम्बादित्यस्य सेवनात् ।
वन्ध्या पुत्रं प्रसूयेत [1]शुद्धरूपसमन्वितम् ।। ४९ ।
शुक्लायां द्विजसप्तम्यां माघे मासि रवेर्दिने ।
महापर्वसमाख्यातं रविपर्वसमं शुभम् ।। ५० ।
महारोगात्प्रमुच्येत तत्र स्नात्वाऽरुणोदये ।
साम्बादित्यं प्रपूज्याऽपि धर्ममक्षयमाप्नुयात् ।। ५१ ।
सन्निहत्यां कुरुक्षेत्रे यत्पुण्यं राहुदर्शने ।
तत्पुण्यं रविसप्तम्यां माघे काश्यां न संशयः ।। ५२ ।

सेवनात् पूजनात् । अयमेव वा पाठ। ।। ४९ ।

सूर्यपर्वसमं सूर्यग्रहणसमम् ।। ५० ।

तभी से काशी में सर्वव्याधिविनाशक, मूर्तिमान् सूर्य समस्त भक्तजनों को विपत्तिरहित समस्त सम्पत्तियाँ देते रहते हैं ।। ४७ ।

जो मनुष्य आदित्यवार के अरुणोदय काल में (भक्तिपूर्वक) साम्बकुण्ड में स्नान कर साम्बादित्य की पूजा करे, तो वह कदापि रोगों से पीड़ित नहीं होता ।। ४८ ।

उन साम्बादित्य के सेवन करने से स्त्री (कभी) विधवा नहीं होती एवं वन्ध्या (स्त्री) भी शुद्ध (सच्चरित्र) और रूपवान् पुत्र को उत्पन्न करती है ।। ४९ ।

हे द्विजवर ! (शास्त्र कहता है कि) माघ-मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी तिथि को रविवार होने से सूर्यग्रहण के समान शुभप्रद एक महापर्व का दिन हो जाता है ।। ५० ।

उस दिन अरुणोदय की वेला उस साम्बकुण्ड में स्नान कर साम्बादित्य का पूजन करने से अति उत्कट रोगों की शान्ति होती है एवं अनन्त पुण्यलाभ होता है ।। ५१ ।

सूर्यसूहण के समय पुण्यजलाशय कुरुक्षेत्र में स्नान करने से जो पुण्य होता है, माघ मास की सप्तमी तिथि को रविवार पड़ने से काशी के सूर्यकुण्ड में स्नान करने से भी वही पुण्य प्राप्त होता है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।। ५२ ।

---

१. श्रुतेति क्वचित्पाठः ।

मधौ मासि रवेर्वारे यात्रा सांवत्सरी भवेत् ।
अशोकैस्तत्र सम्पूज्य कुण्डे स्नात्वा विधानतः ॥ ५३ ।
साम्बादित्यं नरो जातु न शोकैरभिभूयते ।
संवत्सरकृतात्पापाद् बहिर्भवति तत्क्षणात् ॥ ५४ ।
विश्वेशात्पश्चिमाशायां साम्बेनाऽत्र महात्मना ।
सम्यगाराधिता मूर्तिरादित्यस्य शुभप्रदा ॥ ५५ ।
इयं भविष्या तन्मूर्तिरगस्ते त्वत्पुरोऽकथि ।
तामभ्यर्च्य नमस्कृत्य कृत्वाऽष्टौ च प्रदक्षिणाः ।
नरो भवति निष्पापः काशीवासफलं लभेत् ॥ ५६ ।
साम्बादित्यस्य माहात्म्यं कथितं ते महामते ।
यच्छ्रुत्वाऽपि नरो जातु यमलोकं न पश्यति ॥ ५७ ।

मधौ चैत्रे । माघे मासीति वा पाठः । अशोकैः अशोकपुष्पैः ॥ ५३ ।

अष्टौ प्रदक्षिणाश्च कृत्वा । प्रदक्षिणमिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ५६ ।

हे महामते बृहद्बुद्धे । महामुने इति क्वचित् ॥ ५७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ।

चैत्र मास के रविवार को साम्बादित्य की वार्षिक यात्रा होती है। उस दिन जो कोई विधानपूर्वक उस कुण्ड में स्नान करके अशोक के फूलों से पूजन करता है, वह मनुष्य कभी शोकसागर में नहीं पड़ता, और उसी क्षण वर्ष भर के किये हुए पापों से बाहर हो जाता है ॥ ५३-५४ ।

काशीधाम में विश्वेश्वर से पश्चिम दिशा में महात्मा साम्ब के द्वारा अच्छी रीति से आराधना की गयी जो सूर्य की मूर्ति है, वह बड़ी ही मंगलदायिनी है ॥ ५५ ।

हे अगस्त्य ! मैंने तुमसे यह होनेवाली सूर्य की मूर्ति का वर्णन किया है, जिसके पूजन करने और आठ बार प्रदक्षिणा करने से मनुष्य पापरहित हो जाता है और (पूर्ण रूप से) काशीवास करने का फल पाता है ॥ ५६ ।

हे महामते ! यह जो साम्बादित्य का माहात्म्य मैंने तुमसे वर्णन किया है, मनुष्य इसके सुनने से भी कभी यमलोक को नहीं देख सकता ॥ ५७ ।

इदानीं द्रौपदादित्यं कथयिष्यामि तेऽनघ ।
तथा द्रौपद आदित्यः संसेव्यो भक्तसिद्धिदः ॥ ५८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे साम्बादित्यमाहात्म्यकथनं
नामाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ।

हे अनघ ! अब मैं तुमसे द्रौपदादित्य को कथा कहता हूँ, जिसके संसेवन से भक्तगण (मनोवाञ्छित) सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ५८ ।

दोहा—प्रति रविवारहिं व्रत करै, सूरज कुंड नहाय ।
ग्रहपति कर दर्शन किये, कुष्ठ कष्ट छुटि जाय ॥ १ ॥
चहुँ दिसि पाथर से बनी, एक गुफा एहि ठांम ।
अजहूँ है तोपी पड़ी, कीन्ह जहाँ तप साम(=साम्ब)॥ २ ॥
कच्चे सूरज कुंड में, पूरब पक्का घाट ।
कोढ़ छुटे पर भक्त कोउ, बनवायो करि चाट ॥ ३ ॥
काल, करम, जग, धरम के, सूरज हैं गति हेत ।
देवन में प्रत्यच्छ हुं. वही प्रकट फल देत ॥ ४ ॥
अद्याऽपि सूर्यं समुपासते यः प्रत्यर्कवारं व्रतपूजनाद्यैः ।
निहन्ति तस्याऽऽशु बहूनि साम्बादित्यस्तु कुष्ठानि रुजस्तथाऽन्याः ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां साम्बादित्यकथावर्णनं
नाम अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ।

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सूत उवाच—

पाराशर्य मुने व्यास कुमारः कुम्भजन्मने।
यदाऽवदत्कथामेतां तदा क्व द्रुपदात्मजा ॥ १ ।

व्यास उवाच—

पुराणसंहिता सूत ब्रूते त्रैकालिकीं कथाम्।
सन्देहो नाऽत्र कर्तव्यो यदस्तद्गोचरोऽखिलम् ॥ २ ।

स्कन्द उवाच—

आकर्णय मुने पूर्वं पञ्चवक्त्रो हरः स्वयम्।
पृथिव्यां पञ्चधा भूत्वा प्रादुरासीज्जगद्धितः ॥ ३ ।

एकेनोनेऽथ पञ्चाशेऽध्याये परमपावने।
द्रौपदादित्यमायूखादित्ययोर्वर्ण्यते कथा ॥ १ ।

अनन्तराऽध्यायाऽवसाने इदानीं द्रौपदादित्यं कथयिष्यामीत्युक्तं तत्र द्रौपद्या-भविष्यत्वात्तदानीं तयाऽऽराधनस्याऽसम्भवादाक्षिपति। पाराशर्येति ॥ १ ।

पुराणेषु कालत्रयसम्बन्धिनोऽर्थस्य कथनान्नाऽयं दोष इति परिहरति। पुराणेति। पुराणसंहिता पुराणरूपधर्मशास्त्रमित्यर्थः। त्रैकालिकीं भूतभविष्यद्वर्तमानकालसम्बन्धिनीम्। तद्गोचरस्तस्याः पुराणसंहिताया विषयः तद्गोचरे इति क्वचित् ॥ २ ।

(द्रौपदादित्य और मयूखादित्य की कथा)

सूत ने पूछा—

हे पराशरात्मज ! व्यास ! मुने ! जबकि स्वामिकार्तिकेय ने अगस्त्य ऋषि से इस कथा को कहा था, तब द्रौपदी कहाँ थी ? ॥ १ ।

व्यास ने कहा—

सूत ! पुराण की संहिता भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों का वृत्तान्त कहती है; क्योंकि यह सब कुछ उसका गोचर विषय है, अतएव उसमें किसी प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं है ॥ २ ।

स्कन्द बोले—

मुनिवर ! सुनो, पूर्वकाल में संसार के हितार्थ भगवान् पञ्चमुख शिव स्वयं पाँच अंशों में विभक्त होकर पृथिवी पर (पाण्डवों के रूप से) प्रकट हुए थे ॥ ३ ।

उमाऽपि च जगद्धात्री द्रुपदस्य महीभुजः ।
यजतो वह्निकुण्डाच्च प्रादुश्चक्रेऽतिसुन्दरी ।। ४ ।
पञ्चाऽपि पाण्डुतनयाः साक्षाद्रुद्रवपुर्धराः ।
अवतेरुरिह स्वर्गाद्दुष्टसंहारकारकाः ।। ५ ।
नारायणोऽपि कृष्णत्वं प्राप्य तत्साहचर्यकृत् ।
उद्वृत्तवृत्तशमनः सद्वृत्तस्थितिकारकः ।। ६ ।
प्रतपन्तः पृथिव्यां ते पार्थाश्चेरुः पृथक् पृथक् ।
उदयानुदयौ तस्मिन् सम्पदां विपदामपि ।। ७ ।
कदाचित्ते महावीरा भ्रातृव्यप्रतिपादिताम् ।
विपत्तिमाप्य महतीं बभूवुः काननौकसः ।। ८ ।
पाञ्चाल्यपि च तत्पत्नी पतिव्यसनतापिता ।
धर्मज्ञा प्राप्य तन्वङ्गी ब्रध्नमाराधयद् भृशम् ।। ९ ।

प्रादुश्चक्रे प्रादुर्भावं चकार प्रादुरभूदित्यर्थः ।। ४ ।
दुष्टानां संहारकारकाः । संहारकारिण इति क्वचित् ।। ५ ।
तस्मिन्समय इति शेषः ।। ६ ।
उदयानुदयौ चेरुः प्रापुरित्यन्वयः ।। ७ ।
भ्रातृव्यप्रतिपादितां शत्रुभिः सम्पादिताम् ।। ८ ।
तापिता तापयुता । कर्शिता इति क्वचित् । प्राप्य काशीमिति शेषः ।। ९ ।

एवं जगन्माता उमा भी यज्ञ करते हुए द्रुपदमहीपति के यज्ञकुण्ड से अत्यन्त सुन्दरी होकर प्रकट हुई थीं ।। ४ ।

पाँचों पाण्डुपुत्र के रूप में साक्षात् रुद्ररूपधारी और दुष्टसंहारकारी होकर भगवान् शिव ने स्वर्ग से भूतल पर आकर अवतार लिया था ।। ५ ।

उन लोगों के सहचारी बनकर, वैकुण्ठविहारी हरि भी कृष्णरूपधारी होकर दुष्टों के दुर्वृत्तहारी और शिष्टजनों के पालनकारी हुए थे ।। ६ ।

उस समय परमप्रतापी उन पाँचों पाण्डवों ने पृथक्-पृथक् सम्पत्ति और विपत्तियों के उदय एवं अस्त का अनुभव किया था ।। ७ ।

किसी समय वे महावीर लोग, भाई की शत्रुता से की गयी विपत्ति में पड़कर वनवासी हुए थे ।। ८ ।

उनकी सहधर्मिणी, धर्मपरायणा, सुन्दरी, द्रौपदी भी पति की विपत्ति से दुःखिनी होकर काशी में पहुँच सूर्य की बड़ी आराधना करने लगी ।। ९ ।

आराधितोऽथ सविता तया द्रुपदकन्यया ।
सदर्वीं सपिधानां च स्थालिकामक्षयां ददौ ॥ १० ।
उवाच च प्रसन्नात्मा भास्करो द्रुपदात्मजाम् ।
आराधयन्तीं भावेन सर्वत्र शुचिमानसाम् ॥ ११ ।
स्थाल्यैतया महाभागे यावन्तोऽन्नार्थिनो जनाः ।
तावन्तस्तृप्तिमाप्स्यन्ति यावच्च त्वं न भोक्ष्यसे ॥ १२ ।
भुक्तायां त्वयि रिक्तैषा पूर्णभक्ता भविष्यति ।
रसवद्व्यञ्जननिधिरिच्छाभक्ष्यप्रदायिनी ॥ १३ ।
इत्थं वरस्तया लब्धः काश्यामादित्यतो मुने ।
अपरश्च वरो दत्तस्तस्यै देवेन भास्वता ॥ १४ ।

रविरुवाच—

विश्वेशाद्दक्षिणे भागे यो मां त्वत्पुरतः स्थितम् ।
आराधयिष्यति नरः क्षुद्बाधा तस्य नश्यति ॥ १५ ।
अन्यश्च मे वरो दत्तो विश्वेशेन पतिव्रते ।
तपसा परितुष्टेन तं निशामय वच्मि ते ॥ १६ ।

चालनाद्यर्थपात्रविशेषो दर्वी तत्सहितां स्थालीं पाकपात्रविशेषम् ॥ १० ।

अनन्तर द्रौपदी की आराधना से सन्तुष्ट होकर उसे एक अक्षय करछुल और ढँपना सहित बटलोही देकर भक्तिभाव से आराधना में लवलीन, सर्वत्र शुद्ध-हृदया द्रुपदनन्दिनी से प्रसन्नहृदय भगवान् भास्कर कहने लगे ॥ १०-११ ।

'हे महाभागे ! इस बटलोही से जब तक तुम भोजन न करोगी, तब तक चाहे जितने अन्नार्थी (क्षुधित) जन हों, सभी लोग तृप्त हो जावेंगे ॥ १२ ।

परन्तु तुम्हारे खा लेने पर सुरस व्यञ्जनों की खानि, इच्छानुसार भोजन देनेवाली और भात से भरी हुई यह बटलोही छूछी (खाली) हो जावेगी ॥ १३ ।

हे मुने ! इस विधि से तो उसने सूर्यनारायण से काशी में वरदान पाया और फिर भगवान् भास्कर ने एक दूसरा भी वरदान दिया ॥ १४ ।

सूर्य बोले—

विश्वेश्वर के दक्षिणभाग में जो कोई तुम्हारे सम्मुख स्थित मेरी आराधना करेगा, उसे क्षुधा की बाधा कभी न होगी ॥ १५ ।

हे पतिव्रते ! विश्वनाथ ने तपस्या से सन्तुष्ट होकर जो मुझे वरदान किया है, उसे कहता हूँ, श्रवण करो ॥ १६ ।

प्राग्रवे त्वां समाराध्य यो मां द्रक्ष्यति मानवः ।
तस्य त्वं दुःखतिमिरमपानुद निजैः करैः ॥ १७ ।

अतो धर्मप्रिये नित्यं प्राप्य विश्वेश्वराद् वरम् ।
काशीस्थितानां जन्तूनां नाशयाम्यघसञ्चयम् ॥ १८ ।

ये मामत्र भजिष्यन्ति मानवाः श्रद्धयान्विताः ।
त्वद्वरोद्यतपाणिं च तेषां दास्यामि चिन्तितम् ॥ १९ ।

भवतीं मत्समीपस्थां युधिष्ठिरपतिव्रताम् ।
विश्वेशाद्दक्षिणे भागे दण्डपाणेः समीपतः ॥ २० ।

येऽर्चयिष्यन्ति भावेन पुरुषा वा स्त्रियोऽपि वा ।
तेषां कदाचिन्नो भावि भयं प्रियवियोगजम् ॥ २१ ।

न व्याधिजं भयं क्वापि न क्षुत्तृट्दोषसम्भवम् ।
द्रौपदीक्षणतः काश्यां तव धर्मप्रियेऽनघे ॥ २२ ।

अन्यदेशादागतानामपि काश्यां स्थितत्वात्काशीस्थितानामित्युक्तम् ॥ १८ ।

न व्याधिजमिति । हे द्रौपदि ! हे धर्मप्रिये ! हे अनघे काश्यां तवेक्षणतो दर्शनात् क्वापि व्याधिजं भयं क्षुत्तृषावेव दोषस्तत्सम्भवं च भयं नेत्यन्वयः ॥ २२ ।

(विश्वेश्वर ने कहा है कि) हे सूर्य ! जो मनुष्य पहले तुम्हारी पूजा करके मेरा दर्शन करेगा, उसके दुःखरूप अन्धकार को अपने किरणों से तुम दूर कर देना ॥ १७ ।

अतएव हे द्रौपदि ! विश्वेश्वर से वर पाकर मैं नित्य ही काशीवासी जीवों का अघसंचय नाश करता रहता हूँ ॥ १८ ।

यहाँ पर जो नर तुमको वर देने के लिये हाथ उठाये हुए मुझे श्रद्धापूर्वक भजेंगे, उनका मनोरथ पूर्ण कर दूँगा ॥ १९ ।

जो पुरुष अथवा स्त्री भक्तिभाव से विश्वेश्वर के दक्षिण भाग में दण्डपाणि के समीप और सन्निकट में परम पतिव्रता तुम्हारी पूजा करेंगे, उन सबको कभी प्रियजन के वियोग का भय न होगा ॥ २०-२१ ।

हे निष्पापे ! धर्मप्रिये ! द्रौपदि ! काशी में तुम्हारा दर्शन करने से कभी व्याधिजनित अथवा क्षुधा-पिपासा से उत्पन्न कष्ट नहीं सहना पड़ेगा ॥ २२ ।

इति दत्त्वा वरान् देव आदित्यः सर्वदः सताम् ।
शम्भुमाराधयामास धर्मं द्रौपद्युपाययौ ॥ २३ ।
आदित्यस्य कथामेतां द्रौपद्याराधितस्य वै ।
यः श्रोष्यति नरो भक्त्या तस्यैनः क्षयमेष्यति ॥ २४ ।

स्कन्द उवाच—

द्रौपदादित्यमाहात्म्यं संक्षेपात्कथितं मया ।
मयूखादित्यमाहात्म्यं शृण्विदानीं घटोद्भव ॥ २५ ।
पुरा पञ्चनदे तीर्थे त्रिषु लोकेषु विश्रुते ।
सहस्ररश्मिर्भगवांस्तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ २६ ।
प्रतिष्ठाप्य महालिङ्गं गभस्तीश्वरसंज्ञितम् ।
गौरीं च मङ्गलानाम्नीं भक्तमङ्गलदां सदा ॥ २७ ।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु शतेन गुणितं मुने ।
आराधयन् शिवं सोमं सोमार्धकृतशेखरम् ॥ २८ ।

इतीति । इति पूर्वोक्तान् । एवमिति पाठे एवंभूतान् वरान् । धर्मं युधिष्ठिरम् ॥ २३ ।

एनः पापम् ॥ २४ ।

उक्तानुवादपूर्वकं मयूखादित्यस्य माहात्म्यं श्रावयति । द्रौपदेति ॥ २५ ।

मङ्गलानाम्नीं मङ्गलाह्वयाम् । मङ्गलवतीमिति पाठे भक्तेभ्यो देयं मङ्गलमस्या अस्तीति मङ्गलवती । एतदेवाह । भक्तमङ्गलदामिति ॥ २७ ।

शतेन गुणितं ग्रथितं सम्बद्धमित्यर्थः । दिव्यलक्षवर्षमिति समुदायार्थः । सोमं उमया सहितम् । सोमार्धेनाऽर्धचन्द्रेण कृतः शेखरः शिरोभूषणं येन ॥ २८ ।

सज्जनों के सर्वाभीष्टदाता सूर्यदेव उसे इस भाँति से वर प्रदान करके आप महादेव की आराधना करने लगे और द्रौपदी भी अपने पति के पास चली गयी ॥२३।

इन द्रौपदीपूजित आदित्य भगवान् की इस कथा को जो मनुष्य भक्तिपूर्वक सुनेगा, उसका पाप विनष्ट हो जावेगा ॥ २४ ।

स्कन्द बोले—

हे कुम्भज ! मुने ! यह तो द्रौपदादित्य का माहात्म्य मैंने संक्षेप से कह दिया । अब मयूखादित्य की कथा का श्रवण करो ॥ २५ ।

पूर्वकाल में त्रैलोक्यविश्रुत पंचनदतीर्थ में भगवान् सहस्ररश्मि ने गभस्तीश्वर नामक महाशिवलिंग और सर्वदा भक्तजनों को मंगल देनेवाली भगवती मंगलागौरी की स्थापना करके दिव्यपरिमाण से एक लाख वर्षपर्यन्त, पार्वती के सहित चन्द्रशेखर शिव की आराधना करते हुए घोर तपस्या की थी ॥ २६-२८ ।

स्वरूपतस्तु तपनस्त्रिलोकीतापनक्षमः ।
ततोऽतितीव्रतपसा जज्वाल नितरां मुने ॥ २९ ॥
मयूखैस्तत्र सवितुस्त्रैलोक्यदहनक्षमैः ।
ततं समस्तं तत्काले द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ॥ ३० ॥
वैमानिकैर्विष्णुपदे तत्यजे च गतागतम् ।
तीव्रे पतङ्गमहसि पतङ्गत्वभयादिव ॥ ३१ ॥
मयूखा एव दृश्यन्ते तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च ।
आदित्यस्य न चादित्यो नीपपुष्पस्थितेरिव ॥ ३२ ॥
तस्य वै महसां राशेस्तपोराशेस्तपोर्चिषाम् ।
चकम्पे साध्वसात्तीव्रात्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ३३ ॥

वैमानिकैरिति । वैमानिकैर्देवैर्विष्णुपदे ध्रुवलोके गतागतं गमनागमनं तत्यजे त्यक्तम् । किमिति । तीव्रे तीक्ष्णे पतङ्गमहसि सूर्यतेजसि पतङ्गत्वभयादिव पतङ्ग-निमित्तत्वभयादिवेत्यर्थः । तथा चाऽयमर्थः—यथा पतङ्गानामग्नौ पानान्नाश एवमस्माकं च नाशो भविष्यतीति भयादिवेति ॥ ३१ ॥

मयूखा इति । मयूखा रश्मयः । कीदृशस्यादित्यस्य ? नीपपुष्पस्य कदम्ब-पुष्पस्येव स्थितिर्यस्य तस्य । समासान्तर्निविष्टस्यापि इवशब्दस्य बहिर्निर्देशश्छान्दसः । यथा कदम्बकुसुमस्य या कर्णिका, सा न दृश्यते; किन्तु कलिका एव तद्वदिति भावः ॥ ३२ ॥

तस्येति । तपोर्चिषां तपोज्वालानां साध्वसाद् भयाच्चकम्पे संचचाल ॥ ३३ ॥

तपनदेव तो स्वयं अपने रूप से ही त्रैलोक्य को तापित कर देने में समर्थ हैं, उस पर इस कठोर तपस्या के द्वारा तो अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे ॥ २९ ॥

उस समय सूर्य के त्रैलोक्यदहन में समर्थ किरणमंडल से स्वर्ग और मर्त्यलोक का समतल मध्यभाग बहुत ही भर गया था ॥ ३० ॥

विमान पर चढ़कर यात्रा करने वाले देवताओं ने पतंग-भगवान् के तीव्र तेज में सामान्य पतंग (फतिंगा) के समान भस्म हो जाने के डर से आकाशमार्ग में जाना-आना छोड़ दिया ॥ ३१ ॥

सूर्यनारायण के नीचे-ऊपर, अगल-बगल केवल किरणें ही दिखलाई पड़ती थीं, मानो फूला हुआ कदम्ब का पुष्प है । सूर्य का तो दर्शन ही नहीं होता था ॥ ३२ ॥

उस घड़ी तपोमय महातेजस्वी सूर्य की तपस्या और ज्वाला के महाभय से सचराचर त्रिभुवन काँपने लगा ॥ ३३ ॥

सूर्य आत्माऽस्य जगतो वेदेषु परिपठ्यते ।
स एव चेज्ज्वालयिता को नस्त्राता भवेदिह ॥ ३४ ॥
जगच्चक्षुरसौ सूर्यो जगदात्मैष भास्करः ।
जगद्यो यन्मृतप्रायं प्रातः प्रातः प्रबोधयेत् ॥ ३५ ॥
तमोऽन्धकूपपतितमुद्यन्नेष दिने दिने ।
प्रसार्य परितः पाणीन् प्राणिजातं समुद्धरेत् ॥ ३६ ॥
उदितेऽत्रोदिमो नित्यमस्तं यात्यस्तमाप्नुमः ।
उदयेऽनुदये तस्मादस्माकं कारणं रविः ॥ ३७ ॥
इति व्याकुलितं विश्वं पश्यन् विश्वेश्वरः स्वयम् ।
विश्वत्राता वरं दातुं संजग्मे तिग्मरश्मये ॥ ३८ ॥

कम्पनहेतुप्रतिपादकं लोकानामेव हि वाक्यमाह । सूर्य इति । तथा च श्रुतिः—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" इति (ई० उ० १६) । चेद्यदि ॥ ३४ ।

अन्य एव कश्चित्त्राताश्रयणीयो नेत्याह । जगच्चक्षुरिति त्रयेण । जगदात्मत्वे हेतुमाह । जगद्य इति । यद्यस्मात् ॥ ३५ ।

तम एवाऽन्धकूपस्तत्र पतितम् । उद्यद् उद्गच्छत् । एष सूर्यः । प्रसार्य विस्तार्य । परितः सर्वतः । पाणीन् रश्मीन् । प्राणिजातं जीवसमूहं समुद्धरेत् ॥ ३६ ।

अत्राऽस्मिन् सूर्ये अत्र जगतीति वा । उदितेऽर्थात्सूर्य इति । वयं नित्यमुदिम उदयं प्राप्नुमः । अस्तं याति सत्यस्तं प्राप्नुमः । उपसंहरति । उदय इति ॥ ३७ ।

इत्येवं प्रकारेण । अतिव्याकुलितमिति क्वचित् । संजग्मे संजगाम ॥ ३८ ।

"इस जगत् के आत्मा सूर्य ही हैं"—यह बात वेदों में भी पढ़ी जाती है, यदि चेत् वही जला देने पर उद्यत हैं, तो इस संसार में हमलोगों का रक्षक कौन हो सकता है ? ॥ ३४ ।

ये ही सूर्य जगत् के चक्षु हैं और ये ही संसार की आत्मा भी हैं; क्योंकि प्रतिदिन प्रातःकाल उठाकर मृतप्राय समस्त जगत् को ये ही जगा देते हैं ॥ ३५ ।

ये ही प्रतिदिन उदय होते हुए चारों ओर अपने कररूप किरणों से अन्धकारमय कूप में गिरे हुए समस्त प्राणियों को निकाल देते हैं ॥ ३६ ।

सूर्य के उदय होने से हम लोग भी उठते हैं और उनके अस्त हो जाने से हम सब भी व्यस्त हो जाते हैं । अतएव हम लोगों के उदय और अस्त के कारण भी सूर्य ही हैं ॥ ३७ ।

इस प्रकार से परमव्याकुलित संसार को देखकर जगत्पालक भगवान् विश्वेश्वर, स्वयं सूर्य को वरप्रदान करने के लिये वहाँ गये ॥ ३८ ।

मयूखमालिनं शम्भुरालोक्याऽतिसुनिश्चलम् ।
समाधिविस्मृतात्मानं विसिस्माय तपः प्रति ॥ ३९ ॥
उवाच च प्रसन्नात्मा श्रीकण्ठः प्रणतार्तिहृत् ।
अलं तप्त्वा वरं ब्रूहि द्युमणे महसांनिधे ॥ ४० ॥
निरुद्धेन्द्रियवृत्तित्वाद् ब्रध्नो ध्यानसमाधिना ।
न जग्राह वचः शम्भोर्द्वि त्रिरुक्तोऽप्यकर्णवत् ॥ ४१ ॥
काष्ठीभूतं तु तं ज्ञात्वा शिवः पस्पर्श पाणिना ।
महातपः समुद्भूतसन्तापाऽमृतवर्षिणा ॥ ४२ ॥
तत उन्मीलयाञ्चक्रे लोचने विश्वलोचनः ।
तस्योदयमिव प्राप्य प्रगे पङ्कजिनीवनी ॥ ४३ ॥

विसिस्माय विस्मयं चक्रे ॥ ३९ ॥

अकर्णवद् बधिरवत् । [1]अकर्णयदिति पाठे न केवलं सकृदुक्तः सन् वचो न जग्राह, द्विस्त्रिरुक्तोऽपि नाऽकर्णयदित्यर्थः ॥ ४१ ॥

पाणिना कथम्भूतेन ? महातपसः सकाशात् समुद्भूतो यः सन्तापस्तत्राऽमृत-वर्षिणा तन्निवर्तकाऽमृतवर्षिणेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

विकासनमात्रे दृष्टान्तस्तस्येति । तस्य सूर्यस्य प्रगे प्रातःकाले उदयं प्राप्य पङ्कजिनीवनी[2] जलस्थपद्मिनी यथेति । वनशब्दस्य जलवाचकत्वात् । पङ्कजिनीवनी पद्मिनीनां वनमिति वा ॥ ४३ ॥

मयूखमाली सूर्य को समाधि लगाकर अपने को भी भूले हुए और अत्यन्त निश्चलरूप से स्थित देखकर भक्तवत्सल श्रीमान् श्रीकण्ठ शम्भुदेव उस तपस्या के प्रति विस्मित होकर प्रसन्नचित्त से कहने लगे—'हे तेजोराशे ! सूर्य ! अब तपस्या हो चुकी । वरदान की प्रार्थना करो' ॥ ३९-४० ।

ध्यान-समाधि के कारण समस्त इन्द्रियों की वृत्ति रुक जाने से बाह्य ज्ञान-शून्य सूर्य ने शिव के इस वचन को दो-तीन बार कहने पर भी बहरे के ऐसा कुछ भी न सुना ॥ ४१ ।

तब महादेव उनको काष्ठरूप समझकर घोर तपस्या से उत्पन्न सन्ताप के शान्त्यर्थ अमृत वर्षण करने वाले अपने हाथ से सुहराने (सहलाने) लगे ॥ ४२ ।

इसके अनन्तर जगच्चक्षु सूर्य ने प्रातःकाल में अपनी किरणों के लगने से विकसित कमलवन के समान अपनी आँखों को खोल दिया ॥ ४३ ।

---

१. अनाङ्पूर्वस्यापि कर्णधातोः श्रवणार्थकत्वं धातूनामनेकार्थत्वात् ।

२. वनस्येयं वनीति पंकजिनीविशेषणं पृथक् पदम् ।

परिव्यपेतसन्तापस्तपनः स्पर्शनाद्विभोः ।
अवग्रहितसस्यश्रीरुल्ललास यथाऽम्बुदात् ।। ४४ ।
मित्रो नेत्रातिथीकृत्य त्र्यक्षं प्रत्यक्षमग्रतः ।
दण्डवत्प्रणनामोच्चैस्तुष्टाव च पिनाकिनम् ।। ४५ ।

रविरुवाच—

देवदेव जगतां पते विभो भर्गभीम भव चन्द्रभूषण ।
भूतनाथ भवभीतिहारक नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ।। ४६ ।
चन्द्रचूड मृड धूर्जटे हर त्र्यक्ष दक्षशततन्तुशातन ।
शान्तशाश्वत शिवापते शिव त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ।। ४७ ।

परीति । अवग्रहो वृष्टिप्रबन्धो यस्यास्तीत्यवग्रहितं सस्यं तस्य श्रीः, यथाम्बुदान् मेघादुल्ललासेति तथा विभोः स्पर्शात्तपन उल्ललास उज्जृम्भितवानित्यर्थः ।। ४४ ।

मित्रः सूर्यः । प्रत्यक्षं मूर्तिमन्तम् । उच्चैस्तुष्टाव । चः समुच्चये ।। ४५ ।

स्तुतिमेवाह । देवदेवेत्यष्टभिः । इतः परमन्यच्छ्रेयो नास्तीति बहुधा सम्बोधयति । देवानां देव हे जगतांपते, हे विभो, हे भर्ग, हे भीम, हे भव, हे चन्द्रभूषण, हे भूतनाथ, हे भवभीतिहारक, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति ।। ४६ ।

हे चन्द्रचूड, हे मृड, हे धूर्जटे, हे हर, हे त्र्यक्ष, हे दक्षशत, तन्तुशातन दक्षयज्ञविध्वंसन, हे शान्त, हे शाश्वत नित्य, हे शिवापते, हे शिव, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति ।।४७।

सूखा पड़ने से मुर्झुराते हुए सस्य की शोभा जैसे मेघों से (मेघवर्षा से) उल्लसित होती है, वैसे ही भगवान् के स्पर्श कर देने से तपनदेव का भी समस्त तप का सन्ताप दूर हो गया ।। ४४ ।

तब सूर्य अपने आगे प्रत्यक्ष त्र्यक्ष (त्रिनेत्र) भगवान् को अपने नयनों का अतिथि बनाकर, दण्डवत्प्रणाम करते हुए स्तुति करने लगे ।। ४५ ।

सूर्य कहने लगे—

हे देवदेव ! जगदीश्वर ! विभो ! भर्ग ! भीम ! भव ! चन्द्रशेखर ! भूतनाथ ! आप ही संसारभय के हर्ता और भक्तजनों के वाञ्छित फलदाता हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।। ४६ ।

हे चन्द्रचूड़ ! मृड ! धूर्जटे ! हर ! त्रिलोचन ! आप ही दक्षप्रजापति के यज्ञविध्वंसक हैं, हे शान्त ! शाश्वत ! शिवापते ! शिव ! आप तो प्रणतजन के अभीष्टप्रद हैं, आपको मेरा प्रणाम है ।। ४७ ।

नीललोहित समीहितार्थद द्व्येकलोचन विरूपलोचन।
व्योमकेश पशुपाशनाशन त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ॥ ४८ ॥
वामदेव शितिकण्ठ शूलभृच्चन्द्रशेखर फणीन्द्रभूषण ।
कामकृत् पशुपते महेश्वर त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ॥ ४९ ॥
त्र्यम्बक त्रिपुरसूदनेश्वर त्राणकृत् त्रिनयन त्रयीमय ।
कालकूटदलनाऽन्तकान्तक त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ॥ ५० ॥
शर्वरीरहित शर्व सर्वग स्वर्गमार्गसुखदाऽपवर्गद ।
अन्धकासुररिपो कपर्दभृत्त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ॥ ५१ ॥

हे नीललोहित, हे समीहितार्थद, हे द्व्येकलोचन, हे त्रिनेत्र, हे विरूपलोचन, हे व्योमकेश, हे पशुपाशनाशन जीवानां संसारनाशन, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति ॥ ४८ ।

हे वामदेव, हे शितिकण्ठ, हे शूलभृत्, हे चन्द्रशेखर, हे फणीन्द्रभूषण, हे कामकृत् कामच्छेदक, हे पशुपते, हे महेश्वर, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति ॥ ४९ ।

हे त्र्यम्बक, हे त्रिपुरसूदन, हे ईश्वर, हे त्राणकृत्, हे त्रिनयन, हे त्रयीमय, हे कालकूटदलन, हे अन्तकान्तक, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति ॥ ५० ।

हे शर्वरीरहित मायाविनिर्मुक्त, हे शर्व, हे सर्वग, हे स्वर्गमार्ग सूर्यात्मन्, हे सुखद, स्वर्गमार्गसुखदेति वा । हे अपवर्गद, हे अन्धकासुररिपो, हे कपर्दभृत्, हे नतवाञ्छितप्रद त्वां नतोऽस्मीति ॥ ५१ ।

हे नीललोहित ! समीहितार्थप्रद ! त्रिनयन ! विरूपाक्ष ! व्योमकेश ! आप समस्त जीवों के संसाररूप बन्धन के विनाशक हैं, अतएव नतवाञ्छितप्रद आपको दण्डवत्प्रणाम करता हूँ ॥ ४८ ।

हे वामदेव ! शितिकण्ठ ! शूलिन् ! शशांकशेखर ! फणीन्द्रभूषण ! कामान्तक ! पशुपते ! महेश्वर ! आप ही तो भक्तों के अभीष्ट फलदायक हैं, आपको प्रणाम है ॥४९।

हे त्र्यम्बक ! त्रिपुरासुरमर्दक ! परमेश्वर ! परित्राणपरायण ! त्रिनेत्र ! त्रयीमय ! आप ही कालकूट महाविष के पानकर्ता और अन्तक के भी अन्तक हैं, हे सेवकजन के मनोरथसाधक ! आपको प्रणाम है ॥ ५० ।

हे मायाविनिर्मुक्त ! शर्व ! आप सर्वव्यापी हैं, स्वर्ग के मार्ग हैं, हे सुखप्रद ! आप ही अपवर्ग के दाता हैं, हे कपर्दिन् ! आप ही ने अन्धकासुर को विनष्ट किया है, हे निजजन के इच्छित फलदायक ! आपको प्रणाम है ॥ ५१ ।

शङ्करोग्र गिरिजापते पते विश्वनाथ विधिविष्णुसंस्तुत ।
वेदवेद्य विदिताऽखिलेङ्गित त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ॥ ५२ ।
विश्वरूप पररूपवर्जित ब्रह्म जिह्मरहिताऽमृतप्रद ।
वाङ्मनोऽविषय दूर दूरग त्वां नतोऽस्मि नतवाञ्छितप्रद ॥ ५३ ।
इत्थं परीत्य मार्तण्डो मृडं देवं मृडानिकाम् ।
अथ[1] तुष्टाव प्रीतात्मा शिववामार्धहारिणीम् ॥ ५४ ।

रविरुवाच—

देवि त्वदीयचरणाम्बुजरेणुगौरीं
भालस्थलीं वहति यः प्रणतिप्रवीणः ।
जन्मान्तरेऽपि रजनीकरचारुलेखा
तां गौरयत्यतितरां किल तस्य पुंसः ॥ ५५ ।

हे शङ्कर, हे उग्र, हे गिरिजापते, हे पते स्वामिन्, हे विश्वनाथ, हे विधिविष्णुसंस्तुत, हे वेदवेद्य, हे विदिताऽखिलेङ्गित, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति ॥५२।

हे विश्वरूप, हे पर, हे रूपवर्जित, हे ब्रह्मस्वरूप, हे जिह्मरहित निर्माय, हे अमृतप्रद, हे वाङ्मनोऽविषय, हे दूरवाङ्मनोविषय दूरेति वा, हे दूरग, हे नतवाञ्छितप्रद ! त्वां नतोऽस्मीति । नतवाञ्छितप्रदेत्येतस्यावृत्तिर्भक्तानां प्राधान्यख्यापनाय ॥ ५३ ।

इत्थमिति । परीत्य प्रदक्षिणपूर्वकं स्तुत्वेत्यर्थः । परीड्येति वा पाठः । अथाऽनन्तरं मृडानिकां तुष्टावाऽस्तौत् । स्तुतौ हेतुः । शिववामार्धहारिणीमिति ॥ ५४ ।

स्तुतिमेवाह । देवीत्यष्टभिः । हे देवि, स्वप्रकाशे द्योतमाने इति वा । यस्त्वदीयचरणाम्बुजरेणुभिः गौरीं गौरवर्णां भालस्थलीं ललाटस्थलीं वहति धारयति, तस्य

हे शंकर ! उग्र ! गिरिजापते ! स्वामिन् ! विश्वनाथ ! ब्रह्मा और विष्णु सर्वदा आपकी स्तुति करते रहते हैं । हे वेदवेद्य ! आप सब किसी के सभी अभिप्रायों को जानते हैं, हे सेवकसुखदायक ! आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ५२ ।

हे विश्वरूप ! परात्परतर ! आप रूपरहित ब्रह्म हैं, हे मायारहित ! अमृतप्रद ! आप तो सदैव वचन और मन के अगोचर ही रहते हैं, अतएव हे दूरग ! भक्तजन के मनोवाञ्छित-सिद्धिप्रद आपको मैं (बारंबार) प्रणाम करता हूँ ॥ ५३ ।

सूर्यनारायण प्रदक्षिणापूर्वक महादेव का यह स्तुतिगान करके प्रसन्नमन से शिव की अर्द्धांगस्वरूपिणी गौरी देवी की भी स्तुति करने लगे ॥ ५४ ।

भगवान् रवि बोले—

'जो प्रणतिप्रवीण जन अपने भालस्थल में आपके चरणसरोज की धूलि को धारण कर लेता है, उस पुरुष का ललाटदेश जन्मजन्मान्तर में भी सुन्दर चन्द्रकला से भूषित रहता है ॥ ५५ ।

---

१. अथोनुनावेति क्वचित्पाठः ।

श्रीमङ्गले सकलमङ्गलजन्मभूमे
श्रीमङ्गले सकलकल्मषतूलवह्ने ।
श्रीमङ्गले सकलदानवदर्पहन्त्रि
श्रीमङ्गलेऽखिलमिदं परिपाहि विश्वम् ॥ ५६ ।

विश्वेश्वरि त्वमसि विश्वजनस्य कर्त्री
त्वं पालयित्र्यसि तथा प्रलयेऽपि हन्त्री ।
त्वन्नामकीर्तनसमुल्लसदच्छपुण्या
स्रोतस्विनी हरति पातककूलवृक्षान् ॥ ५७ ।

पुनस्तां भालस्थलीं जन्मान्तरे रजनीकरचारुलेखा नितरां गौरयति शोभयतीत्यन्वयः। वहने प्रकारं दर्शयंस्तं विशिनष्टि । प्रणतौ दण्डवत् प्रणिपाते प्रवीणो दक्ष इति । अपि-शब्दादिह जन्मनि च । बाणान्धकादीनां तथा दर्शनात् ॥ ५५ ।

भक्त्युद्रेकाद् बहुधा सम्बोधयति । हे श्रीमङ्गले श्रीयुक्तमूर्तिमङ्गले । हे सकल-मङ्गलजन्मभूमे । श्रियो लक्ष्म्या मङ्गलं यस्यास्तत् सम्बोधनं हे श्रीमङ्गले, हे सकल-कल्मषतूलवह्ने श्रयन्त्येनां योगिन इति श्रीर्ब्रह्मविद्या तस्या मङ्गलं यस्यास्तत्सम्बोधनं हे श्रीमङ्गले । श्रीमङ्गले इत्यस्यावृत्तिर्मङ्गलनाम्नः प्राधान्यख्यापनाय । हे सकल-दानवदर्पहन्त्री श्रयन्त्येतामविवेकिन इति श्रीरविद्या तस्या मङ्गलं सौभाग्यं यस्या-स्तत्सम्बोधनं हे श्रीमङ्गले । अखिलमिदं विश्वं परिपाहि परिपालय । परिपासीति क्वचित् ॥ ५६ ।

ब्रह्मविष्णुमहेश्वररूपेण स्तौति । हे विश्वेश्वरि सर्वनियन्त्रि विश्वजनस्य त्वं कर्त्र्यसि तथा त्वं पालयित्र्यसि, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । अपिः समुच्चये । त्वन्नाम-कीर्तनमेव त्वन्नामसंकीर्तनेन वा समुल्लसन्ती या अच्छपुण्यास्रोतस्विनी । स्रोतस्वतीति क्वचित्पाठः । सा पातकान्येव कूलस्थवृक्षास्तान् हरतीति ॥ ५७ ।

हे श्रीमंगले ! आप समस्त मंगलों की जन्मभूमि और सकल पापरूप तूलराशि को भस्म करने में अग्नि की ज्वाला हैं । हे मंगले देवि ! आप ही अशेष दानवों की दर्पनाशिनी हैं, अतएव इस अखिल विश्व की रक्षा करें ॥ ५६ ।

हे विश्वेश्वरि ! आप ही विश्वजन की सृष्टिकर्त्री, पालयित्री और प्रलयकाल में हन्त्री हैं । आपकी नामकीर्तनरूपा पुण्यनदी, पापस्वरूप तीर के वृक्षों को गिराती रहती है ॥ ५७ ।

मातर्भवानि भवती भवतीव्रदुःख-
सम्भारहारिणि शरण्यमिहाऽस्ति नाऽन्या ।
धन्यास्त एव भुवनेषु त एव मान्या
येषु स्फुरेत्तव शुभः करुणाकटाक्षः ॥ ५८ ।
ये त्वां स्मरन्ति सततं सहजप्रकाशां
काशीपुरीस्थितिमतीं नतमोक्षलक्ष्मीम् ।
तान् संस्मरेत् स्मरहरो धृतशुद्धबुद्धी-
न्निर्वाणरक्षणविचक्षणपात्रभूतान् ॥ ५९ ।
मातस्तवांघ्रियुगलं विमलं हृदिस्थं
यस्यास्ति तस्य भुवनं सकलं करस्थम् ।
यो नाम ते जपति मङ्गलगौरि नित्यं
सिद्ध्यष्टकं न परिमुञ्चति तस्य गेहम् ॥ ६० ।

हे मातर्हे भवानि हे भवतीव्रदुःखसम्भारहारिणि संसारदुःखौघनाशिनि इह जगति भवत्येव शरण्यं शरणमस्ति नाऽन्या येषु तव शुभः करुणाकटाक्षः स्फुरेदुल्लसेत्, भुवनेषु मध्ये त एव धन्यास्त एव मान्या इति ॥ ५८ ।

ये जनास्त्वां सततं स्मरन्ति तान् स्मरहरः स्मरेदित्यन्वयः । कथम्भूताम् ? सहजप्रकाशां स्वप्रकाशामित्यर्थः । काशीपुर्यां स्थितिमतीं कृतनिवासामित्यर्थः । नतानां मोक्षलक्ष्मीर्यस्यास्तां मोक्षलक्ष्मीस्वरूपामिति वा । तान् कीदृशान् ? धृता सम्पादिता शुद्धा बुद्धिर्यैस्तान् । निर्वाणरक्षणे कैवल्यधारणे इत्यर्थः । विचक्षणपात्रभूतान् निपुणाधिकारिण इत्यर्थः ॥ ५९ ।

हे मातः ! तवांघ्रियुगलं यस्य हृदिस्थमस्ति सकलं भुवनं तस्य करस्थमेव स्वाधीनमेव, स तु सर्वज्ञ इति वा । हे मङ्गलागौरि ! ह्रस्वत्वं छान्दसम् । मङ्गलयुक्ता गौरी मङ्गलगौरीति वा । यस्ते नाम नित्यं जपति, तस्य गेहं सिद्ध्यष्टकं पद्माद्यष्टसिद्धिरूपं वा न विमुञ्चतीति ॥ ६० ।

हे भवानि ! मातः ! इस संसार में एकमात्र आपके ही शरणागत होने से जन्मग्रहणरूप तीव्र दुःख का बोझ उतर सकता है । त्रिभुवन भर में जिन पर आप की शुभमयी करुणादृष्टि पड़ जाती है, वे ही लोग धन्य और सर्वथा मान्य हो जाते हैं ॥५८।

जो शुद्धबुद्धि जन, भक्तों की मोक्षलक्ष्मी, काशीवासिनी, सहजप्रकाशा, आपका सर्वदा स्मरण करते हैं, उन मुक्तिरक्षा के विचक्षण अधिकारी लोगों को भगवान् महादेव भी कभी नहीं भूलते ॥ ५९ ।

हे जननि ! जिसके हृदय में आपका निर्मल चरणयुगल विराजमान है, समस्त जगत् उसी के हाथ में है । हे मंगलागौरि ! जो कोई आपका नाम नित्य ही जपता है, उसका गृह अणिमादिक आठों सिद्धियाँ कभी नहीं छोड़ सकती हैं ॥ ६० ।

त्वं देवि वेदजननी प्रणवस्वरूपा
गायत्र्यसि त्वमसि वै द्विजकामधेनुः ।
त्वं व्याहृतित्रयमिहाऽखिलकर्मसिद्ध्यै
स्वाहा स्वधाऽसि सुमनः पितृतृप्तिहेतुः ॥ ६१ ।

गौरि त्वमेव शशिमौलिनि वेधसि त्वं
सावित्र्यसि त्वमसि चक्रिणि चारुलक्ष्मीः ।
काश्यां त्वमस्यमलरूपिणि मोक्षलक्ष्मी-
स्त्वं मे शरण्यमिह मङ्गलगौरि मातः ॥ ६२ ।

स्तुत्वेति तां स्मरहरार्धशरीरशोभां
श्रीमङ्गलाष्टकमहास्तवनेन भानुः ।
देवीं च देवमसकृत्परितः प्रणम्य
तूष्णीं बभूव सविता शिवयोः पुरस्तात् ॥ ६३ ।

हे देवि ! त्वं वेदजननी प्रणवस्वरूपा ओंकारस्वरूपा च । प्रणवस्वरूपा वेदजननी गायत्री वाऽसि । कथम्भूता ? द्विजकामधेनुः द्विजातीनां कामदोग्ध्री । त्वं व्याहृतित्रयं भूर्भुवः स्वरिति रूपम् । इह जगति अखिलकर्मसिद्ध्यै । सुमनः पितृतृप्तिहेतुस्त्वं स्वाहा स्वधाऽसि सुमनसां देवानां तृप्तिहेतुः स्वाहाऽसि पितृणां तृप्तिहेतुः स्वधाऽसीत्यर्थः ॥६१।

हे मातः ! हे मङ्गलागौरि ! त्वं मे इह शरण्यं शरणम् । शशिमौलिनि महादेवे या त्वमेव गौरी । वेधसि ब्रह्मणि सावित्र्यसि । चक्रिणि विष्णौ चारुलक्ष्मीरसि । हे अमलस्वरूपिणि, शुद्धस्वरूपे ! काश्यां त्वं मोक्षलक्ष्मीरसि ॥ ६२ ।

स्तुत्वेति । स्मरहरार्धशरीरस्य शोभा यस्यास्तां शोभारूपां वा । श्रीमङ्गलाष्टकं च तन्महास्तवनं च महास्तोत्रं तेन परितः प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य नत्वा ॥ ६३ ।

हे देवि ! आप ही द्विजगण की कामधेनु, प्रणवस्वरूपा, वेदमाता, गायत्री हैं। संसार में समस्त कर्मों के सिद्ध्यर्थ आप ही तीनों व्याहृतियाँ भी हैं। एवं देवतों के सन्तोषार्थ स्वाहा और पितरों की तृप्ति के लिये स्वधारूपा भी आप ही हैं ॥ ६१ ।

हे निर्मलरूपे ! आप ही महादेव की गौरी, ब्रह्मा की सावित्री, विष्णु की लक्ष्मी और काशी में मुक्तिस्वरूपिणी हैं। अतएव हे मातः ! मंगलागौरि ! यहाँ पर आप ही मेरी रक्षा करने वाली हैं ॥ ६२ ।

भानु भगवान् इस मंगलाष्टक नामक महास्तोत्र के द्वारा शिव की अर्द्धांगस्वरूपा मंगलागौरी की स्तुति करके शिव और पार्वती को बारंबार प्रणाम करते हुए उन लोगों के सन्मुख मौन हो रहे ॥ ६३ ।

देवदेव उवाच—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते प्रसन्नोऽस्मि महामते ।
मित्र मन्नेत्रगो नित्यं प्रपश्यैतच्चराचरम् ।। ६४ ।
मम मूर्तिर्भवान् सूर्य सर्वज्ञो भव सर्वगः ।
सर्वेषां महसां राशिः सर्वेषां सर्वकर्मवित् ।। ६५ ।
सर्वेषां सर्वदुःखानि भक्तानां त्वं निराकुरु ।
त्वया नाम्नां चतुःषष्टया यदष्टकमुदीरितम् ।। ६६ ।
अनेन मां परिष्टुत्य नरो मद्भक्तिमाप्स्यति ।
अष्टकं मङ्गलागौर्या मङ्गलाष्टकसंज्ञकम् ।। ६७ ।
अनेन मङ्गलागौरीं स्तुत्वा मङ्गलमाप्स्यति ।
चतुःषष्टयष्टकं स्तोत्रं मङ्गलाष्टकमेव च ।। ६८ ।
एतत्स्तोत्रवरं पुण्यं सर्वपातकनाशनम् ।
दूरदेशान्तरस्थोऽपि जपन्नित्यं नरोत्तमः ।। ६९ ।
त्रिसन्ध्यं परिशुद्धात्मा काशीं प्राप्स्यति दुर्लभाम् ।
अनेन स्तोत्रयुग्मेन जप्तेन प्रत्यहं नृभिः ।। ७० ।

एतच्चतुःषष्ट्यात्मकं मङ्गलाष्टकं च स्तोत्रवरं स्तवश्रेष्ठम् । स्तोत्रद्वयमिति क्वचित् ।। ६९ ।

देवदेव ने कहा—

हे महामतिमन् ! उठो, उठो, मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारा भला हो । हे मित्र ! तुम मेरे नेत्ररूप होकर इस चराचर संसार को देखते रहो ।। ६४ ।

हे सूर्य ! तुम तो मेरे शरीर ही हो, अतएव तुम सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, समस्त तेजों के राशि और सब लोगों के समग्र कर्मों के ज्ञाता होगे ।। ६५ ।

और तुम समस्त भक्तगण के सब दुःखों को दूर करते रहो । यह जो मेरे चौंसठ नामों का आठ श्लोकों में स्तोत्र तुम ने कहा है, उसके पाठ करने से मनुष्य मेरी भक्ति को पावेगा, एवं मंगलागौरी का जो अष्टक कहा है, उसका नाम मंगलाष्टक है ।। ६६-६७ ।

इससे मंगलागौरी की स्तुति करने पर मंगल ही मिलेगा । यह चतुःषष्ट्यष्टक और मंगलाष्टक, स्तोत्रश्रेष्ठ, पुण्य का दाता और सर्वपातकनाशक । जो उत्तम नर दूरदेशान्तर में रहकर भी शुद्ध अन्तःकरण से इसका नित्य पाठ करेगा, वह परम दुर्लभ काशी का लाभ करेगा । जो लोग प्रतिदिन इन दोनों स्तोत्रों को पढ़ेंगे, उनका

ध्रुवं दैनन्दिनं पापं क्षालितं नाऽत्र संशयः ।
न तस्य देहिनो देहे जातुचित् किल्बिषस्थितिः ॥ ७१ ।
त्रिकालं यो जपेन्नित्यमेतत्स्तोत्रद्वयं शुभम् ।
किं जप्तैर्बहुभिः स्तोत्रैश्चञ्चलश्रीप्रदैर्नृणाम् ॥ ७२ ।
एतत्स्तोत्रद्वयं दद्यात् काश्यां नैःश्रेयसीं श्रियम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मानवैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ ७३ ।
एतत्स्तोत्रद्वयं जप्यं त्यक्त्वा स्तोत्राण्यनेकशः ।
प्रपञ्च आवयोरेव सर्वं एष चराचरः ॥ ७४ ।
तदावयोः स्तवादस्मान्निष्प्रपञ्चो जनो भवेत् ।
समृद्धिमाप्य महतीं पुत्रपौत्रवतीमिह ॥ ७५ ।
अन्ते निर्वाणमाप्नोति जपन् स्तोत्रमिदं नरः ।
अन्यच्च शृणु सप्ताश्व ग्रहराज दिवाकर ॥ ७६ ।
त्वया प्रतिष्ठितं लिङ्गं गभस्तीश्वरसंज्ञितम् ।
सेवितं भक्तिभावेन सर्वसिद्धिसमर्पकम् ॥ ७७ ।

एष चराचररूपः प्रपञ्च आवयोरावाभ्यां विरचितः ॥ ७४ ।
तत्तस्मात् । आवयोरस्मात्तव स्तवादित्यन्वयः ॥ ७५ ।
नरो मनुष्यमात्रः ॥ ७६ ।
गभस्तीश्वरनाम निर्वक्ति । त्वयेति ॥ ७७ ।

दैनिक समस्त पाप धो जावेगा—यह ध्रुव है । इस विषय में तनिक भो सन्देह नहीं है कि उस देही की देह में फिर कुछ भी पाप का लेश रह जावेगा ॥ ६८-७१ ।

जो कोई त्रिकाल में इन दोनों ही उत्तम स्तोत्रों को नित्य जपे, उन मनुष्यों को चंचललक्ष्मी देने वाले अन्य बहुत से स्तोत्रों के पाठ करने का कौन प्रयोजन है ? ॥ ७२ ।

ये ही दोनों स्तोत्र काशीधाम में मोक्षसम्पत्ति को देते हैं । अतएव मोक्षाभिलाषी लोगों को चाहिये कि दूसरे सब स्तोत्रों को छोड़कर प्रयत्नपूर्वक इन्हीं दोनों स्तोत्रों का पाठ करें; क्योंकि यह समस्त चराचर हमी दोनों का प्रपञ्च है ॥७३-७४।

सुतराम् हम लोगों के इस स्तोत्र के पाठ करने से मनुष्य निष्प्रपञ्च हो जाता है और यहाँ पर पुत्र-पौत्र के सहित बड़ी सम्पत्ति पाकर अन्त में निर्वाणपद को प्राप्त करता है । हे सप्ताश्व ! ग्रहराज ! दिवाकर ! एक बात और भो सुनो ॥ ७५-७६ ।

जो कोई तुम्हारे द्वारा स्थापित इस गभस्तीश्वर नामक लिंग को भक्तिभाव से सेवेगा, उसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होवेंगी ॥ ७७ ।

त्वया गभस्तिमालाभिश्चाम्पेयाम्बुजकान्तिभिः ।
यदर्चितत्वैश्वरं¹ लिङ्गं सर्वभावेन भास्कर ॥ ७८ ।
गभस्तीश्वर इत्याख्यां ततो लिङ्गमवाप्स्यति ।
अर्चयित्वा गभस्तीशं स्नात्वा पञ्चनदे नरः ॥ ७९ ।
न जातु जायते मातुर्जठरे धूतकल्मषः ।
इमां च मङ्गलागौरीं नारी वा पुरुषोऽपि वा ॥ ८० ।
चैत्रशुक्लतृतीयाया मुपोषणपरायणः ।
महोपचारैः सम्पूज्य दुकूलाभरणादिभिः ॥ ८१ ।
रात्रौ जागरणं कृत्वा गीतनृत्यकथादिभिः ।
प्रातः कुमारीः सम्पूज्य द्वादशाच्छादनादिभिः ॥ ८२ ।
सम्भोज्य परमान्नाद्यैर्दत्त्वाऽन्येभ्योऽपि दक्षिणाम् ।
होमं कृत्वा विधानेन जातवेदस इत्यृचा ॥ ८३ ।
अष्टोत्तरशताभिश्च तिलाज्याहुतिभिः प्रगे ।
एकं गोमिथुनं दत्त्वा ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ॥ ८४ ।

चाम्पेयश्चम्पकः अम्बुजं पद्मं तद्वत् कान्तिभिः । तुशब्देन श्रैष्ठ्यं द्योत्यते ॥७८।
धूतकल्मषो विगतपापः ॥ ८० ।
जातवेदस इत्यृचा कण्डिकया । जातवेदसे सुनवामसोममराती यतो निदहाति वेदः, स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निरिति मन्त्रशेषः ॥ ८३ ।
प्रगे प्रातःकाले ॥ ८४ ।

हे भास्कर ! तुमने चंपक और कमल के समान अपनी किरणमाला से सर्वभावपूर्वक इस शिवलिंग की पूजा की है, अतएव इस लिंग का गभस्तीश्वर नाम पड़ेगा । जो कोई पंचनद तीर्थ में स्नान करके इस गभस्तीश्वर लिंग का पूजन करेगा, वह निष्पाप हो जाने से फिर कभी माता के जठर की यातना को नहीं भोगेगा, एवं जो नारी अथवा पुरुष, चैत्रमास की शुक्ल-तृतीया को उपवासी होकर, वस्त्र और आभूषणादि महोपचार के द्वारा इस मंगलागौरी का पूजन कर, रात्रि में नृत्य, गीत और कथा इत्यादि से जागरण करेगा एवं प्रातःकाल में बारह कुमारियों को वस्त्रादिक से पूजित कर और उत्तम पदार्थ भोजन करवाय दक्षिणा देकर अन्य लोगों को भी यथाशक्ति दक्षिणा देवेगा एवं "जातवेदस्" इत्यादि वेद की ऋचा से तिल सहित घृत की अष्टोत्तरशत आहुतियाँ विधान से देकर प्रातःकाल होम करेगा, तत्पश्चात् एक कुटुम्बी ब्राह्मण को गौ का जोड़ा देकर, श्रद्धापूर्वक द्विजदम्पती को

---

१. अर्चितु इति च्छेदः अडभावश्छान्दसः यदार्चीति वा पाठः ।

श्रद्धया समलङ्कृत्य भूषणैर्द्विजदम्पती ।
भोजयित्वा महार्हान्नैः प्रीयेतां मङ्गलेश्वरौ ।। ८५ ।
इति मन्त्रं समुच्चार्य प्रातः कृत्वाऽथ पारणम् ।
न दुर्भगत्वमाप्नोति न दारिद्र्यं कदाचन ।। ८६ ।
न वै सन्तानविच्छित्ति र्भोगोच्छित्ति र्न जातुचित् ।
स्त्री वैधव्यं न चाप्नोति न नायोषिद्वियोगभाक् ।। ८७ ।
पापानि विलयं यान्ति पुण्यराशिश्च लभ्यते ।
अपि वन्ध्या प्रसूयेत कृत्वैतन्मङ्गलाव्रतम् ।। ८८ ।
एतद् व्रतस्य करणात् कुरूपत्वं न जातुचित् ।
कुमारी विन्दतेऽत्यन्तं गुणरूपयुतं पतिम् ।। ८९ ।
कुमारोऽपि व्रतं कृत्वा विन्दति[1] स्त्रियमुत्तमाम् ।
सन्ति व्रतानि बहुशो धनकामप्रदानि च ।। ९० ।
नाप्नुयुर्जातुचित्तानि मङ्गलाव्रततुल्यताम् ।
कर्तव्या चाब्दिकी यात्रा मधौ तस्यां तिथौ नरैः ।। ९१ ।

जातुचित् कदाचिदित्यर्थः । नापुरुषः ।। ८७ ।
तस्यां तिथौ शुक्लतृतीयायाम् ।। ९१ ।

भूषणादि से अलंकृत कर उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थों को खिलाकर "मंगलागौरी और परमेश्वर प्रसन्न होवें" यह मन्त्र उच्चारण करने पर प्रभात में ही व्रत का पारण करेगा, तो उसे कभी न तो असौभाग्य होगा, न ही दरिद्रता घेरेगी ।। ७८-८६ ।

न कभी उसके सन्तान का ही विच्छेद होगा, न भोग का सुख ही छूटेगा, न स्त्री ही विधवा होगी और न पुरुष ही स्त्री का वियोगी होवेगा ।। ८७ ।

फिर उसके पापपुंज बिलाय (विलीन हो) जाते हैं और पुण्य की राशि आकर प्राप्त होती है । इस मंगलाव्रत के अनुष्ठान करने से वन्ध्या भी प्रसव करती है ।। ८८ ।

एवं इस व्रत के करने से कुरूपता नहीं होती । कुमारी भी अतिगुणवान् और रूपवान् पति को पाती है ।। ८९ ।

और कुमार भी इस व्रताचरण से उत्तम स्त्रीरत्न का लाभ करता है । यद्यपि बहुत से व्रत धन देने वाले तथा अभीष्टदायक हैं; परन्तु वे सब कदापि इस मंगलाव्रत की तुल्यता को नहीं पा सकते । सभी काशीनिवासियों को समस्त विघ्नों की शान्ति के लिये चैत्रमास की शुक्लतृतीया को मंगलागौरी की वार्षिकी यात्रा सदा करनी

---

१. कन्यां चाप्नोति सद्गुणामित्यपि पुस्तकान्तरे पाठः ।

सर्वविघ्नप्रशान्त्यर्थं सदा काशीनिवासिभिः ।
अपरं द्युमणे वच्मि तव चाऽत्र तपस्यतः ॥ ९२ ।
मयूखा एव खे दृष्टा न च दृष्टं कलेवरम् ।
मयूखादित्य इत्याख्या ततस्तेऽदितिनन्दन ॥ ९३ ।
त्वदर्चनान्नृणां कश्चिन्न व्याधिः प्रभविष्यति ।
भविष्यति न दारिद्र्यं रविवारे त्वदीक्षणात् ॥ ९४ ।
इत्थं मयूखादित्यस्य शिवो दत्वा बहून् वरान् ।
तत्रैवाऽन्तर्हितो भूतो रविस्तत्रैव तस्थिवान् ॥ ९५ ।
श्रुत्वाऽऽख्यानमिदं पुण्यं मयूखादित्यसंश्रयम् ।
द्रौपदादित्यसहितं नरो न निरयं व्रजेत् ॥ ९६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे द्रौपदादित्यमयूखादित्योर्वर्णनं नामैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

मयूखादित्यनाम निर्वक्ति । अपरमिति सार्धेन ॥ ९२ ।
भूतो भूतवान् । जात इति वा पाठः ॥ ९५ ।
अध्यायश्रवणफलमाह । श्रुत्वाऽऽख्यानमिति ॥ ९६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ।

चाहिए। हे दिनमणे! एक बात और भी कहता हूँ—यहाँ पर तपस्या करते समय आकाशमण्डल में तुम्हारे मयूख (किरण) ही दिखलाई पड़ते थे, शरीर नहीं दीखता था, इसलिए हे अदितिनन्दन! तुम्हारा नाम मयूखादित्य होता है ॥ ९०-९३ ।

तुम्हारा पूजन करने से मनुष्यों को कोई व्याधि नहीं होगी और रविवार को तुम्हारा दर्शन करने से कभी दरिद्रता न होवेगी ॥ ९४ ।

महादेव इस प्रकार से मयूखादित्य को बहुत से वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गये और सूर्यदेव वहाँ पर रहने लगे ॥ ९५ ।

द्रौपदादित्य के सहित मयूखादित्य के इस पवित्र आख्यान को सुनकर मनुष्य कदापि नरकगामी नहीं हो सकता ॥ ९६ ।

दोहा—जहं हैं पाँचों पंडवा, वहीं द्रौपदादित्य।
प्रकट मयूखादित्य को, दर्शन करिये नित्य ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां द्रौपदादित्यमयूखादित्य-कथावर्णनं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ।

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्कन्द उवाच—

वाराणस्यां तथादित्या ये चान्ये तान् वदाम्यतः ।
कलशोद्भव ते प्रीत्या सर्वे सर्वाऽघनाशनाः ॥ १ ।
खखोल्को नाम भगवानादित्यः परिकीर्तितः ।
त्रिविष्टपोत्तरे भागे सर्वव्याधिविघातकृत् ॥ २ ।
यथा खखोल्क इत्याख्या तस्यादित्यस्य तच्छृणु ।
पुरा कद्रूश्च विनता दक्षस्य तनये शुभे ॥ ३ ।
कश्यपस्य च ते पत्न्यौ मारीचेः प्राक् प्रजापतेः ।
क्रीडन्त्यावेकदाऽन्योऽन्यं मुने ऊचतुस्त्विति ॥ ४ ।

अध्याये त्वथ पञ्चाशे नानाश्चर्यमनोहरे ।
खखोल्कादित्यतार्क्ष्येशकथा प्रस्तूयतेऽद्भुता ॥ १ ।

अवशिष्टानादित्यान् वक्तुं प्रतिजानीते वाराणस्यामिति । कथनफलमाह । सर्व इति । सर्वेषामघानां सर्वेषां यदघं तस्य वा नाशनाः ॥ १ ।

खखोल्क इति । मध्ये मूर्धन्यषकारवानपि क्वचिद्दृश्यते । त्रिविष्टपं त्रिलोचन-स्थानं तस्योत्तरे उत्तरप्रदेशे ॥ २ ।

(खखोल्कादित्य और गरुडेश्वर की कथा)

कार्तिकेय बोले—

हे कुम्भज मुने ! काशी में और भी जो जो आदित्य हैं, वे सभी महापाप नाशन हैं । अतएव मैं तुम्हारे प्रीत्यर्थ उनका वर्णन करता हूँ ॥ १ ।

त्रिलोचन महादेव के उत्तर भाग में समस्त व्याधियों के विघातक भगवान् खखोल्कादित्य नामक सूर्य विराजमान हैं ॥ २ ।

इनका खखोल्कादित्य नाम पड़ने का कारण कहता हूँ, श्रवण करो । पूर्वकाल में दक्षप्रजापति की कद्रू और विनता नामक दो शुभलक्षणा कन्याएँ हुईं ॥ ३ ।

पीछे वे दोनों ही मरीचि के पुत्र प्रजापति कश्यप की पत्नी हुईं । एक बार वे दोनों परस्पर क्रीड़ा-कौतुक करती हुईं, यह कथोपकथन करने लगीं ॥ ४ ।

कद्रूरुवाच—

विनते त्वं विजानासि यदि तद्ब्रूहि मेऽग्रतः ।
अखण्डिता गतिस्तेऽस्ति यतो गगनमण्डले ॥ ५ ।
योऽसावुच्चैःश्रवा वाजी श्रूयते सवितू रथे ।
किं रूपः सोऽस्ति शबलो धवलो वा वदाऽऽशु मे ॥ ६ ।
पणं च कुरु कल्याणि तुभ्यं यो रोचतेऽनघे ।
एवमेव न यात्येष कालः क्रीडनकं विना ॥ ७ ।

विनतोवाच—

किं पणेन भगिन्यत्र कथयाम्येवमेव हि ।
त्वज्जये का च मे प्रीतिर्मज्जये किं नु ते सुखम् ॥ ८ ।
ज्ञात्वा पणो न कर्तव्यो मिथः स्नेहमभीप्सता ।
ध्रुवमेकस्य विजये क्रोधोऽन्यस्येह जायते ॥ ९ ।

विजानासि विशेषेण जानासि । नु जानासीति क्वचित् ॥ ५ ।

सवितू रथे प्रतिमासं पृथगधिकारित्वेन सूर्यभावापन्नस्येन्द्रस्य रथे इत्यर्थः । शबलः कर्बुरः ॥ ६ ।

पणं जयानन्तरं देयम् । न यातु मा गच्छतु । न यातीति क्वचित् ॥ ७ ।

कद्रू ने कहा—

हे विनते ! आकाशमण्डल में तुम्हारी सर्वत्र ही गति है, अतएव (वहाँ की एक बात पूछती हूँ) यदि तुम्हारा जाना हो, तो मेरे सामने कहो ॥ ५ ।

(यह सूर्य जो गगन में विचरण करते हैं) इनके रथ में उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा रहता है, यह सुना जाता है । सो वह घोड़ा चितकबरा है, कि श्वेतवर्ण है ? यह मुझसे शीघ्र कहो ॥ ६ ।

और हे कल्याणि ! तुमको जो रुचे, सो पणबन्ध (शर्त) भी कर लो, हे अनघे ! विना खेलवाड़ के यों ही दिन नहीं बीतता ॥ ७ ।

विनता ने कहा—

बहिन ! इस विषय में पण करने का कौन प्रयोजन है, मैं यों ही कहती हूँ; क्योंकि तुमको जीतकर मुझे कौन प्रसन्नता होगी अथवा मुझी को जीतकर तुम्हें कौन बड़ा सुख मिल जावेगा ? ॥ ८ ।

यही विचार कर परस्पर स्नेह बनाये रखने की इच्छा वाले को किसी प्रकार का पणबन्ध नहीं करना चाहिए; क्योंकि एक ही का जीतना निश्चित है, तब फिर दूसरे को क्रोध हो जाता है ॥ ९ ।

कद्रूरुवाच—

क्रीडेयं नात्र भगिनि कारणं किमपि क्रुधः ।
खेलस्य व्यवहारोऽयं पणे यत् किञ्चिदुच्यते ॥ १० ।

विनतोवाच—

तथा कुरु यथा प्रीतिस्तवाऽस्ति पवनाशिनि ।
अथ तां विनतामाह कद्रूः कुटिलमानसा ॥ ११ ।
तस्यास्तु सा भवेद्दासी पराजीयेत या यया ।
अस्मिन्पणे इमाः सर्वाः सख्यः साक्षिण्य एव नौ ॥ १२ ।
इत्यन्योन्यं पणीकृत्य सर्पिण्यपि पतत्त्रिणी ।
उवाच कर्बुरं कद्रूरश्वं श्वेतं गरुत्मती ॥ १३ ।
कदा गन्तव्यमिति च चक्राते ते गमावधिम् ।
जग्मतुश्च विरम्याऽथ क्रीडनात्स्वस्वमालयम् ॥ १४ ।
विनतायां गतायां तु कद्रूराहूय चाङ्गजान् ।
उवाच यात वै पुत्रा द्रुतं वचनतो मम ॥ १५ ।

क्रुधः क्रोधस्य । खेलस्य क्रीडायाः पणे पणनिमित्ते ॥ १० ।
पवनाशिनि हे सर्पिणि । सर्पाकारत्वात् कद्र्वाः ॥ ११ ।
पतत्त्रिणी पक्षिणी । पक्ष्याकारत्वाद्विनतायाः ॥ १३ ।

कद्रू कहने लगी—

अरे बहिन ! यह खेलवाड़ हो रहा है, भला इसमें क्रोध करने का कौन-सा कारण है ? यह तो खेल का साधारण व्यवहार है कि कुछ पणबन्ध कह दिया जाता है ॥ १० ।

विनता ने उत्तर दिया—

हे वायुभक्षिणि ? जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता हो, वही करो । यह सुनकर कुटिलहृदया कद्रू ने विनता से कहा कि, जो हार जावे, वह जीतनेवाली की दासी होवे और हम दोनों के इस पणबन्ध की ये सब सखियाँ साक्षिणी रहें ॥ ११-१२ ।

इस प्रकार से सर्पिणी कद्रू और पक्षिणी विनता के पणबन्ध हो जाने पर कद्रू ने चितकबरा और विनता ने श्वेतवर्ण कहा ॥ १३ ।

अनन्तर वे दोनों परीक्षा के लिये गमन का समय निश्चित कर, खेलवाड़ से छुट्टी पाकर अपने अपने घर को चली गईं ॥ १४ ।

विनता के हट जाने पर कद्रू ने अपने पुत्रों को बुलाकर यह कहा कि, हे बेटे ! तुम लोग मेरे कहने से अभी वहाँ जाओ । जहाँ पर कि देवता और दैत्यों ने

तुरङ्गमुच्चैःश्रवसं प्रोद्भूतं क्षीरनीरधेः।
सुरासुरैर्मथ्यमानान् मन्दराघातसाध्वसात् ॥ १६ ॥
कार्यकारणरूपस्य सादृश्यमधिगच्छति।
अतस्तं क्षीरवर्णाभं कल्मषायत पुत्रकाः ॥ १७ ॥
तस्य वालधिमध्यास्य कृष्णकुन्तलतां गताः।
तथा तदङ्गलोमानि विधत्त विषसीत्कृतैः ॥ १८ ॥
इति श्रुत्वा वचो मातुः काद्रवेयाः परस्परम्।
सम्मन्त्र्य मातरं प्रोचुः कद्रूं कद्रूपमागताः ॥ १९ ॥

नागा ऊचुः—

मातर्वयं त्वदाह्वानाद्विहाय क्रीडनं बलात्।
प्राप्ताः प्रहृष्टा मृष्टान्नं दास्यत्यद्य प्रसूरिति ॥ २० ॥

कल्मषायत कल्मषवर्णमिव कुरुत ॥ १७ ॥

वालधिं लाङ्गुलम्। कृष्णकुन्तलतां कृष्णकेशताम्। तथा तदङ्गलोमान्यध्यास्य विधत्त कर्बुरतामिति शेषः। कैः ? विषसीत्कृतैर्विषसहितैः सीत्कृतैर्विषोद्गारध्वनिभिरित्यर्थः। विषसीत्कृतैर्विषफूत्कृतैरिति वा। यद्वा, विषसीत्कृतैरिति विशेषणे तृतीया। विषोद्गारविशिष्टान्यङ्गलोमानि विधत्तेत्यर्थः ॥ १८ ॥

कद्रूपं कुत्सितं रूपम् ॥ १९ ॥

मिलकर मन्दराचल को मन्थनदण्ड (छोरी) बना क्षीरसमुद्र को मथकर, उच्चैःश्रवा तुरंग को निकाला है ॥ १५-१६ ॥

हे पुत्रगण ! यद्यपि सभी कार्य कारण ही के अनुरूप होते हैं (यह मैं जानती हूँ); तथापि तुम लोग उस क्षीरसमुद्र के निकले दुग्धसदृश श्वेतवर्ण घोड़े को चितकबरा रंग का बना दो ॥ १७ ॥

तुम सब उसके पूंछ में लिपट कर उसके बालों को काला कर सकते हो एवं अपने विषैले फुफकारों से उसके सर्वांग में रोमों को भी श्याम कर देना ॥ १८ ॥

माता का यह वचन सुनकर कुरूपधारी कद्रू के सन्तानगण परस्पर विचारकर अपनी माता से बोले ॥ १९ ॥

सर्पों ने कहा—

"हे मातः ! हम लोग तो तुम्हारे पुकारने पर यह समझकर अपना खेलवाड़ छोड़ प्रसन्नता से चले आये कि माता आज मिठाई देवेंगी ॥ २० ॥

मृष्टं तिष्ठतु तद्दूरं विषादप्यधिकं कटु ।
तत्त्वयाऽवादि यन्मन्त्रैरौषधैर्नोपशाम्यति ॥ २१ ।
वयं न यामो यद्भाव्यं तदस्माकं भवत्विह ।
इति प्रोक्तं विषास्यैस्तैस्तदा कुटिलगामिभिः ॥ २२ ।

स्कन्द उवाच—

अन्येऽपि ये कुटिलगाः पररन्ध्रनिषेविणः ।
अकर्णाः क्रूरहृदयाः पितरौ व्रीडयन्ति ते ॥ २३ ।
पित्रोर्गिरं निराकृत्य ये तिष्ठेयुः सुदुर्मदाः ।
अत्याहितमिह प्राप्य गच्छेयुस्तेऽचिराल्लयम् ॥ २४ ।
तेषां वचनमाकर्ण्य न याम इति सोरगी ।
शशाप तान् क्रुधाविष्टा नागांश्चागःसमागतान् ॥ २५ ।

अवादि उक्तम् ॥ २१ ।

अकर्णाः कर्णरहिताः । पित्रोर्वाक्यं शृण्वन्तोऽप्यशृण्वन्त इत्यर्थः । व्रीडयन्ति उपहसन्ति तिरस्कुर्वन्ति अवज्ञयतीति यावत् । चाटयन्तीति पाठे स एवार्थः ॥ २३ ।

अत्याहितं महाभीतिम् । अचिराल्लयं शीघ्रं मरणम् ॥ २४ ।

उरगी कद्रूः । आगःसमागतान् अपराधं प्राप्तान् ॥ २५ ।

सो, मिठाई तो दूर रहे, जो तुमने कहा, वह तो विष से भी बहुत अधिक कड़आ है और उसका उपशमन न तो मन्त्रों से और न औषधों से ही हो सकता है ॥ २१ ।

यहाँ पर हम लोगों का जो होना हो, सो होवे, पर हम लोग तो कदापि नहीं जा सकते हैं ।" उस घड़ी उन कुटिलगामी विषमुखों ने यही उत्तर दिया ॥ २२ ।

स्कन्द बोले—

हे मुने ! (इन सर्पों के समान) दूसरे भी कुटिलगतिवाले परछिद्रनिषेवी कर्णहीन क्रूर-हृदय लोग ही अपने माता-पिता को लज्जित करते हैं ॥ २३ ।

जो अहंकारीगण माता-पिता के वचन का निरादर कर देते हैं, वे संसार में बड़े-बड़े दुःखों को भोगकर शीघ्र ही मरण को भी प्राप्त होते हैं ।

दोहा—जे न करहिं अतिदर्पवश, मात पिता के बैन ।
थोरेहि दिन में नष्ट होइ, कबहुँ न पावैं चैन ॥ २४ ।

अनन्तर उन सबों की यह बात कि "नहीं जा सकते हैं" ऐसा सुनते ही कद्रू क्रोध में आकर उन अपराधी सर्पों को शाप देने लगी ॥ २५ ।

ताक्ष्यस्य भक्ष्याऽभवत यूयं मद्वाक्यलङ्घनात् ।
जातमात्रांश्च सर्पिण्यो भक्षयन्तु स्वबालकान् ॥ २६ ।
इति शापाऽनलाद्भीतैः कैश्चित्पातालमाश्रितम् ।
जिजीविषुभिरन्यैश्च द्वित्रैश्चक्रे प्रसूवचः ॥ २७ ।
ते पुच्छमौच्चैःश्रवसमधिगम्य महाधियः ।
सुनीलचिकुराभासं चक्रुरङ्गं च कर्बुरम् ॥ २८ ।
तत्क्ष्वेडानलधूमौघैः फूत्कारभरनिःसृतैः ।
मातृवाक्कृतिजाद्धर्मान्न दग्धा भानुभानुभिः ॥ २९ ।
विनतापृष्ठमारुह्य कद्रूः स्नेहवशात्ततः ।
वियन्मार्गमलङ्कृत्य ददर्शोष्णांऽशुमण्डलम् ॥ ३० ।
तिग्मरश्मिप्रभावेण व्याकुलीभूतमानसा ।
कद्रूस्ततः खगीं प्राह विस्रब्धं विनते व्रज ॥ ३१ ।

पुच्छमौच्चैःश्रवसं श्रवसः पुच्छमित्यर्थः। पुच्छगोच्चैरिति पाठे विसर्गलोपेऽपि सन्धिरार्षः। सुनीलचिकुराभासमतिकृष्णकेशसदृशम् ॥ २८ ।

तत्क्ष्वेडानलधूमौघैस्तेषां सर्पाणां विषाग्निधूम्रसमूहैः। फूत्कारभरनिःसृतैः फूत्कारसमूहनिःसृतैः। ननु सूर्यनैकट्यात् किमिति तद्रश्मिभिस्ते दग्धास्तत्राह। मान्निति ॥ २९ ।

विश्रब्धं विनम्रं यथा स्यादिति वा ॥ ३१ ।

"तुम सब मेरे वचन के उल्लंघन करने से गरुड़ के भोजन होगे और तुम्हारी स्त्रियाँ बच्चा उत्पन्न होते ही उसे खाने लगेंगी" ॥ २६ ।

सर्पगण माता के इस शापानल से डर कर बहुतेरे तो पाताल में भाग गये और अवशिष्ट दो-चार मातृशाप से प्राण बचाने की आशा से उसकी आज्ञा पालन करने में तत्पर हुए ॥ २७ ।

वे सब बड़ी बुद्धिमत्ता से जाय, उच्चैःश्रवा की पूँछ में लिपट कर, उसे अत्यन्त काले रंग के बालों का बना, अपने विषरूप अग्नि के फुफकाररूप धूम से उस घोड़े के समस्त अंगों को चितकबरा करने लगे और माता के आज्ञापालनरूप धर्म करने से सूर्य की किरणों से भी वे सब दग्ध नहीं हो सके ॥ २८-२९ ।

उसी वेला विनता की पीठ पर चढ़कर कद्रू भी स्नेहवश गगनपथ को भूषित कर सूर्यमण्डल देखने लगी ॥ ३० ।

(क्रमशः उठते जाने पर) सूर्य के तीक्ष्ण किरणों के लगने से अतिव्याकुलचित्त होकर कद्रू ने विनता से कहा—"हे विनते ! अब नीचे ही की ओर चलो ॥ ३१ ।

उष्णगोरुष्णगोभिर्मे ताप्यते नितरां तनुः ।
विस्रब्धाऽहं स्वभावेन त्वं सापेक्षा हि सर्वतः ॥ ॥ ३२ ।
स्वरूपेण पतङ्गी त्वं पतङ्गोऽसौ सहस्रगुः ।
अत एव न ते बाधा गगने तापसम्भवा ॥ ३३ ।
वियत्सरसि हंसोऽयं भवती हंसगामिनी ।
चण्डरश्मिप्रतापाग्निस्त्वामतो नेह बाधते ॥ ३४ ।
खगीमुद्गीयमानां खे पुनरुचे बिलेशया ।
त्राहि त्राहि भगिन्यत्र यावोऽन्यत्र वियत्पथः ॥ ३५ ।
विनते विनतां मां त्वं किं नावसि पतत्त्रिणी ।
तव दासी भविष्यामि त्वदुच्छिष्टनिषेविणी ॥ ३६ ।

उष्णगोः सूर्यस्य । उष्णगोभिस्तीक्ष्णरश्मिभिः विस्रब्धा निरपेक्षा ॥ ३२ ।

सापेक्षत्वमेव दर्शयति । स्वरूपेणेति द्वयेन । पतङ्गी पक्षिणी पतङ्गशब्देन सूर्योऽप्युच्यते । शब्दश्लेषेण सापेक्षत्वं तत्रोन्नेयम् ॥ ३३ ।

वियदेव सरस्तस्मिन् ॥ ३४ ।

ऊचे उक्तवती । बिलेशया सर्पिणी ॥ ३५ ।

अवसि रक्षसि ॥ ३६ ।

(क्योंकि) तपनदेव की इन उष्ण किरणों से मेरा शरीर झुलसा जा रहा है और मैं तो स्वभाव से ही विश्वास करती और कोई अपेक्षा नहीं रखती हूँ, पर तुम तो सर्वतोभाव से सापेक्षा हो ॥ ३२ ।

(प्रथम तो यह कि) तुम्हारा स्वरूप पतंगी का है और यह सूर्य भी पतंग हैं । इसी कारण से आकाश में तुमको तापजनित कोई भी बाधा नहीं होती ॥ ३३ ।

(दूसरे यह कि) आकाशरूप सरोवर में यह सूर्य हंसरूप हैं और तुम भी हंसगामिनी हो । इसी से यहाँ पर सूर्य की किरणों का प्रतापाग्नि तुमको कुछ भी पीड़ित नहीं कर सकती है" ॥ ३४ ।

कद्रू के इस कहने पर भी जब विनता और ऊपर को ही उड़ती हुई चढ़ती चली, तब कद्रू ने कहा कि बहिन ! अब यहाँ से लौट चलो और मेरे प्राणों को बचाओ ॥ ३५ ।

हे विनते ! मैं तुम्हारे पैरों पर पड़ती हूँ, मुझे क्यों नहीं बचाती हो ? हे पक्षिणि ? जन्म भर मैं तुम्हारी दासी बनी रहूँगी और तुम्हारा जूठा खाऊँगी एवं

यावज्जीवमहं भूयां त्वत्पादोदकपायिनी ।
खखोल्का निपतेदेषा भृशं गद्गदभाषिणी ।। ३७ ।
मूर्च्छां गतवती पक्षपुटौ धृत्वा बिडोरगी ।
सख्युल्का निपतेदेषा वक्तव्ये त्विति सम्भ्रमात् ।। ३८ ।
खखोल्केति यदुक्ता गीः कद्र्वा सम्भ्रान्तचेतसा ।
तदा खखोल्कनामार्कः स्तुतो विनतया बहु ।। ३९ ।
मनागतिग्मतां प्राप्ते खे प्रयाति विवस्वति ।
ताभ्यां तुरङ्गमोऽदर्शि किञ्चित्कर्मीरवान् रथे ।। ४० ।
उक्ता विनतयैवैषा तापोपहतलोचना ।
क्रूरा सरीसृपी सत्यवादिन्या विश्वमान्यया ।। ४१ ।

खखोल्कनामत्वे अर्कस्य हेतुमाह । खखोल्केति द्वयेन ।। ३७ ।

बिडोरगी बिलसर्पिणी । डलयोरैक्याद् बिलाश्रयत्वात् सूर्यस्यातपं सोढुमक्षमेति बिडपदस्य तात्पर्यम् । पूर्वार्धं विवृण्वन् हेतुमेव स्पष्टयति । सखीति । तुशब्दोऽत्र भिन्नक्रमे । इति तु वक्तव्ये सम्भ्रमादित्यन्वयः ।। ३८ ।

यद्यदा । गीर्वाणी ।। ३९ ।

किर्मीरवान् कर्बुरवर्णवान् । किर्मीरित इति पाठे किर्मीरः कबुरवर्णो यस्य संजातः । इतच्प्रत्ययः ।। ४० ।

तुम्हारा ही पैर धोकर पीऊँगी । कातरस्वर से यह कहती हुई—अरे ! यह आकाश का लुक्क गिरता ही है ।। ३६-३७ ।

बिल में रहने वाली सर्पिणी कद्रू बड़ी घबराहट से "हे सखि ! यह लुक्क गिरता है" यह वचन अस्फुट उच्चारण करते न करते विनता के पक्षपुट को पकड़कर (उसके पीठ ही पर) मूर्च्छित हो गयी ।। ३८ ।

उस घड़ी कद्रू ने जो बड़े घबराहट के साथ 'खखोल्क' ऐसा वचन कहा । इसी से विनता सूर्य की खखोल्क नाम से बड़ी स्तुति करने लगी ।। ३९ ।

अतः परं भगवान् विवस्वान् (विनता की स्तुति से प्रसन्न होकर कुछ काल के लिये) अपनी तीक्ष्णता को रोककर चलने लगे । उसी समय आकाश में उन दोनों (विनता और कद्रू) ने रथ में जाते हुए घोड़े को कुछ चितकबरा रंग का देखा ।। ४० ।

(तुरन्त ही) सत्यवादिनी, जगन्मान्या, विनता ने सूर्य के प्रखर ताप से प्रतिहत-दृष्टि, क्रूरहृदया, कद्रू से यह कहा ।। ४१ ।

कद्रु त्वया जितं भद्रे यत उच्चैःश्रवा हयः ।
चन्द्ररश्मिप्रभोऽप्येष कल्माष इव भासते ॥ ४२ ।
विधिर्बलीयान् भुजगि चित्रं जयपराजये ।
क्रूरोऽपि विजयी क्वापि त्वक्रूरोऽपि पराजयी ॥ ४३ ।
विनता विनताधारा वदन्तीति यथागतम् ।
कद्रूनिवेशनं प्राप्ता तस्या दास्यमचीकरत् ॥ ४४ ।
कदाचिद् विनताऽदर्शि सुपर्णेनाश्रुलोचना ।
विच्छाया मलिना दीना दीर्घनिःश्वासवत्यपि ॥ ४५ ।

सुपर्ण उवाच—

प्रातःप्रातरहो मातः क्व यासि त्वं दिने दिने ।
सायमायासि च कुतो विच्छाया दीनमानसा ॥ ४६ ।
कुतो निःश्वसिसि प्रोच्चैरश्रुपूर्णविलोचना ।
यथा क्लीबसुता योषिद्यथा पतितिरस्कृता ॥ ४७ ।

विनताधारा विनम्रताया आधारभूता । विनताचारेति क्वचित् ॥ ४४ ।

"हे भद्रे ! कद्रू ! तुमने जीत लिया क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेतवर्ण होने पर भी यह उच्चैःश्रवा तुरंग (आज) चितकबरा-सा भास रहा है ॥४२।

हे भुजंगिनि ! जय और पराजय में भाग्य ही बली होता है" ! बड़े आश्चर्य की बात है कि कहीं तो कपटी जन भी विजयी हो जाता है और कभी-कभी निष्कपट जन को भी हार जाना पड़ता है ॥ ४३ ।

विनता विनतभाव से यह सब कहती हुई जिधर से गई थी, उधर से ही लौट कर कद्रू के घर पर जा पहुँची और उसकी सेवकाई करने लगी ॥ ४४ ।

एक बार गरुड़ ने अपनी माता विनता को आँसू भरे हुए उदासमुख, परममलिन और दीन एवं बड़ी लम्बी साँस लेती हुई देखा ॥ ४५ ।

सुपर्ण ने कहा—

(तब तो) गरुड़ ने पूछा—"अहो मातः ! प्रतिदिन प्रभात होते ही तुम कहाँ चली जाती हो ? और फिर सन्ध्या के समय कहाँ से उदासीनमुख और दीन-हृदय होकर लौट आती हो ॥ ४६ ।

और क्यों क्लीब-सन्तति अथवा पतितिरस्कृता स्त्री के समान नेत्रों में आँसू भरकर ऊँची साँसें लेती हो ? ॥ ४७ ।

ब्रूहि मातर्झटित्यद्य कुतो दूनासि पत्रिणि ।
मयि जीवति ते बाले कालेऽपि कृतसाध्वसे ॥ ४८ ।
अश्रुनिर्माणकरणे कारणं किं तपस्विनि ।
सुचरित्रासु नारीषु नाऽमङ्गलमिहेष्यते ॥ ४९ ।
धिक् तांश्च पुत्रान्यन्माता तेषु जीवत्सु दुःखभाक् ।
वरं वन्ध्यैव सा यस्याः सुता वन्ध्यमनोरथाः ॥ ५० ।
इत्यूर्जस्वलमाकर्ण्य वचः सूनोर्गरुत्मतः ।
विनता प्राह तं पुत्रं मातृभक्तिसमन्वितम् ॥ ५१ ।
अहं दास्यस्मि रे बाल कद्रुवाश्च क्रूरचेतसः ।
पृष्ठे वहामि तां नित्यं तत्पुत्रानपि पुत्रक ॥ ५२ ।
कदाचिन्मन्दरं यामि कदाचिन्मलयाचलम् ।
कदाचिदन्तरोपेषु चरेयं तदुदन्वताम् ॥ ५३ ।

दूनासि उपतप्तासि । कृतसाध्वसे कृतभये ॥ ४८ ।

येषां माता यन्माता चकारात्तत्पुत्रानपि ॥ ५० ।

सक्रूरचेतस इति पाठे क्रूरचित्तयुक्ताया इत्यर्थः ॥ ५२ ।

अन्तरीपेषु मध्यवर्तिजलगर्भितद्वीपेषु । केषां तदुदन्वतां तेषां प्रसिद्धानां लवणादीनां समुद्राणाम् ॥ ५३ ।

हे तपस्विनि ! आज तुम मुझसे यह झटपट कह दो कि तुम क्यों इतनी खिन्न हो रही हो ? हे जननि ! मेरे ऐसे काल को डराने वाले पुत्र के जीते रहने पर तुम्हारे इन आँसुओं की धारा बहाने का क्या कारण है ? क्योंकि संसार में सच्चरित्रा स्त्रियों पर तो अमंगल पड़ ही नहीं सकता ॥ ४८-४९ ।

जिनके जीते रहते माता को दुःख भोगना पड़े, उन पुत्रों को धिक्कार है !! जिसके पुत्र माता के मनोरथ पूर्ण न कर सकें, उससे तो वन्ध्या ही अच्छी है" ॥ ५० ।

इस प्रकार से विनता ने मातृभक्त गरुड़ के ऊर्जस्वल वचन को सुनकर अपने पुत्र से कहा ॥ ५१ ।

हे बेटा ! मैं क्रूरचित्ता कद्रू की दासी होकर अपने पीठ पर उसे और उसके पुत्रों को लादकर प्रतिदिन ढोया करती हूँ ॥ ५२ ।

कभी मन्दराचल, कभी मलयाचल और कभी-कभी समुद्रों के अन्तरीपों में घुमाया करती हूँ ॥ ५३ ।

यत्र यत्र नयेयुस्ते काद्रवेयाः सुदुर्मदाः ।
व्रजेयं तत्र तत्राऽहं तदधीना यतः सुत ॥ ५४ ।

गरुड उवाच—

दासीत्वकारणं मातः किं ते जातं सुलक्षणे ।
दक्षप्रजापतेः पुत्रि कश्यपस्य प्रियेऽनघे ॥ ५५ ।
विनतोवाच गरुडं पुरावृत्तमशेषतः ।
दासीत्वकारणं यद्वदादित्याश्वविलोकनम् ॥ ५६ ।
श्रुत्वेति गरुडः प्राह मातरं सत्वरं व्रज ।
पृच्छाद्य मातस्तान् दुष्टान् काद्रवेयानिदं वचः ॥ ५७ ।
यद्दुर्लभं हि भवतां यत्राऽत्यन्तरुचिश्च वः ।
मद्दासीत्वविमोक्षाय तद्याचध्वं ददाम्यहम् ॥ ५८ ।
तथाऽकरोच्च विनता तेऽपि श्रुत्वा तदीरितम् ।
सर्पाः सम्मन्त्र्य तां प्रोचुर्विनतां हृष्टमानसाः ॥ ५९ ।

संमन्त्र्य मात्रा सार्धमिति शेषः ॥ ५९ ।

वे सब दुर्मद कद्रू के पुत्रगण जहाँ-जहाँ ले जाते हैं, वहाँ-वहाँ उनको लादकर मुझे पहुँचाना पड़ता है । हे बेटा ! मैं क्या करूँ ? क्योंकि उनके अधीन हो पड़ी हूँ॥५४।

गरुड ने पूछा—

'अम्ब ! इस दासी होने का कौन-सा कारण है ? हे सुलक्षणे ! अनघे ! तुम भी तो दक्षप्रजापति की पुत्री और कश्यप की पत्नी हो, (फिर दासी कैसे हुई ?) ॥ ५५ ।

विनता ने अपने दासीत्व का कारण, सूर्य के घोड़ों का दर्शन इत्यादि समस्त वृत्तान्त आद्योपान्त गरुड से कह सुनाया ॥ ५६ ।

यह सुनकर गरुड ने कहा—

माता ! आज तुम अभी चली जाओ और दुष्ट कद्रू के पुत्रों से यह बात पूछो कि जो वस्तु तुम लोगों को परमदुर्लभ हो और जिस पर तुम सबकी बड़ी ही रुचि हो, वह मुझसे लेकर मेरा दासीत्व छुड़ा दो ॥ ५७-५८ ।

गरुड़ के कथनानुसार विनता ने वैसा ही किया । यह सुनकर वे सब सर्प परस्पर विचार करके प्रसन्न मन से विनता के प्रति यह कहने लगे ॥ ५९ ।

मातृशापविमोक्षाय यदि दास्यति नः सुधाम् ।
तदा समीहितं तेऽस्तु न दास्यत्यथ दास्यसि ॥ ६० ॥
इत्योङ्कृत्य समापृच्छ्य कद्रूं द्रुतगतिः खगी ।
गरुत्मन्तं समाचष्ट दृष्ट्वा संहृष्टमानसम् ॥ ६१ ॥
नागान्तकस्ततः प्राह मातरं चिन्तयातुराम् ।
आनीतं विद्धि पीयूषं मातर्मे देहि भोजनम् ॥ ६२ ॥
विनता प्राह तं पुत्रं सम्प्रहृष्टतनूरुहा ।
भो सुपर्णार्णवं तूर्णं याहि मङ्गलमस्तु ते ॥ ६३ ॥
सन्ति तत्रापि बहुशो निषादा मत्स्यघातिनः ।
वेलातटनिवासाश्च तान्भक्षय दुरात्मनः ॥ ६४ ॥

मातृशापविमोक्षाय ताक्ष्यंस्य भक्ष्याऽभवतेति मात्रा कद्र्वा दत्तस्य शापस्य नाशाय । अमृते पीतेऽमरत्वेन गरुडभक्ष्यत्वाभावादित्यभिप्रायः । यद्वा, गरुडो मातुर्विनतायाः शापविमोक्षार्थमिति वा । दास्यतीत्युभयत्र गरुड एव भवतीति वा । दास्यसीति वा पाठः । न दास्यति सुधामित्यनुषज्जते अथ चेद्दास्यसि दासी भवसि ॥ ६० ॥

निषादाः चाण्डालाः । वेलातटनिवासाः समुद्रजलतीरवासिनः, समुद्रतीरोच्चप्रदेशनिवासा इति वा । वेलाकूलनिवासा इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ६४ ॥

सर्पों ने कहा—

यदि तुम मेरी माता के दासीत्व से मुक्त होने के लिये अमृत लाकर हम लोगों को दोगी, तब तो तुम्हारा अभिलाष पूर्ण हो सकता है, नहीं तो दासी ही बनी रहोगी ॥ ६० ।

कद्रू से भी पूँछकर विनता ने उनको बात को अंगीकार कर शीघ्रगति से प्रसन्नहृदय हो गरुड़ के पास जाकर यह वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ६१ ।

अनन्तर नागान्तक चिन्तातुर गरुड़ माता से कहने लगे कि हे मातः ! अमृत को तो लाया हुआ ही समझो और मुझको कुछ भोजन दो ॥ ६२ ।

प्रसन्नता से रोमांचित होकर विनता ने पुत्र गरुड़ से कहा—'हे सुपर्ण ! तुम्हारा मंगल होवे, तुम अभी समुद्र के तट पर चले जाओ ॥ ६३ ।

वहाँ पर मछलियों को मारने वाले बहुत से निषाद लोग समुद्र के तटप्रान्त में निवास करते हैं, उन दुरात्माओं का जाकर भोजन करो ॥ ६४ ।

परप्राणैर्निजप्राणान् ये पुष्णन्तीह दुर्धियः।
शासनीयाः प्रयत्नेन श्रेयस्तच्छासनं परम् ॥ ६५ ।
बहुहिंसाकृतां हिंसा भवेत्स्वर्गस्य साधनम्।
विहिंसितेषु दुष्टेषु रक्ष्यन्ते भूरिशो यतः ॥ ६६ ।
निषादेष्वपि चेद्विप्रः कश्चिद्भवति पुत्रक।
स रक्षणीयो यत्नेन भक्षणीयो न कर्हिचित् ॥ ६७ ।

गरुड उवाच—

मत्स्यादिनां वसन्मध्ये कथं ज्ञेयो द्विजो मया।
अभक्ष्यो यस्त्वया प्रोक्तस्तच्चिह्नं किञ्चनात्थ मे ॥ ६८ ।

विनतोवाच—

यज्ञसूत्रं गले यस्य सोत्तरीयं सुनिर्मलम्।
नित्यधौतानि वासांसि भालं तिलकलाञ्छितम् ॥ ६९ ।

शासनीयाः मारणीयाः ॥ ६५।

मत्स्यादिनां मत्स्यभक्षकाणाम्। मत्स्याशिनामिति क्वचित्। आत्थ कथय। लकारव्यत्ययश्छान्दसः ॥ ६८।

जो दुर्बुद्धिगण संसार में दूसरों के प्राणों को मारकर अपने प्राण का रक्षण करते हैं, उनका शासन प्रयत्नपूर्वक करना उचित है; क्योंकि दुष्टों का शासन करना ही परममंगल है ॥ ६५।

बहुत हिंसा करनेवालों को मारना स्वर्ग का साधन होता है; क्योंकि एक जीवनघाती के मारे जाने पर बहुत से जीवों की प्राणरक्षा हो जाती है ॥ ६६।

हे पुत्रक ! यदि कोई निषादों में ब्राह्मण होवे, तो उसकी सर्वथा रक्षा ही करना, उसे कदापि मत खा जाना ॥ ६७।

गरुड बोले—

"मत्स्यभोजी निषादों के बीच में रहनेवाले ब्राह्मण को, जिसे तुम भोजन करने के लिये निषेध करतो हो, मैं कैसे पहचान सकूँगा ? उसके जो कुछ चिह्न हों, उनको मुझसे कह दो" ॥ ६८।

विनता ने कहा—

"जिसके गले में यज्ञोपवीत हो और निर्मल दुपट्टा ओढ़े हो, जिसके वस्त्र नित्य ही कचारे जाते हों, जिसके मस्तक पर तिलक लगा रहे, जिसके दोनों ही हाथों में

सपवित्रौ करौ यस्य यन्नीवी कुशगर्भिणी ।
यन्मौलिः सशिखाग्रन्थिः स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ।। ७० ।
उच्चरेदृग्यजुःसाम्नामृचमेकामपीह यः ।
गायत्रीमात्रमन्त्रोऽपि स विज्ञेयो द्विजस्त्वया ।। ७१ ।

गरुड उवाच—

मध्ये सदा निषादानां यो वसेज्जननि द्विजः ।
तस्यैतेष्वेकमप्येव न मन्ये लक्ष्मबोधकम् ।। ७२ ।
लक्ष्मान्तरं समाचक्ष्व द्विजबोधकरं प्रसूः ।
येन विज्ञाय तं विप्रं त्यजेयमपि कण्ठगम् ।। ७३ ।
तच्छ्रुत्वा विनता प्राह यस्ते कण्ठगतोऽङ्गज ।
खदिराङ्गारवद्दह्यात्तमपाकुरु दूरतः ।। ७४ ।

नीवी परिधानवस्त्रम् ।। ७० ।

लक्ष्म चिह्नम् ।। ७२ ।

प्रसूः हे मातः ।। ७३ ।

खदिराङ्गारवत् खदिरकाष्ठस्य ज्वलदङ्गारवदित्यर्थः ।। ७४ ।

पवित्री पड़ी हो और जिसके कटिस्थल में कुश खोंसा रहे एवं जिसके माथे की चोंटी में गाँठ लगी हो, उसे तुम ब्राह्मण जानना ।। ६९-७० ।

जो ऋग्वेद, यजुर्वेद अथवा सामवेद की एक भी ऋचा का उच्चारण करे, किं वा जो गायत्री मन्त्र को जानता हो, उसे भी द्विज ही समझना चाहिए" ।। ७१ ।

गरुड ने कहा—

"हे जननि ! जो ब्राह्मण सर्वदा निषादों के मध्य में रहेगा, उसको तो इन सबों में कोई भी चिह्नाई देने वाला (पहचान करानेवाला) लक्षण होगा। यह मेरी समझ में नहीं आता है ।। ७२ ।

हे मातः ! द्विजत्वबोधक कोई दूसरा लक्षण बता दो, जिससे मैं उसे ब्राह्मण जानकर कंठ में चले जाने पर भी छोड़ सकूँ" ।। ७३ ।

यह सुनकर विनता ने कहा—

"हे पुत्र ! जो तुम्हारे गले में चले जाने पर खैर की लकड़ी के अंगारा-सा जलाने लगे, उसे (ब्राह्मण समझकर) दूर से ही त्याग कर देना ।। ७४ ।

द्विजमात्रेऽपि या हिंसा सा हिंसा कुशलाय न ।
देशं वंशं श्रियं स्वं च निर्मूलयति कालतः ॥ ७५ ॥
निशम्य काश्यपिरिति प्रसूपादौ प्रणम्य च ।
गृहीताशोर्ययौ शीघ्रं खमार्गेण खगेश्वर ॥ ७६ ॥
दूरादालोकयाञ्चक्रे निषादान्मत्स्यजीविनः ।
पक्षौ विधूय पक्षीन्द्रो रजसापूर्य रोदसी ॥ ७७ ॥
अन्धीकृत्य दिशो भागानब्धिरोधस्युपाविशत् ।
व्यादाय वदनं घोरं महाकन्दरसन्निभम् ॥ ७८ ॥
कान्दिशीका निषादास्तु विविशुस्तत्र च स्वयम् ।
मन्वानेष्वथ पन्थानं तेषु कण्ठं विशत्स्वपि ॥ ७९ ॥
जज्वालेङ्गलसंस्पर्शो द्विजस्तत्कण्ठकन्दलीम् ।
प्राक् प्रविष्टानथो तार्क्ष्यो निषादानौदरिन्दरीम् ॥ ८० ॥

द्विजमात्रेऽपि ब्राह्मणमात्रे या हिंसा हिंसामात्रं प्राणनाशो वा, सा कुशलाय हिताय न; किन्तु देशमिति । स्वं धनम् । कालतः कालक्रमेण ॥ ७५ ॥

विधूय प्रकम्प्य । रोदसी द्यावाभूमी ॥ ७७ ॥

अब्धिरोधसि समुद्रतीरे । कन्दरसन्निभं दरीतुल्यम् ॥ ७८ ॥

कान्दिशीका भयद्रुताः ॥ ७९ ॥

इङ्गलसंस्पर्शो वह्नितुल्यसम्पर्कः । कण्ठ एव कन्दरो कन्दली । रलयोरेकत्वात् । कण्ठकन्दलमिति पाठेऽपि स एवार्थः । षंढत्वमार्षम् । यद्वा, कन्दली गुल्मविशेषः । "कलध्वनौ कन्दली तु मृगगुल्मप्रभेदयोः" इति मेदिनीकारः ॥ ८० ॥

(क्योंकि जाति के आचारों से हीन भी) ब्राह्मण को मार डालने से घातक का कभी कुशल नहीं होने पाता, उसका देश, कुल, ऐश्वर्य और धन कालानुसार जड़ से उच्छिन्न हो जाता है" ॥ ७५ ॥

यह ब्राह्मणत्व का चिह्न माता के मुख से सुनकर कश्यप के पुत्र पक्षिराज गरुड़ उनको प्रणाम कर, उनका आशीर्वाद ले, आकाश में उड़ चले ॥ ७६ ॥

गरुड़ कुछ काल उड़कर दूर से उन मत्स्यघाती निषादों को देखते ही अपने पंखों को फड़फड़ा कर धूलि से आकाश-पाताल के मध्यभाग को भरने लगे ॥ ७७ ॥

उस धूलिराशि से समस्त दिग्भागों में अन्धकार से छावते (ढँकते) हुए, महा-कन्दरा के समान अपने भयंकर मुख को फैलाकर गरुड़ समुद्र के तट पर पहुँच गये ॥ ७८ ॥

भय से घबड़ाये हुए निषादगण अनायास आप से आप उनके मुख-विवर में घुसने लगे । उन सबों के प्रवेश करते समय कोई एक ब्राह्मण भी भीतर जाकर उनके

प्रवेश्य कण्ठतालुस्थं तं विज्ञाय द्विजं स्फुटम् ।
भयादुद्गिरत्तूर्णं मातृवाक्यनियन्त्रितः ॥ ८१ ।
तमुद्गीर्णं नरं दृष्ट्वा पक्षिराट् समभाषत ।
कस्त्वं जात्यासि निगद मम कण्ठविदाहकृत् ॥ ८२ ।
स तदाहेति विप्रोऽहं पृष्टः सन् गरुडाऽग्रतः ।
वसाम्येषु निषादेषु जातिमात्रोपजीवकः ॥ ८३ ।
तं प्रेष्य गरुडो दूरं भक्षयित्वाऽथ भूरिशः ।
नभो विक्षोभयाञ्चक्रे प्रलयाऽनिलसन्निभः[1] ॥ ८४ ।
तं दृष्ट्वा तिग्मतेजस्कं ज्वालाततदिगन्तरम् ।
ज्वलद्दावानलं शैलमिव बिभ्युर्दिवौकसः ॥ ८५ ।
ते संनह्यन्त युद्धाय सज्जीकृतबलायुधाः ।
अध्यास्य वाहनान्याशु सर्वे वर्मभृतः सुराः ॥ ८६ ।

उद्गिरत् उद्गीर्णवान् मुखान्निष्काशितवानित्यर्थः ॥ ८१ ।
निगद कथय ॥ ८२ ।
प्रेष्य प्रस्थापयित्वा ॥ ८४ ।
बिभ्युः भयं प्रापुः ॥ ८५ ।
वर्मभृतः कवचधारिणः ॥ ८६ ।

कण्ठरूप कन्दरा को जलाने लगा, तब तो गरुड़ ने पहले के बैठे हुए निषादों को अपने उदररूपा दरी में उतार, कण्ठ और तालु में अँटके हुए ब्राह्मण को यथार्थरूप से विचार कर माता के वचन से बद्ध हो, भयवश तुरत उसे उगिल दिया ॥ ७९-८१ ।

अनन्तर उस उगले हुए मनुष्य की ओर देखकर पक्षिराज ने कहा—तुम कौन जाति के हो ? जो मेरा गला जला रहे थे, सो कहो ॥ ८२ ।

तब उसने गरुड़ के आगे यह कहा कि, मैं "ब्राह्मण हूँ और जातिमात्र से जीविका-निर्वाह करके इन निषादों में पड़ा रहता हूँ " ॥ ८३ ।

फिर गरुड़ ने उसे दूर पर हटाकर बहुतेरे निषादों को खा डाला । तदनन्तर प्रलयवायु के समान बड़े वेग से आकाशमण्डल में वे उड़ चले ॥ ८४ ।

उस घड़ी देवताओं ने स्वर्ग की ओर उड़ते हुए परमतेजस्वी गरुड़ को दावानल से जलते हुए पर्वत के समान तथा उनके तेज से दिङ्मण्डल को आच्छादित देखकर, बहुत ही भयभीत हो, अपना अपना अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित कर, निज-निज वाहनों पर चढ़, कवच धारण कर, युद्ध करने के लिये आगमन किया ॥ ८५-८६ ।

---

१. प्रलयानलेति क्वचित्पाठः ।

तिर्यग्गतो रविर्नाऽयं नाऽयमग्निः सधूमवान् ।
क्षणप्रभाप्यसौ नैव को नः सन्मुख एत्यसौ ॥ ८७ ।
न दैत्येषु प्रभेदृक् स्यान्नाकृतिर्दानवेष्वियम् ।
महासाध्वसदः कोऽयमस्माकं हृत्प्रकम्पनः ॥ ८८ ।
यावत्सम्भावयन्तीति नीतिज्ञा अपि निर्जराः ।
तावद्दुधाव स्वौ पक्षौ पक्षिराजो महाबलः ॥ ८९ ।
निपेतुः पक्षवातेन सायुधाश्च सवाहनाः ।
न ज्ञायन्ते क्व सम्प्राप्ता वात्यया पार्णतार्णवत् ॥ ९० ।
अथ तेषु प्रणष्टेषु बुद्ध्या विज्ञाय पक्षिराट् ।
कोशागारं सुधायाः स तत्राऽपश्यच्च रक्षिणः ॥ ९१ ।

तिर्यग्गतीति श्लोकत्रयं वाक्यम् । रविर्नाऽयं यतस्तिर्यग्गतिः । नाऽयमग्निर्यतः सोऽग्निर्धूम्रवान् । क्षणप्रभा विद्युदसौ न, तस्या अस्थिरत्वात् । अस्य च स्थिरप्रभावत्वादित्यर्थः ॥ ८७ ।

आकृतिराकारः ॥ ८८ ।

दुधाव अकम्पयत् ॥ ८९ ।

पार्णतार्णवत् पर्णैस्तृणैश्च निर्मिताः पुरुषप्रतिकृतयो यथा वायुना नीयन्ते, तद्वत् । स्वार्थे वा तद्धितः । तृणवर्णवदित्यर्थः ॥ ९० ।

प्रणष्टेष्वदर्शनं गतेषु ॥ ९१ ।

(गरुड़ का आकार देखकर देवगण विचारने लगे कि) वह तिरछा गमन करने से सूर्य नहीं हैं ? न यह अग्नि ही हैं; क्योंकि वह तो धूमयुक्त होता है, और बिजली तो यह हो ही नहीं सकती; क्योंकि वह तो क्षणप्रभा ही है ! फिर यह कौन हम लोगों पर चढ़ाई का धावा मार रहा है ? ॥ ८७ ।

दैत्यों में भला ऐसा तेजस्वी कौन हो सकता है ? क्योंकि दानवों में ऐसा विशाल किसका आकार है ? महाभयंकर यह कौन है ? जो हम लोगों का हृदय कँपा रहा है ? ॥ ८८ ।

देवतागण जब तक यह तर्क कर रहे थे, इसी अवसर पर महाबली पक्षिराज गरुड़ ने अपने दोनों ही पंखों को (एक बार) फड़फड़ा दिया ॥ ८९ ।

उस पंख की वायु से देवतागण अपने-अपने शस्त्र-वाहन के साथ न जाने कहाँ पर तिनगा और पत्ता के समान उधिरा गये ॥ ९० ।

उन लोगों के विनष्ट हो जाने पर पक्षिराज ने बुद्धिपूर्वक अमृत के कोषागार को ढूंढ़-ढांढ़ कर (वहाँ पहुँचते ही) रक्षक गण को देखा ॥ ९१ ।

शस्त्रास्त्रोद्यतपाणींस्तान् सुरानाधूय सर्वशः ।
ददर्श कर्तरीयन्त्रममृतोपरि संस्थितम् ॥ ९२ ।
मनः पवनवेगेन भ्रममाणं महारयम् ।
अपि स्पृशन्तं मशकं यत्खण्डयति कोटिशः ॥ ९३ ।
उपोपविश्य पक्षीन्द्रस्तस्य यन्त्रस्य निर्भयः ।
क्षणं विचारयामास किमत्र करवाण्यहो ॥ ९४ ।
स्प्रष्टुं न लभ्यते चैतद् वात्या न प्रभवेदिह ।
क उपायोऽत्र कर्तव्यो वृथा जातो ममोद्यमः ॥ ९५ ।
न बलं प्रभवेदत्र न किञ्चिदपि पौरुषम् ।
अहो प्रयत्नो देवानामेतत्पीयूषरक्षणे ॥ ९६ ।

आधूय उत्सार्य दूरीकृत्येति यावत् । कर्तरीयन्त्रं कर्तनशीलं यन्त्रम् । कर्तनं कर्तस्तं रातुं शीलं यस्येति व्युत्पत्तेः । यकारागमाभावो दैर्घ्यं चार्षम् । यद्वा कर्तः कर्तनं छेदनं कर्तस्य छेदनस्य रादानं विद्यते यस्मिन् । व्रीह्यादिभ्यश्चेत्यनकारान्तादिनिः। स्त्रीत्वमार्षम् । यद्वा, कर्तनं रायते कारणत्वेन गच्छतीति कर्तरी । रीङ्गताविति धातुः । कर्तरी केशादिच्छेत्री शस्त्रविशेषस्तदाकारं यन्त्रमिति । तद्वच्छेदकं यन्त्रमिति केचित् ॥ ९२ ।

यत् कर्तरीयन्त्रम् । खण्डयति खण्डं करोति छिनत्तीति यावत् ॥ ९३ ।

उपोपविश्य तस्य कर्तरीयन्त्रस्य समीपे उपविश्य । क्वचिदुपसर्गस्यापि द्विर्वचनम् । तथा च श्रूयते—

प्रप्रपूज्य महादेवं संसंयम्य मनः सदा ।
उपोपहाय संसर्गं निर्निर्गतः स तापसः ॥ इति ॥ ९४ ।

अस्त्र-शस्त्र को हाथ में लिये हुए सुसज्जित उन सब रक्षकों को दूर फेंककर अमृत के ऊपर रक्खे हुए कर्तरीयन्त्र (कतरनी-कैंची) को भी देखा ॥ ९२ ।

वह मन और वायु के समान बड़े वेग से घूम रहा था और उसको छूते ही मसा भी करोडों टुकड़े हो जाता था ॥ ९३ ।

गरुड़ उस यन्त्र के समीप में ही निर्भय होकर बैठ गये और क्षण भर यह सोचने लगे कि, अब क्या करूँ ? ॥ ९४ ।

इस यन्त्र का छूना तो सर्वदा असम्भव ही है; क्योंकि इसे तो वायु भी स्पर्श नहीं कर सकता । तब फिर यहाँ पर कौन सा उपाय करूँ ? यह तो मेरा सब उद्यम ही वृथा हुआ चाहता है ॥ ९५ ।

यहाँ तो न बल से ही काम चल सकता है, न पुरुषार्थ ही कुछ कर सकता है । ओ हो ! इस अमृत की रक्षा के लिये देवताओं ने कैसा प्रयत्न किया है ॥ ९६ ।

यदि मे शङ्करे भक्तिर्निर्द्वन्द्वातीवनिश्चला ।
तदा स देवदेवो मां वियुनक्तु महाधिया ॥ ९७ ।
यद्यहं मातृभक्तोऽस्मि स्वामिनः शङ्करादपि ।
तदा मे बुद्धिरत्राऽस्तु पीयूषहरणक्षमा ॥ ९८ ।
आत्मार्थं नोद्यमश्चाऽयं हृत्स्थो वेत्तीति विश्वगः ।
मातुर्दास्यविमोक्षाय यतेऽहममृतं प्रति ॥ ९९ ।
जरितौ पितरौ यस्य बालापत्यश्च यः पुमान् ।
साध्वी भार्या च तत्पुष्ट्यै दोषोऽकृत्येऽपि तस्य न ॥ १०० ।
इति चिन्तयतस्तस्य बुद्धिरासीन्महात्मनः ॥ १०१ ।
देहं चकार सोऽत्यन्तमणीयांसमणोरपि ।
परमाणुसहस्रांशं कृत्वा रूपं महाद्भुतम् ॥ १०२ ।
प्रविश्य कर्तरीयन्त्रमधोदेहस्य लाघवात् ।
बिभ्यत् तद्यन्त्रतो देहं वञ्चयन् वायुखण्डनात् ॥ १०३ ।

देहं चेति श्लोकद्वयं वाक्यम् । पूर्वार्धमेव विवृणोति । परमाण्वित्यर्धेन ॥ १०२ ।

देहस्य लाघवाल्लघुत्वात्कर्तरीयन्त्रमधः प्रविश्य । किं कुर्वन् ? तद्यन्त्रतस्तस्माद्यन्त्रात् । बिभ्यद् भयं प्राप्नुवन् । देहं वञ्चयन् तिरश्चीनो भूत्वा तस्माद्रक्षयन् । कथम्भूताद्यन्त्रात् । वायुखण्डनाद्वायोरपि गतिवैकल्यकर्तुरित्यर्थः ॥ १०३ ।

यदि भगवान् विश्वनाथ पर मेरी अत्यन्त दृढ़ और अनन्य भक्ति होवे, तो वे ही देवादिदेव मुझे उचित बुद्धि से युक्त कर देवें ॥ ९७ ।

फिर जो मैं स्वामी महादेव से भी माता के चरणों का दृढ़ भक्त होऊँ, तो इस अमृत के ले जाने की उपयुक्त बुद्धि मुझको हो जावे ॥ ९८ ।

सर्वव्यापी भगवान् जो हृदय में बैठे हैं, उनसे तो यह बात छिपी नहीं है, कि यह अमृत लेने का उद्योग मैं कुछ अपने लिये नहीं कर रहा हूँ । इसका उद्देश्य तो केवल माता के दास्यभाव को छुड़ाने ही का है ॥ ९९ ।

(क्योंकि शास्त्र की आज्ञा है कि) बूढ़े माँ-बाप, छोटे बच्चे, सती भार्या—इन लोगों के पालन-पोषण के लिये यदि कोई अनुचित कर्म भी हो जावे, तो कोई दोष नहीं है ॥ १०० ।

ऐसी चिन्ता करते हुए महात्मा गरुड़ के मन में एक उपाय सूझ पड़ा ॥ १०१ ।

उन्होंने तुरन्त अपने शरीर को अत्यन्त छोटे से भी छोटा अर्थात् परमाणु के भी सहस्रांस के समान बड़ा विचित्ररूप बनाकर देह की लघुता से सहज ही में उस यन्त्र के नीचे डरते हुए और उस वायुखण्डन-यन्त्र से अपने शरीर को चारों ओर से

मूलमुत्पाट्य तरसा गृहीत्वाऽमृतभाजनम् ।
निर्ययौ पावने मार्गे क्रोशत्सु स्वर्गसद्मसु ॥ १०४ ॥
तथा वैकुण्ठनाथं ते गत्वा प्रोचुः सुधाभुजः ।
निर्जित्य नीयते चक्रिन् सुधा नो जीवितं परम् ॥ १०५ ॥
इत्याकर्ण्य हरिस्तेभ्योऽभयं दत्वा त्वरायुतः ।
कृत्वा युद्धं च सुमहद् विशार्कघटिकाद्वयम् ॥ १०६ ॥
शुम्भदेव्योर्यथा सूत गरुडस्तत्र चाधिकः ।
तदा प्रसन्नो भगवान् महायुद्धेन सर्वदः ॥ १०७ ॥
गत्वा गरुडमाहेदं प्रसन्नोऽस्मि खगेश्वर ।
वरं वृणीहि भद्रं ते जितवृन्दारवृन्दक ॥ १०८ ॥

मूलमुत्पाट्य यस्मिस्तदमृतभाजनं स्थापितं तदुत्पाट्यामृतभाजनं गृहीत्वा स्वर्गसद्मसु देवेषु क्रोशत्सु सत्सु अमृतं हरतीत्यार्तस्वरं कुर्वाणेषु सत्सु सुपावने मार्गे आवहप्रवहादिवायुमार्गे निर्ययाविति ॥ १०४ ।

विशार्कघटिकाद्वयं विशो विंशतिः अर्को द्वादशविंशार्कौ च ता घटिकाश्च तासां द्वयं चतुःषष्टिदण्डाः । दण्डचतुष्टयाधिकाहोरात्रमित्यर्थः ॥ १०६ ।

तत्र विष्णुगरुडयोर्मध्ये ॥ १०७ ।

बचाते हुए घुसकर, बड़ी शीघ्रता से उसकी जड़ उखाड़ और अमृत के पात्र को लेकर देवताओं के चिल्लाते रहने पर भी आकाशमार्ग को पकड़ लिया ॥ १०२-१०४ ।

उधर देवगण चीत्कार करते हुए गोलोकवासी भगवान् वैकुण्ठनाथ के समीप जाकर यह कहने लगे—'हे चक्रधर ! गरुड़ हमलोगों को जीतकर हमारे परम जीवनाधार अमृतभाजन को लिये चले जा रहे हैं' ॥ १०५ ।

यह सुनते ही विष्णु भगवान् उन लोगों को अभयदान से आश्वस्त कर तुरन्त गरुड़ से लड़ने के लिये उठ खड़े हुए । हे सूत ! पहिले शुंभ-दैत्य के साथ चंडिकादेवी का जैसा युद्ध हुआ था, उस घड़ी गरुड़ से भी वैसी ही घोर लड़ाई होने लगी । एक रात और दिन भर के ऊपर तक संग्राम होते रहने पर भी गरुड़ को ही अधिक बलवान् विचार उस बड़े भारी युद्ध से प्रसन्न होकर सर्वस्वदाता भगवान् विष्णु स्वयं जाकर गरुड़ से कहने लगे—'हे देवताओं को जीतनेवाले खगेश्वर गरुड़ ! तुम्हारा भला हो । मैं प्रसन्न हूँ, जो चाहो, वर मांग लो" ॥ १०६-१०८ ।

हसित्वा गरुडः प्राह विश्वरूपं जनार्दनम् ।
अहमेव प्रसन्नोऽस्मि त्वं प्रार्थय वरद्वयम् ॥ १०९ ।
ततः कैटभजित् प्राह वैनतेयं मुदान्वितः ।
वृतं वृतं महोदार देहि देहि वरद्वयम् ॥ ११० ।
इति विष्णूदितं श्रुत्वा प्रहसन्नाह पक्षिराट् ।
किं विलम्बेन तद् ब्रूहि दत्तं दत्तं वरद्वयम् ॥ १११ ।
अलब्धलाभे संजाते द्यूतादिविजयोदये ।
दातव्यं सुधिया पात्रे सदा लाभजयौ क्व वा ॥ ११२ ।

श्रीविष्णुरुवाच—

बलवानसि पक्षीन्द्र तन्मे वाहनतां व्रज ।
एको वरोऽयं वरद द्वितीयं शृणु काश्यप ॥ ११३ ।

वृतं वृतमिति हर्षे द्विरुक्तिः ॥ ११० ।

दत्तं दत्तमित्यौत्सुक्ये ॥ १११ ।

औत्सुक्येन रिपवे वरद्वयदाने स्वयमेव हेतुमाह । अलब्धलाभ इति ॥ ११२ ।

द्वयं प्रार्थयति । बलवानिति सार्धद्वाभ्याम् ॥ ११३ ।

(सुनते ही) गरुड़ ने हँसकर विश्वरूप जनार्दन से यह कहा कि "मैं ही प्रसन्न हूँ, तुम्हीं मुझसे (एक नहीं) दो-दो वरदान करा लो" ॥ १०९ ।

अनन्तर विष्णु बड़े हर्षित होकर विनतानन्दन गरुड़ से कहने लगे—"हे परमोदार! माँगा, माँगा दो-दो वर दे दो" ॥ ११० ।

विष्णु का यह कथन सुनकर हँसते हुए पक्षिराज ने कहा—"तो फिर आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं। झटपट बोलें, दो वर दे दिये" ॥ १११ ।

बुद्धिमान् जन को उचित है कि जब कोई अलभ्य वस्तु मिल जावे, अथवा द्यूत इत्यादि में जब जीत होवे, तो योग्य पात्र को कुछ अवश्य दे देवे; क्योंकि लाभ और जय दिन-प्रतिदिन कहाँ होता है ?

दोहा—जब कछु होवे लाभ बड़, अथवा पावै जीत ।
ढूँढि सुपात्रहि देइ तब, कहाँ लाभ जय मीत ? ॥ ११२ ।

श्रीविष्णु बोले—

"हे पक्षिराज ! तुम बड़े बली हो । अतएव तुम मेरे वाहन बनो । यह तो मैं पहला वर माँगता हूँ और हे वरदानी काश्यप ! दूसरा वर भी सुन लो ॥ ११३ ।

दर्शयित्वाऽमृतं प्राज्ञ मातृदास्यविमोक्षकम् ।
द्विजिह्वेभ्यः कुरु तथा द्रागश्नन्ति न ते यथा ॥ ११४ ।
देया सुधा सुधाभुग्भ्यो द्वितीयोऽस्तु वरो मम ।
तथेति स प्रतिज्ञाय निर्ययौ पक्षिराड् दिवः ॥ ११५ ।
स मातरं विनिर्मोच्य दास्यात्काश्यपनन्दनः ।
नागानां पुरतो धृत्वा महामृतकमण्डलुम् ॥ ११६ ।
अमृतं पातुकामांस्तानित्याचष्ट महामतिः ।
नागाः शुचित्वमासाद्य भोक्तव्यैषा सुधा शुभा ॥ ११७ ।
नो चेदशुचिभिः स्पृष्टा स्नानादिपरिवर्जितैः ।
यास्यत्यदृश्यतामेषा सुधाऽनिमिषरक्षिता ॥ ११८ ।
सामान्यमपि यद्भक्ष्यं स्पृश्यतेऽशुचिभिः क्वचित् ।
हरन्ति तद्रसं देवास्तच्च तिष्ठति नीरसम् ॥ ११९ ।

द्विजिह्वेभ्य इति भाविस्वरूपं जानता भगवतोक्तम् । द्राक् झटिति ॥ ११४ ।

दिवः स्वर्गात् ॥ ११५ ।

सर्पों को यह अमृत दिखलाकर अपनी माता का दास्यभाव छुड़ा लो; परन्तु हे प्राज्ञ ! ऐसी उपाय करना, जिसमें वे सब अमृत न पीने पावें ॥ ११४ ।

और फिर यह अमृत देवताओं को लौटा देना—बस यही मेरा दूसरा वर है' । पक्षिराज ने "बहुत अच्छा" कह कर स्वर्ग से अपना मार्ग वापस लिया ॥ ११५ ।

(वहां से चलकर क्षण भर में) नागों के सम्मुख उस अमृतपात्र को रखकर उस कश्यपनन्दन ने उनसे अपनी माता का दास्यभाव छोड़ा लिया ॥ ११६ ।

अनन्तर सर्पलोग अमृत को पीने चले, तब महामति गरुड़ ने उनसे यह कहा कि 'हे नाग-भाइयों ! तुम लोग पहले शुद्ध हो जाओ, तब इस उत्तम अमृत को पीना ॥ ११७ ।

नहीं तो विना नहाये-धोये अपवित्र लोगों के छू देने से यह अमृत अदृश्य हो जावेगा; क्योंकि देवतागण इसकी (सदा) रखवारी करते रहते हैं ॥ ११८ ।

(देखो) यदि कहीं पर कोई अशुद्धलोग किसी सामान्य भी भक्ष्यपदार्थ को छू देते हैं, तो देवता लोग (तुरन्त) उसका रस खींच लेते हैं और फिर वह नीरस ही रह जाता है' ॥ ११९ ।

इत्युक्त्वा सहितो मात्रा वैनतेयो विनिर्ययौ ।
कुशासने च तैरुक्तो धृत्वा पीयूषभाजनम् ॥ १२० ।
यावत्स्नातुं गताः सर्पास्तावत्पीयूषभाजनम् ।
आदाय विष्णुना दत्तं देवेभ्य इव जोवितम् ॥ १२१ ।
आगत्य भुजगाः स्नात्वा न दृष्ट्वाऽमृतभाजनम् ।
अहो प्रतारिता नीतममृतं चेति चुक्रुशुः ॥ १२२ ।
ततः पर्यलिहन् दर्भान् पीयूषस्पर्शकाङ्क्षिणः ।
आस्तां तावत्सुधा दूरं जिह्वास्तेषां द्विधाऽभवन् ॥ १२३ ।
अन्येऽप्यन्यायलब्धार्थं ये बुभुक्षन्ति केवलम् ।
तन्नो परिणतिं गच्छेद् भोक्तुं वा तेनं लभ्यते ॥ १२४ ।
न्यायाध्वस्थेन तार्क्ष्येण सुधा प्राप्ताऽतिदुर्लभा ।
लब्धाप्यन्यायतो नागैर्दृष्टमात्राक्षणाद्गता ॥ १२५ ।

इवशब्दो भिन्नक्रमे देवेभ्योऽर्थात्तेषां जीवितमिति वेति ॥ १२१ ।

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति । अन्ये इति । बुभुक्षन्ति भोक्तुमिच्छन्ति । अन्यायलब्धान्नमिति वा पाठः । परिणतिं परिपाकम् ॥ १२४ ।

इस कथन के अनन्तर उन सबों के कहने से गरुड़ उस अमृत के पात्र को कुश के आसन पर रखकर अपनी माता विनता के साथ वहाँ से चले गये ॥ १२० ।

उधर सर्पगण ज्यों ही नहाने को गये, त्यों ही भगवान् विष्णु ने उस अमृतपात्र को लेकर देवताओं को मानो जोवनदान कर दिया ॥ १२१ ।

इधर सर्पलोग नहा-धोकर जब वहाँ पहुँचे, तो अमृतपात्र को न देखकर यह चिल्लाने लगे कि—"अरे हम सबको ठगकर अमृतपात्र को कौन उठा ले गया" ? ॥ १२२ ।

(बारम्बार यही चिल्लाते हुए) वे सब के सब अमृत के स्पर्शमात्र की इच्छा से (उन) कुशों को (जिन पर वह पात्र रक्खा गया था) चाटने लगे, उससे अमृत का मिलना तो दूर ही रहा, पर हुआ यह कि उन सब की जीभ फटकर दो टुकड़े हो गयी ॥ १२३ ।

यों ही और जो लोग अन्याय से पाये हुए वस्तु को भोगा चाहते हैं, वे न तो उसे भोगने ही पाते हैं और न उसका परिणाम ही अच्छा होता है ॥ १२४ ।

न्यायपथ पर चलने से ही गरुड़ ने परमदुर्लभ अमृत को भी प्राप्त कर लिया; परन्तु सर्पों के अन्यायपूर्वक लेने से वही अमृत देखते मात्र क्षण भर में विनष्ट (अदृश्य) हो गया ॥ १२५ ।

अथ दास्याद्विनिर्मुक्ता विनतोवाच खेचरम् ।
पुत्र काशीं प्रयास्यामि दास्यपापाऽपनुत्तये ॥ १२६ ।
तावत्पापानि जृम्भन्ते नानाजन्मार्जितान्यपि ।
यावत्काशी न हृत्संस्था पुनर्भवविघातिनी ॥ १२७ ।
काशीस्मरणमात्रेण किं चित्रं यदघं व्रजेत् ।
गर्भवासोऽपि नश्येत विश्वेशानुग्रहात्परात् ॥ १२८ ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षात्तारापतिविभूषणः ।
तारयेत्तारकद्रोण्या दुस्तराद् भवसागरात् ॥ १२९ ।
विश्वेशानुगृहीतानां विच्छिन्नाखिलकर्मणाम् ।
भवेत्काशीं प्रति मतिर्नेतरेषां कदाचन ॥ १३० ।
काशीं प्रति मनो येषां निःशेषक्षालितैनसाम् ।
त एव मानवा लोके सत्यं नृपशवो परे ॥ १३१ ।

एवमुपोद्घातमारच्य्य प्रस्तुतं वक्तुमाह । अथेत्यत आरभ्य उभावपीत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ १२६ ।

तारापतिविभूषणः चन्द्रलाञ्छनः । तारकद्रोण्या तारकः प्रणवः षडक्षर-राममन्त्रराजो वा स एव द्रोणी नौकाविशेषस्तयेत्यर्थः । द्रोणी काष्ठाऽम्बुवाहिनीत्यमरः ॥ १२९ ।

(अस्तु) इस प्रकार से विनता जब दासीभाव से छूट गयी, तब गरुड़ से बोली—हे पुत्र ! अब मैं अपने इस दास्यरूप पाप के शान्त्यर्थ काशी जाऊँगी ॥ १२६ ।

क्योंकि जीवों के हृदय में जब तक पुनर्जन्मविघातिनी काशी को स्थान नहीं मिलता, तभी तक अनेक जन्म के संचित पापों का आधिपत्य रहता है ॥ १२७ ।

जिस काशी में रहने से विश्वेश्वर के परम अनुग्रह हो जाने पर गर्भवास का दुःख भी छूट जाता है, उसी काशी के स्मरण करने से यदि पाप ही कट जावे, तो इसमें कौन बड़ा आश्चर्य है ? ॥ १२८ ।

(अरे !) जहाँ पर साक्षात् चन्द्रभूषण भगवान् विश्वनाथ तारकमन्त्ररूप तरणी के द्वारा इस दुस्तर संसारसागर से पार उतार देते हैं, उस काशी के प्रति उन्हीं लोगों की बुद्धि हो सकती है, जिन पर विश्वनाथ की पूरी दया हो और जो अपने समस्त कर्मबन्धनों को काट चुके हों, नहीं तो दूसरों की बुद्धि उस पर कभी नहीं हो सकती ॥ १२९-१३० ।

जो लोग अपने समस्त पापों को धो डालते हैं, उन्हीं का मन काशी की ओर झुकता है और वे ही लोग इस संसार में यथार्थ मनुष्य कहे जा सकते हैं। अपर लोग तो सचमुच मनुष्य रूप पशु ही होते हैं ॥ १३१ ।

तैरेव कालो विजितस्त एव हि गतैनसः ।
अपुनर्गर्भवासास्ते प्राप्ता वाराणसीह यैः ॥ १३२ ।
श्रेयसां भाजनं चैतन्नृजन्म न मुधा नयेत् ।
देवानामपि दुष्प्राप्यं काशीसन्दर्शनादृते ॥ १३३ ।
कः कलिः कोऽथवा कालः किं वा कर्माण्यनेकधा ।
परानन्दप्रदं क्षेत्रमविमुक्तं यदीक्षितम् ॥ १३४ ।
ते गर्भवासे तिष्ठन्ति पुनस्ते गर्भवासिनः ।
ये न गर्भवनच्छेत्रीं सेवन्ते वरणामसिम् ॥ १३५ ।
निशम्येति वचः प्राह तार्क्ष्यो नत्वाऽथ मातरम् ।
अहमप्यागमिष्यामि काशीं द्रष्टुं शिवार्चिताम् ॥ १३६ ।
मातुराज्ञामथ प्राप्य जनन्या सह पक्षिराट् ।
क्षणाद्वाराणसीं प्राप मोक्षनिक्षेपभूमिकाम् ॥ १३७ ।

गर्भ एव वनं तच्छेत्रीम् । गर्भवासच्छेत्रीमिति पाठे छन्दोभङ्ग आर्षः ॥ १३५ ।

इस लोक में जिन्होंने वाराणसी को पा लिया, वे ही तो काल को भी जीत सकते हैं और वे ही निष्पाप भी हो जाते हैं और उन्हीं लोगों को फिर कभी गर्भवास का दुःख भी नहीं भोगना पड़ता ॥ १३२ ।

समस्त कल्याणों का आधार और देवताओं के भी दुष्प्राप्य इस मनुष्य जन्म को विना काशी के दर्शन किये वृथा नहीं करना चाहिए ॥ १३३ ।

(क्योंकि) जिस किसी ने परम आनन्ददायिनी, अविमुक्तक्षेत्ररूपा इस काशीपुरी का दर्शन पा लिया, फिर तो क्या काल, किंवा कलि, अथवा अनेक प्रकार के कर्म (-फल) उस जीव का क्या कर सकते हैं ? ॥ १३४ ।

वे ही लोग गर्भ में वास करते हैं और उन्हीं लोगों को बारम्बार गर्भवास का दुःख भोगना पड़ता है, जो लोग गर्भरूप वन को काटने वाली वरणा और असि (वाराणसी) का सेवन नहीं करते ॥ १३५ ।

इन बातों को सुन गरुड़ ने भी माता को प्रणाम करके कहा कि "मैं भी महादेव के द्वारा पूजित काशीक्षेत्र को देखने के लिये चलूँगा " ॥ १३६ ।

अनन्तर माता की आज्ञा को पाकर उसे भी साथ ले पक्षिराज गरुड़ क्षणमात्र में मोक्षधाम काशीपुरी में जा पहुँचे ॥ १३७ ।

उभावपि च तेपाते तप उग्रं महामती ।
संस्थाप्य शाम्भवं लिङ्गं पतत्त्रीन्द्रोऽचलेन्द्रियः ।। १३८ ।
नाम्ना खखोल्कमादित्यं संस्थाप्य विनता शुभम् ।
अचिरेणैव कालेन महतस्तपसस्तयोः ।। १३९ ।
काश्यां प्रसन्नौ संजातौ देवौ शङ्करभास्करौ ।
गरुडस्थापिताल्लिङ्गादाविरासीदुमापतिः ।। १४० ।
गरुडाय वरान् प्रादात् सुबहूनतिदुर्लभान् ।
खगेन्द्र मम भक्तोऽसि तव ज्ञानं भविष्यति ।। १४१ ।
वेत्स्यसि त्वं रहस्यं मे यन्न ज्ञातं सुरैरपि ।
त्वयैतत्स्थापितं लिङ्गं गरुडेश्वरसंज्ञितम् ।। १४२ ।
परमज्ञानदं पुंसां दृष्टं स्पृष्टं समर्चितम् ।
अन्यच्च शृणु पक्षीन्द्र हितं ते वच्मि साम्प्रतम् ।। १४३ ।
असावहं स वै विष्णुर्मास्तु ते भेददृक् च नौ ।
एवं तस्यैव पक्षीन्द्र दैत्येन्द्रबलहारिणः ।। १४४ ।

भेददृक् भेदज्ञानम् । चकार एवार्थे । मास्त्वेवेत्यर्थः । नौ आवयोः ।। १४४ ।

और वहाँ पर जितेन्द्रिय गरुड़ शिवलिंग की स्थापना कर एवं विनता भी खखोल्क नामक आदित्य की मूर्ति प्रतिष्ठित कर, फिर वे दोनों ही महाबुद्धिमान् जन घोर तपस्या करने लगे और थोड़े ही दिनों में उन दोनों की बड़ी तपस्या से भगवान् शंकर और भास्कर दोनों ही देव काशी में परम प्रसन्न हो गये और गरुड़ के स्थापित लिंग से प्रकट होकर भगवास् उमापति ने गरुड़ को बहुत से अत्यन्त दुर्लभ वरों का दान किया और यह कहा कि–"हे खगेन्द्र ! तुम मेरे भक्त हो, अतएव तुम को यथार्थज्ञान हो जावेगा ।। १३८-१४१ ।

और तुमको हमारे वे रहस्य भी ज्ञात हो जावेंगे, जिनको (आज तक) देवताओं ने भी नहीं जाना है और इस तुम्हारे स्थापित शिवलिंग का नाम गरुडेश्वर पड़ेगा ।। १४२ ।

एवं जो लोग इसका दर्शन, स्पर्शन और पूजन करेंगे, उनको यह परम ज्ञान दान करेगा । हे पक्षीन्द्र ! अब और भी एक बात कहते हैं, जो तुम्हारे लिए बड़ी ही हितकर है, उसे सुनो ।। १४३ ।

जो मैं हूँ, सो विष्णु हैं, हम दोनों में कुछ भी भेद की दृष्टि मत रखना । हे पक्षिराज ! दैत्येन्द्र के बलविध्वंसक उस विष्णुदेव के उत्तम वाहन बनकर, हे गरुड़ !

प्राप्य सत्पत्रतां पत्रिस्त्वमप्यर्च्यो भविष्यसि ।
इति दत्वा वरं शम्भुः स्वभक्ताय गरुत्मते ॥ १४५ ।
तत्रैवाऽन्तर्हितो जातो गरुडोऽपि हरिं ययौ ।
हरे रथत्वं सम्प्राप्य सोऽपि पूज्योऽभवद्भुवि ॥ १४६ ।
तपस्यन्तीमथालोक्य कदाचिद्विनतां प्रभुः ।
शिवस्यैव परामूर्तिः खखोल्को नाम भास्करः ॥ १४७ ।
दत्वा वरं च पापघ्नं शिवज्ञानसमन्वितम् ।
काशीवासिजनानेक भवपापक्षयङ्करः ॥ १४८ ।
विनतादित्य इत्याख्यः खखोल्कस्तत्र संस्थितः ।
इत्थं खखोल्क आदित्यः काशीविघ्नतमोहरः ॥ १४९ ।
तस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
काश्यां पैशंगिले तीर्थे खखोल्कस्य विलोकनात् ।
नरश्चिन्तितमाप्नोति नीरोगो जायते क्षणात् ॥ १५० ।

पततिं गच्छतीति पत्रं यानम् । सत्पत्रतां सद्वाहनतामित्यर्थः ॥ १४५ ।

पैशंगिले पिलिपिलातीर्थे ॥ १५० ।

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीरामेन्द्रवनशिष्येण रामानन्देन कृतायां काशीखण्डपूर्वार्धटीकायां पञ्चाशत्तमोऽध्यायः समाप्तः॥५०।

तुम भी सर्वत्र पूजनीय हो जाओगे" । इस प्रकार से अपने भक्त गरुड़ को वरदान कर भगवान् शम्भु वहाँ पर ही अन्तर्धान हो गये और (इधर) गरुड़ भी विष्णु के पास जाय और उनके वाहन बनकर संसार में सब किसी के पूजनीय हो गये ॥१४४-१४६।

(उधर) काशीवासियों के अनेक जन्म संचित पापों के क्षयकर्ता भगवान् महादेव के ही दूसरे रूप खखोल्कादित्य ने एक बार घोर तपस्या करती हुई विनता को देख उसे पापनाशक शिवज्ञान के सहित उत्तम वरदान दिया ॥ १४७-१४८ ।

उसी दिन से विनतादित्य के नाम से प्रसिद्ध होकर वहाँ पर रहने लगे । इस प्रकार से भगवान् खखोल्कादित्य काशीवासियों के विघ्नरूप अन्धकार को दूर करते रहते हैं ॥ १४९ ।

काशी के पिलपिलातीर्थ में (त्रिलोचन पर) खखोल्कादित्य के दर्शन करने से ही मनुष्य समस्त पापों से छूट जाता है और अपने अभीष्ट फल को पाकर तुरन्त नीरोग हो जाता है ॥ १५० ।

नरः श्रुत्वैतदाख्यानं खखोल्कादित्यसम्भवम् ।
गरुडेशेन सहितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १५१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे खखोल्कादित्यगरुडेशयोर्वर्णनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ।

और जो कोई इस खखोल्कादित्य और गरुड़ेश्वर के माहात्म्य का श्रवण करता है, वह भी समस्त पापों से निर्मुक्त हो जाता है ॥ १५१ ।

सुने खखोल्कादित्य औ, गरुड़ेश्वर के नाम ।
सफल मनोरथ होहिं नर, सुधरहिं जग सब काम ॥ १ ।

पूर्वार्द्धपूर्तिर्विहिताद्य काशीखण्डानुवादे गिरिशप्रसादात् ।
विशोध्य भाषां बहुदोषपूर्णां भवन्तु सन्तो मुदिता महान्तः ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे खखोल्कादित्य-गरुडेश्वरकथा-वर्णनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ।

॥ इति काशीखण्डपूर्वार्धं समाप्तम् ॥

॥ शुभम्भूयात् ॥

ચાર ચાવડુંા